DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DTATE	SIGNATURE



पातञ्जल योगप्रदीप

ग्रन्थकार—

श्री स्वामी ओमानन्दजी तीर्थ

प्रकाशक—

आर्य साहित्य मंडल लि०, अजमेर

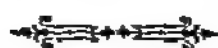
आर्य्य संवत् १,९७,२९,४९,०४८

द्वतीय संस्करण १०००	संवत् २००५ सन् १९४८	मूल्य १२) रुपया

प्रकाशक:—
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड,
अजमेर.

मुद्रक:—
बाबू मथुराप्रसाद शिवहरे द्वारा
दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

अनुक्रमणिका



परम पूज्यपाद योगिराज
श्री स्वामी सियारामजी महाराज



"मेरा यह लक्ष्य था कि मैं पुरुषों तथा स्त्रियों में इस बात की जागृति करा दूं कि यदि वे व्यवहार को शुद्ध और आहार को सात्विक कर शरीर को ठीक रखें, और विषयों से मन को हटाकर अन्तर्मुख करें, तो उनको अपने भीतर के खजाने का पता लग सकता है।"

—सियाराम



प्रकाशक का वक्तव्य

पूज्य श्री स्वामीजी महाराज ने योग के यथार्थ रहस्य तथा स्वरूप को मनुष्यमात्र के हृदयङ्गम करने के लिये "पातञ्जलयोग प्रदीप" नामक पुस्तक लिखी थी उसका प्रथम संस्करण अनेक वर्षों से अप्राप्य हो रहा था। अब उसकी द्वितीयावृत्ति "आर्य-साहित्य मण्डल" द्वारा छपकर पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत है। इस बार श्री स्वामी जी महाराज ने इसमें अनेक विषय बढ़ा दिये हैं और योग-सम्बंधी अनेक चित्रों का समावेश किया है। इससे ग्रन्थ प्रथम संस्करण की अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। इस ग्रन्थ में योगदर्शन व्यासभाष्य, भोजवृत्ति और कहीं कहीं योगवार्तिक का भी भाषानुवाद दिया है। योग के अनेक रहस्य योग सम्बंधी विविध ग्रन्थों और स्वानुभव के आधार पर भली प्रकार खोले हैं, जिससे योग में नये प्रवेश करने वाले अनेक भूलों से बच जाते हैं। श्री स्वामीजी ने इसकी 'षड्दर्शन समन्वय' नाम्नी भूमिका में मीमांसा आदि छओं दर्शनों का समन्वय बड़े सुन्दररूप से किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को छोड़ कर अर्वाचीन आचार्य तथा विद्वान् छओं दर्शनों में परस्पर विरोध मानते है, किन्तु श्री स्वामीजी महाराज ने प्रबल प्रमाणों तथा युक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दर्शनों में परस्पर विरोध नहीं है। श्री स्वामीजी महाराज इस प्रयास में पूर्ण सफल हुवे हैं तथा कपिल और कणाद ऋषि का अनीश्वरवादी न होना; मीमांसा से पशु बलि का निषेध; द्वैत अद्वैत का भेद; सृष्टि उत्पत्ति; बन्ध और मोक्ष; वेदान्त दर्शन अन्य दर्शनों का खण्डन नहीं करता; सांख्य और योग की एकयता आदि कई विवादास्पद विषयों का विवेचन स्वामी जी महाराज ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है, इसके लिये स्वामीजी महाराज अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं। दर्शनों और उपनिषद् आदि में समन्वय दिखलाने और योग सम्बन्धी तथा अन्य कई आध्यात्मिक रहस्य पूर्ण विषयों को साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित होकर अनुभूति, युक्ति, श्रुति, तथा आर्ष ग्रन्थों के आधार पर खोलते हुए स्वामीजी ने अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रकट किया है। अतः इन विचारों का उत्तरदायित्व श्रीस्वामीजी महाराज पर ही समझना चाहिए न कि आर्य साहित्य मण्डल पर।

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के उद्देश्य से स्वामीजी के आदेशानुसार यथोचित स्थानों में चित्र भी दिये गये हैं। कुछ आसनों के चित्र पं० भद्रसेनजी के यौगिक व्यायाम संघ के ब्लाकों से लिये गये हैं। जिनके लिये पं० भद्रसेनजी मण्डल की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं।

—प्रकाशक

प्राक्कथन

श्रीमान् पं० मङ्गलदेव जी शास्त्री, एम० ए० डी० फिल० (ऑक्सन) प्रिन्सिपल संस्कृत कालेज, बनारस, सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ संस्कृत स्टडीज़ यू० पी० तथा रजिस्ट्रार संस्कृत कालेज परीक्षा युक्तप्रान्त, बनारस।

'योग' शब्द का मौलिक अर्थ क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। तो भी इस में कोई सन्देह नहीं कि 'योग' का अर्थ वास्तव में निषेध परक * न होकर विधि परक ही है। परन्तु योग सूत्र में "योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः" इस प्रकार योग का जो प्रारम्भिक वर्णन किया है वह निषेधपरक ही है। इसका कारण प्राथमिक अभ्यासी योग के तात्त्विक स्वरूप को जो "स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते" के अनुसार स्वयं संवेद्य ही है, समझने की क्षमता का न होना ही है।

योग के विषय में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि वह वास्तव में एक दर्शन नहीं है। वह तो वृत्तियों के रूप में फुलझड़ी सदृश प्रतिक्षण व्ययीयमाण जीवनी शक्ति को स्वरूप में स्थिर करके अनर्घभास्वर मणि की तरह स्वयं प्रकाश आत्मा के स्वरूप को 'अनुभव' करने की एक विशिष्ट कला है। इसी कला का विभिन्न दृष्टियों से भगवद्गीता में "समत्वं योग उच्यते", "योगः कर्मसु कौशलम्" इस प्रकार वर्णन किया है। पर इस कला का भी दार्शनिक आधार होना चाहिए। इसी दृष्टि से जैसे न्याय (तर्क) का कला होने पर भी, दर्शनों में समावेश किया जाता है, उसी प्रकार योग की गणना दर्शनों में की गई है।

उपर्युक्त कारणों से योग की ठीक-ठीक व्याख्या केवल शुष्क पाण्डित्य के सहारे नहीं हो सकती। अतएव योग सूत्रों पर अनेकानेक 'पाण्डित्यपूर्ण, टीकाओं के होने पर भी वास्तविक दृष्ट्या उनका कोई महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत 'पातञ्जल योग प्रदीप' का महत्त्व इसी में है कि इसकी रचना एक ऐसे विशिष्ट व्यक्ति ने की है जिन्होंने जीवन की प्रयोगशाला में इस कला का अभ्यास किया है। ऐसी व्याख्या के एक-एक शब्द का महत्त्व होना चाहिए। ग्रन्थकर्त्ता ने अपने अनुभव के आधार पर न केवल सूत्रों की विशद व्याख्या ही लिखी है, किन्तु योग-मार्ग के यात्री को जिस-जिस बात के जानने की आवश्यकता हो सकती है उस उसको बतलाने का यत्न किया है। दार्शनिक जिज्ञासुओं के लिए दार्शनिक समन्वय की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या भी इस ग्रन्थ का एक विशेष महत्त्व है।

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही योग शास्त्र का विकास हुआ है। इस लिए विभिन्न शास्त्रीय परम्पराओं में योग-विषयक अनेकानेक बहुमूल्य अनुभव और उपयोगी विचार बिखरे पड़े हैं। बिखरे हुए मोती सदृश इन विचारों और अनुभवों को भी इस व्याख्या में विवेचना पुरःसर यथा स्थान एकत्रित करके ग्रन्थकर्त्ता महोदय ने जिज्ञासुओं और साधकों का बड़ा उपकार किया है। इस द्वितीय संस्करण में व्याख्याकर्त्ता ने इस व्याख्या को सर्वथा सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। इसके लिए हम सब को उनका आभारी होना चाहिए। आशा है जिज्ञासुजन इस द्वितीय संस्करण का पूर्ण सदुपयोग करेंगे।

---

* अर्थात् शून्यवाद के सदृश योग निषेधपरक नहीं है, वरन् अन्वय व्यतिरेक के साथ नेति नेति द्वारा परब्रह्म परमात्म स्वरूप को प्राप्त कराता है॥



श्री स्वामी ओमानन्द जी तीर्थ

ग्रन्थकार का वक्तव्य

पातञ्जल योग प्रदीप का यह दूसरा संस्करण पाठकों के समक्ष आरहा है। प्रथम सस्करण की छपाई का कार्य सन् १९४१ में बिना किसी साधन और सामग्री के अंकों के रूप में निकालना आरम्भ किया गया था। बीच बीच में कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होती रहीं। वे सब जिस परमगुरु परमेश्वर की प्रेरणा से और जिसके समर्पण रूप में यह कार्य किया गया था, उसी की अपार और अद्भुत शक्ति द्वारा दूर होती रहीं, और अन्त में मार्च १९४२ को यह पुस्तक रूप में तैयार हो ही गई। इसके प्रकाशन प्रबन्ध परिषद् के सदस्यों को प्रेस तथा अन्य सज्जनों के ऋण चुकाने के सम्बन्ध में अत्यन्त चिन्ता थी, पर एक वर्ष के अन्दर ही पुस्तक की इतनी मांग बढ़ी कि न केवल उस ऋण का ही निपटारा होगया प्रत्युत लगभग सारी पुस्तकें समाप्त होगई, और सन् १९४३ में ही दूसरी आवृत्ति निकालने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस भयंकर युद्ध के समय में इतने बडे धार्मिक ग्रन्थ का बिना किसी बाह्य सहायता के निकालना असम्भव था। गत वर्ष युद्ध की समाप्ति पर ऐसा प्रयत्न किया गया कि धार्मिक ग्रन्थ छपवाने के लिए जो दानियों के कई ट्रस्ट हैं उनमें से कोई इसको छपवा कर कम से कम मूल्य पर जनता तक पहुँचा दे, अथवा किसी ऐसे दानी महानुभाव की सहायता से जो अपने रुपयों को इस प्रकार के आध्यात्मिक कार्यों में लगाना चाहते हैं थोड़े दामों में पाठकों तक पहुँच सके। इसमें सफलता प्राप्त न होने पर इस दूसरे संस्करण को "आर्य साहित्य मंडल अजमेर" को जो इस प्रकार के धार्मिक ग्रन्थ छापने में सराहनीय कार्य कर रहा है इस विश्वास पर सौंप दिया गया है कि वह इसको अधिक से अधिक उपयोगी और सुन्दर बनाते हुए कम से कम दामों में सर्व साधारण के हाथों में पहुँचाने का यत्न करेगा।

षड्दर्शनसमन्वय—योग के दार्शनिक स्वरूप को समझने के लिए तो दर्शनों का ज्ञान आवश्यक है ही, किन्तु दर्शनों का यथार्थ ज्ञान भी योग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके बिना उस को बोध कराने वाले बाह्य स्थूल शब्द आदि बुद्धि के केवल व्यायाम रूप साधन ही रहते हैं। प्राचीन विशाल हृदय व्यापक दृष्टि वाले ऋषि समत्व (समन्वय) बुद्धि से युक्त होते थे। यथा वेदों के कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड में जो विरोध प्रतीत होने लगा था उसी के अविरोध की स्थापना और समन्वय साधन के उद्देश्य से श्री जैमिनि जी ने पूर्व मीमांसा और श्री व्यासजी ने उत्तर मीमांसा की रचना की थी, किन्तु कई नवीन संकीर्ण विचार वाले भेदवादी आचार्य जहाँ जात-पात, मतमतान्तर, छूत-अछूत, नीच-ऊंच आदि नाना प्रकार के भेद भाव उत्पन्न करके हिन्दुओं के व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय अवनति और पतन का कारण हुए हैं, वहाँ इन प्राचीन ऋषियों के भाष्यों में परस्पर भेद और विरोध का विष फैला गये हैं।

आधुनिक कालमें महर्षि दयानन्द ने सबसे प्रथम इस त्रुटि को अनुभव किया और दर्शनों के अविरोध तथा समन्वय साधन पर पूरा ज़ोर दिया, किन्तु उनके पश्चात् इस उद्देश्य

की पूर्ति के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग इन चारों दर्शनों का मुख्य उद्देश्य प्रकृति के सर्वथा परित्याग पूर्वक शुद्ध अर्थात् परब्रह्म को प्राप्त करना है, न कि अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के खण्डन में जैसा कि सामान्यतया इन पर दोष आरोपित किया गया है। सांख्य और योग ही दो प्राचीन निष्ठायें हैं और वास्तव में यही प्राचीन वेदान्त फिलासफी है, जिसका श्रुतियों (उपनिषदों) और स्मृतियों में स्थान स्थान पर वर्णन पाया जाता है। गीता तो सांख्य योग का ही मुख्य ग्रन्थ है। सांख्य और योग के आभ्यन्तर रूप के अतिरिक्त कार्य क्षेत्र में उनका बाह्य व्यावहारिक रूप कैसा होना चाहिए, इस बात को गीता में विशेषता के साथ स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है। उदाहरणार्थ, जहाँ ईश्वर समर्पण द्वारा निष्काम कर्म योग बतलाया गया है, वहां योग की निष्ठा है, और जहाँ "गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं, आत्मा अकर्त्ता है" इस भावना द्वारा वह सांख्य निष्ठा है, इसी प्रकार जहाँ जहाँ 'अन्यादेश' अर्थात् प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष द्वारा परमात्मा की उपासना बतलाई गई है, वह योगकी निष्ठा है और जहाँ 'अहंकारादेश' और 'आत्मादेश' अर्थात् उत्तम पुरुष और आत्मा द्वारा परमात्मा का बोध कराया गया है वह सांख्य निष्ठा है, इत्यादि।

जैन और बौद्ध भारतवर्ष के दो प्रसिद्ध धर्मों के प्रवर्तक आचार्य उच्च कोटि के अनुभवी योगी हुये हैं। सांख्य योग के सदृश इनका ध्येय भी असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् शुद्ध पर-ब्रह्म परमात्मा की ही प्राप्ति है। बाह्य स्थूल शब्दों के भ्रमजाल में फंस कर इनके वास्तविक स्वरूप को समझने में भी बहुत धोखा खाया गया है। ये भी एक प्रकार से हमारे दर्शन समन्वय के अन्तर्गत हो सकते हैं। अर्थात् जैसे जल के सर्वत्र पृथ्वी में व्यापक होते हुए भी पृथ्वी से पृथक् उसके शुद्ध स्वरूप से ही पिपासा की तृप्ति हो सकती है। इसी प्रकार चेतन तत्त्व के सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उनका लक्ष्य उसके शुद्ध स्वरूप परमात्मा = पर ब्रह्म को प्राप्त करना है। इससे उसके शबल स्वरूप अपर ब्रह्म = ईश्वर का निराकरण न समझना चाहिए, प्रत्युत उन्होंने भी किसी रूप में इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसके अपर स्वरूप का ही सहारा लिया है। योग किसी स्थान विशेष पर जिसको देश कहा गया है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) अपर ब्रह्म ईश्वर का सहारा लेकर (ईश्वर प्रणिधानाद्वा) त्रिगुणात्मक स्थूल भूत, तन्मात्रों तक सूक्ष्म भूत, अहंकार, और चित्त के आवरणों को क्रमशः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत समाधि द्वारा हटाता हुआ विवेक ख्याति द्वारा गुणों को सर्वथा पृथक् करके असम्प्रज्ञात समाधि में शुद्ध पर-ब्रह्म परमात्म स्वरूप में अवस्थिति कराता है। इस सूक्ष्म दृष्टि से उनके मन्तव्य और साधनों में भी अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होगा।

योगमार्ग में प्रवेश से पूर्व संकीर्ण विचारों के कूपमण्डूक न रह कर अभ्यासी गण हृदय की विशालता की दृष्टि से यह देख सकें कि किस प्रकार वैदिक दर्शन रूपी नदियें विश्वरचयिता पिता के अनन्त ज्ञान के अथाह सागर में समावेश करती हैं, इस उद्देश्य से षड दर्शन समन्वय को 'पातञ्जल योग प्रदीप' का भूमिका रूप बनाया गया है।

पिछले संस्करण की अपेक्षा इस दूसरे संस्करण में षड्दर्शन समन्वय द्विगुणित होगया है, क्योंकि दर्शनों के वास्तविक स्वरूप को विस्तार के साथ दिखलाने तथा नाना प्रकार की प्रचलित शंकाओं के संतोषजनक समाधान करने का इसमें पूरा यत्न किया गया है।

पातञ्जल योग प्रदीप—कई योग के प्रेमी सज्जनों का विशेषकर प्रोफेसर विश्वनाथजी

विद्यालंकार भूतपूर्व उप-आचार्य गुरुकुल कांगड़ी का आग्रह था कि सूत्रों के भावों तथा कहीं कहीं व्यास भाष्य को भी अधिक से अधिक खोलने का यत्न किया जाय। सूत्रों की व्याख्या में विशेष रूप से व्यास भाष्य और भोजवृत्ति को जिनका उचित स्थानों में टिप्पणी के रूप में भावार्थ भी उद्धृत किया गया है तथा सामान्य रूप से विज्ञान भिक्षु के योग वार्तिक (जिसके बहुत से सूत्रों का जहां आवश्यकता प्रतीत हुई है टिप्पणी में भी भावार्थ दे दिया गया है,) वाचस्पति मिश्र के तत्त्व वैशारदी तथा और बहुत से प्राचीन और नवीन भाष्यों को दृष्टिगोचर रक्खा गया है, विशेष विचार और विशेष वक्तव्य में अपने स्वतन्त्र विचारों को लेते हुए प्रसंग प्राप्त बहुत से दार्शनिक और योग सम्बन्धी विषयों तथा उपनिषदों के रहस्यों का खोलने का यत्न किया गया है।

योगदर्शन के दो उच्च कोटि के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र के भाष्यों में जहाँ कहां परस्पर विरोध और अर्थों में अयुक्ति प्रतीत हुई है उसका भी युक्ति और प्रमाण सहित स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया है। यथा स० पा० सूत्र ७ सूत्र १९ और सूत्र ४६ का वि० व०, सा० पा० सूत्र ४ का वि० व०।

साधारण मनुष्य स्थूल शरीर द्वारा कोई विचित्र क्रिया तथा भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखने वाले आश्चर्यजनक चमत्कार अथवा बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धि और विभूति आदि को ही योग का गौरव समझते हैं, उनकी यह बाह्य दृष्टि हटा कर यह निर्देश कराने के उद्देश्य से कि योग का वास्तविक स्वरूप अन्तर्मुख होना है, समाधिपाद सूत्र १८ के वि० व० में योग की चार भूमियों—वितर्क, विचार, आनन्द अस्मिता तथा विवेक ख्याति, परवैराग्य, असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्य तथा उनके अन्तर्गत चन्द्रलोक (सूक्ष्मलोक), आदित्य लोक (कारण जगत्) क्रम मुक्ति, सद्य मुक्ति और अवतार आदि का भी वर्णन आवश्यक समझा गया है।

समाधि पाद सूत्र ३४ के वि० व० में सूक्ष्म प्राणों के वर्णन के साथ साथ सूक्ष्म नाड़ियों, स्वरों, तत्त्वों, चक्रों और कुण्डलिनी शक्ति का भी दिग्दर्शन करा देना आवश्यक था। चक्रों के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी बातें जिनका राजयोग से कोई सम्बन्ध नहीं है, और काल्पनिक हैं केवल तांत्रिक विचारों की अलंकारता के उद्देश्य से लिखी गई हैं। तान्त्रिक ग्रन्थ और तान्त्रिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हम किसी प्रकार की विवेचना करना उचित नहीं समझते। नि सन्देह इनमें से कई एक की तो पंच मकार के सम्बन्ध में बड़ी उच्च आध्यात्मिक धारणा है; यथा *"पुण्यापुण्य पशु को ज्ञानखड्ग से मार कर परन्तत्त्व में चित्त लय* का नाम 'मांस' भक्षण है, इन्द्रियों का मन से निरोध कर आत्मा में संयोजन करना 'मत्स्य' भोजन है। कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर सहस्रदलस्थित शिव के साथ सोमरस उत्पादन का नाम 'मैथुन' है इत्यादि"।

हिन्दुओं में वैष्णव, शैव और शाक्त तीन प्रकार के तांत्रिक ग्रन्थ तथा वैष्णव, शैव और शाक्त तीन प्रकार के तांत्रिक सम्प्रदाय हैं। तथा उनके अन्तर्गत और बहुत से अवान्तर भेद हैं। जैन और बौद्धों में भी बहुत से तान्त्रिक ग्रन्थ और तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और बहुत से स्वतंत्र तान्त्रिक सम्प्रदाय और पद्धतियां प्रचलित हैं। लगभग सभी तान्त्रिक सम्प्रदाय शुद्ध परब्रह्म परमात्म स्वरूप में अवस्थिति की अपेक्षा प्राकृतिक शक्तियों की प्राप्ति में विशेष

प्रवृत्ति रखते हैं। राजयोग के अध्यात्म उन्नति चाहने वाले साधकों के लिये उनको केवल उन्हीं बातों को ग्रहण करना चाहिए जो उनके अपने मुख्य उद्देश्य में सहायक हो सकें।

साधन पाद सूत्र ३० की व्याख्या में जहाँ हमने योगियों तथा साधारण मनुष्यों के लिए व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध से अहिंसा, सत्य, आदि यमों का आदर्श बतलाया है वहां सूत्र ३१ के विशेष वक्तव्य में राष्ट्रपतियों के लिए जिनके ऊपर सारे राष्ट्र अथवा मनुष्य समाज का उत्तरदायित्व होता है, उनके लिए इसका क्या स्वरूप होना चाहिए, इसको महाभारत आदि के कई उदाहरणों के साथ दर्शाया है, तथा श्री कृष्णजी महाराज ने राष्ट्र के रक्षणार्थ कर्ण पर्व में जो सूक्ष्म हृदता का उपदेश दिया है इसको भी उद्धृत कर दिया है।

साधन पाद सूत्र १७, २६, २९ की टिप्पणियों में वैदिक दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषयों का बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्यों के साथ, योग दर्शन के अष्टांग योग का बौद्ध दर्शन के अष्टांगिक मार्ग के साथ तथा योग के पांच यमों का बौद्ध दर्शन के पंच शील के साथ समन्वय दिखलाते हुए बौद्ध धर्म के इन विषयों पर यथोचित प्रकाश डाला गया है।

आध्यात्मिक विषय से भौतिक शरीर का क्या सम्बन्ध ? ऐसे विचार योग मार्ग में कोई स्थान नहीं रख सकते। आध्यात्मिक उन्नति में शरीर ही सबसे प्रथम और मुख्य साधन है। बिना स्वस्थ, स्वच्छ और निर्मल शरीर के योग मार्ग की प्रथम सीढ़ी पर भी पग धरना दुर्गम है। अतः शरीर के स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल और नीरोग रखने के चार उपाय सा० पा० सूत्र ३२ के वि० व० में विस्तार पूर्वक बतलाये हैं (१) हठ योग की षट् क्रियाएँ (२) प्राकृतिक चिकित्सा (३) सम्मोहन और संकल्प शक्ति। उपर्युक्त तीनों साधन तभी तक काम दे सकते हैं जब तक कि शरीर और मन इनके करने के योग्य स्वस्थ अवस्था में हों। किन्तु किसी ऐसी व्याधि आदि पीड़ा की उपस्थिति में जब शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियें इन क्रियाओं के करने में सर्वथा असमर्थ हो जायें तब औषधियों का ही सहारा लेना पड़ता है। इस मार्ग में प्रवेश करने वाले लगभग ९० प्रतिशत किसी न किसी प्रकार की व्याधि लिये हुए शरीर से अस्वस्थ अवस्था में ही देखे जाते हैं, उनके लिए सबसे प्रथम कार्य उन व्याधियों को निवृत्त अथवा शिथिल करना होता है। प्राचीन समय में जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले योगीजनों के लिए वहाँ से प्राप्त होने वाली जड़ी बूटी, आदियों का ज्ञान रखना आवश्यक होता था, जिससे आवश्यकतानुसार उनको काम में लाया जाता था। किन्तु इस समय न तो ऐसे स्थान आसानी से उपयुक्त हो सकते हैं और न वहाँ की कठिनाइयों को सहन करने के योग्य शरीर रहे हैं। आधुनिक काल में औषधियों में भी नाना प्रकार के अन्वेषण किये गये हैं और उत्तम से उत्तम औषधियें हर स्थान पर उपलब्ध हो सकती हैं, इसलिए हमने ऐसी औषधियां जिनको हमने अनुभवी संन्यासियों, महात्माओं, डाक्टरों और वैद्यों से प्राप्त किया है तथा जिनको हमने स्वयं अनुभव किया है अथवा कराया है उपायरूप (४) में लेख बद्ध कर दिया है। जिससे साधक अथवा पथ दर्शक किसी योग्य वैद्य तथा डाक्टर की अनुपस्थिति में आवश्यकतानुसार काम में ला सकें। रोग तथा व्याधि एक प्रकार से पाप रूप है और औषधि प्रायश्चित्त रूप, पूर्ण सावधानी पूर्वक यत्न होना चाहिए कि यह पाप निकट न आसके किन्तु उसकी उपस्थिति में प्रायश्चित्त रूप औषधि से बचने के लिए नाना प्रकार की युक्तियों

को ढूंढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। इन चार उपायों में से औषधियों को साधनपाद के अन्त में परिशिष्ट भाग में दे दिया गया है।

सा० पा० सूत्र ४० की व्याख्या में जहां हमने ध्यान पर बैठने के लिये कई उपयोगी आसनों और नियमों का वर्णन किया है वहाँ विशेष वक्तव्य में ध्यान के उपयोगी स्थान आदि को बतला कर सब प्रकार के बन्धों, मुद्राओं और आसनों तथा गुफा में लम्बे समय तक बैठने के नियमों आदि का वर्णन कर देना भी उचित समझा है, क्योंकि इनकी न केवल शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने में उपयोगिता है वरन् वे नाड़ीशोधन और प्राण के उत्थान में भी अत्यन्त सहायक होते हैं।

सा० पा० सूत्र ४९ की व्याख्या में प्राणायाम का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के पश्चात् उसके विशेष वक्तव्य में हठयोग की पुस्तकों के आठों प्रकार के प्राणायाम तथा उनके अन्तर्गत और बहुत सी प्राणायाम की विधियों को भी दिखलाया गया है।

सिद्धियों, विभूतियों और चमत्कारों आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अन्ध विश्वास और भ्रान्त ज्ञान हटाने के उद्देश्य से वि० पा० सूत्र ६ के विशेष वक्तव्य में संयम के वास्तविक स्वरूप तथा उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर पूरी विवेचना की गई है।

विभूति पाद सूत्र २६ के पिछले संस्करण में टिप्पणी में व्यास भाष्य का केवल शब्दार्थ ही दिया गया था, उसके सम्बन्ध में अपने विचारों को सुरक्षित रक्खा गया था। कई महानुभावों के आग्रह से इस संस्करण में उसका स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

विभूति पाद सूत्र ३९ में उत्क्रान्ति शब्द को लेते हुए विशेष वक्तव्य में देवयान पितृयान क्रममुक्ति, सद्यमुक्ति अवतार आदि गूढ़ विषयों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता समझी गई है।

कैवल्य पाद सूत्र ३४ के भोजवृत्ति में योग के साथ सब दर्शनों का समन्वय दिखलाया है। किसी को उसके द्वारा अन्य दर्शनों के खण्डन की शंका न होने पावे इस हेतु उसका स्पष्टीकरण भी उचित समझा गया है।

सूत्रों के विशेष विचार और विशेष वक्तव्य अवश्य पढ़ने चाहिये उनमें पाठकगण बहुत सी उपयोगी और जानने योग्य बातों को पायेंगे। सूत्रों की व्याख्या में व्यास भाष्य भोजवृत्ति और योग वार्त्तिक आदि की सभी मुख्य बातें आगई हैं। टिप्पणियों में उनका भाषानुवाद केवल विशेष जानकारी के उद्देश्य से किया गया है। योग वार्त्तिक जो किञ्चित् बड़ा और गूढ़ विषयक है केवल उच्च श्रेणियों के पाठकों के लिये है। इन टिप्पणियों को यदि चाहें तो स्वेच्छानुसार छोड़ सकते हैं।

बहुत सी उपयोगी आवश्यक और जानने योग्य बातों के बढ़ा देने से वर्त्तमान ग्रन्थ पिछले संस्करण की अपेक्षा लगभग दुगना हो गया है।

इस प्रकार जहाँ इस पातञ्जल प्रदीप में लगभग सभी आवश्यक विषयों का संकलन किया गया है और केवल इस एक पुस्तक को रखते हुए अन्य बहुत सी पुस्तकों की आवश्यकता नहीं रहती है, वहाँ बहुत से सत्संगियों तथा अन्य कई प्रेमी सज्जनों के विचारों को दृष्टि में रखते हुए षड्दर्शन समन्वय, विशेष विचार और टिप्पणियों आदि को छोड़ कर पातञ्जल योग प्रदीप के केवल सूत्र, शब्दार्थ अन्वयार्थ और व्याख्या को कुछ उचित परिवर्तन के साथ

एक छोटी पुस्तक के रूप में लघु पातञ्जल योग प्रदीप के नाम से अलग निकालने का यत्न किया गया है, जिससे वे योगप्रेमी सज्जन जो पातञ्जल योग प्रदीप को संक्षिप्त रूप में देखना चाहते हैं इससे लाभ उठा सकें तथा वह दैनिक पाठ आदि में भी उपयोगी हो सके।

सारा ही मनुष्य जीवन योग के अन्तर्गत है। इस लिए मनुष्य जीवन से संबन्ध रखने वाले सारे विषयों को यथोचित स्थान में दर्शाया गया है। मनुष्यों की प्रकृतियों और रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। यह असम्भव है कि सारी बातें सब मनुष्यों को सन्तुष्ट कर सकें। अतः पाठक महानुभावों से निवेदन है कि नाना प्रकार के विचार रूपी पुष्पों की इस ग्रन्थ रूपी वाटिका में से अपने रुचिकर पुष्पों की सुगन्ध को ग्रहण करलें। जो उनके दृष्टिकोण से अनावश्यक अथवा दोषयुक्त प्रतीत हों उनके प्रति उपेक्षा वृत्ति द्वारा अपने उदार भावों का परिचय दें।

सारे ही विषयों को स्वतन्त्र विचारों के साथ युक्ति, अनुभूति और श्रुति के आधार पर निष्पक्ष भाव से उनके सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में दर्शाने का यत्न किया गया है। आशा है पाठक गण साम्प्रदायिक पक्षपात तथा मतमतान्तरों की संकीर्णता की क्षुद्रता से परे होकर हृदय की विशालता में प्रत्येक विषय पर अपनी स्वच्छ, निर्मल और सात्विक बुद्धि से विवेकपूर्ण विचार करके वास्तविक लाभ उठाएंगे।

जो महानुभाव इस ग्रन्थ में किसी प्रकार की त्रुटियों और भूलों के बतलाने, किसी स्थान पर न्यूनाधिक, वा परिवर्तन करने अथवा अपने विशेष विचारों के प्रकट करने की कृपा करेंगे, उनका बड़े आदर, सम्मान और धन्यवाद के साथ स्वागत किया जावेगा तथा इसके तीसरे संस्करण में उनके सम्बन्ध में पूरा विचार किया जावेगा।

पाठकों के सुभीते के लिए ग्रन्थ के अन्त में पाँच परिशिष्ट दिये गये हैं। परिशिष्ट (१) में सांख्य और योग दर्शन के मूल सूत्र, (२) में वर्णानुक्रमसूत्रसूची, (३) में शब्दानुक्रमणी, (४) में विषयसूची और (५) में शुद्धाशुद्धि पत्र है। आशा की गई थी कि इस दूसरे संस्करण में अशुद्धियां न होने पायेंगी, किन्तु प्रेस वालों के प्रयत्न करने पर भी बहुत सी अशुद्धियां रह गई हैं और एक लम्बा शुद्धाशुद्धि पत्र लगाना पड़ा है। पाठकगण कृपया पढ़ने से पूर्व अशुद्धियों को ठीक करलें अथवा कम से कम जिन पृष्ठों को पढ़ें उनका शुद्धाशुद्धि-पत्र पढ़ने से पूर्व देख लें।

अन्त में जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ के तैयार कराने और प्रकाशन कराने में किसी प्रकार की भी सहायता दी है उनका धन्यवाद तथा जिन प्राचीन ऋषियों और वर्तमान समय के महापुरुषों और विद्वानों के उच्च, पवित्र और रहस्य पूर्ण विचारों से इस ग्रन्थ को सुशोभित किया गया है और उपयोगी बनाया गया है उनके प्रति कृतज्ञता का प्रगट कर देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

ओम तीर्थ



पूज्यपाद योगिराज श्री १०८ श्रीयुत स्वामी
सोमतीर्थ जी महाराज

पूज्यपाद योगिराज श्री १०८

श्रीयुत स्वामी सोमतीर्थ जी महाराज

का

आशीर्वाद

क्लेशान्धकारनाशाय मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तत्त्वज्ञानप्रदानाय क्षमो योगप्रदीपकः॥
(भूयात्)

क्लेशरूपी अन्धकार को नाश करने के लिये तथा मुमुक्षुजनों की मुक्ति के लिये और तत्त्वों का ज्ञान प्रदान करने के लिये पातञ्जल योगप्रदीप समर्थ हो।

ओ३म्

पातञ्जल योग प्रदीप

षड्दर्शन समन्वय

भूमिका

पहिला प्रकरण

वेद

वेद ईश्वरीय ज्ञान है जिसका प्रादुर्भाव ऋषियों पर सृष्टि के आरम्भ में समाधि द्वारा होता है।

१. मूल वेद मन्त्र—इन मन्त्रों की चार संहितायें है जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद कहलाती हैं।

२. ब्राह्मण ग्रन्थ—इन में अधिकतर मूल वेदों में बतलाये हुए धर्म अर्थात् यज्ञादि कर्मो तथा विधि निषेध की विस्तृत व्याख्या और व्यवस्था है। 'ब्राह्मण' नामकरण का कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बृहु वर्धने, बढ़ने वाला अर्थात् वितान यज्ञ) है। इनमें से चार प्रसिद्ध हैं—ऐतरेय ऋग् का, शतपथ यजु का, ताण्ड्यब्राह्मण सामवेद का और गोपथ अथर्व का। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ अंश ऐसा भी सम्मिलित होगया है जो मूल वेदमंत्रों के आशय के विपरीत जाता है।

३. उपनिषद्—उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और यहाँ ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष के हैं। इसमें अधिकतर वेदों में बताये हुए आध्यात्मिक विचारों को समझाया गया है। इन्हीं को वेदान्त कहते हैं। इनमें मुख्य ग्यारह हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वेतर, छान्दोग्य, और बृहदारण्यक।

दर्शन

वेदों में बतलाये हुए ज्ञान की मीमांसा दर्शनशास्त्रों में मुनियों द्वारा सूत्ररूप से की गयी है। दर्शन शब्द का अर्थ है "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" जिसके द्वारा देखा जावे अर्थात् वस्तु का सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप जाना जावे।

"प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्ति की ओर प्रवृत्ति"

छोटे से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े सम्राट् तक प्रतिक्षण तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों में से किसी न किसी दुःख की निवृत्ति का ही यत्न करते रहते हैं। फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। मृगतृष्णा के सदृश जिन विषयों के पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ता है, प्राप्त होने पर, वे दुःख ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तत्त्वदर्शी के लिये निम्न चार प्रश्न उपस्थित होते हैं:—

दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषय

१. हेय—दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य है ?।

२. हेय हेतु—दुःख कहाँ से उत्पन्न होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य दुःख का वास्तविक 'हेतु' है ?।

३. हान—दुःख का नितान्त अभाव क्या है, अर्थात् 'हान' किस अवस्था का नाम है ?।

४. हानोपाय—नितान्त दुःखनिवृत्ति का साधन अर्थात् 'हानोपाय' क्या है ? ।

तीन मुख्य तत्त्व

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए तीन बातें और उपस्थित होती हैं:—

१. चेतनतत्त्व : आत्मा, पुरुष (जीव)—दुःख किसको होता है ?, जिसको दुःख होता है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ?, यदि उसका दुःख स्वाभाविक धर्म होता तो वह उससे बचने का प्रयत्न ही न करता। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा तत्त्व है जिसका दुःख और जड़ता स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह चेतनतत्त्व है। इस चेतन—आत्मा (पुरुष) के पूर्ण ज्ञान से तीसरा प्रश्न 'हान' सुलझ जाता है। अर्थात् आत्मा के यथार्थ रूप के साक्षात्कार, 'स्वरूपस्थिति' से दुःख का नितान्त अभाव हो जाता है।

२. जड़तत्त्व : प्रकृति—इस चेतनतत्त्व से भिन्न, इसके विपरीत, किसी और तत्त्व के मानने की भी आवश्यकता होती है, जिसका धर्म दुःख है, जहाँ से दुःख की उत्पत्ति होती है और जो इस चेतनतत्त्व से विपरीत धर्म वाला है। वह जड़तत्त्व है, जिसको प्रकृति, माया आदि कहते हैं। इसके यथार्थ रूप को समझ लेने से पहला और दूसरा दोनों प्रश्न सुलझ जाते हैं। अर्थात् दुःख इसी जड़तत्त्व का स्वाभाविक गुण है, न कि आत्मा का। जड़ और चेतनतत्त्व में आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण संयोग ही 'हेय' अर्थात् त्याज्य दुःख का वास्तविक स्वरूप है। और चेतन तथा जड़तत्त्व का अविवेक अर्थात् मिथ्या ज्ञान या अविद्या 'हेय हेतु' अर्थात् त्याज्य दुःख का कारण है। चेतन और जड़तत्त्व का विवेकपूर्ण ज्ञान 'हानोपाय' दुःख-निवृत्ति का मुख्य साधन है।

३. चेतनतत्त्व : परमात्मा, पुरुष विशेष (ईश्वर, ब्रह्म)—इन दोनों चेतन और जड़तत्त्वों के मानने के साथ एक तीसरे तत्त्व को भी मानना आवश्यक हो जाता है, जो पहले

चेतनतत्त्व के सर्वांश अनुकूल हो और दूसरे जड़तत्त्व के विपरीत हो, अर्थात् जिसमें पूर्ण ज्ञान हो, जो सर्वज्ञ हो, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हो, जिसमें दुःख, जड़ता और अज्ञान का नितान्त अभाव हो, जहाँ तक आत्मा का पहुंचना आत्मा का अन्तिम ध्येय है, जो ज्ञान का पूर्ण भण्डार हो, जहाँ से ज्ञान पाकर आत्मा जड-चेतन का विवेक प्राप्त कर सके और अविद्या के बन्धनों को तोड़कर 'हेय' दुःख से सर्वांश मुक्ति पा सके। इस तर्क के द्वारा हमें तीसरे और चौथे दोनों प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है, अर्थात् यही 'हान' है और 'हानोपाय' भी हो सकता है।

षड् दर्शन

इन चारों रहस्यपूर्ण प्रश्नों के समझाने के लिये 'दर्शन शास्त्रों' में इन तीनों तत्त्वों को छोटे छोटे और सरल सूत्रों में युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। इन दर्शनशास्त्रों में 'षड् दर्शन'—छः दर्शन - मुख्य हैं। १. मीमांसा, २. वेदान्त, ३. न्याय, ४. वैशेषिक, ५. सांख्य और ६. योग। ये षड्दर्शन वेदों के उपाङ्ग कहलाते हैं।

१. शिक्षा—जिसका उपयोग वैदिकवर्णों, स्वरों और मात्राओं के बोध कराने में होता है।

२. कल्प—जो आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन और कात्यायन आदि ऋषियों के बनाये श्रौत सूत्र हैं, जिनमें योग के प्रयोग, मन्त्रों के विनियोग की विधि है।

३. व्याकरण—जो प्रकृति और प्रत्यय आदि के उपदेश से पद के स्वरूप और उसके अर्थ का निश्चय करने के उपयोगी हैं।

४. निरुक्त—जो पदविभाग, मन्त्र का अर्थ, और देवता के निरूपण द्वारा एक-एक पद के सम्भावित और अवयवार्थ का निश्चय करता है।

५. छन्द—जो लौकिक और वैदिक पादों की अक्षर संख्या को नियमित करने, पाद, यति, और विराम आदि की व्यवस्था करने में उपयोगी है।

६. ज्योतिष—जो यज्ञादि अनुष्ठान के काल विशेष की व्यवस्था करता है।

ये वेदों के अङ्ग कहलाते हैं। अर्थात् इनके द्वारा वेदमन्त्रों के अर्थों का यथार्थ बोध प्राप्त होता है।



दूसरा प्रकरण

पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात् मीमांसा और वेदान्त दर्शन

कर्मकाण्ड—वेद मन्त्रों में बतलाई हुई,—कर्तव्य-कर्मों अर्थात् इष्ट और पूर्त कर्मों की,—शिक्षा का नाम कर्मकाण्ड है। इष्ट वे कर्म हैं जिनकी विधि मन्त्रों में दीगई हो, जैसे यज्ञादि। और पूर्त वे सामाजिक कर्म हैं जिनकी आज्ञा वेद में हो किन्तु विधि लौकिक हो, जैसे पाठशाला, कूप, विद्यालय, अनाथालय आदि बनवाना इत्यादि। इन दोनों कर्मों के तीन अवान्तर भेद हैं, नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, और काम्य कर्म।

१. **नित्यकर्म**—जो नित्य करने योग्य हैं, जैसे पंचमहायज्ञ आदि।

२. **नैमित्तिक**—वे कर्म हैं जो किसी निमित्त के होने पर किये जावें, जैसे पुत्र का जन्म होने पर जातकर्म संस्कार।

३. **काम्यकर्म**—जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामना से किये जावें। इनके अतिरिक्त कर्मों के दो और भेद हैं, निषिद्धकर्म और प्रायश्चित्तकर्म।

(क) **निषिद्धकर्म**—जिनके करने का शास्त्रों में निषेध हो।

(ख) **प्रायश्चित्तकर्म**—जो विहित कर्म के न करने, अथवा विधि विरुद्ध के करने, वा वर्जित कर्म करने से अन्तःकरण पर मलिन संस्कार पड़ जाते हैं उनके धोने के लिये किये जावें।

उपासनाकाण्ड—वेद मन्त्रों में बतलाई हुई लवलीनता अर्थात् मन की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर केवल एक लक्ष्य पर ठहराने की शिक्षा का नाम उपासना है।

ज्ञानकाण्ड—इसी प्रकार वेद मन्त्रों में जहां-जहां आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है उसको ज्ञानकाण्ड कहते हैं। मन्त्रों के कर्मकाण्ड का विस्तारपूर्वक वर्णन मुख्यतया ब्राह्मण ग्रन्थों में, ज्ञानकाण्ड का आरण्यकों तथा उपनिषदों में, और उपासनाकाण्ड का दोनों में किया गया है।

मीमांसा—इन तीनों काण्डों के वेदार्थ विषयक विचार को मीमांसा कहते हैं। मीमांसा शब्द "मान ज्ञाने" से जिज्ञासा अर्थ में 'माने जिज्ञासायाम्' वार्तिक की सहायता से निष्पन्न होता है। मीमांसा के दो भेद हैं, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड और उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड पर विचार किया गया है।

उपासना दोनों में सम्मिलित है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन वास्तव में एक ही ग्रन्थ के दो भाग कहे जा सकते हैं। पूर्व मीमांसा श्री व्यासदेवजी के शिष्य जैमिनि मुनि ने प्रवृत्ति-मार्गी गृहस्थियों तथा कर्म काण्डियों के लिये बनाई है। उसका प्रसिद्ध नाम मीमांसा दर्शन है। इसको जैमिनि दर्शन भी कहते हैं। इसके बारह अध्याय हैं जो मुख्यतया कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। उत्तर मीमांसा निवृत्ति मार्ग वाले ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिये श्री व्यास महाराज ने स्वयं रचा है। वेदों के कर्म-काण्ड प्रतिपादक वाक्यों में जो विरोध प्रतीत होता है, केवल उसके वास्तविक अविरोध को दिखलाने के लिये पूर्व मीमांसा की, और वेद के ज्ञानकाण्ड में समन्वयसाधन और अविरोध की स्थापना के लिये उत्तर मीमांसा की रचना की गई है। इस कारण इन दोनों दर्शनों में शब्द प्रमाण को ही प्रधानता दी गई है। यह दोनों दर्शनकार लगभग समकालीन हुए हैं। इस लिये श्री जैमिनि का भी वही समय लेना चाहिये जो उत्तर मीमांसा के प्रकरण में श्री व्यासदेव जी महाराज का बतलाया जावेगा।

पूर्व मीमांसा

मीमांसा का प्रथम सूत्र है "अथातो धर्मजिज्ञासा" अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा करते हैं।

मीमांसा के अनुसार धर्म की व्याख्या वेदविहित, शिष्टों से आचरण किए हुए कर्मों में अपना जीवन ढालना है। इसमें सब कर्मों को यज्ञों तथा महायज्ञों के अन्तर्गत कर दिया गया है। भगवान् मनु ने भी ऐसा ही कहा है—"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" महायज्ञों तथा यज्ञों द्वारा ब्राह्मण शरीर बनता है। पूर्णिमा तथा अमावस्या में जो छोटी २ इष्टि की जाती हैं इनका नाम यज्ञ और अश्वमेधादि यज्ञों का नाम महायज्ञ है। (१) ब्रह्मयज्ञ—प्रातः और सायंकाल की संध्या तथा स्वाध्याय। (२) देवयज्ञ—प्रातः तथा सायंकाल का हवन। (३) पितृयज्ञ—देव और पितरों की पूजा अर्थात् माता, पिता, गुरु आदि की सेवा तथा उनके प्रति श्रद्धा भक्ति। (४) बलिवैश्वदेवयज्ञ—पकाये हुए अन्न में से अन्य प्राणियों के लिये भाग निकालना। (५) अतिथियज्ञ—घर पर आये हुए अतिथियों का सत्कार,—ये यज्ञ के अवान्तर भेद हैं।

ये यज्ञ और महायज्ञ वेदों में बतलाई हुई विधि के अनुसार होने चाहिये। इसलिए जैमिनि मुनि ने इनकी सिद्धि के लिए 'शब्द' अर्थात् 'आगम' प्रमाण ही माना है, जो वेद है।

वेद के ५ प्रकार के विषय हैं—(१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। "स्वर्गकामो यजेत" 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ को करे' इस प्रकार के वाक्यों को विधि कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थ स्मारकों को 'मंत्र' के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम की 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं। तथा किसी पदार्थ के सच्चे गुणों के कथन को 'अर्थवाद' कहते हैं। इन पांच विषयों के होने पर भी वेद का तात्पर्य विधि वाक्यों में ही है। अन्य चारों विषय उन के केवल अंग भूत हैं तथा

पुरुषों को अनुष्ठान के लिये उत्सुक बनाकर विधिवाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं। विधि चार प्रकार की होती है। कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली विधि "उत्पत्ति-विधि" है। अंग तथा प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध बोधक विधि को "विनियोग विधि", कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व को कहने वाली विधि को "अधिकार विधि", तथा प्रयोग के प्राशुभाव (शीघ्रता) के बोधक विधि को "प्रयोग विधि" कहते हैं। विध्यर्थ के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक पद प्रमाण होते हैं।

जैमिनि मुनि के मतानुसार यज्ञों से ही स्वर्ग अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति होती है। "स्वर्गकामो यजेत" स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ को करे। यज्ञ के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसा वर्णन किया गया है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

(गी० अ० ३ श्लो० ९)

यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त, अन्य कर्मों से यह लोक बंधा हुआ है। तदर्थं अर्थात् यज्ञार्थ (किए जाने वाले) कर्म (भी) तू आसक्ति अथवा फलाशा छोड़कर करता जा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

(गी० अ० ३ श्लो० १०)

प्रारम्भ में यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (प्रजा से) कहा "इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु होवे अर्थात् यह तुम्हारे इष्ट फलों को देने वाला होवे"।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गी० अ० ३ श्लो० ११)

(प्रजापति ब्रह्मा यह भी बोले कि) तुम इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करते रहो (और) ये देवता (वर्षा आदि से) तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त करलो।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

(गी० अ० ३ श्लो० १२)

क्योंकि यज्ञ से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें (वापिस) न देकर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, अर्थात् देवताओं से दिये गये अन्न आदि से पञ्चमहायज्ञ आदि द्वारा उन देवताओं का पूजन किये बिना जो व्यक्ति खाता पीता है वह सचमुच चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(गी० अ० ३ श्लो० १३)

यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ आदि) करके शेष बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करके केवल) अपने ही लिए जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापी लोग पापभक्षण करते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
(गी० अ० ३ श्लो १४)

अन्न से प्राणिमात्र की उत्पत्ति होती है, अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है और यज्ञ की उत्पत्ति (वैदिक) कर्म से होती है।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥
(गी० अ० ३ श्लो० १५)

उस कर्म को तू वेद से उत्पन्न जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

यहाँ तीसरे चेतनतत्त्व अर्थात् ईश्वर को व्यष्टि रूप से प्रत्येक यज्ञ का अधिष्ठातृ देव माना गया है, जिसकी उस विशेष यज्ञ द्वारा उपासना की जाती है। यथा—

"तद् यदिदमाहुः 'अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्,
एतस्यैव सा विसृष्टिः एष उ ह्येव सर्वे देवाः ॥
(बृह० १ । ४ । ६)

अर्थ—जो यह कहते हैं कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक एक देवता का याग बतलाते हैं, वह इसीकी विसृष्टि । विसरा हुआ अर्थात् व्यष्टि रूप है निसन्देह यह ही सारे देवता हैं।

अर्थात् अग्नि उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ) उसी का प्रकाशक है। इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसी के प्रकाशक हैं। इसलिए यज्ञों में जो अग्नि, इन्द्र आदि भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना पाई जाती है वह वास्तव में उसी एक ब्रह्म की उपासना है।

पुनश्च—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
(यजु० अ० ३२ मं० १)

वह ही अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है, वह चन्द्रमा है, वह शुक्र अर्थात् चमकता हुआ नक्षत्र है, वह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वह जल (इन्द्र) है, वह प्रजापति (विराट्) है।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। (अ० वेद १३।४।३)

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। (अ० वेद १३।४।४)

सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। (अ० वेद १३।४।५)

अर्थः—वह (ईश्वर) धाता है, वह विधाता है, वही वायु, वही आकाश में उठा मेघ है। वही अर्य्यमा, वही वरुण, रुद्र और महादेव है। वही अग्नि, सूर्य और महायम है।

स वरुणः सायम ग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ।
स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ।
(अथर्ववेद १३।)

अर्थः—वह सायंकाल अग्नि और वरुण होता है और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्ष से चलता है, वह इन्द्र होकर मध्य से द्युलोक को तपाता है।

यास्क ने निरुक्त के दैवत काण्ड (सप्तम अध्याय) में स्पष्ट शब्दों में विवेचना की है कि इस जगत् के मूल में एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्य शालिनी होने से ईश्वर कहलाती है। वह एक अद्वितीय है, उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है। यथा:

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।
(७।४।८,९)

हानोपाय—इसी प्रकार जहां उत्तर मीमांसा में "हानोपाय" अर्थात् मुक्ति का साधन, ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिये, ज्ञान द्वारा तीसरे तत्त्व अर्थात् परमात्मा की उपासना बतलाई गई है, वहां पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्डी गृहस्थियों के लिये यज्ञों द्वारा व्यष्टि रूप से उसी ब्रह्म की उपासना बतलाई गई है।

हान—किन्तु "हान" अर्थात् मुक्ति के सम्बन्ध में जैमिनि और व्यास भगवान् में कोई विशेष मतभेद नहीं है तथा अन्य दर्शनकारों से भी अविरोध है। यथा:

ब्राह्मेण जैमिनि रुपन्यासादिभ्यः। (वेदान्त दर्शन। ४।४।५)

जैमिनि आचार्य का मत है कि मुक्त पुरुष (अपर) ब्रह्म रूप से स्थित होता है। क्योंकि श्रुति में उसी रूप का उपन्यास (उद्देश्य) है।

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ (वेदान्त दर्शन ४। ४। ६)

औडुलोमि आचार्य मानते हैं कि मुक्त पुरुष चितिमात्र स्वरूप से स्थित होता है क्योंकि यही उसका अपना स्वरूप है।

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ (वे० द० ४। ४। ७)

अर्थ—इस प्रकार भी उपन्यास (उद्देश्य) हैं और पूर्व कहे हुए धर्म भी उसमें पाये जाते हैं इसलिये उन दोनों में कोई विरोध नहीं है। यह बादरायण (सूत्रकार व्यासदेवजी) मानते हैं।

अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग वाले सगुण ब्रह्म के उपासक शबल (सगुण) स्वरूप से मुक्ति में शबल ब्रह्म (अपर ब्रह्म) के ऐश्वर्य को भोगते हैं जो जैमिनिजी को अभिमत है और निवृत्ति मार्ग वाले निर्गुण शुद्ध ब्रह्म के उपासक शुद्ध निर्गुण स्वरूप से शुद्ध निर्गुण ब्रह्म (परब्रह्म) को प्राप्त होते हैं जैसा कि औडुलोमि आचार्य को अभिमत है। व्यासजी दोनों विचारों को यथार्थ मानते हैं क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार की मुक्ति का वर्णन है।

मीमांसकों के मोक्ष की परिभाषा इन शब्दों में है "प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलयो मोक्षः। त्रेधाहि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः"। (शास्त्र दीपिका) इस जगत् के साथ आत्मा के शरीर इन्द्रिय और विषय इन तीन प्रकार के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। क्योंकि इन तीन बन्धनों ने ही पुरुष को जकड़ रक्खा है। इस त्रिविध बन्ध के आत्यन्तिक नाश की संज्ञा-मोक्ष है। सांख्य और योग के अनुसार यह सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम ध्येय है।

जैमिनि ईश्वरवादी थे

पूर्व मीमांसा का मुख्य विषय यज्ञ और महायज्ञ है। इसलिये जैमिनि मुनि ने प्रसंग मात्र उसमें कर्मकाण्ड का ही निरूपण किया है। ईश्वर के विस्तार पूर्वक वर्णन की जो उत्तर मीमांसा का विषय है अपने दर्शन में आवश्यकता नहीं देखी। इसलिये कहीं कहीं (वैशेषिक और सांख्य के सदृश) इस दर्शन के सम्बन्ध में भी अनीश्वर वादी होने की शंका उठाई गई है। उसके समाधान के लिये उपर्युक्त स्पष्टीकरण पर्याप्त है। अनेक व्यास सूत्रों से जैमिनि जी का ईश्वर वादी होना सिद्ध होता है। यथा:

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ (वेदान्त० द० १। २। २८)

अर्थः—जैमिनि आचार्य साक्षात् ही वैश्वानर पद के ईश्वरार्थक होने में अविरोध कथन करते हैं। तथा अध्याय १ पाद २ सूत्र ३१, अध्याय १ पाद ४ सूत्र १८, अध्याय ४।

२

पाद ३ सूत्र ११ से १२ तक अध्याय ४ पाद ४ सूत्र ५ जैमिनि के ईश्वरवादी होने में प्रमाण हैं।

पूर्व मीमांसा में पशु मांस की बलि का निषेध

पूर्व मीमांसा में जो कहीं २ पशुओं के मांस की आहुति देने का विधान पाया जाता है। वह पीछे की मिलावट मालूम होती है (अथवा उसको हिंसक मांसाहारी मनुष्यों के लिये यज्ञ के अतिरिक्त मांस भक्षण में प्रतिबन्धरूप समझना चाहिये) मूल सूत्रों में यज्ञ में मांस मात्र का निषेध है। यथाः "मांस-पाक-प्रतिषेधः" मांसपकाना श्रुति से निषिद्ध है। और सब आर्षग्रन्थों में हिंसावर्जित है। यथाः—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते॥
(महाभारतशान्तिपर्व)

अर्थ—मद्य मछली और पशुओं का मांस तथा यज्ञ में द्विजाति आदि मनुष्यों का बलिदान धूर्तों से यज्ञ में प्रवर्तित हुआ है। अर्थात् दुष्ट राक्षस मांसाहारियों ने यज्ञ में चलाया है। वेदों में मांस का विधान नहीं है।

अन्य सब दर्शनों के सदृश हम पूर्वमीमांसा के भी विशेष रूप को दिखलाना चाहते थे किन्तु यह विचार करके कि उसके यज्ञादि सम्बन्धी गूढ़ विषय और पारिभाषिक शब्द योग मार्ग वालों के लिये अधिक रुचिकर न हो सकेंगे, हमने उसका केवल वह सामान्यरूप ही जिसका हमारे षड्दर्शन समन्वय से सम्बन्ध है और जो इस ग्रन्थ के पाठकों को लाभदायक हो सकता है दे दिया है।

मीमांसा ग्रन्थ सब दर्शनों में सबसे बड़ा है इसके सूत्रों की संख्या २६४४ तथा अधिकरणों की ९०९ है। ये सूत्र अन्य सब दर्शनों के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर हैं। द्वादश अध्यायों में धर्म के विषय में ही विस्तृत विचार किया गया है। पहिले अध्याय का विषय है—धर्म विषयकप्रमाण, दूसरे का—भेद (एक धर्म से दूसरे धर्म का पार्थक्य) तीसरे का—अङ्गत्व, चौथे का—प्रयोज्य प्रयोजकभाव, पांचवें का क्रम (अर्थात्) कर्मों में आगे पीछे होने का निर्देश, छठे का अधिकार (यज्ञ करने वाले पुरुष की योग्यता), सातवें तथा आठवें का अतिदेश (एक कर्म की समानता पर अन्य कर्म का विनियोग) नवें का 'ऊह' दसवें का बाध, ग्यारवें का तन्त्र, तथा बारहवें का विषय प्रसङ्ग है। पूर्व मीमांसापर सब से प्राचीन वृत्ति आचार्य उपवर्ष की है।

उत्तर मीमांसा

उत्तर मीमांसा को ब्रह्मसूत्र, शारीरिक सूत्र, ब्रह्म मीमांसा तथा वेद का अन्तिम तात्पर्य बतलाने से वेदान्त दर्शन और वेदान्त मीमांसा भी कहते हैं। इस दर्शन के चार अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है।

LIBRARY

(१) पहिले अध्याय का नाम समन्वय अध्याय है क्योंकि इसमें सारे वेदान्त वाक्यों का एक मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में दिखाया गया है। इसके पहिले पाद में उन वाक्यों पर विचार है जिनमें ब्रह्म का चिन्ह सर्वज्ञतादि स्पष्ट हैं। दूसरे में उन पर विचार है जिनमें ब्रह्म का चिन्ह अस्पष्ट है और तात्पर्य उपासना में है। तीसरे में उन पर विचार है जिनमें ब्रह्म का चिन्ह स्पष्ट है और तात्पर्य ज्ञान में है। चौथे में सन्दिग्ध पदों पर विचार है।

(२) दूसरे अध्याय का नाम अविरोध अध्याय है। क्योंकि इसमें इस दर्शन के विषय का तर्क से श्रुतियों का परस्पर अविरोध दिखाया गया है। इसके पहिले पाद में इस दर्शन के विषय का स्मृति और तर्क से अविरोध; दूसरे में विरोधी तर्कों के दोष; तीसरे में पञ्च महाभूतक वाक्यों का परस्पर अविरोध, और चौथे में लिङ्ग शरीर विषयक वाक्यों का परस्पर अविरोध दिखाया गया है।

(३) तीसरे अध्याय का नाम साधन अध्याय है। क्योंकि इसमें विद्या के साधनों का निर्णय किया गया है। इसके पहिले पाद में मुक्ति से नीचे के फलों में त्रुटि दिखलाकर उनसे वैराग्य, दूसरे में जीव और ईश्वर में भेद दिखलाकर ईश्वर को जीव के लिये फल दाता होना; तीसरे में उपासना का स्वरूप और चौथे पाद में ब्रह्मदर्शन के बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनों का वर्णन है।

(४) चौथे अध्याय में विद्या के फल का निर्णय दिखलाया है। इसलिये इस का नाम फलाध्याय है। इसके पहिले पाद में जीवन्मुक्ति, दूसरे में जीवन्मुक्त की मृत्यु; तीसरे में उत्तर गति और चौथे में ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मलोक का वर्णन है।

अधिकरण—पादों में जिन २ अवान्तर विषय पर विचार किया गया है उनका नाम अधिकरण है।

अधिकरणों के विषय—अधिकरणों में निम्न लिखित विषयों पर विचार किया गया है।

१. ईश्वर २. प्रकृति, ३. जीवात्मा ४. पुनर्जन्म ५. मरने के पीछे की अवस्थाएं ६. कर्म ७. उपासना ८. ज्ञान ९. बन्ध १०. मोक्ष।

ब्रह्म सूत्र में व्यासदेवजी ने जहां दूसरे आचार्यों के मत दिखलाकर अपना सिद्धान्त बतलाया है वहां अपने को बादरायण नाम से बोधन किया है इस दर्शन के अनुसार'—

१. 'हेय'—त्याज्य जो दुःख है उसका मूल जडतत्त्व है अर्थात् दुःख जडतत्त्व का धर्म है।

२. 'हेय हेतु'—त्याज्य जो दुःख है उसका कारण अज्ञान अर्थात् जडतत्त्व में आत्मतत्त्व का अध्यास अर्थात् जडतत्त्व को भूल से चेतनतत्त्व मान लेना है। चारों अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और इन्द्रियों तथा शरीर में अहम्भाव और उनके विषय में ममत्त्व पैदा कर लेना ही दुःखों में फंसना है।

३. 'हान'—दुःख के नितान्त अभाव की अवस्था 'स्वरूप स्थिति' अर्थात् जडतत्त्व से अपने को सर्वथा भिन्न करके निर्विकार निर्लेप शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थित होना है।

. 'हानोपाय'—स्वरूप स्थिति का उपाय 'परमात्मतत्त्व का ज्ञान है' जहाँ दुःख, अज्ञान, भ्रम आदि लेशमात्र भी नहीं हैं और जो पूर्णज्ञान और शान्ति का भण्डार है।

द्वैत-अद्वैत सिद्धान्त के भेद

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में द्वैत-अद्वैत आदि मतावलम्बियों ने शब्दों के अर्थ निकालने में खासी खींचातानी की है। अद्वैतवादी 'ज्ञान' अर्थात् स्वरूपस्थिति, मोक्ष की अवस्था में आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व की भिन्नता नहीं मानते। उनके मतानुसार, व्यवहार दशा में आत्मतत्त्व के रूप में परमात्मतत्त्व का ही व्यवहार होता है। मुक्ति की अवस्था में, आत्मतत्त्व परमात्मतत्त्व में, जो इसका ही अपना वास्तविक स्वरूप है, अवस्थित रहता है। द्वैतवादी आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व में जड़तत्त्व से विजातीय भेद मानते हैं; और आत्मतत्त्व-परमात्मतत्त्व में परस्पर सजातीय भेद मानते हैं। अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा परस्पर जड़तत्त्व के सदृश भिन्न नहीं हैं किन्तु एकजातीय होते हुए भी अपनी अपनी अलग सत्ता रखते हैं। मुक्ति की अवस्था में आत्मा परमात्मा को प्राप्त होकर उसके सदृश, दुःखों को त्यागकर, ज्ञान और आनन्द को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार जड़तत्त्व के सम्बन्ध में भी इनका मतभेद है, अद्वैतवादी जड़तत्त्व की सत्ता परमात्मतत्त्व से भिन्न, नहीं मानते, उसी में आरोपित मानते हैं, जैसे रस्सी में साँप और सीप में चाँदी की सत्ता आरोपित है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार अद्वैतवादी जड़तत्त्व को 'अनिर्वचनीय माया' अथवा 'अविद्या' मानते हैं जो न सत् है न असत्। सत् इस कारण नहीं कि मुक्ति अर्थात् स्वरूपस्थिति की अवस्था में उसका नितान्त अभाव होजाता है; और असत् इसलिए नहीं कि सारा व्यवहार इसी में चल रहा है किन्तु जगत् का अभिन्नोपादान-कारण ब्रह्म या चेतनतत्त्व ही है। क्योंकि माया ब्रह्म से अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती, वह ब्रह्म ही की विशेष शक्ति अथवा सत्ता है। ब्रह्म में कोई परिणाम नहीं होता, वह सदा एकरस है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय माया का परिणाम है; यह केवल चेतन सत्ता में भ्रम से भासता है। यह सिद्धान्त विवर्त्तवाद कहलाता है जिसमें ब्रह्म को जगत् का विवर्त्त उपादान कारण माना गया है, अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूप को किंचिन्मात्र भी नहीं बदलता है परन्तु भ्रम से बदला-सा प्रतीत होता है।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

अर्थः—माया न असद्रूप है न सद्रूप और नहीं उभयात्मिका। सत् असत् दोनों से अनिर्वचनीय मिथ्यारूपा और सनातन (नित्य) है।

यहाँ केवल शब्दों का उलटफेर है। वास्तव में तो इससे जगत् का उपादान कारण माया ही सिद्ध होती है। माया को चाहे सत् कहो, चाहे असत्, चाहे सत् और असत् दोनों से विलक्षण! यथा:—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यतस्ततः।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न च लाभ इति स्थितिः॥

अर्थ.—मायारूपी मेघ से जगतरूपी नीर बरस रहा है और आकाश के समान निर्लेप चेतन की कुछ हानि नहीं, नाहीं वह आकाशरूपी ब्रह्म भीगता या गीला होता है।

छन्दांसि यज्ञः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(श्वेता० ४ । ६ । १०)

अर्थ—छन्द, यज्ञ (हविर्यज्ञ), क्रतु (ज्योतिष्टोमादि), व्रत, भूत, भविष्यत् और जो कुछ और वेद बतलाते हैं इस सबको माया का स्वामी (मायी) इसमें रचता है और उसमें दूसरा (पुरुष) माया से रुका (बँधा) है। प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को मायी, सारा विश्व उस (मायी माया शबल) के अंगों से व्याप्त है।

नामरूप विनिर्मुक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामन्येपरेस्त्वणून् ॥ (बृहद्वासिष्ठ)

अर्थ—नाम और रूप से रहित यह जगत् जिसमें ठहरता है उसको कोई (जगत् का उपादान होने से) प्रकृति कहते हैं, दूसरे (जगत् को मोहक होने से) माया बोलते हैं और कुछ लोग परमाणु नाम लेते हैं।

द्वैतवाद में इस जडतत्त्व को एक स्वतन्त्र तत्त्व 'प्रकृति' नाम से मानते हैं। मुक्ति की अवस्था में इसका नाश केवल मुक्ति वालों के लिए होता है। इसका अपने स्वरूप से अभाव नहीं होता, क्योंकि जो मुक्ति अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं उनके लिए यह बनी रहती है। यथा—

"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।"

(योगदर्शन २ । २२)

अर्थ—जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिए नष्ट हुआ भी (वह अपने स्वरूप से) नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह दूसरों के साझे की वस्तु है। यहाँ प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जगत् इसका कार्य है। जिस प्रकार घट (घडा) कार्य है, मिट्टी उसका उपादान कारण है, कुम्हार निमित्त कारण है और इसका प्रयोजन पाकादि कार्यों में लाना है, इसी प्रकार प्रकृति जगत् का उपादान कारण, ब्रह्म निमित्त कारण और पुरुषों का भोग-अपवर्ग इसका प्रयोजन है।

द्वैत-अद्वैत सिद्धान्त के भेद में अविरोध

जड तथा चेतनतत्त्व के सम्बन्ध में द्वैत-अद्वैतवादियों के सिद्धान्त में जो भेद दिखलाया गया है वास्तव में वह कोई भेद नहीं है। किसी साधारण दृश्य का यदि कई लेखक वर्णन करें तो वे सब एक जैसे नहीं हो सकते। लेखकों के विचार, उनकी रुचि, दृष्टिकोण

और लेखनशैली के अनुसार भिन्नता का होना आवश्यक है। ये तीनों तत्त्व केवल अनुभवगम्य हैं, बुद्धि से अधिक सूक्ष्म होने के कारण वर्णन में ठीक-ठीक नहीं आ सकते। इस कारण तत्त्ववेत्ताओं की वर्णनशैली में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। बाह्य दृष्टिवालों को भले ही यह भिन्नता वास्तविक प्रतीत हो, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालों के लिए इसमें कोई भिन्नता नहीं। इस प्रकार—

'हान'—दुःख की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् स्वरूपस्थिति वेदान्त के द्वैत-अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तों का अन्तिम लक्ष्य है। वह स्वरूपस्थिति 'ब्रह्मसदृश' होना हो अथवा 'ब्रह्मस्वरूप' होना हो, यह केवल शब्दों का उलट-फेर ही है। इसी प्रकार 'हेय हेतु' :दुःख का कारण जड़तत्त्व है, इसका आत्मतत्त्व से संयोग हटाना दोनों सिद्धान्त वालों का ध्येय है। अद्वैतवादियों ने इसको रज्जु में सर्प के सदृश, परमात्मतत्त्व में आरोपित एक कल्पितवस्तु बतलाकर आत्मतत्त्व से इसका संयोग छुड़ाया है। द्वैतवादियों ने इसको आत्मतत्त्व से सर्वथा भिन्न एक अलग तत्त्व दिखलाकर उसमें से आत्मतत्त्व का अध्यास हटाया है।

'हानोपाय'—दुःख की निवृत्ति का साधन परमात्मतत्त्व का ज्ञान दोनों सिद्धान्त वालों के लिए समानरूप से माननीय है। यही वेदान्त का मुख्य विषय है।

हमने केवल द्वैत और अद्वैत सिद्धान्तों का वर्णन किया है। अन्य सम्प्रदायों के "विशिष्टाद्वैत" "शुद्धाद्वैत" "द्वैताद्वैत" इत्यादि सब सिद्धान्त जिन का इसी प्रकरण के अन्त में वर्णन किया जावेगा, इन्हीं दो मुख्य सिद्धान्तों के अन्तर्गत हैं।

यहां इतना बतला देना आवश्यक है कि परिणामवाद सांख्य और योग का सिद्धान्त जिसका वर्णन चौथे प्रकरण में किया जावेगा एक अंश में अद्वैतवाद से मिलता है अर्थात् "स्वरूपावस्थिति" "परममुक्ति" की अवस्था में आत्मतत्व और परमात्मतत्व की अभिन्नता होती है। व्यवहार दशा में आत्मतत्व के रूप में परमात्मतत्व का ही व्यवहार होता है। और दूसरे अंश में द्वैतवादियों से मिलता है। अर्थात् जड़ तत्त्व एक स्वतन्त्रतत्व त्रिगुणमय प्रकृति नाम से है। परम मुक्ति की अवस्था में इसका नाश केवल मुक्ति वालों के लिये हो जाता है। दूसरों के लिये स्वरूप से इसका अभाव नहीं होता।

वेदान्तदर्शन का प्रथम सूत्र है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

अर्थ—'अब ब्रह्म के विषय में विचार आरम्भ होता है'।

दूसरा सूत्र है—

'जन्माद्यस्ययतः'

अर्थ—इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिससे होती है अर्थात् जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय का निमित्त कारण है। वह ब्रह्म है, जैसा कि श्रुति बतलाती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥ (तै० ३ । १)

अर्थ—जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीते हैं और मरते हुए जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह सत्य ब्रह्म है।

वेदान्त दर्शन का तीसरा सूत्र है—

"शास्त्रयोनित्वात्" (१ । १ । ३)

अर्थ—ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है। ब्रह्म इन्द्रियों की पहुंच से परे है, इसलिये वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अनुमान भी उसकी झलकमात्र देता है। पर शास्त्र उसका दिव्य स्वरूप दर्शाता है, जिससे अनुमान इधर ही रह जाता है। अतएव कहा है—

"येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तै० ब्रा० ३ । १२)

अर्थ—जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है उस महान् (प्रभु) को वह नहीं जानता जो वेद को नहीं जानता है।

वेदान्त दर्शन का चौथा सूत्र है—

"तत् तु समन्वयात्" (१ । १ । ४)

अर्थ—वह ब्रह्म का शास्त्र प्रमाणक होना, एक तात्पर्य से है। सारे शास्त्र का एक तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में है, अतएव कहा है—

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठ० २ । १५)

अर्थ—सारे वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं। इसलिये श्रुति का तात्पर्य एक ब्रह्म के प्रतिपादन में है, कहीं शुद्धस्वरूप से, कहीं शबल स्वरूप अथवा उपलक्षण से।

वेदान्त दर्शन के आदि के ये चारों सूत्र वेदान्त की चतुःसूत्री कहलाती है। इसमें सामान्य रूप से वेदान्त का विचार कर दिया है, विशेष रूप से आगे किया है।

वेदान्त में परमात्मतत्व (ब्रह्म) का दो प्रकार से वर्णन है—एक उसके शुद्ध स्वरूप का जो प्रकृति से पृथक् अपना निजी निर्गुण केवल शुद्ध स्वरूप है। यह "सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धम्" सारे तत्वों से निराला हुआ (श्वे० २ । १५) है। स्वरूप-मात्र होने से उसे शुद्ध कहते हैं। दूसरा, प्रकृति के सम्बन्ध से जो उसका शबल अपर अथवा सगुण रूप है, वह है।

इस शबल स्वरूप को भी, समष्टि-व्यष्टि भेद से, दो प्रकार का वर्णन किया गया है। अर्थात् सारे विश्व में उसकी महिमा का एक साथ देखना उसके समष्टि रूप का दर्शन है और उसके साथ उसका वर्णन समष्टि रूप का वर्णन है। इसके तीनों भेदः-

१. विराट् (चेतनतत्व+स्थूल जगत्),
२. हिरण्य गर्भ (चेतन तत्व+सूक्ष्म जगत्) और
३. ईश्वर (चेतन तत्व+कारण जगत्),

योग दर्शन समाधिपाद सूत्र २८ पर 'विशेष विचार' में विस्तारपूर्वक दिखलाये

गए हैं। शबल स्वरूप को भिन्न भिन्न शक्तियों में देखना उसके व्यष्टि रूप का दर्शन है और उनके द्वारा वर्णन उसके व्यष्टिरूप का वर्णन है।

वेदान्त (उपनिषदों) में शबल ब्रह्म की उपासना समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकार से बतलाई गई है। वेदान्त दर्शन में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वेदों और उपनिषदों में जहाँ जहाँ इन्द्र, सविता, वैश्वानर, अग्नि आकाश तथा प्राणादि की उपासना बतलाई गई है वह उन दिव्य शक्तियों की नहीं है किन्तु व्यष्टि रूप से ब्रह्म की ही उपासना है।

पूर्व मीमांसा में व्यष्टि रूप से सगुण ब्रह्म की यज्ञों द्वारा उपासना बताई गई है इसलिये कई एक तार्किकों को इसके बहु ईश्वर तथा अनीश्वरवादी होने की शंका हुई है। *इसके अनुसार उपासक मुक्ति में अपने सगुण स्वरूप अर्थात् जीवरूप से अपने सगुणोपास्य* ईश्वर अर्थात् अपर ब्रह्म के साथ उसके ऐश्वर्य और आनन्द को भोगता है। अन्य चार दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग) को परब्रह्म अर्थात् शुद्धरूपेण परमात्मा की उपासना अभिमत है इसलिये कईएक तार्किकों को उनके अनीश्वरवादी होने की शङ्का हुई है। इनके *अनुसार उपासक कैवल्य में अपने शुद्ध आत्मस्वरूप से परब्रह्म निर्गुण ब्रह्म, अर्थात् शुद्ध* परमात्म तत्त्व में एकी भाव से लीन हो जाता है।

वेदान्त में ब्रह्म का वर्णन कहीं कहीं अन्य आदेश से जैसे 'तत्त्वमसि', कहीं 'अहङ्कारादेश' से जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' और कहीं 'आत्मादेश' से जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' से किया गया है। *अद्वैतवादी इन वाक्यों को अद्वैत-परक समझकर महावाक्य कहते हैं।*

प्राचीन वेदान्त सांख्य और योग के अनुसार इन महावाक्यों का अभिप्राय शरीर में भासने वाले आत्मा के शुद्ध स्वरूप की परब्रह्म परमात्मा के शुद्ध स्वरूप के साथ अभिन्नता की प्रतीति कराना है। इनमें 'त्वं', 'अहम्', 'अयमात्मा', आत्मा के शुद्ध स्वरूप के सूचक हैं और "तत्, ब्रह्म, परब्रह्म" परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का निर्देश करते हैं।

उपलक्षण से ब्रह्म का वर्णन

जहाँ बाह्य पदार्थ के द्वारा उसके अन्तरात्मा पर दृष्टि लेजाना अभिप्रेत होता है, वहाँ वह बाह्य पदार्थ उसके अन्दर स्थित परमात्मा के जानने का उपलक्षण होता है, जैसे—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृह० ३।७।३)

अर्थ—जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से अलग है; जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के अन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है (वेदान्त दर्शन १।२।१८ से २० तक अन्तर्याम्यधिकरण)।

शबल रूप में और उपलक्षण में यह भेद है कि शबल रूप में बाह्य शक्ति से विशिष्ट रूप कहा हुआ होता है और उपलक्षण में उसके द्वारा उसमें शक्ति देता हुआ केवल स्वरूप होता है।

चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप

तदव्यक्तमाह हि (वेदान्त ३।२।२३)

अर्थ—मूर्त अमूर्त से परे ब्रह्म का अव्यक्त शुद्ध स्वरूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

शुद्धमपापविद्धम् (ईश० ८)

अर्थ—वह शुद्ध और पाप से न बींधा हुआ है।
शुद्ध चेतन-तत्त्व ज्ञान वाला नहीं है, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१।१)

अर्थ—(शुद्ध) ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः (मुण्ड०)

अर्थ—वह शुभ्र ज्योतियों का ज्योति है।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप प्रायः नेति नेति निषेधमुख शब्दों से वर्णन किया गया है। क्योंकि उसका स्वरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभव से ही जानी जा सकती है; उपदेश केवल यही हो सकता है कि ज्ञात वस्तुओं से उसका परे होना जँचा दिया जावे, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने देवी गार्गी को उपदेश किया है—

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमुखममात्रमनन्तरमबाह्यं. न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (बृह० ३।८।८)

अर्थ—हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है, (उसमें कोई रङ्ग नहीं है), बिना स्नेह के है, बिना छाया के है, बिना अन्धेरे के है, वह वायु नहीं है, आकाश नहीं है, वह असङ्ग है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, उसके नेत्र नहीं, श्रोत नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, उसके तेज (जीवन की गर्मी) नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, परिमाण नहीं, उसके कुछ अन्दर नहीं, न वह कुछ भोगता है, न कोई उसको उपभोग करता है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रंतदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डको० १।१।६।)

जो आँखों से दिखलाई देने वाला नहीं है, जो हाथों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई गोत्र नहीं है, जिसके न (भौतिक) चक्षु है, न श्रोत है, जिसके न हाथ हैं, न पैर हैं, जो नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, सूक्ष्म से सूक्ष्म है, जो नाश रहित है, उसको जो सब भूतों का योनि है धीर लोग देखते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथै-तदनुशिष्यात्, अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे (केन १ । ३)

अर्थ—न वहाँ नेत्र पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है, न ही मन (पहुँचता है), नहीं समझते हैं, नहीं जानते हैं, जैसे उसका उपदेश करें, वह जाने हुए से निराला है (और) न जाने हुए से अलग, यह सुना है पूर्वजों से जिन्होंने हमारे लिये उसकी व्याख्या की है।

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्नसन्नचासच्छिव एव केवलः।

(श्वे० ४ । १८)

अर्थ—जब ब्रह्मज्ञान का प्रकाश उदय होता है, तब वहाँ न दिन है न रात है, न सत् है न असत् (न व्यक्त है न अव्यक्त है) वहाँ केवल शिव है।

हमारा सारा व्यवहार जड़तत्त्व अथवा शबल चेतनतत्त्व में चल रहा है। शुद्ध चेतनतत्त्व जड़तत्त्व से विलक्षण है। वह वैशेषिक दर्शन में बतलाये हुए द्रव्यों के सदृश किसी गुण, कर्म अथवा समवाय की अपेक्षा नहीं रखता। उपनिषदों में महत्त्व से उसकी विचित्र व्यापकता और अणुत्व से विचित्र सूक्ष्मता का, न कि परिच्छिन्नता का निर्देश किया गया है, जैसे—

अणोरणीयान् महतो महीयान्

(श्वे० ३ । २०, कठ० २ । २०, तै० आ० १० । १२ । १)

अर्थ—अणु से अणु (सूक्ष्म से सूक्ष्मतर) और महान् से महत्तर।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति (कठ० २।२२)

अर्थ—उस महान् विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक से परे होजाता है। शुद्ध चेतनतत्त्व अपरिणामी, निर्विकार, निष्क्रिय (केवल ज्ञान-स्वरूप) कूटस्थ नित्य है; जड़तत्त्व विकारी, सक्रिय और परिणामी नित्य है; जड़तत्त्व में ज्ञान, नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया चेतनतत्त्व की सन्निधि-मात्र से है। यह सिद्धान्त सांख्य और योग के समान वेदान्त को भी अभिमत है। जैसे—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् (श्वे० ६ । १९)

अर्थ—वह निरवयव है, निश्चल है, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो (ईश० ४)

अर्थ—अडोल, एक, मन से बढ़कर वेगवाला (सर्वत्र व्यापक होने के कारण) है। गीता में इसका विस्तार के साथ वर्णन है। जैसे—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥ २ अ०

अर्थ —यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल स्थिर रहने वाला और सनातन है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥ ३ अ०

(वास्तव में) सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं; तो भी अहङ्कार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष मैं कर्त्ता हूँ ऐसा मान लेता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ॥ २८ ॥ ३ अ०

परन्तु हे महाबाहु! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्वों का जानने वाला ज्ञानी पुरुष 'सम्पूर्ण गुण गुणों में बरत रहे हैं' ऐसा मान कर आसक्त नहीं होता।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥ ९ अ०

हे कौन्तेय, मेरी [परमात्मतत्त्व की] अध्यक्षता से प्रकृति चराचर जगत् को रचती है। इस हेतु से जगत् सदा परिवर्तित होता रहता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥ १३ अ०

और जो पुरुष समस्त कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही देखता है, अर्थात् वही तत्त्वज्ञानी है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥ १४ अ०

हे महाबाहो, सत्, रज और तम यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण अविनाशी आत्मा को [अविवेक से] शरीर में बाँधते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥ १४ अ०

जब पुरुष गुणों [त्रिगुणात्मक प्रकृति] के सिवाय किसी दूसरे को कर्त्ता नहीं देखता है और तीनों गुणों से अतीत परम [शुद्ध आत्मतत्त्व] को तत्त्व से जान लेता है वही मेरे स्वरूप [परमात्मतत्त्व] को प्राप्त होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥ १४ अ० ॥

देह का स्वामी [पुरुष] इन स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर की उत्पत्ति के कारण तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःखों की [भ्रान्ति में] मुक्त होकर अमृत को प्राप्त होता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ २३॥ १४ अ०

जो उदासीन के समान [साक्षी भाव से] स्थित हुआ [जीवन यात्रा करता हुआ] गुणों से विचलित नहीं किया जा सकता है और जो गुण ही गुणों में वर्तते हैं ऐसा समझ कर स्थिर [शान्त] रहता है, [उस स्थिति से] चलायमान नहीं होता है [वह गुणातीत कहलाता है]।

ब्रह्मसूत्र में योग साधन की शिक्षा

आसीनः सम्भवात्॥ (ब्रह्मसूत्र ४।१।७)॥ शंका—उपासना के मानसिक होने से शरीर स्थिति का अनियम है। इस पर बतलाते हैं कि उत्तर—उपासना किसी आसन से बैठकर करनी चाहिये क्योंकि एक प्रत्यय का प्रवाह करना उपासना है और उसका चलने या दौड़ते हुए पुरुष में सम्भव नहीं है क्योंकि गति आदि चित्त में विक्षेप करने वाले हैं। खड़े रहने वाले का भी मन देह के धारण करने में व्यग्र रहता है। इसलिये वह सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण करने में समर्थ नहीं होता, लेटे हुए का मन भी सम्भव है कि अकस्मात् ही निद्रा से विवश हो जाए किन्तु बैठा हुआ पुरुष इस प्रकार के बहुत से दोषों का परिहार भली भान्ति कर सकता है। इस लिये उस उपासना का होना सम्भव है (शांकरभाष्यार्थ)

ध्यानाच्च (ब्रह्मसूत्र ४।१।८)॥ और एक प्रत्यय का प्रवाह करना ही 'ध्यायति' (ध्यै धातु) का अर्थ है और 'ध्यायति' शब्द, जिनकी अङ्ग चेष्टायें शिथिल हो दृष्टि शिथिल हो और चित्त एक ही विषय में आसक्त हो उनमें उपचार से योजित होना दिखाई देता है। जैसे कि बगुला ध्यान करता है, जिसका प्रिय विदेश में गया है वह स्त्री ध्यान करती है। बैठा हुआ पुरुष आयास रहित होता है इससे भी उपासना बैठे हुए का कर्म है। (शांकरभाष्यार्थ)

अचलत्वं चापेक्ष्य॥ (ब्रह्मसूत्र ४।१।९)॥ और 'ध्यायतीव पृथिवी' (पृथिवी मानो ध्यान करती है) इस श्रुति में पृथिवी आदि में अचलत्व की अपेक्षा से ही 'ध्यायति' शब्द का प्रयोग होता है और वह उपासना बैठे हुए का काम है इसमें लिङ्ग है (शांकरभाष्यार्थ)

स्मरन्ति च॥ (ब्रह्मसूत्र ४।१।१०)॥ 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (पवित्र देश में अपना स्थिर आसन स्थापित करके, इत्यादि स्मृति वचन से शिष्ट लोग उपासना के अङ्गरूप से आसन का विधान करते हैं। इसीसे योग शास्त्र में पद्मक आदि आसनों का उपदेश है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्॥ (ब्रह्मसूत्र ४।१।११)॥ विशेषता न पाए जाने से जहां चित्त एकाग्र होसके उसी देश में बैठ कर समाधि लगावे अथवा उपासना करे

अर्थात् समाधि अथवा उपासना का सम्बन्ध चित्तवृत्ति निरोध से है। किसी दिशा, काल और देश विशेष से नहीं।

जिस दिशा, देश या कालमें उपासक का मन सहज में ही एकाग्र हो उसी दिशा आदि में उपासना (ध्यान) करना चाहिये। क्योंकि पूर्व दिशा, पूर्वाह्न, पूर्व देश की तरफ, निम्न स्थान आदि के समान यहां विशेष का श्रवण नहीं है, क्योंकि अभीष्ट एकाग्रता सर्वत्र तुल्य है। परन्तु कितने ही विशेष भी कहते हैं। यथा—

समेशुचौ शर्करावह्नि वालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले नतुचक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ श्वे० । २ । १० ॥

अर्थः—सम और पवित्र, सूक्ष्म पाषाण, वह्नि और रेती से वर्जित शब्द और जलाशय आदि से वर्जित, मनके अनुकूल और नेत्रों को पीड़ा न देने वाले निर्वात या एकान्त प्रदेश में बैठ कर योग साधन करें।

इस पर कहते हैं ठीक है, इस प्रकार का नियम है, परन्तु ऐसे नियम के रहने पर भी विशेष में नियम नहीं है, ऐसा सुहृद् होकर आचार्य कहते हैं। 'मनोऽनुकूले' 'मनके अनुकूल' यह श्रुति जहां एकाग्रता है, वहीं, ऐसा इतना ही दिखलाती है। (शांकरभाष्यार्थ)

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥ (ब्र० सू० ३। २। २४)॥

अर्थ.—उक्त परमात्मा को कोई धीर पुरुष समाधि दशा में जान सकता है। यह "कश्चिद्धीर. प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्"। (क० ४। १) "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कल ध्यायमान"। (मु० ३। १। ८) यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः।

ज्योति. पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥ इत्यादि श्रुति और स्मृति से जाना जाता है।

अर्थात् समस्त प्रपञ्च से शून्य और अव्यक्त इस आत्मा को योगी लोग संराधन समय में देखते हैं। संराधन समय में योगी लोग परमात्मा को देखते हैं, यह कैसे समझा जाता है? प्रत्यक्ष और अनुमान से, श्रुति और स्मृति से जाना जाता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीर:०' (जिसकी नेत्रादि इन्द्रियां विषयों से व्यावृत्त होगई हैं ऐसा अमृत को चाहने वाला कोई विवेकी पुरुष प्रत्यगात्मा को देखता है) 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्व०' (ज्ञान की निर्मलता से जिसका अन्त करण विशुद्ध हुआ है वह ध्यान करता हुआ सब अवयव भेद से वर्जित आत्मा को देखता है।) इत्यादि श्रुतियां हैं। उसी प्रकार—

"यं विनिद्रा जितश्वासाः०" (निद्रा रहित श्वास को जीते हुए मनुष्य, जिसकी इन्द्रियां संयम में है ध्यान करते हुए जिस ज्योति को देखते हैं, उस योग लभ्य आत्मा को नमस्कार है, उस सनातन भगवान् को योगी सम्यक् रूप से देखते हैं इस प्रकार की स्मृतियां भी हैं। (शांकरभाष्यार्थ)

दोनों मीमांसाओं के ग्रन्थकार आचार्यों का समय और उन से पूर्व आचार्यों के नाम—

उत्तर मीमांसा अर्थात् ब्रह्म सूत्रों के कर्त्ता महर्षि बादरायण हैं। इनके सम्बन्ध में ऐसा निश्चय प्रसिद्ध और प्रचलित है कि यही पराशर ऋषि के पुत्र कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास हैं जो महाभारत के समय में हुए हैं। जिन्होंने कुरुक्षेत्र में होने वाले युद्ध की सारी घटनाओं से धृतराष्ट्र को जानकारी कराते रहने के लिये सञ्जय को दिव्य दृष्टि दी थी और जो स्वयं महाभारत और गीता के रचयिता बतलाये जाते हैं। कपिल मुनि, आसुरि, पञ्चशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, जनक और पराशर इन सब प्राचीन आचार्यों ने क्रमशः सांख्यज्ञान में निष्ठा प्राप्त करके जगत् में उसका प्रचार किया था। वास्तव में सांख्य ही अपने व्यापक रूप में उपनिषदों की प्राचीन वेदान्त फिलास्फी है। और जिसको पिछले काल के साम्प्रदायिक आचार्यों ने जिनका हम आगे वर्णन करेंगे अपने सम्प्रदाय की संकीर्णता में संकुचित करके दर्शाया है वह सब नवीन वेदान्त विचार हैं। बादरायण के अर्थ बादरि का पुत्र हैं। इससे सिद्ध होता है कि पराशर ऋषि का दूसरा नाम बादरि था। बादरि आचार्य्य का नाम ब्रह्मसूत्रों में चार बार (१।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) आया है और जैमिनि के मीमांसा सूत्रों में भी चार स्थानों (३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३०) में आया है। इससे सिद्ध होता है कि बादरि ऋषि ने कर्म मीमांसा और ज्ञान मीमांसा दोनों पर सूत्र ग्रन्थ बनाए थे। इन के मत में वैदिक कर्म में सबका अधिकार है। उसमें जन्म से जाति भेद को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

बादरायण के ब्रह्म सूत्र में जैमिनि का नाम (१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२-७, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११) ग्यारह बार आया है। औडुलोमि आचार्य्य का नाम (ब्र० सू० १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) में तीन बार आया है और काश कृत्स्न आचार्य्य का नाम (ब्रह्म० सू० १।४।२२) में एक बार आया है। आत्रेय आचार्य्य का नाम (ब्रह्म० सू० ३।४।४४) में और जैमिनिदर्शन में (४।३।१८, ६।१।२६) दो बार आया है। आचार्य्य आश्मरथ्य का नाम (ब्रह्म० सू० १।२।२९, १।४।२०) और जैमिनिसूत्र (३।५।१६) में आया है। आचार्य्य कार्ष्णाजिनि का नाम (ब्र० सू० ३।१।९) और (मीमांसा सूत्र ४।३।१७, ६।७।३५) में आया है। इससे सिद्ध होता है कि जैमिनि सूत्र और बादरायण सूत्रों से पूर्व दोनों पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा पर बहुत से प्राचीन आचार्यों के सूत्र विद्यमान थे और परस्पर विचारों में मतभेद भी

पांचों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों का विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शन समा० पा० सू० १७ वि० व० में, तीनों स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों का समाधिपाद सूत्र २८ के विशेष वक्तव्य में; पुनर्जन्म का साधनपाद सूत्र १३ के, विशेष वक्तव्य' में, और देवयान पितृयाण आदि का वि० पा० सू० २९ वि० व० में देखें।

था, क्योंकि ऐसे गूढ़ विषयों में विचारों की भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है। किन्तु उन सूत्रों के भाष्यकार नवीन साम्प्रदायिक आचार्यों की कटाक्ष (Controversy) की शैली के विरुद्ध वे अपने विचारों से भिन्नता रखने वाले आचार्यों के मत को आदर और संमान से दिखलाते थे।

वेदान्त पर भाष्यकार आचार्यों के नवीन सम्प्रदायः—

प्राचीन समय में उपनिषद् वेदान्त कहलाते थे। किन्तु वे भिन्न भिन्न समय में भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा प्रचार किये गये तथा बनाए गए थे। इसलिये उनकी विचार भिन्नता को जिसका होजाना स्वाभाविक था जब बादरायण आचार्य्य ने अपने ब्रह्म सूत्रों में सब उपनिषदों की विचारैक्यता सिद्ध कर दी तब यह ब्रह्म सूत्र भी उपनिषदों के समान ही प्रामाणिक माना जाने लगा। इन्हीं बादरायण आचार्य्य द्वारा व्यास नाम से भगवद्गीता में सारे उपनिषदों का सार अति निपुणता से समझाया गया है। इस लिये अन्त में उपनिषद् ब्रह्म सूत्र और भगवद्गीता यह तीनों प्रस्थानत्रयी नाम से वेदान्त के मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाने लगे। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् प्रत्येक नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य्य को वेदान्त के प्रस्थानत्रयी के इन तीनों भागों पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त के आधार पर भाष्य लिख कर यह सिद्ध करने की आवश्यकता हुई कि उस का सम्प्रदाय वेदान्त के अनुसार है और अन्य सम्प्रदाय इसके विरुद्ध हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखने की रीति चल पड़ने पर भिन्न २ पण्डित अपने २ सम्प्रदायों के भाष्यों के आधार पर टीकाएँ लिखने लगे। इसके परिणाम स्वरूप नवीन वेदान्त के पांच सम्प्रदाय अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत के सिद्धान्तों के आधार पर लगभग पांच दृष्टि कोण से ब्रह्म सूत्रों पर भाष्य किये गए हैं।

ब्रह्मसूत्र पर भाष्यकार श्री० स्वामी शङ्कराचार्य्य का अद्वैत सिद्धान्तः—

अद्वैत सिद्धान्त—१. आँखों से दिखलाई देने वाले सारे जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। वास्तव में यह सब एक ही शुद्ध चैतन्य सत्ता (तत्त्व) है जो निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध ज्ञान स्वरूप है जिसको परब्रह्म वा परमात्मा कहते हैं। २ परमात्मा के साथ अनादि से एक विशेष शक्ति है जिसको माया अथवा अविद्या कहते हैं जो न सत् हैं और न असत् अर्थात् अनिर्वचनीय है। ब्रह्म इस सारे अनेक विध जड़चेतन सृष्टि के प्रपञ्च को इसी अविद्या अथवा माया द्वारा रचता है जिस प्रकार मायावी मदारी अपनी माया शक्ति से नाना प्रकार के जड चेतन पदार्थों को प्रकट करके दिखलाता है जो अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखते हैं, केवल भ्रान्ति मात्र होते हैं। ३. इसलिये माया सम्बद्ध ब्रह्म ही इस जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। माया के सम्बन्ध से ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं, और अविद्या के सम्बन्ध से जीव। ४. जीव अविद्या के कारण अपने ब्रह्म स्वरूप अर्थात् शुद्ध ज्ञान स्वरूप को भूल कर बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों और शरीर आदि की उपाधियों को अपना वास्तविक स्वरूप समझ कर उनकी अवस्थाओं को अपनी अवस्था मान लेता है। इस अध्यास के कारण अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता और

परिच्छिन्नता की सीमा में आकर कर्ता और भोक्ता बन जाता है और सकाम कर्मों द्वारा पुण्य और पाप को सञ्चय करता हुआ आवागमन के चक्र में फंसकर उनके फलों को भोगता है। ५. आत्मा और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्म की एकता के अनुभव सिद्ध पूर्ण ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाने पर शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि आदि उपाधियों में से आत्मभाव मिट जाता है, जिसके उपरान्त कर्त्ता भोक्ता का अभिमान निवृत्त हो जाने पर कर्म, उनके फलों और आवागमन से मुक्ति पाकर परिच्छिन्नता और अल्पज्ञता की सीमा को तोड़ कर अपने अनन्त शुद्ध ज्ञान स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यह अद्वैत सिद्धान्त कहलाता है इसको निर्विशेषाद्वैत भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्य श्री० स्वामी शङ्कराचार्य्य हुए हैं जिनके सम्बन्ध में कई इतिहास लेखकों द्वारा यह निश्चित किया गया है कि इन्हों ने विक्रमी सम्वत् ८४५ तदनुसार ७८८ ई० सन् में जन्म ग्रहण किया था और ३२ वीं वर्ष में वि० सं० ८७८, ई० सन् ८२० में शरीर त्याग किया था। किन्तु श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज ने स्वामी शंकराचार्य्य का समय आज से २२०० वर्ष पूर्व माना है।

श्री स्वामी शंकराचार्य्यजी अपने समय के अद्वितीय विद्वान् थे। ब्रह्म सूत्रों के संस्कृत में जितने भाष्य हुए हैं उनमें सब से अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध श्री स्वामी शंकराचार्य्य का है और शंकर प्रतिपादित मत ही सामान्य रूप से वेदान्त समझा जाने लगा है। किन्तु बहुत से विद्वानों का विचार है कि स्वामी शंकराचार्य्यजी ने अपनी अलौकिक बुद्धि और विद्या को बादरायण सूत्रों के आशय को स्पष्ट करने की अपेक्षा अपने प्रवर्तित सम्प्रदाय के मण्डन और अपने से भिन्नता रखने वाले मतों के खण्डन में अधिक प्रयोग किया है।

डाक्टर घाटे ने 'वेदांत' नामक अंग्रेजी पुस्तक में शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा बल्लभ के व्याख्यानों का तारतम्य अनुशीलन कर मूल सूत्रों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों की खोज निकालने का यत्न किया है। उनकी सम्मति में शंकराचार्य्य के अनेक सिद्धान्तों की पुष्टि सूत्रों से नहीं की जा सकती। कार्य कारण के सम्बन्ध में सूत्रकार 'परिणामवाद' के पक्षपाती प्रतीत होते हैं न कि 'विवर्तवाद' के। 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र० सू० १। ४। २६) में सूत्रकार ने परिणाम शब्द का स्पष्ट निर्देश किया है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित थीबो ने शंकराचार्य्य कृत भाष्य के स्वरचित अनुवाद की भूमिका में शंकराचार्य्य की व्याख्या के सम्बन्ध में लिखा है कि "बादरायण का दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्य्य के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न था। किन्तु शंकराचार्य्य ने अपने शुष्क निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये बादरायण के ऊपर अपने मत का आरोप किया है, इसलिये ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य को पढ़ने से सूत्रकार का वास्तविक सिद्धान्त नहीं मालूम हो सकता"। इनकी समालोचना के अनुसार ही पूर्ववर्ती बहुत से समालोचकों ने स्वामी शंकराचार्य्य के विषय में ऐसा ही मत प्रकट किया है। प्राचीन काल के रामानुजाचार्य्य ने भी ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में स्वामी शंकराचार्य्य

के व्याख्यान के ऊपर विभिन्न स्थलों पर दोष दिखलाए हैं। रामानुजाचार्य्य के पूर्ववर्ती आचार्य्य भास्कर ने अपने भाष्य के आरम्भ में लिखा है कि "शङ्कराचार्य्य ने सूत्रकार के अभिप्राय को गुप्त करके अपना सिद्धान्त ब्रह्म सूत्र के भाष्य के बहाने प्रकट किया है।"

सम्भव है उपरोक्त समालोचनाओं में बहु उक्ति से काम लिया गया हो, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में अपने सम्प्रदाय से भिन्न विचार वालों के प्रति प्रायः ऐसी ही शैली चल निकली है। किन्तु बादरायण के मूल सूत्रों पर साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित हो कर स्वतन्त्र विचार से दृष्टि डालने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, विशेषकर सांख्य और योग) के सदृश उनमें भी सांख्य और योग के द्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया गया है जो स्वामी शङ्कराचार्य्य की अद्भुत विद्वत्ता द्वारा निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त के रूप में दिखलाया गया है।

ब्रह्म सूत्र में वैदिक दर्शनों का खण्डन नहीं प्रत्युत श्रुतियों के साथ उनका समन्वय है और बादरायण से लगभग अढाई हजार वर्ष पश्चात भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ है, जिनके सम्प्रदायों का ब्रह्म सूत्र के शाङ्कर भाष्य में खण्डन किया गया है।

वास्तव में यह बात प्रतीत होती है कि स्वामी शङ्कराचार्य्य के समय में सारे भारतवर्ष में नास्तिकता फैल रही थी और अवैदिक मतमतान्तरों का सब ओर प्रचार था। तान्त्रिक सम्प्रदाय, पाशुपत और पाञ्चरात्र तथा शाक्तमत वालों की नास्तिकता बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म जो एक प्रकार से सांख्य और योग का ही रूपान्तर है जिसके निवृत्ति मार्ग में भगवान् बुद्ध ने अन्वय व्यतिरेक करते हुए समाधि द्वारा नेति नेति रूप (सर्व वृत्ति निरोध रूप) स्वरूप अवस्थिति प्राप्त करना सिखलाया था सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार माध्यमिक आदि सम्प्रदायों में विभक्त होकर अपने उच्च आत्म और चैतन्यवाद से विच्युत होकर जडवाद की ओर झुक रहा था और बहुत सम्भव है कि इस जडवाद के प्रभाव में उस समय के कोई २ दार्शनिक विद्वान् भी वैदिक दर्शनों से अनीश्वर वाद को सिद्ध करने में प्रवृत्त हो रहे हों। इसलिये इस सारे अवैदिक और नास्तिक वातावरण को वैदिक धर्म में परिवर्तित करने के लिये स्वामी शङ्कराचार्य्य को पाशुपत पाञ्चरात्र और शाक्त सम्प्रदायों के साथ २ वैदिक दर्शनों के भी खण्डन की आवश्यकता हुई हो और जडवाद के स्थान में अद्वैत चैतन्यवाद स्थापन करना आवश्यक समझा हो। यहाँ वैदिक दर्शनों विशेषकर सांख्य और योग के द्वैत सिद्धान्त को संक्षेप से बतलाकर उसकी शङ्कर के अद्वैत सिद्धान्त से सामान्यरूप से तुलना दिखला देना पाठकों की जानकारी के लिये उचित प्रतीत होता है—

सांख्य योग का द्वैत सिद्धान्त.—चेतन और जड दो अनादि तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व (पुरुष) अपरिणामी, निष्क्रिय, निर्विकार, ज्ञान स्वरूप कूटस्थ नित्य है। जड तत्त्व (मूलप्रकृति) त्रिगुणात्मक सक्रिय और परिणामी नित्य है। चेतन तत्त्व की सन्निधि से जड तत्त्व में एक प्रकार का ज्ञान नियम और व्यवस्था पूर्वक विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है। सत्त्व में क्रिया मात्र रज और उस क्रिया को रोकने मात्र तम का सब से पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व कहलाता है। यही महत्तत्त्व सत्त्व की विशुद्धता से अपने

समष्टि रूप में विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमें समष्टि अहंकार बीज रूप से रहता है। यह ईश्वर का चित्त है और अपने व्यष्टि रूप में सत्त्वचित्त कहलाते हैं जो संख्या में अनन्त हैं जिनमे व्यष्टि अहंकार बीज रूप से रहते हैं। ये जीवों के चित्त हैं। चेतन तत्त्व में अपने ज्ञान के प्रकाश डालने की और महत्तत्त्व में उस को ग्रहण करने की योग्यता अनादि चली आरही है। पुरुष से प्रकाशित अथवा प्रतिविम्बित समष्टि चित्त समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। पुरुष निष्क्रिय होता हुआ भी अपने चित्त का द्रष्टा है अर्थात् चित्त में उसके ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वयं ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम जीव है जो संख्या में अनन्त और अल्पज्ञ हैं और समष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतनतत्त्व का नाम ईश्वर अपर ब्रह्म, सगुण ब्रह्म और शबल ब्रह्म है जो एक और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूप से चेतन तत्त्व का नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध, ब्रह्म और परब्रह्म है। पुरुष शब्द का प्रयोग जीव ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थों में होता है। दूसरा विषम परिणाम अहंकार है अर्थात् पुरुष से प्रकाशित अथवा प्रतिविम्बित महत्तत्त्व ही रज और तम की अधिकता से विकृत होकर अहंकार रूप से व्यस्त भाव में वहिर्मुख हो रहा है। यह अहंकार ही अहंभाव से एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि और समष्टि रूप सर्व प्रकार की भिन्नता का उत्पन्न करने वाला है। विभाजक अहंकार से ग्रहण और ग्राह्य रूप दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं। अर्थात् विभाजक अहंकार सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर ग्रहण रूप ग्यारह इन्द्रियाँ (पांच ज्ञान इन्द्रियां पांच कर्म इन्द्रियां ग्यारहवां इनका नियन्ता मन) और सत्त्व में रजतम की कुछ विशेषता के साथ अधिकता में विकृत होकर परस्पर भेद वाली पांच तन्मात्राओं में विकृत होकर वहिर्मुख होरहा है। पांचवां विषम परिणाम पांच स्थूल भूत हैं अर्थात् अहंकार से व्याप्त पांचों तन्मात्राएं ही सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर पांचों सूक्ष्म और स्थूल भूतों में व्यक्त भाव से वहिर्मुख हो रही हैं। इस प्रकार वहिर्मुखता में महत्तत्त्व की अपेक्षा अहंकार में, अहंकार की अपेक्षा ग्यारह इन्द्रियों और पांचों तन्मात्राओं मे और तन्मात्राओं की अपेक्षा पांचों सूक्ष्म और स्थूल भूतों मे क्रमश रज तथा तम की मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्व की मात्रा कम होती जाती है यहां तक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीर में रज तम का ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही है और महत्तत्त्व में प्रकाशित अथवा प्रतिविम्बित चेतन तत्त्व भी उपरोक्त राजसी तामसी आवरणों में आच्छादित होता हुआ स्थूल शरीर और भौतिक जगत् में केवल झलक मात्र ही दिखलाई दे रहा है। यह सब अवरोह क्रम (Descent) है। इससे उल्टे आरोह क्रम (Ascent) में जितनी अन्तर्मुखता बढ़ती जावेगी उतना ही रज तथा तम का विक्षेप आवरण हट कर सत्त्व का प्रकाश बढ़ता जावेगा और उस प्रकाश में चेतन तत्त्व की अधिक स्पष्टता से प्रतीति बढ़ती जावेगी। इस प्रकार अन्त में गुणों के सब से प्रथम विषम परिणाम रूप चित्त की भी सर्व वृत्ति निरोध द्वारा अपने कारण में लीन करके शुद्ध चेतन स्वरूप मे अवस्थिति प्राप्त की जा सकती है।

व्यष्टि चित्तों मे जो लेश मात्र तम है उस लेश मात्र तम मे बीज रुप से अविद्या विद्यमान है। इस अविद्या क्लेश से क्रमशः अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश क्लेश और उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्मों से उन्हीं के अनुसार कर्माशय, कर्माशय के अनुसार जन्म आयु और भोग तथा उनमे सुख और दुःख उत्पन्न होता है। सम्प्रज्ञात समाधि की चारों भूमियो वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगत में ये सब क्लेश तनु अर्थात् शिथिल होजाते हैं और उसकी उच्चतम अवस्था विवेक ख्याति मे सत्त्व की विशुद्धता से सारे क्लेश अपनी जननी अविद्या सहित दग्ध बीज तुल्य हो जाते हैं। अब वही तम अपने अविद्या रूप धर्म को छोड़ कर इस सत्त्व से उच्चतम सात्त्विक वृत्ति को स्थिर रखने मे सहायक होता है। सर्व वृत्ति निरोध रुप असम्प्रज्ञात समाधि मे अपने धर्मी (उपादान कारण) चित के अपने कारण मे लीन होने के साथ दग्ध बीज रूप अविद्या क्लेश का भी लय हो जाता है। तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप मे अवस्थिति होती है।

शंकर के निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त और सांख्य योग के द्वैत सिद्धान्त में तुलनाः—

वैदिक दर्शनकारो ने जहां चेतन तत्त्व को निमित्त कारण और जड तत्त्व को इस जगत् का उपादान कारण बतलाया है वहां शंकर ने चेतन तत्त्व को ही जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है। शङ्कर ने ब्रह्म सूत्र के भाष्य मे एक स्थान पर सांख्य के इस आक्षेप को कि चेतन तत्त्व से जड तत्त्व कैसे उत्पन्न हो सकता है (अर्थात् चेतन तत्त्व जड तत्त्व का उपादान कारण नही हो सकता) इस प्रकार निवारण किया है कि जैसे तुम्हारे अव्यक्त मूल प्रकृति से व्यक्त महत्तत्त्व अहंकारादि उत्पन्न होते हैं वैसे ही चेतन तत्त्व से जड़ तत्त्व उत्पन्न हो सकता है। किन्तु सांख्य योग का जड तत्त्व मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्व मे रज और तम जितना बढ़ता जाता है उतनी ही स्थूलता और जितना रज और तम कम होता जाता है उतनी ही सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। स्थूलता के क्रम को व्यक्त होना और सूक्ष्मता के क्रम को अव्यक्त होना कहते हैं। इसलिये सारा सूक्ष्म और स्थूल अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त संसार तीनों गुणों का ही परिणाम है। किन्तु एक अपरिणामी निर्विकार कूटस्थ नित्य ब्रह्म मे इन नाना प्रकार के विकारों और परिणामों का होना कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिये शंकर को भी जगत् के उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्थान मे ब्रह्म के साथ एक अनादि तत्त्व माया अथात् अविद्या का मानना अनिवार्य्य हो गया, जिस के द्वारा ब्रह्म स्वयं अपरिणामी और निर्विकार रहता हुआ भी इस सारे ससार की रचना कर सकता है। जैसा कि शंकर भाष्य उपसंहार दर्शन अधिकरण सूत्र २४ मे बतलाया है :—

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाऽविद्या सहायवत्।
नाना कार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थ शक्तिभिः॥

(ब्रह्म० सू० अ० २ पा० १ अधि० ८ शांकर भाष्य)

अर्थः—"यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह अविद्या की सहायता से अनेक विचित्र कार्य्यों को उत्पन्न कर सकता है। और अविद्या की शक्तियों से कार्य्य-क्रम की व्यवस्था हो सकती है।" इस माया अर्थात् अविद्या की अलग सत्ता मानने में अद्वैत सिद्धान्त खण्डित होता था और असत् मानने में इसके अन्तर्गत सारा संसार श्रुति स्मृति और स्वयं अपना अद्वैत सिद्धान्त असत् और मिथ्या सिद्ध होता था इसलिये इसको अनिर्वचनीय नाम दिया गया जिसको न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार शङ्कर की त्रिगुणात्मक माया अर्थात् अविद्या सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति है। अनिर्वचनीय अथवा सत् और असत् दोनों से विलक्षण कह देना केवल शब्दों का ही रूपान्तर है। दोनों सिद्धान्तों का इससे परे होकर अपने शुद्ध चेतन स्वरूप मे अवस्थित होना अन्तिम ध्येय है। एक और मुख्य भेद इन दोनों सिद्धान्तों में यह है कि जहाँ सांख्य चेतन तत्त्व की सन्निधि से त्रिगुणात्मक जड़ तत्त्व में स्वाभाविक ज्ञान नियम और व्यवस्था पूर्वक क्रिया का होना इस संसार की रचना का कारण बतलाता है वहां शंकर को ब्रह्म की स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता और महिमा दिखलाने के लिये यह मानना पड़ा कि ब्रह्म अपनी इच्छा से और अपनी महिमा दिखलाने के लिये शोबदेबाज मदारी के सदृश अपनी अनादि माया अर्थात् अविद्या से इस जगत् की रचना करता है। इसमें नाना प्रकार के दोष आते हैं जिनका युक्ति द्वारा सन्तोष जनक उत्तर नहीं मिल सकता अर्थात्: – (१) ब्रह्म को क्यों ऐसे जगत् के रचने की इच्छा होती है जिसमें दुःखही दुःख है और फिर स्वयं ही उससे मुक्ति पाने के लिये श्रुति स्मृति द्वारा उपदेश दिलवाता है। (२) यदि यह कहा जाय कि जगत् और उसके अन्तर्गत सुख दुःख सब मिथ्या और भ्रम रूपही हैं केवल एक ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही सत्य है तो ब्रह्म ने इस भ्रम को क्यों फैलाया और निर्भ्रान्त ब्रह्म में भ्रम कैसा ? (३) अविद्या से ब्रह्म जगत् की रचना करता है और अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है फिर अविद्या और जगत् से छुटकारा कैसे सम्भव हो सकता है ? (४) ब्रह्म की शक्ति रूप अविद्या से जगत् की उत्पति है इसलिये विद्या अर्थात् ज्ञान द्वारा ही इससे मुक्ति हो सकती है; किन्तु अविद्या के अन्तर्गत होने के कारण सारे साधन श्रुति और स्मृति भी अविद्या रूप ही होंगे। विद्या और ज्ञान ब्रह्म से बाहिर कहां से लाया जा सकता है (५) सर्वज्ञ ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की शक्ति माया अर्थात् अविद्या न होनी चाहिये। प्रत्युत निर्भ्रान्त विद्या और सत्य ज्ञान होना चाहिये। (६) और यदि उसमें संसार के रचने की इच्छा भी हो तो वह निर्भ्रान्त विद्या और सत्य ज्ञान के साथ हो न कि माया और अविद्या के साथ। (७) मदारी पैसा कमाने अथवा अपने से बड़े आदमियों को खुश करने के प्रयोजन से शोबदे और तमाशे दिखलाता है। आप्त काम ब्रह्म को इस माया जाल फैलाने मे क्या प्रयोजन है (८) यदि अपनी महिमा और प्रभुता दिखलाने के लिये, तो यह किसको दिखलाना ? जब कि एक ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं (९) यदि अपनी प्रभुता और महिमा दिखलाने के लिये जीवों को उत्पन्न करता है तो इस प्रकार की महिमा और प्रभुता दिखलाने की अभिलाषा होना ही महिमा और प्रभुता के अभाव को सिद्ध करता

है (१०) यदि बिना किसी अपने विशेष प्रयोजन के ब्रह्म द्वारा संसार की रचना केवल जीवों के कल्याण अर्थात् भोग और अपवर्ग के लिये स्वाभाविक मानी जावे तो यह सांख्य और योग का ही सिद्धान्त आ गया।

इस प्रकार जहां द्वैतवादी सांख्य योग सारे दोषों विकारों और परिणामों आदि को त्रिगुणात्मक प्रकृति में डालकर ब्रह्म का अद्वैत, निर्दोष, निर्विकार अपरिणामी, निष्काम, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य, शुद्ध ज्ञान स्वरूप सिद्ध करता है और उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप में अवस्थिति अपना अन्तिम ध्येय ठहराता है वहां यह निर्विशेष अद्वैतवाद इन सारे दोषों का ब्रह्म में आरोप करके ब्रह्म को सदोष, विकारी, परिणामी, सक्रिय, सकाम और अपनी महिमा दिखलाने और प्रतिष्ठा पाने का अभिलाषी, प्रसवधर्मी, अज्ञान, अविद्या और भ्रम युक्त सिद्ध करता है। किन्तु यद्यपि यह निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त व्यवहार दशा में इस प्रकार दोषयुक्त और युक्ति हीन है, तथापि यह भावना कि यह सारा दृष्टव्य संसार मिथ्या अविद्या और भ्रमरूप है केवल एक ब्रह्म ही सत्य है साधकों को साधन रूप से शुद्ध चेतन स्वरूप में अवस्थिति प्राप्त कराने में रोचक और सहायक प्रतीत होता है। इसीलिये बहुत से महात्माओं ने इस सिद्धान्त को अपनाया है और अपना रहे हैं। इसलिये सांख्य योग के द्वैत वाद और शंकर के निर्विशेष अद्वैत वाद में अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है।

२ ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री० रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तः—

शंकर से लगभग २५० वर्ष पश्चात् (जन्म विक्रम सं० १०७३ तदनुसार ई० सन्० १०१६) श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय चलाया। इनका ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'श्री भाष्य' कहलाता है। प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सूत्र पर एक अति प्राचीन व्याख्या 'वृत्ति' अथवा 'कृतकोटि', नाम से बौधायन ऋषि की बनाई हुई थी किन्तु वह लुप्त हो चुकी थी, उसको टंक द्रमिड़, गुहदेव आदि पूर्व आचार्यों ने संक्षेप किया था उसके आधार पर श्री रामानुज-आचार्य अपने श्री भाष्य को लिखा जाना अपने वेदार्थ संग्रह में बतलाते हैं "भगवान् बौधायन की विस्तीर्ण वृत्ति का जो पूर्व आचार्यों ने संक्षेप किया है उनके मत अनुसार सूत्रों का व्याख्यान किया जाता है"।

श्री स्वामी रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त—इस सम्प्रदाय का मत है कि शंकराचार्य का माया मिथ्यात्ववाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों झूठे हैं। चित अर्थात् जीव और अचित अर्थात् विषय, शरीर, इन्द्रियाँ आदि पांचों स्थूल भूतों से बना हुआ भौतिक जगत् और ब्रह्म ये तीनों यद्यपि भिन्न हैं तथापि चित अर्थात् जीव और अचित अर्थात् जड़ जगत् ये दोनों एक ही ब्रह्म के शरीर हैं जैसा कि अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृह० उप० ३।७) में कहा है कि यह सारा बाह्य जगत शरीर इत्यादि और जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है। इसलिये चित अचित विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। इस प्रकार से विशिष्ट रूप से ब्रह्म को अद्वैत मानने से यह सिद्धान्त विशिष्ट अद्वैत कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म के सदृश हो जाता है न कि ब्रह्म रूप। पुरुषोत्तम, नारायण, वासुदेव और परमेश्वर ब्रह्म के पर्याय वाचक हैं। उपरोक्त सारी

वालों से सिद्ध होता है कि इस सम्प्रदाय में सगुण ब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्म = शबल ब्रह्म की प्राप्ति ही अपना लक्ष्य माना है जो योग की सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम ध्येय हो सकता है।

३ ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री मध्वाचार्य्य का द्वैत सिद्धान्तः—

श्री रामानुजाचार्य्य के १८२ वर्ष पश्चात् विक्रमी सं० १२५४ तदनुसार ई० सन ११९७ में आनन्दतीर्थ का, जो मध्वाचार्य्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, जन्म हुआ। ८६ वर्ष की अवस्था मे विक्रमी सं० १३३५ तदनुसार ई० सन् १२८६ में इनका शरीर त्याग हुआ। इनका ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'पूर्णप्रज्ञ भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह द्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए हैं। इनका मत है कि ब्रह्म और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर विरुद्ध और असम्बद्ध बात है। इस लिये दोनों को सदा ही भिन्न मानना चाहिये। क्योंकि इन दोनों में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्मी ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म के ही आधीन रहती है किन्तु उससे भिन्न है।

आर्य्य समाज के प्रवर्तक श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज का सिद्धान्त भी द्वैत वाद कहलाता है किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ श्री मध्वाचार्य्यजी ने अधिकतर पुराणों का आश्रय लिया है वहाँ श्री० स्वामी दयानन्दजी ने वेदों उपनिषदों वैदिक दर्शनों और प्रामाणिक स्मृतियों का उसके साथ समन्वय दिखलाया है। श्री स्वामी दयानन्द का द्वैत वाद सब वैदिक दर्शनों के समन्वय के साथ सांख्य योग का ही सर्वांश में द्वैत वाद है किन्तु लेखक का यह व्यक्तिगत स्वतन्त्र विचार है कि:—उन्होंने चैतन्य तत्त्व का शुद्ध स्वरूप अर्थात् परब्रह्म को न दिखला कर केवल ईश्वर जीव और प्रकृति का ही वर्णन किया है जो इस सृष्टि की सारी बाह्य रचना मे पाये जा रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पुनरावर्तनी रूप अपर ब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति की सीमा हो सकती है जो योग की सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम ध्येय हो सकता है। किन्तु स्वामीजी का योग साधन पर पूरा जोर देने और उसको ही परमात्मा प्राप्ति का साधन बतलाने तथा पातञ्जल योग को योग का मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ मानने से योग की अन्तिम सीमा असम्प्रज्ञात समाधि और उसका अन्तिम ध्येय शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति रूप कैवल्य भी आजाता है। स्वामी दयानन्दजी ने ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों का जो विशेष रूप से वर्णन किया है इससे सामान्यतया इनका सिद्धान्त त्रैतवाद समझा जाता है। किन्तु चेतन तत्त्व का समष्टि ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध से ईश्वर नाम है और व्यष्टि पिण्डों के सम्बन्ध से जीव। ये दोनों चेतन तत्त्व के शबल अर्थात् मिश्रित रूप हैं इस लिये लेखक के व्यक्तिगत विचार अनुसार स्वामी दयानन्द का सिद्धान्त द्वैत वाद ही है। स्वामी दयानन्दजी ने शुद्ध चेतन तत्त्व अर्थात् परब्रह्म का वर्णन विशेष रूप से इस कारण नहीं किया कि उस समय का जनसमूह उसके समझने में अयोग्य था और उनका मुख्य उद्देश्य समाज सुधार और धर्मरक्षा था। स्वामी दयानन्दजी के समय में हिन्दू समाज और वैदिक धर्म जैसी विकट परिस्थिति में मृत्यु की ओर जा रहा था उसका उदाहरण किसी भी पूर्वाचार्य्य के समय में न मिल सकेगा। स्वामी दयानन्दजी का हिन्दू धर्म और समाज की निम्न प्रकार की दुर्दशा को हटाना मुख्य उद्देश्य था:—

१—वैदिक धर्म का नाना प्रकार के मतमतान्तर और सम्प्रदायों में विभक्त होकर परस्पर एक दूसरे का विरोध करना।

२—एक ईश्वर उपासना के स्थान में न केवल अनेक देवी देवताओं किन्तु भूत, प्रेत, पीर, पैगम्बर, क़ब्र, मजार, आदि को सांसारिक कामनाओं के लिये पूजना।

३—मूर्तिपूजा का दुरुपयोग और मन्दिर तीर्थ आदि पवित्र स्थानों में नाना प्रकार के दुर्व्यवहार।

४—गुण कर्म स्वभाव को छोड़ कर जन्म से जात पात की व्यवस्था मानने के कारण ऊंची कहलाने वाली जातियों का प्रमाद के कारण अवनति और नीची कहलाने वाली जातियों की उन्नति के मार्ग में रुकावट इसका परिणाम रूप सारे हिन्दू समाज की अधोगति।

५—स्वयं अपने गुण कर्म और स्वभाव को ऊंचा बनाने की अपेक्षा एक दूसरे को नीचा, छोटा, झूठा और अपूर्ण बतलाकर अपने को ऊंचा बड़ा सच्चा और पूर्ण सिद्ध करने की आसुरी चेष्टा। इस प्रकार हिन्दुओं में परस्पर भ्रातृ भाव समानता आदर और सत्कार का अभाव।

६—ऊंचे सवर्ण कहलाने वाले संकीर्ण हृदय मनुष्यों का नीची कहलाने वाली निर्धन जातियों का न केवल धार्मिक सामाजिक और नागरिक अधिकारों का हरण करना किन्तु उनके प्रति पिशाचवत् अत्याचार करके उनको दूसरे मज़हबों के जाल में फसने के लिये मजबूर करना।

७—बाल विवाह, वृद्ध विवाह आदि नाना प्रकार की कुरीतियां। स्त्रियों को शूद्रा बतला कर उनको जन्म सिद्ध धार्मिक अधिकारों से वञ्चित रखना, विधवाओं के साथ अन्याय पूर्वक दुर्व्यवहार।

८—हिन्दुओं के सामाजिक धार्मिक राष्ट्रीय नागरिक और वैयक्तिक आदि सारे अङ्गों में स्वार्थमय जीवन।

९—सार्वभौम वैदिक धर्म को मूर्खता और अज्ञानता से संकीर्ण करके न केवल अन्य मतावलम्बियों के लिये उसमें प्रवेश का द्वार बन्द कर देना किन्तु अपनी झूठी स्वार्थ सिद्धि के लिये अपने वैदिक धर्मी भाइयों को छोटी जातों में अपने से पृथक् करके विधर्मियों के जाल में फसने में सहायक होना।

१०—उपरोक्त सारे दोषों से अनुचित लाभ उठाकर दो विदेशीय मज़हबों का न केवल विद्याहीन छोटी जात वाले गाँवों, पहाड़ों और जङ्गलों में रहने वाले अनपढ़ हिन्दुओं को किन्तु नीलकण्ठ जैसे बड़े बड़े अंग्रेजी पढ़े हुए विद्वानों को पौराणिक कथाओं में अयुक्ति और दोष दिखला कर अपने मज़हब के जाल में फसाना।

११—राष्ट्र का परतन्त्र होना, विदेशी राज के कारण देशभक्ति प्राचीन सभ्यता और धर्म भाषा के प्रति प्रेम का अभाव, दासता के विचार, विदेशी भाषा, संस्कृति और सभ्यता की ओर प्रवृत्ति इत्यादि २।

४—ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त

श्री० वल्लभाचार्य्य का जन्म १५३६ विक्रमी सम्वत् तदनुसार १४७९ सन् ई० में हुआ। इनका ब्रह्म सूत्र पर भाष्य "अणुभाष्य" कहलाता है। उनका मत निर्विशेष अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत और द्वैत तीनों सिद्धान्तों से भिन्न है। यह शंकराचार्य्य के समान इस बात को नहीं मानते कि जीव और ब्रह्म एक हैं और न मायात्मक जगत् को मिथ्या मानते हैं बल्कि माया को ईश्वर की इच्छा से विभक्त हुई एक शक्ति बतलाते हैं। माया आधीन जीव को बिना ईश्वर की कृपा के मोक्षज्ञान नहीं होसकता इसलिये मोक्ष का मुख्य साधन ईश्वर भक्ति है। माया रहित शुद्ध जीव और पर ब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) एक वस्तु ही है दो नहीं हैं। इसलिये इस को शुद्ध अद्वैत सम्प्रदाय कहते हैं। इस अंश में यह सिद्धान्त सांख्य योग के सदृश है किन्तु पौराणिक रंग में इसकी दार्शनिकता छिप गई है।

५—ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री निम्बार्काचार्य्य का द्वैत अद्वैत सिद्धान्तः—

श्री निम्बार्काचार्य्य लगभग १२१९ विक्र० सं० तदनुसार ११६२ सन् ई० में हुए हैं। इन्होंने "वेदान्त पारिजात" नाम से ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिखा है। जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में इनका मत है कि यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्न हैं तथापि जीव और जगत् का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है स्वतन्त्र नहीं है और ईश्वर में ही जीव और जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। विशिष्ट अद्वैत से अलग करने के लिये इस का नाम द्वैत अद्वैत सम्प्रदाय रखा गया है।

ऊपरोक्त सम्प्रदाय शंकर के मायावाद को स्वीकृत न करके ही उत्पन्न हुए हैं और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति प्रधान हैं। वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये जहां स्वा० शंकराचार्य्य का भाष्य उपनिषदों पर निर्भर है वहां इन सम्प्रदायों के भाष्य में पुराणों और विशेष कर विष्णु पुराण को अधिक उद्धृत किया गया है।

ब्रह्म सूत्र पर विज्ञान भिक्षु का भाष्य नए ढंग का 'विज्ञानामृत' नाम से है जिसमें श्रुतिः स्मृति और दर्शनों की एक तात्पर्य्य में संगति दिखलाई गई है किन्तु वह किसी भी साम्प्रदायिक रूप में नहीं है।

ब्रह्म सूत्रों में अन्य वैदिक दर्शनों का खण्डन नहीं है

ब्रह्म सूत्रों में किसी वैदिक दर्शन का खण्डन नहीं है बल्कि श्री व्यासजी ने तो जिन सिद्धान्तों में अन्य विद्वानों का उनसे मत भेद था उनको भी आदर पूर्वक दिखलाया है, किन्तु साम्प्रदायिक आचार्य्यों ने जहां सूत्रों के शब्दों से अपने सम्प्रदाय के पक्ष में और अपने से भिन्न सम्प्रदायों के विपक्ष में अर्थ निकालने में खैंचातानी की है वहां प्राचीन तत्त्ववेत्ता ऋषियों के दर्शनों को भी जो वेदों के उपाङ्ग रूप हैं दूषित ठहराने में पूरा जोर लगाया है। इसी कारण कणाद मुनि प्रणीत वैशेषिक और कपिल मुनि के सांख्य का ब्रह्म सूत्रों में खण्डन होने का भ्रम हुआ है।

जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १।१।२) के अर्थ जो तैत्तिरीय उपनिषद् के "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्य भिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" के प्रतीक में है, तीन प्रकार से हो सकते हैं। १. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अभिन्न उपादान निमित्त कारण जड़ तत्त्व (सांख्य की प्रकृति, वैशेषिक के परमाणु अथवा चार्वाक के चार भूत) हैं। २. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अभिन्न निमित्त उपादान कारण चेतन तत्त्व है। ३. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण चेतनतत्त्व अर्थात् आत्मसत्ता और उपादान कारण जड़तत्त्व (प्रकृति अथवा परमाणु) अनात्मसत्ता है। इस प्रकार मुख्य तीन वाद अथवा सिद्धान्त हो सकते हैं।

१—जड़ अद्वैत वाद (चार्वाक वालो का जड़ वाद)

२—चेतन अद्वैत वाद (नवीन वेदान्तियों का अद्वैत वाद)

३—चेतन जड़ अर्थात् आत्म अनात्म द्वैत वाद (वैदिक दर्शनों का द्वैत वाद)

सिद्धान्त रूप मे तो यह द्वैत वाद है किन्तु व्यवहार दशा मे त्रैत वाद होजाता है अर्थात् (१) ईश्वर (सगुण ब्रह्म = शबल ब्रह्म = अपर ब्रह्म) जो ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टि रूपेण जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व अर्थात् परमात्म सत्ता का नाम है। (२) जीव जो पिण्ड अर्थात् व्यष्टि रूपेण जड़ तत्व के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व अर्थात् आत्मसत्ता का नाम है और (३), प्रकृति (जड़ तत्त्व) जो अनात्मसत्ता है। और केवल कैवल्य अवस्था मे ही जब द्रष्टा की शुद्ध चैतन्य (परमात्मा = पर ब्रह्म = निर्गुण ब्रह्म = शुद्ध ब्रह्म) स्वरूप में अवस्थिति होती है तब उस कैवल्य प्राप्त किये हुए जीव की अपेक्षा से अद्वैत कहा जासकता है। न कि सांसारिक जीवों की अपेक्षा से। यह द्वैतवाद सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक चारों दर्शनों का सिद्धान्त है। दुःख निवृत्ति के उद्देश्य से इन प्राचीन दर्शनकारो ने खोज की है। दुःख प्रतीति और उसकी निवृत्ति का प्रयत्न चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) के अस्तित्व को सिद्ध करता है। इसलिये पहिला जड़ अद्वैत वाद दूषित ठहरता है। यदि दुःख चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) का ही धर्म होता तो उसकी प्रतीति न होती और यदि दुःख की प्रतीति भी आत्मा का धर्म्म माना जावे तो दुःख और उस की प्रतीति दोनों चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) का स्वाभाविक गुण होने से उस की त्रिकाल में भी निवृत्ति असम्भव होती। इस लिये दूसरा सिद्धान्त चेतन अद्वैत वाद भी इनको सन्तुष्ट न कर सका। इस लिये यह तत्त्व वेत्ता ऋषि इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि एक तो चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) है जो हमारा वास्तविक स्वरूप है और इससे भिन्न एक कोई दूसरा जड़ तत्त्व (अनात्म सत्ता) है, जिसके स्वाभाविक धर्म्म दुःखादि है, जिनके हटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त सं० १ तथा सं० २ के पक्ष में न तो कोई श्रुति मिलती है न युक्ति और न संसार में कोई उदाहरण परन्तु सिद्धान्त सं० ३ को सारी श्रुतियां, स्मृतियां, युक्ति और उदाहरण सिद्ध करते हैं।

शङ्काः—जैसे सुवर्ण के आभूषण नाना प्रकार की आकृति रखते हुए भी सुवर्ण रूप ही हैं, जैसे तरङ्गें, बुल्बुले, नदी, तालाब आदि सब जल रूप ही हैं वैसे ही सारा जगत् केवल एक अद्वितीय ब्रह्म रूप ही है।

समाधानः—ये उदाहरण तो द्वैत सिद्धान्त की ही पुष्टि करते हैं, क्योंकि सुवर्ण के आभूषणों के आकारों में एक दूसरा तत्त्व आकाश, जल के तरङ्ग बुल्बुले आदि में वायु और नदी तालाब आदि में पृथिवी भेदक है।

शंकाः—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

मु० १। ख० १। मं० ७॥

अर्थः—जिस प्रकार चेतन मकड़ी जड़ तन्तुओं का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है इसी प्रकार चेतन ब्रह्म इस जड़ जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है।" इससे केवल अद्वैत वाद सिद्ध होता है।

समाधानः—यह श्रुति द्वैत सिद्धान्त को ही सिद्ध करती है। अर्थात् जिस प्रकार जड़ तन्तु की उत्पत्ति का चेतन मकड़ी निमित्त कारण है और उसके मुंह का जड़ लेप उपादान कारण है, इसी प्रकार जड़ जगत् का उपादान कारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है और निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है।

इसलिये सब दर्शनकारों का सिद्धान्त जड़ चेतन द्वैत वाद है। जड़ तत्त्व (अनात्मसत्ता) को चेतन तत्त्व (आत्म सत्ता) से भिन्न करने के उद्देश्य से जड़ तत्त्व के अवान्तर भेद करण, माप और वर्णन शैली में भेद होने के कारण बाह्य दृष्टि रखने वालों को इनमें परस्पर भेद होने का भ्रम होता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से जानना अपने से भिन्न वस्तु जड़ तत्त्व (अनात्मसत्ता) का ही हो सकता है। अपने को अर्थात् चेतन तत्त्व (परमात्म सत्ता) अर्थात् पर ब्रह्म को जानने का शब्द प्रयोग करना अयुक्त है। यथा "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" सब के जानने वाले विज्ञाता को किस से जाना जा सकता है। अर्थात् किसी से भी नहीं जाना जा सकता है। 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'॥ बृह० ६।४॥ जिस से यह सब जाना जाता है उसको किससे जानें? सम्प्रज्ञात समाधि की सारी भूमियां वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता और विवेकख्याति में त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सारे कार्यों को साक्षात् करते हुए इनसे आसक्ति हटा कर विरक्त होना होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में कुछ जानना शेष न रहने पर केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप (परमात्म = परब्रह्म) में स्वरूप अवस्थिति होती है। इसी प्रकार जहां जहां परमात्मा अथवा परब्रह्म के जानने का वर्णन आया है जैसे "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" वहां अनात्म ज्ञेय पदार्थों को (चाहे उन्हें प्रकृति कहो चाहे माया चाहे अविद्या और चाहे भ्रम) जानकर "नेतिनेति" द्वारा पृथक् करते हुए अन्त में सारे ज्ञेय पदार्थों की समाप्ति पर शेष जानने योग्य कुछ न रहने पर शुद्ध परमात्म स्वरूप में ही अवस्थिति होती है। यथाः—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ (कठ ६। १०)

अर्थः—जब पांचों ज्ञान इन्द्रियां मन के साथ रुक जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है उसको परम गति अर्थात् परमात्म स्वरूप में अवस्थिति कहते हैं।

इसलिये इन तत्त्ववेत्ता प्राचीन दर्शनकारों का ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा साक्षात्कार पर-प्रत्यक्ष है, जो शब्द और अनुमान का बीज है अर्थात् जिसके आश्रय शब्द और अनुमान होते हैं।

"श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात्" । यो० द० १ । ४९,

शब्द और अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भराप्रज्ञा का विषय अलग है विशेष रूप से अर्थ का साक्षात्कार कराने से। केवल शब्द और अनुमान का आश्रय लेने वाले आचार्यों और उनके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने उन के वास्तविक सार को न समझ कर इन प्राचीन दर्शन कारों के कहीं अनीश्वर वादी और कहीं बहु ईश्वर वादी होने का धोखा खायाहै।

अब उत्तर मीमांसा के जिन सूत्रों में अन्य दर्शनों के खण्डन होने का भ्रम हुआ है उनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

ईक्षतेर्नाशब्दम् । (ब्रह्म० सू० अ० १ । पा० । १ । ५)

शब्द अर्थः—(ईक्षतेः) ईक्षण से (अशब्दम्) शब्द प्रमाण रहित (न) नहीं है। अर्थात् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति आदि में निमित्त कारण मानना शब्द प्रमाण रहित नहीं है क्योंकि उसमें यह शब्द प्रमाण है। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"। उसने ईक्षण किया मैं बहुत होऊं प्रजा वाला होऊं।

वि० व०.—कई साम्प्रदायिक भाष्यकारों ने 'अशब्दम्' के अर्थ प्रमाण रहित प्रकृति लगाकर कर सांख्य दर्शन का खण्डन किया है जो सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण है क्योंकि सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति अनेक श्रुतियों और स्मृतियों से प्रमाणित है यथाः—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"। (श्वेता० ४ । १०)

अर्थः—प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को माया वाला"।

"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्" ।(श्वेता० ४।५)

अर्थः–एक अजा (अनादि प्रकृति) है जो लाल श्वेत और काली (रजस्, सत्त्व और तमस् इन तीन गुणोंवाली) है वह अपने समानरूपवाली (तीन गुणों वाली) बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न कर रही है।

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः" (कठ० ३ । ११)

अर्थ—महत्तत्त्व से परे अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अव्यक्त से परे पुरुष (ब्रह्म) है। निम्न वेद मन्त्रों में कितनी उत्तम रीति से प्रकृति का वर्णन किया गया है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयो रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमान मिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

(श्वेता० उप० अध्याय ४)

अर्थः—(पुरुष और पुरुष विशेष अर्थात् जीव और ईश्वर रूप) दो पक्षी जो साथ रहने वाले और मित्र हैं, वे दोनों एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृति रूप वृक्ष को आलिंगन किये हुए हैं। उन दोनों में से एक जीवरूपी पक्षी (जन्म आयु और भोग रूपी सुख दुःख) स्वाद वाले फल को खाता है और दूसरा ईश्वर रूपी पक्षी फल न खाता हुआ केवल साक्षी रूप से रहता है ॥ ६ ॥ उसी प्रकृति रूप वृक्ष पर जीवरूपी पक्षी आसक्त होकर असमर्थता से धोखा खाता हुआ शोक करता है (किन्तु) जब योग युक्त होकर अपने दूसरे साथी ईश और उसकी महिमा को देखता है तब शोक से पार हो जाता है।

इस प्रकृति रूप वृक्ष की पृथ्वी में छिपी हुई जड़ 'अव्यक्त मूल प्रकृति' है और दिखलाई देने वाला वृक्ष का आधार तना 'व्यक्त महत्तत्व' है, तने में अंकुर "अहंकार" है, शाखें 'तन्मात्राये' हैं पतली शाखें सूक्ष्म भूत और उनसे पतली शाखें पत्तों सहित सोलह विकृतियां हैं, फल जन्म, आयु और भोग है। उसका स्वाद सुख और दुःख है। जीव रूपी पक्षी का असमर्थता से धोखा खाना क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश, उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्म से कर्माशय, कर्माशय से जन्म, आयु और भोग के लिये स्थूल शरीर रूपी अनन्त अस्थिर पत्तों में घूमना है। योगयुक्त होकर जीव रूपी पक्षी का ईश रूपी पक्षी और उसकी महिमा को देखना ईश्वर प्रणिधान (योग दर्शन समा० पा० सू० २३, सा० पा० सू० १, ३२) है।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, । (गीता० ३ । २०)

अर्थः—सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं।

'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' ।(गीता० । ९ । १०)

अर्थः—हे कौन्तेय मेरी (ईश्वर की) अध्यक्षता के रहते हुये प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।

'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'॥
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ (गीता १३ । २९)

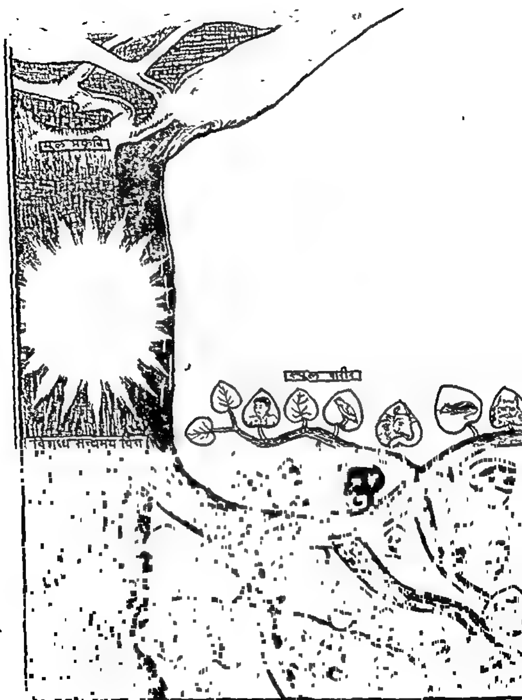
अर्थः—जो पुरुष समस्त कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है वही तत्त्वज्ञानी है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (गीता० १४ । ५)

अर्थः—हे महाबाहो सत्त्व रज और तम ये प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण अविनाशी आत्मा को (अविवेक से) शरीर में बान्धते हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान् ॥ १३ । १९

अर्थः—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तू अनादि जान और विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से उत्पन्न हुए जान।



द्वासुपर्णा सयुजा मंत्रों के अर्थ का द्योतक चित्र

जब स्वयं व्यासजी महाराज अपने स्वरचित गीता में इस प्रकार प्रकृति का स्पष्टरूप से वर्णन कर रहे हैं तो इन्हीं के सूत्रों में 'अशब्दम्' के अर्थ 'प्रमाण रहित' प्रकृति निकालना कितना घोर पक्षपात और अत्याचार है। यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

श्रुति और स्मृति द्वारा तो सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त और ब्रह्म प्राप्ति का साधन सिद्ध होता है। यथा—

'तत्कारणं सांख्य योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

(श्वेता० ६। १६)

अर्थः—उस देव को जो जगत् की उत्पत्ति आदि का निमित्त कारण है और जो सांख्य योग द्वारा ही जाना जा सकता है जानकर मनुष्य सारे फांसों से छूट जाता है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

अर्थः—हे निष्पाप अर्जुन इस मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भ रूप से) दो निष्ठाएं बतलाई हैं। (कपिल मुनि द्वारा बतलाई हुई) सांख्य योग की निष्ठा ज्ञान योग से होती है और (हिरण्यगर्भ रूप से बतलाई हुई) योगियों की निष्ठा निष्काम कर्मयोग से।

सांख्यस्यवक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥ (म० भा०)

अर्थ—सांख्य के वक्ता परमर्षि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं इन से पुरातन इनका वक्ता और कोई नहीं है।

इस प्रकार श्री० व्यासजी महाराज ने स्वरचित गीता और महाभारत में कपिल ऋषि के सांख्य का महिमा बतलाई है। न केवल कपिल मुनि का सांख्य और उसकी प्रकृति ही श्रुतियों और स्मृतियों से प्रमाणित है किन्तु कपिल मुनि को ऋषियों में सर्वोच्च और श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। यथा—

'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानै र्बिभर्ति'। (श्वेता०) अर्थ—जो पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है।

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता० १०। २६) सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।

श्री गौड़ पादाचार्यजी ने भी सांख्य के २५ तत्त्वों के ज्ञान द्वारा मुक्ति का होना बतलाया है। यथा:—

पञ्चविंशति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत्।

जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

अर्थः—जिसको (सांख्य में बतलाये हुये) २५ तत्त्वों का ज्ञान हो गया है वह चाहे

किसी आश्रम में स्थित हो, चाहे वह गृहस्थ हो चाहे सन्यासी हो, वह अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।

उपरोक्त प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध होता है कि श्री० व्यासजी का 'अशब्दम्' से प्रकृति को प्रमाण रहित सिद्ध करना अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता।

'अशब्दम्' को 'अव्यक्त' मूल प्रकृति अथवा मायावादियों की 'अनिर्वचनीय' माया का पर्य्याय वाचक मान लेने पर भी (यद्यपि श्री० व्यासजी को मायावाद का सिद्धान्त किसी सूत्र में भी अभिमत नहीं है) सांख्य के साथ समन्वय में ही सूत्र के अर्थ होते हैं न कि निराकरण (खण्डन) में ॥ अर्थात् सांख्य की अव्यक्त मूल प्रकृति अथवा माया वादियों की अनिर्वचनीय माया जगत् की उत्पत्ति आदि का निमित्त कारण नहीं हो सकती। वह केवल उपादान कारण हो सकती है। क्योंकि 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'। द्वारा चेतन ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति आदि का निमित्त कारण हो सकता है।

इसी अध्याय के चौथे पाद के सूत्रों के अर्थ भी इन आचार्यों ने प्रकृति के अप्रामाणिक सिद्ध करने और सांख्य के निराकरण में निकालने का यत्न किया है। इस लिये इनका भी संक्षेप से स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीर रूपक विन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च।

(ब्रह्म० सू० १।४।१)

अर्थः—(एकेषाम्) कई शाखावालों की शाखाओं में (अनुमानिकम्) आगम और अनुमान गम्य स्वतन्त्र प्रकृति का भी वर्णन पाया जाता है। यथाः—"महतः परम व्यक्तम व्यक्तात् पुरुषः परः"। अर्थः— महत्तत्त्व से परे अव्यक्त (मूल प्रकृति) है और उससे परे पुरुष है। (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो (न) यह ठीक नहीं है क्योंकि (शरीर रूपक विन्यस्त गृहीतेः) शरीर के तौर पर रूपक से बतलाई हुई का ग्रहण होने से अर्थात् जिस प्रकार शरीर आत्मा के अधीन है इसी प्रकार प्रकृति को ब्रह्म के अधीन बतलाया गया है। (दर्शयति च) और श्रुति वाक् से भी ऐसा ही पाया जाता है।

यथा— **'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथेमवतु।**

अर्थः—आत्मा को रथ का स्वामी जाने और शरीर को रथ।

वि० व० योगियों को केवल तीनों गुणों के प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व तक ही समाधि द्वारा साक्षात्कार हो सकता है उससे उसके कारण आगम गम्य गुणों की साम्य अवस्था "मूलप्रकृति" का अनुमान किया जाता है। इसलिये गुणों की साम्य अवस्था मूल प्रकृति को आगम और अनुमान गम्य कहा जाता है।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्। (ब्रह्म० सू० १।४।२)

पदार्थः—(तु) किन्तु (तत्), वह प्रकृति इसी स्थूल जगत् का (सूक्ष्मं) सूक्ष्मतत्त्व है (अर्हत्वात्) योग्य होने से अर्थात् सृष्टि का सूक्ष्म तत्त्व ही अव्यक्त शब्द के योग्य है जिस प्रकार वृक्ष अपने बीज में अव्यक्त रूप से स्थित रहता है इसी प्रकार यह सृष्टि अपने बीज सूक्ष्म तत्त्व में अव्यक्त रूप से स्थित रहती है।

'तदधीनत्वादर्थवत्' (ब्रह्म० सू० १।४।३)

अर्थः - (तदधीनत्वात्) उपरोक्त प्रकृति का ईश्वर के अधीन होने से और जगत् की उत्पत्ति आदि में ईश्वर के सहायक होने से अर्थवत्, सार्थक अर्थात् प्रयोजन वाला होना सिद्ध होता है। प्रकृति का मुख्य प्रयोजन पुरुष का भोग और अपवर्ग है। यथा:—

'प्रकाश क्रिया स्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'

(यो० द० २, १८)

अर्थः—प्रकाश क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है वह दृश्य है।

'ज्ञेयत्वावचनाच्च' (१।४।४ ब्रह्म० सू०)

अर्थः—(ज्ञेयत्वावचनात्) ज्ञेयता के न कहे जाने से भी प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, ब्रह्माधीन ही है। अर्थात् पुरुष का अन्तिम ध्येय प्रकृति की प्राप्ति नहीं बल्कि ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई गई है।

(च) इसलिये भी प्रकृति ईश्वर के आधीन ही सिद्ध होती है, न कि उससे स्वतन्त्र।

वदतीतिचेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् । (ब्रह्म० सू० १।४।५)

अर्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (वदति) श्रुति अव्यक्त मूल प्रकृति को भी ज्ञेय बतलाती है। यथा:—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत् ॥

"अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्यतं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते ॥"

(कठ० २।३।१४)

अर्थः—यह जो शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध से शून्य अव्यय है नित्य है अनादि अनन्त है महत्तत्त्व से परे है अटल है उस को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है" (न) सो यह ठीक नहीं है। (हि) क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से यहां (प्राज्ञः) चेतन है अर्थात् यहां चेतन ब्रह्म का प्रकरण ऊपर से चला आ रहा है न कि जड़ प्रकृति का

"त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । (ब्रह्म० सू० १।४।६)

अर्थः - (च) और (एवं) इस प्रकार (त्रयाणाम्) तीन पदार्थों का (एवं) ही (उपन्यासः) का वर्णन उत्तर (च) और (प्रश्नः) प्रश्न भी है। इसलिये यहां अव्यक्त मूल प्रकृति का प्रसंग से वर्णन है न कि मुख्यतया ज्ञेय होने से।

अर्थात् मृत्यु और नचिकेता के सम्वाद में नचिकेता के तीन ही प्रश्न हैं। अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा उन के तीन ही उत्तर हैं। तीसरे परमात्मा विषयक प्रश्न का यह उत्तर है जो "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि वचन में दिया गया है। प्रधान अथवा प्रकृति विषयक न तो प्रश्न है और न ही उत्तर। इसलिये इस वचन में प्रधान वा प्रकृति के कारणवाद की शंका नहीं होसकती।

"महद्वच्च। (ब्रह्म० सू० १ । ४ । ७)

अर्थः—(महद्वत्) महत् शब्द के समान (च) भी। अर्थात् जैसे महत् शब्द महत्तत्त्व का वाचक है परन्तु "महान्तंविभुमात्मानम्"। (कठ० २ । २२) में आया हुआ महत् शब्द महत्तत्त्व का वाचक नहीं है इसी प्रकार अव्यक्त आदि पद भी अपने प्रकरण में प्रकृति वाचक हैं परमात्मा के प्रकरण में उनको प्रकृति वाचक मान कर अर्थ करना ठीक नहीं है।

"चमसवद् विशेषात्" । (ब्र० १ । ४ । ८)

अर्थः—(अविशेषात्) विशेष के न कहने से (चमसवत्) चमस के समान।

जैसे चमस नाम चमसे का है और बृह० २ । २ । ३ में चमस का लक्षण इस प्रकार किया है। "अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" अर्थात् जिसमें नीचे बिल हो और ऊपर बुध्न पैन्दा हो वह चमस कहाता है। चमस के इस लक्षण में जहां पर्वत की गुहा में अथवा अन्यत्र कहीं नीचे बिल और ऊपर बुध्न अर्थात् पैन्दा होतो उसको चमस नहीं कह सकते इसी प्रकार अव्यक्त का अर्थ इन्द्रियातीत होने से मूल प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। किन्तु परमात्म प्रकरण में आए हुए ऐसे शब्दों से मूल प्रकृति का ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रकरणानुसार परमात्मा के ही अर्थ हो सकते हैं।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ (ब्रह्म० सू० १ । ४ । ६) ॥

अर्थः—(ज्योति रुपक्रमा) आरम्भ जिसका ज्योति है (तु) निश्चय करके (एके) कई आचार्य्य (तथाहि) वैसा ही (अधीयते) पाठ करते हैं।

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणो नुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोन्यः ॥ (श्वेता ० ४ । ५)

यहां जीवात्मा ईश्वर और प्रकृति तीनों को अज = अजन्मा अर्थात् अनादि कहा है। तो क्या कहीं अज विशेषण से जीवात्मा के प्रकरण में ईश्वर का तथा ईश्वर के प्रकरण में प्रकृति का ग्रहण कोई कर सकता है ? नहीं क्योंकि कई आचार्यों ने अपने पाठ में ज्योति से उपक्रम अर्थात् आरम्भ करके स्पष्ट पढ़ा है जैसे कि छान्दोग्य ६ । ४ । १ में तेज, अप और अन्न का स्वरूप स्पष्ट करने को कहा है कि

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य'।

अर्थः - अग्नि की लपट में लाल रंग तेजस् तत्त्व का, श्वेत अप् तत्त्व का और काला अन्न का रूप है। इसी को सत्त्व, रज, तम का शुक्ल, रक्त, कृष्णरूप मान कर त्रिगुणात्मक प्रकृति का वर्णन 'अजामेकां लोहित' इत्यादि वाक्य में हो जाता है। अजा शब्द के प्रयोग मात्र से प्रकृति को स्वतन्त्र जगत् का कारण नहीं माना जासकता।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः। (ब्रह्म० सू० १ । ४ । १०)

अर्थः—(कल्पनोपदेशात्) कल्पना पूर्वक उपदेश होने से (च) भी (मध्वादिवत्)

मधु आदि कल्पित उपदेश के समान (अविरोध) विरोध नहीं है। अर्थात् इन तीनो के विषय में 'अजा' शब्द न आकृति निमित्तक है न यौगिक है किन्तु कल्पना से यह उपदेश है। अर्थात् तेज, जल, अन्न (रज, सत्त्व, तम) रूप प्रकृति को अजा कल्पना किया गया है। जैसे कोई बकरी लोहित शुक्ल कृष्णा हो और अपने जैसी बहुत सी सन्तान वाली हो, कोई अज (बकरा) इसके भोग मे आसक्त नहो कोई भोग रहा हो। इस प्रकार की वह है। यह ऐसी कल्पना है जैसे छान्दोग्य ३।१ में आदित्य को जो मिठाई नहीं है मधु (शहद) कल्पना किया है। तथा बृह० ५।८ में वाणी को जो गौ नहीं है धेनु रूपक में कहा है

न संख्योपसंग्रहादपि नाना भावादतिरेकाच्च ॥ (ब्रह्म० सू० १।४।११)

अर्थः—(नाना भावात्) अनेक होने से (च) और (अतिरेकात्) बच रहने के कारण (संख्योपसंग्रहात्) संख्या के साथ कथन करने से (अपि) भी (न) नहीं कह सकते [कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्त्ता है]

जिस परमात्मारूप आधार मे प्रकृति रहती है उसी आधार मे कही एक प्रकृति के बदले अन्य पांच संख्या वाले पदार्थो की भी स्थिति कही गई है। इससे एक प्रकृति के बदले पांच संख्या के उपसंग्रह से विरोध आवेगा। इसका उत्तर यह है कि यह विरोध नहीं है क्योंकि (नाना भावात्) एक प्रकृति के अनेक हो जाने से अनेक कथन करना विरुद्ध नहीं है तथा पांच संख्या भी अटल नहीं है।

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्माऽमृतोऽमृतम् ॥ बृहदा० ४।४।१७

अर्थः—जिस मे पाच पञ्चजन और आकाश ठेरा हुआ है उसी को मैं आत्मा, ब्रह्म अमृत मानता हूँ, उस को जान कर मैं अमृत हुआ हू

इसमें पञ्चजन शब्द से पाच मनुष्य नहीं लेना है किन्तु अगले सूत्र में बतलाएंगे कि प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन इन पांच को यहां पंचजन कहा है। परन्तु पञ्च पञ्चजन कहने से भी आधेय रूप से ५ ही पदार्थों को नहीं कहा, किन्तु [अतिरेकात्] आत्मा और आकाश भी पांच के अतिरिक्त पढे हैं तथा एक प्रकृति के नाना रूप होने से एक के पांच कहना भी विरुद्ध नहीं हैं।

संगतिः—तो फिर "पञ्चजन." से क्या अभिप्रेत है ? उत्तर

प्राणादयो वाक्यशेषात् । (ब्रह्म० सू० १।४।१२)

अर्थः—(प्राणादयः) पांच पञ्चजन यहां प्राणादि पांच हैं। (वाक्यशेषात्) क्योंकि वाक्य शेष मे उनका ग्रहण है। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' से उत्तर वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण करने के लिये प्राणादि पांच कहे है।

"प्राणस्यप्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्यश्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः"

बृहदा० ४।४।१८

अर्थ:—"जो प्राण के प्राण, नेत्र के नेत्र, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न और मनके मनको जानते हैं, इस वाक्य शेष से १. प्राण, २. चक्षु ३. श्रोत्र ४. अन्न ५. मन. इन पांच का नाम पूर्वोक्त वाक्य में पंचजन है।

सङ्गतिः—यदि यह कहो कि जिन के पाठ मे अन्न की गणना नहीं हैं। उनके पाठ में पञ्चजन किसमे पूरे होंगे ? तो.इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ (ब्रह्म० सू० १ । ४ । १३)

अर्थ:—(एकेषाम्) कई शाखाओं के (अन्ने) अन्न, पद (असति) न होने पर (ज्योतिषा) ज्योति पद से पांच की संख्या पूरी की जाती है।

अर्थात् 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि पूर्वोक्त माध्यन्दिन पाठ में तो प्राणादि पांच पढ़े हैं। पर 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसोये मनोविदुः" बृहदा०४।४।१८। इस काण्व पाठ में अन्न नहीं पढ़ा है। इनकी पांच संख्या "ज्योतिषां ज्योतिः" ४।४।१६ इस पूर्व श्लोक में पठित ज्योति से पूरी करनी चाहिये।

इन सांप्रदायिक भाष्यों में दूसरे अध्याय के प्रथम दो पादों के लगभग सभी सूत्रों के अर्थ सांख्य, योग और वैशेषिक के खण्डन में लगाये गये हैं। जो वास्तव में उनके साथ समन्वय में हैं। इस बात को दर्शाने के उद्देश्य से यहां दूसरे पाद के प्रथम दश सूत्रों को उनके पदार्थ सहित उद्धृत कर देना षड् दर्शन समन्वय के इस छोटे से प्रकरण के लिए स्थाली पुलाक न्याय से पर्य्याप्त होगा।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ (ब्र० सू० २ । २ । १) ॥

पदच्छेदः—रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम्,

पदार्थः—(च) पहले पादमें शब्द प्रमाण से सिद्धकर आये हैं कि जड़ प्रकृति जगत का निमित्त कारण नहीं हो सकती वह केवल उपादान कारण है, निमित्त कारण चेतन ब्रह्म हैं और अब उसी बात को यहां युक्ति से सिद्ध करते हैं। (रचनानुपपत्तेः) वर्त्तमान सृष्टिकी सयुक्तिक रचना के असिद्ध होने से (अनुमानम्) आगम और अनुमान सिद्ध प्रकृति (न) अचेतन होने से जगत् का निमित्त कारण नहीं होसकती। वह केवल उपादान कारण है। जगत का निमित्त कारण चेतन होने से केवल ब्रह्म ही हो सकता है।

प्रवृत्तेश्च ॥ (ब्र० सू० २ । २ । २) ॥

पदच्छेदः—प्रवृत्तेः, च

पदार्थः—(च) और (प्रवृत्तेः) अप्रवृत्त जड़ प्रकृति बिना किसी चेतन निमित्त कारण के स्वयं प्रवृत्त भी नहीं होसकती।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ (ब्र० सू० २ । २ । ३)

पदच्छेदः—पयोम्बुवत्, चेत्, तत्र, अपि,

पदार्थः—(चेत्) यदि यह कहा जावे कि (पयोम्बुवत्) दूध और जल के सदृश

जड़ प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होती है तो (तत्र, अपि) वहां भी जड़ प्रवृत्ति गाय और बछड़े आदि चेतन के आधीन ही होती हैं।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ (ब्र० सू० २ । २ । ४) ॥

पदच्छेदः—व्यतिरेकानवस्थितेः, च, अनपेक्षत्वात्

पदार्थः—(व्यतिरेकानवस्थितेः) प्रकृति के पृथक् भाव से अवस्थित न होने से (च) और (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा रहित होने से भी प्रकृति नहीं किन्तु ब्रह्म ही जगत का निमित्त कारण होसकता है।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ (ब्र० ० २ । २ । ५) ॥

पदच्छेदः—अन्यत्रभावात्, च, न, तृणादिवत्,

पदार्थः—(तृणादिवत) जिस प्रकार गौ के पेट में जाकर जड़ तृणादि स्वभाव से ही दूध बन जाते हैं इसी प्रकार जड़ प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होसकती है ? उत्तर-(न) नहीं हो सकती क्योंकि (अन्यत्र अभावात) गौ से अतिरिक्त बैल आदि के पेट में तृणादि दुध नहीं बनते हैं। इसलिए इस प्रवृत्ति का निमित्त कारण चेतन गौ है।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ (ब्र० सू० २ । २ । ६) ॥

पदच्छेदः—अभ्युपगमे अपि, अर्थाभावात्।

पदार्थः—(अभ्युपगमे, अपि) यदि प्रकृति मे विना किसी चेतन के स्वतः प्रवृत्ति मान भी ली जाय तो भी (अर्थाभावात्) सृष्टि बनाने में जड़ प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ (ब्र० सू० २ । २ । ७)

पदच्छेदः—पुरुषाश्मवत्, इति, चेत्, तथापि।

पदार्थः - (पुरुषाश्मवत्) जिस प्रकार अन्धा किसी से पूछकर मार्ग चल सकता है या लोहे में चुम्बक की समीपतासे गति आजाती है उसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वतः जगत को रच सकती है (इतिचेत) यदि ऐसा मानो (तथापि) तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अन्धे को मार्ग दिखलाने वाले और लोहे को चुम्बक की अपेक्षा होती है, इसी प्रकार जड़ प्रकृति को प्रवृत्त कराने में किसी चेतन की अपेक्षा होगी।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ (ब्र० सू० २ । २ । ८)

पदच्छेदः—अङ्गित्वानुपपत्तेः, च।

पदार्थ—(च) और (अङ्गित्वानुपपत्तेः) प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् जड़ होने के कारण विना किसी चेतन के स्वयं अङ्ग और अङ्गी भाव से प्रवृत्त नहीं हो सकते इसलिए उनमें इस क्षोभ का निमित्त कारण चेतन ब्रह्म ही हो सकता है।

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्ति वियोगात् ॥ (ब्र० । सू० । २ । २ । ९) ॥

पदच्छेदः—अन्यथा, अनुमितौ, च ज्ञशक्ति वियोगात्

पदार्थः—(अन्यथा) अन्यप्रकारसे (अनुमितौ) अनुमान करने में (च) भी (ज्ञ शक्तिवियोगात्) चेतन शक्ति के वियोग होने से। यदि प्रकृति के तीनों गुणों का स्वभाव अन्यथा अर्थात् कभी संयोग और कभी वियोग भी अनुमान कर लिया जावे तो भी उनके ज्ञान रहित होने के कारण बिना किसी चेतन के उनमें ज्ञान पूर्वक क्रिया न हो सकेगी। इस लिए चेतन ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति आदि में निमित्त कारण है।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ (ब्र० सू० २। २। १०)॥

पदच्छेदः—विप्रतिषेधात्, च, असमञ्जसम्।

पदार्थः—(विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोध से (च) भी (असमञ्जसम्) अनियमिकता होती है।

बिना चेतन ब्रह्म के अस्तित्व को माने हुए तीनों गुणों के परस्पर विरुद्ध उत्पादन और नाशन धर्म मान लेने से भी अनियमिकता होती है।

इसी प्रकार ग्यारह से सत्रह तक सात सूत्र वैशेषिक के साथ समन्वय में हैं न कि श्री कणाद मुनि को नास्तिक सिद्ध करके उनके दर्शन के निराकरण में। इस पाद के अन्त के चार सूत्रों में सांख्य और वैशेषिक को सेश्वर मानकर भी इन भाष्यकारों द्वारा इन दर्शनों को दूषित ठहराने का प्रयत्न किया गया है। जिसका मूलसूत्रों में नाम निशान भी नहीं है। ब्रह्मसूत्र २। १। ३ में योग शब्द देखकर कई साम्प्रदायक आचार्यों ने इस सूत्र का अर्थ योग के निराकरण में लगाने का यत्न किया है। इस भ्रान्ति को मिटाने के लिये दूसरे अध्याय के पहिले पद के प्रथम तीन सूत्रों को उनके सरल और स्पष्ट अर्थ सहित उद्धृत कर देना आवश्यक है।

"स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंग इति चेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगात् ॥"

(ब्र० सू० २। १। १)॥

अर्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय कि (स्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगः) स्मृति के अनवकाश रूपदोष अर्थात् असङ्गति का प्रसंग होगा तो (न) नहीं क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगात्) अन्य स्मृतियों के अनवकाश रूप दोष का प्रसंग होगा। यहां सूत्र के पूर्वार्ध में यह शंका उठाई गई है कि यदि ब्रह्म को निमित्त कारण माना जावे और प्रकृति को उसके आधीन उपादान कारण, तो किसी २ स्मृति में जो केवल प्रकृति को स्वतन्त्र उपादान कारण माना है उन स्मृतियों का अनवकाश रूप दोष होगा। यथाः—

इत्येष प्रकृति कृतो महदादिविशेष भूत पर्यन्तः।
प्रति पुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ (सांख्य कारिका ५६)॥

अर्थः—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत्तत्व से लेकर विशेष अर्थात् स्थूल भूतों तक का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये स्वार्थ की तरह परार्थ है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥ (गीता ८। १८)॥

अर्थ —सम्पूर्ण विश्वमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में अव्यक्त (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस अव्यक्त नामक मूल प्रकृति में ही लय होते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः (गीता ३ । २७) ॥

अर्थः—(वास्तव में) सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं।

सूत्र के उत्तरार्द्ध में इस शंका का यह समाधान किया गया है कि यदि इन स्मृतियों के अनवकाश दोष का डर है तो अन्य स्मृतियों में जहां ब्रह्म को निमित्त कारण और प्रकृति को तदाधीन उपादान कारण बतलाया गया है उन को भी तो अनवकाश दोष की प्राप्ति होगी।

यथा'—

"निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।

सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥" (सां० प्रव-न भाष्य ९७) ॥

अर्थ —जैसे बिना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र से लोहा गतिशील होता है वैसे ही सत्ता मात्र ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति आदि होती है।

"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते" ॥ (गीता ९ । १०) ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! मेरी (ब्रह्म की) अध्यक्षता में प्रकृति चराचर सहित सब जगत् को रचती है। इस हेतु से ही यह संसार रूप चक्र घूमता है।

"इतरेषाञ्चानुपलब्धेः॥" (ब्रह्म० सू० २ । १ । २) ॥

पदार्थ'—(च) और (इतरेषाम्) अन्यों के (अनुपलब्धेः) न पाए जाने से। अर्थात् कई वेद विरुद्ध चार्वाक आदि स्मृति को छोड़कर अन्य स्मृतियों के अनवकाश का दोष पाया भी नहीं जाता जैसा कि पहिले सूत्र में सांख्य और गीता दोनों स्मृतियों में स्पष्ट रूप से दिखला दिया गया है। इसलिये प्रकृति उपादान कारण और ब्रह्म निमित्त कारण इन दोनों की ही व्यवस्था ठीक है।

'एतेन योगः प्रत्युक्तः' ॥ (ब्रह्म० सू० २ । १ । ३) ॥

पदार्थ —(एतेन) इस कथन से (योग') संयोग के (प्रत्युक्तः) प्रतिवाद का खण्डन होगया अर्थात् जैसे बिना ब्रह्म के स्वतन्त्ररूपेण केवल प्रकृति जगत् का कारण नहीं बन सकती इसी प्रकार बिना ब्रह्म के केवल संयोग स्वतन्त्ररूपेण जगत् का कारण नहीं बन सकता। इसी बात को श्वेताश्वतर उपनिषद् में दर्शाया है।

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।

संयोग एषां नात्मभावादात्माप्यनीशः सुख दुःख हेतोः" ॥(श्वेता० १।२)

अर्थ—क्या काल, वा स्वभाव वा नियति (होनी) वा यदृच्छा (इत्तिफ़ाक़) वा स्थूलभूत कारण हैं अथवा जीवात्मा कारण है। यह विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि वे अनात्म (जड़) पदार्थ हैं और जीवात्मा भी समर्थ नहीं क्योंकि वह स्वयं सुख दुःख में पड़ा है।

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः" ॥

श्वेता० १।३।

अर्थ—उन्होंने ध्यान योग में लगकर उस परमात्मा की निज शक्ति को जो कार्यों के अन्दर छिपी हुई है प्रत्यक्ष देखा जो देव अकेला काल और जीवात्मा समेत इन सारे कारणों का अधिष्ठाता है।

जिस योग को ब्रह्म के साक्षात्कार का श्रुति स्पष्टरूप में प्रशंसा के साथ मुख्य साधन बतलाती है उसी योग की ब्रह्मसूत्र द्वारा निराकरण किये जाने की सम्भावना कितनी आश्चर्य जनक है।

योगशिखोपनिषद्, अध्याय एक में बतलाया है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना देहेऽपि योगेन न मोक्षं लभते विधे ॥ २४ ॥

अर्थ—हे विधे! साधक चाहे ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, और जितेन्द्रिय क्यों न होवे, तो भी योग बिना इस देह से मुक्ति लाभ न कर सकेगा।



तीसरा प्रकरण

न्याय और वैशेषिक दर्शन

कणाद मुनि प्रवर्तित वैशेषिकदर्शन और गौतम मुनि प्रवर्तित न्यायदर्शन के सिद्धान्त एक जैसे हैं। न्यायदर्शन एक प्रकार से वैशेषिक सिद्धान्त की ही विस्तृत व्याख्या है, या यों कहिये कि इन दोनो दर्शनो मे एक ही फिलासफी है जिसका पूर्वाङ्ग वैशेषिक है और उत्तराङ्ग न्याय।

इन दोनों दर्शन कारो का ठीक २ समय निश्चय करना अति कठिन है, किन्तु यह सिद्ध है कि ये दोनो भगवान् कपिल और पतञ्जलि मुनि के पीछे हुए हैं क्योंकि इन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थों के वास्तविक स्वरूप जानने के लिये योग का ही सहारा लिया है। और व्यास तथा जैमिनि से पूर्वकाल मे हुए हैं क्योंकि ब्रह्म सूत्र मे उनके सिद्धान्तो का वर्णन आया है। इन दोनों में कणाद गौतम से पहले हुए हैं। क्योंकि वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय का है।

वैशेषिक दर्शन

नामकरण—इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य है। विशेष नामक पदाथ की विशिष्ट कल्पना करने के कारण इस को वैशेषिक संज्ञा प्राप्त हुई है। और कणाद तथा उनके पिता उलूक ऋषि के नाम पर इसे काणाद और औलूक्य कहते हैं। कणाद का कहीं २ काश्यप अर्थात् कश्यप मुनि का पुत्र अथवा कश्यप गोत्र वाला नाम भी मिलता है।

वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है जो १० अध्यायों मे विभक्त है। प्रत्येक अध्याय मे दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक मे द्रव्य, गुण, तथा कर्म के लक्षण तथा विभाग का और दूसरे में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्याय मे नव द्रव्यों का, चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक में परमाणु वाद का तथा द्वितीय में अनित्य द्रव्य विभाग का, पांचवें अध्याय मे कर्म का, छटे अध्याय मे वेद प्रामाण्य के विचार के बाद धर्म अधर्म का ७ वें तथा ८ वे अध्याय मे कतिपय गुणों का ९ वे अध्याय मे अभाव तथा ज्ञान का और १० वें में सुख दुःख विभेद तथा विविध कारणो का वर्णन किया गया है।

वैशेषिक का अर्थ है पदार्थों के भेदो का बोधक।

पदार्थ, जो प्रतीति से सिद्ध हो उसे कहते हैं।

वैशेषिक दर्शन में हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय इन चारो प्रतिपाद्य विषयों

के समझने के लिये छः पदार्थ–१-द्रव्य, २-गुण, ३-कर्म, ४-सामान्य, ५-विशेष और ६-समवाय का निरूपण किया है, तथा उनके सामान्य धर्म और विशेष धर्म के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष बतलाया है।

यथा—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेष समवायनां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ (वै० १।१।४)

अर्थः—धर्म विशेष से उत्पन्न हुआ जो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय (इतने) पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म से तत्त्व ज्ञान, उससे मोक्ष होती है।

इन पदार्थों में केवल धर्मी तो द्रव्य है, अन्य पांच पदार्थ धर्म हैं। अर्थात् गुण और कर्म, द्रव्य के धर्म हैं; सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण और कर्म–तीनों के धर्म हैं; और समवाय पाँचों का धर्म है। इन छः में से पहले तीन द्रव्य गुण और कर्म मुख्य पदार्थ हैं क्योंकि इन्हीं से अर्थ क्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है और यही धर्म अधर्म के निमित्त होते हैं। शेष तीन रूप पदार्थ हैं क्योंकि उनसे कोई अर्थ क्रिया सिद्ध नहीं होती वे केवल शब्द व्यवहार ही के उपयोगी है।

नौ द्रव्य

द्रव्य नौ हैं:—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि (वै० १।१।५)

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं—

१—पृथिवी के कारण रूप निरवयव सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और उनका कार्य्य रूप स्थूल भूमि अनित्य है। पृथिवी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श चार गुण हैं, उनमें से मुख्य गन्ध है।

२—जल की पहचान शीत स्पर्श है। उष्ण जल में जो उष्णता प्रतीत होती है वह अग्नि की है। कारण रूप निरवयव जल के सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और कार्य रूप साधारण जल अनित्य है। जल में रस, रूप और स्पर्श तीन गुण हैं; उनमें से मुख्य रस है।

३—अग्नि की पहचान उष्ण स्पर्श है। जहाँ उष्ण स्पर्श है वहाँ अवश्य किसी न किसी रूप में अग्नि है। कारण रूप निरवयव अग्नि के सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और कार्य्य रूप साधारण अग्नि अनित्य है। अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण हैं; उनमें से रूप मुख्य है।

४—वायु की पहचान एक विलक्षण स्पर्श है। कारण रूप निरवयव वायु के परमाणु नित्य हैं और कार्य रूप साधारण वायु अनित्य है।

इन चारों द्रव्यों से तीन प्रकार की वस्तुएं बनी हैं: शरीर, इन्द्रिय और विषय। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीर तथा वृक्ष आदि पृथिवी के हैं, घ्राणेन्द्रिय पृथिवी की है; शरीर और इन्द्रिय के सिवाय जितनी मिट्टी, पत्थर आदि रूप पृथिवी है, वह सब पार्थिव विषय है। इसी

प्रकार जल-मण्डलस्थ जीवों के शरीर जलीय हैं, रसना (रस अनुभव करने वाली इन्द्रिय) जलीय है, नदी, समुद्र वर्फ, ओले आदि जलीय विषय हैं। तेजोमण्डलस्थ जीवों का शरीर तैजस है। नेत्रेन्द्रिय तैजस है, अग्नि, सूर्य और जठराग्नि आदि तैजस विषय हैं। वायु मण्डलस्थ जीवों का शरीर वायवीय है, त्वचा इन्द्रिय वायवीय है, और बाहर जो वृक्ष आदि को कँपाने वाला वायु है तथा अन्दर जो प्राण रूप वायु है, यह वायवीय विषय हैं।

५—आकाश की पहचान शब्द है। जहाँ शब्द है वहाँ आकाश है। शब्द सर्वत्र है, अतएव आकाश विभु (व्यापक) है। विभु निरवयव होने से नित्य होता है, अतएव आकाश नित्य और एक है। आकाश का शरीर कोई नहीं, पर उसका इन्द्रिय श्रोत्र है; कर्ण-छिद्र के अन्दर का आकाश श्रोत्र है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँचो द्रव्य पञ्चभूत कहलाते हैं। इनके, क्रम से, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच गुण हैं। घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं जिनके क्रम से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय हैं। घ्राण नासिका के अग्रवर्ती है और पार्थिव होने से पृथिवी के गुण गन्ध का ही ग्राहक है। रसना जिह्वाग्रवर्ती है और जलीय होने से जल के गुण रस की ही ग्राहक है। नेत्र काली पुतली के अग्रवर्ती है और तैजस होने से रूप का ही ग्राहक है। त्वचा सर्व शरीर-गत है और वायवीय होने से स्पर्श की ही ग्राहक है।

६ काल—'यह उससे आयु में छोटा है, वह इससे आयु मे बड़ा है; यह जल्दी होगया है और यह देर मे हुआ है' इत्यादि जो विलक्षण प्रतीतियाँ होती हैं, उनका निमित्त काल है। काल सारे कार्य्यों की (अनित्यों की) उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में निमित्त होता है। काल नित्य, विभु और एक है; किन्तु व्यवहार के लिये पल, घड़ी, दिन, रात, महीना, बरस और युग तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि उसके अनेक भेद कल्पना से कर लिये जाते हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। (२ । २ । ६)

अर्थ—नित्यों में न होने से और अनित्यो मे होने से कारण में काल संज्ञा है। यहाँ कारण में काल को भी गिना है।

७ दिशा—'यह इससे पूर्व है, दक्षिण है, पश्चिम है, पूर्वदक्षिण है, दक्षिणपश्चिम है, उत्तरपश्चिम है, उत्तरपूर्व है; नीचे है, ऊपर है' आदि ये दश प्रतीतिये जिससे होती हैं वह दिशा है।

इतइदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम्। (२ । २ । १०)

अर्थ—'यहाँ से यह, पर है व अपर' यह प्रतीति जिससे होती है यह दिशा का लिङ्ग है। सारे कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में कालवत् दिशा भी निमित्त होती है। कालवत् दिशा भी विभु है और एक है, किन्तु व्यवहार के लिये उसके भी पूर्वादि भेद कर लिये जाते हैं।

८ आत्मा—आत्मा की पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। ज्ञान, शरीर का धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर के कारण जो पृथिवी आदि भूत हैं उनमें ज्ञान नहीं। यदि उनमें ज्ञान होता तो उनसे बने हुए घटादि में भी ज्ञान होता। ज्ञान, इन्द्रियों का भी गुण नहीं है, क्योंकि किसी इन्द्रिय के नष्ट होजाने पर भी उसके पहले अनुभव किये हुए विषय की स्मृति रहती है और स्मृति उसीको होती है जिसने अनुभव किया हो, इसलिये यह अनुभव करने वाला इन्द्रियों से भिन्न है। ज्ञान, मन का गुण भी नहीं, क्योंकि मन जानने का साधन है, ज्ञाता नहीं। इसलिये परिशेष से ज्ञान आत्मा का गुण सिद्ध होता है। इससे आत्मा का अनुमान होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख भी शरीर से भिन्न आत्मा का अनुमान कराते हैं। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिये शरीर की चेष्टा भी इस बात को प्रकट करती है कि रथ में रथ के सारथि के सदृश अपने हित-अहित को जानकर शरीर को चलाने वाला शरीर से पृथक् उसका अधिष्ठाता आत्मा है।

आकाशवत् आत्मा भी विभु (व्यापक) और नित्य है—

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। (७। १। २२)

अर्थ—विभु धर्मवान् महान् है आकाश, वैसे (ज्ञान स्वरूप) आत्मा है।

९ मन—जिस प्रकार बाह्य रूपादि ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रियें हैं उसी प्रकार सुख दुःखादि के ज्ञान का साधन जो इन्द्रिय है वह मन है। मन अणु है—

तदभावादणुमनः। (७। १। २३)

अर्थ—उसके अर्थात् विभुत्व के अभाव से मन अणु है।

इस प्रकार द्रव्य नौ ही हैं। यद्यपि तम (अन्धकार, अन्धेरा) काले रङ्ग का और चलता हुआ प्रतीत होता है, तथापि वस्तुतः वह कोई द्रव्य नहीं। प्रकाश का अभाव ही तम है, प्रकाश के न होने से न दीखना ही उसमें कालापन है। यदि वास्तव में उसका कोई अपना रङ्ग होता तो प्रकाश के साथ दीखता। जो चलता हुआ प्रतीत होता है वास्तव में वह अन्धेरा नहीं चलता किन्तु प्रकाश के आगे आगे चलने से अन्धेरा चलता हुआ प्रतीत होता है, जैसे पुरुष के चलने से छाया चलती हुई प्रतीत होती है।

चौबीस गुण

गुण २४ हैं: रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

१ रूप—रूप श्वेत, नीला, पीला आदि कई प्रकार का है। यह नेत्र से ग्राह्य है; पृथिवी, जल और अग्नि में द्रव्यादि का प्रत्यक्ष कराने वाला है।

२ रस—रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से छः प्रकार का है; यह रसनेन्द्रिय से ग्राह्य है।

३ गंध—गन्ध सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार की है, और घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य है। यह केवल पृथिवी में रहती है।

४ स्पर्श—स्पर्श तीन प्रकार का है: शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत (न ठण्डा न गर्म) यह त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य है, और पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—पृथिवी मे ये चारों गुण हैं; जल में गन्ध नहीं शेष तीनों हैं; अग्नि मे रस नहीं शेष दो हैं और वायु मे रूप भी नहीं केवल स्पर्श है।

५ संख्या—'वह एक है, दो हैं' इत्यादि व्यवहार का हेतु संख्या है। संख्या एक द्रव्य के आश्रय भी है, जैसे 'यह एक वृक्ष है'; और अनेक द्रव्यों के भी, जैसे 'ये दो वृक्ष हैं'। एकत्व संख्या नित्य द्रव्यो में नित्य है, क्योंकि नित्य द्रव्यों के सदा बने रहने से एकत्व संख्या भी सदा बनी रहती है। अनित्य द्रव्यो मे एकत्व संख्या अनित्य है, क्योंकि उनके उत्पन्न होने के साथ उत्पन्न होती है और उनके नाश होने के साथ नष्ट होजाती है।

एक मे एकत्व संख्या तो सदा ही होती है किन्तु द्वित्व, त्रित्वादि संख्या सदा नहीं होती। वह तब उत्पन्न होती है जब हम अलग २ दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं को इकट्ठा मिलाकर कहना चाहते हैं कि ये दो हैं अथवा तीन हैं इत्यादि। द्वित्व, त्रित्वादि संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है और अपेक्षा बुद्धि के नाश होने पर नाश हो जाती है, इसलिये यह अनित्य होती है। यह द्वित्वादि संख्या व्यासज्यवृत्ति कहलाती हैं, क्योंकि वह अपने आश्रयभूत वस्तुओं में सब में एक ही हैं, अलग अलग नहीं। संख्या नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सारे द्रव्यों मे रहती है।

६ परिमाण—'यह इतना है' इस व्यवहार का हेतु परिमाण है। परिमाण चार प्रकार का होता है' अणुत्व, महत्व, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। ये परिमाण एक दूसरे की अपेक्षा से कहे जाते हैं। एक वस्तु को उससे बड़ी वस्तु की अपेक्षा से अणु या ह्रस्व कहा जाता है, और छोटी की अपेक्षा से महत् या दीर्घ। परमाणुओं मे अणुत्व और ह्रस्वत्व, और आकाश आदि विभु द्रव्यों में महत्त्व और दीर्घत्व मुख्य हैं। परिमाण भी नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सब द्रव्यों का धर्म है।

७ पृथक्त्व—'यह इससे पृथक है' इस व्यवहार का हेतु पृथक्त्व है। यह भी सब द्रव्यो का धर्म है। संख्यावत् एक पृथक्त्व नित्य द्रव्यों मे नित्य होता है और अनित्यों में अनित्य, क्योंकि आश्रय के नाश से उसका नाश आवश्यक है।

८ संयोग—'यह संयुक्त है' इस प्रतीति का निमित्त संयोग है। यह तीन प्रकार का होता है: (क) अन्यतर कर्मज अर्थात् संयुक्त होने वाले दो पदार्थों मे से एक के कर्म से उत्पन्न होनेवाला, जैसे श्येन पक्षी और पर्वत का संयोग, (ख) उभयकर्मज अर्थात् दोनों के कर्म से उत्पन्न होने वाला, जैसे दो मेढों का संयोग, (ग) संयोगज अर्थात् संयोग से उत्पन्न होनेवाला, जैसे हाथ और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग।

इनमें अन्यतर कर्मज और उभय कर्मज संयोग भी दो प्रकार का होता है.

(अ)'अभिघात' शब्द का हेतु संयोग और (ब) 'नोदन' अहेतु संयोग।

संयोग सब द्रव्यो मे रहता है और अनित्य होता है क्योंकि परमाणु आदि नित्य द्रव्यो मे भी नया ही उत्पन्न होता है। हर एक संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है, अर्थात् जो संयुक्त

हैं उनके सारे स्वरूप में संयोग नहीं होता, किन्तु किसी एक वा किन्हीं एक प्रदेशों के साथ होता है।

९ विभाग—संयोग का नाशक गुण विभाग है। संयोगवत् यह भी तीन प्रकार का है—(क) अन्यतर कर्मज जैसे श्येन पक्षी के उड़ जाने से श्येन और पर्वत का विभाग (ख) उभय कर्मज, जैसे दो मेढ़ों के परस्पर पीछे हटने से मेढ़ों का विभाग और (ग) विभागज, जैसे हाथ और पुस्तक के अलग हो जाने से शरीर और पुस्तक का विभाग।

१०, ११ परत्व, अपरत्व—'यह परे है, यह वरे है' इस व्यवहार के निमित्त गुण परत्व और अपरत्व हैं। ये दो प्रकार के हैं: दैशिक और कालिक। दैशिक, दिशा से किये हुए अर्थात् दूर निकट की अपेक्षा से, जैसे वह वस्तु इससे परे है (दूर है) यह वरे है (निकट है); और कालिक, काल से किये हुए अर्थात् आयु की अपेक्षा से, जैसे वह पर है, बड़ा है, और यह अपर है, छोटा है। दैशिक और कालिक, सारे परत्व और अपरत्व अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और अपेक्षा बुद्धि के नाश से नष्ट होते हैं। कालिक परत्व और अपरत्व अनित्यों के धर्म हैं, नित्यों के नहीं; दैशिक परत्व और अपरत्व पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन के धर्म हैं, विभु के नहीं होते।

१२ गुरुत्व—गिरने का निमित्त गुरुत्व (भार) है। यह जल और पृथिवी में रहता है। वायु में गुरुत्व की प्रतीति पार्थिक और जलीय रेणुओं के संयोग से होती है। गुरुत्व नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य है।

१३ द्रवत्व—बहने में निमित्त (बहने का धर्म) है। वह दो प्रकार का है: (क) स्वाभाविक जैसे जल में, और (ख) नैमित्तिक जैसे घृत आदि पार्थिव वस्तुओं में अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है। द्रवत्व भी नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

१४ स्नेह—स्नेह जल का विशेष गुण है, बिखरे हुए कणों को मिलाने का हेतु है। यह नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

१५ शब्द—यह आकाश का गुण है, श्रोत्र-ग्राह्य है और दो प्रकार का है— (क) ध्वनि-स्वरूप जैसा मृदंग आदि में होता है और (ख) वर्ण-स्वरूप जैसा मनुष्यों की भाषा में।

१६ बुद्धि—ज्ञान का नाम है, यह केवल जीवात्मा का गुण है, इसके दो भेद हैं—(क) अनुभव, नया ज्ञान और (ख) स्मृति, पिछले जाने हुए का स्मरण।

अनुभव दो प्रकार का होता है: (अ) यथार्थ, सच्चा, जिसको प्रमा वा विद्या कहते हैं। इसके तीन भेद प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण के प्रसंग में बतलाए जावेंगे। (ब) अयथार्थ, मिथ्या, जिसको अप्रमा वा अविद्या कहते हैं। इनके दो भेद: संशय और विपर्यय को भी अलग बतलाया जावेगा।

सांख्य और योग ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा बुद्धि को तीनों गुणों का प्रथम विषम परिणाम माना है, जो सत्त्व में रज केवल क्रियामात्र और तम उस क्रिया को केवल रोकने मात्र है। सत्त्व के प्रकाश और आत्मा के ज्ञान के प्रकाश में अत्यन्त विलक्षणता है, फिर भी बुद्धि में सत्त्व की स्वच्छता एवं निर्मलता के कारण आत्मा के ज्ञान के प्रकाश को

ग्रहण करने की अनादि योग्यता है। यह आत्मा के ज्ञान से प्रकाशित हुई बुद्धि किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा बहिर्मुख होकर नाना प्रकार के यथार्थ और अयथार्थ आकारों में परिणित होती रहती है। यह ज्ञान तथा अज्ञान का परिणाम बुद्धि मे ही होता है। इसलिये ज्ञान और अज्ञान दोनों बुद्धि ही के धर्म माने गये हैं। किन्तु बुद्धि जड़ है। इसलिये उसको इस ज्ञान और अज्ञान का बोध नहीं होता। इसका बोध आत्मा को होता है। क्योंकि बुद्धि में वृत्तिरूप से यह नाना प्रकार का ज्ञान और अज्ञान का परिणाम उसी के ज्ञान के प्रकाश में हो रहा है। इसलिये आत्मा को बुद्धि की वृत्तियों का साक्षी होता हुआ भी कूटस्थ नित्य ही माना जाता है। बुद्धि को आत्मा के साथ सम्मिलित करने से शबल अर्थात् मिश्रित आत्मा की संज्ञा जीव होती है, इसलिये बुद्धि के धर्म ज्ञान आदिक वैशेषिक में जीवात्मा के गुण बतलाये गये हैं। कई समालोचकों को बुद्धि और आत्मा मे विवेकपूर्ण ज्ञान न होने के कारण यह भ्रम हुआ है कि बुद्धि के अलग हो जाने से वैशेषिक का आत्मा एक जड़ द्रव्य रह जाता है। उन को जानना चाहिये कि बुद्धि का साक्षी न रहते हुए भी आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप से च्युत नहीं होता है, किन्तु बुद्धि के जो विकारादि उसमें आरोपित किये जाते हैं, उनका भी बाध होजाता है।

१७ सुख—इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा अनुकूल स्वभाव होता है। अतीत विषयों में उनकी स्मृति से और अनागत विषयों में उनके संकल्प से होता है। सुख में मुख और नेत्र खिल जाते हैं। विज्ञानियों को जो विषय और उसकी स्मृति तथा संकल्प के बिना सुख होता है, वह विद्या, शान्ति, सन्तोष और धर्म-विशेष से होता है।

१८ दुःख—इष्ट के वियोग या अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा प्रतिकूल स्वभाव होता है। अतीत विषयों में स्मृति-जन्य और अनागत विषयों में संकल्प-जन्य होता है। दुःख में मुख मुरझा जाता है और दीनता आजाती है।

१९ इच्छा—अपने लिये या दूसरों के लिये किसी अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना (चाहना) इच्छा है। किसी वस्तु को इष्ट-साधक या अनिष्ट-निवारक जानकर उसमें इच्छा होती है। इच्छा दो प्रकार की होती है: फल की इच्छा और उपाय की इच्छा। फल, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है, और सब उसके साक्षात् और परम्परा से उपाय हैं।

२० द्वेष—प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है; यह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु है अर्थात् द्वेष से मारने या जीतने का प्रयत्न होता है, जिससे द्वेष होता है उसकी बार २ स्मृति होती है, दुष्टों से द्वेष में धर्म और श्रेष्ठों मे द्वेष से अधर्म होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष ये द्वेष के भेद हैं।

२१ प्रयत्न—उद्योग, उत्साह प्रयत्न है। यह दो प्रकार का होता है—(क) जीवन-पूर्वक जो सोये हुए के प्राण, अपानादि को चलाता है और जाग्रत काल मे अन्तःकरण का इन्द्रियों के साथ संयोग कराता है; (ख) इच्छा-द्वेष-पूर्वक हित के साधनों के ग्रहण मे इच्छा पूर्वक प्रयत्न होता है और दुःख के साधनों के परित्याग में द्वेष पूर्वक।

२२, २३ धर्म, अधर्म—वेद-विहित कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है, यह पुरुष का गुण है, कर्त्ता के प्रिय हित और मोक्ष का हेतु होता है। इसके विपरीत प्रतिषिद्ध कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है, यह कर्त्ता के अहित और दुःख का हेतु होता है। धर्म और अधर्म को अदृष्ट कहते हैं।

२४ संस्कार—तीन प्रकार का होता है—(क) वेगः यह पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में कर्म से उत्पन्न होता है और अगले कर्म का हेतु होता है। (ख) भावनाः यह अनुभव से उत्पन्न होता है, स्मृति और पहचान का हेतु है। विद्या, शिल्प, व्यायाम आदि में बार २ के अभ्यास से इस संस्कार का अतिशय होता है। उसके बल से उस २ विषय में निपुणता आती है। (ग) स्थितिस्थापकः अन्यथा किये हुए को फिर उसी अवस्था में लाने वाला संस्कार स्थितिस्थापक कहलाता है। जिससे टेढ़ी की हुई शाखा छोड़ने से फिर सीधी होजाती है। संस्कार स्पर्श वाले द्रव्यों में रहता है।

इन चौबीस गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, संस्कार और शब्द ये विशेष गुण हैं क्योंकि ये एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से निखेरते हैं। और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व गुरुत्व नैमित्तिक द्रवत्व और वेग संस्कार, ये सामान्य गुण हैं क्योंकि ये एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से नहीं निखेरते।

३ कर्म—चलना (हरकत) रूप कर्म है; यह पाँच प्रकार का है—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। (१।१।७)

१ उत्क्षेपण—ऊपर फेंकना	२ अवक्षेपण—नीचे गिराना
३ आकुञ्चन—सिकोड़ना	४ प्रसारण—फैलाना और

५ गमन—अन्य सब प्रकार की क्रिया। ये पांच कर्म हैं।

मनुष्य के कर्म पुण्य-पाप-रूप होते हैं, महाभूतों के नहीं। ये कर्म भी नौ द्रव्यों में से किसी न किसी द्रव्य के धर्म हैं।

४ सामान्य—किसी अर्थ की जो जाति (किस्म) है वह सामान्य है, जैसे वृक्ष की वृक्षत्व और मनुष्य की मनुष्यत्व जाति है। जाति बहुतों में एक होती है, जैसे सारे वृक्षों में वृक्षत्व जाति एक है। जो एक ही हो अथवा जो विभु हो उसमें जाति नहीं रहती, जैसे दिशा, काल, आकाश और आत्मा में।

सामान्य के दो भेद हैं: पर और अपर। एक व्यापक जाति जिसकी अवान्तर जातियाँ और भी हों, जैसे वृक्षत्व, पर-सामान्य कहलाती है; उसकी अवान्तर जाति, जैसे आम्रत्व, अपर-सामान्य कहलाती है। अपर-सामान्य को सामान्य-विशेष भी कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य भी है और विशेष भी। जैसे आम्रत्व सारे आम्रों में सामान्य है किन्तु दूसरे वृक्षों से आम्रों को विशेष (अलग) करती है, इसलिये विशेष भी है।

सामान्य विशेष (पर, अपर) सापेक्ष हैं। आम्रत्वादि की अपेक्षा से वृक्षत्व पर (सामान्य) है और वृक्षत्व की अपेक्षा से आम्रत्व अपर (विशेष) है। किन्तु वृक्षत्व भी

पृथिवीत्व की अपेक्षा से अपर है और आम्रत्व भी अपनी अवान्तर जातियो की अपेक्षा से पर है। जिसकी आगे कोई अवान्तर जाति न हो, वह केवल अपर होता है, जैसे घटत्वादि। और जिसकी व्यापक जाति न हो वह केवल पर ही होता है। ऐसी जाति केवल सत्ता है, जो सारे द्रव्यो, सारे गुणों और सारे कर्मों मे होती है । सत्ता वह है जिससे सत् सत् इस प्रकार की प्रतीति होती है, अर्थात् द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है। और सारी (द्रव्यत्वदि) जातियाँ सामान्य-विशेष हैं। किन्तु इन द्रव्यत्वादि जातियो मे से हर एक जाति अनेक व्यक्तियो मे रहती है, इसलिये प्रधानतया वह सामान्य ही हैं, किन्तु अपने आश्रय (द्रव्यादि) को दूसरे पदार्थों से अलग भी करती है, इसलिये गौणतया विशेष शब्द से कही जाती हैं, किन्तु जो विशेष पदार्थ है वह इनसे अलग ही है।

५ विशेष—जैसे घोड़े से गौ मे विलक्षण प्रतीति जाति-निमित्तक होती है और एक गौ से दूसरी गौ मे विलक्षण प्रतीति का निमित्त रूपादि वा अवयवों की बनावट आदि का भेद है। इसी प्रकार योगियो को एक ही जाति, गुण और कर्म वाले परमाणुओ मे जो एक दूसरे से विलक्षण प्रतीति होती है उसका भी कोई निमित्त होना चाहिये, परमाणुओ मे और कोई भेद (बनावट आदि का भेद) असम्भव होने से, जो वहाँ भेदक धर्म है वही विशेष पदार्थ है। यह विशेष सारे नित्य द्रव्यो मे रहता है, क्योंकि अनित्य द्रव्यो मे और गुण, कर्मादि मे तो आश्रय के भेद से भेद कहा जा सकता है किन्तु नित्य द्रव्यों मे नहीं। इसलिए हर एक नित्य द्रव्य में एक २ विशेष होता है, जिससे वे एक दूसरे से विलक्षण प्रतीत होते है, और देश काल के भेद मे भी, यह वही परमाणु है, यह पहचान जो योगियो को होती है इसका निमित्त भी विशेष पदार्थ है। अर्थात् पहचान और विलक्षण प्रतीति किसी निमित्त से होती है, जैसे गौ मे गोत्व जाति से और शुक्ल मे शुक्लत्व गुण से; और वह निमित्त परमाणुओ मे कोई और न होने से उनमे भी अवश्य कोई अलग ऐसा पदार्थ है जो पहचान और विलक्षण प्रतीति का निमित्त है, वही विशेष पदार्थ है। इस विशेष पदार्थ का पता इसी दर्शन ने लगाया है. इसी लिए इसको वैशेषिक कहते हैं।

६ समवाय—सम्बन्ध सदा दो मे होता है, जैसे कुण्डे और दही का सम्बन्ध है। इन मे से दही कुण्डे से और कुण्डा दही से अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। किन्तु जो ऐसा घना सम्बन्ध है कि सम्बन्धी न अलग २ थे और न हो सकते हैं जैसे गुण गुणी का सम्बन्ध, वहाँ सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। अर्थात् गुणी मे गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार अवयवो मे अवयवी, क्रियावालो मे क्रिया, व्यक्ति में जाति और नित्य द्रव्यो मे विशेष समवाय सम्बन्ध से रहता है।

अभाव पदार्थ—पिछले वैशेषिक आचार्यों ने उपर्युक्त छः भाव पदार्थों के अतिरिक्त 'अभाव' भी एक अलग पदार्थ निरूपण किया है। अभाव चार प्रकार का है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, और अन्योऽन्याभाव। किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव प्रागभाव और नाश के पीछे उसका अभाव प्रध्वंसाभाव है। किसी वस्तु का नितान्त अभाव अत्यन्ताभाव है और एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का अभाव अन्योऽन्यऽभाव है।

न्याय-दर्शन

न्याय सूत्र के रचयिता का गोत्र नाम गौतम या गोतम है और व्यक्ति गत नाम अक्षपाद है।

प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण अर्थात् विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्त्व की परीक्षा न्याय है।

प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान (न्याय) है। अनुमान में परीक्षा करके अर्थ की सिद्धि की जाती है। परीक्षा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होती है, जैसे अग्नि की सिद्धि में जब यह प्रतिज्ञा की 'कि पर्वत में अग्नि है' तो यह शब्द प्रमाण हुआ; जब रसोई का उदाहरण दिया तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ; जब 'जैसे रसोई धूमवाली है, वैसे यह पर्वत धूमवाला है' ऐसा उपनय कहा, तो यह उपमान हुआ। इस प्रकार प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द, इन सब प्रमाणों से परीक्षा करके अग्नि की सिद्धि की गई। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के व्यापार से अर्थ का निश्चय करना न्याय है।

न्याय सूत्र पांच अध्यायों में विभक्त हैं, और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोडश पदार्थों के उद्देश (नाम कथन) तथा लक्षण (परिभाषा) परीक्षण किये गये हैं।

प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्ताऽवयव तर्क निर्णयवाद जल्प वितण्डाहेत्वाभास छल जाति निग्रह स्थानानां तत्त्व ज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। (न्याय १।१)

अर्थ—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रह स्थान, इनके तत्त्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन में से प्रमेय के तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है और प्रमाण आदि पदार्थ उस तत्त्व ज्ञान के साधन हैं।

यथार्थ ज्ञान का साधन प्रमाण है, जानने वाला प्रमाता, ज्ञान प्रमिति और जिस वस्तु को जानना है वह प्रमेय कहलाती है।

न्याय-दर्शन के अनुसार चार मुख्य प्रमाण हैं: १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ आगम।

१ प्रत्यक्ष प्रमाण—इन्द्रियों और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान जो अशब्द (नाम मात्र से न कहा हुआ), अव्यभिचारी (न बदलने वाला), और निश्चयात्मक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं: निर्विकल्पक और सविकल्पक। वस्तु का आलोचन-मात्र ज्ञान जिसमें सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है, निर्विकल्पक है; और जिसमें सम्बन्ध की प्रतीति होती है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक पहले होता है और सविकल्पक पीछे। जैसे गौ को देखकर 'यह ज्ञान पहले-पहल नहीं होता। क्योंकि 'गौ' इस ज्ञान में केवल व्यक्ति का ज्ञान नहीं, किन्तु एक विशेष व्यक्ति एक विशेष जाति (गोत्व) से सम्बन्ध रखने वाली प्रतीति हो

रही है। यह सम्बन्ध का ज्ञान सम्बन्धियों को पहिले पहिल अलग जाने बिना नहीं हो सकता। इससे अनुमान होता है कि पहिले दोनों सम्बन्धियों (जाति, व्यक्ति) का सम्बन्ध-रहित ज्ञान अलग २ हुआ है, पीछे 'यह गौ है' यह ज्ञान हुआ है। इनमें से पहिला निर्विकल्पक है, पीछे जो सम्बन्ध को प्रकट करनेवाला ज्ञान हुआ है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक कहने में नहीं आता। वह ऐसा ही प्रत्यक्ष है जैसे बालक वा गूंगे को होता है। इसके विपरीत सविकल्पक कहने-सुनने में आता है।

अनुमान प्रमाण—साधन साध्य, लिङ्ग-लिङ्गी अथवा कार्य-कारण के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं।

जहाँ 'व्याप्ति' अर्थात् साहचर्य (साथ रहने) का नियम पाया जाता है, वहीं अनुमान होता है। धूम अग्नि के बिना नहीं होता इसलिये धूम से अग्नि का अनुमान होता है। पर अग्नि बिना धूम के भी होती है, इसलिये अग्नि से धूम का अनुमान नहीं होता। जिसके द्वारा अनुमान करते हैं उसको लिङ्ग (चिह्न) कहते हैं और जिसका अनुमान होता है, उसको लिङ्गी। इस प्रकार धूम लिङ्ग है और अग्नि लिङ्गी। लिङ्गी वह होता है, जो व्यापक हो। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि अवश्य है, धूम में अग्नि की व्यापकता है, ऐसा होने से ही अनुमान हो सकता है। यदि बिना अग्नि के भी धूम होता, तो उससे अग्नि का अनुमान न होता। जैसे अग्नि बिना धूम के भी होती है, अतएव अग्नि से धूम का अनुमान नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ व्याप्ति है वहीं अनुमान होता है। चाहे वह सम व्याप्ति हो चाहे विषम-व्याप्ति हो। सम-व्याप्ति, जैसे गन्ध और पृथिवीत्व की है : जहाँ गन्ध है वहीं पृथिवीत्व है और जहाँ पृथिवीत्व है वहाँ गन्ध है। और विषम-व्याप्ति, जैसे अग्नि और धूम की है: क्योंकि जहाँ धूम है वहीं अग्नि है, यह ही नियम है, पर जहाँ अग्नि है वहाँ धूम भी हो, यह नियम नहीं है।

अनुमान तीन प्रकार का है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—जहाँ प्रत्यक्षभूत लिङ्ग लिङ्गी में से एक के देखने से दूसरे का अनुमान हो। जैसे धूम से अग्नि का। यहाँ दोनों प्रत्यक्ष का विषय हैं। अर्थात् यहाँ अनुमेय (लिङ्गी) जो अग्नि है, वह भी रसोई आदि में विशेष रूप से प्रत्यक्ष हो चुका है।

शेषवत्—जहाँ २ प्रसंग जा सकता है, वहाँ वहाँ से हटाकर शेष बचे हुए का अनुमान शेषवत् है जैसे 'शब्द किसका गुण है' इस विचार में सारे द्रव्यों का प्रसङ्ग आता है। उनमें से किसी का भी गुण न होने से परिशेष से यह आकाश का लिङ्ग (गुण) है (वै० २।१।२७)। यही परिशेषानुमान शेषवत् कहलाता है।

सामान्यतोदृष्ट—जो सामान्य रूप से देखा गया हो पर विशेष रूप से न देखा गया हो। यह वहाँ होता है जहाँ लिङ्गी को पहिले प्रत्यक्ष देखा हुआ न हो, जैसे देखना, सुनने आदि क्रियाओं से इन्द्रियों का अनुमान। क्रिया का कोई साधन (करण) अवश्य होता है, जैसे छेदने का कुल्हाड़ा। इसी प्रकार देखना, सुनना आदि क्रिया हैं, उनका भी कोई करण अवश्य होना चाहिये। यहाँ जो करण हैं वही इन्द्रिय हैं। यद्यपि सामान्य रूप में यह देखा

गया है कि जो क्रिया होती है, उसका कोई करण अवश्य होता है, जैसे छेदने आदि में कुल्हाड़ा, पर जैसे करण का यहाँ अनुमान करना है, अर्थात् इन्द्रिय रूप, वैसा करण कभी भी देखा नहीं गया, इसलिये यह अनुमान सामान्यतोदृष्ट है। इसी प्रकार जगत् की रचना से इसको रचने वाले का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट है। पूर्ववत् वहाँ होता है, जहाँ पहिले अनुमेय को भी देखा हुआ है, और सामान्यतोदृष्ट वहाँ होता है, जहाँ अनुमेय को कभी देखा नहीं है। इसी अनुमान से जो अतीन्द्रिय पदार्थ है, उनका ज्ञान होता है।

३ उपमान प्रमाण—प्रसिद्ध सादृश्य से संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान उपमान है, यथा जो गवय (नीलगाय) को नहीं जानता वह यह सुनकर कि 'जैसी गौ वैसी गवय' वन में जाय और गौ सदृश व्यक्ति को देखे तो उसको यह ज्ञान होगा कि यह गवय है। यहाँ गवय व्यक्ति प्रत्यक्ष है, पर यह ज्ञान कि 'इसका नाम गवय है' प्रत्यक्ष नहीं। यदि यह भी प्रत्यक्ष होता तो सभी को प्रतीत हो जाता। यह ज्ञान अनुमान से भी नहीं हुआ, क्योंकि संज्ञा का कोई लिङ्ग नहीं होता। शब्द से भी नहीं हुआ, क्योंकि यह किसी ने बतलाया नहीं। इसलिये जिससे यह ज्ञान हुआ है वह एक अलग ही उपमान प्रमाण है।

४ आगम प्रमाण—आप्त के उपदेश को शब्द-प्रमाण कहते हैं। अर्थ के साक्षात् करने वाले और यथा-दृष्ट का उपदेश करने वाले का नाम आप्त है। शब्द-प्रमाण दो प्रकार का है: दृष्ट अर्थ और अदृष्ट अर्थ। जिस आप्त उपदेश का अर्थ यहाँ देखा जाता है वह दृष्ट अर्थ है; जिसका अर्थ यहाँ नहीं देखा जाता, जैसे स्वर्गादि, वह अदृष्ट अर्थ है। लौकिक वाक्य दृष्टार्थ हैं, वैदिक वाक्य प्रायः अदृष्टार्थ।

न्यायदर्शन में ऐसे पदार्थों को जिनके न्याय-द्वारा तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस हो सकता है सोलह की संख्या में विभक्त किया गया है:—

१ प्रमाण—चार हैं, इनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है।

२ प्रमेय—बारह हैं, इनका वर्णन आगे किया जायेगा।

३ संशय—समान धर्म की प्रतीति से, अनेकों के धर्म की प्रतीति से, विप्रतिपत्ति [परस्पर विरोधी पदार्थों के सहभाव] से, उपलब्धि की अव्यवस्था से और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष की आकांक्षा वाला विचार संशय है। संशय का साधारण लक्षण एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्मों का ज्ञान समझना चाहिये।

४ प्रयोजन—जिस अर्थ को लक्ष्य में रखकर किसी विषय में प्रवृत्त होना है, वह प्रयोजन है।

५ दृष्टान्त—लौकिक और परीक्षकों की बुद्धि की जिस अर्थ में समता हो, वह दृष्टान्त है। जैसे अग्नि के अनुमान में रसोई। दृष्टान्त के विरोध से ही पर-पक्ष खण्डनीय होता है, और दृष्टान्त के समाधान से ही स्वपक्ष स्थापनीय होता है।

६ सिद्धान्त—शास्त्र के आधार पर अर्थों के मानने की व्यवस्था सिद्धान्त है। सिद्धान्त चार प्रकार का है:—

(क) सर्वतन्त्र सिद्धान्त—जो सारे शास्त्रों का सिद्धान्त हो, अर्थात् जिसमें किसी शास्त्र का विरोध न हो;

(ख) प्रतितन्त्र सिद्धान्त—जो अपने-अपने शास्त्र का अलग-अलग सिद्धान्त हो;

(ग) अधिकरण सिद्धान्त—जिसकी सिद्धि दूसरे अर्थों की सिद्धि पर निर्भर हो;

(घ) अभ्युपगम सिद्धान्त—वादी की मानी हुई बात को ही मानकर उस पर विचार करना।

७ अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयव हैं। जैसे 'घट अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है; 'उत्पत्ति वाला होने से' यह हेतु है; 'उत्पत्ति धर्म वाले पट आदि द्रव्य अनित्य देखने मे आते हैं' यह उदाहरण है; 'ऐसा ही घट भी उत्पत्ति धर्म वाला है' इसको उपनय कहते हैं; 'इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ' इसका नाम निगमन (उपसंहार) है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पूर्व प्रमाणों में जो अनुमान कहा है, वह दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान अर्थात् अपने लिये अनुमान; और परार्थानुमान अर्थात् दूसरे के लिये अनुमान। स्वार्थानुमान-कर्ता जब उस ज्ञान को दूसरे को निश्चय कराना चाहता है, तब उसकी सिद्धि के लिये अपने मुख से उसे जो वाक्य कहना पड़ता है, उसके ये पाँच अवयव होते हैं। और वही अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।

८ तर्क—जिसका तत्त्व ज्ञात न हो उसको जानना चाहते हुए उसमे कारण के सम्भव से तत्त्व-ज्ञान के लिये जो युक्ति है, वह तर्क है।

९ निर्णय—संशय उठाकर पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण (निश्चय) निर्णय है।

१० वाद—पक्ष और प्रतिपक्ष का वह अङ्गीकार जिसमें प्रमाणों से और तर्क से साधन और प्रतिषेध हो, जो सिद्धान्त से विरुद्ध न हो और पाँचों अवयवों से युक्त हो वाद कहलाता है।

११ जल्प—जो वाद के विशेषणों से युक्त हो, किन्तु जिसमें छल, जाति और निग्रह स्थानों से भी साधन और प्रतिषेध हो, वह जल्प है।

१२ वितण्डा—जल्प जब प्रतिपक्ष स्थापना से हो तो वितण्डा होता है।

इस प्रकार किसी अर्थ के निर्णय के लिये वादी-प्रतिवादी की जो बातचीत होती है उसका नाम कथा है, और वह तीन प्रकार की होती है: तत्त्व निर्णय के लिये वाद होता है, दूसरों को परास्त करने के लिये वा सिद्धान्त की रक्षा के लिये जल्प होता है, और जहाँ विजिगीषु (जीतने की इच्छा वाला) छल-जाति आदि का भी प्रयोग करता है और अपने पक्ष स्थापना से हीन केवल दूसरे के पक्ष पर प्रमाण, तर्क, छल, जाति आदि से सब प्रकार आक्षेप करता है वह वितण्डा है।

१३ हेत्वाभास—हेत्वाभास वे हैं जो हेतु लक्षण के न होने से हैं तो अहेतु, किन्तु हेतु के समान हेतुवत् भासते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं—

(क) सव्यभिचार हेत्वाभास—जो एक मे अर्थात् केवल साध्य में ही नियत न हो अर्थात् अव्यवस्था मे हो। जैसे किसी ने कहा 'शब्द' नित्य है स्पर्शवान् न होने से, स्पर्शवाला 'घट'

अनित्य खा जाता है, 'शब्द' वैसा स्पर्शवाला नहीं, इसलिये शब्द नित्य है। यहाँ दृष्टान्त में स्पर्शत्व और अनित्यत्व-रूप धर्म साध्य-साधन-भूत नहीं है क्योंकि परमाणु स्पर्शवान है, किन्तु अनित्य नहीं, नित्य है। ऐसे ही यदि कहें कि जो स्पर्शवान नहीं वह नित्य है जैसे 'आत्मा' तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली नहीं किन्तु नित्य नहीं, अनित्य है। इस कारण दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार आने से स्पर्शत्व न होना हेतु-सव्यभिचार हुआ।

(ख) विरुद्ध हेत्वाभास—सिद्धान्त को अङ्गीकार करके उसी का विरोधी जो हेतु है वह विरुद्ध हेतु है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि कार्य है। यह कार्य होना नित्यता का विरोधी है, न कि साधक।

(ग) प्रकरणसम हेत्वाभास—विचार के आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं। उसकी चिन्ता संशय से लेकर निर्णय तक जिस कारण की गई है वही निर्णय के लिये काम में लाया जावे तो दोनों पक्षों की समता से प्रकरण से आगे नहीं बढ़ता, इसलिये प्रकरणसम हुआ। जैसे किसी ने कहा कि 'शब्द अनित्य है' तो नित्य धर्म के ज्ञान न होने से यह हेतु प्रकरणसम है। इससे दो पक्षों में से किसी एक पक्ष का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि यदि शब्द में नित्यत्व धर्म का ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता, अथवा अनित्यत्व धर्म का ज्ञान शब्द में होता तो भी प्रकरण सिद्ध न होता। अर्थात् यदि दो धर्मों में से एक का भी ज्ञान होता तो 'शब्द अनित्य है कि नित्य'—यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता।

(घ) साध्यसम हेत्वाभास—स्वयं साधनीय होने के कारण जो साध्य से कोई विशेषता नहीं रखता वह साध्यसम है। जैसे 'छाया द्रव्य है' यह साध्य है, 'गतिवाला' होने से यह हेतु है, क्योंकि छाया का गतिवान् होना स्वयं साध्य कोटी में है, इसलिये यह हेतु साध्य से विशेष नहीं, इसलिये 'साध्य' के 'सम' हुआ। क्योंकि छाया में जैसे द्रव्यत्व साध्य है वैसे ही गति भी साध्य है।

(ङ) कालातीत हेत्वाभास—जिस अर्थ का वर्णन समय चूक कर किया गया हो उसे कालातीत कहते हैं। हेतु का काल वह है जब अर्थ सन्दिग्ध हो; किन्तु जब अर्थ किसी प्रबल प्रमाण से निश्चित हो, तो वहाँ हेतु उसे उलट कर कुछ सिद्ध नहीं कर सकता। जैसे कोई कहे कि 'अग्नि उष्ण नहीं है क्योंकि द्रव्य है' तो यह हेतु कालातीत है। क्योंकि जब अग्नि का उष्ण होना प्रत्यक्ष से निश्चित है तो वहाँ उष्ण न होना सिद्ध करने के लिये हेतु का काल ही नहीं। क्योंकि अग्नि का उष्ण न होना प्रत्यक्ष से बाधित है। अतएव नवीन नैयायिक कालातीत को बाधित भी कहते हैं।

१४ छल—अर्थ को बदल देने से वादी के वचन का विघात करना छल है। अर्थात् वादी के कहने का जो अभिप्राय है उससे विरुद्ध अभिप्राय लेकर उस पर आक्षेप करना छल है। यह छल तीन प्रकार का है:—

(क) वाक्छल—साधारण रूप से कहे हुए अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अन्य अर्थ की कल्पना को वाक्छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि 'यह बालक नव कम्बलवान् है' कहनेवाले का यहां आशय यह है कि 'इस बालक का कम्बल नया है';

पर छलवादी वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कहता है कि 'इस लड़के के पास तो केवल एक कम्बल है नौ कहाँ है'—नव शब्द के नवीन और नौ—ये दो अर्थ हैं। इस छलवादी की रोक यह है कि नवकम्बल शब्द जो दो विशेष अर्थों का एक सामान्य शब्द है, उसमें जो तुमने एक अर्थ की कल्पना करली है, इसका क्या हेतु है। क्योंकि बिना निश्चय किये अर्थ विशेष का निश्चय नहीं हो सकता है कि यह अर्थ इसको अभिप्रेत है और वह विशेष तुम्हारे अर्थ में नहीं है, इस लिये यह तुम्हारा दूषण नहीं सिद्ध होता।

(ख) सामान्य छल—जो बात बन सकती है उसके स्थान में अति समानता को लेकर एक बनती बात की कल्पना सामान्य छल है। जैसे किसी ने कहा 'यह ब्रह्मचारी विद्या-विनय सम्पन्न है,' इस वचन का खंडन अर्थ विकल्प से महत्ता तथा असम्भव अर्थ की कल्पना से करना कि जैसे ब्रह्मचारी में विद्या-विनय सम्पत्ति सम्भव है वैसा व्रात्य (यज्ञोपवीत के संस्कार से हीन) में भी है तो व्रात्य भी ब्रह्मचारी है क्योंकि वह भी विद्या-नियम-सम्पन्न है। इसका खंडन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है इसलिये इससे असम्भव अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती; ब्रह्मचारी सम्पत्ति का विषय है उसका हेतु नहीं है।

(ग) उपचार छल—धर्म के अमुख्य प्रयोग में मुख्य अर्थ से प्रतिषेध उपचार छल है। यहाँ 'धर्म' से अभिप्राय 'वृत्ति' का है। शब्द की वृत्ति दो प्रकार की है-मुख्य और अमुख्य। मुख्य अर्थ में मुख्य वृत्ति होती है; जैसे 'गंगायां स्नाति'—यहाँ गंगा शब्द मुख्य वृत्ति से प्रवाह का बोधक है। मुख्य वृत्ति को 'शक्ति' कहते हैं। और 'गंगायां घोषः' यहाँ गंगा शब्द अमुख्य वृत्ति से गंगातीर का बोधक है। अमुख्य वृत्ति को 'लक्षण' कहते हैं। जब लक्षण वृत्ति से प्रयोग किया गया हो और मुख्य वृत्ति को लेकर कोई निषेध करे, जैसे कहीं है गंगा में घोष; घोष तो उसके किनारे पर है,' तो यह उपचार छल है। अथवा जैसे किसी ने कहा 'मचान चिल्ला रहे हैं। इसका दूसरा खण्डन करता है कि मचानों पर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे हैं न कि मचान। मचान शब्द के मुख्य अर्थ लकड़ियों से बनी ऊँची बैठक के हैं जो किसान खेत की रखवाली के लिये बना लेते हैं और उसमें शब्दकारिता असम्भव है इसलिये अमुख्य वृत्ति (लक्षणा) से मञ्च पर बैठे पुरुष बोलते हैं यह वक्ता का अभिप्राय है। वादी इसके अभिप्राय को न लेकर शंका करता है कि मञ्च पर बैठे पुरुष बोलते हैं न कि मञ्च। यह उपचार छल है। इसका खंडन यह है कि यहां मचान शब्द मुख्य नहीं, गौण है, मञ्चस्थ पुरुषों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। प्रधान और गौण शब्द का प्रयोग वक्ता की इच्छा पर होता है, और अर्थ उसी के अभिप्राय से लिया जाता है।

१५ जाति—साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रतिषेध (खंडन) करने को जाति कहते हैं। असत् उत्तर जाति है, जब कोई सच्चा उत्तर न सूझे तो साधर्म्य-वैधर्म्य को लेकर ही जो समय टाला जाता है वह जात्युत्तर होता है। जाति के चौबीस भेद हैं जो स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिये जाते हैं।

निग्रहस्थान (हार की जगह)—विप्रतिपत्ति अर्थात् उलटा समझना या अप्रतिपत्ति अर्थात् प्रकरण के अज्ञान को निग्रहस्थान कहते हैं, अर्थात् विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति करने

से पराजय होती है। प्रतिपत्ति का अर्थ प्रवृत्ति है; विपरीत अथवा निन्दित प्रवृत्ति को विप्रतिपत्ति कहते हैं और दूसरे से सिद्ध किये पक्ष का खण्डन न करना अथवा अपने पक्ष पर दिये हुए दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। निग्रहस्थान बाईस प्रकार का है। स्थानाभाव से उन भेदों का यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। निग्रहस्थान का साधारण लक्षण उत्तर का न फुरना वा उलटा फुरना समझ लेना चाहिये।

वैशेषिकदर्शन के नौ द्रव्यों के सदृश न्यायदर्शन के इन सोलह पदार्थों में से वास्तव में मुख्य, बारह प्रमेय ही हैं जो प्रमाण द्वारा जानने योग्य हैं। अन्य सब पदार्थ प्रमेय का प्रमाण द्वारा ज्ञान कराने में सहायक हैं।

प्रमेय

१ आत्मा—जिसके पहचान के लिये इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न लिङ्ग हैं। यही भोगता है।

२ शरीर—जो चेष्टा, इन्द्रियों और अर्थों का आश्रय और भोग का स्थान है।

३ इन्द्रियें—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र,—जिनके उपादान कारण क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। ये भोग के साधन (करण) हैं।

४ अर्थ—गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द जो पांचों इन्द्रियों के यथाक्रम भोगने योग्य विषय और पांचों भूतों के यथायोग्य गुण हैं।

५ बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि—ये तीनों पर्याय शब्द हैं। अर्थों का भोगना अर्थात् अनुभव करना बुद्धि है।

६ मन—जिसका लिङ्ग एक से अधिक ज्ञानेन्द्रियों से एक समय में ज्ञान न होना है, जो सारी इन्द्रियों का सहायक और सुख-दुःखादि का अनुभव कराने वाला है।

७ प्रवृत्ति—मन, वाणी और शरीर से कार्य का आरम्भ होना प्रवृत्ति है।

८ दोष—प्रवृत्त कराना जिनका लक्षण है वे राग, द्वेष और मोह तीन दोष हैं।

९ प्रेतभाव—पुनर्जन्म अर्थात् सूक्ष्म शरीर का एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा धारण करना प्रेतभाव है।

१० फल—प्रवृत्ति और दोष से जो अर्थ उत्पन्न हो उसे फल कहते हैं। फल दो प्रकार का होता है: मुख्य और गौण। मुख्य फल सुख-दुःख का अनुभव है और सुख-दुःख के साधन शरीर, इन्द्रियें, विषय आदि गौण फल हैं। यहाँ दोनों फलों के ग्रहण करने के लिये अर्थ कहा है। राग, द्वेष और मोह जो दोष हैं उनमें से मोह राग-द्वेष का कारण है, और प्रवृत्ति फल की उत्पादक है।

११ दुःख—जिसका लक्षण पीड़ा है। सुख भी दुःख के अन्तर्गत है क्योंकि सुख बिना दुःख के नहीं रह सकता।

१२ अपवर्ग—दुःख की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति अपवर्ग है।

इन दोनों दर्शनों के अनुसार आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मन और (वायु, अग्नि,

जल और पृथिवी के) परमाणु नित्य हैं, और शरीर, इन्द्रियें, चारों स्थूल भूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और इनसे बनी हुई सारी सृष्टि अनित्य है।

नित्य द्रव्य निरवयव होना चाहिये। आत्मा, आकाश, काल और दिशा विभु अर्थात् व्यापक होने के कारण और मन तथा चारों भूतों के परमाणु जो अणु हैं, अति सूक्ष्म होने के कारण निरवयव होने से नित्य हैं। इस अंश में विभु और अणु द्रव्य समान हैं किन्तु अणु परिच्छिन्न, एकदेशीय होने से सक्रिय होते हैं और विभु व्यापक होने से निष्क्रिय। इस अंश में अणु और विभु एक दूसरे से विरोधी धर्म वाले हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, शरीर, इन्द्रियें तथा भूमण्डल आदि समस्त मूर्तिमान पदार्थ अवयव वाले, सक्रिय और अनित्य हैं। इन दोनों दर्शनों ने सांख्य के सदृश परमात्म-तत्त्व को आत्म-तत्त्व में सम्मिलित कर दिया है अर्थात् उसका अलग वर्णन नहीं किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इन्होंने उसके अस्तित्व को अस्वीकार किया है। ईश्वरीय ज्ञान वेद को दोनों दर्शनों ने आगम (शब्द) प्रमाण माना है।

इस प्रकार परमात्म-तत्त्व को अलग वर्णन न करने का कारण यह है कि इन दोनों दर्शनों ने वेदान्त के समान 'हेयहेतु' अर्थात् दुःख का कारण अविद्या, मिथ्या-ज्ञान या अविवेक माना है। 'हान' अर्थात् दुःख का अत्यन्त अभाव स्वरूप-अवस्थिति, अपवर्ग, निःश्रेय या ब्रह्म-प्राप्ति बतलाया है। किन्तु हानोपाय' अर्थात् दुःख निवृत्ति का साधन जहाँ वेदान्त ने ब्रह्मज्ञान बतलाया है वहाँ इन दोनों दर्शनों ने जड और चेतन तत्त्व का विवेक अर्थात् तत्त्व-ज्ञान माना है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ।
(१ । १ । २ न्याय)

अर्थ—सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्या-ज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश होता है। मिथ्या-ज्ञान के नाश से दोषों (राग, द्वेष, मोह) का नाश होता है। दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश होता है। प्रवृत्ति के नाश से जन्म का न मिलना और जन्म के न मिलने से सब दुःखों का अभाव होता है। सब दुःखों का अभाव ही अपवर्ग है।

आत्मेन्द्रिय मनोर्थ सन्निकर्षात् सुख दुःखे । (५।२।१५ वैशेषिक)

अर्थ—आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सम्बन्ध से सुख दुःख होते हैं।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः । (५।२।१६ वैशे०)

अर्थ—मन का आत्मा में स्थित होने पर उसका (मन के कार्य का) जो अनारम्भ (कार्य का बन्द कर देना) है वह योग है जो शरीर के दुःख के अभाव का हेतु है।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीत संयोगाः कार्यान्तर संयोगाश्चेत्य दृष्टकारितानि ।
(५।२।१७ वैशे०)

अर्थ—(यह जो मरने के समय मन का पूर्व देह से) निकलना और (दूसरे देह में)

प्रवेश करना है तथा (जन्म से ही) जो खाने पीने की वस्तुओं के संयोग हैं तथा दूसरे शरीर का जो संयोग है ये (सब मनुष्य के) अदृष्ट से कराये जाते हैं।

यहां अदृष्ट (धर्म अधर्म) मीमांसकों के अपूर्व और सांख्य योग के कर्माशय के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः। (५।२।१८ वैशे०)

अर्थ—(तत्त्वज्ञान से) उस (अदृष्ट) का अभाव हो जाने पर (पूर्व शरीर से) संयोग का अभाव और नये का प्रकट न होना मोक्ष है।

न्याय मञ्जरी में मुक्ति के स्वरूप का इस प्रकार का वर्णन किया गया है।

स्वरूपैक प्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगंरूपं तदस्याहुर्मनीषिणः॥
संसारबन्धनाधीनं दुःखक्लेशाद्य दूषितम्।

अर्थात्—मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध (ज्ञान) स्वरूप में प्रतिष्ठित, और अखिल गुणों से विरहित रहता है। ऊर्मिका अर्थ क्लेश विशेष है। भूख प्यास प्राण के, लोभ मोह चित्तके शीत और तप शरीर के क्लेशदायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छः ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और दुःख क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त होता है। मुक्त अवस्था में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, तथा संस्कार का मूलोच्छेद हो जाता है। आत्मा के इस शुद्ध स्वरूप को वेदान्त में बतलाया गया है "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) परब्रह्म सत्य ज्ञान स्वरूप और अनन्त है। यही सांख्य और योग का कैवल्य है। और वेदान्त की शुद्ध, निर्गुण, निर्विशेषब्रह्म के स्वरूप में अवस्थिति है। सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म अधर्म, आदि सांख्य में बुद्धि के धर्म बतलाये गये हैं। किन्तु न्याय (सूत्र १।१०) और वैशेषिक (सूत्र ३।१।१८) में बुद्धि को आत्मा में सम्मिलित करके आत्मा के शबल स्वरूप को जड़पदार्थों से भिन्न पहचान करने के लिये उसके लिङ्ग (चिन्ह) के रूप में वर्णन किये गये हैं। यह भ्रममूलक शंका नहीं होनी चाहिये कि मुक्त अवस्था में ज्ञान के न रहने से आत्मा एक जड़पदार्थ रह जावेगा। क्योंकि बुद्धि का धर्म रूप ज्ञान तो त्रिगुणात्मक जड़प्रकृति के तीनों गुणों में सत्त्वगुण के सात्विक प्रकाशरूप है। और आत्मा का ज्ञान उससे अति विलक्षण चेतनरूप है। क्योंकि आत्मा स्वयं चैतन्य स्वरूप है। उससे प्रकाशित होने के कारण बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होती है। मुक्त अवस्था में दुःख सुख दोनों का अभाव होता है क्योंकि दुःख निवृत्ति ही का नाम सुख है। सुख के साथ राग लगा रहता है और वह बन्धन का साधन है। तथा "परिणाम ताप-संस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेवसर्वंविवेकिनः" (यो० सा० पा० १५) अर्थ:—क्योंकि (विषय सुख के भोग काल में भी) परिणामदुःख, तापदुःख, और संस्कारदुखः, बना रहता है और गुणों के स्वभाव में भी विरोध है इसलिये विवेकी पुरुष के लिये सब कुछ (सुख भी जो विषयजन्य है) दुःख ही है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के रजसमें दुःख है

और सत्त्वमें सुख है। इसलिये सुख के बने रहने में गुणातीत अवस्था नहीं रह सकती। सुख विषय और विषयभोक्ता दोनों की अपेक्षा रखता है। इस कारण मुक्त अवस्था में सुख के मानने से निर्विशेष, निर्गुण, शुद्ध अद्वैत की सिद्धि न हो सकेगी।

उपनिषदों में जहां ब्रह्म के साथ आनन्द का शब्द आया है वह ज्ञान के अर्थ में है। अथवा वे श्रुतियें शबल ब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्म की सूचक हैं। और वह मुक्ति की अवस्था-शबल ब्रह्म की प्राप्ति है जो पुनरावर्तिनी है और ब्रह्मलोकतक सूक्ष्म लोकों के आनन्द को भोगना है। और जो सांख्य और योग के अनुसार सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तिम ध्येय है। इसलिये कैवल्यरूप और पुनरावर्तिनी रूप दो प्रकार की मुक्ति है जो जिसको अभिमत हो वह उसकी इच्छा करे और उसकी प्राप्ति के लिये यत्न करे।

कार्य-कारण

प्रत्येक संहत्यकारी अर्थात् किसी प्रयोजन के लिये बनी हुई वस्तु, जैसे वस्त्र कार्य कहलाता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। यह कारण तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) उपादान कारण—जिससे वह वस्तु बनी हो, जैसे तन्तु जिससे यह वस्त्र बना है, यहाँ तन्तु वस्त्र का उपादान कारण है।

(२) निमित्त कारण—तन्तुओं का संयोग विशेष करने वाला जुलाहा निमित्त कारण है।

(३) साधारण कारण—तन्तुओं का ओतप्रोत रूप में संयोग विशेष तथा कर्घा आदि साधारण कारण हैं।

न्याय और वैशेषिक का सिद्धान्त

इन दोनों दर्शनों का सिद्धान्त आरम्भिक उपादान कारण अर्थात् परमाणु वाद है। इनके सिद्धान्तानुसार सारे स्थूल पदार्थों के मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु हैं। ऐसे दो परमाणुओं के आपस में संयुक्त हो जाने से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है जो अणु परमाणु विशिष्ट होने से स्वयं अतिन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है जो महत्परमाणु से संयुक्त होने से जन्य पदार्थों का उत्पादक तथा इन्द्रिय गोचर होता है। घर के छत के छेद से जब सूर्य किरणें प्रवेश करती हैं तब उनमें नाचते हुए जो छोटे २ कण नेत्र गोचर होते हैं वेही त्रसरेणु हैं। यथा:—

जालांतर गतेभानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यतेरजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणु स उच्यते॥

त्र्यणुक का महत्त्व द्व्यणुकों की संख्या के कारण उत्पन्न हुआ माना जाता है, न कि उनके अणु परमाण से। चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। फिर स्थूल पदार्थों की इत्यादि। इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनके सारे स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति होती है। ये परमाणु उपादान कारण हैं और इनका विशेष रूप से संयोग होना साधारण कारण है; और ईश्वर, जिसके ज्ञान और प्रेरणा से यह परमाणु विशेष रूप से

संयुक्त हो रहे हैं, वह और अदृष्ट (पुरुष का भोग और अपवर्ग अथवा कर्माशय) इनका निमित्त कारण हैं। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक ने सांख्य की प्रकृति और महत्तत्त्व को जड़तत्व के साथ वर्णन करने की आवश्यकता न देखी। जिस प्रकार सांख्य ने पांच तन्मात्राओं और अहंकार को स्थूलभूतों और इन्द्रियों आदि का प्रकृति (उपादान कारण) माना है इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक ने परमाणुओं को स्थूल भूत, शरीर और इन्द्रियों का उपादान कारण माना है। किन्तु जहाँ सांख्य ने अहंकार और तन्मात्राओं को महत्तत्व की विकृति (कार्य) माना है वहां न्याय और वैशेषिक ने मन और परमाणुओं को निरवयव होने के कारण इनके अतिरिक्त इनके अन्य किसी कारण (प्रकृति) की खोज करने की आवश्यकता न समझी।

जिस प्रकार सांख्य और योग ने स्थूलभूत और इन्द्रियों को केवल विकृति (विकार) माना है वैसे ही इन दोनों दर्शनकारों ने स्थूलभूत और इन्द्रियों को मध्यम परिमाणवाला और अनित्य माना है।

सांख्य के तीनों गुणों के परिणाम के स्थान पर इन्होंने परमाणुओं का विशेष रूप से संयोग ही साधारण (असमवायी) कारण माना है। तीसरा निमित्त कारण ईश्वर, चारों दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग) को समान-रूप से अभिमत है यद्यपि उसको विशेष रूप से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं मानी है—जिस प्रकार सुवर्ण से बने हुए आभूषण की परीक्षा के समय सुवर्णकार की परीक्षा करना बुद्धिमत्ता नहीं है। किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को तो सभी दर्शनकारों ने माना है।

यथा— **'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत्'**

अर्थ—जिस प्रकार कुम्हार घट का बनाने वाला है उसी प्रकार ईश्वर जगत् का बनाने वाला है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्' (न्या० ४ । १ । १९)

अर्थ—मनुष्यों के कर्मों के फल जिसके हाथ में हैं वही ईश्वर है।

'संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ प्रत्यक्ष प्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्मणः' ।
(वैशेषिक० २ । १ । १८)

इन सूत्रों की शंकर मिश्र ने इस प्रकार व्याख्या की है।

संज्ञा नाम कर्म कार्य्यं क्षित्यादि तदुभयम् अस्मद्विशिष्टानां ईश्वर महर्षीणाम् सत्त्वऽपि लिङ्गम्। घट पटादिसंज्ञा निवेशनमपि ईश्वर संकेताधीनमेव। यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः सतत्रसाधुः। तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वर लिङ्गत्वम्। एवं कर्मापि ईश्वरे लिङ्गम्। तथा हिक्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत् इति।

अर्थात्—संज्ञा अर्थात् नाम और कर्म अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य्य ये दो चीजें हम से बढ़ कर एक विशिष्ट ईश्वर और महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। घट पट, आदिनाम से वे ही पदार्थ किस प्रकार समझे जाते हैं? ईश्वर के संकेत से। पृथ्वी जल जब कार्य हैं, तब इनका कर्ता भी अवश्य होना चाहिये; वही ईश्वर है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। (वै०१।१।३) में तद् शब्द ईश्वर का बोधक है।

इन सूक्ष्म परमाणुओं को अवकाश देने वाला एक व्यापक जडतत्व चाहिए था। उसके लिये न्याय और वैशेषिक ने आकाश महान् परिमाणवाला मूल प्रकृति (प्रधान) के स्थान पर माना है। आकाश से अतिरिक्त इन दोनों दर्शनकारों ने परमाणुओं के संयोगक्रम तथा परत्व-अपरत्व दिखलाने के लिये दिशा और काल को भी महत् परिमाणवाला माना है जिनको सांख्य और योग ने बुद्धि का निर्माण किया हुआ मानकर चौबीस तत्त्वों में सम्मिलित नहीं किया है।

सांख्य तथा योग के सदृश ये दोनों दर्शन भी आत्मा को विभु और शरीर, इन्द्रिय तथा मन से पृथक् चेतन तत्त्व मानते हैं। आत्मा को जड-तत्त्व से भिन्न दिखलाने वाले चिह्न निम्न प्रकार बतलाये हैं—

प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि। (३।२।४ वैशे०)

अर्थ—प्राण, अपान, पलक मीचना-खोलना, जीवन, मन की गति, एक इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से दूसरे इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिंगम्। (१।१।१० न्याय)

अर्थ—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लिङ्ग (चिह्न, साधक) हैं।

आत्मा शरीर से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। क्योंकि श्वास को बाहर निकालना, अन्दर लेजाना, पलक झपकाना आदि क्रियायें उसी समय तक रहती हैं जब तक उसका आत्मा से संयोग रहता है। आत्मा से संयोग छूटने पर मृतक शरीर में क्रियायें नहीं होतीं। इसलिये जहाँ यह क्रियायें हों वहाँ आत्मा का होना सिद्ध होता है।

योग और सांख्य ने बुद्धि अर्थात् चित्त को पृथक् तत्त्व माना है। किन्तु न्याय और वैशेपिक ने इसको आत्मा में ही सम्मिलित करके आत्मा के शबल स्वरूप के धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदि बतलाये हैं। इसलिये जहाँ सांख्य और योग ने आत्मा को ज्ञान अथवा चेतन स्वरूप माना है वहाँ न्याय और वैशेपिक ने ज्ञान और प्रयत्न आदि धर्मवाला माना है। क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न आदि को आत्मा का धर्म माने बिना वैशेपिक के लक्षणानुसार (शुद्ध) आत्मा का अस्तित्व इनके प्रमाण और लक्षण से सिद्ध नहीं हो सकता था। क्योंकि उनके लक्षणानुसार द्रव्य या तो समवायीकारण हो, जैसे परमाणु स्थूल भूतों के, या क्रिया वाला हो जैसे मन तथा परमाणु, और या गुणवाला हो जैसे आकाश शब्द गुण वाला है।

चेतन-स्वरूप आत्मा में ये तीनों धर्म न होने से वैशेपिक और न्याय के लक्षणानुसार जो केवल भौतिक पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को बतलाते हैं, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता था। इसलिये इन्होंने बुद्धि (चित्त) को आत्मा में सम्मिलित करके उसके (बुद्धि के) धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदि से आत्मा के शबल स्वरूप का अस्तित्व बुद्धि के साथ सिद्ध किया है।

वैशेषिक सूत्र (३ । २ । ४) और न्याय सूत्र (१ । १०) में बतलाये हुए लिङ्ग आत्मा के धर्म नहीं हैं और न इनका आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है। यह आत्मा का शरीर के साथ अस्तित्व बतलाने के लिये केवल चिह्न मात्र हैं। जैसे राम के मकान को निर्देश करने के लिये यह कहा जाय "जिस मकान में आम का वृक्ष है वही राम का मकान है" इन दोनों सूत्रों में आत्मा के सगुण अर्थात् शबल स्वरूप को बताया है। जिसकी संज्ञा जीव है। क्योंकि प्राण, अपान, पलक मींचना पलक खोलना, जीवन, यह सब प्राण के धर्म हैं। मन की गति मन का धर्म है। इन्द्रियों का विकार इन्द्रियों का धर्म है। इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख प्रयत्न, और ज्ञान बुद्धि के धर्म है। ये सब तीनों गुणों के कार्यों के धर्म गुण रूप ही हैं। इसी बात को गीता अध्याय ५ के ८ वें ९ वें श्लोक में बताया गया है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तोमन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इतिधारयन् ॥ ९ ॥

अर्थ—तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता हुआ और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने २ अर्थों में वर्त रही हैं इस प्रकार समझता हुआ निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप वैशेषिक के सूत्र (७ । १ । २२) में बताया गया है।

विभवान्महानाकाशस्तथाचात्मा (वै० ७ । १ । २२)

अर्थ—विभू धर्मवान् महान् है आकाश वैसे (ज्ञानस्वरूप) आत्मा है। वैशेषिक के इस सूत्र के अनुसार ही श्रुति स्मृतियों में आत्मा के शुद्ध ज्ञान स्वरूप को व्यापक और निष्क्रिय ही माना है (यथा)—आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः। (छन्दोग्य ३ । १४ । ३)

अर्थ—आकाश के समान आत्मा व्यापक और नित्य है।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। गीता अ० । २ । २४ ।

अर्थ—यह आत्मा नित्य व्यापक स्थाणु तथा निष्क्रिय और सनातन है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशंनोपलिप्यते।
सर्वत्रा वस्थितो देहे तथात्मानो पलिप्यते ॥ (गीता १३ । ३१ । ३२)

अर्थ—जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश (भी) सूक्ष्म होने से लिपायमान

नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ (भी) आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता है। ३१।

हे अर्जुन जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

आत्मा के शवल स्वरूप की पिंड रूप व्यष्टि शरीरों में सिद्धि से सामान्यतोदृष्ट प्रमाण द्वारा परमात्मा की ब्रह्मांडरूप समष्टि मे सिद्धि होती है।

वैशेषिक और न्याय में योग साधन की शिक्षा।

आत्मा तथा परमात्मा का अस्तित्व प्रमाण और लक्षण से सिद्ध करने के पश्चात् इन दोनों दर्शनकारों ने न केवल आत्मा और परमात्मा का, किन्तु अतीन्द्रिय जड़ पदार्थों का भी वास्तविक स्वरूप जानने के लिये योग-साधन का ही सहारा बतलाया है। यथाः—

आत्मन्यात्म मनसोः संयोगविशेषादात्म प्रत्यक्षम्। (९।१।११ वैशे०)

अर्थ—आत्मा में आत्मा और मन के संयोग विशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् आत्मा और मन का योग-समाधि द्वारा जब संयोग प्रत्यक्ष होता है तो उस संयोग विशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्। (९।१।१२ वैशे०)

अर्थ—इसी प्रकार अन्य (सूक्ष्म अतीन्द्रिय) द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है।

असमाहितान्तः करणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च। (९।१।१३ वैशे०)

अर्थ—युक्त योगी जो समाधि को समाप्त कर चुके हैं उनके लिये (अतीन्द्रिय द्रव्यों का) बिना समाधि के भी प्रत्यक्ष होता है।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु। (९।१।१४ वैशे०)

अर्थ—उन (द्रव्यों) में समवेत होने से कर्म गुणों में (युक्त और युञ्जान दोनों प्रकार के योगियों को प्रत्यक्ष होता है)।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु। (९।१।१५ वैशे०)

अर्थ—आत्मा में समवेत होने से आत्मा के गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

समाधि विशेषाभ्यासात्। (४।२।३८ न्याय)

अर्थ—समाधि विशेष के अभ्यास से (तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है)।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः। (४।२।४२ न्याय)

अर्थ—वन, गुफा और नदी-तीर आदि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (किया जाता है)।

तदभावश्चापवर्गे। (४।२।४५ न्याय)

अर्थ—और मोक्ष में उसका (इन्द्रिय और अर्थ के आश्रयभूत शरीर का) अभाव होता है।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः। (४।२।४६न्याय)

अर्थ—उस मोक्ष के लिये यम और नियमों से तथा अभ्यास विधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा का संस्कार करना चाहिये। अर्थात् योग के प्रतिबन्धक मल विक्षेप और आवरण को हटाना चाहिये।

चौथा प्रकरण

सांख्य और योग-दर्शन

सांख्य और योग भारतवर्ष की प्राचीन प्रसिद्ध वैदिक तथा वेदान्त फिलास्फी है, जिसने सारे भूमण्डल के विद्वानों को विस्मित कर दिया है।

परमात्मा (चेतन तत्व) के निर्गुण शुद्ध स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में विस्तार पूर्वक किया गया है इसलिये उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। ज्ञान का अन्त अर्थात् जिसके जानने के पश्चात् कुछ जानना शेष न रहे। योग और सांख्य में उसके जानने के साधन विशेष रूप से बतलाये गये हैं इसलिये सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त फिलासफी है। यथा—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः
(श्वेता० ६।१३)

नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन जो अकेला ही बहुतों की कामनाओं को पूरा करता है। उस देव को जो (सृष्टि आदि का निमित्त) कारण है और जो सांख्य और योग द्वारा ही जाना जा सकता है, जानकर (मनुष्य) सारी फांसो से छूट जाता है।

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः सन्यास योगाद् यतयः शुद्ध सत्वाः।
ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
(मु० ३ ख० २ मं० ६)

वेदान्त के विज्ञान का उद्देश्य जिन्होंने ठीक २ निश्चय कर लिया है और जो यति जन सन्यास (सांख्य) और योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, वे सारे सबसे उत्तम अमृत को भोगते हुए मरने के समय ब्रह्म लोकों में स्वतन्त्र हो जाते हैं।

तथाः— नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योग समं बलम्।

सांख्य के समान और कोई दूसरा ज्ञान नहीं है और योग के समान और कोई दूसरा बल नहीं है।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव।
योगोवृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

असाध्यः कस्यचियोगो ज्ञानं कस्यचिदेव च ।
प्रकारौ द्वौततः साक्षाज्जगाद परमः शिवः ॥ (योग वशिष्ट)

अर्थ—हे राम ! चित्त के नाश करने के लिये केवल दो निष्ठायें बतलाई गई हैं—योग और साँख्य । योग चित्त वृत्ति निरोध से प्राप्त किया जाता है और सांख्य सम्यग् ज्ञान से । किसी २ के लिये योग कठिन होता है और किसी २ को सांख्य । इस कारण परम् शिव ने योग और सांख्य दोनों ही मार्गों को बतलाया है ।

लोके ऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता अ० ३।३)

हे निष्पाप अर्जुन । इस मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भरूप से) दो निष्ठायें बतलाई हैं । (कपिल मुनि द्वारा बतलाई हुई) सांख्य योगियों की निष्ठा ज्ञान योग से होती है और (हिरण्यगर्भ रूप से बतलाई हुई) योगियों की निष्ठा निष्काम कर्मयोग से होती है । यथा—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः ॥ (महाभारत)

सांख्य के वक्ता परम् ऋषि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं । इन से पुरातन इन का वक्ता और कोई नहीं । यद्यपि ये दोनों फिलासफी अलग २ नाम से वर्णन की गई हैं । किन्तु, वास्तव में दोनों एक ही हैं । यथाः—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति ॥ (गीता अ० ५।४,५)

सांख्य और योग को पृथक् पृथक् अविवेकी लोग ही जानते हैं न कि पंडित लोग । इन दोनों में से एक का भी ठीक अनुष्ठान कर लेने पर दोनों का फल मिल जाता है । सांख्य योगी जिस शुद्ध परमात्मस्वरूप का लाभ करते हैं योगी भी उसी को पाते हैं । जो सांख्य और योग को एक जानता है वही तत्त्व वेत्ता है । किन्तु इन दोनों में सांख्य किंचित् कठिन है । यथाः—

सन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता ५ । ६

किन्तु हे अर्जुन ! बिना योग के सांख्य साधन रूप में कठिन है । योग से युक्त होकर मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

जिस प्रकार सत्त्व, रजस और तमस इन तीनों में से प्रत्येक गुण बिना अन्य दो

की सहायता के अपना कोई भी कार्य स्वतन्त्ररूप से प्रारम्भ नहीं कर सकते उसी प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना भी अपने २ कार्य में परस्पर एक दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं। सांख्य में ज्ञान प्रधान है और कर्म और उपासना गौण और योग में कर्म और उपासना की प्रधानता है।

सांख्य और योग दोनों आरम्भ में एक ही स्थान से चलते हैं और अन्त में एक ही स्थान पर मिल जाते हैं किन्तु योग बीच में थोड़े से मार्ग से घुमाव वाली पक्की सड़क से चलता है और सांख्य सीधा कठिन रास्ते से जाता है।

सांख्य और योग में बहिर्मुख होकर संसार चक्र में घूमने के कारण अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म बतलाये गये हैं और इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होने के साधन अष्टाङ्ग योग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि है।

योग द्वारा अन्तर्मुख होना—यम, नियमासन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांच बहिरङ्ग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। ये तीनों धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थिति) के बहिरङ्ग साधन हैं उसका अन्तरङ्ग साधन नेति नेति रूप पर-वैराग्य है, जिसके द्वारा चित्त से अलग आत्मा को साक्षात्कार कराने वाली विवेक ख्याति रूप सात्विक वृत्ति का भी निरोध होकर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थिति का लाभ होता है।

सांख्य द्वारा अन्तर्मुख होना—अष्टाङ्ग योग के पहिले पांच बहिरङ्ग साधन सांख्य और योग में समान है किन्तु जहाँ योग में सालम्बन अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा किसी विषय को ध्येय बना कर अन्तर्मुख होते हैं। वहां सांख्य में निरालम्ब अर्थात् बिना किसी विषय को ध्येय बना कर अन्तर्मुख होते हैं। उसमें धारणा, ध्यान और समाधि के स्थान में चित्त और उसकी वृत्तियां दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं इसलिये "गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं" इस भावना से आत्मा को चित्त से पृथक अकर्ता केवल शुद्ध स्वरूप में देखना होता है। "यह आत्म-साक्षात्कार कराने वाली विवेक ख्याति रूप एक गुणों की ही सात्विक वृत्ति है"। इस प्रकार पर वैराग्य द्वारा इस वृत्ति के निरोध होने पर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थिति को प्राप्त होते हैं।

योग में उत्तम अधिकारियों के लिये असम्प्रज्ञात समाधि लाभ का विशेष उपाय ईश्वर प्रणिधान—यह ओ३म् की मात्राओं द्वारा उपासना है अर्थात् ओ३म् के अर्थों की भावना करते हुए वाणी से जाप करना एक मात्रावाले अकार की उपासना है। इस में स्थूल शरीर का अभिमान रहता है इसलिये स्थूल शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक होता है और स्थूल जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा विराट् है वह उपास्य होता है।

ओ३म के मानसिक जाप में अकार, उकार दो मात्रा वाले ओ३म की उपासना होती है। इसमें सूक्ष्म शरीर का अभिमान रहता है इसीलिये सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा

की संज्ञा तैजस है वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा हिरण्यगर्भ है वह उपास्य होता है। जब मानसिक जाप भी सूक्ष्म होकर केवल ओ३म् का ध्यान (ध्वनि) ही रह जावे तो यह अकार, उकार, मकार तीनों मात्रा वाले पूरे ओ३म् की उपासना है। इसमें कारण शरीर का अभिमान रहता है। इसलिये कारण शरीर के सम्बन्ध से आत्मा की जो संज्ञा प्राज्ञ है वह उपासक होता है और कारण जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा ईश्वर है वह उपास्य होता है। जब यह तीन मात्रा वाली ध्यान रूप वृत्ति भी सूक्ष्म होते होते निरुद्ध हो जावे तो अमात्र विराम रह जाता है। यह कारण शरीर और कारण जगत दोनों से परे शुद्ध परमात्मप्राप्ति रूप स्वरूपावस्थिति है जो प्राणिमात्र का अन्तिम ध्येय है।

सांख्य में उत्तम अधिकारियों के लिये असम्प्रज्ञात समाधि लाभ का विशेष उपाय "ध्यानं निर्विषयं मनः"—इस के द्वारा जो वृत्ति आवे उस को हटाना होता है। अन्त में सब वृत्तियां रुक जाने पर निरोध करने वाली वृत्ति का भी निरोध करके स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करना होता है। योग का भक्ति का लम्बा मार्ग सुगम है। यह सांख्य का ज्ञान का छोटा मार्ग उससे कठिन है।

कार्यक्षेत्र में सांख्य और योग का व्यवहार—"कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" (योग० द० ४।७) योगियों का कर्म न पापमय होता है न पुण्यमय; क्योंकि योगी के लिये तो पाप कर्म सर्वथा त्याज्य ही है, और कर्त्तव्य रूप पुण्य कर्म वह आसक्ति, लगाव, ममता और अहंता को छोड़ कर निष्काम भाव से करता है। इस लिये बन्धन रूप न होने से अकर्म रूप ही है। साधारण अयोगी लोगों के कर्म पाप, पुण्य और पापपुण्य से मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं। यह सूत्र सांख्य और योग दोनों के लिये समान है किन्तु योगी कर्म और उसके फल को ईश्वर के समर्पण करके आसक्ति को त्यागते हैं और सांख्य योगी गुण गुणों में वर्त्त रहे हैं आत्मा अकर्त्ता है इस प्रकार इसके लगाव से मुक्त रहते हैं। योग का उपासना अर्थात् भक्ति का मार्ग लम्बा किन्तु सुगम है सांख्य का ज्ञान का मार्ग छोटा किन्तु कठिन है।

योगियों का कार्यक्षेत्र में व्यवहार—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्म पत्र मिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता अ० ५।१०,११,१२)

अर्थ—कर्मों को ईश्वर के समर्पण करके और आसक्ति को छोड़ कर जो कर्म करता है वह पानी में पद्म के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता ॥१०॥ योगी फल की कामना और कर्त्तापन के अभिमान को छोड़ कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से कर्म करते हैं ॥११॥ योगी कर्म के फल को त्याग कर परमात्म प्राप्ति रूप शान्ति को लाभ करते हैं। अयोगी कामना के अधीन होकर फल में आसक्त हुआ बंधता है ॥१२॥

सांख्य योगियों का कार्यक्षेत्र में व्यवहारः—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ गीता ३।२८
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ गीता ५।८,९

हे महाबाहो ! गुणविभाग (अर्थात्, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के जो बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियादि ग्रहण और पांचों विषयादि ग्राह्य रूप हैं) और कर्मविभाग (अर्थात् उन की परस्पर की चेष्टायें) को तत्त्व से जानने वाला गुण गुणों में वर्त रहे हैं (अर्थात् ग्रहण और ग्राह्य रूप तीनों गुणों के परिणामों में ही व्यवहार हो रहा है, आत्मा अकर्त्ता है) ऐसा जानकर कर्म और उनके फलों में असक्त नहीं होता ॥२८॥ तत्त्व वेत्ता सांख्य योगी देखता, सुनता, छूता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, सांस लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता हुआ, पकड़ता हुआ, आंख खोलता हुआ और मीचता हुआ भी ऐसा ही समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता। सब चेष्टाओं में केवल इन्द्रियें ही अपने अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं। (आत्मा इनका द्रष्टा, इनसे पृथक निर्लेप है) ॥ ८, ९ ॥

सांख्य और योग की उपासना—परमात्मा का शुद्ध स्वरूप तीनों पुरुषों और तीनों लिङ्गों से परे है। किन्तु व्यवहार दशा में उस का सङ्केत किसी न किसी लिङ्ग और पुरुष द्वारा ही हो सकता है।

योग द्वारा उपासना—योग द्वारा उस की उपासना अन्य आदेश अर्थात् प्रथम और मध्यम पुरुष द्वारा की जाती है। यथाः—

प्रथम पुरुष द्वारा—

ईशावास्यमिद्ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥
ईशो० १ । १ यजु ४० । १

यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत है वह ईश्वर से आच्छादनीय है अर्थात् सब में ईश्वर को व्यापक समझना चाहिये। उसका त्याग भाव से भोग करना चाहिये। अर्थात् ईश्वर समर्पण करके व्यवहार करें। लालच न करो, अर्थात् आसक्ति न होने दो। धन किसका है? अर्थात् किसी का नहीं।

मध्यम पुरुष द्वारा—

उत वात पिताऽसि न उत भ्रातोत नः सखा

सनो जीवात वे कृधि। (ऋग्वेद १०।१८६)

अर्थः—हे परमात्मन्! तू हमारा पिता है तू भ्राता है तूहीं सखा है। हे प्रभो! हमारा आयुष्य बढ़ाओ।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं और आप ही सखा है। आप ही विद्या हैं, आप ही द्रव्य हैं। हे देवो के देव आप ही मेरे सब कुछ हैं।

सांख्य द्वारा उपासना—सांख्य द्वारा उसकी उपासना अहंकारादेश अर्थात् उत्तम पुरुष द्वारा और आत्मादेश अर्थात् आत्मा द्वारा की जाती है। यथाः—

उत्तम पुरुष द्वारा—

अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्तएव च॥ गीता० १०।२०

हे अर्जुन। मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आत्मा हूं। मैं ही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप हूं।

आत्मा द्वारा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बहिश्च॥९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बहिश्च॥१०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः।

एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः॥११॥

कठो० अ० २ व० ५।

जिस प्रकार एक ही अग्नि नाना भुवनों में प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप (उन जैसा रूप वाला) हो रही है इसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा नाना प्रकार के रूपों में उन जैसा रूप वाला हो रहा है और उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु नाना भुवनों

में प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप अर्थात् उन जैसा रूप वाला हो रहा है उसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा नाना प्रकार के रूपों में प्रतिरूप (उन जैसा रूप वाला) हो रहा है और उन से बाहर भी है। जिस प्रकार सूर्य सब लोकों का चक्षु होकर भी आंखों के बाह्य दोष से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा लोक के बाह्य दुःखों से लिप्त नहीं होता क्योंकि वह उनसे बाहर है।

प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष और आत्मा क्रमशः एक दूसरों से अधिक समीपता के सूचक हैं किन्तु कर्म और भक्ति प्रधान योग साधारण मनुष्यों को ज्ञान प्रधान सांख्य से अधिक आकर्षक और सुगम प्रतीत होता है। पर भक्ति और कर्म भी अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच कर ज्ञान का रूप ही धारण कर लेते हैं। यथाः—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वायास्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषा॥ ऋ० ८।३ म०।४४ वर्ग २३

अर्थः—हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाये तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत् हो जावे।

इस प्रकार सांख्य और योग में बीच के मार्ग में थोड़ा सा ही अन्तर है।

सांख्य दर्शन

गीता में सांख्य को ज्ञानयोग तथा सन्यासयोग के नाम से भी वर्णन किया गया है। सांख्य नाम रखने का यह भी कारण हो सकता है कि इस में गिने हुए पच्चीस तत्त्व माने गये है।

सांख्य नामकरण का रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त 'प्रकृति पुरुषान्यताख्याति' में भी छिपा हुआ है। क्योंकि 'प्रकृति पुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृति पुरुष विवेक', का ही दूसरा नाम 'संख्या = सम्यक् ख्याति = सम्यक् ज्ञान = विवेकज्ञान' है। किसी वस्तु के विषय में तद्गत दोषों तथा गुणों की छानबीन करना भी 'संख्या' कहलाता है। यथाः—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कश्चिदर्थम भिप्रेत्य सासंख्येत्युपधार्यताम्॥ (महाभारत)

संख्या का अर्थ आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान भी किया गया है। यथा—

शुद्धात्म तत्त्व विज्ञानं सांख्य मित्यभिधीयते।

—शङ्कर विष्णु सहस्रनाम भाष्य

सांख्य प्रवर्तक—कपिल मुनि

सांख्य के प्रवर्तक श्री कपिल मुनि हुए है, और योगदर्शन के निर्माता श्री पतञ्जलि मुनि। कपिल मुनि आदि-विद्वान् और प्रथम दर्शनकार हैं। यथा—

सिद्धानां कपिलो मुनिः (१०।२६ गी०)।

अर्थ—सिद्धों में कपिल मुनि हू।

ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति । (श्वेता० उप०)

अर्थ—जो पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है। तथा —

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच । (पंचशिखाचार्य)

अर्थ—आदि विद्वान् (पहिले दर्शनकार) भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माण चित्त (सांसारिक संस्कारों से शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दया भाव से (सांख्य) शास्त्र का उपदेश दिया।

सर्गादावादि विद्वान् अत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य सम्पन्नः प्रादुर्बभूव । (वाचस्पति मिश्र)

अर्थ—सृष्टि के आदि में आदि-विद्वान् पूजनीय महामुनि कपिल धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न प्रकट हुए।

सांख्य के प्रसिद्ध प्राचीन आचार्य

आदि विद्वान् भगवान् कपिल मुनि के पश्चात् विज्ञान भिक्षु के समय तक सांख्य के निम्नलिखित प्रसिद्ध आचार्य हुये हैं —

आसुरिमुनि, पंच शिखाचार्य, पतञ्जलि, जैगीशव्याचार्य, वार्षगण्याचार्य, विन्ध्यवासी (रुद्रिल), जनक, पराशर (वादरा), व्यास, ईश्वर कृष्णआर्य। कई लेखकों ने निम्नलिखित नामों को भी सांख्य आचार्यों में सम्मिलित किया है —

भार्गव, उलूक, वाल्मीकि हारीत, देवल (माठर वृत्ति का० ७१), वाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, कौण्डिन्य मूक (युक्ति दीपिका का० ७१) गर्ग, गौतम, (जय मङ्गला)

सांख्य के मुख्य ग्रन्थ

सांख्य के बहुत से प्राचीन ग्रंथ इस समय लुप्त हैं। कई एक के केवल नाम ही मिलते हैं।

(१) परम ऋषि कपिल मुनि प्रणीत 'तत्त्व समास' —इसके वर्तमान समय में केवल २२ सूत्र मिलते हैं। वास्तव में इसी को सांख्य दर्शन कहना चाहिये। इसका उपदेश भगवान् कपिल ने आसुरि जिज्ञासु को किया था, और भगवान् कपिल जैसे आदि विद्वान् द्वारा आसुरि जैसे जिज्ञासु के लिये साक्षात्कार पर्यन्त इन्हीं सूत्रों का उपदेश परमार्थक हो सकता है। आसुरि के बनाये हुये किसी विशेष ग्रन्थ का तो पता नहीं चलता, किन्तु उनके सिद्धान्त का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। स्याद् वाद मञ्जरी में आसुरि का एक श्लोक (१५ वां श्लोक) उद्धृत किया गया है।

तत्त्व समास पर विज्ञान भिक्षुके शिष्य भावागनेश कृत "सांख्य तत्त्व याथार्थ्य दीपन" टीका प्रसिद्ध है। तथा शिवानन्द कृत "सांख्य तत्त्व विवेचन", "सर्वोपकारिणी टीका", "सांख्य सूत्र विवरण" आदि टीकायें भी हैं।

(२) पंच शिखाचार्य के सूत्रः—आसुरि ने कपिल मुनि से प्राप्त की हुई सांख्य की शिक्षा का पञ्चशिखाचार्य को उपदेश किया, जिसने इस शास्त्र का विस्तार किया। इस प्रकार का वर्णन सांख्य कारिका में आता है। इन सूत्रों का ग्रन्थ लुप्त है। व्यासजी ने अपने योग दर्शन के भाष्य में लगभग २१ सूत्रों को कई स्थानों में उद्धृत किया है।

(३) वार्षगण्याचार्य प्रणीत षष्टि-तन्त्रः—यह ग्रन्थ भी नहीं मिलता है। साठ प्रधान विषयों की व्याख्या होने के कारण अथवा साठ परिच्छेद होने के कारण इसका नाम षष्टितन्त्र रखा गया था। ईश्वर कृष्ण आर्य ने अपनी सांख्य सप्तति को षष्टितन्त्र के आधार पर ही बनाया है। वे बहत्तरवीं कारिका में लिखते हैं कि षष्टि तन्त्र के सविस्तर विषय को सांख्य सप्तति में संक्षिप्त किया गया है और उसकी आख्यायिकायें आदि छोड़ दी गई हैं। श्री व्यासजी महाराज ने योग दर्शन के भाष्य में वार्षगण्याचार्य के वचनों को कई स्थानों में लिखा है।

(४) सांख्य सप्ततिः—सांख्य सप्तति अथवा सांख्य कारिका 'षष्टि तन्त्र' के आधार पर आर्य मुनि ईश्वर कृष्ण द्वारा लिखा गया है। इसमें मुख्य सत्तर कारिकायें हैं, इस कारण इसका नाम सांख्य सप्तति रखा गया है। इस पर वाचस्पति मिश्र द्वारा की हुई टीका (१) 'सांख्य तत्त्व कौमुदी' कहलाती है (२) 'गौड़ पाद भाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक है किन्तु (३) 'माठर वृत्ति' सब से प्राचीन मानी जाती है। (४) 'युक्ति दीपिका', (५) 'जयमङ्गला (६) 'चन्द्रिका' भी प्रसिद्ध टीकायें हैं।

(५) सांख्य सूत्रः—ये ५२७ सांख्य सूत्र ६ अध्यायों में विभक्त हैं। पहिले अध्याय में विषय का प्रतिपादन,दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरूपण, तीसरे में वैराग्य, चौथे में सांख्य तत्त्वों के सुगम बोध के लिये रोचक आख्यायिकायें, पांचवे में पर पक्ष का निरास और छठे में सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय है। इस पर विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्य प्रवचन भाष्य' लिखा है। सामान्यतया ये कपिल मुनि के बनाये हुये सूत्र माने जाते हैं और षड्ध्यायी सांख्य दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध में कई आधुनिक विद्वानों का विचार है कि "ये सांख्य सप्तति' के आधार पर लिखा हुआ उसके पिछले समय का ग्रन्थ है, क्योंकि—"इसमें बहुत से सूत्र सांख्य कारिका से लिये हुये प्रतीत होते हैं। श्री शंकराचार्य ने सांख्य कारिका के अतिरिक्त इस के सूत्रों को कहीं भी प्रमाण में उद्धृत नहीं किया है। वाचस्पति मिश्र ने जिन्होंने अन्य सब दर्शनों और सांख्य कारिका की भी टीका की है इस ग्रन्थ में से एक भी सूत्र को प्रमाण रूप में नहीं दिया है। इससे सिद्ध होता है कि इन सूत्रों के संग्रहकर्त्ता विज्ञान भिक्षु हैं और सम्भव है उनमें से बहुत से सूत्र स्वयं उनके बनाये हुये हों जैसा कि 'सांख्य प्रवचन भाष्य' की भूमिका से प्रतीत होता है।

तत्त्व समास पर उपरोक्त सब टीकायें चौखम्भा सीरीज़ बनारस से सांख्य संग्रह नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं इनमें से 'सांख्य तत्त्व याथार्थ्य दीपन' का भाषानुवाद हो गया है जिसका प्रकाशन इस ग्रन्थ के पश्चात् किया जायेगा। अन्य टीकाओं के भाषानुवाद के लिये भी यत्न किया जा रहा है।

कालार्क भक्षितं सांख्य शास्त्रं ज्ञान सुधाकरम्। कलावशिष्टं भूयोऽपिपूरयिष्ये वचोऽमृतैः ॥ (सां० प्र० भा० भू० ५)

अर्थ—सांख्य ज्ञान चन्द्रमा को काल रूपी राहु ने निगल लिया है। उसकी एक कला शेष रह गई है, उसको फिर मैं अमृत रूपी वचन से पूरा करूँगा। स्वयं विज्ञान भिक्षु ने भी तत्त्व समास को ही अपने सांख्य प्रवचन भाष्य का आधार माना है जैसा कि उन्होंने अपनी भूमि का में लिखा है—

तत्त्व समासाख्यं हियत् संक्षिप्तं सांख्य दर्शनम्।
तस्यैव प्रकर्षेणाख्यां निर्वचनम् ॥

अर्थ—तत्त्व समास नामी जो संक्षिप्त सांख्य दर्शन है उसीको इस (षडध्यायी दर्शन) में खोल कर बतलाया गया है।"

किन्तु स्वामी दयानन्द तथा अन्य कई विद्वानों ने इसको प्रामाणिक और प्राचीन सांख्य दर्शन माना है। सांख्य सप्तति से इसमें सूत्र लिये गये हों इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। हो सकता है कि इसी सांख्य सप्तति से ये सूत्र लिये गये हों—अथवा किसी अन्य सांख्य ग्रन्थ से इन दोनों में लिये गये हों। सांख्य सप्तति को इनकी अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि और लोक-प्रियता प्राप्त होने का कारण इसके सरल और आर्या छन्दों में श्लोक बद्ध होना हो सकता है। इन सूत्रों पर 'अनिरुद्ध वृत्ति' विज्ञान भिक्षु से पूर्व समय की मानी जाती है। सां० प्र० भा० भू० ५ से अभिप्राय इन सूत्रों पर 'प्रवचन भाष्य' लिखना ही हो सकता है जिनका संकेत उनके शिष्य भावा गनेश ने अपने 'तत्त्वयाथार्थ्य दीपन' में स्थान २ पर किया है। वैसे भी विज्ञान भिक्षु को सांख्य योग को पुन: प्रतिष्ठित करने का सुयश प्राप्त है। योग दर्शन व्यास-भाष्य पर 'योग वार्तिक' और सांख्य योग के आधार पर ब्रह्म सूत्र पर 'विज्ञानामृत' भाष्य अति उत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'सांख्य सार' तथा 'योग सार' में इन दर्शनों के सिद्धान्तों को संक्षिप्त और सरल ढंग से प्रतिपादन किया है।

अतः इन सूत्रों को भी प्राचीन और प्रामाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती—हाँ इनको कपिल मुनि प्रणीत कहना उचित नहीं हो सकता। कपिल मुनि के बनाये हुये सूत्र 'तत्त्व समास' ही हो सकते हैं।

(६) श्वेताश्वेतर उपनिषद् और श्रीमद् भगवद्गीता भी सांख्य और योग के ही ग्रन्थ हैं। श्वेताश्वेतर में उसके आभ्यन्तर रूप और गीता में उसके आभ्यन्तर रूप और सिद्धान्तों के अतिरिक्त कार्य क्षेत्र में व्यवहारिक रूप को विशेषता के साथ दर्शाया है। गीता में योग और सांख्य इन ही दो निष्ठाओं का विशेष रूप से वर्णन है। योग की निष्ठा में गुणों का किसी न किसी अंश में सम्बन्ध रहता है। सांख्य की निष्ठा तीनों गुणों के सर्वथा परित्याग पूर्वक होती

'अनिरुद्ध वृति' का भाषानुवाद लगभग समाप्त होगया है, इस पुस्तक के पश्चात् उसके प्रकाशन का प्रबन्ध किया जायेगा।

है। यथा निष्काम कर्म योग में योग निष्ठा में सारे कर्मों और उनके फलों को ईश्वर (जो त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध से ब्रह्म की संज्ञा है) के समर्पण करके फलों की वासनाओं से मुक्त कराया जाता है, और सांख्य निष्ठा में "तीनों गुण ही ग्रहण और ग्राह्य रूप से वर्त रहे हैं आत्मा अकर्त्ता है"। इस भावना से कर्तापने का अभिमान हटाया जाता है। तथा योग निष्ठा में अन्यादेश से और सांख्य निष्ठा में अहंकारादेश तथा आत्मादेश से ब्रह्म का निर्देश किया जाता है इत्यादि।

श्रीमद् भागवत के तीसरे स्कन्ध में जो भगवान कपिल ने अपनी माता को उपदेश दिया है वह भी सांख्य की उच्चकोटि की शिक्षा है।

कपिल मुनि प्रणीत तत्त्व समास (प्राचीन सांख्य दर्शन) की व्याख्या।

अथातस्तत्त्वसमासः ॥ १ ॥

अर्थ—अब (दुःखों की निवृत्ति का साधन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है) इसलिये तत्त्वों को संक्षेप से वर्णन करते हैं।

व्याख्या—संसार में प्रत्येक प्राणी की यह प्रबल इच्छा पाई जाति है कि "मैं सुखी होऊं, दुःखी कभी न होऊं"। किन्तु सुख की प्राप्ति बिना दुःख की निवृत्ति के असम्भव है, क्योंकि दुःख की निवृत्ति का नाम ही सुख हैं। इसलिये सुख के अभिलाषियों को दुःख की जड़ काट देना चाहिये। दुःख की जड़ अज्ञान है। जितना अधिक अज्ञान होगा, उतना ही अधिक दुःख होगा। जितना कम अज्ञान होगा, उतना ही कम दुःख होगा। ज्ञान और अज्ञान तत्त्वों के सम्बन्ध से है। जिस तत्त्व का अज्ञान होगा, उसी से दुःख होगा। जिस तत्त्व का जितना यथार्थ ज्ञान होता जावेगा उस से उतनी ही दुःख निवृत्ति रूप सुख की प्राप्ति होती जावेगी। जब सारे तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हो जावेगा तो सारे तत्त्वों से अभय रूप सुख का लाभ होगा। इसलिये सारे तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान ही सारे दुःखों की जड़ का काटना है। अतः सारे तत्त्वों का संक्षेप से विचार आरम्भ किया जाता है।

जड़ तत्त्व

संगतिः—दुःख निवृत्ति की इच्छा और प्रयत्न करने वाले का दुःख स्वाभाविक धर्म नहीं होसकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह उसकी निवृत्ति का यत्न ही नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि दुःख निवृत्ति की इच्छा करने वाले से भिन्न उससे विपरीत धर्म वाला कोई दूसरा तत्त्व हैं, जिसका स्वाभाविक धर्म दुःख और जड़ता है। यदि यह कहा जाय कि दुःख निवृत्ति की इच्छा और प्रयत्न करने वाला ही एक अकेला चेतन तत्त्व है। उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। दुःख की प्रतीति अविद्या, अज्ञान, भ्रम, अथवा माया से होती है तो ये अविद्या, अज्ञान, भ्रम, और माया भी स्वयं किसी भिन्न तत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं जिसके ये स्वाभाविक धर्म है।

यदि यह कहा जाय कि यह चेतन तत्त्व से अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, तो यह स्वाभाविक धर्म होने से दुःख की कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकेगी। और उसके लिये किसी भी प्रकार

का यत्न करना व्यर्थ होगा। यदि ऐसा माना जाय कि उस चेतन तत्त्व को ठीक २ न जानने से यह भ्रम इत्यादि हो रहा है। यथार्थ रूप जानने से सब भ्रम और दुःखों की निवृत्ति हो जाती है, तो इससे भी किसी भिन्न तत्त्व की सिद्धि होती है। क्योंकि जानना किसी दूसरी वस्तु का होता है। सब के जानने वाले को किस से जाना जा सकता है।

यथा 'विज्ञातारंरे केन विजानीयात्'।

इससे सिद्ध होता है कि चेतन तत्त्व से भिन्न एक जड़ तत्त्व है। उसका यथार्थ रूप समझाने के लिये अगले दो सूत्रों में उसको २४ अवान्तर भेदों में विभक्त करके दिखलाते हैं।

अष्टौ प्रकृतयः ॥ २ ॥ षोडश विकाराः ॥ ३ ॥

अर्थ—(जड़ तत्त्व के प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति हैं, उनमें से) आठ प्रकृतियाँ हैं—प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्रायें अर्थात् शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गंध तन्मात्रा; और सोलह विकृतियाँ हैं—पाँच स्थूल भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, और ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, और ग्यारहवाँ मन।

व्याख्या—जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको प्रकृति कहते हैं, अर्थात् जो किसी नये तत्त्व का उपादान कारण हो। और जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसको विकृति—विकार अर्थात् कार्य कहते हैं। जड़ तत्त्व के चौबीस विभागों में से जो आठ प्रकृतियाँ बतलाई हैं उनमें से प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति ही एक केवल प्रकृति है, अन्य सात तो प्रकृति और विकृति दोनों हैं। अर्थात् महत्तत्व (चित्त) प्रधान (मूल प्रकृति) की विकृति) और अहंकार की प्रकृति है। अहंकार महत्तत्त्व की विकृति और पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों की प्रकृति है। पाँच तन्मात्राएं अहंकार की विकृति और पाँच स्थूल-भूतों की प्रकृति हैं। ग्यारह इन्द्रियें अहंकार की विकृतियें हैं। इनके आगे नया कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसलिये ये स्वयं किसी की प्रकृति नहीं। अतः ये केवल विकृतियें हैं। इसी प्रकार पाँच स्थूल भूत पाँच तन्मात्राओं की विकृतियें हैं। इनमें आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसलिए ये स्वयं किसी की प्रकृतियें नहीं हैं। अतः ये केवल विकृतियें हैं। यह चौबीसों भेद वास्तव में एक जड़ तत्त्व "प्रधान" अर्थात् मूलप्रकृति ही के हैं जो सक्रिय और चेतना-रहित है।

जड़ तत्त्व के इन २४ भेदों को साक्षात् कराने के पश्चात् ही भगवान् कपिल ने इन दोनों सूत्रों का जिज्ञासु आसुरि को उपदेश किया है। जिससे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसे प्रकृति और जिससे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसे विकृति कहते हैं। विकृतिरूप से अव्यापि और व्यक्त अर्थात् प्रगट होती है उससे उसकी प्रकृति अनुमानगम्य होती है जो उसमें व्यापि होने से उसकी अपेक्षा विभु होती है और उसमें अव्यक्त होने के कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्म होती है।

ग्यारह इन्द्रियां और पांच स्थूल भूत अव्यापी और व्यक्त (प्रगट-प्रत्यक्ष) हैं। इनसे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता इसलिये ये केवल विकृति हैं। इनकी प्रकृति अनुमान गम्य है जो इनमें व्यापि और अव्यक्त (अप्रगट) है। स्थूल शरीर से अन्तर्मुख होने पर ध्यान की पहिली परिपक्व अवस्था में दिव्य निर्मलशब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का साक्षात्कार होता है। यही पांचो तन्मात्राएं पांचों स्थूल भूतों की प्रकृति हैं। किन्तु व्यक्त (प्रगट) हो जाने से ये प्रकृति नहीं रहीं विकृति हो गई। इसलिये इनकी अव्यक्त प्रकृति अनुमानगम्य माननी पड़ेगी। इन तन्मात्राओं से भी अन्तर्मुख होने पर ध्यान की परिपक्व अवस्था में केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रह जाती है। ये ग्यारह इन्द्रियों और पांचों तन्मात्राओं की प्रकृति 'अहंकार' का साक्षात्कार है; किन्तु अबव्यक्त (प्रगट) हो जाने से यह विकृतिरूप हो गई, इसलिये इसकी अव्यक्त प्रकृति भी अनुमानगम्य माननी पड़ेगी। इस अहं वृत्ति से भी अन्तर्मुख होने पर अहंकार से रहित केवल 'अस्मिता वृत्ति' रह जाती है। यह 'महतत्त्व' अहंकार की प्रकृति है किन्तु अब वह महत्तत्त्व भी व्यक्त होने से प्रकृति न रहा विकृति हो गया इसलिये इसकी भी कोई प्रकृति अनुमानगम्य माननी पड़ती है। इससे आगे किसी नये जड़तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता, केवल चेतन तत्त्व रह जाता है। इसलिये यह अनुमान गम्य प्रकृति ही अव्यक्त प्रधान अथवा मूल प्रकृति है। इस प्रकार कपिल मुनि के बतलाये हुए जड़तत्त्व के ये चौबीसों अवान्तर भेद केवल बुद्धि अथवा तर्क की उपज नहीं हैं किन्तु अनुभव सिद्ध हैं।

संगति—उपरोक्त रीति से जड़तत्त्व के अवान्तर भेदों का अनुभव करने के पश्चात जो चेतन तत्त्व शेष रह जाता है उसका वर्णन अगले चौथे सूत्र में करते हैं। उसके दो भेद हैं। एक जड़ तत्त्व से मिला हुआ अर्थात् मिश्रित = शबल = अपर = सगुणस्वरूप, दूसरा शुद्ध = पर = निर्गुण स्वरूप। मिश्रित के भी दो भेद हैं।

एक व्यष्टि रूप से अनन्त शरीरों (पिण्डों) के सम्बन्ध से, दूसरा समष्टिरूप से सारे ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध से। इन तीनों भेदों का वर्णन एक पुरुषशब्द से अगले सूत्र में करते हैं।

चेतन तत्त्व = पुरुष

पुरुषः ॥४॥

पुरुष के अर्थों का स्पष्टीकरण—पचीसवां चेतन तत्त्व पुरुष है जो तीन अर्थों का बाधक है।*

* कई एक टीकाकारों ने पुरुष शब्द के अर्थ (१) जीव (२) हिरण्यगर्भ अर्थात् ईश्वर, अपरब्रह्म और (३) परमात्मा अर्थात् परब्रह्म तो किये हैं किन्तु पहिले अर्थ जीव के अतिरिक्त अन्य दोनो अर्थों को विशेष रूप से नहीं खोला है, बल्कि उनको किञ्चित अस्पष्ट और दूषितरूप में दिखलाया है। अर्थात् "जन्म मरण करणानां,—प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च। पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्य याच्चैव" ॥ (सां० का १८) तथा "जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्"। (सां० द० १। १४९) के अनुसार व्यष्टि अन्तः करणों के धर्मों अथवा स्थूल सूक्ष्म और कारण

(१) चेतन तत्त्व व्यष्टि (पिण्ड) शरीरों से मिश्रित यथा—

स य एषो ऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतोहिरण्मयः ॥

अर्थः—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें यह पुरुष है जो मन का मालिक अमृत और ज्योतिर्मय है। अन्तःकरणों के अनन्त और परिच्छिन्न होने से यह पुरुष अनन्त और परिच्छिन्न कहलाते हैं। और परिच्छिन्नता के कारण अल्पज्ञ हैं। इनकी संज्ञा जीव भी है। इनकी अपेक्षा से चेतन तत्त्व आत्मा कहलाता है।

(२) चेतन तत्त्व (ब्रह्माण्ड) समष्टि जगत् से मिश्रित यथा—

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्र पात् ।
सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (श्वेता ३।१४)

अर्थ—वह पुरुष हजारों सिर हजारों नेत्र और हजारों पाँवों वाला है। वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर कर भी दस अंगुल परे खड़ा है। समष्टि अन्तःकरण के एक और विभु होने से वह एक और सर्वव्यापक है। और सर्वव्यापकता के कारण सर्वज्ञ है। इस की संज्ञा ईश्वर = पुरुष विशेष = सगुण ब्रह्म = अपरब्रह्म, और शबल ब्रह्म है। इसकी अपेक्षा से चेतन तत्त्व परमात्मा कहलाता है।

शरीरों की क्रियाओं के भेद से इन व्यष्टि अन्तःकरणों अथवा व्यष्टि शरीरों की अपेक्षा से जीव अर्थ पुरुष में बहुत्व दिखलाया है और (२) समष्टि अन्तःकरणों की अपेक्षा से समष्टि रूपेण ईश्वर अर्थ पुरुष में एकत्व इस प्रकार दिखलाया है—जैसे वृक्षों के समूह की वन-रूप एक संज्ञा होती है और (३) पर ब्रह्म के शुद्ध निर्विशेष स्वरूप पुरुष अर्थ में आत्माओं के अन्तःकरणों अथवा स्थूल, सूक्ष्म, और कारण शरीर से परे केवली अवस्था में एक जाति के सदृश एकत्व दिखलाया है। यथा —

"एकमेव यथा सूत्रं सुवर्णे वर्त्तते पुनः ।
मुक्तामणि प्रवाहेषु मृण्मये रजते तथा" ॥
"तद्वत् पशु मनुष्येषु तद्वदस्ति मृणादिषु ।
एकोऽयमात्मा विज्ञेयः सर्वत्रैव व्यवस्थितः" ॥
"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्" ॥
"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्
अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्" ॥
"उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयात्मा" ॥
"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च" ॥

वास्तव में ईश्वर के अर्थ में पुरुष का स्वरूप इस प्रकार है कि व्यष्टि सत्त्व चित्तों में सत्त्व की विशुद्धता, सर्वज्ञता का बीज, तथा ज्ञान, धर्म, वैराग्य, और ऐश्वर्यादि सातिशय हैं। जहाँ पर ये पराकाष्ठा को पहुंच कर निरतिशयता को प्राप्त होते हैं वह विशुद्ध सत्त्व मय चित्त समष्टि चित्त

(३) शुद्ध चेतन तत्त्व जड़तत्त्व से निखरा हुआ केवल शुद्धज्ञान स्वरूप है। यथा—

एतावानस्यमहिमातोज्यायाँश्चपूरुषः ।
पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ (ऋग १०।९०।३)

अर्थः—यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है। पुरुष (परमात्म = शुद्धचेतन तत्त्व) इससे कहीं बड़ा है। सारे भूत इसका एकपाद हैं। उसके तीन पाद अमृत स्वरूप अपने प्रकाश में हैं। इसकी संज्ञा शुद्ध ब्रह्म = निर्गुण ब्रह्म = परब्रह्म, और परमात्मा है। यह जड़तत्त्व की सारी उपाधियों समष्टि, व्यष्टि, एकत्व, बहुत्व, इत्यादि से परे केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप है जिसका वर्णन दूसरे प्रकरण में किया गया है।

व्यष्टि अन्तःकरणों के समष्टि अन्तःकरण के साथ सम्बन्धित होने से जीव ईश्वर का ही अंश है। रूप भिन्न २ स्थानों में बतलाया गया है यथा:—

यश्चिन्मात्र रसोऽपि नित्यविमलोपाधेगुणै रीश्वरोहेयैः क्लेशमुखैर्गुणैर्विरहितो-
मुक्तः सदा निर्गुणः ।
सोऽस्मान् बुद्धि गुणैः स्वयं निगडितान् स्वंशान् कृपासागरो दीनान्मोचयतु
प्रभु गणमयं पाशं दहन्लीलया ॥ (योगवार्त्तिक पा० १ स १)

है। इसकी अपेक्षा से चेतनतत्त्व की संज्ञा ईश्वर, शबल ब्रह्म और अपर ब्रह्म है। इसमें एकत्व है। यहां वृक्ष का उदाहरण ठीक नहीं है। आकाश का उदाहरण उपयुक्त है। और व्यष्टि पिण्डों अथवा चित्तों और समष्टि ब्रह्माण्ड अथवा विशुद्ध सत्त्वमय चित्त से परे जो चेतन तत्त्व का अपना शुद्ध केवली स्वरूप है ऐसे अर्थ वाले पुरुष की संज्ञा परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म तथा पर ब्रह्म है।

सांख्य में आत्मा के शुद्ध स्वरूप को सर्व व्यापक, निर्गुण, गुणातीत, निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिणामी कूटस्थ नित्य माना है। जो सांख्य ग्रंथों के इन टीकाकारों को भी अभिमत है। इसके अनुसार आत्मा में जाति नहीं रह सकती, क्योंकि जो विभु है उसमें जाति नहीं रहती जैसे आकाश। इसके अतिरिक्त एक जाति में जो व्यक्तियें होती हैं उन व्यक्तियों में परस्पर भेद अथवा विलक्षणता के निमित्त कारण रूप, अवयवों की बनावट, गुण, कर्म, देश, काल, दिशा आदि होते हैं। उपर्युक्त बतलाये हुये आत्मा के लक्षण में इनमें से किसी भी निमित्त की सम्भावना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जब त्रिगुणात्मक जल, अग्नि, वायु आदि के शुद्ध ज्ञान स्वरूप में एकत्व है तो गुणातीत आत्मा के शुद्ध ज्ञान स्वरूप में बहुत्व कैसे सम्भव हो सकता है? कपिल जैसे आदि विद्वान् और सांख्य जैसी विशाल प्राचीन फिलास्फ़ी के साथ पुरुष अर्थ, ईश्वर और पुरुष अर्थ, पर ब्रह्म के इस प्रकार के लक्षण का कोई मेल नहीं बैठ सकता। बहुत सम्भव है कि नवीन वेदान्तियों के कटाक्ष के विरोध में नवीन सांख्य वादियों ने भी अद्वैत के खण्डन और द्वैत के समर्थन में इस प्रकार की युक्तियों को प्रयोग करने में कोई दोष न समझा हो। फिर भी प्राचीन सांख्य और इन नवीन सांख्य वादियों में आत्मा का शुद्ध केवली स्वरूप एक ही प्रकार का है। ध्येय वस्तु के स्वरूप, अथवा लक्षण में कोई भेद नहीं है, केवल कहने मात्र एकत्व और बहुत्व में भेद है। जाति से अभिप्राय सत्ता मात्र ज्ञान स्वरूप मानने में कोई दोष नहीं आता है। तत्त्व समास की व्याख्या के पश्चात् इसी प्रकरण में इस विषय पर अधिक प्रकाश डाला जावेगा।

अर्थः—जो चिन्मात्र रस होकर भी नित्य विमल उपाधि के गुणों से ईश्वर है, जो ईशप्रमुख हए गुणों से रहित, सदा मुक्त और निर्गुण है वह कृपासागर प्रभु, स्वयं बुद्धि गुणों से बन्धे हुये अपने अंश हम दोनों की लीला के तौर पर गुणमय फन्दों को जलाते हुये मुक्त करे। तथा—"ईश्वर अंश जीवअविनाशी"। इसलिये यद्यपि पूर्ण अंश में जीव ईश्वर नहीं हो सकता किन्तु उसकी उपासना द्वारा (जिन गुणों द्वारा उसकी उपासना की जावे) उसके तद्रूप होकर उसके अनन्तज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य, वैराग्य इत्यादि गुणों का ब्रह्मलोक में उपभोग करता है। इस अवस्था के लिये भी वैकृतिक बन्ध अर्थात् मनुष्य लोक के बन्धनों की अपेक्षा से मुक्ति का शब्द प्रयोग किया गया है। इस मुक्ति की अवस्था में जीव संकल्पमय होता है। यथा—

शृण्वन्श्रोत्रं भवति .... ऽहङ्कारोभवति" (शतपथ कां० १४।७।२।१७)

"स यदि पितृलोक कामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ....

तेन सम्पन्नो महीयते" ॥ (छान्दोग्य० ८।२।१ से १० तक)

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥८॥ "अतएवचानन्याधिपतिः ॥९॥ (ब्रह्मसूत्र४।४)

इसका अनुभव विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था में होता है। आत्मा और परमात्मा में अभिन्नता है। दोनों शुद्धज्ञान स्वरूप चेतनतत्त्व के सूचक हैं। आत्मापिण्ड की अपेक्षा से और परमात्मा ब्रह्माण्ड की। असम्प्रज्ञात समाधि में सर्व वृत्तियों का निरोध इस दूसरे प्रकार की मुक्ति का अनुभव है। असम्प्रज्ञातसमाधि में सर्व वृत्तियों के निरोध होने से शुद्धचेतन स्वरूप में अवस्थिति होती है; किन्तु चित्त में संस्कार शेष रहने के कारण पुनः व्युत्थान अवस्था में आना होता है। चित्त में संस्कार शेष की निवृत्ति पर चित्त के अपने कारण में लीन हो जाने पर जो पुनः व्युत्थान में न आने वाली शुद्धचेतन-स्वरूप में अवस्थिति है वही दूसरा सर्वोत्तममुक्ति है। यथा:—

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्चसर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वएकी भवन्ति ॥७॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥ (मुण्डक ३।२)

उनकी पन्द्रह कलाएँ अपने अपने कारणों में चली जाती हैं। और उनकी सारी इन्द्रियां अपने सदृश देवताओं में चली जाती है। उनके कर्म और विज्ञानमय आत्मा सब उस परले अव्यय ब्रह्म में एक हो जाते हैं। जिस प्रकार बहती हुई नदियां समुद्र में अस्त हो जाती हैं और अपना नाम और रूप खो देती हैं इसी प्रकार शुद्धनिर्गुण ब्रह्म का जानने वाला नामरूप से अलग होकर परे से परे जो दिव्य पुरुष है उसको प्राप्त होता है।

योऽकामो निष्काम आत्मकामआप्तकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव-सन् ब्रह्माप्येति ॥ (बृह० ४।४।६)

अर्थः—जो कामनाओं से रहित है जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गई हैं, या जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण नहीं निकलते है। वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुँचता है। इस प्रकार की मुक्ति ही सांख्य और योग का कैवल्य है। ब्रह्म के शबल स्वरूप की उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है। शुद्धचेतनतत्त्व में कारणशरीर तथा कारण जगत् परे रह जाता है। यहां न द्वैत रह जाता है न अद्वैत। यथाः—

अद्वैतंकेचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

अर्थ—कोई २ अद्वैत की इच्छा करते हैं और कोई द्वैत की। ये दोनों मेरे शुद्ध परमात्म तत्त्व को नहीं जानते। वह द्वैत अद्वैत दोनों से परे है। उसमें न द्वैत है न अद्वैत।

यहां पर यह भी बता देना आवश्यक है कि स्वरूप अवस्थिति में पहुँचकर चित्त से सारे संस्कारों के नाश कर लेने पर भी जो योगी सब प्राणियों के कल्याण का संकल्प अपने चित्त में बनाए रखते हैं, इनके चित्तों के बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं होते, किन्तु ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक शुद्ध स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में जिसमें वेदों का ज्ञान और सारे प्राणियों के कल्याण का संकल्पविद्यमान है (समान संकल्प होने से) लीन रहते हैं और वे असम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था के सदृश शुद्धचैतन्य परमात्म स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण में जब जब उनकी आवश्यकता होती है तब तब वे अपने शुद्ध स्वरूप से इस भौतिक जगत् में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दों में अवतार लेते हैं। यथा—

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

अर्थ—हे भारत! जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूं। (अपने शुद्ध स्वरूप से शबल स्वरूप में अवतरण करता हूँ अर्थात् भौतिक जगत् में अवतार लेता हूं)। सज्जनों की रक्षा के लिये और दूषित कार्य्य करने वाले मनुष्यों का संहार करने के लिये तथा धर्म स्थापन करने के लिये युग युग में प्रकट होता हूँ।

सांख्य और योग को कैवल्य जिसमें संसार का बीज मात्र भी न रहे अभिमत है। इसलिये उन्होंने पुरुष सं० १ अर्थात् जीवात्मा जो अनन्त अन्तःकरणों के सम्बन्ध से अनन्त है; जड़तत्त्व अर्थात् ज्ञान रहित सक्रिय त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष सं० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्व जो शुद्धचेतन निष्क्रिय ज्ञान स्वरूप है, इन तीनों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। सांख्य, पुरुष (सं० १) अर्थात् जीवों को जो संख्या में अनन्त है, ज्ञान

और संन्यास (त्याग) द्वारा जडतत्त्व अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति से पूर्णतया भिन्न करके पुरुष सं० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्व तक ले जाता है। इसलिये उसमें पुरुष सं० १ अर्थात् जीवों को बहुत्व (अनन्त संख्यावाला) और पुरुष स० ३ अर्थात् परमात्म तत्त्व को क्रिया रहित शुद्धज्ञान स्वरूप के विशेषण के साथ वर्णन किया गया है।

योग पुरुष सं० १ अर्थात् जीवों को पुरुष सं० २ अर्थात् पुरुष विशेष = ईश्वर प्रणिधान द्वारा पुरुष सं० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्व तक पहुँचाता है। इसलिये उसमें पुरुष सं० २ अर्थात् ईश्वर की जडतत्त्व के साथ महिमा को विशेष रूप से दर्शाया है।

व्याख्या—इस चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप जड तत्त्व से सर्वथा विलक्षण है, अर्थात् ज्ञान स्वरूप और निष्क्रिय है। चुम्बक और लोहे के सदृश इस चेतन तत्त्व की सन्निधि से ही जड तत्त्व में ज्ञान, नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया हो रही है। इस चेतन तत्त्व की सन्निधि के कारण पूर्वोक्त जड तत्त्व में एक प्रकार का क्षोभ हो रहा है जिससे प्रधान में महत्तत्त्व, महत्तत्त्व में अहंकार, अहंकार में तन्मात्राओं और इन्द्रियों का, और तन्मात्राओं में सूक्ष्म भूतों से लेकर पाँचों स्थूल भूतों तक का परिणाम हो रहा है।

इसी आशय को उपनिषद् में दूसरे शब्दों में बतलाया है।

यस्तन्तुनाभइव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधात् ब्रह्माव्ययम् ॥ (श्वेता ६।१०)

अर्थ—वह एक अखण्ड परमेश्वर जो मकड़ी के सदृश प्रधान (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होने वाले तन्तुओं (कार्यों) से अपने आपको स्वभावतः आच्छादित कर लेता है वह हमें ब्रह्म में लय (समाधि = स्वरूप में) स्थिति देवे।

चेतन तत्त्व में जड़ तत्त्व जैसा कोई परिणाम तथा अवान्तर भेद नहीं है। अतः शुद्ध चेतन तत्त्व देश, काल, जाति तथा संख्या की सीमा से भी परे है। जड तत्त्व की उपाधि से उसमें संख्या का आरोप कर लिया जाता है। इसलिये विकल्प से पुरुष में बहुत्व कहा जाता है। अर्थात् व्यष्टि चित्तों में प्रतिबिम्बित चेतन में, चित्त के अन्य धर्मों के समान बहुत्व (संख्या) को भी आरोप कर लिया जाता है, और स्वरूप अवस्थिति अथवा कैवल्य की अवस्था में चित्त के अन्य सब धर्मों के अभाव के साथ बहुत्व (संख्या) की भी निवृत्ति हो जाती है। चेतन से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व में जब समष्टि अहंकार बीज रूप से छिपा हुआ हो तो उसको समष्टि अस्मिता कहते हैं। उसमें समष्टि अहम्त्व की वृत्ति (मैं हूं) समष्टि अहंकार है। इस समष्टि अहंकार का क्षोभ रूप परिणाम पाँच तन्मात्रायें अर्थात् किसी दूसरे तत्व से न मिला हुआ शब्द-द्रव्य, स्पर्श-द्रव्य, रूप द्रव्य, रस-द्रव्य और गंध-द्रव्य हैं।

इसी प्रकार अहंकार से ही ग्यारह इन्द्रियें उत्पन्न होती हैं अर्थात् जब "मैं हूं" की वृत्ति का उत्पादक सामान्य द्रव्य उत्पन्न हुआ तो "वही मैं देखता हूं" "वही मैं सुनता हूं" इत्यादि विशेष वृत्ति के उत्पादक विशेष द्रव्य में परिणत हुआ। उपरोक्त महत्तत्त्व (समष्टि

चित्त) में प्रतिबिम्बित चेतन, हिरण्यगर्भ पुरुष का वर्णन हुआ। इसी प्रकार व्यष्टि चित्तों में प्रतिबिम्बित चेतन, अन्य पुरुषों (जीवों) को समझ लेना चाहिए।

अहंकार में विशुद्ध तत्त्व को समष्टि अहंकार और रजस् तथा तमस् से मिश्रित सत्व को व्यष्टि अहंकार समझना चाहिए। अतः समष्टि चित्त विशुद्ध सत्वमय चित्त और व्यष्टि चित्त केवल सत्त्वचित्त कहलाते हैं। चित्तों में समष्टि, व्यष्टि और अनेकत्व अहंकार की अपेक्षा से समझना चाहिये। (विशुद्ध सत्त्वमय चित्त का विस्तार पूर्वक वर्णन समाधिपाद के चौबीसवें सूत्र की व्याख्या में दिया है)।

तन्मात्राओं के मेल से स्थूल भूत (महाभूत) उत्पन्न होते हैं। शब्द-तन्मात्रा के साथ किञ्चित दूसरे तन्मात्राओं के मेल से शब्द गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्रा की अधिकता से स्पर्श गुणवाला वायु, रूप तन्मात्रा की अधिकता से रूप गुणवाला अग्नि, रस-तन्मात्रा की अधिकता से रस गुणवाला जल, और गंध-तनमात्रा की अधिकता से गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।

तन्मात्राओं और स्थूल भूतों के बीच में एक अवस्था सूक्ष्मभूतों की है जिनकी सूक्ष्मता का तारतम्य स्थूलभूतों से लेकर तन्मात्राओं तक चला गया है।

इन पांचों स्थूल भूतों से आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, धातु, दूध, दही आदि सब इन्हीं के रूपान्तर हैं। इसलिये ये निरे विकार अर्थात् विकृति हैं।

जड़ तत्व में सब प्रकार के परिणामों का निमित्त कारण पुरुष है और इन सारे परिणामों का प्रयोजन भी पुरुष का भोग और अपवर्ग ही है। चेतन तत्व, जड़तत्त्व, जड़तत्त्व की चेतन तत्त्व से सन्निधि, उस सन्निधि से क्षोभ को प्राप्त होते हुए जड़तत्त्व का चौबीस तत्त्वों में विभक्त होना तथा पुरुष का प्रयोजन, भोग और अपवर्ग—ये सब अनादि अर्थात् काल की सीमा से परे हैं।

संगति शंका जैसे अव्यक्त प्रधान, व्यक्त महत्तत्त्वादि का उपादान कारण हो सकता है वैसे ही ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व का उपादान कारण हो सकता है। इस लिये जड़ तत्त्व का चेतन तत्त्व, से पृथक मानना ठीक नहीं।

समाधानः—जड़ तत्त्व प्रधान अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्व रजस् और तमस् इन तीन गुणों की न्यूनाधिकता से विषमता को प्राप्त होती हुई यह चौबीस अवान्तर भेदों में विभक्त हो रही है किन्तु चेतन तत्त्व निर्गुण शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, जिस में न कोई विषमता हो सकती है न परिणाम।

शंका:—उसकी त्रिगुणात्मक माया से जगत् की उत्पत्ति हो सकती है।

समाधानः—यह केवल शब्दों का अदल बदल है अर्थात् ऐसा मानने में प्रकृति के स्थान में माया शुद्ध चेतन तत्त्व से भिन्न जगत् का उपादान कारण ठहरेगी। यदि माया को शुद्ध चेतन तत्त्व (निर्गुण निराकार शुद्ध ब्रह्म) से अभिन्न उसकी ही एक अनिर्वचनीय शक्ति मान ली जावे तो परब्रह्म में द्वैत की सिद्धि होगी और यह द्वैत उस का स्वाभाविक गुण

होने से किसी प्रकार भी पृथक नहीं हो सकेगा और द्वैत परक महा वाक्य तथा वेद शास्त्र सब व्यर्थ हो जावेंगे। इसलिये तीन गुणों को, जिनके विषमता के कारण प्रधान मूल प्रकृति चौबीस अवान्तर भेदों में विभक्त हो रही है, अगले सूत्र में वर्णन करते हैं।

प्रकृति के तीन गुण

त्रैगुण्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ—(चौबीसों जडतत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस्) तीन गुण वाले हैं।

व्याख्या—सत्त्व का स्वभाव प्रकाश, रजस् का क्रिया, और तमस् का स्थिति है। ये तीनों स्वभाव प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं। जो वस्तु स्थिर है उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है और वेगवाली क्रिया के पीछे उसमें प्रकाश प्रकट हो जाता है। जो प्रकाश वाली है वह समयान्तर में प्रकाशहीन हो जाती है और अन्त में क्रियाहीन भी हो जाती है। जब एक वस्तु स्थिर होती है तो उसमें तमस् प्रधान होता है, रजस् और सत्त्व गौण रूप से रहते हैं और अपने समय पर उसमें प्रकट हो जाते हैं। जब वह वस्तु क्रियावाली होती है तो उसमें रजस् प्रधान होता है, सत्त्व और तमस् गौण होते हैं। फिर वही वस्तु जब प्रकाश वाली हो जाती है तो उसमें सत्त्व प्रधान हो जाता है, रजस् और तमस् गौण। इस प्रकार सब वस्तुओं में तीनों गुण प्रधान या गौण रूप से विद्यमान रहते हैं। पुरुष से अतिरिक्त जो कुछ भी है यह सब त्रिगुणात्मक ही है।

किन्तु ये सब तीनों गुणों के विकृत रूप ही हैं

यथा:—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

(वार्षगण्याचार्य षष्ठीतन्त्र)

अर्थः—गुणों का असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम दृष्टि गोचर नहीं होता, जो (विषम परिणाम) दृष्टि गोचर होता है वह माया जैसा है और विनाशी है।

गुणों का परिणाम—गुण परिणाम शील हैं। परिणाम सांख्य का पारिभाषिक शब्द है। परिणाम के अर्थ हैं तबदीली अर्थात् पहिले धर्म को छोड़ कर किसी दूसरे धर्म को ग्रहण करना। परिणाम दो प्रकार का होता है एक साम्य अर्थात् स्वरूप परिणाम जैसे दूध में दूध के निर्विकार बने रहने की अवस्था में होता है। दूसरा विषम अर्थात् विरूप परिणाम, जैसे दूध में एक निश्चित् समय के पश्चात् खटास आदि विकार के आने से होता है। विषम अर्थात् विरूप परिणाम का ही प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्ष से साम्य परिणाम का अनुमान किया जाता है। तीनों गुणों का साम्य परिणाम ही अनुमानगम्य अव्यक्त अर्थात् प्रधान मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है।

गुणों का प्रथम विषम परिणाम महत्तत्व—चेतन तत्त्व से इस मूल प्रकृति में एक प्रकार का क्षोभ होकर सत्त्व में क्रियामात्र रज का और उस क्रिया को रोकने मात्र तमका

प्रथम विषम परिणाम हो रहा है जो महत्तत्त्व (समष्टि रूप में एक विशुद्ध सत्त्व मय-चित्त और व्यष्टि रूप में अनन्त सत्त्व-चित्त) है। जिसमें कर्त्तापने का अहंकार बीज रूप से छिपा हुआ है। महत्तत्त्व में निर्मल सत्त्व के ज्ञान के प्रकाश को ग्रहण करने की अनादि योग्यता है और चेतन तत्त्व में महत्तत्त्व में अपने ज्ञान के प्रकाश को डालने की अनादि योग्यता है। महत्तत्त्व के ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व से प्रकाशित होने को गीता में अति सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है:—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥ (९। १०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (१४ ३।)
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासाम् ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (१४। ४)

अर्थः—हे अर्जुन! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचर सहित सब जगत को रचती है इसी कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है। (९। १०)

हे अर्जुन मेरी योनि (गर्भ रखने का स्थान) महत्तत्त्व है उसी में मैं गर्भ रखता हूं (अपने ज्ञान का प्रकाश डालता हूं) और उसी (जड़ चेतन के संयोग) से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। (३। १४)

हे अर्जुन! सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं उन सब की योनि महत्तत्त्व है और उन में बीज को डालने वाला मैं चेतन तत्त्व पिता हूं। (४। १४)

इसी लिये हिरण्यगर्भ के लिये जो चेतन तत्त्व की महत्तत्त्व के सम्बन्ध से संज्ञा है वेदों में इस प्रकार कहा गया है

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्

अर्थः—हिरण्य गर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतों के एक पति थे। जिस प्रकार महत्तत्व ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व के ज्ञान के प्रकाश को ग्रहण कर रहा है उसको यथार्थ रूप से समझाने के लिये इस स्थूल जगत् में न तो कोई शब्द मिल सकता है और न कोई सर्वांश में ठीक २ घटने वाला उदाहरण, फिर भी इस को तीन प्रकार से बतलाया गया है। (१) जैसे वायु भुवनों में व्यापक है इसी प्रकार चेतन तत्त्व महत्तत्त्व में व्यापक हो रहा है
यथाः—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ (कठ० २।५।१०)

अर्थः—जिस प्रकार एक वायु तत्त्व सारे भुवनों में प्रविष्ट होकर रूप रूप में प्रतिरूप

(उन जैसा रूप वाला) हो रहा है इसी प्रकार एक आत्मा जो सब का अन्तरात्मा है रूप २ में प्रतिरूप होरहा है और अपने शुद्ध चेतन स्वरूप से बाहर भी है।

(२) जैसे सूर्य जलाशयों में प्रतिबिम्बित हो रहा है इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व महत्तत्त्व (विशुद्ध सत्वमय समष्टि चित्त तथा अनन्त व्यष्टि सत्वचित्तों) में प्रतिबिम्बित हो रहा है। यथाः—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥ (ब्रह्म बिन्दु उप० १२)

अर्थः एक ही भूतात्मा भूत भूत में विराजमान है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल में अनेक हो कर दीखता है इसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक रूप में (समष्टि विशुद्ध सत्त्व मय चित्त में एकत्व भाव से और व्यष्टि सत्त्व चित्तों में बहुत्व भाव से) प्रति रूप हो रहा है।

(३) जैसे चुम्बक पत्थर की सन्निधि से लोहे में क्रिया उत्पन्न होती है इसी प्रकार चेतन तत्व के ज्ञान से प्रकाशित होने के कारण महत्तत्त्व में ज्ञान नियम और व्यवस्था पूर्वक क्रिया होरही है। यथा.—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।

सत्ता मात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥ (सांख्य प्रवचन भाष्य १। ६७)

अर्थः—जैसे बिना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र से लोहा प्रवृत्त होता है वैसे ही सत्ता मात्र देव (परमात्मा) से जगत की उत्पत्ति आदि होती है। आभ्यान्तर दृष्टि रखने वाले तत्व वेत्ताओं के लिए ये तीनों एकार्थक और पर्य्यायवाचक शब्द हैं। चेतन तत्त्व के महत्तत्व में प्रतिबिम्बित होने और बीजरूप से छिपे हुये विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में समष्टि अहंकार के और सत्त्व चित्तों में व्यष्टि अहंकार के क्षोभ पाकर अहंभाव से प्रकट होने को उपनिषदों में अनेक प्रकार से वर्णन किया है। यथाः—

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत सतपस्तप्त्वा।

इदँसर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानु प्राविशत ॥

(तैत्तिरेय। ब्र० अनु० ६)

उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊं। मैं प्रजा वाला होऊं। उसने तप तपा। तप तपने से पीछे उस ने इस सब को रचा जो कुछ यह है। इस को रचकर वह इस में प्रविष्ट हुआ। यह स्पष्ट है कि अपने को अपने आप रचना और अपने में अपने आपको प्रवेश करना ये दोनों बातें असम्भव हैं क्योंकि ये दोनों क्रियायें कर्ता से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखती है। और यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है।

(२) महत्तत्व का विषम परिणाम अहंकारः—पुरुष (चेतन तत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्त्व में रजस् और तमस् की अधिकता से विकृत होकर अहंकार रूप से व्यक्त भाव में बहिर्मुख हो रहा है। इस अहंकार से ही कर्त्तापने का भाव आरंम्भ होता है यथाः—

अहंकारः कर्ता न पुरुषः ॥ (सांख्य ६ । ५४)

'कर्त्तापना अहंकार में है न कि पुरुष में'। महत्तत्व का विषम परिणाम अहंकार ही अंहभाव से एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि रूप सर्व प्रकार की भिन्नता उत्पन्न करने वाला है। विभाजक अहंकार ही से ग्रहण और ग्राह्य रूप दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं।

(३) अहंकार का विषम परिणाम ग्रहण रूप ग्यारह इन्द्रियें:—महत्तत्व से व्याप्य विभाजक अहंकारही सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली ग्रहण रूप पांच ज्ञानेन्द्रियों पांच कर्मेन्द्रियों और ग्यारहवें इनके नियन्ता मन के रूप से व्यक्त होकर वहिर्मुख होरहा है।

(४) अहंकार के विषम परिणाम ग्राह्य रूप पांच तन्मात्रायें:—महत्तत्त्व से व्याप्य विभाजक अहंकार ही सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली ग्राह्य रूप पांच तन्मात्राओं के रूप में व्यक्त भाव से वहिर्मुख होरहा है।

(५) तन्मात्राओं के विषम परिणाम ग्राह्यरूप पांच स्थूल भूत:—विभाजक अहंकार से व्याप्य पांचों तन्मात्रायें ही सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत हो कर परस्पर भेद वाले पांच स्थूल भूतों में व्यक्त भाव से वहिर्मुख हो रहीं हैं।

स्थूल भूत और तन्मात्राओं के बीच में एक अवस्था सूक्ष्म भूतों की है जिनकी सूक्ष्मता का तारतम्य स्थूल भूतों से लेकर तन्मात्राओं तक चला गया है।

इस प्रकार महत्तत्त्व की अपेक्षा अहंकार में, अहंकार की अपेक्षा पांचों तन्मात्राओं में, और ग्यारह इन्द्रियों में, और तन्मात्राओं की अपेक्षा स्थूल भूतों में क्रमशः रज तथा तम की मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्व की मात्रा कम होती जाती है। यहां तक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीर में रज तथा तम का ही व्यवहार चल रहा है सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही रह रहा है। यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि महत्तत्त्व में प्रतिबिंबित चेतन तत्व (आत्मा—परमात्मा) भी इन राजसी, तामसी आवरणों से ढका हुआ भौतिक शरीर तथा भौतिक जगत् में केवल झलक मात्र ही दिखाई देता है। इसलिये उपनिषदों में पुरुष का निवास स्थान चित्त में जिस का विशेष स्थान आनुमानिक अंगुष्ठ मात्र हृदय है, बतलाया गया है और सांख्य तथा योग द्वारा उस की प्राप्ति का उपाय स्थूल भूत, तन्मात्रायें, अहंकार और महत्तत्त्व से क्रमशः अंतर्मुख होते हुये स्वरूपावस्थित होना बतलाया है।

जिस प्रकार उत्तर मीमांसा के प्रथम चार सूत्र वेदान्त की चतुःसूत्री कहलाती है इसी प्रकार तत्त्व समास के "अष्टौ प्रकृतयः"। "षोडश विकाराः"। "पुरुषः"। "त्रैगुण्यम्" ये चार सूत्र सांख्य की चतुःसूत्री है, जिन का कपिल मुनि ने सारे ज्ञेय पदार्थों का जिज्ञासु आसुरि को समाधि अवस्था में अनुभव करा के उपदेश किया है।

संगति—तीनों गुणों का कार्य अगले सूत्र में बतलाते हैं।

सृष्टि और प्रलय

संचरः प्रतिसंचरः ॥ ६ ॥

अर्थ—सृष्टि और प्रलय (इन तीनों गुणों की अवस्था विशेष है) ।

व्याख्याः—ग्यारह इन्द्रियां और पाँच स्थूल भूत, इन सोलहो केवल-विकृतियों का, जो तीनों गुणों के केवल विकार हैं, रज पर तम के अधिक प्रभाव से वर्तमान स्थूल रूप को छोड़कर अपने कारण अहंकार, और पाँचो तन्मात्राओं में क्रम से लीन हो जाने का नाम प्रलय है। और अपने प्रकृतियों से, इनका तम पर रजके अधिक प्रभाव के कारण फिर विकृति रूप में प्रकट होने का नाम सृष्टि है। सृष्टि के पीछे प्रलय, प्रलय के पीछे सृष्टि—यह क्रम प्रवाह से अनादि चला आ रहा है। जिस प्रकार ठीक रात के १२ बजे से दिन आरम्भ होकर रात के १२ बजे समाप्त होती है, यद्यपि सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन और सूर्यास्त से सूर्योदय तक रात्रि कहने मे आती है, इसी प्रकार सृष्टि उन्मुख और प्रलय उन्मुख अवस्था परिणाम निरन्तर चलता रहता है, यद्यपि स्थूल भूतों में जब से व्यवहार चलाने की योग्यता का आविर्भाव होता है तब से प्रलय और जब इसका प्रादुर्भाव होता है तब से सृष्टि का आरम्भ होना कहा जाता है।

प्रलय में सातों प्रकृतियों का सुषुप्ति में अन्तर्मुख होने के सदृश, केवल वृत्तिरूप से ही लय होना बन सकता है, न कि स्वरूप से, क्योंकि अविद्यादि क्लेश, कर्मों के विपाक और वासनाओं के संस्कारों की निवृत्ति होने पर चित्त का स्वरूप से (अर्थात चित्त को बनाने वाले सत्व, रजस् और तमस का) अपने कारण में लीन होना तो केवल कैवल्यरूप मुक्ति ही में हो सकता है।

(ब्रह्म सूत्र मे भी अध्याय ४ पाद २ सूत्र १ से ५ तक इस बात को दर्शाया है। देखो शंकरभाष्य)

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि स्थूल भूतों की सूक्ष्मता के तारतम्य को लिये हुये तन्मात्राओं तक एक सूक्ष्मावस्था होती है जिसके अन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोकलोकान्तर हैं। प्रलय में केवल पृथिवी जल और अग्नि का स्वरूप से लय और सृष्टि में स्वरूप से उत्पन्न होना होता है। यथा —

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत ।
तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति ।
तदपोऽसृजत। तस्माद् यत्र क्व च
शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस
एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥
ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति।

ता अन्नमसृजन्त तस्माद् यत्रक्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं
भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥ (छान्दोग । ६ । २ ।

उसने ईक्षण किया मैं बहुत हो जाऊं प्रजावाला होऊं । उसने तेज को रचा। उस तेज ने ईक्षण किया मैं बहुत होऊं प्रजा वाला होऊं। उसने जल को रचा। इसलिये जहां कहीं पुरुष गर्म होता है और उसे पसीना आता है वहां तेज से ही जल उत्पन्न होते हैं। ३।

उस जल ने ईक्षण किया मैं बहुत होऊं, मैं प्रजा वाला होऊं । उसने पृथिवी को रचा। इस लिये जहाँ कहाँ वर्षा होती है वहीं बहुत अन्न अर्थात पार्थिव पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

न्याय और वैशेषिक भी यहीं से सृष्टि को आरम्भ करते हैं। श्री कृष्ण महाराज ने गीता अध्याय ८ में सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का क्रम इसी प्रकार बतलाया है। यथा—

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्र युग पर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युग सहस्रान्तां ते ऽहोरात्र विदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः-पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ब्रह्म लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ति स्वभाव वाले हैं । परन्तु हे कुन्ती पुत्र मुझको (परब्रह्मको) प्राप्त हो कर पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

ब्रह्म का जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युग तक अवधि वाला और रात्रि को भी हजार चौकड़ी युग तक अवधि वाली जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं। अर्थात जो अनित्य जानते हैं वे योगी जन काल के तत्त्व को जानने वाले है ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण दृश्य मात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल मे अव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस अव्यक्त मूल प्रकृति में ही लय होते हैं ॥ १८ ॥

हे अर्जु न वही यह भूत समुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृति के वश मे हुआ रात्रि के प्रवेशकाल में लय होता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उत्पन्न होता है।

संगति—अब सृष्टि के अवान्तर भेद बतलाते हैं।

सृष्टि के तीन भेद

अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ॥ ७ ॥

अर्थ—(सृष्टि के तीन आवान्तर भेद हैं) अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव।

(१) अध्यात्म—जो सीधे अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे बुद्धि अहंकार, मन, इन्द्रिय और शरीर।

(२) अधिभूत—जो अन्य प्राणियों की भिन्न २ सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे गौ, अश्व, पशु-पक्षी आदि।

(३) अधिदैव—जो दिव्य शक्तियों की सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे पृथ्वी, सूर्य आदि।

व्याख्या—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सृष्टि के सम्बन्ध से तीन ही प्रकार का सुख दुःख होता है : आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक सुख-दु.ख दो प्रकार का है : शारीरिक और मानसिक।

शरीर का बलवान्, फुर्तीला और स्वस्थ होना शारीरिक सुख है, शरीर का दुर्बल, अस्वस्थ और रोगी होना शारीरिक दुःख है। इसी प्रकार शुभ संकल्प, शांति, वैराग्य आदि मानसिक सुख है, ईर्ष्या, तृष्णा, शोक, राग, द्वेष आदि मानसिक दु.ख है।

आधिभौतिक सुख वह है जो दूसरे प्राणियों से मिलता है, जैसे गौ आदि से दूध घृत का, घोड़े आदि से सवारी का, और आधिभौतिक दुःख जैसे सर्प, बिच्छू आदि के काटने से होता है। आधिदैविक सुख प्रकाश, वृष्टि आदि से होता है, आधिदैविक दुःख अति वृष्टि और बिजली आदि के गिरने से होता है।

संगति—मोक्ष की उपयोगिनी अध्यात्म सृष्टि का अगले सूत्रों में सविस्तर वर्णन करते हैं।

पाँच वृत्तियाँ

पंचाभिबुद्धयः ॥ ८ ॥

अर्थ—बुद्धि की वृत्तियें पांच हैं।

व्याख्या—वृत्तियें पाँच प्रकार की हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्मृति।

प्रमाण यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। यह तीन प्रकार का है:—प्रत्यक्ष; अनुमान और आगम। विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते हैं, जो वस्तु के असली रूप में प्रतिष्ठित न हो;

भावागणेश आदि ने आठवें सूत्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं:—

अभिबुद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्त्तव्यता, क्रिया ये पांच अभिबुद्धि हैं। इनमें अभिबुद्धि अभिमुखी बुद्धि है अर्थात् यह अवश्य करना है इस रूप वाली बुद्धि का नाम अभिबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृत्ति अभिमान है। इच्छा ,चाह को कहते हैं। यह संकल्प मानसी वृत्ति है। कर्त्तव्यता, ज्ञानेन्द्रियों की शब्दादि विषयों में वृत्ति का नाम है। क्रिया वचन आदि लक्षण वाली कर्मेन्द्रियों की वृत्ति है।

जैसे रस्सी में सर्प और सीप में चांदी की भ्रांति। विकल्प, भेद में अभेद और अभेद में भेद वाले ज्ञान को कहते हैं; जैसे 'पानी से हाथ जल गया'—यहाँ अग्नि और पानी के भेद में अभेद का ज्ञान है; और 'काठ की पुतली'—यहाँ काठ और पुतली के अभेद में भेद का ज्ञान है। निद्रा अभाव की प्रतीति का आलम्बन करने वाली वृत्ति का नाम है। और स्मृति उन पाँचों वृत्तियों द्वारा अनुभूत ज्ञान का स्मरण होना है। इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन आगे स० पा० सू० ५ से ११ तक देखें)।

पांच ज्ञानेन्द्रियें

पंच स्रोतांसि ॥ ९ ॥

अर्थ—पाँच ज्ञान के स्रोत (ज्ञानेन्द्रिय—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा है)

व्याख्या—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा, ये पाँच ज्ञान के स्रोत हैं। ये ज्ञान के प्रवाह बुद्धि के लिये अंदर बहते रहते हैं। नेत्र रूप-ज्ञान का, श्रोत्र शब्द-ज्ञान का घ्राण गंध-ज्ञान का, रसना रस-ज्ञान का, त्वचा स्पर्श-ज्ञान का प्रवाह अन्दर बहाती है।

पांच प्राण

पंच वायवः ॥ १० ॥

अर्थ—पाँच वायु (प्राण) हैं।

व्याख्या—वायु पाँच हैं: प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान. इन पाँचों को प्राण भी कहते हैं।

प्राण-वायु का निवासस्थान हृदय है। यह शरीर के ऊपरी भाग में रहता हुआ ऊपर की इन्द्रियों का काम संचालन करता है। अपान-वायु का निवासस्थान गुदा के निकट है और शरीर के निचले भाग में संचार करता है, निचली इन्द्रियों मल-मूत्र के त्यागादि का काम उसके आश्रित है। समान-वायु शरीर के मध्य भाग नाभि में रहता

'सांख्य तत्त्व विवेचन' और 'तत्त्वयाथार्थ्य दीपन' आदि में नवें सूत्र का पाठ "पञ्चकर्मयोनय." दिया है जिस के अर्थ इस प्रकार किये हैं,—कर्मजन्य और कर्म जनक होने से धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा और विविदिषा ये पांच कर्मयोनि कहलाती हैं। इन के क्रम से लक्षण इस प्रकार हैं:—वाणी, कर्म, और संकल्प में जो प्रतिष्ठित हो वह धृति है। अनसूया, ब्रह्मचर्य, यजन, याजन, तप, दान, प्रतिग्रह और होम यह श्रद्धा का लक्षण है। जो अर्थार्थी का विद्या, कर्म, और तप का आचरण करना, नित्य प्रायश्चित परायण होना (भूलों का शोधन करना) है इसको सुखा कहते हैं। वेद ज्ञान की इच्छा में प्रतिबन्धक क्रिया अविविदिषा है। यह अचेतन एकत्व है, पृथक्त्व है, नित्य है, सूक्ष्म है, सत्कार्य है, अक्षोभ्य है यह जानने की इच्छा विविदिषा है। इनमें चार धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा बन्ध के कारण हैं केवल आत्मा के विषय में एकत्व और पृथक्त्व आदि विषय वाली विविदिषा मोक्ष का हेतु है, क्योंकि यह ज्ञान और मोक्ष के प्रतिबन्ध को नाश करने वाले कर्मों से उत्पन्न होती है और उन कर्मों की जनक भी है

हुआ हृदय से गुदा तक संचार करता है। खाये-पिये अन्न, जल आदि के रस को सब अङ्गों में बराबर बांटना उसका काम है। व्यान-वायु सारी स्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म नाड़ियों में घूमता हुआ शरीर के प्रत्येक भाग में रुधिर का संचार करता है। उदान-वायु सूक्ष्म शरीर को शरीरान्तर वा लोकान्तर में ले जाता है।

प्राण का विस्तार पूर्वक वर्णन समाधि पा० सू० ३४ के वि० वी० में देखें।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ

पंच कर्मात्मानः ॥ ११ ॥

अर्थ—पाँच कर्म की शक्तियाँ (कर्मेन्द्रियां) हैं।

व्याख्या—बोलना, पकड़ना, चलना, मूत्र-त्याग और मल-त्याग, ये पाँच शारीरिक कर्म हैं। इन पाँचों कर्मों के करने वाली वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पाँच शक्तियाँ कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं।

पाँच गाँठवाली अविद्या

पंचपर्वा अविद्या ॥ १२ ॥

अर्थ—पाँच गाँठों वाली अविद्या है।

व्याख्या—अविद्या पाँच प्रकार की है : अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अनित्य मे नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है। बुद्धि में आत्म-बुद्धि अस्मिता है। सुख की इच्छा अर्थात् लोभ की वृत्ति का नाम राग है। सुख-साधन में विघ्न डालनेवालों के प्रति घृणा अथवा द्वेषवृत्ति द्वेष है। और मृत्यु से भय की वृत्ति का नाम अभिनिवेश है। इनको क्रम से तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहते हैं।

इनकी विस्तार पूर्वक व्याख्या योगदर्शन समा० पा० प्रथम नौ सूत्रों में देखें।

अट्ठाईस अशक्तियाँ

अष्टविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३ ॥

अर्थ—अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति है।

एकादशेन्द्रियवधाः सहबुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदशवधा बुद्धे विपर्ययात् तुष्टि सिद्धानाम् ॥ सं० का० ४९ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के जो ग्यारह वध हैं, वे बुद्धि के वधों के साथ मिलकर (ग्यारह) अशक्ति बतलाई गई हैं। (नौ) तुष्टि और (आठ) सिद्धि से उलटी (नौ अतुष्टियां और आठ असिद्धि) ये सत्तर बुद्धि के वध (सत्तरह अशक्ति) हैं। (इस भांति अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति हैं)।

ग्यारवें सूत्र में बाबा गणेश आदि ने "पञ्चकर्मात्मानः" में कर्मात्मा के अर्थ वैकारिक, तैजस भूतादि सानुमान और निरनुमान किये हैं।

व्याख्या—मनुष्य के पास बुद्धि ही ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह भोग-अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध कर सकता है, यदि उसमें पूर्ण शक्ति हो अर्थात् यदि उसकी शक्ति का किसी प्रकार भी ह्रास न हुआ हो । जितनी भी त्रुटि होती है वह सब बुद्धि की अशक्ति से ही होती है। बुद्धि की अशक्ति अठ्ठाईस प्रकार की है । ग्यारह अशक्तियाँ ग्यारह इन्द्रियों के मारे जाने से होती हैं; जैसे नेत्र से अन्धा होना, कान से बहिरा होना, घ्राण से गन्ध न प्राप्त होना, रसना से रस का स्वाद न आना, त्वचा से कुष्ट होना, वाणी से गूंगा होना, हाथों से लूला व पावों से पङ्गु होना, उपस्थ से नपुंसक और गुदा से गुदावर्त (मलबन्ध) होना मन से उन्माद होना—ये ग्यारह इन्द्रियों की अशक्ति से बुद्धि की अशक्ति ग्यारह प्रकार की है । बुद्धि की साक्षात् अशक्ति सत्रह प्रकार की है । नौ तुष्टियाँ व आठ सिद्धियाँ जो अगले दो सूत्रों में बतलाई जावेंगी उनसे उलटी नौ अतुष्टियाँ और आठ असिद्धियाँ मिलकर बुद्धि की सत्रह अशक्तियाँ हैं। ये तुष्टियां स्वयं अपने रूप से तो आत्म उन्नति में सहायक और उपादेय हैं। इसलिये शक्ति रूप हैं। केवल इनमें आसक्ति अर्थात् इनमें सन्तुष्ट होकर आत्म उन्नति के लिये यत्न करना छोड़ देना हेय कोटि में है। इस कारण इन से उलटी नौ अतुष्टियें नौ अशक्ति रूप हैं।

नौ तुष्टियाँ

नवधा तुष्टिः ॥ १४ ॥

अर्थ—तुष्टियाँ नौ प्रकार की हैं।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादान-काल-भाग्याख्याः ।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ सां० का० ५० ॥

अर्थ—तुष्टियाँ नौ मानी गई हैं उन में से चार आध्यात्मिक हैं, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल, और भाग्य हैं। और पाँच बाह्य हैं जो (आत्म साक्षात्कार से पूर्व ही उसके साधन रूप) विषयों में वैराग्य से होती हैं।

व्याख्या—तुष्टि, उपरति अथवा उपरामता हटे रहने को कहते हैं, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति से पहले ही उसके साधनों को छोड़कर सन्तुष्ट हो जाने का नाम तुष्टि है । यह दो प्रकार की होती है : बाह्य-तुष्टि और अध्यात्मक-तुष्टि।

बाह्य-तुष्टि अन्तरात्मा को समझे बिना केवल बाहर के विषयों से उपरति को कहते हैं। वह पाँच प्रकार की है : शब्द-तुष्टि, स्पर्श-तुष्टि, रूप-तुष्टि रस-तुष्टि और गन्ध-तुष्टि । इन शब्द-स्पर्शादि पाँचों विषयों से पाँच प्रकार के दुःख होते हैं । अर्थात् (१) इनके प्राप्त करने में दुःख (२) रक्षा में दुःख (३) नाश में दुःख (४) भोग में दुःख—क्योंकि भोग के अभ्यास से कामना बढ़ती है और कामना की अपूर्ति में दुःख होता है—और (५) दूसरों की हिंसा का दुःख, क्योंकि बिना किसी की हिंसा के भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकार की हैं: प्रकृति तुष्टि, उपादान तुष्टि, काल तुष्टि और भाग्य तुष्टि। ये तुष्टियाँ उनको होती हैं जो यह जानते हुए भी कि जड़-तत्त्व और चेतन-तत्त्व सर्वथा भिन्न हैं, किसी झूँठे भरोसे पर स्वरूपावस्थिति के लिये यत्न नहीं करते। इन तुष्टियों के क्रम से (१) पार (२) सुपार (३) पारावार (४) अनुत्तमाम्भः और (५) उत्तमाम्भः नाम हैं।

१ प्रकृति तुष्टि—यह जानकर भी कि आत्मा प्रकृति से अलग है आत्मा के साक्षात्कार के लिए इस भरोसे पर धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास न करना कि प्रकृति पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिए स्वयं प्रवृत्त हो रही है इसलिये भोग के सदृश अपवर्ग भी आप ही प्राप्त हो जावेगा—यह प्रकृति के भरोसे पर प्रकृति तुष्टि है। यह भरोसा इसलिये मूँठा है कि प्रकृति पुरुष की इच्छा के आधीन चल रही है, जब वह स्वयं सन्तुष्ट होकर मोक्ष के साधन से उपराम हो रहा है तो प्रकृति उसके लिये क्या कर सकती है।

२ उपादान तुष्टि—इस भरोसे पर कि सन्यास ग्रहण करने से अपवर्ग स्वयं मिल जावेगा, उसके लिए उपाय न करना उपादान तुष्टि है। यह भरोसा इस लिये मूँठा है कि सन्यास एक चिन्ह-मात्र है उसमें भी धारणा, ध्यान और समाधि ही आत्म-साक्षात्कार का हेतु है।

३ काल तुष्टि—इस विश्वास पर कि समय पाकर स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जावेगी, उसके लिये कोई यत्न न करना कालतुष्टि है। यह काल का भरोसा इसलिये मूठा है कि काल सब कार्यों का समान हेतु है: उन्नति के सदृश वह अवनति का भी हेतु है। इसलिये उन्नति के लिये यत्न ही अपेक्षित है।

४ भाग्य तुष्टि—इस भरोसे पर कि यदि भाग्य में होगा तो स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति हो जावेगी, उसके लिये कोई यत्न न करना भाग्य तुष्टि कहलाती है। यह भरोसा इसलिये मूंठा है कि भाग्य भी अपने पुरुषार्थ का ही बनाया हुआ होता है।

आठ सिद्धियां

अष्टधा सिद्धिः ॥ १५ ॥

अर्थ—सिद्धि आठ प्रकार की है।

व्याख्या—सिद्धियां आठ हैं: ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःखहान, आधिभौतिक दुःखहान और आधिदैविक दुःखहान।

ऊह सिद्धि—पूर्व जन्म के संस्कारों से स्वयं इस सृष्टि को देख भाल कर नित्य अनित्य, चित् अचित्, के निर्णय से चौबीस तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना।

शब्द सिद्धि - विवेकी गुरु के उपदेश से ज्ञान होना।

अध्ययन सिद्धि—वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान होना।

सुहृत्प्राप्ति सिद्धि—वे सिद्ध पुरुष जो स्वयं मनुष्यों का अज्ञान मिटाने के लिये घूम रहे हैं उनमें से किसी दयालु के मिल जाने से ज्ञान का प्राप्त होना।

दानसिद्धि—वे योगी जो अपने खाने पीने की आवश्यकताओं से निरपेक्ष हो कर आत्म-साक्षात्कार मे लगे हुये हैं, उनकी भोजन आदि सब प्रकार की आवश्यकताओं को श्रद्धा भक्ति के साथ पूरा करने से उनके प्रसाद से ज्ञान लाभ करना।

गीता अध्याय १७ में सात्त्विक, राजस्, और तामस, मनोवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का दान बतलाया गया है। यथा:—

दातव्य मितियद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फल मुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेश काले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातंतत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—दान देना ही कर्तव्य है ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वाले के लिये दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥२०॥ और जो दान क्लेश पूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है वह दान राजस् कहा गया है ॥२१॥ और जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश काल में कुपात्रों (मद्य मांसादि अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन करने वाले हिंसक, दुराचारी, पाप कर्म करने वाले) के लिये दिया जाता है, वह दान तामस् कहा गया है ॥२२॥ दान देने वाले तथा दान लेने वाले दोनों के लिये सात्त्विक दान ही इष्ट है। राजस् तथा तामस् दान देने वाले तथा लेने वाले दोनों के लिये राजसी तथा तामसी वृत्तियों का उत्पन्न करने वाला होता है।

उपरोक्त पाँच सिद्धियाँ तत्त्वज्ञान का उपाय हैं, और निम्न तीन सिद्धियाँ उनका फल हैं।

आध्यात्मिक दुःख हान—सब आध्यात्मिक दुःखों का मिट जाना।

आधिभौतिक दुःख हान—सब आधिभौतिक दुःखों का मिट जाना।

आधिदैविक दुःख हान—सब आधिदैविक दुःखों का मिट जाना।

इन से उलटी आठ प्रकार की असिद्धियां बुद्धि की आठ प्रकार की अशक्तियां हैं।

संगति—अध्यात्मिक विषयों का वर्णन करके अब अगले सूत्र में मूल तत्त्वों का धर्म बतलाते हैं।

दश मूल धर्म

दश मौलिकार्थाः ॥ १६ ॥

अर्थ—दश मूल-भूत धर्म हैं (अस्तित्व, संयोग, वियोग, शेषवृत्तित्व, एकत्व, अर्थवत्व, परार्थ्य, अन्यता, अकर्तृत्व और बहुत्व)।

व्याख्या—अव्यक्त और पुरुष के संयोग से सृष्टि रचना हुई है। पुरुष तो सदा ही अपने वास्तविक शुद्ध ज्ञान स्वरूप से असंग, निर्लेप, और निर्विकार ही रहता है, यह जड़ अव्यक्त का धर्म संयोग उस में विकल्प से कहा जाता है। सृष्टि में जो धर्म पाये जाते हैं वे कार्य-जगत् के धर्म हैं। उससे पहिले मूल भूत अव्यक्त और पुरुष में जो धर्म पाये जाते हैं वे मौलिक धर्म हैं।

अस्तित्व, संयोग, वियोग और शेषवृत्तित्व ये चार धर्म पुरुष और अव्यक्त दोनों के हैं। संयोग और वियोग परिणामी अव्यक्त के स्वाभाविक और वास्तविक धर्म हैं। किन्तु कूटस्थ नित्य पुरुष में विकल्प से कहे गये हैं। अव्यक्त और पुरुष दोनों में अस्तित्व है। दोनों परस्पर संयुक्त होते हैं जिससे सृष्टि—रचना होती है। दोनों वियुक्त होते हैं जब मोक्ष होता है। दोनो विद्यमान रहते हैं जब प्रलय होती है। (भावागणेशादि ने जीवन मुक्त के संस्कार मात्र से 'चक्र भ्रमिवत' शरीर की जो स्थिति है उसको 'शेष वृत्ति' मानकर केवल पुरुष का धर्म बतलाया हैं)।

एकत्व, अर्थवत्व और परार्थ्य—ये तीन धर्म अव्यक्त में हैं। अव्यक्त एक है, प्रयोजन वाला है, पुरुष (जीव) को भोग और अपवर्ग देना इसका प्रयोजन है और परार्थ है क्योंकि पुरुष के लिये काम करता है अपने लिये नहीं। (भावागणेशादि ने 'अर्थवत्व' को पुरुषार्थ वत्व मानकर पुरुष का धर्म कहा है)।

एकत्त्व—यह धर्म पुरुष अर्थात् शुद्ध चेतन तत्त्व का तथा समष्टि अन्तःकरण (विशुद्ध-सत्त्वमय-चित्त) की अपेक्षा से उसके शबल स्वरूप ईश्वर का भी है।

अन्यता और बहुत्त्व—जड़ वर्ग से भिन्न होने मे अन्यत्व धर्म पुरुष का है। और व्यष्टि अन्तःकरणों के सम्बन्ध से जीव अर्थ पुरुष का बहुत्व धर्म है जो व्यष्टि अन्तःकरणों (सत्त्व चित्तों) की अपेक्षा से परस्पर भिन्न और संख्या में बहुत (अनन्त) हैं।

अकर्तृत्व—यह धर्म पुरुष (शुद्ध चेतन तत्व) का है। पुरुष अपने शुद्ध चेतन स्वरूप से कर्त्ता नहीं हैं किन्तु द्रष्टा है। कर्तृत्व—यह धर्म गुणों में है।

संगति—अगले सूत्र में सृष्टि-रचना का प्रयोजन बताते हैं।

सृष्टि का रूप

अनुग्रहः सर्गः ॥ १७ ॥

अर्थ—अनुग्रह सृष्टि है।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादि विशेषभूत पर्यन्तः।
प्रति पुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥ सा० का० ५६॥

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत्तत्त्व से लेकर विशेष अर्थात् पाचों स्थूल भूतों और इन्द्रियों तक का आरंभ प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये स्वार्थ के सदृश पदार्थ है। जिस प्रकार एक मित्र अपने मित्र के कार्य मे प्रवृत्त हुआ उसे अपने स्वार्थ के सदृश साधता है, इसी प्रकार यह प्रकृति पुरुष के प्रयोजन को स्वार्थ की भांति साधती है जब तक

वह मोक्ष नहीं पालेता। मोक्ष पालेने पर फिर उसके लिये रचना नहीं रचती, यद्यपि दूसरों के लिये रचती है। (क्योंकि मुक्त को अब उसकी रचना से कोई प्रयोजन नहीं है।

औत्सुक्य निवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ सां० का० ५८॥

अर्थः—उत्कण्ठा के मिटाने के लिये जैसे लोक (दुनिया) कामों में प्रवृत्त होता है (भूख मिटाने के लिये भोजन में प्रवृत्त होते हैं) इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान अर्थात् प्रकृति प्रवृत्त हो रही है।

व्याख्या—अव्यक्त की पुरुष के अनुकूल प्रवृत्ति सृष्टि है। क्योंकि अव्यक्त सृष्टि रचना में पुरुष के लिये बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियें, शरीर और विषय आदि रचता है। उसकी सारी रचना पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये ही है। क्योंकि पुरुष की सन्निधि में पुरुष के ही ज्ञान से पुरुष के लिए ही उसमें सारी क्रियायें ज्ञान, नियम और व्यवस्था पूर्वक हो रही हैं।)

संगति—अगले सूत्र में प्राणियों की सृष्टि बतलाते हैं।

चौदह प्रकार की प्राणिसृष्टि

चतुर्दशविधो भूत सर्गः॥ १८॥

अर्थ—चौदह प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥ सां० का० ५३॥
ऊर्ध्वं सत्त्व विशालस्तमो विशालश्चमूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तः॥ सां० का० ५४॥

अर्थ—आठ प्रकार की दैवी सृष्टि है। पांच प्रकार की तिर्यक योनियों की है। मनुष्य की एक प्रकार की है। ये संक्षेप से प्राणियों की सृष्टि है॥ ५३॥ ऊपरली सृष्टि सत्त्व प्रधान है, निचली तम प्रधान है और मध्य की रज प्रधान है। ये ब्रह्मा से लेकर शैवाल तक सृष्टि है।

व्याख्या—चौदह प्रकार की प्राणियों की सृष्टि इस प्रकार है। ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, पित्र्य, विदेह और प्रकृतिलय—ये आठ प्रकार का दैव-सर्ग है, जो भिन्न-भिन्न कर्मोंपासना का फल है। इसके बाद नवां मानुष-सर्ग अर्थात् मानुषी सृष्टि है। और अन्त में, मनुष्य से नीचे, पशु, पक्षी, सरीसृप अर्थात् रेंगनेवाले जन्तु, कीट और स्थावर—इन पाँच का तिर्यक्-सर्ग है।

उपरोक्त १४ प्रकार की सृष्टि मे से मनुष्य से नीचे ५ प्रकार के तिर्यक् सर्ग का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु मनुष्य से ऊंचे ८ प्रकार के दैव सर्ग का मनुष्यों से सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वितर्कानुगत से ऊँची प्रकाशमय विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्मता के तारतम्य से जो आनन्द में अन्तर है इसी प्रकार इनमें से पहिले

६ सर्गों में परस्पर अन्तर है। इन छहों में भी सूक्ष्मता के तारतम्य से आनन्द में परस्पर और कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। इसी कारण बृहदारण्यक उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तरीयउपनिषदादि में इनके नामों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। किन्तु जिस प्रकार प्रकाशमय विचारानुगत संकल्पमयी अवस्था समानरूप से होती है, यद्यपि इसमें समाधि अवस्था के सूक्ष्मता के अनुसार अन्तर होता है। इसी प्रकार इन सब सर्गों में जीव संकल्पमय होता है, यद्यपि संकल्पों में परस्पर सूक्ष्मता और आनन्द के तारतम्य से अन्तर होता है। विदेह और प्रकृतिलयों का आनन्द और सूक्ष्मता पहिले ६ सर्गों की अपेक्षा अधिक है और उनकी अवधि भी इनसे अधिक है। क्योंकि विदेह विचारानुगत से ऊँची आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि की भूमि तक पहुँचे हुए हैं, और शरीर से अभिमान छोड़े हुए हैं। और प्रकृतिलय इससे भी ऊँची अस्मितानुगत भूमि में अहङ्कार का भी अभिमान छोड़े हुए हैं। ये दोनों अवस्थाएँ केवल योगियों को ही प्राप्त होती हैं। इसलिये तैत्तरीय, उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण में इनका वर्णन नहीं है (श्री व्यासजी महाराज विभूति पाद् सूत्र २६ के भाष्य में इनके सम्बन्ध में लिखते हैं "विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी कैवल्य के तुल्य स्थिति में हैं, इसलिये वे किसी (दिव्य) लोक में निवास करने वालों के साथ नहीं उपन्यास किये गये" अवान्तर भेदों को लेकर ही उपरोक्त प्रथम छः सर्गों का कई प्रकार से वर्णन किया गया है। यथाः—

तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षा वल्ली अनुवाक्य ८।

१. मनुष्य के आनन्द की काष्ठा का सौगुना आनन्द मनुष्य गन्धर्व लोक वालों को।
२. मनुष्य गन्धर्व का सौगुना आनन्द देव गन्धर्व लोक वालों को।
३. देव गन्धर्व का सौगुना आनन्द पितर लोक वालों को।
४. पितर का सौगुना आनन्द आजानजदेव लोक वालों को।
५. आजानज देवताओं का सौगुना आनन्द कर्म देव लोक वालों को।
६. कर्म देव का सौगुना आनन्द देव लोक वालों को।
७. देव का सौगुना आनन्द इन्द्र लोक वालों को।
८. इन्द्र का सौगुना आनन्द बृहस्पति लोक वालों को।
९. बृहस्पति लोक वालों का सौगुना आनन्द प्रजापति लोक वालों को।
१०. प्रजापति का सौगुना आनन्द ब्रह्मा के लोक वालों को।

बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२।

१. मनुष्य के आनन्द की पराकाष्ठा का सौगुना आनन्द पितर लोक वालों को।
२. पितर का सौगुना आनन्द गन्धर्व लोक वालों को।
३. गन्धर्व का सौगुना आनन्द अजानज देव लोक वालों को।
४. आजानज देव का सौगुना आनन्द प्रजापति लोक वालों को।
५. प्रजापति लोक वालों का सौगुना आनन्द ब्रह्मा के लोक वालों को।

शतपथ १४ । ७ । १ । ३१ ।

१. मनुष्य का सौगुना आनन्द पितर लोक वालों को।
२. पितर का सौगुना आनन्द कर्मदेव लोक वालों को।
३. कर्मदेव का सौगुना आनन्द आजानज देव लोक वालों को।
४. आजानजदेव का सौगुना आनन्द देव लोक वालों को।
५. देव का सौगुना आनन्द गन्धर्व लोक वालों को।
६. गन्धर्व का सौगुना आनन्द प्रजापति लोक वालों को।
७. प्रजापति लोक वाले का सौगुना आनन्द ब्रह्मा के लोक वालों को।

जिस प्रकार व्युत्थान की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि योग है—किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि व्युत्थान है इसी प्रकार मनुष्य के मृत्यु लोक की अपेक्षा यह सब अमर लोक और मनुष्य के बन्धन की अपेक्षा से यह पुनरावृत्ति मुक्ति की अवस्थाएँ हैं, किन्तु अपुनरावृत्ति मुक्ति (कैवल्य) की अपेक्षा से यह सब बन्धन है। यथा:—

आ ब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ गीता ८ । १६ ॥

अर्थ—ब्रह्म लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं, किन्तु हे अर्जुन! मुझ (शुद्ध चेतन तत्त्व, परब्रह्म, परमात्मा) को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता। इस पुनर्जन्म न होने वाली मुक्ति के भी दो भेद हो सकते हैं। (१) वे योगी जो असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त के सर्व संस्कार और अविद्यादि क्लेश नाश कर चुके हैं किन्तु उनके चित्त में केवल संसार के प्राणियों के कल्याण का संकल्प शेष रह गया है इसलिये यह संकल्प ईश्वर के प्राणियों के कल्याण के नित्य संकल्प के तदाकार होने के कारण, इनके चित्त ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में लीन होकर पुनः न आने वाली मुक्ति का लाभ करते हैं। और समय पर उसके नियमानुसार प्राणीमात्र के कल्याण के लिये संसार में अवतरण करते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं। यथा:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ गीता० अ० ४–७।८

अर्थ—हे भारत जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। सज्जनों की रक्षा करने के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्मस्थापन करने के लिये युगयुग में प्रकट होता हूँ।

(२) जो योगी असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा सारे संस्कार और अविद्यादि क्लेश नाश कर चुके हैं तथा उपर्युक्त संकल्प शेष भी निवृत्त कर चुके हैं उनके चित बनाने वाले गुण

अपने कारण में लीन होजाते हैं और आत्मा (चेतन तत्त्व) अपने शुद्ध कैवल्य स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। पहिली अवस्था वाले योगी इस संकल्प को हटाकर चित्त के बनाने वाले गुणों को अपने कारण में लीन करने का हर समय अधिकार रखते हैं। तथा कहीं २ कलाओं की न्यून अधिकता दिखलाकर अवतारों के कई अवान्तर भेद बतलाये हैं।

इसी प्रकार कहीं कहीं इन चित्तों को सिद्ध चित्त तथा निर्माण चित्त के नाम से वर्णन किया गया है।

संगति—अगले सूत्र में उनका बन्ध और मोक्ष बतलाते हैं।

बन्ध और मोक्ष के तीन प्रकार

त्रिविधो बन्धः ॥ १९ ॥

त्रिविधो मोक्षः ॥ २० ॥

अर्थ—तीन प्रकार का बन्ध (वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक) होता है ॥१९॥ तीन प्रकार का मोक्ष (वैकृतिक, दाक्षिणिक, और प्राकृतिक) होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—बन्ध तीन प्रकार का है, वैकृतिक (वा वैकारिक) दाक्षिणिक और प्राकृतिक। जो योगी वितर्कानुगत वाली प्रथमभूमि में आत्म साक्षात्कार से शून्य केवल भूत इन्द्रिय, मन, आदि १६ विकारों में ही आसक्त हो रहे हैं अथवा राजसी प्रवृत्ति वाले मनुष्य जिनके कर्म सतोगुण तमोगुण दोनों से मिश्रित हैं, वे इन वैकृतिक वासनाओं के अधीन उसी भूमि में मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं।

इनका यह बन्ध वैकृतिक वा वैकारिक कहलाता है। जो विचारानुगतवाली दूसरी भूमि में आत्मसाक्षात्कार से शून्य रह कर केवल सूक्ष्म विषयों में ही आसक्त होरहे हैं तथा जो आत्मसाक्षात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल सकाम इष्ट पूर्त आदि परोपकार और अहिंसात्मक सात्त्विक कर्मों में लगे हुए हैं, वे इन सात्त्विक वासनाओं के आधीन होकर दक्षिणमार्ग से चन्द्र लोक अर्थात् सात्त्विकता के तारतम्यानुसार सूत्र १८ में बतलाई हुई ८ दैव सर्गों में सात्त्विक वासनाओं का फल भोगकर आत्म साक्षात्कार के लिये अपनी पिछली भूमि की योग्यता को लिये हुए मनुष्य लोक में फिर जन्म लेते हैं। इन का यह बन्ध दाक्षिणिक कहलाता है। (देखो विभूति पाद सूत्र ३९ का विशेष वक्तव्य)। सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मितानुगत को प्राप्त किये हुए योगी जो आत्मसाक्षात्कार से शून्य रह कर केवल इन भूमियों के आनन्द में आसक्त रहते हैं और विवेक ख्याति द्वारा स्वरूपावस्थिति का यत्न नहीं करते हैं, वे शरीर त्यागने के पश्चात् इन वासनाओं के आधीन लम्बे समय तक विदेह और (अस्मिता) प्रकृतिलय अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति में रहकर आत्म साक्षात्कार के लिये पानी में डुबकी लगाने वाले पुरुष के सदृश फिर उठते हैं अर्थात् उच्च कुल वाले योगियों के घर में अपनी पिछली भूमि की योग्यता को प्राप्त किये हुए फिर जन्म लेते है (देखो समाधि पाद० सूत्र ०१८,१९) इनका यह बन्ध प्राकृतिक बन्ध है। अर्थात् आत्म साक्षात्कार से शून्य

रहकर वितर्कानुगत भूमि में आसक्त हुए योगियों का बन्ध वैकृतिक, विचारानुगत में आसक्त हुए योगियों का बन्ध दाक्षिणिक, और आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमियों में आसक्त हुए योगियों का बन्ध प्राकृतिक कहलाता है।

इन तीनों बन्धों से छूटना तीन प्रकार का मोक्ष है। स्थूल विषयों से आसक्ति हटाना तथा राजसी तामसी वासनाओं का छोड़ना वैकारिक बन्ध से मोक्ष है। सूक्ष्म विषयों से आसक्ति हटाना तथा सात्त्विक कार्यों में निष्काम भाव होना दाक्षिणिक बन्ध से मोक्ष है। आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमि के आनन्द में आसक्ति से पर वैराग्य द्वारा चित्त को हटाकर—स्वरूपावस्थिति का लाभ प्राप्त करना प्राकृतिक बन्ध से मोक्ष है।

तीन प्रमाण

त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१ ॥

अर्थ—प्रमाण तीन प्रकार का है (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अर्थात् आप्त वचन)

व्याख्या – प्रत्यक्ष प्रमाण : जो किसी इन्द्रिय से जाना जाय; अनुमान : जो किसी चिह्न से समझा जाय और आप्तवचन : किसी आप्त का उपदेश—आप्त उसे कहते हैं जिसने पदार्थ को साक्षात् किया हो और सत्यवक्ता हो। इसकी विस्तार पूर्वक व्याख्या यो० समा० पा० सू० ७ में की गई है विशेष वहां देखें।

संगति—तत्त्वज्ञान का फल कहते हुए अगले सूत्र में ग्रन्थ को समाप्त करते हैं।

एतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृत्यकृत्यः स्यात्।
न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते ॥ २२ ॥

अर्थ – यह ठीक-ठीक जानकर पुरुष कृतकृत्य हो जाता है और फिर तीन प्रकार के दुःखों से नहीं दबाया जाता।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥
प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधान विनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

अर्थ – यथार्थ ज्ञान (विवेक ज्ञान) की प्राप्ति से जब कि धर्मादि अकारण बन गये तो पुरुष संस्कार के वश से चक्र के घूमने के सदृश शरीर को धारण किये हुए ठहरा रहता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार के चक्र को चलाना बन्द करने पर भी कुछ देर तक चाक पहिले के वेग से चलता रहता है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) की प्राप्ति पर भी पहिले संस्कारों के आधीन कुछ समय तक शरीर चलता रहता है। यह अवस्था जीवनमुक्ति कहलाती है ॥ ६७ ॥ शरीर के छूट जाने पर और चरितार्थ होने से प्रधान की निवृत्ति होने पर ऐकान्तिक (अवश्य होने वाले) और आत्यन्तिक (सदा रहने वाले) कैवल्य को प्राप्त होता है अर्थात् परमात्म स्वरूप में पूर्णतया अवस्थित होजाता है ॥ ६८ ॥

पञ्च विंशति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्रसंशयः ॥ (गौड़पादाचार्य)

अर्थ—जिसको (सांख्य में बतलाये हुए) २५ तत्त्वों का (सम्यक) ज्ञान हो गया है, वह चाहे किसी आश्रम में स्थित हो चाहे गृहस्थ में ही हो चाहे संन्यास में वह अवश्य मुक्त हो जाता है। इसमें कोई भी संशय नहीं है।

दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषयों पर सांख्य के मुख्य सिद्धान्त

हेय—त्याज्य जो दुःख है वह तीन प्रकार की चोट पहुँचाता रहता है: १ आध्यात्मिक अर्थात् अपने अन्दर से शारीरिक चोट, जैसे ज्वर आदि, वा मानसिक चोट, जैसे राग-द्वेष आदि की वेदना। २ आधिभौतिक अर्थात् किसी अन्य प्राणी द्वारा पीड़ा पहुँचना और ३ आधिदैविक अर्थात् किसी दिव्य शक्ति जैसे बिजली आदि से पीड़ा पहुँचना।

इनके दूर करने के साधन यद्यपि वर्तमान हैं और श्रौत कर्मों से इनका प्रतिकार हो जाता है, किन्तु इनका नितान्त अभाव नहीं होता; क्योंकि इनका बीज बना ही रहता है।

हेय-हेतु—इस दुःख की जड़ अज्ञान, अविद्या, अविवेक है। जितना अज्ञान दूर होता जाता है उतना ही दुःख का अभाव होता जाता है। इसलिए—

हान—दुःख का नितान्त अभाव अज्ञान अर्थात् अविद्या का सर्वथा नाश होजाना है। उपनिषदों का भी यही सिद्धान्त है, यथा:—अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम् ॥ अर्थात् अविद्या की निवृत्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है इससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं ॥ मुण्डक (१ । १ । ५ ॥ शंकरभाष्य)

हानोपाय—सारे तत्त्वों का विवेक-पूर्ण यथार्थ ज्ञान है। जिस-जिस तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता जावेगा उस-उस तत्त्व के दुःख की निवृत्ति होती जावेगी। सारे तत्त्वों के विवेक-पूर्ण ज्ञान होने से सारे दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। (तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान-समाधि द्वारा ही अपनी २ भूमियों में हो सकता है न कि व्युत्थान दशा में)

मुख्य तत्त्व

मुख्य तत्त्व दो हैं—जड़ और चेतन ।

जड़-तत्त्व के चौबीस मुख्य विभाग हो सकते हैं; और, चेतन तत्त्व पुरुष जड़तत्त्व के सम्बन्ध से जीव तथा ईश्वर और अपने शुद्ध स्वरूप से परमात्म तत्त्व कहलाता है। परमात्म तत्त्व अन्तिम ध्येय अथवा 'हान' है। सारे तत्त्वों के विवेक-पूर्ण यथार्थ ज्ञान के पश्चात् वहाँ पहुँचना है। इसलिये सांख्य ने उसकी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं समझी अन्य पच्चीस तत्त्वों को इस प्रकार बतलाया है'—

अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, पुरुषः ।

अर्थ—आठ प्रकृतियें, सोलह विकार और पुरुष। ये इस प्रकार हैं:—

मूलप्रकृति रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः। (सां० का० ३)

अर्थ—(आठ प्रकृतियों में से) मूल प्रकृति विकृति नहीं है अर्थात् कारण-द्रव्य स्वयं किसी का विकार—विकृत परिणाम—कार्य नहीं है। शेष सात महत्तत्त्व आदि (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति विकृति दोनों हैं। अर्थात् महत्तत्त्व मूल प्रकृति की विकृति और अहंकार की प्रकृ[ति]। अहंकार महत्तत्त्व की विकृति और पाँच तन्मात्राओं तथा ग्यारह इन्द्रियों की विकृति है, और पाँच तन्मात्राएँ अहंकार की विकृति और पाँच स्थूल-भूतों की प्रकृति हैं।

अन्य सोलह विकृतियाँ (पाँच स्थूल-भूत और ग्यारह इन्द्रियां) केवल विकृति हैं, किसी की प्रकृति नहीं हैं। यद्यपि सारी स्थूल वस्तुएँ इन्हीं पांचों स्थूल-भूतों के कार्य हैं किन्तु ये अपने विकृत परिणाम से आगे कोई नया तत्त्व कारण रूप होकर नहीं बनाते।

पुरुष न प्रकृति है न विकृति, अर्थात् न वह किसी का स्वयं विकृत परिणाम है, न उससे कोई विकृत परिणाम उत्पन्न होता है।

सृष्टि-क्रम

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि। (सां० का० २२)

अर्थ—मूल प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से सोलह का समूह अर्थात् पाँच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियें, इन सोलह में से जो पांच तन्मात्राएँ हैं उनसे पांच स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं।

न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य और योग के सिद्धान्तों में तुलना

इस प्रकार जहां न्याय और वैशेषिक ने जड़ द्रव्यों में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु तथा मन को अणु (अति सूक्ष्म) और आकाश, दिशा तथा काल को विभु व्यापक रूप से निरवयव और नित्य माना है; सांख्य और योग ने उनमें से काल और दिशा को जड़-तत्त्व में सम्मिलित नहीं किया है क्योंकि ये वास्तविक तत्त्व नहीं हैं—न प्रकृति हैं न विकृति, और न पुरुष के सदृश प्रकृति और विकृति दोनों से भिन्न कोई चेतन पदार्थ ही। सांख्य और योग के मत में ये दोनों एक क्रम से दूसरे क्रम में और एक स्थान से दूसरे स्थान में परत्व अपरत्व (आगे-पीछे, निकटता और दूरी) बतलाने के लिये केवल बुद्धि की निर्माण की हुई वस्तुएँ हैं; स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते।

मन के स्थान पर अहंकार, और पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के परमाणुओं के स्थान पर तन्मात्राएँ, और उनको अवकाश देनेवाले आकाश के स्थान पर महत्तत्त्व हो सकता है। ऐसी अवस्था में मूल प्रकृति को मानने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि तन्मात्राएँ अणु होने से और महत्तत्त्व विभु होने से अन्य किसी समवायी अर्थात् उपादान कारण की अपेक्षा नहीं रखते; किन्तु जहां से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखलाया है वहीं से सांख्य

मूल जड़-तत्त्व की खोज में सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया है। जिस जड़-तत्त्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकार के जड़ पदार्थ हैं, वह सबसे प्रथम जड़-तत्त्व तीन गुण है; सत्त्व, रजस् और तमस्। इसलिये कपिल मुनि बतलाते हैं:

त्रैगुण्यम् ॥५॥

अर्थ—आठों प्रकृतियें और सोलह विकृतियें सत्त्व-रजस् तमस् गुण रूप ही हैं।

न्याय और वैशेषिक में जिस प्रकार द्रव्यों के चौबीस गुण (धर्म) बतलाए हैं, उस प्रकार ये तीनों गुण किसी द्रव्य के गुण (धर्म) नहीं हैं, किन्तु स्वयं द्रव्य (धर्मी) हैं, जिनके संयोग-वियोग से सारी सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है। इनको गुण इसलिये कहा गया है कि चेतन और जड़-तत्त्व में पुरुष चेतन तत्त्व तो मुख्य है और ये जड़-तत्त्व गौण हैं; अथवा जिस प्रकार तीन लपेट की ऐंठ से रस्सी बटी हुई होती है, उसी प्रकार जड़-तत्त्व तीन गुण अर्थात् तीन लपेटवाला है जिससे सारी सृष्टि बनी हुई है।

प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योऽन्याभिभवाश्रय-जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ (सां० का० १२)

अर्थ—गुण सुख-दुःख और मोह-स्वरूप हैं; प्रकाश, प्रवृत्ति और रोकने की सामर्थ्य वाले हैं; एक दूसरे को दबाने, सहारा देने, प्रकट करने और साथ रहने के कर्मवाले हैं।

गुणों का स्वरूप

सत्त्वगुण सुख-स्वरूप है, रजोगुण दुःख-स्वरूप है, और तमोगुण मोह-स्वरूप है।

गुणों की सामर्थ्य

सत्त्व प्रकाश करने मे समर्थ है, रजस् प्रवृत्त करने में, और तमस् रोकने मे।

गुणों का काम

गुण एक दूसरे को दबाते हैं। जब सत्त्वगुण प्रधान होता है तब रजस् और तमस् को दबाकर सुख प्रकाशादि अपने धर्मों से शान्त वृत्ति उत्पन्न करता है। जब रजस् प्रधान होता है तब सत्त्व और तमस् को दबाकर दुःख प्रवृत्ति आदि से घोर वृत्ति को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार तमस् प्रधान होकर सत्त्व और रजस् को दबाकर आलस्य सुस्ती आदि से मोह वृत्ति को उत्पन्न करता है।

ये तीनों गुण एक-दूसरे के आश्रय हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् के सहारे पर प्रकाश को प्रकट करता है और प्रकाश द्वारा रजस् तमस् का उपकार भी करता है। इसी प्रकार रजस्-तमस् भी अन्य दो का सहारा लेते हैं और उपकार भी करते हैं।

तीनों गुण एक-दूसरे को प्रकट करते हैं। स्थित वस्तु क्रियावाली, और क्रियावाली प्रकाशवाली हो जाती है। इस प्रकार तमस् रजस् को, और रजस् तमस् को प्रकट करता है।

एक गुण अन्य दो के साथ रहता है; कभी अलग नहीं होता; सब एक-दूसरे के जोड़े हैं; सब सर्वत्र हैं; विभु हैं। रजस् का जोड़ा सत्त्व है, सत्त्व का रजस्; इसी प्रकार तमस् के

सत्त्व और रजस् जोड़े हैं; और दोनों सत्त्व और रजस् का तमस् जोड़ा (साथी) है। इनका स्वरूप से कोई पहिला संयोग उपलब्ध नहीं होता है और न कभी वियोग उपलब्ध होता है।

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। (सां॰ का॰ १३)

अर्थ – सत्त्व हल्का और प्रकाशक माना गया है; रजस् उत्तेजक और चल; और तमस् भारी और रोकनेवाला है दीपक के सदृश (एक) उद्देश्य से इनका काम है।

गुणों के धर्म

सत्त्व हल्का और प्रकाशक है, इसलिये सत्त्व-प्रधान पदार्थ हल्के होते हैं। जैसे हल्की होने के कारण अग्नि ऊपर को जला करती है, वायु तिरछी चलती है, इन्द्रियाँ शीघ्रता से काम करती हैं। सत्त्व की प्रधानता से अग्नि में प्रकाश है; इसी प्रकार इन्द्रिय और मन प्रकाश-शील हैं। सत्त्व और तमस् स्वयं अक्रिय हैं, इसलिये अपना-अपना काम करने में असमर्थ हैं। रजस् क्रियावाला होने से उनको उत्तेजना देता है और अपने-अपने काम में प्रवृत्त कराता है। जब शरीर मे रजस् प्रधान होता है तो उत्तेजना और चञ्चलता बढ़ जाती है। रजस् चल-स्वभाव होने से हल्के सत्त्व को प्रवृत्त करता है किन्तु तमस् भारी होने से रजस् को रोकता है। जब शरीर में तमस् प्रधान होता है तब शरीर भारी होता है और काम में प्रवृत्ति नहीं होती।

गुणों के परस्पर विरोधी होने पर भी सबका एक ही उद्देश्य है। सत्त्व हल्का है, तमस् भारी है। तमस् स्थिर करता है, रजस् उत्तेजित करता है। इस प्रकार तीनों गुण परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दीपक के सदृश इनकी प्रवृत्ति एक ही प्रयोजन से है। जिस प्रकार बत्ती और तेल अग्नि से विरोधी होते हुए भी अग्नि के साथ मिले हुए प्रकाश का प्रयोजन सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी होते हुए भी एक-दूसरे के अनुकूल कार्य करते हैं।

प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुण पाये जाते हैं। हरएक पदार्थ सुख, दुःख और मोह का उत्पादक है। इससे सिद्ध होता है कि उसमें सुख, दुःख और मोह को उत्पन्न करने वाला तीन प्रकार का द्रव्य विद्यमान है। वही सत्त्व, रजस् और तमस् है। हल्कापन, प्रीति, तितिक्षा, सन्तोष, प्रकाश आदि सुख के साथ उदय होते हैं, इसलिये सत्त्वगुण के परिणाम हैं। इसी प्रकार दुःख के साथ चञ्चलता, उत्तेजकता आदि, और मोह के साथ निद्रा, भारीपन आदि रहते हैं। इसलिये ये क्रमशः रजस् और तमस् के परिणाम हैं।

गुणों का परिणाम

चेतन तत्त्व कूटस्थ नित्य है और जड़ तत्त्व 'गुण' परिणामी नित्य है; एक क्षण भी बिना परिणाम के नहीं रहते। परिणाम सांख्य और योग का पारिभाषिक शब्द है, जो परिवर्तन अर्थात् तब्दीली के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परिणाम का लक्षण एक धर्म को छोड़कर

दूसरा धर्म धारण करना है। यह परिणाम दो प्रकार का होता है। एक सरूप अर्थात् सदृश परिणाम; दूसरा विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम। जैसे जब दूध दूध ही की अवस्था में बना रहता है तब भी उसके परमाणु स्थिर नहीं रहते, चलते ही रहते हैं; इस अवस्था में दूध में दूध ही बने रहने का परिणाम हो रहा है। यह सदृश अर्थात् सरूप परिणाम है। दूध में जामन पड़ने के पश्चात् जब दही बनने का परिणाम होता है, अथवा एक निश्चित समय के पश्चात् जब दूध में दूध के बिगड़ने अर्थात खट्टा होने का परिणाम होता है तब वह विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम है। विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम का तो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु उस प्रत्यक्ष से सरूप अर्थात् सदृश परिणाम अनुमान से जाना जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणों का पृथक्-पृथक् अपने सरूप में अर्थात् सत्त्व का सत्त्व रूप से, रजस् का रजस् रूप से, तमस् का तमस् रूप से प्रवृत्त होना, अर्थात् सत्त्व का सत्त्व में, रजस् का रजस् में और तमस् का तमस् में जो परिणाम है वह सदृश परिणाम है। यह गुणों की साम्य अवस्था है इसी को मूल प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त कहते हैं—जो सारे जड़-तत्त्वों का मूल कारण है। जब तीनों इकट्ठे होकर एक दूसरे को दबाकर परिणाम में प्रवृत्त होते हैं तो वह विरूप परिणाम है। इसको गुणों का विषम परिणाम कहते है। महत्तत्त्व से लेकर पाँचों स्थूल-भूत पर्य्यन्त तेईसों तत्त्व तीनों गुणों के विषम परिणाम ही हैं; जो सब प्रकृति के कार्य हैं। उसकी अपेक्षा ये सब विकृति और व्यक्त हैं।

यद्यपि अपनी अपनी विकृतियों की अपेक्षा महत्तत्त्व, अहंकार व पाँचों तन्मात्राएँ अव्यक्त और प्रकृतियाँ हैं किन्तु मूल प्रकृति की अपेक्षा से सब व्यक्त और विकृतियाँ हैं। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि जिस-जिस विकृति का प्रत्यक्ष होता जाता है उस उस प्रत्यक्ष से उसकी प्रकृति का अनुमान किया जाता है। समाधि द्वारा सबसे अन्त में गुणों का सबसे प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व का विवेक-ख्याति द्वारा साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कार से गुणों की सबसे प्रथम साम्य परिणाम वाली अवस्था का अनुमान से ज्ञान होता है। गुणों का साम्य तथा विषम परिणाम, दोनों अनादि हैं। सांख्य का यह सिद्धान्त परिणाम-वाद कहलाता है, अर्थात् यह सारी सृष्टि गुणों का ही परिणाम है।

न्याय और वैशेषिक से विपरीत सांख्य और योग में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, बुद्धि [चित्त अर्थात् अन्तःकरण] के धर्म माने गए हैं, और यह बुद्धि पुरुष से पृथक् एक जड़-तत्त्व है। पुरुष केवल चेतन स्वरूप है। बुद्धि (चित्त अथवा अन्तःकरण) उसका गुण नहीं है। किन्तु उससे पृथक् उसका दृश्य अथवा 'स्व' है। वह उसका द्रष्टा अथवा स्वामी है; उसका पुरुष के साथ आसक्ति तथा अविवेक-पूर्ण संयोग होने के कारण उसके गुण पुरुष में अविवेक से आरोप कर लिये जाते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति

गुण सारी सृष्टि की उत्पत्ति के समवायी अर्थात् उपादान कारण हैं।

गुण का विशेष परिणाम, जिससे तत्त्व में पृथकता होती है, साधारण असमवायी कारण है।

चेतन-स्वरूप पुरुष व्यष्टि रूप से और पुरुष-विशेष समष्टि रूप से अपनी सन्निधि से चुम्बक के सदृश ज्ञान, व्यवस्था तथा नियमपूर्वक जड़-गुणों के विषम परिणाम में निमित्त कारण हैं॥

इस विषम परिणाम का प्रयोजन पुरुष का भोग और अपवर्ग है। क्योंकि यह पुरुष की ही सन्निधि, से पुरुष के ही ज्ञान में परार्थ अर्थात् पुरुष के ही अर्थ, ज्ञान, नियम, और व्यवस्थापूर्वक होरहा है।

त्रिगुणात्मक जड़-तत्त्व और पुरुष दोनों अनादि हैं; इसलिये इनका पुरुष के साथ सन्निधि-मात्र संयोग, साम्य परिणाम, विषम परिणाम तथा पुरुष का भोग और अपवर्ग का प्रयोजन भी अनादि हैं। अनादि का अभिप्राय काल की सीमा से परे होना है और काल कोई वास्तविक वस्तु नहीं है; विषम परिणाम के पीछे क्रमों के परत्व और अपरत्व बतलाने के लिये केवल बुद्धि का निर्माण किया हुआ पदार्थ है।

पुरुष का बहुत्व

सांख्य ने जहां पुरुष को अनेक माना है वहां केवल व्यष्टि अस्मिता की अपेक्षा से है। चेतन तत्त्व से प्रतिबिम्बित व्यष्टि चित्त (महत्तत्त्व) जिनमें अहंकार बीज रूप से छिपा रहता है, उसकी संज्ञा व्यष्टि अस्मिता है। वास्तव में अव्यक्त प्रधान प्रकृति के सदृश पुरुष भी संख्या-रहित है। जिस प्रकार बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) के धर्म सुख-दुःख, प्रेत-भाव, क्रिया आदि पुरुष में आरोपित कर लिये गए हैं, इसी प्रकार अस्मिता का बहुत्व पुरुष में केवल आरोप-मात्र है; क्योंकि बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) चेतन से प्रतिबिम्बित होकर ही चेतन-जैसी प्रतीत होती है। जैसे एक ही सूर्य अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर उन जलाशयों के प्रतिबिम्ब की अपेक्षा से अनेक कहा जाता है, इसी प्रकार एक ही चेतन-तत्त्व अनेक चित्त-रूपी जलाशयों में उनकी संख्या की अपेक्षा से अनेक कहा जाता है। जब त्रिगुणात्मक, परिणामी, सक्रिय जड़-तत्त्व अपने अव्यक्त रूप में संख्या-रहित है तब गुणातीत, अपरिणामी, निष्क्रिय चेतन-तत्त्व के शुद्धज्ञान स्वरूप में जो अव्यक्त से भी सूक्ष्मतर है, संख्या की संभावना कैसे हो सकती है। पुरुष में अनेकत्व का आरोप अस्मिता क्लेश की अहंवृत्ति के साथ आरम्भ होता है और विवेकख्याति द्वारा इस अहंवृत्ति के अभाव से निवृत्त हो जाता है। क्योंकि अहंकार ही अहम् भाव से भिन्नता का सूचक है। भाव यह है कि स्वरूप-स्थिति अथवा कैवल्य की अवस्था में बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) का संयोग न रहने पर उसके धर्म, सुख-दुःख, क्रिया आदि के सदृश बहुत्व (संख्या) का भी अभाव हो जाता है।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ (सा० का० १८)

अर्थ—जन्म, मरण और करणों (अन्तःकरण, इन्द्रियां) के अलग-अलग नियमों से, एक साथ प्रवृत्त न होने से, और तीनों गुणों के भेद से पुरुष का अनेक होना सिद्ध है।

अर्थात् सब पुरुष न एक साथ जन्म लेते हैं, न एक साथ मरते हैं, उनका अलग-अलग जन्म-मरण होता है। इसी प्रकार करणों में भी भेद है: कोई अन्धा है, कोई बहिरा

है, कोई लूला है, सब एक जैसे नहीं हैं, सब में एक-जैसी प्रवृत्ति भी नहीं है अर्थात् एक समय मे सब एक ही कर्म नहीं करते। जब एक सोता है, तब दूसरा जागता है, तीसरा चलता है, इत्यादि। सब के गुण भी एक जैसे नहीं होते, कोई सत्त्व गुणवाला है, तो कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी।

किन्तु यह अनेकत्व (सख्या) बद्ध पुरुषों की अपेक्षा से होता है, नकि मुक्त पुरुषो की अपेक्षा से, क्योंकि जन्म-मरण, इन्द्रिय दोष और सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होना इत्यादि जो पुरुष के अनेकत्व के साधन हैं, अन्त करण आदि के धर्म हैं, नकि शुद्ध चेतन तत्त्व के। यथा —

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपंप्रतिरूपो वहिश्च ॥ (कठ० ५।१०)

अर्थ—जिस प्रकार एक ही वायु नानाभुवनों मे प्रविष्ट होकर उनके प्रति रूप (उनके रूपवाला) होरहा है इसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा (चेतनतत्त्व) नाना प्रकार के रूपों में प्रतिरूप (उनके रूप जैसा) होरहा है और उनसे बाहर भी है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गी० १३।२२।)

अर्थ—पुरुष (चेतन तत्त्व) इस देह से स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वथा अतीत ही है (केवल) यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता (एव) सब को धारण करने वाला होन से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, (तथा) ब्रह्मादिकों का भी स्वामी होने से महेश्वर और अपन शुद्ध चेतन ज्ञान स्वरूप से परमात्मा है ऐसा कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। (गी० १३।२३)

अर्थ—इस प्रकार पुरुष को और गुणो के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से (समाधि द्वारा अन्तर्मुख होकर अर्थात् विवेक ख्याति द्वारा) जान लेता है वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी फिर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है।

अन्त करण अनेक हैं, इसलिये अन्त करणों की अपेक्षा से पुरुष मे भी अनेकता विकल्प से मानी गई है। पुरुष और अन्त करण आदि में विवेक भेद ज्ञान न होने के कारण जैसे उनके अन्य सब धर्म पुरुष में अज्ञान से आरोपित होते हैं वैसे ही उनका धर्म अनेकत्व (सख्या) भी अज्ञान से पुरुष मे आरोपित होता है।

विवेक ज्ञान के पश्चात् स्वरूप स्थिति की अवस्था मे जहाँ चित्त के निरोध होने के साथ उसके सारे धर्म • क्रिया आदि का अभाव होजाता है, वैसे ही अनेकत्व (सख्या) का भी अभाव होजाता है।

पुरुष—बन्ध और मोक्ष

यह बन्ध और मोक्ष भी वास्तव में प्रकृति के कार्य चित्त में ही होते हैं। पुरुष स्वयं स्वरूप से सदा असङ्ग है; वह न बद्ध होता है न मुक्त। जैसे—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। (सां० का० ६२)

अर्थ—इसलिये साक्षात् न कोई बद्ध होता है, न कोई छूटता है, न कोई जन्मान्तर में घूमता है। प्रकृति ही नाना (देव, मनुष्य, पशु आदि शरीरों में) आश्रयवाली हुई घूमती, बंधती और छूटती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः॥

अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इतिमत्वा न सज्जते। (गी० ३। २७। २८)

अर्थ—सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं (तो भी) अहङ्कार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष मैं करता हूं ऐसा मान लेता है॥ २७॥ परन्तु हे महाबाहो गुणविभाग (५ स्थूल भूत, ५ तन्मात्राएँ, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ शब्दादि विषय, मन, अहङ्कार, बुद्धि, चित्त,) और कर्म विभाग (इनकी परस्पर की चेष्टाएँ) के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्त रहे हैं ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता॥ २८॥

अज्ञान जो बन्ध का कारण, और ज्ञान जो मोक्ष का कारण है तथा धर्म-अधर्म जो संसार के कारण हैं—ये सब बुद्धि के धर्म हैं। इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है, क्योंकि परिणाम बुद्धि में होता है, नकि अपरिणामी पुरुष में। इसलिये इनका फल बन्ध, मोक्ष और संसार का भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है। पुरुष सदा बन्ध, मोक्ष और संसार में भी एक रस रहता है। बुद्धि में भेद होता है। अज्ञान में जो अवस्था बुद्धि की होती है, ज्ञान में उससे भिन्न होजाती है। पुरुष बुद्धि का द्रष्टा होने से बुद्धि के आकार से अपने को भिन्न न समझने के कारण उन अवस्थाओं को अपनी अवस्थाएँ समझ लेता है; किन्तु वास्तव में वे अवस्थाएँ उसकी नहीं, बुद्धि की हैं। इसलिये बन्ध, मोक्ष और संसार का सम्बन्ध बुद्धि से है, जो प्रकृति का रूपान्तर है। आत्मा से परम्परा सम्बन्ध है, जैसे योद्धाओं की जीत-हार राजा की जीत-हार समझी जाती है।

प्रकृति जिस प्रकार अपने को बांधती और छुड़ाती है कारिकाकार उसको निम्नप्रकार बतलाते हैं:—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।

सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण। (सां० का० ६३)

अर्थ—प्रकृति स्वयं अपने आपको सात रूपों (धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, और अनैश्वर्य) से बांधती है और वही फिर पुरुषार्थ के लिए (पुरुष का परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करने के लिए) एक रूप (ज्ञान रूप) से (अपने आपको) छुड़ाती है।

सांख्य दर्शन में पुरुष का बहुत्व

सांख्य दर्शन मे जहाँ इस विषय का वर्णन किया गया है, अब उस पर प्रकाश डालते हैं।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम् । (सां० द० १ । १४९)

अर्थ—जन्म आदि व्यवस्था से पुरुष बहुत हैं। अर्थात् जन्म, मरण, सुख, दुःख, सब अन्तःकरण (सत्त्वचित्) के धर्म हैं। और अन्त करण अनन्त हैं। इसलिये अन्तःकरणों की अपेक्षा से पुरुष में बहुत्व माना जाता है। यह उपाधि भेद है, जैसा कि अगले सूत्र मे बतलाते हैं।

उपाधि भेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।

(सां० । १ । १५० ।)

उपाधि भेद मे भी एक का नाना प्रकार का प्रतीत होना होता है आकाश के सदृश घटादियों के साथ। अर्थात् एक ही आकाश नाना प्रकार के घटादिकों के साथ उपाधि भेद से उन घटादिकों जैसा भिन्न २ प्रकार का प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक चेतन तत्त्व अन्त करणों की उपाधि से बहुत धर्म वाला प्रतीत होता है।

"उपाधिर्भिद्यते नतु तद्वान्" (सां १ । १५१)

अर्थ—उपाधि का भेद होता है परन्तु उपाधि वाले का भेद नहीं होता है। अर्थात् बहुत्व केवल उपाधि रूप अन्तःकरणों में है, न कि पुरुष के वास्तविक शुद्ध चेतन स्वरूप से। (विज्ञान भिक्षु ने सूत्र १५० को पूर्वपक्ष मे और सूत्र १५१ को उत्तर पक्ष मे रखकर अन्तःकरणों के उपाधि भेद से पुरुष में बहुत्व सिद्ध किया हैं जो हमारी तत्त्व समास के चौथे सूत्र "पुरुष." की व्याख्या से अविरुद्ध है, जिसमे व्यष्टि अन्तःकरणों के सम्बन्ध से जो पुरुष की संज्ञा जीव है इसमे बहुत्व बतलाया गया है।)

"एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्ध धर्माध्यासः (सां० १ । १५२)

अर्थ—इस प्रकार एक आत्मा (चेतनतत्त्व) मानने से उपाधि वाले का विरुद्ध धर्म वाला भान न होगा। नाना प्रकार के धर्मों अर्थात् सुख दुःख आदि का भान होना केवल अन्तःकरणों की उपाधि मे घट सकता है, न कि निर्विकार शुद्ध चेतन स्वरूप मे।

"अन्य धर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ।" (सां० १ । १५३ ।)

अर्थ—अन्य के धर्म होने पर भी एक होने के कारण आरोप करने से उसकी सिद्धि

नहीं है। जन्म मरण सुख दुःखादि आत्मा के धर्म नहीं हैं। अन्तःकरणों के धर्म उसमें आरोप किये गये हैं। इससे आत्मा के वास्तविक शुद्ध स्वरूप में बहुत्व नहीं सिद्ध होता है।

यदि कहो कि पुरुषों को बहुत मानने में अद्वैत श्रुतियों से विरोध आवेगा तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नाऽद्वैत श्रुति विरोधो जाति परत्वात्। (सां० द० १। १५४)

अर्थ—ये श्रुतियें जाति परक हैं (अर्थात् शुद्ध चेतन-तत्त्व अर्थ पुरुष के सत्ता मात्र आत्म स्वरूप का निर्देश करती हैं) इसलिए (जीव अर्थ) पुरुष को (अन्तःकरणों की अपेक्षा से) जन्मादि व्यवस्था से बहुत मानने में उन से विरोध नहीं हो सकता।

यहाँ जाति से मनुष्य, पशु आदि जैसी जाति, जिसके अन्तर्गत बहुत सी व्यक्तियें होती हैं, अभिप्राय नहीं है किन्तु सत्तामात्र शुद्ध चेतन तत्त्व से, जो सदा एकरस और समान-रूप है, अभिप्राय है; जो व्यक्तियों के भेदक दिशा, काल, नाम, रूप, आकार और गुणों के परिणाम से परे है। जिस प्रकार वेदान्त (उपनिषदों) में चेतन तत्त्व दो प्रकार शुद्ध (पर, निर्गुण) और शबल (अपर, सगुण) रूप से वर्णन किया गया है—शबल स्वरूप को व्यष्टि रूप से विश्व, तैजस और प्राज्ञ; और समष्टि रूप से विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर संज्ञा की है; इसी प्रकार सांख्य और योग में प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व की व्यष्टि रूप से पुरुष संज्ञा है और समष्टि रूप से हिरण्यगर्भ, पुरुष विशेष, और ईश्वर संज्ञा है। इस व्यष्टिरूपेण प्रतिबिम्बित पुरुष संज्ञक चेतन में बहुत्व (संख्या) है, न कि शुद्ध चेतन तत्त्व में जो कि तदाकार (एक समान रूप) है। इसी को अगले सूत्र में और स्पष्ट करते हैं।

विदित बन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्। (सां० द० १५५)

अर्थ—जिसने बन्ध का कारण (अविवेक) जान लिया उसकी दृष्टि में (सब पुरुषों की) तद्रूपता (समान रूपता) है।

सर्व भूतस्थ मात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २६ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥ ३२ ॥ (गीता० अ० ६)

अर्थ—सर्व व्यापी अनन्त चेतन में एक ही भाव से स्थिति रूपयोग से युक्त हुए आत्मवाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है। हे अर्जुन ! जो योगी अपनी सदृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है, और सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है वही योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

यदि यह कहा जाये कि समानरूपता है तो सबको क्यों नहीं प्रतीत होती, तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नान्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः। (सां० द० १५६)

अर्थ—अन्धों के न देखने से समारों को अनुपलब्धि नहीं होती ऐसा नहीं अर्थात् यदि विवेक-चक्षुहीन अविवेकियों को पुरुषों की समान-रूपता नहीं दीखती तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विवेक की आंखों वाले समारों को भी समान-रूपता की उपलब्धि न हो।

गीता अध्याय १८ में इस ज्ञान के सात्त्विक, राजसी, और तामसी, तीन भेद दिखलाये हैं। यथाः—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ १९॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहेतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अर्थ—ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणों के भेद से सांख्य शास्त्र में तीन २ प्रकार से कहे गये हैं। उनको भी तू भली प्रकार से सुन॥ १९॥ जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक् २ सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म भावको विभाग रहित सम भाग से स्थित देखता हैं, उस भाव को तू सात्त्विक जान॥ २०॥ और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न २ प्रकार के अनेक भावो को न्यारा २ करके जानना है उस ज्ञान को तू राजस् ज्ञान समझ॥ २१॥ और जो ज्ञान सब कार्य्य रूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्ति वाला तत्त्व अर्थ से रहित और तुच्छ है वह ज्ञान तामस् कहा गया है॥ २२॥

नोट—यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि जिस प्रकार कुछ पक्षपाती अविद्या अथवा मायावादी नवीन वेदान्तियों ने सांख्य के जड़ तत्त्व प्रधान अर्थात् त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति के अस्तित्व के खण्डन करने और केवल अद्वैत चेतन वाद सिद्ध करने में श्रुति और स्मृतियों के अर्थ निकालने में अर्थों की खेंचा तानी की है। इसी प्रकार कई एक नवीन सांख्यवादियों ने भी उनके विरोध में श्रुति और स्मृतियों द्वारा शुद्ध चेतन तत्त्व में बहुत्व सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु यह उनका अविद्यावादी नवीन वेदान्तियों के सदृश केवल पक्षपात है जो श्रुतिस्मृति और युक्ति के विरुद्ध है और सांख्य वेदान्त को उसके उच्चतम सिद्धान्त से गिराता है।

विज्ञान भिक्षु ने जो उपर्युक्त सूत्रों तथा "वामदेवादि मुक्तो नाऽद्वैतम्" (१५७) 'वामदेवादि मुक्त हुए इससे अद्वैत नहीं रहा' से जो अन्त करणों के धर्मों को साथ लेकर पुरुष में बहुत्व बतलाया है इससे हमारा कोई विरोध नहीं है।

हमने तत्त्व समास के चौथे सूत्र की व्याख्या में तथा अन्य कई स्थानों में पुरुष के केवल

सांख्य और ईश्वरवाद

सांख्य ने पुरुष की सन्निधि को विषम-परिणाम में निमित्त कारण माना है, पुरुष-विशेष का वर्णन नहीं किया। किन्तु सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से उसकी सिद्धि होती है। क्योंकि जिस प्रकार व्यष्टि रूप से पुरुष की सन्निधि गुणों के व्यष्टि परिणाम में निमित्त कारण है इसी प्रकार समष्टि रूप से पुरुष-विशेष की सन्निधि गुणों के अव्यक्त साम्य परिणाम तथा समष्टि व्यक्त गुणों के विषम परिणाम में निमित्त कारण है।

कई साम्प्रदायिक पक्षपातियों ने कपिल मुनि पर नास्तिकता और उनके दर्शन पर अनीश्वरवाद का दोषारोपण किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं:—

उनके विचार में (१) सांख्य ने प्रधान (मूल प्रकृति) को जगत् का स्वतन्त्र कारण माना है, ईश्वर का वर्णन नहीं किया है। वास्तव में मूल प्रकृति को सांख्य ने जगत् का उपादान कारण माना है, उसको उसके उपादान कार्यों की अपेक्षा से स्वतन्त्र बतलाया है, क्योंकि वह गुणों की साम्य अवस्था है जो पुरुष के लिये निष्प्रयोजन है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाम में निमित्त कारण ईश्वर ही है जिसकी सन्निधि से परिणाम हो रहा है। (२) सांख्य ने ईश्वर को २५ तत्त्वों में अलग वर्णन नहीं किया है। इसके सम्बन्ध में ऊपर बतला आये हैं कि पुरुष में पुरुष-विशेष ईश्वर को सम्मिलित कर दिया गया है।

केवल वेदान्त (उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र) ने ब्रह्म को "हान" और ब्रह्मज्ञान को "हानोपाय" अर्थात् साध्य और साधन दोनों माना है। इसलिए उनमें ब्रह्म का ही विशेष रूप से विस्तार पूर्वक वर्णन है; अन्य चारों दर्शन— न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग ने परमात्म तत्त्व को केवल "हान" अर्थात् साध्य माना है। "हानोपाय" अर्थात् साधन जड़ और चेतन तत्त्व का विवेक पूर्ण ज्ञान बतलाया है। इसलिए इन्हें उसको विशेष रूपसे अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई क्योंकि जानना तो केवल अपने से भिन्न वस्तु का होता है जो दृश्य कहलाता है। और वह त्रिगुणात्मक जड़ तत्त्व है। जिसके वास्तविक स्वरूप को विवेकपूर्ण जानकर आत्मा से भिन्न करने के लिये दर्शनकारों ने

शुद्ध चेतन स्वरूप में एकत्व किन्तु उसके व्यष्टि अन्तःकरणों के साथ मिश्रित स्वरूप में जिसकी संज्ञा जीव है बहुत्व दिखलाया है। सांख्य ने बन्ध और मोक्ष प्रकृति में ही माने है। यथा:—

रूपैः सप्तभि रेवतु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सां० का० ६३)

अर्थ—(धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, और अनैश्वर्य।) इन सात रूपों से प्रकृति अपने आपको बान्धती है वही फिर पुरुषार्थ के लिये एक रूप (ज्ञान) से अपने आपको छुड़ाती है। इसलिये प्रकृति के कार्यों को साथ लेकर जीव संज्ञक पुरुष में बन्ध मोक्ष संख्या आदि सब कुछ सिद्ध होते हैं। सांख्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये इस बात का विवेक होना अति आवश्यक है, कि कहां पुरुष का शब्द जीव अर्थ में प्रयोग हुआ है कहां ईश्वर अर्थ में और कहां शुद्ध चेतन परमात्मा स्वरूप के अर्थ में।

अपने २ भाव और वर्णन शैली अनुसार अवान्तर भेदों में विभक्त करके दिखलाया है। अपने शुद्ध परमात्म स्वरूप का जानना नहीं होता उसमें तो स्वरूपावस्थिति होती है।

"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" । (बृह० ४।४।)

जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने ?

विज्ञातारं रे केन विजानीयात् ।

तथा—सबके जानने वाले विज्ञाता को किससे जाना जासकता है अर्थात् किसी से भी नहीं जाना जासकता है। योग दर्शन ने ईश्वर प्रणिधान को भी एक "हानोपाय" अर्थात् साधन रूप मे वर्णन किया है। सांख्य तीनों गुणों के सर्वथा परित्याग पूर्वक सीधा एक साथ परब्रह्म की ओर जाता है जैसा कि हमने इसी प्रकरण में दो स्थानों में सांख्य की निष्ठा मे बतलाया है।

"ईश्वरासिद्धेः" का समाधान

ईश्वरासिद्धेः । (सां० द० १।९२)

उपरोक्त सूत्र से सांख्य पर अनीश्वरवादी होने का दोष लगाया जाता है।

यह सूत्र पहिले अध्याय के प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग मे आया है। अब उसे स्पष्ट किये देते है।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । (सां० द० १।८९)

अर्थ—इस सूत्र मे प्रत्यक्ष का लक्षण बतलाया है। अर्थात् इंद्रियों के सन्निकर्ष रूप सम्बन्ध को प्राप्त हुआ जो उस विषय के आकार का चित्र खींचने वाला विज्ञान (चित्त की वृत्ति) है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस पर यह शंका होती है कि योगियों को बिना इंद्रियों के सन्निकर्ष के चित्त वृत्ति का वस्तु के तदाकार होकर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; इसलिए उपरोक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष आजाता है। इसका समाधान अगले सूत्र मे करते हैं:

योगिनामबाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः। (सां० द० १।९०)

योगियों का बाह्य प्रत्यक्ष न होने से उपरोक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं आता; अर्थात उपरोक्त लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान का है, योगियों का इस प्रकार का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष नहीं है, वह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष है। इसलिए सूत्र मे बतलाये हुए लक्षण मे अव्याप्ति दोष नहीं आता। अथवा,

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वा ऽदोषः। (सां० द० १।९१)

अर्थ—योगियो को लीन वस्तुओं (सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट) में अतिशय सम्बन्ध होने से अव्याप्ति दोष नहीं आता।

दूसरी शंका इस प्रकार उत्पन्न होती है कि योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है इसलिए सूत्र मे बतलाये हुए लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। इसका उत्तर सूत्रकार निम्न सूत्र में देते हैं—

ईश्वरासिद्धेः । (सां० द० १।९२)

अर्थ—ईश्वर की असिद्धि से (अव्याप्ति दोष नहीं आता है)।

यह सूत्र ईश्वर के अस्तित्व के अभाव को नहीं बतलाता है किन्तु इससे ईश्वर के शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वर के शुद्ध स्वरूप के तदाकार होकर उसका ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती है। इसलिये इस सूत्र से ईश्वर के अस्तित्व की असिद्धि नहीं बतलाई गई है किन्तु जिस प्रकार भौतिक पदार्थों का साधारण मनुष्यों को बाह्य प्रत्यक्ष से और योगियों को सूक्ष्म पदार्थों का आभ्यन्तर प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है इस प्रकार का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान नहीं होता।

सांख्य ने ईश्वर को ऐसा स्वेच्छाचारी सम्राट नहीं माना है, जो अपने मनोरञ्जन के लिये सृष्टि की रचना करता है और स्वार्थ-सिद्धि के लिये सर्वहितकारी नियमों का भी उल्लंघन कर सकता है; किन्तु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और ज्ञान-स्वरूप माना है, जिसकी ज्ञान-शक्ति से जड़ प्रकृति में सारे पुरुषों के कल्याणार्थ सृष्टि, उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय की ज्ञान, नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया हो रही है। जैसा स्वयं विज्ञान-भिक्षु ने सूत्र सत्तानवे के प्रवचन भाष्य में लिखा है।

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य १। ९७)

अर्थ—जैसे बिना इच्छावाले रत्न (मणि चुम्बक) के स्थित रहने मात्र से लोहा (आपसे-आप) प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्ता-मात्र देव (ईश्वर) से जगत् की उत्पत्ति आदि होती है। इस कारण ईश्वर में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छे प्रकार सिद्ध है। वह निरिच्छ होने से अकर्ता और सामीप्य-मात्र से कर्ता है।

इसी बात को गीता के पांचवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में दर्शाया है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

अर्थ—ईश्वर भूत प्राणियों के न कर्तापन को और न कर्मों तथा कर्मों के फल के संयोग को (वास्तव) में रचता है। किन्तु परमात्मा के सान्निध्य से प्रकृति ही वर्तती है। अर्थात् गुण ही गुणों में वर्त रहे है॥१४॥

सर्वव्यापी ईश्वर न किसी के पाप को और न किसी के शुभ कर्म को भी ग्रहण करता है (किन्तु) अविद्या से ज्ञान (विवेक ज्ञान) ढका हुआ है इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥१५॥

परन्तु जिनका अन्त:करण का अज्ञान विवेक ज्ञान द्वारा नाश हो गया है उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस पर-ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को हृदय में प्रकाशित करता है अर्थात् साक्षात् कराता है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। (सां० द० ३।५७)

उपरोक्त सूत्र से ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट शब्दों में बतलाई गई है।

विज्ञानभिक्षु ने यहाँ अपने साङ्ख्य-प्रवचन भाष्य में ईश्वर को प्रकृतिलय का वाचक बतलाया है। इसलिये पाठकों के स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार करने के लिये प्रकृतिलय के प्रसङ्ग के साथ इस सूत्र को बतलाए देते हैं—

न कारणलयात् कृतकृत्यतामग्नवदुत्थानात्। (सां० द० ३।५४)

अर्थ—कारण में लीन होने से पुरुष को कृतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगाने वाले के समान फिर ऊपर उठना होता है। इस विषय में योगदर्शन १।१९ की व्याख्या देखिये।

अर्थात् प्रकृतिलय होना भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार डुबकी लगाने वाले को श्वास लेने के लिये ऊपर उठना होता है, इसी प्रकार प्रकृतिलयों को भी एक नियत समय के पश्चात् विवेक-ज्ञान द्वारा स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिये प्रकृति-लीनता से निकल कर फिर जन्म लेना होता है।

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्। (सां० द० ३।५५)

अर्थ—यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं है, तो भी परतन्त्रता से उसका योग होता है। अर्थात् यद्यपि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं है, कारण है, फिर भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के नियमों के आधीन पुरुष के अपवर्ग (स्वरूपावस्थिति) कराने के लिये प्रवृत्त हो रही है। प्रकृतिलय पुरुष स्वरूपावस्थिति को प्राप्त किये हुए नहीं होते हैं। इसलिये प्रकृति ईश्वरीय नियमों से परतन्त्र हुई, उनको अपवर्ग दिलाने के लिये प्रकृति-लीनता से निकाल कर ऊँचे योगियों के कुल में जन्म दिलाती है।

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। (सां० द० ३।५६)

अर्थ—वही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है।

अर्थात् वह चेतन तत्त्व ईश्वर, प्रकृति जिसके आधीन ज्ञान, व्यवस्था और नियम-पूर्वक पुरुष के अपवर्ग के लिये प्रवृत्त हो रही है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। (सां० द० ३।५७)

अर्थ—इस प्रकार की ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

अर्थात् प्रथम अध्याय के पाँचवें सूत्र में ईश्वर के बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकार

का न होने से असिद्धि बतलाई थी; पर इस प्रकार सर्व सृष्टि का नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

यहाँ प्रसङ्ग तथा युक्ति से प्रकृतिलय पुरुष जिनमें न पूरा विवेक ज्ञान है, और जो न स्वरूपावस्थिति को प्राप्त किये हुए हैं, वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं हो सकते। यदि प्रकृतिलय से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर के ही अर्थ लिये जाँय तो समष्टि प्रकृति के अधिष्ठाता समष्टि-रूपेण चेतन-तत्त्व ईश्वर के ही हो सकते हैं जिसका योगदर्शन १।२८ की व्याख्या तथा वि० वि० में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, जो उसका शुद्ध स्वरूप नहीं है किन्तु शबल अर्थात् प्रकृति के संयोग से है।

सम्भव है विज्ञानभिक्षु ने प्रकृतिलय से सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ईश्वर के अर्थ इस अभिप्राय से किये हों कि योगियों को समाधि द्वारा केवल महत्तत्त्व तक ही साक्षात्कार होता है इससे अव्यक्तमूल प्रकृति अनुमानगम्य होती है। इसलिये अनुमानगम्य अव्यक्त कारण प्रकृति के अधिष्ठाता ईश्वर भी महत्तत्त्व के अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ रूप से ही व्यक्त (प्रगट प्रत्यक्ष) हो सकते हैं। अतः डुबकी लगानेवाले के सदृश प्रकृति से बाहर निकलने से अभिप्राय महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि सूक्ष्म जगत् के अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ रूप से पुरुष को अपवर्ग दिलाने के लिये सृष्टि-उत्पत्ति के समय प्रकट होना है।

साम्निध्यमात्रेणेश्वरस्य सिद्धिस्तु श्रुतिस्मृतिषु सर्वसम्मतेत्यर्थः।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतद्॥
सृजते च गुणान् सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति।
गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य ३।५७)

अर्थ—अङ्गुष्ठ परिमाण हृदय-देश है, उस हृदयाकाश में वर्तमान पुरुष को हृदय की उपाधि के कारण अङ्गुष्ठमात्र कहा है। वह अङ्गुष्ठ-मात्र पुरुष शरीर के भीतर रहता है (व्यापक होने पर भी चूंकि हृदयादेश में उपलब्धि होती है अतः हृदयोपहित निर्देश किया है) जो उस भूत और भविष्यत् के स्वामी आत्मा को जानकर फिर कुछ भी छिपाना नहीं चाहता, वही यह आत्मतत्त्व है। और (वह) सब गुणों को उत्पन्न करता है, पीछे क्षेत्रज्ञ तो देखता है (गुणों का द्रष्टा रहता है) ईश्वर उदासीन की सदृश सब गुणों को कार्य रूप में परिणत करता है।

गीता के अध्याय १३ के निम्नलिखित श्लोकों का भी यही आशय है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वभावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नलोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

अर्थ—हे अर्जुन ! अनादि होने से और गुणातीत होने से वह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित हुआ भी (वास्तव में) न कर्त्ता है और न लेपायमान होता है ॥३१॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं रहता है वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा (गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से) लिप्त नहीं रहता है ॥३२॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है ।

कपिल मुनि आस्तिक थेः अन्य युक्तियाँ

यदि कपिल मुनि नास्तिक होते तो श्वेताश्वतरादि उपनिषद् तथा गीता में उनकी इतनी प्रशंसा नहीं की जाती जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में दिखलाया गया है । सांख्य तथा योग सबसे प्राचीन वैदिक दर्शन हैं । योग कर्मयोग, और सांख्य ज्ञानयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनका गीता में बारबार वर्णन आता है ।

श्रीमद्भागवत् के तीसरे स्कन्ध में जहां भगवान् कपिल ने अपनी माता को आध्यात्मिक उपदेश दिया है वहां उनको स्वयं ईश्वर का अवतार माना गया है ।

श्री व्यासजी महाराज ने योगदर्शन के भाष्य में पञ्चशिखाचार्य के सांख्यसूत्रों को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है ।

सांख्य ने वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान और आप्त प्रमाण माना है ।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् । (सां० द० ५।४६)

अर्थ—उन (वेदों) का बनाने वाला कोई पुरुष नहीं (दिखलाई देता है), इसलिये उनका पौरुषेयत्व नहीं बन सकता ।

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् । (सां० द० ५।४७)

अर्थ—मुक्त और अमुक्त (बद्ध) के अयोग्य होने से (वेदों की) पौरुषेयता नहीं बन सकती ।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् । (सां० द०५५१)

अर्थ—अपनी स्वाभाविक निज शक्ति द्वारा उत्पन्न होने से वेदों को स्वतः प्रमाणता है।

सांख्य ने अपने सारे सिद्धान्तों को वेद के आधार पर माना है और उनका श्रुतियों से अविरोध सिद्ध किया है । जैसे—

निर्गुणादि श्रुतिविरोधश्चेति । (सां० द० १।५४)

अर्थ—निर्गुणादि श्रुतियों से भी विरोध है।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्ति श्रुतिः । (सां० द० १।१५८)

अर्थ—परम्परा से उस मोक्ष की सिद्धि में मुक्ति प्रतिपादक श्रुति है।

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता । (सां० द० ५।११६)

अर्थ—समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में ब्रह्मरूपता हो जाती है।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः । (सां० द० ५।११७)

अर्थ—दो में सबीज और अन्यत्र (तीसरे में) उस (बीज) का नाश हो जाता है।

अर्थात् सुषुप्ति में बन्धन के बीज पाँचों क्लेश संस्काररूप से बने रहते हैं, और (असम्प्रज्ञात) समाधि में व्युत्थान के संस्कार चित्त भूमि में बीज रूप से दबे रहते हैं, किन्तु (तीसरे) तीसरे मोक्ष में चित्त के नाश के साथ उस बीज का नाश होजाता है।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ। (सां० द० ५।११८)

अर्थ—दो के समान तीनों के दृष्ट होने से केवल दो ही नहीं मान सकते।

अर्थात् सुषुप्ति को सब ने अनुभव किया है और समाधि को कुछ लोगों ने; इसलिये इन दोनों से मोक्ष की अवस्था भी सिद्ध होती है।

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् (सां० द० ५।११९)

अर्थ—दोष के योग्य होते हुए भी वासना से अनर्थ की ख्याति नहीं हो सकती, और निमित्त को मुख्य बाधकता है।

अर्थात् यद्यपि सुषुप्ति में तमोगुण दोष का योग है तो भी वासना से कोई अनर्थ (क्लेशादि) प्रकट नहीं हो सकता और सुषुप्ति का निमित्त तमोगुण मुख्यतया दुःख आदि को रोके रहता है। इसलिये सुषुप्ति में भी ब्रह्मरूपता अवश्य है।

इससे बढ़कर सांख्य में ईश्वर-सिद्धि को और किस प्रमाण की आवश्यकता रह जाती है।

योग-दर्शन

योग का महत्त्व

योग सांख्य का ही क्रियात्मक रूप है। योग सारे सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के पक्षपात और वाद-विवाद से रहित सार्वभौमिक धर्म है जो तत्त्व का ज्ञान स्वयं अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखलाता है और मनुष्य को उसके अन्तिम ध्येय तक पहुँचाता है। सारी श्रुति-स्मृति योग की महिमा गान कर रही हैं।

योग का वास्तविक स्वरूप

योग के सम्बन्ध में नाना प्रकार की फैली हुई भ्रान्तियों के निवारणार्थ उसके वास्तविक स्वरूप को समझा देना अत्यावश्यक है। मोटे शब्दों में योग स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना अर्थात् बाहर से अन्तर्मुख होना है। चित्त की वृत्तियों द्वारा हम स्थूलता की ओर जाते हैं अर्थात् बहिर्मुख होते हैं (आत्म तत्त्व से

प्रकाशित चित्त, अहंकार रूप वृत्ति द्वारा, अहंकार, इन्द्रियों और तन्मात्राओं रूप वृत्तियों द्वारा, तन्मात्रायें सूक्ष्म और स्थूल भूत, और इन्द्रियें विषयों की वृत्तियों द्वारा बहिर्मुख हो रही हैं) जितनी वृत्तियें बहिर्मुख होती जावेंगी उतनी ही उनमे रज और तम की मात्रा बढ़ती जावेगी और जितना वृत्तियों का निरोध होता जावेगा उतना ही रज और तम के तिरोभाव पूर्वक सत्त्व का प्रकाश बढ़ता जावेगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्म स्वरूप शेष रह जाता है। इसको यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार जल के सर्वत्र भूमि मे व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धारा को किसी स्थान विशेष के खोदने पर निकाला जाता है। इसी प्रकार परमात्म तत्त्व के सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूप को किसी स्थान विशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्त को किसी एक विशेष देश (विषय-ध्येय-लक्ष्य) पर ठहरा कर शुद्ध परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने का यत्न किया जाता है, इसको एकाग्रता, सम्प्रज्ञात योग तथा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और उसके पश्चात जो सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर शुद्ध परमात्म स्वरूप की प्राप्ति है वह निरुद्ध अवस्था, असम्प्रज्ञात योग तथा असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

योग के तीन अन्तर्विभाग—उपासना, कर्म और ज्ञानः—

इसमे परमात्म प्राप्ति के लिये जो चित्त को एक लक्ष्य विशेष पर ठहराना है यह उपासना या भक्ति योग है। किन्तु चित्त अन्य विषयों मे राग होने के कारन उनकी ओर दौड़ता है। विषयों मे राग सकाम कर्मों से होता है। इस लिए वैराग्य के हेतु कर्मों में निष्कामता आवश्यक होती है। अर्थात् पाप रूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं। पुण्य रूप धर्म अर्थात कर्त्तव्य कर्मों को भी उनकी फलों की इच्छा को छोड कर करना चाहिए। यह दो प्रकार से होता है एक तो कर्मों के कारण अर्थात् शरीर इन्द्रियां आदि से होने वाले सारे कर्म और उनके फल आदि सब को ईश्वर के समर्पण करके कर्त्तव्य कर्मों का करना। दूसरा कर्त्तव्य कर्मों को इस भावना से करना कि शरीर इन्द्रियो आदि तथा उनके विषय भी तीनों गुणों से बने हुए हैं इसलिये गुण ही गुणों मे वर्त रहे हैं। आत्मा उनका द्रष्टा सदा अकर्त्ता, निर्विकार, निर्लेप और असंग है। इस प्रकार कर्मों के फलों से निष्कामता प्राप्त करने को कर्म योग कहते हैं। इन दोनों योगों से जो परमात्मा की प्राप्ति है वह ज्ञान अथवा सांख्य योग है।

उपासना, कर्म और ज्ञान—इन तीनों योगों का अपना अपना स्वतंत्र स्वरूपः

ये तीनों योग स्वतन्त्र रूप से भी अलग अलग वर्णन किये जाते हैं। अर्थात् जहाँ परमात्म प्राप्ति के लिये चित्त को किसी विशेष लक्ष्य पर ठहराने के लिये अधिक जोर दिया जाय वह उपासना या भक्ति योग है। जहा परमात्म प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म को प्रधानता दी जावे वह कर्म योग हैं। और जहा इन दोनों की उपेक्षा करते हुए परमात्म ज्ञान को ही मुख्य माना जावे वह ज्ञान या सांख्य योग है। किन्तु जिस प्रकार ससार की कोई भी वस्तु, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के समिश्रण के बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्व की प्रधानता होती है, कहीं रज की

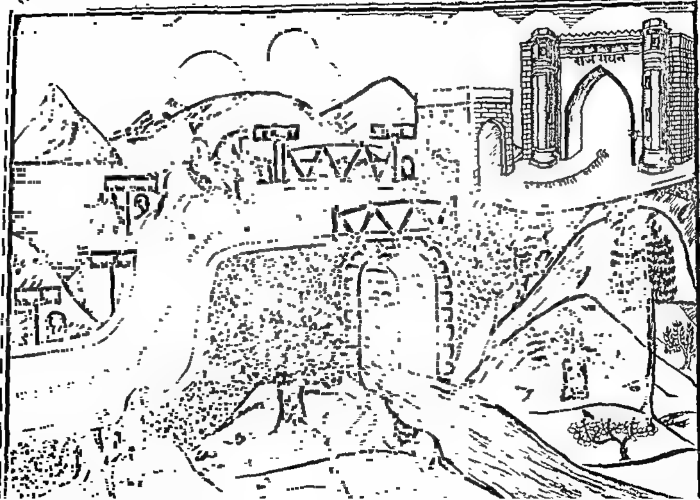
और कहीं तम की इसी प्रकार इन तीनों योगों में भी तम रूप भक्ति चित्त को एक लक्ष्य पर ठहराने वाली, रज रूप निष्काम कर्मता, और सत्त्व रूप ज्ञान, ये तीनों किसी न किसी अंश में बने ही रहते हैं, यह अवश्य होता है कि उपासना या भक्ति योग में उपासना प्रधान रूप से होती है कर्म और ज्ञान गौण रूप से। कर्म योग में कर्म की प्रधानता ज्ञान और उपासना की गौणता और ज्ञानयोग में ज्ञान की प्रधानता और कर्म तथा भक्ति की गौणता होती है।

तीनों योगों के दो मुख्य भेद-सांख्य और योग—

इन तीनों योगों के दो मुख्य भेद सांख्य और योग नाम से किये गये हैं। जहां भक्ति योग और कर्म योग पर अधिक जोर दिया गया हो वह योग निष्ठा कहलाती है और जहां ज्ञान को प्रधानता दी जाती है वह सांख्य निष्ठा। इन दोनों निष्ठाओं का वर्णन सांख्य प्रकरण के आरम्भ में विस्तारपूर्वक कर दिया गया है।

रूपक द्वारा योग का स्वरूपः—

योग का दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपक द्वारा उसके अष्टांग स्वरूप को दिखलाने का यत्न किया जाता है—चित्त और पुरुष का जो अनादि स्व स्वामी भाव सम्बन्ध चला आ रहा है उसके अनुसार स्व रूप चित्त को अश्व और स्वामी रूप पुरुष को सवार समझना चाहिए। इस अश्व का मुख्य प्रयोजन अपने स्वामी को भोग (इष्ट) रूप मार्ग को पूरा कराकर अपवर्ग रूप लक्ष्य तक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़क वाला चार भागों में विभक्त है—पहला स्थूल भूत दूसरा सूक्ष्म भूतों से तन्मात्राओं तक, तीसरा अहंकार, और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारे पर भेद ज्ञानरूपी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोड़े को छोड़ देना पड़ता है, और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्म स्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है जहाँ इस सवार को पहुँचा देना घोड़े का मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्म रूप असावधानी से पुरुष घोड़े की पीठ पर से नीचे गिर कर बाग पकड़े हुए घोड़े की इच्छानुसार असमर्थता से उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्व की असंख्य चालें हैं जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकार की हैं—एक क्लिष्ट जो पुरुष के लिए अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट जो पुरुष के लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओं में रहती है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, इनमें पहली तीन अवस्थायें पुरुष के प्रतिकूल हैं; केवल अन्तिम दो अनुकूल हैं। यह घोड़ा पहली तीन अवस्थाओं में अपनी अनन्त क्लिष्ट चालों से संसार रूपी घोर भयङ्कर वन में विषय वासना रूप हरियाली की ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट) रूपी नदी नालों, खाई खन्दक, कांटे और पत्थरों में असमर्थता से घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख दुःख रूपी चोटों से पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समय से उस अवस्था में रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वथा भूल गया है और घोड़े के साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयों को अपना मानने लगा है। ईश्वर अनुग्रह से जब अध्यात्म विषयक सत्शास्त्रों और निःस्वार्थ आप्तकाम योगी गुरुओं के उपदेश से उसको अपने और इस घोड़े के वास्तविक स्वरूप का तथा अपने अन्तिम लक्ष्य का पता लगता है तब वह यम नियम के साधनों से घोड़े की क्लिष्ट चालों को अक्लिष्ट बनाता है।



आसन का सहारा लेकर घोडे की रकाब पर पैर रखने का यत्न करता है। प्राणायाम की सहायता से रकाब पर पैर जमाने में समर्थ होता है प्रत्याहार द्वारा वशीकार करके उसकी पीठ पर सवार होने में सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट) रूपी पक्की सडक की ओर घोडे का मुख फेरना धारणा है। घोडे को उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सडक के निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगत रूप एकाग्रता की अवस्थाओं से क्रमानुसार योग रूपी मार्ग के स्थूल, सूक्ष्म, अहंकार और अस्मिता रूपी भागों को समाप्त करता है, विवेक ख्याति द्वारा घोडे को अश्वशाला में छोड कर सर्व वृत्ति निरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्म स्वरूप रूपी विशाल राज भवन में पहुचता है।

योग के आदि आचार्य

योग के आदि आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ सूत्रों के आधार पर (जो इस समय लुप्त हैं) पतञ्जलि मुनि ने योग दर्शन का निर्माण किया है। इसको विस्तार पूर्वक समाधिपाद के प्रथम सूत्र मे दर्शाया जावेगा। पतञ्जलि मुनि की जीवनी तथा योग दर्शन के भाष्यकारों का वर्णन इस प्रकरण के अंत में किया जावेगा।

योग-दर्शन के चार पाद

योगदर्शन के चार पाद हैं और १९५ सूत्र हैं। समाधिपाद मे ५१, साधनपाद मे ५५, विभूतिपाद मे ५५ और कैवल्यपाद में ३४।

१ समाधिपाद—जिस प्रकार एक निपुण क्षेत्रज्ञ सबसे प्रथम सबसे अधिक उपजाऊ भूमि को तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार श्री पतञ्जलि महाराज ने समाहित चित्त वाले सबसे उत्तम अधिकारियों के लिये सबसे प्रथम समाधिपाद को आरम्भ करके उसमें विस्तार-पूर्वक योग के स्वरूप को वर्णन किया है।

सारा समाधिपाद एक प्रकार से निम्न तीन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या है:—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ॥ २ ॥

अर्थ—योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

अर्थ—सब वृत्तियों के निरोध होने पर) द्रष्टा की स्वरूप मे अवस्थिति होती है।

वृत्ति सारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

अर्थ—दूसरी (स्वरूपावस्थिति से अतिरिक्त) अवस्था में द्रष्टा वृत्ति के समान रूप वाला प्रतीत होता है।

चित्त, बुद्धि मन, अन्तःकरण लगभग पर्याय-वाचक समानार्थक शब्द हैं, जिन का भिन्न भिन्न दर्शनकारों ने अपनी-अपनी परिभाषा में प्रयोग किया है। मन की चञ्चलता प्रसिद्ध है। सृष्टि के सारे कार्यों में मन की स्थिरता ही सफलता का कारण होती है। सृष्टि के सारे महान् पुरुषों की अद्भुत शक्तियों में उनके मन की एकाग्रता का रहस्य छिपा हुआ होता है। नैपोलियन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह इतना एकाग्रचित्त था कि रणभूमि में भी शान्तिपूर्वक शयन कर सकता था। किन्तु ये सब एकाग्रता के बाह्य रूप हैं।

योग के अन्तर्गत मन को दो प्रकार से रोकना होता है : एक तो केवल एक विषय में लगातार इस प्रकार लगाये रखना कि दूसरा विचार न आने पावे, इसको एकाग्रता अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं इसके चार भेद हैं (१) वितर्क—किसी स्थूल विषय में चित्तवृत्ति की एकाग्रता (२) विचार—किसी सूक्ष्म विषय में चित्त वृत्ति की एकाग्रता, (३) आनन्द—अहंकार विषय में चित्त वृत्ति की एकाग्रता (४) अस्मिता—अहंकार रहित अस्मिता विषय में चित्त वृत्ति की एकाग्रता। इसकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति है, जिसमें चित्त का आत्म-अध्यास छूट जाता है और उसके द्वारा आत्मस्वरूप का उससे पृथक् रूप से साक्षात्कार होता है। किन्तु योगदर्शन इसको वास्तविक आत्मस्थिति नहीं बतलाता है। यह भी चित्त ही की एक वृत्ति अथवा मन का ही एक विषय है। किन्तु इसका निरन्तर अभ्यास वास्तविक स्वरूपावस्थिति में सहायक होता है।

उपर्युक्त विवेक ख्याति भी चित्त ही की एक उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। इसको "नेति नेति" (यह वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है यह आत्मस्थिति नहीं है इत्यादि) रूप पर-वैराग्य द्वारा हटाना मन का दूसरी प्रकार से रोकना है : इसके भी हट जाने पर चित्त में कोई भी वृत्ति न रहना अथवा मन का किसी विषय की ओर न जाना, सर्व-वृत्ति-निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या योग दर्शन में यथास्थान की जावेगी।

निरोध अपने स्वरूप का सर्वथा नाश होजाना नहीं है, किन्तु जड़तत्त्व के अविवेकपूर्ण संयोग का चेतन तत्त्व से सर्वथा नाश हो जाना है। इस संयोग के न रहने पर द्रष्टा की (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थिति होती है। इसको तीसरे सूत्र में बतलाया गया है। "स्वरूपावस्थिति" इतना व्यापक शब्द है कि सारे सम्प्रदाय और मत-मतान्तर वाले इसके अपने अभिमत अर्थ ले सकते हैं, किन्तु योग क्रियात्मिक रूप से अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचा कर यथार्थ स्वरूप अनुभव कराकर शब्दों के वाद-विवाद में नहीं पड़ा है। स्वरूपावस्थिति से अतिरिक्त भिन्न अवस्थाओं में यद्यपि द्रष्टा के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है, तथापि जैसी चित्त की वृत्ति सुख-दुःख और मोह-रूप होती है, वैसा ही द्रष्टा भी प्रतीत होता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल के हिलने से चलायमान, और स्थिर होने से शान्त प्रतीत होता है।

ब्रह्मसूत्र तथा सांख्य सूत्र के सदृश योग दर्शन के भी प्रथम चार सूत्र योग दर्शन की चतुः सूची है, जिसमें सारा योग दर्शन सामान्य रूप से बतला दिया है। शेष सब सूत्र इन्हीं की विशेष व्याख्या रूप हैं।

२ साधनपाद—दूसरे पाद में विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम अधिकारियों के लिये योग का साधन बतलाया गया है—

सर्व बन्धनों और दुःखों के मूल कारण पाँच क्लेश हैं : अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अविद्या—अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दुःख में सुख, अनात्म में आत्म समझना अविद्या है। इस अविद्या-रूपी क्षेत्र में ही अन्य चारों क्लेश उत्पन्न होते हैं।

चेतन पुरुष, चिति में भेदज्ञान नहीं रहता। यह अविद्या से उत्पन्न हुआ चित्त और चिति में अविवेक अस्मिता क्लेश कहलाता है।

राग—चित्त और चिति में विवेक न रहने से जड़तत्त्व में सुख की वासना उत्पन्न होती है। अस्मिता क्लेश से उत्पन्न हुई चित्त में सुख की इस वासना का नाम राग है।

द्वेष—इस राग से सुख में विघ्न पड़ने पर दुःख के संस्कार उत्पन्न होते हैं। राग से उत्पन्न हुए दुःख के संस्कारों का नाम द्वेष है।

अभिनिवेश—दुःख पाने के भय से भौतिक शरीर को बचाये रखने की वासना उत्पन्न होती है, इसका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

क्लेशों से कर्म की वासनाएं उत्पन्न होती हैं। कर्म वासनाओं से जन्म रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। उस वृक्ष में जाति, आयु और भोग रूपी तीन प्रकार के फल लगते हैं। इन तीनों फलों में सुख-दुःख रूपी दो प्रकार का स्वाद होता है।

जो पुण्य-कर्म अर्थात् हिंसा-रहित दूसरे के कल्याणार्थ कर्म किये जाते हैं उनसे जाति, आयु और भोग में सुख मिलता है, और जो पाप कर्म अर्थात् हिंसात्मक दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए कर्म किये जाते हैं उनसे जाति, आयु और भोग में दुःख पहुंचता है।

किन्तु यह सुख भी तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में दुःखरूप ही है। क्योंकि विषयों में परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख मिला हुआ होता है; और तीनों गुणों के सदा अस्थिर रहने के कारण उनकी सुख दुःख और मोह-रूपी वृत्तियां भी बदलती रहती हैं। इसलिए सुख के पीछे दुःख का होना आवश्यक है।

१ हेय—त्याज्य : दुःख क्या है ?

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आने वाला दुःख हेय : त्यागने योग्य है।

२ हेयहेतु—त्याज्यदुःख का कारण क्या है ?

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेयहेतु : दुःख का कारण है।

दृश्य का स्वरूप

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ—सारा दृश्य त्रिगुणात्मक है; सत्त्व का स्वभाव प्रकाश है, रजस् का क्रिया और तमस् का स्थिति है। इनका स्वरूप पांच स्थूलभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, और इन्द्रियें हैं। इनका प्रयोजन पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाना है।

विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

अर्थ—गुणों की चार अवस्थाएँ हैं:—१ विशेष : पांचों स्थूलभूत, और ग्यारहों

इन्द्रियें; २ अविशेष : पाँच तन्मात्रायें और अहंकार; ३ लिङ्गमात्र : महत्तत्त्व; और ४ अलिङ्ग: प्रधान अर्थात् अव्यक्त, मूलप्रकृति।

द्रष्टा का स्वरूप

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

अर्थ—द्रष्टा यद्यपि देखने की शक्ति-मात्र निर्मल और निर्विकार है, फिर भी उसे चित्त की वृत्तियों का ज्ञान रहता है।

दृश्य का प्रयोजन

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

अर्थ—यह सारा दृश्य द्रष्टा पुरुष के अपवर्ग (स्वरूपावस्थिति) कराने के लिए है। यह दृश्य मुक्त पुरुषों का प्रयोजन सिद्ध करके अन्य पुरुषों के लिए इसी प्रयोजन के सिद्ध कराने में लगा रहता है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य साधारणत्वात् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिनका प्रयोजन सिद्ध होगया है, उनके लिए यह दृश्य नष्ट हुआ भी अपने स्वरूप से नष्ट नहीं होता क्योंकि वह दूसरों की सांझा वस्तु है अर्थात् दूसरों के भोग अपवर्ग के साधन में लगा रहता है।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग के वियोग का कारण अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

अर्थ—स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि का कारण संयोग है। अर्थात् संयोग हटाने के लिये स्वशक्ति और स्वामि शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है। स्वशक्ति अर्थात् दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि जो भोग रूप है सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा और स्वामि शक्ति अर्थात् पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि जो अपवर्गरूप है असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा की जाती है। दृश्य और द्रष्टा अर्थात् चित्त और पुरुष का जो आसक्ति पूर्वक स्व स्वामि अर्थात् भोग्यत्व और भोक्तृत्व भाव सम्बन्ध है वह संयोग है।

संयोग की उत्पत्ति का कारण अगले सूत्र में बतलाते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य के अविवेक-पूर्ण संयोग का कारण अविद्या है।

३ हान—दुःख का नितान्त अभाव क्या है?

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव होता है—यही 'हान' है। यह चेतन-स्वरूप पुरुष का कैवल्य है।

४ हानोपाय—दुःख के नितान्त अभाव का साधन क्या है?

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

अर्थ—निर्मल अडोल विवेक-ख्याति हान का उपाय है।

विवेकख्याति की सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा अगले सूत्र में बतलाई गई है :

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

अर्थ—उस विवेक-ख्याति की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है:—

१ जो कुछ जानना था जान लिया, अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप, और संस्कार दुःखों तथा गुणवृत्ति-विरोध से दुःख रुप ही है। इसलिये 'हेय' है। अब कुछ जानने योग्य नहीं रहा;

२ जो कुछ दूर करना था दूर कर दिया. अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया। अब कुछ दूर करने योग्य नहीं रहा;

३ जो कुछ साक्षात् करना था साक्षात् कर लिया, अर्थात् निरोध-समाधि द्वारा 'हान' को साक्षात् कर लिया। अब कुछ साक्षात् करने योग्य नहीं रहा;

४ जो कुछ करना था कर लिया, अर्थात् 'हान' का उपाय 'अविप्लव विवेक-ख्याति' सम्पादन कर लिया। अब कुछ करने योग्य नहीं रहा;

५ चित्त ने अपने भोग अपवर्ग दिलाने का अधिकार पूरा कर दिया; अब कोई अधिकार शेष नहीं रहा;

६ चित्त के गुण अपने भोग अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध करके अपने कारण में लीन हो रहे हैं;

७ गुणों से परे होकर शुद्ध परमात्म स्वरुप मे अवस्थिति हो रही है।

निर्मल विवेक-ख्याति, जिसे हान का उपाय बतलाया है, अब उसकी उत्पत्ति का साधन बतलाते हैं:—

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

अर्थ—योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति (प्रकाश) विवेक-ख्याति पर्य्यन्त बढ़ जाती है।

योग के आठ अंग

योग के आठ अङ्ग : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इन का विस्तार पूर्वक वर्णन योग दर्शन मे यथास्थान किया जावेगा।

३ विभूतिपाद

धारणा, ध्यान और समाधि, तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं। यह तीनो अन्य पाँच अङ्गों की अपेक्षा सबीज समाधि के अन्तरङ्ग साधन हैं। किन्तु निर्बीज समाधि के यह भी बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि उसका अन्तरङ्ग साधन पर-वैराग्य है। इस संयम के विनियोग से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं जिनका तीसरे पाद मे वर्णन है। यह सिद्धियाँ

यद्यपि अश्रद्धालुओं को योग में श्रद्धा बढ़ाने और असमाहित (विक्षिप्त) चित्त वालों के चित्त को एकाग्र करने में सहायक होती हैं, किन्तु इनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये । इसकी कई सूत्रों से चेतावनी दी गई है; जैसे—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

अर्थ—ऊपर बतलाई हुई प्रातिभ आदि सिद्धियें व्युत्थान में सिद्धियें हैं किन्तु समाधि में विघ्न हैं ।

योगमार्ग पर चलने वाले के लिये नाना प्रकार के प्रलोभन आते हैं । अभ्यासी को उनसे सावधान रहना चाहिये, उनमें फँसने से और घमण्ड से बचे रहना चाहिये । इस सम्बन्ध में निम्न सूत्र है :—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—स्थान वालों के आदरभाव करने पर लगाव और अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से फिर अनिष्ट के प्रसंग का भय है ।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४६॥

अर्थ—चित्त और पुरुष के भेद जाननेवाला सारे भावों के अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व को प्राप्त होता है ।

किन्तु योगी को उससे भी अनासक्त रहकर अपने असली ध्येय की ओर बढ़ना चाहिये, जैसा कि अगले सूत्र में बतलाया है:—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

अर्थ—उससे भी वैराग्य होने पर, दोषों का बीज क्षय होने पर कैवल्य होता है ।

४ कैवल्यपाद

इसमें कैवल्य के उपयोगी चित्त तथा चित्त के सम्बन्ध में जो जो शङ्कायें हो सकती हैं, उनका युक्तिपूर्वक निवारण किया है ।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—पुरुष को, जो क्रिया अथवा परिणाम-रहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्त के आकार की तरह आकार को प्राप्ति होने पर अपने विषयभूत चित्त का ज्ञान होता है ।

अर्थात् निर्विकार पुरुष में दर्शन-कर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है, किन्तु जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमा में अपनी चञ्चलता के बिना ही जलरूपी उपाधि की चञ्चलता से चञ्चलता भासती है वैसे ही चित्त में प्रतिबिम्बित जो चेतन है, वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के बिना ही केवल प्रतिबिम्बाधार चित्त के विषयाकार होने से तदाकार भासता है ।

वह सदा अपरिणामी, क्रिया-रहित और ज्ञान-स्वरूप रहता हुआ इसका साक्षी बना रहता है ।

· ना मत्र चित्त के [illegible] में है · —

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

अर्थ—द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ चित्त सारे आकार वाला होता है।

अर्थात् एक तो चित्त का अपना स्वरूप है, दूसरा पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टा से उपरक्त हुआ गृहीता स्वरूप है। तीसरा बाह्य विषयों से प्रतिबिम्बित होकर उन-जैसा भासता स्वरूप है। यह उसका दृश्य उपरक्त ग्राह्य स्वरूप है।

इस प्रकार चित्त को एक ऐसा दर्पण समझना चाहिये जिसमें सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो और अन्य विषयों का प्रतिबिम्ब आ रहा हो। इस शङ्का के निवारणार्थ कि जब चित्त से ही सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनाएँ रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाण-शून्य होकर चित्त ही आत्मा सिद्ध हो जावेगा अगला सूत्र है।

तदसंख्येय वासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

अर्थ—यद्यपि चित्त अनगिनती वासनाओं से चित्रित है तथापि वह पुरुष के लिये है क्योंकि वह संहत्यकारी है।

यहाँ तक चित्त और पुरुष का भेद युक्ति द्वारा बतलाकर अब अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि इसका वास्तविक ज्ञान तो अनुभव-गम्य है।

विशेषदर्शिन आत्मभाव भावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

अर्थ—समाधि द्वारा जब योगी को पुरुष और चित्त के भेद का साक्षात्कार हो जाता है तब उसकी आत्मभाव-भावना कि "मैं कौन हूं, क्या हूं, कैसा हूं"—इत्यादि निवृत्त हो जाती है।

अब इस पाद के अन्तिम सूत्र में कैवल्य का स्वरूप बतलाते है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-शक्तिरिति ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन होजाना कैवल्य है; अथवा चिति-शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होजाना कैवल्य है।

गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये है। जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तब उस पुरुष के प्रति उनका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। इसलिये वे अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार पुरुष का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के पश्चात् गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने का नाम कैवल्य है। अथवा यों समझना चाहिये कि धर्मी चित्त के परिणाम क्रम बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने पर चिति-शक्ति (पुरुष) का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थित हो जाने का नाम कैवल्य है।

चित्त की नौ अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन

सांख्य और योग फिलासफी में चित्त का विषय महत्त्व पूर्ण है। उसके वास्तविक स्वरूप को समझाने की दृष्टि से चित्त की नौ विशेष अवस्थाओं का यहां समन्वय के अन्त में संक्षेप से वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं। इसको चित्त की क्षिप्त विक्षिप्त आदि पांच भूमियों के विषय से जिसका समाधि पाद में वर्णन हुआ है पृथक् समझना चाहिये।

१ जाग्रत्अवस्था—"सत्त्व चित्त" में सत्त्वगुण गौण रूप से दबा रहता है, तम सत्त्व को वृत्ति के यथार्थ रूप के दिखलाने से रोके रखता है, परन्तु रज प्रधान होकर चित्त को इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से उपरक्त करने में समर्थ होता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति वृत्तियों का उदय होता है। इन्द्रियें बहिर्मुख होकर स्थूल शरीर द्वारा कार्य करती हैं। चित्त में व्युत्थान संस्कार तथा व्युत्थान का परिणाम होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

२ स्वप्नावस्था—सत्त्वगुण गौणतर रूप से दबा रहता है। तम रज को इतना दबा लेता है कि वह चित्त को इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों में उपरक्त नहीं कर सकता है, किन्तु रज की क्रिया सूक्ष्म रूप से होती रहती है, जिससे वह चित्त को मन द्वारा स्मृति के संस्कारों में उपरक्त करने में समर्थ रहता है। इसमें भावित स्मर्तव्य स्मृति वृत्ति रहती है। मन इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने से सूक्ष्म-शरीर में स्वप्न का कार्य करता है। चित्त में व्युत्थान के संस्कार तथा व्युत्थान का परिणाम होता है। पुरुष वृत्तिसारूप्य प्रतीत होता है।

३ सुषुप्ति अवस्था—सत्त्वगुण गौणतम रूप से दब जाता है। तमोगुण रजोगुण की स्वप्नावस्था वाली क्रियाओं को भी रोक कर प्रधान रूप से चित्त पर फैल जाता है। इसलिये किसी विषय का किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं रहता है। किन्तु रज का नितान्त अभाव नहीं होता, वह कुछ अंश में बना ही रहता है जिसके कारण किसी विषय के ज्ञान न होने की अर्थात् अभाव की प्रतीति होती रहती है। सूक्ष्म-शरीर में कार्य बन्द होकर कारण-शरीर में निद्रा-वृत्ति बनी रहती है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

४ प्रलयावस्था—प्रलय में चित्त की अवस्था सुषुप्ति जैसी होती है केवल इतना भेद है कि यह व्यष्टि-चित्त की सुषुप्ति है और प्रलय समष्टि-चित्त की, जिसमें सर्व बद्ध जीव गाढ़ निद्रा-जैसी अवस्था में रहते हैं।

५ समाधि प्रारम्भ अवस्था—तमोगुण गौण रूप से रहता है। रजोगुण की चित्त को चलायमान करने की क्रिया निर्बल होती जाती है। सत्त्वगुण प्रधान होकर चित्त को एकाग्र करने और उसमें वस्तु के यथार्थ रूप को दिखलाने में समर्थ होता जाता है। इसमें सर्वार्थता का दबना और एकाग्र वृत्ति का उदय होना प्रारम्भ होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

६ सम्प्रज्ञात समाधि (एकाग्रता)—तमोगुण गौणतर रूप से दबा रहता है। सत्त्वगुण रजोगुण को दबाकर प्रधान रूप से अपना प्रकाश करता है, जिससे चित्त वस्तु के

तदाकार होकर उसका यथार्थ रूप दिखलाने में समर्थ होता है। स्थूल-शरीर में कार्य बन्द होकर सूक्ष्म-शरीर मे एकाग्र वृत्ति रहती है। स्वप्नावस्था से इसमें यह विलक्षणता है कि तम के स्थान पर इसमें सत्त्व की प्रधानता हो जाती है, चित्त में समाधि परिणाम होता है। पुरुष एकाग्रता वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि (विवेकख्याति)—तमोगुण गौणतम रूप से नाम-मात्र रहता है। चित्त से रजोगुण तमोगुण का आवरण हटकर सत्त्वगुण का पूर्णतया प्रकाश फैल जाता है। रजोगुण केवल इतनी मात्रा में रहता है कि जिससे पुरुष को चित्त से भिन्न दिखलाने की क्रिया हो सके और तम इस वृत्ति को रोकने-मात्र रह जाता है। सुषुप्ति से इसमें यह विलक्षणता है कि तम के स्थान पर इसमें सत्त्व प्रधान रूप से रहता है। सुषुप्ति में कारण-शरीर में अभाव की प्रतीति के स्थान पर इसमें कारण-शरीर मे चित्त द्वारा पुरुष का साक्षात्कार (विवेक-ख्याति) होता है।

८ असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थिति)—"सत्त्व चित्त" में बाहर से तीनो गुणों का (वृत्तिरूप) परिणाम होना बन्द हो जाता है। तीनों गुणों का नितान्त अभाव होने से विवेक-ख्याति अर्थात पुरुष को चित्त से भिन्न प्रतीत कराने वाली वृत्ति भी रुक जाती है। सर्व वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त अपने वास्तविक सत्त्व स्वरूप से पुरुष में अवस्थित रहता है और पुरुष की शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। चित्त में केवल निरोध परिणाम अर्थात् संस्कार शेष रहते हैं, जिनके दुर्बल होने पर उसे फिर व्युत्थान दशा में आना होता है।

९ कैवल्य : मुक्ति (स्वरूपावस्थिति)—चित्त मे निरोध परिणाम अर्थात संस्कार शेष भी निवृत्त हो जाते हैं। चित्त को बनाने वाले गुण पुरुष का भोग-अपवर्ग का प्रयोजन पूरा करके अपने कारण मे लीन हो जाते हैं और पुरुष शुद्ध कैवल्य परमात्म स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (४ । ३४)

अर्थ—पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है, अथवा चिति-शक्ति की स्वरूपावस्थिति कैवल्य है।

पतंजलि मुनि का परिचय

योगदर्शन के सूत्रकार श्री पतञ्जलि मुनि की जीवनी का ठीक ठीक पता नहीं चलता किन्तु यह बात निःसंदेह सिद्ध है कि श्री पतञ्जलि मुनि भगवान् कपिल के पश्चात और अन्य चारों दर्शनकारों से बहुत पूर्व हुए हैं। किसी-किसी का मत है कि पाणिनि व्याकरण का महाभाष्य तथा वैद्यक की चरक-संहिता, ये दोनों जो अपने-अपने विषय के अद्वितीय ग्रन्थ हैं, इन्हीं के रचे हुए हैं। जैसा कि कहा गया है :—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां, पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥

अर्थ—मैं उस मुनियों में श्रेष्ठ पतञ्जलि को बद्धाञ्जलि (हाथ जोड़कर) नमस्कार करता हूँ, जिसने कि योग से अन्तःकरण के, पद, (व्याकरण महाभाष्य) से वाणी के और वैद्यक (चरक ग्रन्थ के द्वारा) से शरीर के मल को दूर किया है (धोया है)।

और योगदर्शन के प्रथमसूत्र "अथ योगानुशासन" के सदृश महाभाष्य को भी प्रथम सूत्र "अथ शब्दानुशासन" से आरम्भ किया गया है तथा चरक में भी सांख्य योग फ़िलासफ़ी को ही वैद्यक का आधार शिला बनाया गया है। यथाः—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥ चरक । १ । ४५ । ४६ ।

अर्थ—चित्त आत्मा और शरीर इन तीनों का तीन दण्डों के समान परस्पर सम्बन्ध है। इन तीनों के सम्बन्ध से संसार ठेहरा हुआ है। उसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

इन तीनों के सम्बन्ध को ही पुमान् (पुरुष) चेतन और (आयुर्वेद का) अधिकरण माना गया है। इस पुरुष के लिये ही इस आयुर्वेद का प्रकाश किया गया है ॥ ४६ ॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्व भूत गुणेन्द्रियैः ।
चेतने कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ ५५ ॥

अर्थ—आत्मा निर्विकार है, पर है, चित्त, भूत गण (शरीर) और इन्द्रियों के चैतन्य में कारण है। नित्य है, द्रष्टा है, (क्रिया रहित होता हुआ भी) सर्व चित्त की क्रियाओं को देखने वाला है ॥ ५५ ॥

किन्तु इन दोनों ग्रन्थों के साथ पतञ्जलि मुनि का नाम केवल इन ग्रन्थों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये लगाया गया है। अन्यथा दोनों ग्रन्थ योग दर्शन की अपेक्षा बहुत पिछले समय के बने हुए हैं। वैद्यक अनुभव सिद्ध विषय है। इसलिये सांख्य योग फ़िलासफ़ी के साथ इसका समन्वय होना स्वाभाविक ही है। पाणिनि मुनि प्रणीत अष्टाध्यायी पर यह महाभाष्य लिखा गया है इस कारण अनुशासन का शब्द प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल के पतञ्जलि मुनि का महाभाष्य का रचयिता होना भी एक विचित्र रूप में दिखलाया गया है। जिसके अनुसार पतञ्जलि मुनि को शेष नाग का अवतार मानकर काशी में एक बावड़ी पर पाणिनिमुनि के समक्ष सर्प रूप में प्रकट होना बतलाया गया है। पाणिनिमुनि घबराकर "को भवान्" के स्थान पर "को भवान्" बोलते हैं। सर्प उत्तर देता है सर्पोऽहम् पाणिनिमुनि पूछते हैं "रेफः कुतो गतः" सर्प उत्तर देता है "तव मुखे" इसके पश्चात् सर्प के आदेश अनुसार एक चादर की आड़ लगादी गई। उसके अन्दर से शेष नाग पतञ्जलि मुनि अपने हजारों मुखों से एक साथ सब प्रश्नकर्ताओं को उत्तर देने लगे। इस प्रकार सारा महाभाष्य तैय्यार हो गया। किन्तु सर्प की इस आज्ञा के कि कोई पुरुष चादर उठाकर अन्दर न देखे

एक व्यक्ति द्वारा उलङ्घन किये जाने पर शेष नाग की फुंकार से ब्राह्मणों के सारे कागज जल गए। ब्राह्मणों की दुःखी अवस्था को देखकर एक यक्ष ने जो वृक्ष पर बैठा पत्तों पर भाष्य को लिखता जाता था, वे पत्ते उनके पास फैंक दिये। उन पत्तों में से कुछ को बकरी खा गई। इसी लिये कुछ स्थानों में महाभाष्य में असंगति सी पाई जाती है।

पाराशर्यशिलालिभ्याम् भिक्षु नटसूत्रयोः। (४।३।११०)

अष्टाध्यायी के उपरोक्त सूत्र से व्यासजी का पाणिनिमुनि से पूर्व होना सिद्ध होता है। फिर पाणिनिमुनि प्रणीत अष्टाध्यायी पर महाभाष्य कर्त्ता पतञ्जलि योगदर्शन के सूत्रकार पतञ्जलि किस प्रकार हो सकते हैं।

यह सम्भव है कि पतञ्जलि नाम के कोई अन्य व्यक्ति इन दोनों उच्च कोटि के ग्रन्थों के रचयिता हुए हों।

योग दर्शन पर भाष्य तथा वृत्ति आदि

योगदर्शन के ऊपर अनेक भाष्य, वृत्तियां और टीकाएं रची गई हैं। उनमें सबसे अधिक प्रामाणिक, प्रसिद्ध और प्राचीन व्यास भाष्य है। व्यास भाष्य स्वयं बहुत ही गूढ़ार्थ है। उसके अर्थ को समझाने के लिये वाचस्पति मिश्रने तत्त्व वैशारदी और विज्ञान भिक्षु ने योगवार्तिक की रचना की है। विज्ञान भिक्षु ने एक अलग पुस्तक योगसार में योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित किया है। वृत्तियों में 'राजमार्तण्ड" जिसका प्रसिद्ध नाम "भोजवृत्ति" है, अत्यन्त लोक प्रिय और प्रामाणिक है। गणेश भट्ट की एक बड़ी वृत्ति योगवार्तिक के आधार पर निर्मित हुई है। योग दर्शन के भाष्यकार व्यास का ठीक ठीक समय निश्चय करना कठिन है। कई एक विद्वानों का मत है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास ही योगदर्शन के भाष्य कार व्यास हैं। योग दर्शन के प्रथम वार्तिक में विज्ञान भिक्षु ने भी ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को ही योग दर्शन का भाष्यकार व्यास बतलाया है। अन्य कई विद्वान् ऐसा मानते हैं कि योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ब्रह्मसूत्रकार व्यास से भिन्न है और बहुत पूर्व समय में हुए हैं। व्यास भाष्य में भिन्न भिन्न स्थानों में लगभग इक्कीस सूत्र पञ्च शिखाचार्य्य के, कुछ वचन जैगीषव्य और वार्षगण्याचार्य्य के तथा एक दो घटनाएँ रामायण की भी उद्धृत की गई हैं। इससे सिद्ध होता है, कि सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ पञ्च शिखाचार्य्य के सूत्र और वार्षगण्याचार्य्य प्रणीत षष्ठी तन्त्र जो इस समय लुप्त हैं तथा वाल्मीकीय रामायण व्यास भाष्य के समय विद्यमान थे।

श्रीमद्भगवद्गीता और महाभारत आदि ग्रन्थ तथा ब्रह्म सूत्र उसके पश्चात् बनाए गये हैं।

व्यास भाष्य सहित 'योग वार्तिक' का भाषानुवाद समाप्त हो गया है उसके प्रकाशन का प्रबन्ध किया जारहा है।

ओ३म्

पूज्यपाद १०८ श्री स्वामी सोमतीर्थजी महाराज

प्रणीत

षड्दर्शन सदुपयोग समन्वय सूत्र

१–अथ षड्दर्शन सदुपयोग समन्वय सूत्रम् ।

अर्थः—अब पूर्वमीमांसा आदि छओं दर्शनों के सदुपयोग का समन्वय करने वाले सूत्रों को प्रारंभ करते हैं।

२–गर्भाधान-संस्कारादि-वेदारम्भ-पर्यन्त-संस्कारैः संस्कृतो वेदं पठेत् ।

अर्थः—गर्भाधान से लेकर वेदारम्भ पर्यन्त दस संस्कारों से अपने शरीर, मन और अन्तःकरण को पवित्र बना ब्रह्मचारी वेद को पढ़े ।

३–अथ धर्म-जिज्ञासा ।

अर्थः—वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म की जिज्ञासा अर्थात् उसके जानने का प्रयत्न करें ।

४–तत्र अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यस्योपयोगः ।

अर्थः—धर्म को जानकर उसका निम्नप्रकार से उपयोग करे ।

५–कृत-धर्मानुष्ठान-शुद्धान्तः करणः साधन चतुष्टयं सम्पादयेत् ।

अर्थः—यथार्थ स्वरूप से जाने हुए धर्म के अनुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरण को निर्मल बना कर विवेक, वैराग्य, शमदमादिसम्पन् और मुमुक्षा इन चार साधनों का सम्पादन करें ।

६–संजात मुमुक्षः ब्रह्म-जिज्ञासुः स्यात् ।

अर्थः—जब मुमुक्षु अर्थात् जन्म मरण के बन्धन से छूटने की प्रबल अभिलाषा मन में उत्पन्न हो जाए तब ब्रह्म को जानने की इच्छा करे ।

७–अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा इत्यस्यात्रोपयोगः ।

अर्थः—अब ब्रह्म के जानने का उपयोग अर्थात् उपाय निम्न है ।

८-अस्त्यत्रांश-त्रयम् ।

अर्थः—ब्रह्म प्राप्ति के उपाय के तीन भाग हैं ।

९-श्रवणम्, मननम् निदिध्यासनं च ।

अर्थः—श्रवण, मनन और निदिध्यासन ।

१०-श्रवणे सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः ।

अर्थः—श्रवण के लिए सभी वेदान्त ग्रन्थ उपयोगी हैं ।

११-मनने न्याय वैशेषिकयोः सहकारिता ।

अर्थः—मनन के लिए न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों को मिलाकर उनका चिन्तन करना उपयोगी है ।

१२-१३-क्वचित् पूर्व पक्षत्वेन । क्वचित् सिद्धान्त समर्थनात् ।

अर्थः—इन दोनों शास्त्रों का कहीं पूर्व पक्ष और कहीं सिद्धान्त रूप से चिन्तन करना चाहिए ।

१४-निधिध्यासने सांख्य योगयोरुपयोगः ।

अर्थः—निदिध्यासन में सांख्य और योग का उपयोग करना उचित है ।

१५-तत्र तस्य सम्यग् विधानात् ।

अर्थः—क्योंकि निधिध्यासन का वर्णन इन दोनों शास्त्रों में भली प्रकार से है ।

१६-इति षड् दर्शन-सदुपयोग-समन्वय सूत्रम् ।

अर्थः—अब षड् दर्शन के सदुपयोग को समन्वय करने वाले सूत्र समाप्त हुए ।

ॐ

पातंजल योग प्रदीप

समाधिपाद

निपुण क्षेत्रज्ञ जिस प्रकार सबसे प्रथम अधिक उपजाऊ भूमि को तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार महर्षि पतञ्जलि समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिये सबसे प्रथम समाधिपाद आरम्भ करते हैं।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—अथ = अब आरम्भ करते हैं। योग+अनुशासनम् = योग की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ को।

अन्वयार्थ—अब योग की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ को आरम्भ करते हैं।

व्याख्या—"अथ" यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भ वाचक और मङ्गलार्थक है। जिसके द्वारा लक्षण, भेद, उपाय और फलों-सहित शिक्षा दी जावे अर्थात् व्याख्या की जावे उसको अनुशासन कहते हैं। इसलिये "अथ योगानुशासनम्" के अर्थ हुए 'अब लक्षण, भेद, उपाय और फलों सहित योग की शिक्षा देनेवाले शास्त्र को आरम्भ करते हैं' योग समाधि को कहते हैं; और समाधि सारी भूमियों में (अवस्थाओं में) चित्त का धर्म है। जो तीन भूमियों (अवस्थाओं) में दबा रहता है और केवल दो भूमियों में प्रकट होता है। चित्त की पांच भूमियाँ हैं: क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन दूसरे सूत्र में किया जायगा। इनमें से अत्यन्त चञ्चल चित्त को क्षिप्त और निद्रा, तन्द्रा, आलस्यादि वाले चित्त को मूढ़ कहते हैं। क्षिप्त से जो श्रेष्ठ चित्त है अर्थात् जिसमें कभी कभी स्थिरता होती रहती है, उसे विक्षिप्त कहते हैं। क्षिप्त और मूढ़ चित्त में तो योग का गन्ध भी नहीं होता, और विक्षिप्त चित्त में जो कभी-कभी क्षणिक स्थिरता होती है उसकी भी योग-पक्ष में गिनती नहीं है, क्योंकि यह स्थिरता दीर्घ काल तक स्थिर नहीं रहने पाती, शीघ्र ही प्रबल चञ्चलता से नष्ट हो जाती है। इस लिये विक्षिप्त भूमि भी योगरूप नहीं है। जिसका एक ही अग्र विषय हो अर्थात् एक ही विषय में विलक्षण वृत्ति के व्यवधान से (बीच बीच में आ जाने से) रहित सदृश वृत्तियों के प्रवाहवाले चित्त को एकाग्र कहते हैं। यह पदार्थ के सत्-स्वरूप को प्रकाश, क्लेश को नाश, बन्धन को ढीला और निरोध के अभिमुख करता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि और सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। इसके चार भेद: वितर्कानुगत, विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सत्रहवें सूत्र में बतलाये जावेंगे। पुनः सर्व वृत्तियें

के निरोध वाले चित्त को निरुद्ध कहते हैं। उस निरुद्ध चित्त में असम्प्रज्ञात समाधि होती है, उसी को असम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

उसके लक्षण को प्रकाशित करने की इच्छा से अगला सूत्र बना है।

विशेष विचार

अनुबन्ध-चतुष्टय—शास्त्रकार अपने शास्त्र के आरम्भ में निम्न चार बातों का वर्णन कर दिया करते हैं:—

१ विषय—इस शास्त्र का विषय क्या है ?

२ प्रयोजन—इसका प्रयोजन क्या है ?

३ अधिकारी—इसका अधिकारी कौन है ?

४ सम्बन्ध—इनके साथ शास्त्र का सम्बन्ध क्या है ?

इनको अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने 'अथ = अब आरम्भ करते हैं' इससे इन चारों बातों को बतला दिया है कि:—

१ इस पातञ्जल योगदर्शन का विषय योग है, जिसमें योग के अवान्तर भेद, साधन और फल का प्रतिपादन किया गया है।

२ योग द्वारा स्वरूप-स्थिति (अपवर्ग = निःश्रेयस = मोक्ष = कैवल्य = आत्मस्थिति = परमात्म-प्राप्ति) कराना इस शास्त्र का प्रयोजन है।

३ स्वरूप-स्थिति एवं परमात्म-प्राप्ति का जिज्ञासु एवं मुमुक्षु-साधक इसका अधिकारी है।

४ यह दर्शन योगका प्रतिपादक है, इसलिये इसका योग से प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। योग साधन है; स्वरूप-स्थिति साध्य है। अतः स्वरूप-स्थिति और योग का साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है। स्वरूप-स्थिति का जिज्ञासु योग का अधिकारी है। इसलिये स्वरूप-स्थिति और अधिकारी में प्राप्य-प्रापक भाव सम्बन्ध है। अधिकारी और योग का कर्तृ-कर्तव्य भाव सम्बन्ध है।

धात्वर्थ—योग शब्द युक्ति अर्थात् मेल, तथा 'युज् समाधौ' इस (धातु) से समाधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। श्री व्यासजी महाराज ने इस दर्शन में योग का सर्वत्र ही समाधि के अर्थ ही में प्रयोग किया है।

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि। (२।२९) में समाधि और योग में अङ्गाङ्गि भाव सम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु समाधि जिसके दो भेद: सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात बतलायेंगे, योग का मुख्य अङ्ग तथा साधन होने के कारण योग के अर्थ में इस दर्शन में प्रयुक्त हुआ है।

योग की प्राचीन परम्परा—'शासन' उपदेश अथवा शिक्षा को कहते हैं। अनु + शासन = जिस विषय का शासन पहिले से विद्यमान हो। इसलिये अनुशासन शब्द

से श्री पतञ्जलि महाराज ने योगशिक्षा का प्राचीन परम्परा से चला आना बतलाया है, जिसका वर्णन श्रुति और स्मृति में पाया जाता है।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः (याज्ञवल्क)

अर्थ—हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।

इत्यादि वचनो से श्री याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को योग का आदि-वक्ता अर्थात् गुरु माना है। इसी प्रकारः—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥

महाभा० १२।३४९।६५

अर्थ—सांख्य के वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं जिनसे पुराना और कोई वक्ता इनका नहीं है। इसी प्रकारः—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

श्रीमद्भा० ५।१९।१३

अर्थ—हे योगेश्वर, यह योग कौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहाथा।

हिरण्यगर्भ किसी भौतिक मनुष्य का नाम नहीं है, बल्कि महत्तत्त्व के सम्बन्ध से शबल ब्रह्म का वाचक है (वि० वि सूत्र २), जैसा कि :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋ० १०।१२१।१, यजु० अ० १३ मन्त्र ४

अर्थ—हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुये जो समस्त भूतों के एक पति थे। उन्हीं ने इस पृथिवी और स्वर्गलोक को धारण किया। उस सुखस्वरूप देव की हम पूजा करते हैं।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। छान्द० १।६।६

अर्थ—अब यह सुनहरा पुरुष जो सूर्य के अन्दर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी और सुनहरे बाल हैं। नखों से अग्र तक जो सारा ही सुवर्णमय है।

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥

महाभा० १२।३४२।९६

अर्थ—यह द्युतिमान हिरण्यगर्भ वही हैं जिनकी वेद में स्तुति की गई है। इनकी योगी-लोग नित्य पूजा किया करते हैं और संसार में इन्हें विभु कहते हैं।

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरितिस्मृतः।
महानिति योगेषु विरंचीति चाप्यजः॥

अर्थ—इन हिरण्यगर्भ भगवान् को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं। इन्हीं को योगी-लोग महान् (महत्तत्त्व = समष्टि चित्त = समष्टि बुद्धि) तथा विरञ्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं।

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा। मद्भुत रामा० १५।६

अर्थ—हिरण्यगर्भ जगत् के अन्तरात्मा हैं।

इसके अतिरिक्त श्रुति और स्मृतियों में जहाँ योग का वर्णन किया गया है उसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय २

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

अर्थ—शरीर के तीन अङ्गों (छाती, गर्दन और शिर) को सीधा रखकर इन्द्रियों को मन के साथ हृदय में प्रवेश करके, ओङ्कार की नौका पर सवार होकर भय के लाने वाले सारे प्रवाहों से पार उतर जाए।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्व युक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

अर्थ—(शरीर की) सारी चेष्टाओं को वश में करके प्राणों को रोके, और प्राण के क्षीण होने पर नासिका से श्वास ले, सचेत सारथि जैसे घोड़ों की चञ्चलता को रोकता है, इस प्रकार अप्रमत्त होकर मन को रोके।

समे शुचौ शर्करा वन्हिवालुका विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुः पीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अर्थ—ऐसे स्थान पर योग का अभ्यास करे जो सम है, शुद्ध है, कंकर, बालू और अग्नि से रहित है, जो शब्द, जलाशय और लता आदि से मन के अनुकूल है, आँखों को पीड़ा देने वाला नहीं है, एकान्त है और वायु के झोंकों से रहित है।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योत विद्युत् स्फटिक शशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

अर्थ—जब अभ्यास का प्रभाव होने लगता है, तब पहले यह रूप दीखते हैं:—कुहर, धुवाँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत, बिल्लौर, और चन्द्र; यह सब रूप दीखकर जब शान्त हो जाते हैं तब ब्रह्म का प्रकाश होता है।

पृथिव्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योग गुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

अर्थ—जब पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रकट होते हैं, अर्थात्

पांचो तत्त्वों का जय हो जाता है तब फिर योगी के लिए न रोग है, न दुःख है, क्योंकि उसने वह शरीर पालिया है जो योग की अग्नि से बना है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभोमूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

अर्थ—योग का पहला फल यह कहते हैं : शरीर हल्का हो जाता है, आरोग्य रहता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, गन्ध शुद्ध होता है और मल-मूत्र थोड़ा होता है ।

यथैव बिम्बं मृदयापलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

अर्थ—इसके पीछे उसे आत्मा के शुद्ध स्वरूपका साक्षात् होता है । जैसे वह रत्न जो मिट्टी से लिथड़ा हुआ होता है, जब धोया जाता है तो फिर तेजोमय होकर चमकता है, इस प्रकार देही (पुरुष) फिर आत्म तत्त्व (आत्मा के असली स्वरूप) को देखकर शोक से पार हुआ कृतार्थ हो जाता है ।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

अर्थ—फिर जब योग युक्त होकर दीपक के तुल्य आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व को देखता है जो अजन्मा अटल (कूटस्थ) और सब तत्त्वों से विशुद्ध है तब उस देव (शुद्ध परमात्मतत्त्व) को जानकर सब फांसों से छूट जाता है ।

कठ उपनिषद् अ० २ वल्ली ६

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

अर्थ—जब पांचो ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती है (प्रत्याहार द्वारा अन्तर्मुख हो जाती है) और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है (चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है) उसको परम गति (सबसे ऊंची अवस्था) कहते हैं । उसी को योग मानते हैं, जो इन्द्रियों की निश्चल धारणा है। उस समय वह (योगी) प्रमाद से (अपने स्वरूप को भूला हुआ जो वृत्ति सारुप्य प्रतीत हो रहा था उससे) रहित होता है । अर्थात् शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित होता है क्योंकि योग प्रभव और अप्यय (निरोध के संस्कारों के प्रादुर्भाव, अर्थात् प्रकट होने और व्युत्थान के संस्कारो के, अभिभव अर्थात् दबने का स्थान) है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अर्थ--वह (आत्मा) न वाणी से, न मन से, न आँख से पाया जा सकता है। 'वह है' ऐसा कहने के सिवाय उसे कैसे उपलब्ध करें। 'वह है' इस रूप से और तत्त्व स्वरूप से उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इस प्रकार अनुभव करलिया है तो उसका तत्त्व-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

विशिष्ट रूप से उसका 'वह है' करके और शुद्ध स्वरूप में उसका तत्त्वाभाव अनुभव करते हैं।

गीता अध्याय ६

योगी युंजति सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥१०॥

अर्थ—योगी अकेला एकान्त स्थान में बैठकर, एकाग्र-चित्त होकर, आशा और संग्रह को त्याग कर निरन्तर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत् चित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अर्थ—वह योगी पवित्र स्थान मे, जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा, कुश, ऊन का आसन और वस्त्र को बिछाकर उस आसन पर एकाग्र-मन से बैठकर, इन्द्रियों और चित्त को वश करके आत्मशुद्धि के लिये योगाभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

अर्थ—शिर, गर्दन और धड़ एक सीध में अचल रखकर, थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

अर्थ—और शान्त-चित्त, निर्भय, ब्रह्मचर्य-व्रत मे स्थित, मन का संयम कर मुझ (परमात्मा) में परायण हुआ योग युक्त होवे।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार निरन्तर अपने आप को योग में लगाये हुए तथा मन को निग्रह किये योगी मुझमें (परमात्मा में) स्थित रहने वाली तथा परम निर्वाण को देने वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्ज्जुन ॥ ४६ ॥

अर्थ—योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और (शास्त्र के जानने वाले) ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्मकाण्डियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन, तू योगी बन।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

गीता अ० ८ । १०

अर्थ—वह भक्ति युक्त पुरुष अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन करके फिर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ गीता० अ० ८ । १२

अर्थ—हे अर्जुन ! सब इन्द्रियों के द्वारों को रोक कर अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राण को ब्रह्म रन्ध्र में स्थापन करके योग धारणा में स्थित हुआ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ गीता, अ० ८ । १३

अर्थ—जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप मेरे को (परमात्मा को) चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

योग-दर्शन की विशेषता—योगदर्शन का प्रयोजन जो स्वरूप स्थिति, अनुबन्ध-चतुष्टय में बतलाया है, जिसके पर्यायवाचक भिन्न भिन्न दर्शनों की परिभाषा में कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष, निःश्रेय, इत्यादि हैं, इसी को लक्ष्य में रखकर सर्व दर्शन : न्याय, वैशेषिक, मीमांसा ब्रह्मसूत्र आदि की रचना हुई है। पर योगदर्शन ने इसको अति सुगमता, सरलता, नियम तथा ज्ञान-पूर्वक और क्रियात्मक रूप से बतलाया है।

योग के भेद—साधनों के भेद से योग को १ राज-योग अर्थात् ध्यान-योग; २ ज्ञान-योग अर्थात् सांख्ययोग; ३ कर्मयोग अर्थात् निष्काम-कर्म अनासक्ति-योग; ४ भक्तियोग; ५ हठयोग आदि श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

१ इस दर्शन का मुख्य विषय राजयोग अर्थात् ध्यानयोग है। पर उपर्युक्त सब प्रकार के योग इसके अन्तर्गत हैं।

२ ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग—सारे ज्ञेयतत्त्व का ज्ञान इस योगदर्शन में अति उत्तमता से कराया गया है। सिद्धान्तरूप में इसकी सांख्य योग से अभिन्नता है।

३ कर्मयोग अर्थात् अनासक्ति निष्काम कर्मयोग।

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (१ । २४)

उपासना में उपासक अपने अन्दर उपास्य के गुण धारण करता है। इसलिये इससे निष्काम-कर्म अनासक्ति योग की शिक्षा मिलती है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् । (४ । ७)

यह भी निष्काम-कर्म की शिक्षा-परक है।

४ भक्तियोग—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । (१ । २०)

यह श्रद्धा, भक्ति का मुख्याङ्ग है इसलिये इस सूत्र से तथा 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) से भक्ति की शिक्षा योगदर्शन के अन्तर्गत है। इसी प्रकार 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२८), 'स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः' (२ । ४४) से जप और मन्त्रयोग भी इसमें सम्मिलित हैं। यथाभिमत ध्यानाद्वा' (स० १ । ३९) यह योग दर्शन की व्यापकता का सूचक है।

५ हठयोग का सम्बन्ध शरीर और प्राण से है, जो योग के आठ अङ्गों : यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में से आसन और प्राणायाम के अन्दर आजाते हैं। हठयोग राजयोग का साधन-मात्र ही है। जैसा कि हठयोग के श्लोक २ से विदित है :

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते

अर्थ—केवल राजयोग के लिये हठयोग की विद्या का उपदेश किया जाता है।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥

हठ योग प्रदीपिका ३ । १२६

अर्थ—राज योग के विना पृथ्वी (आसन) नहीं शोभित होती है। राज योग के विना निशा (कुम्भक प्राणायाम) नहीं शोभित होती है और राजयोग के विना विचित्र मुद्रा भी शोभित नहीं होती है।

"ह" का अर्थ सूर्य (पिङ्गला नाड़ी) "ठ" का अर्थ चन्द्रमा (इड़ा नाड़ी) वाला योग को हठ योग कहते हैं। चित्त की गति

यथा:—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ (सिद्धसिद्धान्त पद्धति)

अर्थ—सूर्य (पिङ्गला नाड़ी अथवा प्राण वायु) का हकार और चन्द्र (इड़ानाड़ी अथवा अपानवायु) को ठकार कहते है। इन सूर्य और चन्द्र (अर्थात् पिङ्गला और इड़ा नाड़ियों मे बहने वाले प्राण प्रवाह अथवा प्राण और अपान वायुओं) के मिलने को हठ-योग कहते है।

६ लययोग और कुण्डलिनी योग तो राजयोग ही है, जो सूत्र ३६ समा० पा० के अन्तर्गत है।

७ पाश्चात्य देशों मे दृष्टिबन्ध, (Sightism) अन्तरावेश, (Spritulism) सम्मोहन (Mesmerism) और वशीकरण, (Hipnotism) जो मनोयोग के नाम से पुकारे जाते है वे सः प्रत्याहार और धारणा के अन्तर्गत हैं। ये सब भारतवर्ष में प्राचीन समय से चले आ रहे हैं।

८ यम और नियम न केवल व्यक्तिगत रूप से विशेषतया योगियों के लिये वल्कि सामान्य रूप से सब वर्णों, आश्रमो, मत-मतान्तरो, जातियों, देशों और समस्त मनुष्य-समाज के लिये माननीय मुख्य कर्त्तव्य तथा परम धर्म हैं।

इस प्रकार इस पातञ्जल दर्शन मे सब प्रकार के योगो का समावेश हो गया है।

संगति—योग किसको कहते हैं ?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

शब्दार्थ—योगः = योग। चित्तवृत्ति-निरोध = चित्त की वृत्तियों का रोकना (है)।

अन्वयार्थ—चित्त की वृत्तियों का रोकना योग है।

व्याख्या—योग का स्वरूप बतलाते है : निर्मल सत्त्वप्रधान चित्त की जो अङ्गाङ्गि भाव से परिणत वृत्तियाँ हैं उनका निरोध, अर्थात् जो बाहर को चित्त की वृत्तियाँ जाती हैं उन बहिर्मुख वृत्तियों को सांसारिक विषयो से हटाकर उससे उल्टा अर्थात् अन्तर्मुख करके अपने कारण चित्त में लीन कर देना योग है। ऐसा निरोध (चित्त की वृत्तियों का रोकना) सब चित्त की भूमियों में सब प्राणियों का धर्म है, जो कभी किसी चित्त म प्रकट हो जाता है, प्रायः चित्तों म छिपा हुआ ही रहता है।

सूत्र में केवल 'चित्तवृत्ति निरोध' शब्द है 'सर्व चित्तवृत्ति निरोध' नहीं है। इससे सूत्र कार ने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार की समाधियो को योग बतलाया है। अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि जिसमे सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, वह निरुद्ध अवस्था तो योग है ही, किन्तु सम्प्रज्ञात-समाधि भी जिसमें सात्त्विक एकाग्र-वृत्ति बनी

रहती है वह एकाग्र अवस्था भी योग के लक्षण के अन्तर्गत है। अर्थात् जब चित्त से तम का मल-रूप आवरण, और रजस् की विक्षेप रूप चञ्चलता निवृत्त होकर सत्त्व के प्रकाश में जो एकाग्र वृत्ति रहे, उसको भी योग समझना चाहिये।

सारी सृष्टि सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणों का ही परिणाम रूप है। एक धर्म, आकार अथवा रूप को छोड़कर धर्मान्तर के ग्रहण अर्थात् दूसरे धर्म, आकार अथवा रूप के धारण करने को परिणाम कहते हैं। चित्त इन गुणों का सबसे प्रथम सत्त्वप्रधान परिणाम है। इसी लिये इसको चित्तसत्त्व भी कहते हैं। यह इसका अपना व्यापक स्वरूप है। यह सारा स्थूल जगत् जिसमें हमारा व्यवहार चल रहा है, रज तथा तम-प्रधान गुणों का परिणाम है।

इसके बाह्य अथवा आभ्यन्तर संसर्ग से जो चित्तसत्त्व में क्षण-क्षण गुणों का परिणाम हो रहा है उसको चित्तवृत्ति कहते हैं।

विषय को और स्पष्ट रूप से समझना चाहिये। मानो चित्त अगाध परिपूर्ण सागर का जल है। जिस प्रकार यह पृथिवी के सम्बन्ध से खाड़ी, झील आदि के आन्तरिक तदाकार परिणाम को प्राप्त होता है, इसी प्रकार चित्त आन्तर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भयादि रूप आकार से परिणत होता रहता है। तथा जिस प्रकार वायु आदि के वेग से जलरूपी तरंगें उठती रहती हैं, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों से आकर्षित होकर उन जैसे आकारों में परिणत होता रहता है। यह सब चित्त की वृत्तियें कहलाती हैं, जो अनन्त हैं और प्रति क्षण उदय होती रहती हैं। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन अगले सूत्रों से किया जावेगा। जैसे जल, वायु आदि के अभाव में तरङ्ग आकारादि परिणामों को त्यागकर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है वैसे ही जब चित्त बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयाकार परिणाम को त्यागकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तो उसको चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं। उपरोक्त परिणाम-रूप वृत्तियें चित्त में इन्हीं तीनों के प्रभाव से उदय होती रहती हैं। चित्तसत्त्व ज्ञानस्वभाव वाला है। जब उसमें रजोगुण, तमोगुण, दोनों का मेल होता है तो ऐश्वर्य विषय प्रिय होते हैं; जब यह तमोगुण से युक्त होता है तो अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त होता है। वही चित्त जब तमोगुण के नष्ट होने पर रजोगुण के अंश से युक्त होता है तो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। वही चित्त जब रजोगुण के लेश-मात्र मल से भी रहित होता है तो स्वरूपप्रतिष्ठ कहलाता है। तब चित्त सत्त्व और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान होता है, जिसको विवेक-ख्याति अर्थात् भेद ज्ञान कहते हैं (२।२६; ३।४९)। विवेक-ख्याति के परिपक्व होने पर धर्ममेघ समाधि की अवस्था प्राप्त होती है (४।२९)। जिसको परम-संख्यान् भी कहते हैं। चिति-शक्ति (पुरुष) अपरिणामी और अप्रतिसंक्रमा अर्थात् परिणाम, क्रिया और संयोग आदि से रहित तथा चित्त के सारे विषयों की द्रष्टा, शुद्ध और अनन्त है। सत्त्वगुणात्मिक चित्त इस पुरुष से विपरीत है अर्थात् परिणामी और क्रियादि वाला, विषयों का स्वयं द्रष्टा नहीं

किन्तु पुरुष को दर्शाने वाला और जड़ होने के कारण पुरुष की अपेक्षा अशुद्ध अन्त वाला है। इस प्रकार चित्त से पुरुष का भिन्न देखना विवेक-ख्याति कहलाती है। जब चित्त की इस विवेक-ख्याति से भी वैराग्य प्राप्त हो जाता है (१।१६), तब उस विवेक-ख्याति का भी निरोध हो जाता है (१।१८); यह निर्बीज-समाधि है। इसको असम्प्रज्ञात इस लिये कहते हैं: क्योंकि इसमें कोई सांसारिक विषय नहीं जाना जाता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग दो प्रकार का है।

यह सार्वभौम सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि चित्त का धर्म है जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, तथापि केवल अन्त की दो ऊँची अवस्थाओं में इसका प्रादुर्भाव होता है। प्रथम तीन निचली अवस्थाओं में रज तथा तम की प्रधानता से विक्षेप तथा मल के आवरण से दबा रहता है।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं:—

१ मूढ़ावस्था—इस अवस्था में तम प्रधान होता है, रज तथा सत्त्व दबे हुए गौण रूप से रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ और मोह के कारण होती है। जब चित्त की ऐसी अवस्था होती है तब मनुष्य की प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म, राग और अनैश्वर्य में होती है। यह अवस्था नीच मनुष्यों की है।

२ क्षिप्तावस्था—इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, तम और सत्त्व दबे हुए गौण रूप से रहते हैं, इसका कारण राग-द्वेषादिक होते हैं। इस अवस्था में धर्म-अधर्म राग वैराग, ज्ञान अज्ञान, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जब तमोगुण सत्त्वगुण को दबा लेता है तब अधर्म, अज्ञानादि में, और जब सत्त्व तम को दबा लेता है तब धर्म, ज्ञानादि में प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्यों की है।

३ विक्षिप्तावस्था—इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है, रज तथा तम दबे हुए गौण रूप से रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग-द्वेष, काम क्रोध, लोभ और मोहादि के छोड़ने से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में क्योंकि सत्त्व-गुण किसी मात्रा में बना रहता है, इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में होती है। परन्तु रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था ऊँचे मनुष्यों तथा जिज्ञासुओं की है। यह तीनों अवस्थाएँ चित्त की अपनी स्वभाविक नहीं हैं और न योग की है, क्योंकि बाहर के विषयों के गुणों से चित्त पर उनका प्रभाव पड़ता रहता है।

४ एकाग्रावस्था—जब एक ही विषय में सदृश वृत्तियों का प्रवाह चित्त में निरन्तर बहता रहे तब उसको एकाग्रता कहते हैं। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है, अर्थात् जब चित्त में बाह्य विषयों के रज तथा तम का प्रभाव न रहे तब वह निर्मल चमकते हुए स्फटिक के सदृश स्वच्छ होता है। उस समय उसमें परमाणुओं से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ, विषयों का यथार्थ साक्षात् हो सकता है। इसी की अन्तिम स्थिति विवेक-ख्याति है जिसको ऊपर व्याख्या कर आये हैं। एकाग्रता को

चित्त की पाँच अवस्थाएँ

नाम अवस्था	गुण का परिणाम	गुणवृत्ति	दशा	वृत्ति	वृत्ति का स्वरूप	स्थिति-गति	निमित्त धर्म	प्रवृत्ति
१ मूढ़ अवस्था	तम प्रधान; रज, सत्त्व गौण।	निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय, आलस्य, दीनता इत्यादि।	व्युत्थान	सर्वार्थता	अस्वाभाविक	नीच मनुष्यों की	काम, क्रोध, लोभ, मोह	अज्ञान, अधर्म राग, अनैश्वर्य
२ क्षिप्त अवस्था	रज प्रधान; तम, सत्त्व गौण।	दुःख, चञ्चलता, चिन्ता, शोक, संसार के कामों में प्रवृत्ति।	व्युत्थान	सर्वार्थता	अस्वाभाविक	साधारण संसारी मनुष्यों की	राग, द्वेष	अज्ञान, अधर्म राग, अनैश्वर्य ज्ञान, धर्म वैराग्य, ऐश्वर्य
३ विक्षिप्त अवस्था	सत्त्व प्रधान; रज, [redacted] गौण।	सुख, प्रसन्नता, क्षमा श्रद्धा, धैर्य, चेतन्यता, उत्साह, वीर्य दान, दया आदि।	व्युत्थान; समाधि आरम्भ	सर्वार्थता; एकाग्रता आरम्भ	अस्वाभाविक	ऊँचे मनुष्यों जिज्ञासुओं की	अनासक्ति निष्काम कर्म	ज्ञान, धर्म वैराग्य, ऐश्वर्य
४ एकाग्र अवस्था	सत्त्व प्रधान; रज, तम वृत्तिमात्र	स्वस्थता	योग; सम्प्रज्ञात समाधि	एकाग्रता	स्वाभाविक	योगियों की	अपर वैराग्य	वस्तु का यथार्थ ज्ञान
५ निरुद्ध अवस्था	गुणों [redacted] बाहर से परिणाम बन्द; 'चित्तमात्र' में निरोध परिणाम, संस्कार शेष।	स्वरूप स्थिति	योग; असम्प्रज्ञात समाधि	सर्व वृत्ति-निरोध	चित्त की स्वरूप प्रतिष्ठा; अस्वाभाविक और स्वाभाविक वृत्तियों का अभाव	ऊँचे योगियों की	पर वैराग्य	द्रष्टा की स्वरूप स्थिति

सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इसमें प्रकृति के सर्व कार्यों (गुणों के परिणामों) का पूर्णतया साक्षात् हो जाता है।

५ निरुद्धावस्था—जब विवेक-ख्याति द्वारा चित्त और पुरुष का भेद साक्षात्कार हो जाता है तब उस ख्याति से भी वैराग्य (पर-वैराग्य) उदय होता है। क्योंकि विवेक-ख्याति भी चित्त की ही एक वृत्ति है। इस वृत्ति के भी निरुद्ध होने पर सर्व वृत्तियों के निरोध होने से चित्त की निरोधावस्था होती है। इस निरोधावस्था में अन्य सब संस्कारों के तिरोभाव-पूर्वक पर-वैराग्य के संस्कार-मात्र शेष रहते हैं। निरोधावस्था में किसी प्रकार की भी वृत्ति न रहने के कारण कोई पदार्थ भी जानने में नहीं आता, तथा अविद्यादि पाँचों क्लेश सहित कर्माशय-रूप जन्मादिकों के बीज नहीं रहते। इसलिये इसको असम्प्रज्ञात तथा निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इस शङ्का के निवारणार्थ कि सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर क्या पुरुष का भी निरोध हो जाता है? अथवा क्या वह शून्य अवस्था है? अगले सूत्र में बतलाया है कि सर्व वृत्तियों के निरुद्ध होने पर पुरुष (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थित होता है।

विशेष विचार—योग के विषय को समझने के लिये चित्त के स्वरूप तथा सृष्टिक्रम का ज्ञान अति आवश्यक है। इसलिये इसका कुछ विस्तार-पूर्वक वर्णन कर देना उचित समझते हैं।

मूल प्रकृति जड, अलिङ्ग, परिणामिनी तथा त्रिगुणमयी अर्थात् प्रकाश, क्रिया, (प्रवृत्ति) और स्थितिशील है। प्रकाश सत्त्व का, क्रिया रज का, और स्थिति (रोकना, दबाना) तम का धर्म है। गुण अपने स्वरूप से ही परिणाम-स्वभाव वाले हैं। इसलिये इनका सत्तामात्र साम्य-परिणाम अर्थात् सत्त्व से सत्त्व में, रज से रज में, और तम से तम में परिणाम, इनके विषम परिणामों के प्रत्यक्ष होने से अनुमानगम्य और आगमगम्य है। गुणों की साम्य-परिणाम वाली अवस्था का नाम ही प्रधान अथवा मूल-प्रकृति है। यह परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष न होने योग्य अव्यक्त गुणों का परिणाम पुरुष के लिए निष्प्रयोजन है। पुरुष का प्रयोजन भोग और अपवर्ग है। भोग गुणों के परिणामों का यथार्थ रूप से साक्षात्कार, और अपवर्ग, पुरुष की स्वरूपावस्थिति है। बिना गुणों के साक्षात्कार किये हुए स्वरूपावस्थिति दुर्लभ है। चेतन-तत्त्व का शुद्ध स्वरूप जड तत्त्व से सर्वथा विलक्षण है। जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से उसकी ईश्वर तथा 'जीव' संज्ञा है। जडतत्त्व परिणामी नित्य और चेतन-तत्त्व कूटस्थ नित्य है। जडतत्त्व विकारी और चेतन-तत्त्व निर्विकार है। जडतत्त्व सक्रिय और चेतन-तत्त्व निष्क्रिय, केवल ज्ञानस्वरूप है। जडतत्त्व, में ज्ञान, नियम तथा व्यवस्था-पूर्वक क्रिया चेतन-तत्त्व की सन्निधि-मात्र से है। अर्थात् चेतनतत्त्व क्रिया का निमित्त-कारण और जड़तत्त्व समवायी अथवा उपादान कारण। है समष्टि जडतत्त्व के सम्बन्ध से चेतन-तत्त्व की संज्ञा पुरुष-विशेष अथवा ईश्वर है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्व-शक्तिमान है। उसके स्वाभाविक ज्ञान द्वारा पुरुषों के कल्याणार्थ गुणों में विषम परिणाम हो रहा है, जिससे सारी सृष्टि की रचना हो रही है जो इस प्रकार है:—

१ प्रथम विषम-परिणाम महत्तत्त्व—सत्त्व-गुण में रजोगुण का क्रियामात्र तथा तमोगुण का स्थितिमात्र विषम-परिणाम अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान रजोगुण तथा तमोगुण का लिङ्गमात्र प्रथम विषम-परिणाम महत्तत्त्व है। यही लिङ्ग है और सृष्टि के नियमों का बीजरूप है। इसी से सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यह योगदर्शन के अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि चित्त, और सांख्य के अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि बुद्धि है। वेदान्त में चेतन तत्त्व की महत्तत्त्व (समष्टि चित्त) के सम्बन्ध से 'हिरण्यगर्भ' और व्यष्टि-चित्त के सम्बन्ध से 'तैजस्' संज्ञा है। यह चित्त व्यष्टि-रूप से पुरुष के लिये गुणों के साक्षात्कार कराने का करण (साधन) है। कहीं-कहीं मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त को एकार्थक, और कहीं-कहीं चार प्रकार की वृत्तिभेद से इनको अन्तःकरण-चतुष्टय कहा गया है। अर्थात् संकल्प विकल्प करने से मन, अहंभाव प्रकट करने से अहङ्कार, निर्णय तथा निश्चय करने से बुद्धि, और स्मृति तथा संस्कारों से चित्रित होने से चित्त।

सांख्य में महत्तत्त्व के लिये 'बुद्धि' और योग में 'चित्त' शब्द प्रयोग हुए हैं। सांख्य में बुद्धि में चित्त को, और योग में चित्त में बुद्धि को सम्मिलित कर लिया गया है। सिद्धान्तात्मक होने से सांख्य में बुद्धि द्वारा सब पदार्थों का विवेकपूर्ण निर्णय करना और क्रियात्मक होने से योग में चित्त द्वारा अनुभव अर्थात् साक्षात्कार करना बताया गया है। फ़ोटो लेने के प्लेट के सदृश ग्राह्य तथा ग्रहण सब प्रकार के विषयों को पुरुष को प्रत्यक्ष कराने के लिये चित्त दर्पणरूप है। चित्त ही में सुख, दुःख, मोहादि रूप सत्त्व, रजस तथा तमस के परिणाम होते हैं। चित्त ही का वृत्तिमात्र से सूक्ष्म शरीर के साथ, एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना (आवागमन) होता है। असङ्ग, निर्लेप पुरुष केवल इसका द्रष्टा है। इस चित्त में ही अहंकार बीजरूप से रहता है।

२ द्वितीय विषम-परिणाम अहंकार अहंभाव से एकत्व-बहुत्व, व्यष्टि-समष्टि आदि सर्व प्रकार की भिन्नता उत्पन्न करने वाला, महत्तत्त्व का विषम-परिणाम अहंकार है। अहंकार ही से ग्राह्य और ग्रहण भेद वाले दो प्रकार के विषम-परिणाम उत्पन्न होते हैं।

३ ग्यारह इन्द्रियें ग्रहण विषम-परिणाम—परस्पर भेदवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियें शक्तिरूपः श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण; इसी प्रकार परस्पर भेदवाली पाँच कर्मेन्द्रियें शक्तिरूपः हस्त, पाद, वाक्, वायु (गुदा), उपस्थ (मूत्रत्याग की इन्द्रिय), और ग्यारहवाँ मन। यह विभाजक अहंकार के ग्रहण विषम-परिणाम हैं।

४ विषम-परिणाम पञ्च तन्मात्राएँ—परस्पर भेदवाली शब्दतन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, गन्ध-तन्मात्रा इस विभाजक भेदभाव उत्पन्न करने वाले अहंकार के ग्राह्य विषम-परिणाम हैं।

५ ग्राह्य स्थूल विषम-परिणाम अर्थात् पाँच स्थूलभूत : पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, पाँच तन्मात्राओं के ग्राह्य स्थूल विषम-परिणाम हैं।

इन विषम-परिणामों में, सत्त्व में रजस् तथा तमस् का प्रभाव क्रम से बढ़ता जाता है। अर्थात् महत्तत्त्व की अपेक्षा अहंकार में, अहंकार की अपेक्षा पञ्च-तन्मात्राओं और

ग्यारह इन्द्रियों में, और पाँच तन्मात्राओं की अपेक्षा पाँचों स्थूलभूतों में रजस् तथा तमस् की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि पाँचों स्थूलभूतों में रजस् तथा तमस् की मात्रा इतनी (प्रधान रूप से) बढ़ जाती है कि वे उसके कारण स्थूल रूप में हमारी दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ॥२२॥ (सां० का०)

अर्थ—प्रकृति से महत्; उससे अहंकार उससे सोलह (पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियें) का समूह; उस सोलह में जो पाँच (तन्मात्राएँ) हैं, उनसे पाँच (स्थूल) भूत उत्पन्न होते हैं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥३॥ (सां० का०)

अर्थ—मूल प्रकृति विकृति नहीं है (केवल प्रकृति है), महत् आदि सात (महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति विकृतियाँ हैं, सोलह (पाँच स्थूलभूत, ग्यारह इन्द्रियें) केवल विकृतियाँ ही हैं (प्रकृतियाँ नहीं हैं)। पुरुष न प्रकृति है न विकृति। पुरुष, उसका प्रयोजन—भोग और अपवर्ग, गुणों का साम्य-परिणाम—मूल प्रकृति, तथा उनके (गुणों के) विषम-परिणाम—सात प्रकृतियें-विकृतियें अर्थात् महत्तत्त्व अहंकार व पञ्च-तन्मात्राएँ, अनादि अर्थात् आरम्भ-रहित हैं। सोलह केवल विकृतियाँ अर्थात् ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूलभूत (और उनसे रचा हुआ यह सारा विश्व) सादि माने गए हैं, पर यह भी स्वरूप से ही सादि हैं। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में अपने कारण से कार्यरूप में प्रकट होते हैं। प्रवाह से तो ये भी अनादि हैं, क्योंकि प्रलय में अपने कार्यस्वरूप को कारण में लीन करके, दूसरी सृष्टि में फिर पहले की तरह उत्पन्न होते हैं। यह प्रवाह प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में क्रम से होता चला आ रहा है। इसलिये ये प्रवाह से अनादि हैं।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। (ऋग्० १०।१९०।३)

अर्थ—उस ईश्वर ने इस सूर्य और चन्द्र को पहिले कल्पों के अनुसार बनाया।

अब एक शंका यह उत्पन्न होती है कि चित्त जड़ है; उसमें वस्तु का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है और पुरुष असङ्ग, निर्लेप और क्रिया-रहित है; उसमें जानने की क्रिया किस प्रकार हो सकती है?

इसका समाधान इस प्रकार है चित्त-सत्त्व जड़ होते हुए भी ज्ञानस्वरूप पुरुष से प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित है। इसलिए इसमें (चित्त में) ज्ञान दिलाने की योग्यता है और पुरुष को चित्त में अपने प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रकाश जैसी चेतना से उसका (चित्त का) तथा उसके सारे विषयों का स्वतः ज्ञान रहता है। इसीलिये इस दर्शन में चित्त को दृश्य और पुरुष को द्रष्टा कहा गया है।

ग्राह्य-ग्रहण रूप, स्थूलभूतों से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त गुणों के सारे परिणामों को पुरुष को साक्षात्कार कराने का चित्त ही एक करण (साधन) है।

इस प्रकार गुणों के परिणामों का यथार्थ रूप से साक्षात्कार करना भोग है। यही सम्प्रज्ञात समाधि है अथवा सम्प्रज्ञात योग है। और गुण-परिणाम के साक्षात्कार के पश्चात् स्वरूपावस्थित अपवर्ग है अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि अथवा असम्प्रज्ञात-योग है। यह समाधि सब अवस्थाओं में चित्त का धर्म है। इस धर्म के छिपे रहने और प्रकट न होने का कारण यह है कि हमारा सारा व्यवहार स्थूल-जगत् अर्थात् सोलह (केवल) विकृतियों में ग्राह्य-ग्रहण रूप से चल रहा है। इनमें तम तथा रज की प्रधानता है और सत्त्व गौणरूप से है। इसलिये इस व्यवहार में आसक्ति हो जाने के कारण तमस् तथा रजस् के परिणाम : राग, द्वेष और अभिनिवेश के संस्काररूप आवरण, और अहंकार में जो रजस् तथा तमस् की मात्रा है; उससे अस्मिता-क्लेश के संस्कार-रूपी आवरण, और चित्तसत्त्व में जो सत्तामात्र तमस् तथा रजस् का परिणाम है; उससे अविद्या क्लेश अर्थात् जड़ चेतन और चित्त पुरुष में अविवेक के संस्कारों का आवरण, चित्त-सत्त्व पर चढ़ जाता है। इस प्रकार इन आवरणों से मलिन और विक्षिप्त हुए चित्तसत्त्व पर प्रति-क्षण इन संस्कारों से नाना रूप के आन्तरिक तथा बाह्य परिणाम होते रहते हैं जो वृत्ति कहलाते हैं।

मूढ़ावस्था में जब तम प्रधान होता है तो निद्रा, आलस्य प्रमाद आदि तामसी वृत्तियाँ उदय होती हैं; क्षिप्तावस्था में जब रज प्रधान होता है तब चञ्चल अस्थिर करने वाली राजसी वृत्तियाँ उदय होती हैं; और विक्षिप्तावस्था में वस्तु के यथार्थ स्वरूप की प्रकाशक सात्त्विक वृत्तियाँ उदय होती हैं किन्तु यह सात्त्विक वृत्तियें राजसी वृत्तियों से अस्थिर और चलायमान होती रहती हैं।

इस प्रकार इस सर्वार्थता (मन के सब विषयों की ओर जाने की प्रवृत्ति) में यथार्थ तत्त्व का प्रकाशक, चित्त का एकाग्रता धर्म दबा रहता है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा जब सर्वार्थता का निरोध होता है तब तमस् तथा रजस् के दबने से सत्त्व के प्रकाश में वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने वाली एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) का उदय होता है जिसकी पराकाष्ठा गुण-परिणाम साक्षात्कार पर्यन्त पुरुष और चित्त में विवेक-ज्ञान है। इस वृत्ति से भी पर-वैराग्य द्वारा आसक्ति निवृत्त होने पर सब वृत्तियों का निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधि अर्थात् द्रष्टा की स्वरूपावस्थिति होती है। उस समय चित्त में केवल निरोध के संस्कार शेष रहते हैं, ये निरोध के संस्कार अपनी दुर्बल अवस्था में निरोध से पुनः व्युत्थान में लेजाने के कारण होते हैं। निरन्तर अभ्यास व वैराग्य से निरोध-संस्कारों का दृढ़ भूमि होने पर अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा निवृत्त करने के पश्चात् ये संस्कार-शेष भी स्वयं निवृत्त हो जाते हैं तब पुनः व्युत्थान अवस्था में न आने वाली स्वरूपावस्थिति कैवल्य कहलाता है।

नोट—प्रथम धर्म (रूप) को छोड़कर दूसरे धर्म को धारण करना परिणाम कहलाता है। सारा संसार गुणों का ही सन्निवेश-मात्र है। इसलिये प्रत्येक वस्तु में प्रति क्षण परिणाम हो रहा है। परिणाम दो प्रकार से होता है; एक साम्य अथवा सरूप-

परिणाम, जैसे दूध के बने रहने तक जो दूध से दूध में परिणाम हो रहा है उसको साम्य अथवा स्वरूप परिणाम कहेंगे, दूसरा दूध से दही बनते समय अथवा उसमें और कोई अन्य विकार आते समय जो परिणाम होता है, उस दूध से ही दही इत्यादि में होने वाले परिणाम को विषम अथवा विरूप परिणाम कहेंगे। विषम-परिणाम ही प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्ष से साम्य-परिणाम का अनुमान किया जाता है इसकी विस्तार-पूर्वक व्याख्या विभूतिपाद सूत्र ९ की सङ्गति, सूत्र तेरह से सोलह तक और कैवल्यपाद सूत्र चौदह में की गई है।

सृष्टि-उत्पत्ति क्रम

१ चेतन-तत्त्व, निष्क्रिय, कूटस्थ नित्य = आत्मा तथा परमात्मा (जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से व्यष्टि रूप में जीव तथा समष्टि रूप में ईश्वर)

२ जड़तत्त्व, सक्रिय, परिणामिनी नित्य, अव्यक्त, अलिङ्ग, प्रधान, त्रिगुणात्मक मूल-प्रकृति, अविकृति, गुणों की साम्यावस्था।

३ लिङ्गमात्र, गुणों का प्रथम विषम परिणाम, प्रकृति-विकृति (समष्टि चित्त तथा व्यष्टि चित्त)

४ महत्तत्त्व का कार्य—अहंकार, प्रकृति-विकृति, गुणों का द्वितीय विषम-परिणाम।

५ अहंकार के ग्रहणरूप कार्य—ग्यारह इन्द्रियें।

६ अहङ्कार के ग्राह्यरूप कार्य—पाँच तन्मात्राएँ (पाँच सूक्ष्मभूत) अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, गुणों का तृतीय विषम-परिणाम, प्रकृति विकृति।

७ पाँच तन्मात्राओं के ग्राह्यरूप कार्य पाँच स्थूलभूत, केवल विकृतियाँ,

सङ्गति—सब वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष की क्या अवस्था होती है?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तदा = तब (वृत्तियों के निरोध होने पर) द्रष्टु = द्रष्टा का। स्वरूपे = स्वरूप में। अवस्थानम् = अवस्थिति (होती है)।

अन्वयार्थ—तब द्रष्टा की (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थिति (होती है)।

व्याख्या—द्रष्टा (पुरुष) की चित्तवृत्ति निरुद्ध काल में वैसी ही चेतनमात्र (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में स्थिति होती है जैसी कैवल्य में होती है। चित्त की व्युत्थान (निरुद्धावस्था से इतर) अवस्था में भी पुरुष अपने स्वाभाविक असङ्ग चेतन रूप में स्थित होता है। पर चित्त की उपाधि से चित्त वृत्ति जैसा शान्त, घोर और मूढ़ादि प्रतीत होता है। वृत्ति-निरोधावस्था में वृत्तियों के निरोध से पुरुष का निरोध नहीं होता, किन्तु चित्तरूप उपाधि की वृत्ति के अभाव से जब औपाधिक शान्त, घोरादि रूप का अभाव हो जाता है तब पुरुष अपने उपाधि-रहित रूप में अवस्थित होता है। अभिप्राय यह है कि विवेकख्याति उत्पन्न होने पर वस्तु आकार में परिणाम से रहित चित्त में कर्तापन का अभिमान निवृत्त हो जाता है। अर्थात् 'मैं करता हूं' 'मैं सुखी हूं' 'मैं दुखी हूं' इत्यादि अभिमान की निवृत्ति हो जाती है।

और बुद्धि (अन्तःकरण) में वृत्ति-रूप परिणाम होना भी रुक जाता है; तब आत्मा की (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थिति होती है।

चितिशक्ति कूटस्थ नित्य होने से स्वरूप से कभी प्रच्युत नहीं होती है। जैसा निरोध-काल में पुरुष का स्वभाव है वैसा ही व्युत्थान काल में है; किन्तु अविवेक से वैसा प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार जब भ्रम से शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का भान होता है तो उस भ्रम-काल में उस भ्रम से न सीप का अभाव और न चाँदी की ही उत्पत्ति होती है, और फिर भ्रम दूर होने पर जब यह ज्ञान होता है कि यह चाँदी नहीं किन्तु सीप है तो इस ज्ञान से सीप की उत्पत्ति और चाँदी का अभाव नहीं होता; केवल अस्ति-नास्ति आदि का (भाव-अभाव का) व्यवहार होता है। वैसे ही चिति शक्ति सर्वदा एक-रस ही है किन्तु व्युत्थान-काल में अविवेक के कारण अन्य रूप से भान होती है और निरोध-काल में कैवल्य के सदृश निज शान्त-रूप से भान होती है। यह निरोध और व्युत्थान में भेद है!

द्रष्टा, पुरुष, चिति-शक्ति, दृक्शक्ति, चेतन, आत्मा एकार्थक शब्द हैं। तथा अध्यास, उपाधि, आरोप, भ्रम एकार्थक हैं।

संगति—निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में पुरुष का क्या स्वरूप होता है?

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—वृत्तिसारूप्यम्=वृत्ति की समानरूपता; इतरत्र=दूसरी अर्थात् निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में (पुरुष की होती है)।

अन्वयार्थ—दूसरी अर्थात् निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा की वृत्तियों के समान रूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियां के समान रूपवाला प्रतीत होता है।

व्याख्या—दूसरी अर्थात् निरोध से उठने पर व्युत्थान-काल में द्रष्टा, वृत्तियों के जो आगे लक्षण सहित कहे जावेंगे समान रूपवाला प्रतीत होता है। जैसा पञ्चशिखाचार्य ने कहा है:—

एकमेवदर्शनं ख्यातिरेवदर्शनम्

अर्थ—एक ही दर्शन है, ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है अर्थात् पुरुष वैसा ही दीखता है जैसी वृत्ति होती है। इसलिये सुख-दुख, मोहरूप सत्त्व-गुण वाली, रजोगुणी अथवा तमोगुणी जैसी चित्त की वृत्तियें होती हैं वैसा ही व्यवहार-दशा में पुरुष का स्वरूप जाना जाता है अर्थात् यह सुखी है, यह दुखी है, यह मोह में है; ऐसा लोग समझते है। जब चित्त एकाग्रता से परिणत होता है तब चितिशक्ति भी उस रूप में प्रतिष्ठित होती है। जब चित्त इन्द्रिय-वृत्ति के साथ विषयाकार से परिणत होता है तब पुरुष भी उस वृत्ति के रूपाकार ही जान पड़ता है।

अर्थात् यद्यपि परमार्थतः पुरुष असङ्ग और निर्लेप है तथापि अयस्कान्त मणि (चुम्बक-पत्थर) के समान असंयुक्त रहते हुए, भी केवल सन्निधिमात्र से उपकार करणशील चित्तरूप दृश्य का दृश्यत्व रूप से पुरुष के साथ भोग-अपवर्ग सम्पादनार्थ अनादि स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है। इसलिये शान्त, घोर, मूढाकार वृत्ति विशिष्ट चित्त की सन्निधि

से पुरुष अपने को चित्त से भिन्न न जानकर 'मैं शान्त (सुखी) हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' 'मैं मूढ हूँ' इत्यादि; इस प्रकार अपने में चित्त के धर्मों का आरोप कर लेता है इसी बात को बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न शब्दों में दर्शाया है—

"स समानः सन् ध्यायतीव लेलायतीव" वह आत्मा बुद्धि के समान होकर अर्थात् बुद्धि के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त होकर मानो ध्यान करता है मानो चलता है ।

अथवा मलिन दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख में मलीनता का आरोप करके अविवेकी जन 'मेरा मुख मलिन है', इस प्रकार शोक करता है, वैसे ही पुरुष भी चित्त के उपाधि-धर्मों का अपने में आरोपण करके 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि; इस प्रकार भ्रमजाल में फँस कर शोकमग्न हो जाता है । यह वृत्तिसारूप्य पद का अर्थ है ।

यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि उसकी चित्त के साथ योग्यता-लक्षण-सन्निधि है अर्थात् पुरुष में भोक्तृत्व शक्ति और द्रष्टृत्व-शक्ति है और चित्त में दृश्यत्व-शक्ति और भोग्यत्व-शक्ति है। यही इन दोनों की परस्पर योग्यता है। इस योग्यता-लक्षण-सन्निधि से ही चित्त सुख दुःख, मोहकार रूप परिणाम से भोग्य और दृश्य हुआ स्व कहा जाता है, और पुरुष भोक्ता और द्रष्टा हुआ स्वामी कहा जाता है। यह जो पुरुष के भोग का हेतु स्व स्वामि-भाव सम्बन्ध है, यह भी चित्त से ही अपने निज-रूप के अविवेक प्रयुक्त है। और अविवेक तथा वासना का प्रवाह, बीज और अंकुर के सदृश अनादि है। इस प्रकार चित्तवृत्ति विषयक उपभोग में जो चेतन का अनादि स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है, वह वृत्ति-सारूप्य में कारण है ।

जैसे जलाशय (नदी अथवा तालाब) में जब नाना प्रकार की तरंगें उछलती होती हैं तब गगनस्थ चन्द्रमण्डल का प्रतिबिम्ब उस जलाशय में स्थिर निज यथार्थ रूप से नहीं भान होता है। और जब तरंगें उठना बन्द हो जाती हैं तब स्वच्छ निश्चल-रूप से प्रकाशमान होकर चन्द्र प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। वैसे ही जब चित्त की वृत्तियाँ विषयाकार होने से चञ्चल रहती हैं तब चेतन भी चन्द्रमण्डल की भांति चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होने से निज-रूप में नहीं भासता है। जब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तब चन्द्रमण्डल के सदृश चेतन निज स्थिर रूप में स्थित हो जाता है। यह तीसरे और चौथे सूत्र का अभिप्रायार्थ है ।

संगति—चित्त की वृत्तियां बहुत होने पर भी निरोध करने योग्य हैं। उनको अगले सूत्र में पांच श्रेणियों में विभक्त करके बतलाते हैं ।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—वृत्तय = वृत्तियें। पञ्चतय्यः = पाँच प्रकार (की होती हैं)। क्लिष्टाः = क्लिष्ट (राग-द्वेषादि क्लेशों की हेतु और)। अक्लिष्टाः = अक्लिष्ट (राग-द्वेष आदि क्लेशों की नाश करने वाली)।

अन्वयार्थ—वृत्तियें पाँच प्रकार की होती हैं । क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों की हेतु, और अक्लिष्ट अर्थात् राग द्वेषादि क्लेशों की नाश करने वाली।

व्याख्या—बाह्य पदार्थ असंख्य होने के कारण उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी असंख्य हैं। इन सबका सुगमता से ज्ञान हो सके इसलिये उन सब निरोद्धव्य वृत्तियों को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया है जिनके नाम अगले सूत्र में दिये जायेंगे। इन पाँच प्रकार की वृत्तियों में से कोई क्लिष्टरूप होती हैं और कोई अक्लिष्टरूप। सत्त्व-प्रधान वृत्तियें अक्लिष्ट रूप और तमस् प्रधान वृत्तियें क्लिष्ट रूप हैं अर्थात् जिन वृत्तियों के हेतु अविद्या आदि पाँच क्लेश (२।३) हैं जो कर्माशय (२।१२) के समूह की उत्पत्ति की भूमियाँ हैं वे क्लिष्ट कहलाती हैं। अर्थात् अविद्या आदि मूलक जो कर्माशय के समूह का क्षेत्र रूप वृत्तियाँ होती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती हैं। और जो अविद्या आदि पाँचों क्लेशों की नाशक और गुणाधिकार की विरोधी विवेकख्याति-रूप वृत्ति होती है वह अक्लिष्ट कहलाती है। पहिले अक्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण करके क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। फिर पर-वैराग्य से उस अक्लिष्ट वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।

यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार बहुत गहरे जमे हुए होते हैं तथापि उनके छिद्रों में सत्-शास्त्र और गुरुजनों के उपदेश से अभ्यास और वैराग्य रूप अक्लिष्ट वृत्तियाँ वर्तमान रहती हैं। अर्थात् उनके द्वारा अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न हो सकती हैं। वृत्तियों का यह स्वभाव है कि वे अपने सदृश संस्कारों को उत्पन्न करती हैं—क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को। इस प्रकार छिपी हुई अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होकर अक्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। यह चक्र यदि निरन्तर चलता रहे तो क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाता है। पर इनके संस्कार सूक्ष्मरूप से अक्लिष्ट वृत्तियों के छिद्रों (बीच) में बने रहते हैं (४।२६) उनका नाश निर्बीज समाधि के अभ्यास से होता है (२।१०) उपरोक्त विधि के अनुसार जब क्लिष्ट वृत्तियां सर्वथा रुक जाती हैं तब अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध पर-वैराग्य से हो जाता है। इन सब वृत्तियों का निरोध असम्प्रज्ञात योग है।

संगति—पांचों वृत्तियों के नाम बतलाते हैं:—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति; ये पांच प्रकार की वृत्तियें हैं जिनका लक्षण अगले सूत्र में बतलायेंगे।

संगति—प्रमाण-वृत्ति के तीन भेद दिखलाते हैं:—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमाः = प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रमाणानि = प्रमाण हैं।

अन्वयार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद से तीन प्रकार की प्रमाण-वृत्ति हैं।

व्याख्या—प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के करण (साधना) को प्रमाण कहते हैं। मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं यह अनुमान से जानता हूँ, मैं यह वेद-शास्त्र से जानता हूं, इस प्रकार के ज्ञान का नाम बोध है। यह बोध यदि यथार्थ हो तो प्रमा

कहलाता है, अयथार्थ हो तो अप्रमा। जिस वृत्ति से प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है उसका नाम प्रमाण है।

प्रमा का लक्षण—अनधिगत (स्मृति-भिन्न) अबाधित (रस्सी में सर्प की तरह जो नाशवान् न हो) अर्थ को विषय करने वाले पौरुषेय ज्ञान (पुरुषनिष्ठ ज्ञान) को प्रमा कहते हैं। इसी को यथार्थ अनुभव वा सत्य ज्ञान भी कहते हैं। यह प्रमा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा वा लिङ्ग-ज्ञान द्वारा अथवा आप्त वाक्य श्रवण द्वारा चित्तवृत्ति से उत्पन्न होती है। इसलिये उस चित्तवृत्ति को प्रमा का करण होने से प्रमाण कहा जाता है। यह प्रमाण-चित्तवृत्ति तीन प्रकार की है :—

१ जो चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा विषयाकार चित्त की वृत्ति उदय होती है वह प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती है।

२ जो लिङ्ग-द्वारा उत्पन्न होती है वह अनुमान-प्रमाण कहलाती है।

३ और जो आप्त-वाक्य श्रवण द्वारा उत्पन्न होती है वह शब्द-प्रमाण वा आगम-प्रमाण कहलाती है।

इन प्रमाणों से जो पुरुष को ज्ञान होता है वह फलप्रमा कहलाता है। यह फल-प्रमा भी चित्तवृत्ति-रूप प्रमाणों के तीन प्रकार के होने से प्रत्यक्ष-प्रमा, अनुमिति-प्रमा, और शाब्दी-प्रमा भेद से तीन प्रकार का है।

प्रत्यक्ष प्रमाण व प्रत्यक्ष प्रमा—ग्रहण-रूप प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय (नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र) और ग्राह्यरूप उनके विषय (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) क्रम से एक ही कारण से उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन दोनों में एक-दूसरे को आकर्षण करने की शक्ति होती है। उदाहरणार्थ जब किसी रूप वाले घटादिक विषय का आँख से आकर्षण होता है तो आँख की रश्मि उस पर पड़ती है। चित्त का उस विषय में उपराग होने से वह इस नेत्र-प्रणाली द्वारा विषय-देश पर पहुँच कर उस विशेष घटादि के आकार वाला हो जाता है। चित्त के ऐसे घटादिक आकार-विशिष्ट परिणाम को प्रत्यक्ष-प्रमाण-वृत्ति कहते हैं। और उसमें जो 'अहं घटं जानामि' 'मैं घट-विषयक ज्ञान वाला हूँ', इस आकार वाला जो विषय सहित चित्तवृत्ति-विषयक पुरुषनिष्ठ ज्ञान है अर्थात् जो चिदात्मा (चितिशक्ति) का प्रतिबिम्ब उस प्रत्यक्ष-प्रमाण-वृत्ति द्वारा उस वृत्ति जैसा विषयाकार होता है वह प्रत्यक्ष-प्रमा कहलाता है। प्रमाण वृत्ति का फल होने से उसको फलप्रमा भी कहते हैं। यही पौरुषेय-बोध अथवा पौरुषेय-ज्ञान है। इस प्रकार व्यक्तिरूप विशेष अर्थ को विषय करने वाली वृत्ति प्रत्यक्ष-प्रमाण है। और उस वृत्ति के अनुसार जो प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान है वह प्रत्यक्ष-प्रमा है। और चित्त में प्रतिबिम्बित जो चेतनात्मा (चितिशक्ति) है वह प्रमाता है।

अनुमान-प्रमाण व अनुमान प्रमा अर्थात् अनुमिति—लिङ्ग से लिङ्गी का सम्बन्ध सामान्य-रूप से निश्चय करके जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसको अनुमान कहते हैं। उदाहरणः जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे रसोईघर में; और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाब में। इस प्रकार धूम से अग्नि का सम्बन्ध सामान्य-रूप से निश्चित करके पर्वत में धूम को देखकर अग्नि के होने का जो यथार्थ

ज्ञान प्राप्त हो, उसको अनुमान-प्रमाण कहते हैं। इस अनुमान-प्रमाण से जो चित्त में परिणाम होता है, उसको अनुमान वृत्ति कहते हैं। उस अनुमान-वृत्ति द्वारा जो चिदात्मा (चिति- शक्ति) का प्रतिबिम्बि-रूप जो पौरुषेय ज्ञान (पौरुषेय बोध) है, वह अनुमिति-प्रमा कहलाता है।

आगम-प्रमाण व आगम-प्रमा—वेद, सत्शास्त्र तथा आप्त-पुरुष, जो भ्रम, विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित यथार्थवक्ता हों, उनके वचनों को आगम-प्रमाण कहते हैं। वेदों व सत्शास्त्रों को पढ़कर या सुनकर तथा आप्त-पुरुषों के वचनों को सुनकर श्रोता के चित्त में जो परिणाम होता है उसे आगम अथवा शब्दप्रमाण वृत्ति कहते हैं। उस वृत्ति द्वारा जो चिदात्मा (चितिशक्ति) का प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय-ज्ञान (पौरुषेय बोध) होता है वह फलप्रमा, शब्दप्रमा कहलाता है।

विशेष वक्तव्य

१ इस सूत्र की व्याख्या में विज्ञान भिक्षु अपने योग वार्तिक में प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमाऽर्थाकार वृत्तीनां चेतने प्रति बिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्यः स्युः करणस्यानपेक्षणात्॥
साक्षाद् दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्य-सूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥

अर्थ—शुद्ध चेतन को प्रमाता, वृत्ति को प्रमाण, और चेतन में प्रतिबिम्बित तदाकार वृत्ति प्रमा कही जाती है। प्रतिबिम्बित वृत्तियों के विषय को मेय अर्थात् प्रमेय कहते हैं। करण अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित वृत्तियें साक्षिभास्य होती हैं। सांख्य सूत्र में साक्षात् दर्शन रूप को साक्षी कहा गया है। किन्तु कोई अविकारी द्रष्टा को ही साक्षी रूप मानते हैं।

शुद्ध चेतन को प्रमाता मानना अयुक्त और श्रुति विरुद्ध है क्योंकि शुद्ध नाम सर्व धर्म रहित का है और प्रमाता नाम प्रमारूप धर्म विशिष्ट का है। इसलिये चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन (जीवात्मा) ही प्रमा का आधार होने से प्रमाता है। प्रमारूप बोध शुद्ध चेतन का मुख्य धर्म नहीं है।

यथा—"ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन,
ज्ञानस्वरूप एवाऽऽत्मा नित्यः सर्वगतः शिवः,,

अर्थ—ज्ञान, आत्मा (शुद्ध चेतन) का धर्म वा गुण नहीं है। किन्तु यह नित्य सर्वव्यापक शिव आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है।"असङ्गोह्ययं पुरुषः" यह (सब का आत्मभूत)

पुरुष असङ्ग है "साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च" चेतन पुरुष निर्गुण होने से केवल साक्षी ही है। एवं सांख्य प्रवचन भाष्य में विज्ञान भिक्षु ने भी ऐसा ही लिखा है "पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमाता"। (सांख्य सू० ८७) पुरुष प्रमाका साक्षी ही है प्रमाता नहीं।

तथा—"कल्पितं दर्शन कर्तृत्वं वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुषः" (सां० २।२०)

अर्थ—पुरुष में दर्शन कर्तृत्व कल्पित है और साक्षित्व वास्तव है।

इसलिये इसकी व्यवस्था निम्न रूप से समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष-प्रमाण—प्रत्यक्ष-प्रमाण के सम्बन्ध मेंः प्रमाण, प्रमेय प्रमा, प्रमाता, और साक्षी भेद से पांच पदार्थ माने जाते हैंः—

१ जिस प्रकार तालाब आदि का जल प्रणाली द्वारा खेत में जाकर खेताकार हो जाता है उसी प्रकार चित्त का नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय घटादि से सम्बद्ध होकर उस घट आदि आकार रूप परिणाम को प्राप्त होने पर जो 'अयं घटः' 'यह घट है' इस घटादि आकार वाली चित्तवृत्ति होती है वह बौद्धप्रमा कही जाती है। इस प्रमा का विषय-सम्बन्ध नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है, इसलिये इसको 'प्रमाण' कहते हैं।

२ उपरोक्त घटादि आकार वाली चित्तवृत्ति का विषय घटादि 'प्रमेय' कहलाता है।

३ पुरुषनिष्ठ बोध फल होने से किसी का करण नहीं है इसलिये वह केवल 'प्रमा' कहलाता है।

४ बुद्धि-प्रतिबिम्बित चेतन जो इस प्रमा का आश्रय है वह प्रमाता कहा जाता है।

५ और बुद्धि-वृत्ति उपहित जो शुद्ध चेतन है वह साक्षी है।

अनुमान प्रमाण—लिङ्ग-लिङ्गी, साधन-साध्य अथवा कार्य-कारण के सम्बन्ध से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता हैः पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

१ पूर्ववत्—जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो, जैसे बादलों को देख कर होने वाली वर्षा का अनुमान।

२ शेषवत्—कार्य से कारण का अनुमान, जैसे नदी के मटीले पानी को देखकर प्रथम हुई वर्षा का अनुमान।

३ सामान्यतोदृष्ट—जो सामान्य रूप से देखा गया हो परन्तु विशेष रूप से न देखा गया हो, जैसे घट (बनी हुई मिट्टी का घड़ा) को देखकर उसके बनाने वाले कुम्हार का अनुमान। क्योंकि प्रत्येक बनी हुई वस्तु का कोई चेतन निमित्त-कारण सामान्य-रूप से देखा जाता है।

अनुमान के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक है कि लिङ्ग-लिङ्गी अर्थात् साधन-साध्य का जिस धर्म-विशेष के साथ सम्बन्ध होता है वह व्याप्ति कहलाता है। और ऐसे सम्बन्ध होने के ज्ञान को व्याप्ति-ज्ञान कहते हैं। लिङ्ग के प्रत्यक्ष होने पर अप्रत्यक्ष लिङ्गी का इस व्याप्ति-ज्ञान से अनुमान किया जाता है। जैसे धूम व अग्नि के सम्बन्ध होने के ज्ञान से विशेषरूप से धूम को देखकर यह निश्चय करना कि जहां ऐसा धूम होता है वह

बिना अग्नि के नहीं होता, इस व्याप्ति-ज्ञान से धूम के प्रत्यक्ष होने से अप्रत्यक्ष अग्नि का जानना अनुमान है।

अनुमान का मूल प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि पूर्वप्रत्यक्ष द्वारा अनुमान होता है। यदि प्रत्यक्ष विकार दोष-संयुक्त हो तो अनुमान भी मिथ्या हो जाता है। इन्द्रिय व अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न भ्रान्ति-दोष से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। भ्रान्ति-दोष के निम्न कारण होते हैं:—

१ विषयदोष—पदार्थ इतनी दूर हो जिससे यथार्थ ज्ञान में भ्रम उत्पन्न हो; पदार्थ ऐसी अवस्था में रक्खा हो जिससे यथार्थ ज्ञान में भ्रान्ति उत्पन्न हो। द्रष्टा और दृश्य के मध्य में शीशा आदि कोई ऐसी वस्तु आ जावे जिससे दृश्य अपने वास्तविक रूप में न दिखलाई सके।

२ इन्द्रिय-दोष—जैसे कामल (पीलिया) रोग वाले को सब वस्तुएँ पीली दीखती हैं।

३ मनोदोष—मन के असावधान तथा अस्थिर होने से पदार्थ का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है।

शब्द-प्रमाण—अलौकिक विषय में वेद ही प्रमाण हो सकते हैं, इसीलिये इस प्रमाण का नाम आगम प्रमाण है। वेद के आश्रित जो ऋषि, मुनि और आचार्यों के वचन हैं वे भी इसी प्रमाण के अन्तर्गत हैं। लौकिक विषय में भी आप्तपुरुष ही प्रमाण हो सकते हैं। आप्त-पुरुष तत्त्ववेत्ता होते हैं, जिनके जानने और कहने में (ज्ञान और क्रिया में) कोई दोष नहीं होता, अर्थात् जिनका ज्ञान भ्रान्ति-दोष (जिसका अनुमान-प्रमाण के सम्बन्ध में वर्णन कर दिया है) से युक्त न हो तथा जिनमें विप्रलिप्सा (धोखे में डालने का) दोष न हो।

कई आचार्यों ने उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और संकेत को अलग प्रमाण माना है, जैसे मीमांसा ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि (अभाव) और अर्थापत्ति ये छः प्रमाण माने हैं; न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान ये चार प्रमाण माने हैं। किन्तु दर्शनकारों में प्रमाण के सम्बन्ध में यह कोई विशेष मतभेद नहीं है। केवल स्थूल बुद्धिवालों को वर्णन शैली की बाह्य प्रणाली को देखकर अविवेक के कारण परस्पर विरोध होने का भ्रम होता है क्योंकि यह सब इन तीनों प्रमाणों के अन्दर ही आ जाते हैं। जैसे प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से साध्य के साधने को 'उपमान' कहते हैं; वह अनुमान के अन्दर आजाता है। जो बात अर्थ से निकल आवे उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं; जैसे राम के घर पर यदि उसे पुकारें और उत्तर मिले कि 'वह घर नहीं है', तो यहाँ 'अर्थात् बाहर है', यह अपने-आप ज्ञात हो जाता है। यह भी अनुमान के अन्दर आ जाता है। एक बात से दूसरी बात का जहाँ सिद्ध होना सम्भव हो उसे 'सम्भव' कहते हैं। जैसे 'राम करोड़पति है' इससे लखपति होना सिद्ध है। यह भी अनुमान के अन्तर्गत है। 'मकान में पुस्तक नहीं है' यह ज्ञान अभाव-प्रमाण से होता है। पर वस्तुतः यह प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि जिस वस्तु का ज्ञान जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उसका अभाव भी उसी से प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये 'अभाव' प्रत्यक्ष-प्रमाण के अन्तर्गत है 'ऐतिह्य'—

'जो परम्परा से कहते चले आते हों'। इनमें कहने वाले का निश्चय न होने से यह ज्ञान संशय वाला होता है, इसलिये यह प्रमाण नहीं। और यदि कहने वाले का आप्त पुरुष होना निश्चय हो जाने तो शब्द-प्रमाण के अन्दर आ जाता है। नियत इशारों से अपने अभिप्रायों को एक-दूसरे पर प्रकट करने को 'संकेत' कहते हैं। यह भी अनुमान के अन्दर आजाता है, क्योंकि संकेत नियत किया हुआ चिह्न है। इस प्रकार तीन ही प्रमाण सिद्ध होते हैं जो सांख्य तथा योगाचार्यों ने माने हैं। अन्य सब इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं।

संगति—विपर्यय-वृत्ति का वर्णन करते हैं:—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—विपर्ययः = विपर्यय। मिथ्याज्ञानम् = मिथ्या ज्ञान है। अ-तद्-रूप-प्रतिष्ठम् = जो उसके (पदार्थ के) रूप में प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात् जो उस पदार्थ के वास्तविक रूप को प्रकाशित नहीं करता है।

अन्वयार्थ—विपर्यय मिथ्या ज्ञान है जो उस पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है।

व्याख्या—सूत्र में 'विपर्यय' लक्ष्य है, 'मिथ्या ज्ञान' लक्षण है और 'अतद्रूप प्रतिष्ठम्' हेतु है। 'अतद्रूप प्रतिष्ठम्' विकल्प में भी हेतु (कारण) है। इसलिये विकल्प वृत्ति में अतिव्याप्ति-दोष के निवारणार्थ अर्थात् विकल्प से विपर्यय में भिन्नता दिखलाने के लिये, विपर्यय वृत्ति के लक्षण में मिथ्या ज्ञान पद दिया गया है।

विषय के समान आकार से परिणत चित्तवृत्ति को प्रमाण; और विषय से विलक्षण आकार से परिणत चित्तवृत्ति को विपर्यय समझना चाहिये।

मिथ्या-ज्ञान अर्थात् जैसा अर्थ न हो वैसा उत्पन्न हुआ ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान, रज्जु (रस्सी) में सर्प का अथवा एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान। क्योंकि वह उसके रूप में प्रतिष्ठ (स्थित) नहीं होता। अर्थात् उसके यथार्थ रूप को प्रकाशित नहीं करता। जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप से कभी भी न हटकर वस्तु के यथार्थ रूप को ही प्रकाशित करता है वह 'तद् रूप प्रतिष्ठित' वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित (स्थित) होने के कारण सत्य ज्ञान, यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रमाण कहलाता है। जहाँ वस्तु अन्य हो और चित्तवृत्ति अन्य प्रकार की हो वहाँ चित्त की वृत्ति उस वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होती है। इसलिये वह अतद् रूप प्रतिष्ठित होने के कारण विपर्यय ज्ञान कहलाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार पिघली धातु किसी साँचे में डाल देने से वैसे ही आकार की हो जाती है और वैसे ही आकार को धारण कर लेती है, वैसे ही चित्त भी बाह्य वस्तु से सम्बद्ध हुआ संयुक्त वस्तु के समान आकार से परिणत हो तदाकार हो जाता है। यह चित्त का विषयाकार परिणाम ही प्रमाण ज्ञान या प्रमाण-वृत्ति कहलाता है। यदि ढाली हुई धातु की वस्तु किसी दोष के कारण साँचे के आकार से विलक्षण अथवा विपरीत हो जावे तो वह वस्तु का आकार-दोष विशिष्ट होने से स्वरूप में अप्रतिष्ठित हुआ दूषित कहलाता है। इसी प्रकार यदि वस्तु के आकार से चित्त की वृत्ति किसी दोष के कारण

विलक्षण अथवा विपरीत अथवा भिन्न प्रकार की हो जावे तो वह वृत्ति का आकार भी वस्तु के समानाकार न होने से स्वरूप में प्रतिष्ठित न होने के कारण दूषित, मिथ्या वा भ्रान्तिज्ञान कहा जाता है, जैसा कि सीप में चाँदी का ज्ञान, रस्सी में सर्प का ज्ञान अथवा एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान। किसी वस्तु से विलक्षण अथवा विपरीत चित्त के आकार को ही विपर्यय-ज्ञान कहते हैं। अर्थात् विषय के समानाकार से परिणत चित्तवृत्ति को प्रमाण और विषय से विलक्षण अथवा विपरीत अथवा भिन्न आकार से परिणत चित्तवृत्ति को विपर्यय कहते हैं।

अथवा जो ज्ञान निज-रूप में प्रतिष्ठित नहीं है वह अतद्-रूप-प्रतिष्ठ कहा जाता है। अर्थात् सीप में जो सीप का ज्ञान, रज्जु में जो रज्जु का ज्ञान और चन्द्र में जो एकचन्द्र ज्ञान है वह निज-रूप में प्रतिष्ठित होने से प्रमाण-ज्ञान है, और जो सीप में चाँदी का ज्ञान, रज्जु में सर्प का ज्ञान या एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान है वह उत्तर (अगले) काल में होने वाले यथार्थ ज्ञान से बाधित होने के कारण निज-रूप में अप्रतिष्ठित है क्योंकि उत्तर-कालिक (आगे होने वाला) ज्ञान स्वरूप से प्रच्युत कर उसकी प्रतिष्ठा को भङ्ग करने वाला है। इसलिए रज्जु-विषयक रज्जु-ज्ञान किसी ज्ञान से बाधित न होने से स्वरूप-प्रतिष्ठित होने के कारण प्रमाण है और रज्जु-विषयक सर्प-ज्ञान उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञान से बाधित होने से स्वरूप में अप्रतिष्ठित होने के कारण विपर्यय-ज्ञान है।

जिस प्रकार विपर्यय-ज्ञान रूपाप्रतिष्ठित है वैसे ही संशय भी उत्तरकालिक ज्ञान से बाधित होने से रूपाप्रतिष्ठित है। इसलिये संशय भी विपर्यय के अन्तर्गत है।

यह विपर्यय-संज्ञक (नामवाली) चित्त की वृत्ति ही अविद्या कही जाती है। इस लिये अविद्या-संज्ञक विपर्यय ज्ञान, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भेद से पाँच प्रकार का है जिनका पञ्चक्लेश के नाम से (२-३) में वर्णन किया जायगा। भेद केवल इतना है कि यह विपर्यय चित्त की एक वृत्ति रूप है और क्लेश वृत्तियों के संस्कार रूप होते हैं।

टिप्पणी—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशों के ही सांख्य-परिभाषा में क्रम से तमस् मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामान्तर हैं।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोह्यन्धसंज्ञकः ।
अविद्या पंचपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता ॥

अर्थ—तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश), यह सांख्य और योग में पंचपर्वा अविद्या कही गई है। यह तमस् आदि अवान्तर भेद से बासठ प्रकार के हैं, जैसा कि सांख्य कारिका में बतलाया है।

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ (सा॰ का॰ ४८)

अर्थ—तमस् और मोह का आठ आठ प्रकार का भेद है। महामोह दश प्रकार का है। तामिस्र और अन्धतामिस्र अठारह अठारह प्रकार के हैं।

तमस् (अविद्या)—प्रधान, महत्तत्व, अहङ्कार, और पाँच तन्मात्राएँ; इन आठ अनात्म प्रकृतियों में आत्मभ्रान्ति रूप अविद्या—संज्ञक तम आठ विषय वाला होने से आठ प्रकार का है।

मोह (अस्मिता)—योगफल रूप अणिमा—महिमा आदि आठ ऐश्वर्यों में जो परम पुरुषार्थ भ्रान्तिरूप ज्ञान है वह अस्मिता—संज्ञक मोह कहलाता है। यह भी अणिमा आदि (३-४५) के आठ भेद से आठ प्रकार का है।

महामोह (राग)—शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक लौकिक और दिव्य विषयों में जो अनुराग है वह राग संज्ञक महामोह कहा जाता है। यह भी दश विषय वाला होने से दश प्रकार का है।

तामिस्र (द्वेष)—उपरोक्त आठ ऐश्वर्यों और दश विषयों के भोगार्थ प्रवृत्त होने पर किसी प्रतिबन्धक से जो इन विषयों के भोगलाभ में विघ्न पड़ने से जो प्रतिबन्धक विषयक द्वेष होता है वह तामिस्र कहलाता है। वह तामिस्र आठ ऐश्वर्यों और दिव्य अदिव्य दश विषयों के प्रतिबन्धक होने से अठारह प्रकार का है।

अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—आठ प्रकार के ऐश्वर्य और दश प्रकार के विषय-भोगों के उपस्थित होने पर भी जो चित्त में यह भय रहता है कि यह सब प्रलयकाल में नष्ट हो जायेंगे; यह अभिनिवेश अन्धतामिस्र कहलाता है। अभिनिवेश-रूप अन्धतामिस्र भी उपर्युक्त अठारह के नाश का भय-रूप होने से अठारह प्रकार का है।

यह सब अज्ञान-मूलक और दुःख जनक होने से अज्ञान, अविद्या, विपर्यय-ज्ञान, मिथ्याज्ञान, भ्रान्तिज्ञान और क्लेश आदि नामों से कहे जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—विपर्यय वृत्ति किस प्रकार अक्लिष्ट रूप हो सकती है? इस शंका को बहुधा जिज्ञासुओं से सुना गया है। इसलिये उसके कुछ उदाहरणों को यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह सारा त्रिगुणात्मक जगत् 'अविद्या है'। 'माया है', 'स्वप्न है', 'शून्य है', 'विज्ञान है' इत्यादि कल्पनायें 'अविद्या वादी', 'मायावादी', 'स्वप्नवादी' 'शून्यवादी' 'विज्ञानवादी', इत्यादियों की भ्रममूलक, अयथार्थ और विपर्यय रूप हैं क्योंकि त्रिगुणात्मक जड़तत्व को 'अविद्या' 'माया' अथवा 'शून्य' मानने में उसी के अन्तर्गत होने के कारण सारे वेद शास्त्र, साधन, सम्पत्ति, पुरुषार्थ, योग अभ्यास और स्वयं ये सिद्धान्त और युक्तियां भी 'अविद्या' 'माया' स्वप्न अथवा शून्य रूप होकर विपर्यय सिद्ध होंगी और सारे सांसारिक तथा पारमार्थिक व्यवहार दूषित हो जायंगे। इसलिये त्रिगुणात्मक जड़तत्व को 'अविद्या' 'माया' 'स्वप्न' अथवा शून्य मानना विपर्य वृत्ति है। वास्तव में इस त्रिगुणात्मक जड़तत्त्व को आत्मा से भिन्न अनात्मतत्त्व मानना ही प्रमाण वृत्ति है। इस अनात्म तत्त्व में आत्मा का भान होना अर्थात् उसमें आत्म अध्यास रूप विपर्यय वृत्ति सारे बन्धनों का कारण होने से अत्यन्त क्लिष्ट रूप है। इस अनात्म तत्त्व अध्यास को हटाना ही मनुष्य का मुख्य प्रयोजन और परम

इसी प्रकार 'राहु का शिर' 'काठ की पुतली' यह ज्ञान भी विकल्पवृत्ति है, क्योंकि 'राहु और शिर' 'काठ और पुतली' का भेद नहीं है। यह ज्ञान भी निर्विषयक होने से विकल्प है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प-वृत्ति के भेद को सरल शब्दों में यों समझना चाहिए कि प्रमाण वस्तु के यथार्थ ज्ञान को कहते हैं, जैसे सीप में सीप का ज्ञान। यह यथार्थ ज्ञान वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित होता है जैसे सीप में सीप का ज्ञान प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थिर है, ठहरा हुआ है, बाध अर्थात् अस्थिर, हटने वाला नहीं। चित्त में ऐसे तदाकार परिणाम को प्रमाणवृत्ति कहते हैं। विपर्यय वस्तु के मिथ्या-ज्ञान को कहते हैं जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं है, अस्थिर है। सीप के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर इसका बाध हो जाता है अर्थात् सीप में चांदी का मिथ्या-ज्ञान हट जाता है। चित्त में ऐसे तदाकार परिणाम को विपर्ययवृत्ति कहते हैं। विकल्प इन दोनों से विलक्षण है। यह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है क्योंकि निर्विषय होता है, अर्थात् कोई वस्तु इस ज्ञान का विषय नहीं होती, किन्तु यह केवल शब्दज्ञान के अनन्तर उदय होता है। यह इससे प्रमाण से भिन्नता है। यह मिथ्याज्ञान भी नहीं है, क्योंकि जो लोग जानते हैं कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं वे भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं। यह इसमें विपर्यय से भेद है।

साधारण लोगों को जिसमें बाधबुद्धि उदय हो वह विपर्यय, और निपुण विद्वानों को विचार द्वारा जिसमें बाध-ज्ञान हो वह विकल्प समझना चाहिये। यह विकल्पवृत्ति वहाँ होती है जहाँ अभेद में भेद या भेद में अभेद आरोप किया जाता है। जैसे पुरुष और चैतन्य, राहु और शिर, काठ और पुतली; दो दो वस्तु नहीं हैं तथापि इस अभेद में भेद आरोप किया जाता है। लोहा और आग, अथवा पानी और आग दो दो वस्तु हैं, तथापि 'लोहे का गोला जलाने वाला है', अथवा 'पानी से हाथ जल गया' इस कथन से भेद में अभेद आरोप किया जाता है।

'अहं वृत्ति भी एक विकल्प-वृत्ति ही है, क्योंकि इसमें चेतन और अहङ्कार के भेद में अभेद आरोप किया जाता है, पल, घड़ी, दिन, मास आदि की ज्ञानरूप वृत्तियाँ भी विकल्प वृत्तियाँ हैं, क्योंकि क्षणों के भेद में अभेद का आरोप किया जाता है (३।५२)।

गौ आदि शब्दों में शब्द अर्थ और ज्ञान के भेद में अभेद से भासने वाली वृत्ति भी विकल्प-वृत्ति ही है जिसकी (१।४२) में 'सवितर्क समापत्ति' संज्ञा की है।

टिप्पणि विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है —

शब्द ज्ञान-अनुपाती = शब्द और ज्ञान जिसके पीछे आते हैं। वस्तु-शून्य' = और वस्तु से जो शून्य है। विकल्प' = वह विकल्प है। अर्थात् यह ज्ञान वस्तु से शून्य है, ऐसा जानने वाले विवेकी भी ऐसा ही कहते और समझते हैं।

संगति—निद्रा-वृत्ति का स्वरूप बतलाते हैं :—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

शब्दार्थ—अभाव-प्रत्यय-आलम्बना = (जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के) अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली। वृत्तिः = वृत्ति। निद्रा = निद्रा है।

अन्वयार्थ—(जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के) अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा है ।

व्याख्या—निद्रा 'वृत्ति' ही है; इसको सूचित करने के लिये सूत्र में वृत्ति ग्रहण है। कई आचार्य निद्रा को वृत्ति नहीं मानते हैं, किन्तु योग के आचार्य आत्मस्थिति से अतिरिक्त चित्त की प्रत्येक अवस्था को वृत्ति ही मानते हैं।

'अभाव' शब्द से जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों का अभाव, अथवा जाग्रत् और स्वप्न की वृत्तियों के अभाव का हेतु तमोगुण को जानना चाहिये ।

रजोगुण का धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है। जाग्रत् अवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है। इसलिये वह सत्त्वगुण को गौण-रूप से अपना सहकारी बनाकर अस्थिर रूप से क्रिया में अर्थात् विषयों में प्रवृत्त करने में लगा रहता है। तमोगुण का धर्म स्थिति, दबाना, रोकना अर्थात् प्रकाश और क्रिया को रोकना है। सुषुप्ति-अवस्था में तमोगुण रजस तथा सत्त्व को प्रधान-रूप से दबा लेता है। इसलिये चित्त में तमोगुण का ही परिणाम प्रधान-रूप से होता रहता है। उस समय चित्त में अभाव की ही प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक अन्धेरे कमरे में सब वस्तुएँ छिप जाती हैं किन्तु सब वस्तुओं को छिपाने वाला अन्धकार दिखलाई देता है, जो वस्तुओं के अभाव की प्रतीति कराता है, इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति अवस्था में चित्त की सब वृत्तियों को दबाकर स्वयं स्थिर-रूप से प्रधान रहता है। किन्तु रजोगुण का नितान्त अभाव नहीं होता है, तनिक मात्रा में रहता हुआ वह इस अभाव की भी प्रतीति कराता रहता है। चित्त के ऐसे परिणाम को निद्रा-वृत्ति कहते हैं।

तब चित्त में तमोगुण वाली, 'मैं सोता हूँ' इस प्रकार की वृत्ति होती है। इस वृत्ति के संस्कार चित्त में उत्पन्न होते हैं, फिर उससे स्मृति होती है कि 'मैं सोया और मैंने कुछ नहीं जाना'। यहाँ पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि जिस निद्रा में सत्त्वगुण के लेश सहित तमोगुण का प्रचार होता है, उस निद्रा से उठकर पुरुष को 'मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न है और मेरी प्रज्ञा स्वच्छ है' इस प्रकार की स्मृति होती है; और जिस निद्रा में रजोगुण के लेश सहित तमोगुण का सञ्चार होता है उससे उठने पर इस प्रकार की स्मृति होती है : 'मैं दुखपूर्वक सोया, मेरा मन अस्थिर और घूमता-सा है'; और जिस निद्रा में केवल तमोगुण का प्राबल्य होता है तो उससे उठने पर 'मैं बेसुध सोया, मेरे शरीर के अङ्ग भारी हो रहे हैं, मेरा चित्त व्याकुल है' इस प्रकार की स्मृति होती है। यदि उस वृत्ति का प्रत्यक्ष न हो तो उसके संस्कार भी न हों; और संस्कारों के न होने से स्मृति भी नहीं हो सकती। इसलिए निद्रा एक वृत्ति है, वृत्ति मात्र का अभाव नहीं है। श्रुति और स्मृतियों ने भी निद्रा को वृत्ति ही माना है।

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तंच गुणतो बुद्धि वृत्तयः ।

जाग्रत, स्वप्न और निद्रा ये गुणों से बुद्धि की वृत्तियां हैं। एकाग्रता के तुल्य होते हुए भी निद्रा तमोमयी होने से सबीज तथा निर्बीज-समाधि की विरोधनी है इसलिए रोकने योग्य है।

नशा तथा क्लोरोफार्म आदि से उत्पन्न हुई मूर्छित अवस्था भी निद्रा-वृत्ति के ही अन्तर्गत है।

विशेष विचार—सुषुप्ति तथा प्रलय-काल मे तमोगुण प्रधान अन्धकार मे चित्त का लयहोता है; और असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे अविद्या आदि क्लेशों से रहित पुरुष के निज-रूप में चित्त अवस्थित रहता है और पुरुष स्वरूप मे अवस्थित होता है।

सुषुप्ति व्यष्टि-चित्तों की अवस्था है और प्रलय समष्टि-चित्त अर्थात् महत्व की सुषुप्ति है।

असम्प्रज्ञात-समाधि मे चित्त मे संस्कार-शेष अर्थात् निरोध के संस्कार रहते हैं जिनके दुर्बल होने पर व्युत्थान अवस्था मे लौटना होता है। कैवल्य (मुक्ति) मे संस्कार शेष भी निवृत्त हो जाते हैं इसलिये पुन. आवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—'प्रत्यय' पद का अर्थ ज्ञान, प्रतीति, वृत्ति तथा कारण के भी हैं। वाचस्पति मिश्र ने प्रत्यय पद का 'कारण' रूप अर्थ मानकर सूत्र का निम्न प्रकार अर्थ किया है :— जाग्रत् तथा स्वप्न की वृत्तियों के अभाव का प्रत्यय (कारण) जो बुद्धिनिष्ठ सत्त्वगुण का आच्छादक तमोगुण व अज्ञान है आलम्बन (विषय) जिस चित्तवृत्ति का, वह निद्रा कहलाती है।

संगति—क्रम से प्राप्त स्मृति का वर्णन करते हैं:—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

शब्दार्थ—अनुभूत = अनुभव किये हुए, जाने हुए। विषय = (किसी) विषय का। असम्प्रमोषः = जो चुराया हुआ न हो (फिर चित्त में) उससे अधिक का नहीं, किन्तु आरोह-पूर्वक तन्मात्र विषयक ज्ञान होना। स्मृतिः = स्मृति है।

अन्वयार्थ—अनुभव किये हुए विषय का फिर चित्त मे आरोह-पूर्वक उससे अधिक नहीं किन्तु तन्मात्र-विषयक ज्ञान होना स्मृति है॥।

व्याख्या—स्मृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है अनुभव से ज्ञात (जानी हुई) वस्तु को अनुभूत कहते हैं। जब किसी दृष्ट अथवा श्रुत (देखी वा सुनी हुई) आदि वस्तु का ज्ञान होता है तब एक प्रकार का उस अनुभूत वस्तु का तदाकार संस्कार चित्त में अंकुरित हो जाता है। फिर जब किसी समय में उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर वह चित्तवृत्ति, संस्कार-प्रफुल्लित हो जाती है तब वह अनुभूत पदार्थ के आकार से चित्त को रंगकर तदाकार ही चित्त का परिणाम कर देती है। यह अनुभूत पदार्थ-विषयक चित्त का तदाकार परिणाम स्मृति-वृत्ति कहलाता है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प द्वारा जाग्रत अवस्था मे जिस किसी वस्तु को अनुभव करते हैं तो उस अनुभव

॥ यदि असम्प्रमोष के अर्थ 'न खोया जाना' लगायें तब सूत्र के यह अर्थ होंगे "अनुभव किये हुये विषय का न खोया जाना अर्थात् किसी अभिव्यंजक को पाकर संस्कार-प्रफुल्लित हो जाना स्मृति है"

से चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। उन संस्कारों से स्मृति होती है। अनुभव-सदृश संस्कार होते हैं और संस्कार-सदृश स्मृति होती है। निद्रा में अभाव का अनुभव होता है उसके संस्कार से भी उसके सदृश स्मृति पैदा होती है। इसी प्रकार स्मृति के भी संस्कार पड़ते हैं और उनसे भी उसके सदृश स्मृति होती है। स्मृति का विषय अनुभूति से कम अथवा उसके बराबर हो सकता है, उससे अधिक नहीं हो सकता है, स्वप्न भी जाग्रत अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति है। इसमें जाग्रत के स्मर्तव्य विषय भी दिखलाई देते हैं किन्तु वे सब कल्पित होते हैं। यह स्मृति की स्मृति है। इसमें यह यथार्थ ज्ञान नहीं होता कि हम स्मरण कर रहे हैं। इसको भावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। जाग्रत अवस्था में जो स्मृति होती है। उसमें स्मर्तव्य विषय नहीं दिखलाई देता; किन्तु हमको ज्ञान होता है कि हम स्मरण कर रहे हैं; यह वास्तविक स्मृति है। इसको अभावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। स्मृति को सब से अन्त में लिखने का कारण यह है कि यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के अनुभव-जन्य संस्कारों से उत्पन्न होती है।

सम्प्रमोष नाम "मुष स्तेये" धातु से तस्करता स्तेय अर्थात् चोरी का है इसलिये असम्प्रमोष का अर्थ तस्करता का अभाव है। जिस प्रकार लोक में पुत्र के लिये पिता से छोड़ी हुई वस्तु का ग्रहण करना असम्प्रमोष, अस्तेय अर्थात् चोरी नहीं है किंतु दूसरों की छोड़ी हुई वस्तु ग्रहण करना (चोरी) है, इसी प्रकार अनुभव, स्मरण-ज्ञान का पिता है क्योंकि स्मरण-ज्ञान अनुभव से ही उत्पन्न होता है। अनुभूत विषय अनुभव द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के तुल्य है। इसलिये स्मरण-ज्ञान का अनुभूत विषय से अधिक प्रकाश करना सम्प्रमोष (चोरी) अर्थात् स्मृति नहीं है। केवल अनुभूत विषय को ही उसके बराबर अथवा उससे न्यून (कम) प्रकाश करना (अधिक नहीं) असम्प्रमोष है अर्थात् स्मृति है। इसलिये स्मृति का विषय अनुभूत विषय से कम हो सकता है, अधिक नहीं हो सकता।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि चित्त जो स्मरण करता है वह प्रत्ययमात्र, (ज्ञानमात्र, ग्रहण-मात्र) का स्मरण करता है या ग्राह्यमात्र (विषयमात्र) या ग्राह्य-ग्रहण (विषय और ज्ञान) इन दोनों का स्मरण करता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञान-विषयक अनुभव के अभाव से विषय का ही स्मरण होना सम्भव है तथापि पूर्व अनुभव को ग्राह्य-ग्रहण उभयाकार विशिष्ट होने से उनसे उत्पन्न हुआ संस्कार भी उन दोनों आकारों से संयुक्त होकर ग्राह्य-ग्रहण दोनों स्वरूपवाली स्मृति को उत्पन्न करता है एकविषयक को नहीं। इसलिये ज्ञान-सम्बद्ध विषय का ही स्मरण होता है; न केवल ज्ञान का और न केवल विषय का अर्थात् अनुभव, आकार, स्मरण; यह तीनों समान ही आकार से भान होते हैं विभिन्न आकार से नहीं। 'अहं घटं जानामि' में घट-विषयक ज्ञानवाला हूँ, इस अनुभव में घट और ज्ञान दोनों का ही भान होता है। इससे अनुभव-जन्य संस्कार भी दोनों विषयों वाला मानना पड़ेगा। इसी प्रकार इस

संस्कार से उत्पन्न होने वाली स्मृति भी दोनों विषयवाली होगी, एक विषयवाली नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ग्राह्य और ग्रहण इन दोनों का ही स्मृति प्रकाश करती है, एक का नहीं।

यह स्मृति दो प्रकार की है: एक भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या-पदार्थ-विषयक जो कि स्वप्न में होती है; और एक अभावित-स्मर्तव्य अर्थात् यथार्थ पदार्थ को विषय करनेवाली जो कि जाग्रत्-काल में होती है, जैसा ऊपर व्याख्या में बतला आये हैं।

यह प्रमाणादि पाँचों भेदवाली उपर्युक्त सूत्रों में बतलाई हुई वृत्तियाँ सात्त्विक, राजस और तामस होने से सुख, दुःख और मोहस्वरूप हैं; और सुख, दुःख और मोह क्लेशस्वरूप हैं। इसलिये यह सब वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं। मोह स्वयं अविद्या रूप होने से सर्व दुःखों का मूल है। दुःख की वृत्तियाँ स्वयं दुःखरूप ही हैं। सुख की वृत्तियाँ सुख के विषयों और उनके साधनों में राग उत्पन्न कराती हैं। 'सुखानुशयी रागः' (२।७) 'सुख-भोग के पश्चात् जो उसकी वासना रहती है वह राग है'। उन सुख के विषयों और उनके साधनों में विघ्न होने पर द्वेष उत्पन्न होता है 'दुःखानुशयी द्वेषः' (२।८)। इसलिये क्लेश-जनक सुख, दुःख, मोहस्वरूप होने से सब प्रकार की वृत्तियाँ त्याज्य हैं इनके निरोध होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। तदनन्तर परवैराग्य के उदय होने से असम्प्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

विशेष विचारः—स्वप्न जागने और सोने के बीच की अवस्था है। सूत्र की व्याख्या में स्वप्न में हमने भावित स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या पदार्थ विषयक स्मृति का होना बतलाया है। स्वप्न भी अन्तःकरण के गुण भेद से तीन प्रकार के होते हैं। तामसिक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और सात्त्विक स्वप्न। जब स्वप्न में तमोगुण की प्रधानता होती है तब कुछ से कुछ विचित्र स्वप्न दिखलाई देते हैं अर्थात् सारी वस्तुएं अस्थिर रूप से दिखलाई देती हैं और जागने पर उनकी कुछ भी ठीक २ स्मृति नहीं रहती। यह स्वप्न की अधम अवस्था तामसिक है। जिस समय स्वप्न अवस्था में रजोगुण अधिक होता है उस समय जागृत दशा में देखे हुये पदार्थ ही कुछ रूपान्तर से दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी स्मृति जागने पर रहती है। यह स्वप्न की मध्यम अवस्था राजसिक है। ये दोनों प्रकार के स्वप्न भावित स्मर्तव्य स्मृति वाले होते हैं। जो स्वप्न सच्चे होते हैं अर्थात् जिनका फल सच्चा होता है वे सात्त्विक कहलाते हैं और यह स्वप्न की उत्तम अवस्था है। यह अधिकतर योगियों को होती है और कभी २ साधारण लोगों को भी सत्त्व के उदय होने पर। तम के दबने और सत्त्व के प्रधान रूप से उदय होने के कारण यह स्वप्न की अवस्था अकस्मात् ही एक प्रकार से वितर्कानुगत की भूमि बन जाती है और उस जैसा ही अनुभव होने लगता है। इसलिये इस को भावित स्मर्तव्य स्मृति की कोटि में नहीं रखना चाहिये।

संगति—उपरोक्त सात सूत्रों में पाँचों प्रकार की वृत्तियों का निरूपण करके अब अगले सूत्र में उनके निरोध का उपाय बतलाते हैं:—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अभ्यास-वैराग्याभ्यां = अभ्यास और वैराग्य से। तन्-निरोधः = उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है।

अन्वयार्थ—अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है।

व्याख्या—चित्तवृत्ति निरुद्ध करने के दो उपाय हैं: अभ्यास और वैराग्य। चित्त का स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह वैराग्य-द्वारा निवृत्त होता है। अभ्यास-द्वारा आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है।

भगवान् व्यासदेवजी ने अभ्यास और वैराग्य को बड़े सुन्दर रूपक से वर्णन किया है जो इस प्रकार है:—

चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं: एक संसार-सागर की ओर, दूसरी कल्याण-सागर की ओर बहती है। जिसने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय-मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है और जिसने पूर्व जन्म में कैवल्यार्थ काम किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक-मार्ग में बहती हुई कल्याण-सागर में जा मिलती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली होती है; किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वरचिन्तन खोलते हैं। पहिली धारा को बन्द करने के लिये विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और अभ्यास के बेलचे से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेग से यह सारा प्रवाह कल्याण-रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्त की वृत्तियों के निरोध के साधन हैं।

जिस प्रकार पक्षी का आकाश में उड़ना दोनों ही पक्षों के आधीन है, न केवल एक पक्ष के। इसी प्रकार समस्त वृत्तियों का निरोध न केवल अभ्यास से ही और न केवल वैराग्य से ही हो सकता है, किन्तु उसके लिये अभ्यास और वैराग्य दोनों का ही समुच्चय होना आवश्यक है।

तमोगुण की अधिकता से चित्त में लय-रूप निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि मूढ़ावस्था का दोष उत्पन्न होता है, और रजोगुण की अधिकता से चित्त में चञ्चलतारूप विक्षेप दोष उत्पन्न होता है। अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति होती है, और वैराग्य से रजोगुण की।

सूत्र – २।२८ में बतलाए हुए योग के आठ अङ्गों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार; जो पाँच बहिरङ्ग हैं उनकी सिद्धि में अभ्यास अधिक सहायक होता है और तीन अन्तरङ्गः धारणा, ध्यान और समाधि में वैराग्य।

गीता में श्रीकृष्णजी ने भी अर्जुन को, मन को रोकने के अभ्यास, वैराग्य दोनों ही समुच्चय रूप से साधन बतलाए हैं।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता ६।३५)
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ (गीता ६।३६)

अर्थ—हे महाबाहो ! निस्सन्देह मन चञ्चल और कठिनता से वश में होने वाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में हो जाता है।

मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, यह मैं जानता हूं; किन्तु स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा साधन करने से प्राप्त हो सकता है।

संगति—वृत्तियों को रोकने के उपाय अभ्यास और वैराग्य में से प्रथम अभ्यास का स्वरूप और प्रयोजन अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उन दोनों अभ्यास और वैराग्य में से। स्थितौ = चित्त की स्थिति में। यत्नः = यत्न करना। अभ्यासः = अभ्यास है।

अन्वयार्थ—उनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना अभ्यास है।

व्याख्या—चित्त के वृत्ति रहित होकर शान्त प्रवाह में बहने को स्थिति कहते हैं। उस स्थिति के प्राप्त करने के लिये वीर्य (पूर्ण सामर्थ्य) और उत्साहपूर्वक यत्न करना अभ्यास कहलाता है।

यम, नियम आदि योग के आठ अङ्गों का बार-बार अनुष्ठान-रूप प्रयत्न अभ्यास का स्वरूप है; और चित्तवृत्तियों का निरोध होना अभ्यास का प्रयोजन है।

पठन-पाठन, लेखन, पाक, क्रय-विक्रय, सीवन, नृत्य-गायन आदि सर्व कार्य अभ्यास से ही सिद्ध होते हैं। अभ्यास के बल से रस्सी पर चढ़े हुए नट, तथा सरकस आदि में न केवल मनुष्य किन्तु सिंह, अश्व आदि पशु अपनी प्रकृति के विरुद्ध आश्चर्य-जनक कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अभ्यास के प्रभाव से अति दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये जब मुमुक्षु चित्त की स्थिरता के लिये अभ्यास-निष्ठ होगा तो वह स्थिरता भी उसको अवश्य प्राप्त होकर चित्त वशीभूत हो जायगा; क्योंकि अभ्यास के आगे कोई कार्य दुष्कर नहीं है।

संगति—राजस-तामस वृत्तियों के अनादि प्रबल संस्कार चित्त की एकाग्रता के विरोधी हैं। उनसे प्रतिरुद्ध (घिरा हुआ) अभ्यास एकाग्रता-रूप स्थिति सम्पादन कराने में कैसे समर्थ होगा ? इस शङ्का की निवृत्ति अगले सूत्र में अभ्यास के दृढ़-भूमि होने से बतलाते हैं।

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—सः = वह (पूर्वोक्त अभ्यास)। तु = किन्तु। दीर्घकाल = बहुत काल पर्यन्त। नैरन्तर्य = निरन्तर अर्थात् लगातार व्यवधान-रहित। सत्कार-आसेवितः = सत्कार से

ठीक-ठीक सेवन किया हुआ अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, भक्ति-पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ। दृढभूमिः = दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है।

अन्वयार्थ—किन्तु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घ काल-पर्यन्त निरन्तर व्यवधान-रहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य भक्ति-पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है।

व्याख्या—विषयभोग-वासनाजन्य व्युत्थान के संस्कार मनुष्य के चित्त में अनादि जन्म-जन्मान्तरों से पड़े चले आ रहे हैं उनको थोड़े-से ही समय में बीज-सहित नष्ट कर देना अत्यन्त कठिन है। ये निरोध के संस्कारों को तनिक-सी भी असावधानी होने पर दबा सकते हैं। इस कारण अभ्यास को दृढभूमि बनाने के हेतु धैर्य के साथ दीर्घ काल-पर्यन्त लगातार श्रद्धा और उत्साह-पूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

सूत्र में तीन विशेषण से किया हुआ अभ्यास दृढभूमि अर्थात् दृढ़ अवस्था वाला बतलाया है। (१) पहिला विशेषण दीर्घ काल है। यहाँ दीर्घ-काल में दस-बीस आदि वर्षों का नियम नहीं है, क्योंकि योग के अधिकारी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जिन्होंने पूर्व जन्मों में अभ्यास के संस्कारों को दृढ़ कर लिया है और जिनका वैराग्य भी तीव्र है, उनको शीघ्र वा अति शीघ्र समाधि-लाभ प्राप्त होता है। इतर-जनों को शीघ्र समाधि-लाभ प्राप्त नहीं होता। उन्हें निराश न होना चाहिये किन्तु धैर्य के साथ चिरकाल तक एकाग्रता-निमित्त दृढ़ अवस्था के लिये अभ्यास का सेवन करते रहना चाहिये। (२) दूसरा विशेषण 'नैरन्तर्य' है अर्थात् अभ्यास को लगातार निरन्तर व्यवधान-रहित करते रहना चाहिए। ऐसा न हो कि एक मास अभ्यास किया, फिर दस दिन के लिये छोड़ दिया, फिर तीन मास किया, पुनः एक मास बन्द कर दिया; इस प्रकार व्यवधान के साथ किया हुआ अभ्यास बहुत समय में भी दृढभूमि नहीं होता। इसलिये बिना व्यवधान के अभ्यास को निरन्तर करते रहना चाहिये। (३) तीसरा विशेषण 'सत्कारासेवितः' है अर्थात् वह अभ्यास ठीक-ठीक सत्कार-पूर्वक श्रद्धा, भक्ति, वीर्य, ब्रह्मचर्य और उत्साह-पूर्वक अनुष्ठान किया जाना चाहिए। दीर्घ काल तक निरन्तर सेवन किया हुआ अभ्यास भी बिना इस विशेषण के दृढ़ अवस्था वाला न हो सकेगा। इन तीनों विशेषणों से युक्त अभ्यास न केवल व्युत्थान-रूप राजस-तामस वृत्तियों के संस्कारों से प्रतिबद्ध न हो सकेगा, किन्तु इन संस्कारों को तिरोभूत करके चित्त की स्थिरता-रूप प्रयोजन के सिद्ध करने में समर्थ होगा।

अतः अभ्यासी जनों को थोड़े काल में ही अभ्यास से घबरा न जाना चाहिए, किन्तु दृढभूमि-प्राप्ति के लिए दीर्घ काल निरन्तर सत्कार से अभ्यास करते रहना चाहिये।

विशेष विचार—श्रद्धा तीन प्रकार की बतलाई गई है।

यथाः—त्रिविधा भवति श्रद्धा देहि-प्रकृति-भेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासान्तु लक्षणं विप्राः! शृणुध्वं भक्तिभावनः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञान-मूलिका॥

प्रवृत्तिमू-लिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा ।
विचार-हीन-संस्कार-मूलिका त्वन्तिमा मता ॥

अर्थात् देह धारियों की प्रकृति भेदानुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार की श्रद्धा होती है । विशुद्ध ज्ञान मूलक श्रद्धा सात्त्विक है, प्रवृत्ति और जिज्ञासा मूलक श्रद्धा राजसिक है और विचार हीन संस्कार मूलक श्रद्धा तामसिक है । इनमे से सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ है । सूत्र मे इसी श्रद्धा का 'सत्कार' शब्द से अनुष्ठान करना बतलाया गया है ।

संगति—वैराग्य दो प्रकार का है : अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य । अगले सूत्र में प्रथम अपर-वैराग्य का स्वरूप बतलाते हैं:—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य = दृष्ट और आनुश्रविक विषयों मे जिसको कोई तृष्णा नहीं है उसका । वशीकार-संज्ञा-वैराग्यम् = वशीकार नाम वाला वैराग्य है ।

अन्वयार्थ—दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसको तृष्णा नहीं रही है उसका वैराग्य वशीकार नाम वाला अर्थात् अपर-वैराग्य है ।

व्याख्या—विषय दो प्रकार के हैं : दृष्ट और आनुश्रविक । दृष्ट वे हैं जो इस लोक में दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, धन, सम्पत्ति, अन्न, खानपान; स्त्री, राज, ऐश्वर्य, इत्यादि । आनुश्रविक वे हैं जो वेद और शास्त्रों द्वारा सुनेगए हैं; ये भी दो प्रकार के होते हैं:—

(क) शरीरान्तर-वेद्य, जैसे देवलोक, स्वर्ग, वैदेह्य और प्रकृतिलय का आनन्द (१ । १९) इत्यादि ।

(ख) अवस्थान्तर-वेद्य, जैसे दिव्य-गन्ध-रस आदि (१ । ३५), अथवा तीसरे पाद में वर्णन की हुई सिद्धियाँ आदि ।

इन दोनों प्रकार के दिव्य और अदिव्य विषयों की उपस्थिति में भी जब चित्त प्रसंख्यान ज्ञान के बल से इनके दोषों (२ । १५) को देखता हुआ इनके सङ्ग-दोष से सर्वथा रहित हो जाता है; न इनको ग्रहण करता है, न परे ही हटाता है । अर्थात् जब इनमें उसका ग्रहण कराने वाला राग और परे हटाने वाला द्वेष; दोनों निवृत्त हो जाते हैं । जैसा कि कहा गया है :—

सति विकारहेतौ न विक्रियन्ते येषां चेतांसि त एव धीराः ।

अर्थ—विकार का कारण-उपस्थित होने पर भी जिनके चित्तों मे विकार उत्पन्न नहीं होता वे ही धीर हैं ।

इस प्रकार चित्त एकरस बना रहता है । चित्त की ऐसी अवस्था का नाम वशीकार-संज्ञा वैराग्य है । इसी को अपर-वैराग्य कहते हैं जिसकी अपेक्षा से दूसरे सूत्र में परवैराग्य बतलाया है ।

से परे वशीकार संज्ञा वैराग्य है। अर्थात् यह ज्ञान कि 'ममेते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति' मेरे ये वशीभूत हैं, मैं इनके वशीभूत नहीं हूँ'।

ये पहिली तीन भूमि वाले वैराग्य निरोध के साक्षात् हेतु नहीं हैं। निरोध का साक्षात् हेतु चौथी भूमि वाला वशीकार-संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिये सूत्रकार ने इसी का वर्णन किया है। किन्तु यह भूमि पहिली तीन भूमियों को क्रम से लाँघकर ही प्राप्त होती है। इसका दूसरा नाम अपर-वैराग्य है। इसका फल सम्प्रज्ञात-समाधि है जिसकी सबसे ऊँची भूमि पुरुष और चित्त की भिन्नता प्रतीत कराने वाली विवेक-ख्याति है। किन्तु यह भी त्रिगुणात्मक चित्त की ही एक वृत्ति है, इससे भी विरक्त होजाना परवैराग्य है जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है।

संगति—सम्प्रज्ञात-समाधि के साधन अपर-वैराग्य को बतलाकर अब अगले सूत्र में असम्प्रज्ञात-समाधि का साधन पर-वैराग्य का वर्णन करते हैं—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—तत् = वह वैराग्य। परम = पर (सबसे ऊँचा) है जो। पुरुष-ख्याते = प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेकज्ञान = सत्त्व-पुरुषान्यता ख्याति = विवेकख्याति के उदय होने से। गुण-वैतृष्ण्यम् = गुणों में तृष्णा-रहित हो जाना है।

अन्वयार्थ—विवेकख्याति द्वारा गुणों से तृष्णा-रहित हो जाना पर-वैराग्य है।

व्याख्या—अपर-वैराग्य दिव्य-अदिव्य आदि विषयों में तृष्णा-रहित हो जाना है। पर-वैराग्य जहाँ तक गुणों का अधिकार है उन सबमें तृष्णा-रहित हो जाना है। अपर-वैराग्य द्वारा योगी दृष्ट-आनुश्रविक विषयों में दोष देखकर उनसे विरक्त होता है। जब चित्त से उनकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है तब चित्त एकाग्र हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात-समाधि है। इसकी उच्चतम अवस्था में चित्त और पुरुष के भेद का साक्षात्कार होता है। इसका नाम पुरुषख्याति, सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति तथा विवेकख्याति है। इस ख्याति में ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों चित्त निर्मल होता जाता है और आत्मशुद्धि उत्तमोत्तम प्रतीत होती है। चित्त की अत्यन्त निर्मलता में यह पुरुषख्याति भी चित्त ही की एक सात्त्विक वृत्ति और गुणों का ही परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस विवेकख्याति से भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार गुणों से भी तृष्णा-रहित अर्थात् विरक्त होना पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्य को ही ज्ञानप्रसाद-मात्र कहते हैं, क्योंकि इसमें रजस-तमस गुण का गन्धमात्र भी नहीं रहता।

इस वैराग्य के उदय होने से योगी धर्ममेध समाधि-निष्ठ हुआ अपने मन में भाष्यकार के शब्दानुसार यह मानता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त होगया, जो नाश करने योग्य पाँचों क्लेश थे वे नष्ट हो गये, अब संसार का वह सम्म (चक्र, सिलसिला) टूट गया है, जिसके टूटे बिना मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मर कर उत्पन्न होता है। यह पर-वैराग्य ही ज्ञान का पराकाष्ठा (परम सीमा) है। इसी के निरन्तर अभ्यास से कैवल्य होता है।

विशेष विचार सूत्र १६:—गुणवैतृष्ण्यम् = जो त्रिगुणात्मक बुद्धि अथवा चित्त का कार्य है वह सब योगी के लिये हेय-कोटि में है। विवेक-ख्याति भी सत्त्व-गुणात्मक और बुद्धि का कार्य है, इसलिये वह भी त्याज्य है।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज॥

अधर्म, धर्म और असत्य, सत्य (तामसी और सात्त्विकवृत्ति) दोनों को त्याग दे। दोनों तामसी और सात्त्विक वृत्तियों को त्यागकर जिस वृत्ति से इन दोनों को त्यागा है उसे भी त्याग दे। इसमें भी तृष्णा का अभाव होना पर-वैराग्य है अर्थात् मन को विषयों में प्रवृत्त कराने वाला उन विषयों में राग ही है। जब मन को एक ध्येय-विषय में लगाया जाता है तो वह अन्य विषयों में राग होने के कारण उनकी ओर भागता है और ध्येय-विषय में स्थिर नहीं रहता। इन अन्य सब विषयों से राग निवृत्त होने पर केवल एक ध्येय-विषय में राग का बना रहना अपर-वैराग्य है, जिसका फल एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि है। इस सम्प्रज्ञात-समाधि की पराकाष्ठा विवेकख्याति है, जिसमें पुरुष और चित्त की भिन्नता का विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् चित्त-द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है। किन्तु यह भी सत्त्वगुणात्मक एक वृत्ति ही है और चित्त का ही कार्य है। इसमें भी राग का न रहना पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है। आरम्भ में असम्प्रज्ञात-समाधि में चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि क्षणिक होती है किन्तु धीरे-धीरे इसके संस्कार बढ़ने और व्युत्थान के संस्कार दबने लगते हैं विवेकख्याति (प्रसंख्यान) की स्थायी अवस्था का नाम धर्ममेघ समाधि (४।२९) है। धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा ज्ञान-प्रसाद नामी पर-वैराग्य है जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है और असम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम सीमा कैवल्य (४।३४) है।

संगति—इस प्रकार निरोध के उपायभूत अभ्यास-वैराग्य का लक्षण प्रतिपादन करके अब इन दोनों उपायों से सिद्ध होने वाली सम्प्रज्ञात-समाधि का उसके चार अवान्तर भेद सहित स्वरूप निरूपण करते हैं:—

वितर्कविचाराऽनन्दाऽस्मितारूपाऽनुगमात् सम्प्रज्ञातः॥ १७॥

शब्दार्थ – वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितारूप-अनुगमात् = वितर्क, विचार आनन्द, और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से (जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है) वह। सम्प्रज्ञातः = सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

अन्वयार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्क के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगतः विचार के सम्बन्ध से विचारानुगत; आनन्द के सम्बन्ध से आनन्दानुगत; और अस्मिता के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

व्याख्या—सूत्र के अन्त में समाधि शब्द शेष रहा है, उसे लगाना चाहिये।

जिससे ध्येय (जिसका ध्यान किया जावे) वस्तु का स्वरूप अच्छे प्रकार अर्थात् संशय और विपर्यय (अविद्या) से रहित यथार्थ रूप से जाना जाता है उस भावना-विशेष का नाम सम्प्रज्ञात है। वह चार प्रकार का है: वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

इस भावनाविशेष को ही सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं। अन्य विषयों को छोड़कर केवल एक ध्येय वस्तु को बार-बार चित्त में रखने का नाम भावना है। इस भावना का विषयभूत जो भाव्य है (जिसकी भावना की जावे, ध्येय) है, वह ग्राह्य, ग्रहण और गृहीतृ भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों में ग्राह्य स्थूल-सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं: पाँच स्थूलभूत और स्थूल इन्द्रियें स्थूल विषय हैं; पाँच सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राएँ और सूक्ष्म इन्द्रियें (केवल शक्तिरूप) सूक्ष्म विषय हैं।

जिस प्रकार निशाना लगाने वाला पहिले स्थूल लक्ष्य को वेधन करता है, फिर सूक्ष्म को, इसी प्रकार योगी भी पहिले स्थूल वस्तु का साक्षात् करके फिर सूक्ष्म ध्येय की भावना में प्रवृत्त होता है। अर्थात् सूक्ष्म वस्तु को साक्षात् करता है।

(१) पाँचों स्थूलभूत विषयक तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य भावना का नाम वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात है।

(२) सूक्ष्मभूत-विषयक तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावना का नाम विचारानुगत सम्प्रज्ञात है।

(३) तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों के कारण सत्त्व-प्रधान अहङ्कार-विषयक केवल ग्रहण-भावना का नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात है।

(४) अस्मिता अर्थात् चेतन से प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व बीज-रूप अहङ्कार सहित-विषयक गृहीतृ-भावना का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात है।

वितर्कानुगत ग्राह्य समाधि—जिस भावना द्वारा ग्राह्य रूप किसी स्थूल विषय विराट्, महाभूत, सूर्य, चन्द्र, शरीर स्थूल इन्द्रिय किसी स्थूल वस्तु पर चित्त को ठहराकर संशय विपर्यय रहित उसके यथार्थ स्वरूप को सारे विषयों सहित जो पहिले कभी न देखे, न सुने और न अनुमान किये थे, साक्षात् किया जावे वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

इसके दो भेद। सवितर्क—शब्द, अर्थ और ज्ञान की भावना सहित, और निर्वितर्क—शब्द, अर्थ और ज्ञान की भावना से रहित केवल अर्थ-मात्र, इसी पाद के बयालीस और तैंतालीस सूत्र में बतलाये हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जावेगी। ९३-५५६

विचारानुगत ग्राह्य समाधि—वितर्क अनुगत द्वारा जब चित्त वस्तु के स्थूल आकार को साक्षात् कर लेता है तब उसकी दृष्टि आगे बढ़ती है। तब जिस भावना द्वारा ग्राह्य-रूप स्थूलभूतों के कारण पाँचों सूक्ष्मभूतों का पाँचों तन्मात्राओं तक तथा शक्तिमात्र इन्द्रियों का यथार्थ रूप संशय-विपर्यय-रहित सारे विषयों सहित साक्षात् किया जावे वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलावेगी।

६

इसके भी दो भेद : सविचार—देश-काल और धर्म की भावना सहित, और निर्विचार—देश-काल और धर्म की भावना से रहित केवल अर्थमात्र धर्मी, इस पाद के चौवालीसवें सूत्र में बतलाए हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जावेगी।

यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि वितर्क सम्प्रज्ञात द्वारा जहाँ स्थूल विषयों को साक्षात् किया जाता है। यदि योगी उस स्थूल विषय पर न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो एकाग्रता की दृढ़ता में उसका सूक्ष्म स्वरूप स्वयं साक्षात् होने लगता है, क्योंकि एकाग्रता की दृढ़ता में चित्त के सत्त्वगुण का प्रकाश बढ़कर सूक्ष्म विषयों को साक्षात् कराने में समर्थ हो जाता है और यह भावना वितर्क से विचार हो जाती है।

आनन्दानुगत (केवल) ग्रहणरूप समाधि—विचारानुगत के निरन्तर अभ्यास से जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जावे कि शक्तिमात्र इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के कारण अहङ्कार को उसमें धारण करके साक्षात् किया जावे तो उसको आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहेंगे।

विचारानुगत-समाधि में जिस सूक्ष्म विषय का साक्षात् किया जाता है, यदि योगी वहीं न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो चित्त की एकाग्रता द्वारा सत्त्वगुण की अधिकता में अहङ्कार का स्वयं साक्षात् होने लगता है।

'आनन्द' नाम रखने का कारण यह है कि सत्त्वगुण-प्रधान अहङ्कार आनन्द-रूप है तथा सूक्ष्मता के तारतम्य को साक्षात् करते हुए योगी का चित्त सत्त्वगुण के बढ़ने से आनन्द से भर जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा ग्राह्य विषय, उसका विषय नहीं रहता, किन्तु आनन्द ही आनन्द उसका विषय बन जाता है और 'मैं सुखी हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। जो योगी इसी को अन्तिम ध्येय समझकर इसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं और आगे नहीं बढ़ते हैं उनका देह से तो अभ्यास छूट जाता है परन्तु स्वरूपावस्थिति नहीं होती। शरीर त्यागने के पश्चात् वे लम्बे समय तक कैवल्य पद जैसे आनन्द को भोगते रहते हैं। ये विदेह कहलाते हैं, जिनका इसी पाद के उन्नीसवें सूत्र में वर्णन किया जावेगा।

अस्मितानुगत गृहीतृ-रूप समाधि—चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें बीजरूप से अहङ्कार रहता है अर्थात् चित्त, बीजरूप अहङ्कार और अहङ्कारोपाधित पुरुष, जहाँ से पुरुष और चित्त में अभिन्नता आरोप होती है, उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता अहङ्कार का कारण है, इसलिये उससे सूक्ष्मतर है। जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जावे कि अस्मिता में धारणा करने से उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगे तो उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

यदि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात वाला योगी वहाँ न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो इस अवस्था में पहुँच जाता है। इसमें आनन्दानुगत वाली वृत्ति 'अहमस्मि' 'मैं सुखी हूँ, मैं सुखी हूँ' अधिक निर्मल होकर केवल 'अस्मि-अस्मि' यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्ति वाली अवस्था बड़ी मनोरञ्जक होती है। बहुधा योगी इसी को आत्मस्थिति समझकर इसी

में सन्तुष्ट हो जाते हैं और आगे बढ़ने का यत्न नहीं करते उनका आत्म-अभ्यास अहङ्कार से तो छूट जाता है किन्तु अस्मिता में बना रहता है। शरीरान्त होने पर विदेहों से अधिक लम्बे समय तक ये योगी कैवल्य पद जैसा आनन्द भोगन रहते हैं। उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं, जिनका वर्णन उन्नीसवें सूत्र में किया जायगा। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियों में पाँचों सूक्ष्म विषयों जैसा साक्षात्कार नहीं होता है। ये केवल अनुभव गम्य हैं (अतः इनका वर्णन शब्द मात्र समझना चाहिये।

इन चारों समाधियों में वितर्क समाधि चतुष्टयानुगत अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता इन चारों से युक्त है, क्योंकि कार्य में कारण अनुगत रहता है। इस कारण स्थूलभूतों के तन्मात्राओं का कार्य होने से स्थूलभूतों में तन्मात्राएँ अनुगत हैं, और तन्मात्राओं के अहङ्कार का कार्य होने से तन्मात्रा द्वारा अहङ्कार अनुगत है। अहङ्कार अस्मिता का कार्य होने से अहङ्कार द्वारा अस्मिता अनुगत है। इस प्रकार स्थूलभूतों की भावना करने से फलतः सबकी भावना प्राप्त होती है। इसलिये स्थूलभूत-विषयक भावना चतुष्टय-अनुगत है।

इसी प्रकार विचार-सम्प्रज्ञात त्रितयानुगत है। इस भावना में स्थूलभूतों का भान न होने से यह वितर्क से रहित है। कार्य में कारण अनुगत रहता है नकि कारण में कार्य। इसलिये तन्मात्राओं की भावना में स्थूलभूतों का भान नहीं होता। इसी प्रकार आनन्द-सम्प्रज्ञात द्वयानुगत है, क्योंकि इस भावना में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के भूतों का भान न होने से यह वितर्क तथा विचार दोनों से रहित है।

अस्मिताऽनुगत सम्प्रज्ञात एकानुगत है, क्योंकि इसमें अस्मिता-मात्र के अतिरिक्त किसी अन्य का भान नहीं होता।

ये चारों प्रकार की समाधियाँ सालम्बन और सबीज भी कहलाती हैं। सालम्बन इसलिये कि ये किसी ध्येय का आलम्बन (सहारा) बनाकर की जाती हैं; और यह आलम्बन ही बीज है, इसलिये इनका नाम सबीज-समाधि भी है।

जब योगी किसी स्थूल ध्येय को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त ठहराता है तो पहिले स्थूल वस्तु को देखता है। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके सूक्ष्म अवयव भासते जाते हैं, यहाँ तक कि स्थूलभूतों के कारण सूक्ष्मभूतों का भी साक्षात् होने लगता है। एकाग्रता के और अधिक बढ़ने पर यह सूक्ष्मभूत-विषयक ग्राह्य वृत्ति भी बन्द हो जाती है और तन्मात्राओं के कारण ग्रहण-रूप सत्त्व-प्रधान अहङ्कार का उसकी आनन्द-रूप प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियों से साक्षात् होता है। एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्त्वगुण की वृद्धि के साथ-साथ यह आनन्द रूपवाली अहंकार की वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है, यहाँ तक कि अहंकार के कारण अस्मिता का अहंकार से रहित उसकी वृत्ति 'अस्मि-अस्मि' से साक्षात् होने लगता है अर्थात् 'मैं हूँ' केवल यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्ति की सूक्ष्मता में पुरुष और चित्त में भिन्नता उत्पन्न करने वाली विवेकख्याति-रूपी वृत्ति का उदय होता है। इस विवेकख्याति में भी आत्मस्थिति का अभाव प्रतीत कराने वाली पर-वैराग्य

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद

नाम	रूप	विषय	सम्बन्ध	अनुगत	रहित	वृत्ति
१ वितर्कानुगत	ग्राह्य	५ स्थूल-भूत तथा स्थूल विषय शरीर, सूर्य, चन्द्र आदि और स्थूल इन्द्रियाँ	वितर्क	चतुष्टयानुगत—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से अनुगत		स्थूल विषयाकार वृत्ति
२ विचारानुगत	ग्राह्य	५ सूक्ष्मभूत, तन्मात्राओं तक सूक्ष्म इन्द्रियाँ (शक्तिरूप)	विचार	त्रितयानुगत—विचार आनन्द और अस्मिता से अनुगत	वितर्क-रहित	सूक्ष्म विषयाकार वृत्ति
३ आनन्दानुगत	ग्रहण	अहंकार	आनन्द	द्वयानुगत—आनन्द और अस्मिता से अनुगत	वितर्क तथा विचार से रहित	आनन्द विषयाकार 'अहं' वृत्ति
४ अस्मितानुगत	गृहीता	अस्मिता	अस्मिता	एकानुगत—अस्मिता से अनुगत	वितर्क, विचार और आनन्द से रहित	अस्मिता विषयाकार 'अस्मि' वृत्ति

की वृत्ति 'नेति-नेति' 'यह स्वरूपावस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नहीं है' के अभ्यास-पूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि होती है जिसका लक्षण अगले सूत्र में बतलाया जायेगा।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १७—कोशों द्वारा अभ्यास की प्रणाली—

एक अभ्यास की प्रणाली कोशों द्वारा अन्तर्मुख होते हुए स्वरूप-स्थिति प्राप्ति की है, जिसका वर्णन उपनिषदों में इस प्रकार है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठ ३।१३)

अर्थ—बुद्धिमान वाणी को (ज्ञानेन्द्रिय को) मन में लय करे, उसको (मन को) ज्ञानात्मा (बुद्धि) में लय करे, बुद्धि को महानात्मा (महत्तत्त्व) में लय करे, और उस महत्तत्त्व को शान्तात्मा में लय करे। (यदि 'ज्ञान आत्मनि' के अर्थ 'अहंकार में' और 'महति' के अर्थ 'बुद्धि में' लिये जावें तो यह सूत्र की चारों भावनायें हो जाती हैं)

यह इस प्रकार है—

(१) किसी भी सुखासन-पूर्वक स्थिर बैठकर अन्नमय कोश में आत्माध्यास छोड़कर प्राणमय कोश में घुसना।

(२) प्राणों की गति को रोककर अथवा धीमा करके इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके प्राणमय कोश से आत्माध्यास हटाकर मनोमय कोश में प्रवेश करना।

(३) मनोमय कोश से आत्माध्यास हटाकर विज्ञानमय कोश में जाना।

(४) विज्ञानमय कोश में आत्माध्यास को उठाकर आनन्दमय कोश में स्थित होना।

यह चारों सम्प्रज्ञात-समाधि के ही भेद हैं। क्योंकि जब आनन्दमय कोश को भी विजय कर लिया जाय तब स्वरूपावस्थिति होती है।

अन्नमय कोश से आत्माध्यास हटाना अथवा उसका विजय आसन और प्राणायाम की सिद्धि से (२।४६-४९), प्राणमय कोश का प्रत्याहार और धारणा की सिद्धि से (२।५४, ३।१), मनोमय कोश का वितर्क-भावना द्वारा, विज्ञानमय कोश का विचार और उसकी ऊँची अवस्था आनन्दानुगत समापत्ति में, और आनन्दमय कोश का विजय निर्विचार की सबसे ऊँची अवस्था अस्मितानुगत और ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेकख्याति में होता है। तत्पश्चात् स्वरूपावस्थिति का लाभ होता है।

सूत्र में चारों भावनाओं द्वारा किसी विषय को आलम्बन करके (ध्येय बनाकर) निरालम्ब (निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात) समाधि तक पहुँचने की प्रक्रिया बतलाई है। यहाँ कोशों द्वारा आरम्भ से आलम्बन का अभाव करते-करते अन्त में अभाव करने वाली वृत्ति का भी अभाव करके निरालम्ब-समाधि की सिद्धि करना बतलाया गया है। यही इन दोनों में भेद है। प्रथम प्रक्रिया योग की है और दूसरी सांख्य की।

कोश—कोश खोल अथवा म्यान को कहते हैं। वे पाँच हैं : आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय।

इन पाँचों कोशों को पाँच रङ्गवाली चिमनियाँ समझनी चाहियें और शुद्ध चेतन तत्त्व (आत्मतत्त्व) को एक प्रकाश की ज्योति; जिसका प्रकाश इन भिन्न-भिन्न रङ्गवाली चिमनियों में से होकर बाहर आता हुआ उनके रङ्गों-जैसा प्रतीत होता है।

आनन्दमय कोश—शुद्ध आत्मतत्त्व पर चित्त (महत्तत्त्व) और कारण-प्रकृति की पहिली चिमनी है। इसको आनन्दमय कोश कहते हैं। आनन्द का विकार-रूपी यह कोश आत्मस्वरूप को आच्छादित करके (ढँककर) प्रिय, मोद, प्रमोद-रहित आत्मा को प्रिय, मोद, प्रमोद-वान तथा अपरिच्छिन्न सुख-रहित आत्मा को परिच्छिन्न सुख विशिष्ट रूप में प्रकट करता है। यह आनन्दमय कोश-रूप अज्ञान का आवरण ही जीव का कारण-शरीर कहलाता है। इस कारण-शरीर सहित आत्मा को प्राज्ञ कहते हैं।

विज्ञानमय कोश—इस आनन्दमय कोश-रूपी चिमनी के ऊपर दूसरी चिमनी अहंकार और बुद्धि की है, इसको विज्ञानमय कोश कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश आत्म-स्वरूप को आच्छादित करके अकर्त्ता आत्मा को कर्त्ता, अविज्ञाता आत्मा को विज्ञाता, निश्चय-रहित आत्मा को निश्चय-युक्त, और जाति-अभिमान-रहित आत्मा को जाति-अभिमान युक्त-जैसा प्रकट करता है। इस विज्ञानमय कोश में अभिमान वर्तमान है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व आदि अभिमान ही इस विज्ञानमय कोश का गुण है।

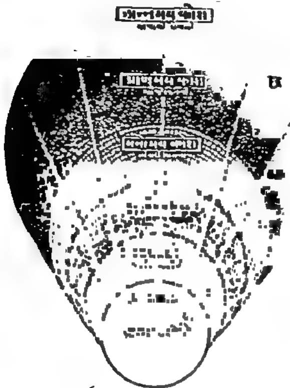
मनोमय कोश—इस विज्ञानमय कोश-रूपी चिमनी पर तीसरी मन और ज्ञान-इन्द्रियों की रङ्गवाली चिमनी चढ़ी हुई है जिसको मनोमय कोश कहते हैं। मन और ज्ञानेन्द्रियों का विकार-रूपी यह कोश आत्म-स्वरूप को आच्छादित करके संशय-रहित आत्मा को संशय-युक्त, शोक-मोह रहित आत्मा को शोक-मोहादि युक्त, और दर्शन-रहित आत्मा को दर्शन आदि का कर्त्ता-रूप प्रकट करता है। इस मनोमय कोश में इच्छाशक्ति वर्तमान है।

प्राणमय कोश—मनोमय कोश-रूपी चिमनी पर चौथी चिमनी पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणों की चढ़ी हुई है जिसको प्राणमय कोश कहते हैं। प्राण और कर्मेन्द्रियों का विकार-रूपी यह प्राणमय कोश आत्मा को आच्छादित करके वक्तृत्व-रहित आत्मा को वक्ता, दातृत्व-रहित आत्मा को दाता, गति रहित आत्मा को गतिशील, क्षुधापिपासा-रहित आत्मा को क्षुधा-पिपासा युक्त आदि नाना प्रकार के विकारों से युक्त-जैसा प्रकट करता है। इस प्राणमय कोश में क्रियाशक्ति वर्तमान होने से यह कार्यरूप होता है।

ये तीनों विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोश मिलकर सूक्ष्म-शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म-शरीर सहित आत्मा का नाम तैजस है।

अन्नमय कोश—चौथी प्राणमय कोश-रूपी चिमनी पर पाँचवीं-स्थूल शरीर की चिमनी है जो अन्नमय कोश कहलाता है। यह अन्न से बने हुए रज-वीर्य से उत्पन्न होता है और अन्न से ही बढ़ता है। इसलिये इसको अन्नमय कहते हैं। इस अन्नमय कोश के कारण

कोशसम्बन्धी चित्र.



(१) शुद्ध आत्म तत्त्व = ज्ञान प्रकाश आत्म ज्योति।

(२) आनन्दमय कोश—चित्त, (महत्तत्त्व), = प्रथम चिमनी = कारण शरीर; कारण शरीर के सम्बन्ध से शबल स्वरूप आत्मा की संज्ञा—प्राज्ञ।

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि-अहंकार = दूसरी चिमनी

(४) मनोमय कोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियां (शक्तिरूप) = तीसरी चिमनी।

(५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियाँ (शक्तिरूप) पाँच प्राण = चौथी चिमनी

} सूक्ष्म-शरीर, सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से शबल स्वरूप आत्मा की संज्ञा- तैजस।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतों से बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ = पाँचवीं चिमनी = स्थूल शरीर, स्थूल शरीर के सम्बन्ध से शबल-स्वरूप आत्मा की

अपरिच्छिन्न, अविभक्त आत्मा परिच्छिन्न तथा विभक्त; और ताप-रहित आत्मा तापयुक्त; अजर, अमर, अजन्मा आत्मा जरा, मृत्यु और जन्म से युक्त प्रतीत होता है। इस अन्नमय कोश को ही *स्थूल शरीर* कहते हैं; और स्थूल-शरीर सहित आत्मा को *विश्व*।

कोश-सम्बन्धी चित्र

(१) शुद्ध आत्मतत्त्व = ज्ञान प्रकाश आत्म ज्योति।

(२) आनन्दमय कोश = चित्त, (महत्तत्त्व), = प्रथम चिमनी = कारण-शरीर; कारण-शरीर के सम्बन्ध से शवल-स्वरूप आत्मा की संज्ञा—प्राज्ञ।

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि-अहंकार = दूसरी चिमनी

(४) मनोमय कोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय (शक्तिरूप) = तीसरी चिमनी।

(५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियें (शक्तिरूप), पाँच प्राण = चौथी चिमनी।

} सूक्ष्म-शरीर, सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से शवल-स्वरूप आत्मा की संज्ञा—तैजस।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतों से बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियें = पाँचवी चिमनी = स्थूल-शरीर, स्थूल शरीर के सम्बन्ध से शवल स्वरूप आत्मा की संज्ञा—विश्व।

संगति—अपर-वैराग्य-जन्य सम्प्रज्ञात-समाधि का निरूपण करके अब पर-वैराग्य जन्य असम्प्रज्ञात-समाधि का लक्षण कहते हैं:—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः॥ १८॥

शब्दार्थ—विराम = (सब) वृत्तियों के निरोध का। प्रत्यय = कारण (जो परवैराग्य है उसके)। अभ्यास-पूर्वः = पुनः पुनः अनुष्ठान रूप अभ्यास से। संस्कार-शेषः = जो (उसके) संस्कार शेष रह जाते हैं वह। अन्यः = दूसरी अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि है।

अन्वयार्थ—सर्व वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर-वैराग्य है उसके पुनः पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं वह असम्प्रज्ञात-समाधि है।

व्याख्या—सूत्र में 'विराम-प्रत्यय', 'संस्कारशेषः' और 'अन्य' यह तीन पद हैं, इनमें से पहिले विशेषण 'विराम-प्रत्यय' से असम्प्रज्ञात-समाधि का उपाय, दूसरे विशेषण 'संस्कारशेषः' से उसका लक्षण और तीसरे 'अन्यः' से लक्ष्य (असम्प्रज्ञात-समाधि) का निर्देश किया है।

इससे पूर्व सूत्र में बतला आए हैं कि सम्प्रज्ञात-समाधि की पराकाष्ठा विवेकख्याति है, जिसमें चित्त द्वारा पुरुष का साक्षात्कार होता है, अथवा चित्त और पुरुष में भिन्नता का विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु यह भी एक चित्त ही की वृत्ति है और गुणों का ही परिणाम है। इस वृत्ति से भी तृष्णा-रहित हो जाना पर-वैराग्य है (सूत्र १६) पर-वैराग्य से विवेकख्याति-रूपी अन्तिम वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसलिये उसको सूत्र में 'विराम-प्रत्यय' 'सब वृत्तियों के निरोध का कारण' बतलाया गया है।

इस 'विराम-प्रत्यय' अर्थात् पर-वैराग्य का अभ्यास यह है कि इस वृत्ति को भी

'नेति-नेति' 'यह आत्म-स्थिति नहीं है, यह स्वरूपावस्थिति नहीं है' इस प्रकार हटाता रहे। इस प्रकार पुनः पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्यास से जब इस एकाग्र-वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब असम्प्रज्ञात-समाधि होती है *अर्थात् उसमें कोई ज्ञेय सांसारिक वस्तु जानने योग्य नहीं* रहती। इसको निर्बीज-समाधि भी कहते हैं क्योंकि इसमें अविद्या आदि क्लेशरूप संसार का बीज नहीं रहता। असम्प्रज्ञात-समाधि में कोई वृत्ति नहीं रहती; केवल विराम प्रत्यय-रूप पर-वैराग्य के निरोध के संस्कार शेष रहते हैं। किन्तु यह कोई वृत्ति नहीं है। यह निरोध का परिणाम (३।९-१०) है। इस अवस्था में पुरुष की (शुद्ध चेतन) स्वरूप में अवस्थिति होती है। निरोध के संस्कारों से अतिरिक्त एकाग्रता, समाधि-प्रारम्भ और व्युत्थान के संस्कारों में वृत्तियाँ बनी रहती हैं; इसलिये निरोध के संस्कारों के दुर्बल होते ही व्युत्थान के संस्कार प्रबल होने लगते हैं और असम्प्रज्ञात-समाधि भङ्ग होने लगती है।

चित्त का परिणाम (अवस्था-विशेष) चार प्रकार का होता है; व्युत्थान, समाधि-प्रारम्भ, एकाग्रता और निरोध।

(१) मूढ़ तथा क्षिप्त चित्त की भूमियों में जब तम तथा रज प्रधान-रूप से होते हैं तब व्युत्थान के संस्कारों का परिणाम होता है।

(२) विक्षिप्त-भूमि में सत्त्व की प्रबलता से समाधि-प्रारम्भ के संस्कारों का परिणाम होता है।

(३) उसके पश्चात् सत्त्वगुण की वृद्धि से एकाग्रता-भूमि में एकाग्रता के संस्कारों का परिणाम होता है।

(४) निरोध-भूमि में निरोध के संस्कारों का परिणाम होता है।

व्युत्थान से उत्पन्न हुए संस्कार समाधि-प्रारम्भ से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं। समाधि-प्रारम्भ से उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से, और एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाले संस्कार निरोध से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से नष्ट होते हैं। ये निरोध के संस्कार ही संस्कार-शेष हैं। असम्प्रज्ञात-समाधि में निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं। जैसे अग्नि से सुवर्ण को तपाते हुए उसमें डाला हुआ सीसा सुवर्ण के मैल को जलाने के पश्चात् अपने को भी जला देता है, वैसे ही जब निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं तब इस संस्कार-शेष की निवृत्ति का नाम ही कैवल्य है। असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्य में इतना ही अन्तर है।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि सूत्रकार ने असम्प्रज्ञात-समाधि का साधन विराम-प्रत्यय अर्थात् परवैराग्य का अभ्यास विशेषता के साथ बतलाया है क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि सालम्ब्य होती है अर्थात् किसी ग्राह्य-रूप वा ग्रहण-रूप वा गृहीत-रूप ध्येय का आलम्बन बनाकर की जाती है और यह अलम्बन ही बीजरूप से उसमें रहता है, जिससे उसको सबीज भी कहते हैं। इसलिये उसका साधन अपर-वैराग्य भी उसकी अपेक्षा से सालम्ब्य और सबीज होता है। अर्थात् अपर-वैराग्य उस बीजरूप ध्येय विषय को

आलम्बन करके होता है। किन्तु असम्प्रज्ञात-समाधि निरालम्ब्य और निर्बीज है, क्योंकि यह किसी ध्येय को बीजरूप आलम्बन बनाकर नहीं की जाती है; और कार्य के समान रूपवाला ही कारण होना चाहिये, इसलिये निरालम्ब्य निर्बीज पर-वैराग्य असम्प्रज्ञात-समाधि का साधन है। अतः सर्व वृत्ति-निरोध-रूप असम्प्रज्ञात-समाधि के निमित्त सर्व वृत्तियों के निरोध के कारण पर-वैराग्य का ही पुनः पुन अनुष्ठान-रूप अभ्यास करना चाहिये।※

विशेष वक्तव्य—सूत्र १८:—सूत्र १७ की व्याख्या में हमने सम्प्रज्ञात समाधि की चारों भूमियों का सामान्यरूप से वर्णन कर दिया है। यहां इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों का जिज्ञासुओं के हितार्थ बतला देना उचित प्रतीत होता है। ध्यान की परिपक्व अवस्था में जब कुण्डलिनी जागृत होती है अर्थात् सारे स्थूलप्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते हैं और स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् से परे होकर अन्तर्मुखता होती है तब उस प्रकाशमय अवस्था में इन भूमियों का वास्तविक अनुभव हो सकता है।

वितर्कानुगत समाधिः—वितर्कानुगतभूमि की प्रकाशमयी अवस्था में जिस स्थूल विषय की ओर वृत्ति जाती है उसी का यथार्थरूप साक्षात्कार हो जाता है। सात्त्विकत्व और सूक्ष्मता के तारतम्य से इस भूमि के अन्तर्गत बहुत सी श्रेणियां हो सकती हैं। इसमें दो प्रकार का अनुभव होता है। एक तो पिछले तामस तथा सात्त्विक संस्कारों का वृत्तिरूप से उदय होना, दूसरा वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान। जब पिछले तामस संस्कार उदय होते हैं तो चित्त किसी कल्पित भयङ्कर डरावनी आकार वाली वृत्ति में अथवा अन्य तामसी राजसी वस्तुओं के आकार में परिणत हो जाता है। यह तमस् के कारण प्रकाशमय नहीं होती, अथवा इसमें धुन्धला सा प्रकाश होता है। जब सात्त्विक संस्कार उदय होते हैं तब चित्त किसी धार्मिक कल्पित आकार वाली मूर्त्ति अथवा किसी धर्मात्मा के रूप वाली वृत्ति तथा अन्य सात्त्विक वस्तुओं के आकार में परिणत होने लगता है। वास्तविक अनुभव में व्यवहित (व्यवधान वाली) विप्रकृष्ट (दूर वाली) वस्तुओं, स्थानों, मनुष्यों तथा महात्माओं का साक्षात्कार होता है। इस वितर्क भूमि में जो कभी २ स्थूल शरीर सहित उड़ने की प्रतीति होती है वह प्राणों के उत्थान की अवस्था है। और जो कभी २ ऐसे भय की प्रतीति होती है कि मानो कोई हाथ पैर आदि अङ्गों को बान्ध रहा है अथवा पकड़ रहा है वह उन स्थानों में से प्राणों के अन्तर्मुख होने की अवस्था है। इन सारे अनुभवों को द्रष्टा बन कर देखता रहे। इस भूमि में आसक्ति का होना बन्धन का कारण है। कपिल मुनि ने तत्त्वसमास के उन्नीसवें सूत्र में इस को वैकारिक बन्ध बतलाया है, जो पांचों स्थूल भूत (और उनसे बनी हुई वस्तुएं) और ग्यारह इन्द्रियों अर्थात् इन सोलह विकृतियों में आसक्ति के कारण होता है।

※टिप्पणी—सूत्र के अर्थ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के आधार पर किये गए हैं। 'प्रत्ययं' पद को 'प्रतीति' अर्थ में लेकर सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है:—

विराम-प्रत्यय-अभ्यास-पूर्वः = विराम प्रतीति का अभ्यास है पूर्व जिसके। संस्कार-शेषः = संस्कार जिसमें शेष हैं। अन्यः = दूसरा अर्थात् असम्प्रज्ञात है।

यदि इसी भूमि में आसक्ति बनी रहे और आगे बढ़ने का यत्न न किया जावे तो इस भूमि की परिपक्व अवस्था को प्राप्त किए हुए योगी इन सात्विक संस्कारों को लिये हुए मनुष्य से ऊंची योनि अथवा मनुष्य लोक में ऊंची श्रेणी में जन्म लेते हैं। कई बालक और बालिकायें ऐसे देखने में आये हैं जो पिछले जन्म के संस्कारों से प्राप्त की हुई योग बुद्धि लेकर आये हैं। जो अनुभव साधारण मनुष्यों को लम्बे समय में भी होना कठिन था वह उनको बहुत थोड़े काल में प्राप्त हो गया।

विचार अनुगत समाधिः—स्थूल भूतों से परे तन्मात्राओं तक सूक्ष्म भूतों की सूक्ष्मता का तारतम्य चला गया है। इसी के अन्तर्गत सारे सूक्ष्मलोक हैं, जो वास्तव में सूक्ष्म अवस्थाओं के ही नाम हैं। सत्त्व की स्वच्छता के कारण ये अवस्थाएं सङ्कल्पमयी और आनन्दमयी होती हैं, किन्तु सात्त्विकता और सूक्ष्मता के अनुसार ही इस संकल्प और आनन्द में भी भेद होता है। इसमें दो प्रकार का अनुभव होता है। एक वह जो भौतिक विज्ञान से सर्वथा विलक्षण होता है। इसको अपरोक्ष ज्ञान कहना चाहिये। दूसरा वह जिसमें चित्त भूमि में समय-समय पर सञ्चित हुए धार्मिक तथा सात्त्विक संस्कार वृत्तिरूप में उदय हो जाते हैं। इनको सात्त्विक दृश्य कहते हैं। ये साधकों के अपने २ काल्पनिकरूप में प्रकाशमय आकृति में प्रकाश आभास जैसे प्रकट होते हैं। वास्तव में तो चित्त ही इन सात्त्विक संस्कारों से प्रेरित हुआ इन प्रकाशमय आकार वाली वृत्तियों में परिणत होता है। यथाः—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"।

यो॰ प्रा॰ पा॰ सू॰ ४१ ।

अर्थः—राजस् तामस् वृत्तिरहित स्वच्छ चित्त की उत्तम जातीय (अतिनिर्मल) मणि के समान गृहीता ग्रहण और ग्राह्य विषयों में स्थिर होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाना) समापत्ति है। किन्तु साधक को इस बात का तनिक भी ज्ञान नहीं होता है। वह उनको यथार्थ ही समझता है और उनके साथ भौतिक दशा से कहीं अधिक स्पष्टरूप से व्यवहार (बातें इत्यादि) कर सकता है। सत्व की स्वच्छता के कारण चित्त का इस समय का सारा व्यवहार सत्य और निर्मल होता है। इन अनुभवों को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये किसी पर तनिक भी प्रकट न होने देना चाहिये। इन दृश्यों को द्रष्टारूप से देखता रहे आसक्ति न होनी चाहिये। कोई २ साधक इसकी आरम्भिक अवस्था को पाकर इतने विस्मित हो जाते हैं कि अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं और अपने इष्ट मित्रों पर प्रकट करने लगते हैं कि हमको अमुक देवता अथवा देवी के दर्शन होगए हैं। इससे सर्व साधारण में तो वे सिद्ध प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु अन्दर से उनकी उन्नति रुक जाती है और आगे का मार्ग बन्द हो जाता है। इस प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा और अभिमान के खोए जाने के भय से किसी अनुभवी पथ-प्रदर्शक से आगे का मार्ग पूछने में भी संकोच होने लगता है। इस दूसरी भूमिवालों के लिये ही विशेष कर योगदर्शन में इस प्रकार चेतावनी दी गई हैः—

"स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्" । (विभू० पा० सू० ५१)

अर्थः—स्थान वालों के आदर भाव करने पर आसक्ति (लगाव) और अभिमान (घमण्ड = अहंकार) नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से फिर अनिष्ट के प्रसङ्ग का भय है।

ऊंची कोटि के साकार उपासक भक्तों का निर्मल स्वच्छ चित्त ? उनके अभिमत एक निश्चित प्रकाशमय आकार वाली वृत्ति के रूप में स्वेच्छानुसार परिणित होने का अभ्यस्त हो जाता है। यह एकाग्रता की परिपक्व अवस्था परिपक्व वैराग्य और दृढ़ निष्ठा से होती है। जो योगी इसी विचारानुगत समाधि के आनन्द में आसक्त हो जाते हैं और आगे बढ़ने का यत्न नहीं करते वे शरीरान्त होने पर अपनी भूमि की परिपक्व अवस्था अनुसार ही किसी दिव्यलोक के आनन्द को एक लम्बे समय तक भोगते रहते हैं। यह लोक एक प्रकार से सूक्ष्मता की सात्त्विक अवस्था ही है। इनकी मिश्रित संज्ञा स्वर्गलोक, चन्द्रलोक तथा सोमलोक है और उनका मार्ग पितृयाण अथवा दक्षिणायन के नाम से उपनिषदों में बतलाया गया है किन्तु इसको हमारी पृथिवी से बाहिर दिखलाई देने वाले इस भौतिक चन्द्रमा को न समझना चाहिये। यह इस स्थूल जगत् के अन्दर सूक्ष्म जगत् है। वहाँ के आनन्द की अपेक्षा से इसको स्वर्ग, सोम अथवा चन्द्र नाम दिया गया है और वहा का मार्ग भी बहिर्मुख गतिवाला नहीं है, किन्तु अन्दर को जाने वाला है, क्योंकि ध्यान की अवस्था में अन्तर्मुख होते हैं न कि बहिर्मुख। सूक्ष्म जगत् सूक्ष्म शरीर के सदृश इस स्थूल जगत् के अन्दर होना चाहिये न कि बाहिर (देखो विभूतिपाद सूत्र ३६ के विशेष वक्तव्य संख्या २ में)।

सूक्ष्मता और आनन्द के तारतम्य से इस चन्द्रलोक, सोमलोक अथवा स्वर्गलोक को भी कई अवान्तर भेदों में विभक्त किया गया है, जैसा कि हमने षड्दर्शन समन्वय प्रकरण ४ में तत्त्वसमास की सूत्र ४ व १८ की व्याख्या में विस्तारपूर्वक बतलाया है, किन्तु इन सूक्ष्मलोकों में पहुँच जाना कैवल्य अर्थात् वास्तविक मुक्ति नहीं है, यथा.—

"न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य" (सां० अ० ५ सूत्र ७६)

अर्थः—विशेष गति का प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा अपने शुद्धज्ञान स्वरूप में निष्क्रिय है।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि" । सां० अ० ५० सूत्र ८० ॥

अर्थ—संयोग वियोगान्त है। इसलिये किसी देश विशेष (चन्द्रलोक के अन्तर्गत किसी सूक्ष्म लोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है।

"आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" ॥ गीता अ० ८ श्लो १६

अर्थः—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। किन्तु हे कुन्तिपुत्र ! मुझको (शुद्ध परमात्म तत्त्व) प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है।

इसलिये वास्तव में ये भी बन्धन रूप ही हैं। कपिल मुनि ने तत्त्व समास सूत्र १९ में इन लोकों की प्राप्ति को दाक्षणिक बन्ध कहा है, जो सूक्ष्म शरीर और तन्मात्राओं तक सूक्ष्म विषयों में आसक्ति के कारण होता है। मनुष्य के मर्त्य लोक की अपेक्षा से तो ये लोक अमर कहलाते हैं और मनुष्य के बन्धनों की अपेक्षा से इनकी प्राप्ति मुक्ति कही जा सकती है। किन्तु यह मुक्ति पुनरावर्तिनीरूप ही है जो निवृत्ति मार्ग वालों के लिये हेय है। एक लम्बे समय तक इन लोकों के सूक्ष्म आनन्द को भोग कर पिछली भूमि में प्राप्त की हुई योग्यता को लिये हुए ये योगी मनुष्य लोक में ऊंची श्रेणी के योगियों में जन्म लेते हैं। जिससे आत्मस्थिति प्राप्ति के लिये यत्न कर सकें।

आनन्दानुगत समाधिः—इसमें अहंकार का साक्षात्कार होता है। यह अहङ्कार का साक्षात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं होता है, क्योंकि अहंकार तन्मात्राओं तक सारे सूक्ष्म विषयों और उनको विषय करने वाली ज्ञान-इन्द्रियों का स्वयं उपादान कारण है, अहङ्कार दूसरा विषम परिणाम है, जिसमें सत्त्व की बाहुल्यता है और सत्त्व गुण में ही आनन्द (सुख) है। इसलिये इस भूमि में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म विषयों से परे 'अहमस्मि' वृत्ति द्वारा केवल अहङ्कार के आनन्द का ही अनुभव होता है। जैसा कि गीता में बतलाया गया है:—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (गीता अ० ६, श्लो० २१, २२)

अर्थः—जिस अवस्था में योगी उस परम सुख को जानता है जो बुद्धि से ही ग्रहण किया जाता है न कि इन्द्रियों से और नहीं उसमें स्थित हुआ तत्त्व से फिसलता है, जिस आनन्द को प्राप्त कर योगी उससे बढ़ कर अधिक और कोई लाभ नहीं समझता है और जिस अवस्था में स्थित योगी महान् दुःख से भी कभी विचलित नहीं होता उस दुःखों के मेल से अलग अवस्था को योग नाम वाला जाने।

किन्तु इस आनन्दानुगत भूमि में भी आसक्त न होना चाहिये। जो योगी इस आनन्दानुगत भूमि को ही स्वरूप अवस्थिति समझ कर इसी में आसक्त रहते हैं और आगे आत्म साक्षात्कार करने का यत्न नहीं करते वे शरीरान्त होने पर विदेह (शरीर रहित) अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति को प्राप्त किये हुए इसी आनन्द को भोगते रहते हैं। यह विदेहावस्था विचारानुगत भूमि में बतलाए हुए ब्रह्मलोक पर्यन्त सूक्ष्म लोकों से अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अवधि वाली है, किन्तु यह भी बन्धन रूप ही है। कैवल्य अर्थात् वास्तविक मुक्ति नहीं, यथाः—

'नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्' (सांख्य ५।७४)

अर्थः—आनन्द का प्रकट होजाना मुक्ति नहीं है (क्योंकि वह आत्मा का) धर्म नहीं है (किन्तु अन्तःकरण का धर्म है)

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिः---इसमें अस्मिता का साक्षात्कार होता है। अस्मिता का साक्षात्कार भी अहंकार के साक्षात्कार के सदृश सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं होता है, क्योंकि अस्मिता पुरुष से प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्र की संज्ञा है, जो अहंकार का उपादान कारण और गुणों का प्रथम विषम परिणाम है जिसमें सत्त्व ही सत्त्व है। रजस् क्रियामात्र और तमस उस क्रिया को रोकने मात्र के लिए है। इसलिये इसमें अहङ्कार रहित केवल 'अस्मि' वृत्ति से अपरिछिन्न, असीम और व्यापक आनन्द का अनुभव होता है। जो योगी इस असीम आनन्द में आसक्त रहते हैं वे शरीर छोड़ने पर अस्मिता अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति को प्राप्त किये हुए लम्बे समय तक इस आनन्द को भोगते रहते हैं। यह अवस्था विदेह अवस्था से अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अवधि वाली होती है। गुणों की साम्य अवस्था वाली मूल प्रकृति तो केवल अनुमान और आगम गम्य है और पुरुष के निष्प्रयोजन होती है। वास्तविक प्रकृति तो गुणों का प्रथम विषम परिणाम महतत्त्व (चित्त = बुद्धि) ही है। इसलिये इस अस्मिता प्रकृति को प्राप्त किये हुए योगियों की संज्ञा प्रकृतिलय बतलाई गई है। यह सब से ऊंची भूमि असीम आनन्द वाली और कैवल्य पद के तुल्य है। किन्तु बन्धन रूप ही है। वास्तविक कैवल्य नहीं है। यथाः—

'न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्' (सां० ३।५४)

अर्थः—कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होने से पुरुष को कृत कृत्यता (स्वरूप अवस्थिति) नहीं हो सकती क्योंकि उसमें डुबकी लगाने वालों के समान (पानी से ऊपर) आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिये उठना (मनुष्य लोक में आना) होता है। कपिल मुनि प्रणीत तत्त्व समास में इन दोनों उच्चतर और उच्चतम भूमियों को प्राकृतिक बन्ध कहा गया है, क्योंकि यद्यपि इनमें सोलह विकृतियों और पाँच तन्मात्राओं से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, किन्तु विदेही को अहंकार और प्रकृतिलयों को अस्मिताओं में आसक्ति होने के कारण प्रकृति का बन्ध बना ही रहता है।

विवेक ख्यातिः—ऊपर बतला आए हैं कि पुरुष से प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्त का नाम अस्मिता है। गुणातीत चैतन्य स्वरूप और त्रिगुणात्मक जड़ चित्त में भिन्नता का विवेक ज्ञान न रह कर अस्मिता की प्रतीति अस्मिता क्लेश है। जिससे असङ्ग पुरुष में सङ्ग का दोष आरोप होना आरम्भ होता है। इस प्रकार अस्मिता क्लेश ही राग, द्वेश और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म, उनके फलों की वासनाएं उनके अनुसार जन्म आयु और भोग और उसमें सुख दुःख का कारण है। इसकी जननी अविद्या क्लेश है जो सत्त्व चित्त में लेशमात्र तमस् में बीज रूप से वर्त्तमान रहती है। विवेक ख्याति में त्रिगुणात्मक चित्त और गुणातीत चेतन आत्मा में भेद ज्ञान उत्पन्न होता है। इसमें अस्मिता क्लेश निवृत्त होजाता है और अविद्या क्लेश अपने अन्य सब क्लेश रूपी परिवार सहित दग्धबीज तुल्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्तमान थी इस सात्त्विक वृत्ति (विवेक ख्याति) को स्थिर रखने में सत्त्व का सहायक हो जाता है। आत्म साक्षात् करा` वाली यह विवेकख्याति भी चित्त ही की सबसे उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। जिस प्रकार

दर्पण (शीशा) में दिखलाई देने वाला स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं होता है इसी प्रकार चित्त में आत्मा का साक्षात्कार वास्तविक स्वरूप अवस्थिति नहीं है। इस प्रकार विवेक ख्याति से भी आसक्ति का हट जाना पर वैराग्य द्वारा होता है।

असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीजसमाधिः—पर वैराग्य द्वारा विवेक ख्यातिरूप सात्त्विक वृत्ति के निरुद्ध होजाने पर द्रष्टा की शुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। यही असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि कहलाती है। इस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती है, किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। आरम्भ में असम्प्रज्ञात समाधि क्षणिक (बहुत कम समय वाली) होती है, किन्तु ज्यों ज्यों धीरे धीरे निरोध के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट करते जाते हैं त्यों त्यों अधिक समय तक रहने वाली होती जाती है और इसकी अवस्था परिपक्व होती जाती है। अन्त में जब निरोध के संस्कार व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर देते हैं तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सीसा सुवर्ण के मल को जलाकर स्वयं भी जल जाता है। तब शरीर छोड़ने पर चित्त को बनाने वाले गुण अपने २ कारण में लीन हो जाते हैं और द्रष्टा शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इस कैवल्य को सद्योमुक्ति कहते हैं। इस देहान्त अवस्था का उपनिषदों में निम्न प्रकार वर्णन आया है:—

'यो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य
'प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"(बृ० ४।४।६)

अर्थः—जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहिर निकल गया है जिसकी कामनाएं पूरी हो गई हैं अथवा जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण (प्राण और इन्द्रियें) नहीं निकलते हैं वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है।

आदित्यलोक देवयानः—

जिन योगियों ने असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त कर लिया है, किन्तु उनके चित्त से व्युत्थान के सारे संस्कार अभी नष्ट नहीं हो पाए हैं, कुछ शेष रह गए हैं, इस अवस्था में शरीरान्त होने पर वे आदित्य लोक को प्राप्त होते हैं और उनका मार्ग उत्तरायण कहलाता है, किन्तु आदित्यलोक विचार अनुगत सम्प्रज्ञात सामाधि में बतलाए हुए जैसा कोई सूक्ष्म लोक नहीं है और न यह दिखलाई देने वाला भौतिक स्थूल सूर्य्य है प्रत्युत वह विशुद्ध सत्त्व मयचित्त है जिस को हमने ईश्वर के चित्त के नाम से कई स्थानों में वर्णन किया है और देवयान अथवा उत्तरायण को भौतिक जैसी गति का अनुमान न करना चाहिये, क्योंकि मार्ग और गति बाहिर की वस्तुओं में होती है। यहां इन शब्दों से अभिप्राय इन योगियों के चित्तों का विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में अन्तर्मुख होना है। वहां 'असमान' ईश्वर के अनुग्रह द्वारा इन शेष व्युत्थान के संस्कारों के निवृत्त होने पर चित्त के गुणों के अपने कारण में लीन होने पर ये योगी शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति प्राप्त करते हैं। यथाः—

"कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्" (वेदा० द० ४।३।१०)

अर्थः—ब्रह्मलोक में पहुंचकर वह कार्य्य (शबल ब्रह्म) को उलांघ कर उस कार्य्य से परे जो उसका अव्यक्त परब्रह्म है उसके साथ ऐश्वर्य्य को भोगता है। इसको क्रम मुक्ति कहते हैं।

अवतारः—स्वरूप अवस्थिति को प्राप्त किये हुए जिन योगियों ने अपने चित्त से असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर दिया है, किन्तु उनके चित्त में प्राणियों के कल्याण का सङ्कल्प बना हुआ है तो उनके चित्तों को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं होते। ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में, जिसमें सारे प्राणियों के कल्याण का सङ्कल्प विद्यमान है, (समान सङ्कल्प होने से) लीन रहते हैं और वे कैवल्य पद के सदृश शुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण में जब उनकी आवश्यकता होती है तो वे इस भौतिक जगत् में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दों में अवतार लेते हैं। यथाः—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥" गीता०

अर्थः—हे भारत जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूं (अपने शुद्ध स्वरूप से शबल स्वरूप में अवतरण करता हूं अर्थात् भौतिक जगत् में अवतार लेता हूं) सज्जनों की रक्षा करने के लिये और दूषित कार्य्य करने वालों का नाश करने के लिये युग २ में प्रकट होता हूं। तथा

"आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"।

अर्थः—आदि विद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल मुनि) ने निर्माण चित्त (सांसारिक वासनाओं के संस्कारों से शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि मुनि को दया भाव से सांख्य तत्त्व समास का उपदेश दिया। तथा

"ऋषिः प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति"। (श्वे० उ०)

अर्थः पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है।

संगतिः—सूत्र १८ में असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप दिखला कर अब अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि जिन योगियों ने पिछले जन्म में विचार अनुगत से ऊंचा आनन्दानुगत अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त कर लिया है उनको असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिये अन्य साधारण मनुष्यों जैसी पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं होती। वे जन्म ही से पिछले योग बल के कारण इसके प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।

भवप्रत्ययोविदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—भव-प्रत्ययः = जन्म से ही प्रतीति । विदेह-प्रकृति-लयानाम् = विदेह और प्रकृतिलयों को होती है ।

अन्वयार्थ—विदेह और प्रकृतिलयों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात-समाधि की प्रतीति होती है ।

व्याख्या—सत्रहवें सूत्र में बतला आये हैं कि विदेह वे योगी हैं जो वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधि को सिद्ध करके शरीर से आत्माध्यास छोड़ चुके हैं और आनन्दानुगत भूमि में प्रवेश होकर उसका अभ्यास कर रहे हैं । उनका देह में आत्मा-भिमान निवृत्त हो गया है । इसलिये विदेह कहलाते हैं । प्रकृतिलय वे योगी हैं जिन्होंने आनन्दानुगत को सिद्ध कर लिया है और सातों प्रकृतियों का साक्षात् करते हुए अस्मितानुगत समाधि का अभ्यास कर रहे हैं ।

कोई-कोई योगी इन दोनों समाधियों की मनोरञ्जक, आनन्दमय और शान्त अवस्थाओं को ही आत्मावस्थिति समझकर इन्हीं में मग्न रह जाते हैं और इनमें संतुष्ट होकर आगे बढ़ने का यत्न नहीं करते । शरीरान्त होने पर ये विदेह योगी अपने संस्कार-मात्र के उपयोग वाले चित्त से कैवल्य-पद के समान एक लम्बे समय तक आनन्द और ऐश्वर्य को भोगते हैं । इसी प्रकार प्रकृतिलय अपने अधिकार के सहित चित्त के साथ शरीर त्याग के पश्चात् विदेहों से भी अधिक लम्बे समय तक अस्मिता प्रकृति में कैवल्य-पद के समान आनन्द अनुभव करते हैं । किन्तु यह वास्तविक स्वरूपावस्थिति (मुक्ति) नहीं है, जैसा कि सांख्यदर्शन में बतलाया गया है:—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ (सां० ५।७४)

अर्थ—आनन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है (क्योंकि यह आत्मा का) धर्म नहीं है (किन्तु अन्तःकरण का धर्म है) ।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥ (सां० ३।५४)

अर्थ—कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होने से (पुरुष को) कृतकृत्यता (स्वरूपावस्थिति) नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें डुबकी लगाने वाले के समान (पानी से ऊपर) उठना होता है, अर्थात् जिस प्रकार डुबकी लगाने वालों को एक निश्चित समय तक पानी में रहने के पश्चात् श्वास लेने के लिये पानी से ऊपर उठना होता है इसी प्रकार विदेह और प्रकृतिलयों को भी परम तत्त्वज्ञान अथवा आत्मस्थिति प्राप्त करने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है । उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है ।

प्रत्यय नाम प्रतीति, प्रकट होने, ज्ञान होने के हैं अर्थात् जन्म से ही जिसकी प्रतीति होती है अथवा जो जन्म से ही प्रकट होता है अर्थात् जन्म से ही जिस असम्प्रज्ञात समाधि के प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे 'भवप्रत्यय' कहेंगे; अथवा 'भवान् प्रत्ययः भवप्रत्ययः'

'भवात्' नाम जन्म से, 'प्रत्यय' नाम ज्ञान; जन्म से ही है ज्ञान जिस असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति का, उसका नाम 'भवप्रत्यय है।

अथवा 'भव' नाम जन्म का है और 'प्रत्यय' कारण को कहते हैं। 'भव-प्रत्यय' से यह अभिप्राय है कि इनका चित्त पूर्व जन्म की योग-सिद्धि के प्रभाव से जन्म से ही असम्प्रज्ञात योग में प्रवृत्त होता है।

इन विदेह और प्रकृतिलय योगियों को असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति-विषयक ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है। वे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा आदि साधनों का पूर्व जन्म मे अभ्यास कर चुके हैं इसलिये उनको इन साधनों की आवश्यकता 'उपाय प्रत्यय' वाले योगियों की भाँति इस जन्म में नहीं होती। पिछले जन्म के अभ्यास के संस्कार के बल से उनको पर वैराग्य उदय होकर 'विराम-प्रत्यय' के अभ्यास-पूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध हो जाती है। भगवान् कृष्ण जी ने श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय छः में ऐसे विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मिता अनुगत भूमियों के योगियों की संज्ञा जिन्होंने स्वरूपावस्थिति को शरीर त्याग से पूर्व लाभ नहीं कर पाया है योगभ्रष्ट कह करके उनकी गति इस प्रकार बतलाई है,—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अर्थ—हे अर्जुन, उसका न इस लोक में, न परलोक में, कोई विनाश होता है। हे तात, कोई भी कल्याण करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अर्थ—योगभ्रष्ट पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत काल तक निवास करके फिर उनके घर में जन्म लेता है जो शुचि और श्रीमान् हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। लोक में इस प्रकार का जो जन्म है वह बड़ा दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

अर्थ—वहाँ उसे पूर्व जन्म की (योगवाली) बुद्धि मिल जाती है। और हे कुरुनन्दन (अर्जुन), वह फिर सिद्धि के लिये यत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

अर्थ—वह उसी पहले अभ्यास से अवश होकर (सिद्धि में) खींच लिया जाता है । योग का जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म से आगे निकल जाता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—योगी लगातार प्रयत्न करता हुआ धीरे-धीरे सारे पापों को धोकर अनेक जन्मों की सिद्धि के अनन्तर परम-गति को पा जाता है ।

विशेष वक्तव्य सूत्र १९:—कई भाष्यकारों ने इस सूत्र के भ्रान्ति जनक अर्थ किये हैं । इस का मूल कारण वाचस्पति मिश्र के 'भव प्रत्यय' के सम्बन्ध में अयुक्त और 'विदेह तथा प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण और पक्षपात पूर्ण विचार हैं, जिनका उन्होंने न केवल अनुकरण ही किया है किन्तु उनको और अधिक विकृत रूप में दिखलाने का यत्न किया है। विज्ञान भिक्षु ने इन सब बातों का समाधान तो कर दिया है, किन्तु 'विदेह और प्रकृतिलय' का जो स्वरूप उन्होंने यहां तथा 'सांख्य प्रवचन भाष्य में दिखलाया है वह स्वयं आपत्ति जनक है । इसलिये अपनी व्याख्या के समर्थनार्थ व्यास भाष्य का भाषानुवाद तथा अन्य सब सन्देहों और भ्रान्तियों के निवारणार्थ वाचस्पति मिश्र के 'तत्त्व वैशारदी' और विज्ञान भिक्षु के 'योग वार्तिक' का, भाषानुवाद कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्या० भा० का भाषानुवाद सू० १९:—विदेह देवों की असम्प्रज्ञात समाधि का नाम 'भव प्रत्यय' है । वे विदेह अपने संस्कार मात्र के उपयोग वाले चित्त से कैवल्य पद के समान अनुभव करते हैं । वे अपने संस्कार के समान फल भोग कर लौटते हैं (अर्थात् आनन्दानुगत भूमि में आसक्त योगी शरीर त्यागने के पश्चात् एक लम्बे समय तक विदेह अवस्था में कैवल्य पद के समान अनुभव करते हैं फिर अपनी पिछली योग भूमि की वृद्धि को लिये हुए इस लोक में ऊंचे योगियों के कुल में जन्म लेते हैं । उनको जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता होती है । इसलिये उनकी समाधि भव प्रत्यय कहलाती है) इसी प्रकार 'प्रकृतिलय' भी अपने साधिकार चित्त के (अस्मिता) प्रकृति में लीन होने पर कैवल्य पद के समान अनुभव करते हैं । जब तक कि चित्त के अधिकार वश से पुनः इस लोक में नहीं लौटते (अर्थात् इसी प्रकार अस्मितानुगत भूमि में आसक्त योगी शरीर छोड़ने के पश्चात् एक लम्बे समय तक अस्मिता प्रकृतिलय अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति को अनुभव करते हैं, फिर इस लोक में ऊंचे योगियों के कुल में अपनी पिछली भूमि के योग की वृद्धि को लिये हुए जन्म लेते है इन को भी असम्प्रज्ञात समाधि की जन्म से ही योग्यता होती है । इसलिये इनकी समाधि भी 'भवप्रत्यय' कहलाती है)

वाचस्पति मिश्र के तत्व वैशारदी सूत्र १९ का भाषानुवाद:—निरोध समाधि के अवान्तर भेद को,—जो कि हान (त्याग) और उपादान (ग्रहण) में अंग है,—उसे

दिखलाते हैं "कि यह निरोध समाधि दो प्रकार की है उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय"। उपाय का अर्थ है, आगे कहे जाने वाले श्रद्धा आदि। वह श्रद्धा आदि है प्रत्यय, अर्थात्, कारण जिस निरोध समाधि का उस निरोध समाधि को उपायप्रत्यय कहते हैं। होते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं जन्तु इसमें,—इस अर्थ में भव का अर्थ है अविद्या। भूत और इन्द्रिय-रूपी विकारों, अथवा अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रारूपी प्रकृतियों में—जो कि अनात्म हैं,—आत्मख्याति होती है योगियों को, जो कि वैराग्य सम्पन्न हैं। भव है प्रत्यय अर्थात् कारण जिस निरोध समाधि का उसे भवप्रत्यय कहते हैं। उन दोनों में उपायप्रत्यय (समाधि) योगियों को होती है जिन का कि वर्णन करेंगे। इस विशेष विधान द्वारा यह दर्शाया है कि शेष का मुमुक्षु के साथ सम्बन्ध नहीं है। तो किन को भवप्रत्यय (समाधि) होती है—इस सम्बन्ध में सूत्र द्वारा उत्तर कहा है। "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्,—का अर्थ है विदेहों की और प्रकृतिलयों की। इसकी व्याख्या करते हैं,—"विदेहानाम्=देवानाम् भवप्रत्यय." भूत और इन्द्रिय इन में से किसी को जो आत्मा मानते हैं और उसकी उपासना द्वारा उसकी वासना से जिनका अन्तःकरण वासित है, वे देहपात के बाद इन्द्रियों वा भूतों में लीन हो जाते हैं और उनके मनों में केवल संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं, और वे छः कोशों वाले शरीर से रहित हो जाते हैं, इन्हें विदेह कहते हैं। वे "अपने संस्कार मात्र के उपयोग वाले चित्त" द्वारा कैवल्य पद की सदृश अवस्था का अनुभव करते हुए अर्थात् प्राप्त करते हुए, विदेह हैं। कैवल्य के साथ इनका सादृश्य है, 'वृत्तिशून्य' होना, इनके चित्त में अधिकार सहित—संस्कार का शेष रहना (कैवल्य से) वैरूप्य है। कहीं मूल पाठ है 'संस्कारमात्रोपभोगेन', इसका अर्थ यह है कि संस्कारमात्र ही जिसका उपभोग है, जिसमें कि चित्तवृत्ति नहीं है,—ऐसे चित्त द्वारा। अवधि को प्राप्त होजाने पर उस जाति वाले अपने संस्कार-विपाक को वे अतिक्रमण करते हैं और फिर भी संसार में प्रवेश करते हैं। वायुपुराण में कहा भी है:—

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णम्" इति।

"दस मन्वन्तरों तक इस अवस्था में इन्द्रियचिन्तक रहते हैं, और भूत चिन्तक तो पूरे सौ मन्वन्तरों तक"

तथा प्रकृति लय जो कि अव्यक्त, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राओं में से किसी को आत्मा मानते हैं, वे उसकी उपासना द्वारा उसकी वासना से वासित अन्तःकरण वाले, देहपात के पश्चात्, अव्यक्त आदि में से किसी मे लीन हो जाते हैं।

साधिकार चित्त का अर्थ है अचरितार्थ चित्त, इस प्रकार ही चित्त चरितार्थ होता यदि विवेकख्याति को भी वह पैदा करता, नहीं पैदा हुई सत्त्व और पुरुष मे भेद ख्याति जिसकी ऐसे चित्त की—जोकि अचरितार्थ है (अर्थात् जिसने अभी तक प्रयोजन पूरा नहीं किया) साधिकारता तो बनी हुई है। प्रकृतिसाम्य को प्राप्त करके भी चित्त अवधि प्राप्त कर

फिर भी प्रादुर्भूत होता है और उसके बाद विवेक को प्राप्त करता है जैसे कि वर्षा की समाप्ति पर मृद्भाव को प्राप्त हुआ मण्डूकदेह फिर मेघ जल धारा के सिञ्चन से मण्डूकदेह सत्ता का अनुभव करता है। वायुपुराण में कहा कि—

"सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते"।

हजार मन्वन्तरों तक आभिमानिक (अहङ्कारचिन्तक), दश हजार मन्वन्तरों तक बौद्ध स्थित रहते हैं, बिना दुःख अनुभव किये अव्यक्त चिन्तक एक लाख मन्वन्तरों तक स्थित रहते हैं और निर्गुण पुरुष को प्राप्त कर काल की कोई संख्या नहीं रहती।

चूंकि यह (अर्थात् भवप्रत्यय) पुनर्भव (अर्थात् पुनर्जन्म) की प्राप्ति का हेतु है अतः हेय है।

समीक्षा:—वाचस्पति मिश्र ने उपासना का शब्द चिन्तन, भावना विशेष, समापत्ति अर्थात् समाधि के अर्थ में प्रयोग किया है।

(१) पांचों स्थूलभूतों तथा उनके अन्तर्गत स्थूल शरीर और इन्द्रियों की भावना से युक्त वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। पांचों तन्मात्राओं तक सूक्ष्म भूतों तथा उनके अन्तर्गत सारे सूक्ष्म विषयों की भावनाओं से युक्त विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इन दोनों से परे 'अहमिति' वृत्ति वाली अहंकार की भावना से युक्त आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है और 'अहमिति' अहङ्कार से परे अस्मिता वृत्ति वाली अस्मिता भावना से युक्त अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसलिये आनन्दानुगत भूमि में आसक्ति वाले योगी ही देहपात के पश्चात् विदेह देवपद को प्राप्त हो सकते हैं न कि स्थूल भूतों और इन्द्रियों की भावना से युक्त वितर्कानुगत भूमि वाले। और अस्मितानुगत भूमि में आसक्ति वाले योगी ही (अस्मिता) प्रकृतिलय देवपद को प्राप्त हो सकते हैं न कि तन्मात्राओं और अहङ्कार की भावना से युक्त विचारानुगत और आनन्दानुगत भूमि वाले योगी जैसा कि हमने १८ वें सूत्र की व्याख्या तथा उसके विशेष वक्तव्य में दिखलाया है।

(२) भोज महाराज ने भी अपनी १७ वें सूत्र की वृत्ति में ऐसा ही बतलाया है यथा:—

यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तः करणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति। अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद् विदेह शब्दवाच्याः"।

अर्थः—जब रज और तम के किञ्चित् लेश से युक्त हुआ अन्तःकरण सत्त्व की भावना करता है तब चिति शक्ति के गुणरूप होने से सत्त्व (चित्त) ध्येय की प्रबलता के

कारण सत्त्व (चित्त) के सुख प्रकाशमय हो जाने के कारण सत्त्वचित्त में आनन्द प्रतीत होता है। इसी समाधि में जो आसक्त होगए हैं और प्रधान पुरुष भेद रूप विवेक ख्याति को नहीं प्राप्त करते हैं वे योगी देह के अहङ्कार निवृत्त होजाने से (देह में आत्माध्यास हट जाने के कारण) विदेह कहलाते हैं। यह ग्रहण अर्थात् अहङ्कार वृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण विषयक समाधि है।

"ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात्, चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मिता इत्युच्यते। नचाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः। यतो यत्रान्तः करणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः। यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति सास्मिता। अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते"।

अर्थ—इस अहंकार से आगे अन्तर्मुख होने पर रजतम के लेश से शून्य सत्त्व-चित्त को विषय बनाकर जो भावना की जाती है तो उसमें ग्राह्यचित्त का अन्य रूप हो जाता है। यह चिति शक्ति की प्रबलता के साथ सत्तामात्र से शेष रह जाता है। इसलिये अस्मिता नाम वाली समाधि कहलाती है। अहंकार और अस्मिता इन दोनों में अभेद की शंका न करनी चाहिये। क्योंकि जिस काल में अन्तःकरण द्वारा 'अहमिति' 'मैं हूँ' इस भाव से चित्रित हुआ चित्त विषय को जानता है, वह अहंकार कहलाता है और जहां 'अहमिति' इस प्रकार की वृत्ति को छोड़कर चित्त उलटे परिणाम से प्रकृति (अस्मिता) में अन्तर्मुख होता है और केवल सत्ता मात्र से रहता है तो वह अस्मिता कहलाता है। इसी समाधि में जिन्होंने सन्तोष कर लिया है ऐसे योगी परमात्मा पुरुष को नहीं देखते हैं। उनका चित्त अपने कारण अस्मिता (प्रकृति) में लय को प्राप्त होने के कारण उनको "प्रकृतिलय" कहते हैं"।

(३) विदेह और प्रकृतिलय देवों की अवस्था अन्य सब दिव्य लोक लोकान्तरों के देवों की अपेक्षा से तो सब से अधिक दिव्य सूक्ष्म सात्त्विक और उत्तम है किन्तु साधिकार चित्त होने के कारण कैवल्य नहीं है। इसीलिये व्यासभाष्य में उनकी अवस्था के लिये 'कैवल्य पद इव' कैवल्य पद जैसी लिखा गया है। तथा विभूति पाद सूत्र २६ के व्यास भाष्य में भी ऐसा ही बतलाया गया है।

"त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः।
विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते
न लोकमध्ये न्यस्ता इति"।

अर्थ—इन पूर्वोक्त सातों लोकों को ही ब्रह्मलोक जानना चाहिये (जिनमें वितर्कानुगत

भूमि की परिपक्व अवस्था में विचारानुगत भूमि, तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि की आरम्भिक अवस्था में आसक्त योगी शरीर त्यागने के पश्चात् अपनी-अपनी भूमियों के क्रमानुसार सूक्ष्म शरीर के साथ निवास करते हैं। विदेह और प्रकृतिलय योगी कैवल्य पद के तुल्य स्थित में हैं, इसलिये वे किसी लोक में निवास करने वालों के साथ नहीं उपन्यास किये गए।

(४) विदेह और प्रकृतिलय देवों की कैवल्य पद जैसी स्थिति को असम्प्रज्ञात समाधि कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि तो मनुष्यलोक में स्थूल देह से सर्ववृत्तिनिरोध द्वारा लाभ की जाती है। यदि इस बात की भी उपेक्षा की जावे तो भी इस स्थिति को असम्प्रज्ञात समाधि नहीं कह सकते क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में तो सर्ववृत्ति-निरोध होता है। यह तो सम्प्रज्ञात समाधि की ही उच्चतर और उच्चतम भूमि है, जिनमें चित्त इन दोनों एकाग्रतारूप सात्त्विक वृत्तियों में परिणत हो रहा है। इस लिये श्रीव्यासजी महाराज ने इस १९ वें सूत्र के भाष्य में 'अतिवाहयन्ति' से यह दर्शाया है कि विदेह और प्रकृतिलय देव जब कैवल्य पद तुल्य स्थिति से इस लोक में उच्च योगियों के कुल में जन्म लेते हैं तो उनको अपने पिछले जन्म के योगाभ्यास के बल से जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि लाभ करने की योग्यता होती है। इनको योगाभ्यास के संस्कारों से शून्य चित्तवालों के सदृश श्रद्धावीर्यस्मृति आदि की अपेक्षा नहीं होती। इस लिये इस प्रकार जो इन योगियों को असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है उस असम्प्रज्ञात समाधि को अपने निमित्त कारण की अपेक्षा से भवप्रत्यय कहते हैं अर्थात् जन्म ही है कारण जिसका। भव के अर्थ यहाँ जन्म हैं।

(५) भव के अर्थ यहां अविद्या लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या अथवा मिथ्या-ज्ञान से कैवल्य पद तुल्य स्थिति अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हो सकती। असम्प्रज्ञात समाधि तो विवेकख्याति द्वारा प्राप्त होती है जिसमें अविद्या आदि सारे क्लेश दग्धबीज तुल्य हो जाते हैं।

(६) विदेह और प्रकृतिलयों की कैवल्यपद तुल्य स्थिति को उस की निकृष्टता दिखलाने के लिये वर्षा के पश्चात् मृद्भाव को प्राप्त किये हुए मण्डूक जैसी बतलाकर उसका उपहास करना भी अनुचित है, क्योंकि यद्यपि ये दोनों चित्त की स्थितियां विवेकख्याति को प्राप्त किये हुए नहीं हैं तथापि रज तम से शून्य हुआ चित्त इनमें अपने शुद्ध स्वच्छ सात्त्विक रूप में चिति शक्ति के प्रकाश से भासता है। यदि इस अवस्था को मण्डूक के मृद्भाव को प्राप्त होने के सदृश और पुनर्जन्म को जीवित भाव प्राप्त होने के समान कहा जावे तो विवेक ख्याति के पश्चात् अपुनरावर्तनी कैवल्य मण्डूक के ऐसे मृद्भाव प्राप्त होने के सदृश मानी जावेगी जिसके कभी जीवित भाव को प्राप्त होने की आशा नहीं रही हो। ऐसी कैवल्य तो बुद्धिमानों के लिये हेय कोटि में होगी न कि उपादेय। इसलिये ये दोनों उच्चतर और उच्चतम योग की भूमियां स्वयं अपने स्वरूप से हेय नहीं हैं। इनमें आसक्ति अर्थात् इनके आनन्द में सन्तुष्ट होकर स्वरूप अवस्थिति के लिये यत्न न करना ही अहितकर है और उनका फल स्वरूप विदेह और प्रकृतिलय अवस्था यद्यपि कैवल्य नहीं है, किन्तु शरीर से आत्म अभिमान

निवृत होजाने के कारण कैवल्य जैसी है और ब्रह्मलोक तक सारी सूक्ष्म और आनन्दमयी अवस्थाओं से उच्चकोटी की है।

(७) 'उपायप्रत्ययो योगिनां भवति' इस बीसवें सूत्र के व्यास भाष्य से उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि, योगियों की बतलाकर 'भव प्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि अयोगियों की अथवा अज्ञानियों की सिद्ध करना भी ठीक नहीं है क्योंकि १९वें सूत्र के 'विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः' इस व्यास भाष्य में भवप्रत्यय वाले विदेहों के लिये देव का शब्द प्रयोग किया गया है। उपाय प्रत्यय वालों को तो श्रद्धावीर्य्य आदि का अनुष्ठान करके योग श्रेणी में प्रवेश करना होता है, किन्तु भव प्रत्यय वाले श्रद्धावीर्य्य आदि का अनुष्ठान पूर्व जन्म में कर चुके हैं, क्योंकि बिना इसके आनन्दअनुगत और अस्मितानुगत की भूमियों और कैवल्य पद तुल्य स्थिति का प्राप्त होना असम्भव है।

(८) वायु पुराण में चिन्तन का शब्द भावना, समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के अर्थ में ले सकते हैं। इसमें क्रम से स्थूल भूतों से लेकर मूल प्रकृति पर्य्यन्त सम्प्रज्ञात समाधि की भूमियों में आसक्त योगियों के शरीर त्यागने के पश्चात् उनकी अवस्थाओं के सूक्ष्मता, सात्विकता और आनन्दके तारतम्य से समय में वृद्धि दिखलाते हुए इस बात को दर्शाया है कि एक लाख मन्वन्तर वाली स्थिति भी पुनरावर्तिनी ही है, केवल परमात्म प्राप्ति रूप कैवल्य अपुनरावर्तिनी है, जो असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम ध्येय है।

यह एक प्रकार से गीता के इस श्लोक की व्याख्या है:—

"आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"॥ गीता ८।१६

विज्ञान भिक्षु के योगवार्तिक का भाषानुवाद सूत्र १९।

असम्प्रज्ञात योग के भी निमित्त भेद से दो प्रकार अगले दो सूत्रों द्वारा सूत्रकार कहेंगे। इन्हीं दो भेदों को युक्ति सिद्ध पूर्वाचार्य्यों के कहे क्रम के अनुसार दोनों सूत्रों के अवतरण के लिये भाष्यकार दिखलाते हैं—'स खल्वयं द्विविध इति' वह असम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का है।

वह असम्प्रज्ञात योग अगले सूत्र में प्रज्ञापूर्वक बतलाया है। अतः आगे कहे श्रद्धा आदि हैं कारण जिसके ऐसा उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात योग योगियों को इस लोक में होता है। तथा योग भ्रष्टों को इस लोक में और देवता विशेषों को देवलोक में 'भवप्रत्यय' जन्म है कारण जिसका वह असम्प्रज्ञात योग होता है यह क्रम है। सूत्रकार को उपाय प्रत्यय सविस्तर कहना है अतः सूचिकटाह न्याय से पहिले भवप्रत्यय को कहेंगे इस कारण सूत्र और भाष्य में क्रम भेद को दोष नहीं मानना चाहिये। उत्पत्ति क्रम के अनुसार सूत्र के क्रम का उल्लंघन करके और सम्बन्ध को पूरा करके सूत्र को उठाते हैं।—तत्रेति—भव का अर्थ है जन्म वह भव ही है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका ऐसा विग्रह (भवप्रत्यय शब्द का) है। 'विदेह प्रकृतिलयानां' इसकी व्याख्या विभाग करके करते हैं कि 'विदेहानां' इत्यादि। शरीर

की अपेक्षा के बिना जो वृद्धि वृत्ति माने हैं उन्हें विदेह कहते हैं,—यह विभूति पाद में स्पष्ट हो जाएगा। वे विदेह महत्तादिदेव हैं, साधना अनुष्ठान के बिना ही इन्हें असम्प्रज्ञात योग केवल जन्म के ही निमित्त से होता है (अर्थात् इस देहपात के अनन्तर उस उस तत्त्व में प्रादुर्भावरूप जन्म के कारण से ही होता है) योनि (अर्थात् उस उस स्थान) के अपने २ गुण या प्रभाव द्वारा स्वाभाविक ज्ञान से (ही उन्हें असम्प्रज्ञात होता है)। वे नित्य प्रति प्रलय में और कभी २ सर्गकाल में भी स्वसंस्कार मात्रोपगत चित्त द्वारा अर्थात् संस्कार जिसमें शेष हैं ऐसे निरोधावस्थ चित्त द्वारा कैवल्यपद की सी अवस्था को प्राप्त हुए हुए और व्युत्थान काल में स्वसंस्कार विपाक अर्थात् स्वभाव प्राप्त कराने वाले संस्कार के विपाक अर्थात् फलको अर्थात् ऐश्वर्य्य भोग को, प्रारब्ध कर्म से यन्त्रित हुए २ भोगते हैं। उसके पश्चात् मुक्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रकृतिलय भी ईश्वर उपासना द्वारा या प्रकृतिदेवता की उपासना द्वारा जो आवरण समेत ब्रह्माण्ड को त्यागकर लिङ्ग शरीर के साथ प्रकृति के आवरण में गए हैं वे यहां प्रकृतिलीन कहे गए हैं। और वे भी, चित्त के कार्य्य समाप्त न होने से अपनी इच्छा से ही प्रकृति में लीन होने पर, संस्कार के शेष रह जाने पर असम्प्रज्ञात योग में कैवल्य पद की सदृश अवस्था को प्राप्त होते हैं, जब तक कि शेष अधिकार के वश से चित्त फिर व्युत्थित नहीं होता। इस (प्रकृतिलय) का भी (असम्प्रज्ञात) भव प्रत्यय ही है। अधिकार की समाप्ति पर वे भी मुक्त हो जाते हैं, यह आशा है। कोई 'भव' का अर्थ करते हैं अविद्या। उनका कहना है कि 'यह सूत्र' इन्द्रियों से लेकर प्रकृति तक के चिन्तकों को अविद्यारूपी कारण द्वारा असम्प्रज्ञात होता है, यह कह रहा है। परन्तु यह नहीं है, क्यों कि असम्प्रज्ञात का हेतु है परवैराग्य और वह परवैराग्य अविद्या में सम्भव नहीं। और जो वायु पुराण में है कि 'दस मन्वन्तरों तक इस अवस्था में इन्द्रिय चिन्तक रहते हैं और भौतिक पूरे एक सौ मन्वन्तरों तक आभिमानिक एक हजार मन्वन्तरों तक बौद्ध दस हजार मन्वन्तरों तक बिना दुःख के रहते हैं और अव्यक्त चिन्तक पूरे एक लाख मन्वन्तरों तक रहते हैं, निर्गुन पुरुष को प्राप्त कर के काल की कोई संख्या नहीं रहती' यह वाक्य है, वह कर्मदेवों के, जिन्हें कि ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ और जो कि इन्द्रियादि के उपासक हैं:—उस २ पद में अवस्थिति के काल को ही नियत करता है। उनके न तो असम्प्रज्ञात समाधि के कालों को और न देहादि के अभाव से वृत्ति के अभाव के कालों को वह वाक्य निश्चित करता है। क्योंकि इन्द्रिय आदि के चिन्तनमात्र द्वारा असम्प्रज्ञात उत्पन्न नहीं हो सकती, तथा कभी २ होने वाला जो वृत्ति का अभाव वह प्रलय और मरणादि (में उत्पन्न होने वाले वृत्त्यभाव) के तुल्य होने से अपुरुषार्थ भी है। तथा इन्द्रियादि के उपासकों को, इन्द्रियादि के अभिमानी सूर्य्य आदि पद की प्राप्ति होती है, यह फल अन्यत्र सुनाई भी देता है।

समीक्षा—यहां विदेह और प्रकृतिलयों का जो स्वरूप दिखलाया है उसके सम्बन्ध में हम भूमिका रूप षड्दर्शन समन्वय के चौथे प्रकरण में "सांख्य और ईश्वरवाद" में लिख चुके हैं। यहां पुनः विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'भव' के जो अर्थ

जन्म लिए गये हैं वे तो सूत्रकार और भाष्यकार के अभिप्राय के अनुसार ठीक ही हैं। किन्तु जो देव विशेष की देवलोक में असम्प्रज्ञात समाधि को भव प्रत्यय बतलाया गया है सो देव लोक की समाधि की मनुष्यलोक की समाधि के साथ कोई संगति नहीं दीखती। हां इस लोक में योग भ्रष्ट की असम्प्रज्ञात समाधि ही भवप्रत्यय हो सकती है। श्री कृष्णजी महाराज ने गीता में भी ऐसा ही कहा है जैसा कि इस सूत्र की व्याख्या में बतलाया गया है। अन्य सब बातें वाचस्पति मिश्र की समीक्षा में आ गई हैं।

संगति-पिछले सूत्र में विदेह और प्रकृतिलयों की असम्प्रज्ञात समाधि की जन्म सिद्ध योग्यता बतलाकर अब अगले सूत्र में साधारण योगियों के लिये उसका उपाय से प्राप्त करना बतलाते हैं:—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा-पूर्वकः = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञा पूर्वक (वह असम्प्रज्ञात-समाधि)। इतरेषाम् = दूसरों की अर्थात् जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उन साधारण योगियों की होती है।

अन्वयार्थ—दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा-पूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या—विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा आदि पूर्वक होती है। श्रद्धा आदि क्रम से उपाय हैं और असम्प्रज्ञात समाधि उपेय। इसलिये इनका उपायोपेय सम्बन्ध है। योग के विषय में चित्त की प्रसन्नता श्रद्धा है; उत्साह वीर्य है; जाने हुए विषय का न भूलना स्मृति है; चित्त की एकाग्रता समाधि है; ज्ञेय का ज्ञान प्रज्ञा है।

श्रद्धा—जो विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न हैं उन्हें जन्म-जन्मान्तरों से योग में नैसर्गिक रुचि नहीं होती है, किन्तु उनको पहले शास्त्र और आचार्य के उपदेश सुनकर योग के विषय में विश्वास उत्पन्न होता है। योग की प्राप्ति के लिये अभिरुचि अथवा उत्कट इच्छा को उत्पन्न करने वाले इस विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। यह कल्याणकारिणी श्रद्धा योगी की रुचि योगमें बढ़ाती है, उसके मन को प्रसन्न रखती है और माता के समान कुमार्ग से बचाती हुई उसकी रक्षा करती है।

वीर्य—श्रद्धा से वीर्य उत्पन्न होता है। योग-साधन की तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साह का नाम वीर्य है। श्रद्धा के अनुसार उत्साह; और उत्साह के अनुसार साधन से तत्परता होती है।

स्मृति—उत्साहवाले को पिछली अनुभव की हुई भूमियों में स्मृति उत्पन्न होती है। पिछले जन्मों के अक्लिष्ट कर्मों और ज्ञान के संस्कारों का जागृत होना स्मृति है।

समाधि—पूर्वले अक्लिष्ट कर्म और ज्ञान के संस्कारों के जागृत होने से चित्त एकाग्र और स्थिर होने लगता है।

प्रज्ञा—समाधिस्थ एकाग्र चित्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा (विवेक-ज्ञान) उत्पन्न होती है जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। इसके अभ्यास से पर-वैराग्य और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात-समाधि होती है।

विशेष विचार सूत्र २०:—कर्माशय चित्त भूमि में दो प्रकार से रहते हैं। एक प्रधान रूप से जिन्होंने जन्म, आयु और भोग का कार्य आरम्भ कर दिया है जिन्हें नियत विपाक तथा प्रारब्ध भी कहते हैं। दूसरे उपसर्जन रूप में रहते हैं जो प्रधान कर्माशयों के सन्मुख अपने कार्य को आरम्भ करने की सामर्थ्य न पाकर चित्त की निचिली भूमियों में छिपे हुए पड़े रहते हैं जिनको अनियत विपाक तथा संचित कर्म भी कहते हैं। क्रियमान कर्मों से जो कर्माशय बनते हैं उनमें से कुछ तो प्रधान रूप धारण करके प्रारब्ध के साथ मिल जाते हैं और कुछ उपसर्जन रूप से चित्त की निचिली भूमियों में संचित कर्माशयों के साथ मिल जाते हैं। यह संचित कर्माशय भी समय २ पर अपने किसी अभिव्यञ्जक को पाकर निचिली भूमियों से ऊपर आकर प्रधान रूप धारण करके प्रारब्ध बनते जाते हैं।

जन्म जन्मान्तरों में सञ्चित किये हुए योग के संस्कार व्युत्थान के प्रधान संस्कारों से दबे हुए चित्त की निचिली भूमि में सुप्त रूप से पड़े हुए श्रद्धा वीर्य द्वारा व्युत्थान के संस्कारों के दबने पर योग के संस्कारों को अभिव्यञ्जक (जगाने वाले) पाकर वेग के साथ जागृत होकर निचिली भूमियों से ऊपर आकर प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। यहां श्रद्धा वीर्य तो केवल निमित्त कारण हैं। उपादान कारण तो निचिली भूमियों में सञ्चित योग के संस्कार ही प्रकृति रूप हैं जैसा कि कैवल्य पाद सूत्र दो में बतलाया है।

"जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्"

एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों (उपादान कारणों) के भरने से होता है। श्रद्धा वीर्य केवल व्युथान के संस्कारों की रुकावट को हटाने में निमित्त होते हैं कहीं बाहर से योग के संस्कारों को नहीं भरते जैसे किसान पानी को रोकने वाली मेंड़ को केवल काट देता है मेड़ से बाहर रुका हुआ पानी स्वयं कियारी में आजाता है।

यथाः—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरण भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् (कै. पा. सू. ३)

धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता है किन्तु उससे रुकावट दूर हो जाती है जिस प्रकार जब किसान किसी खेत में पानी भरना चाहता है तो केवल पानी को रोकने वाली मेंड के कुछ अंश को काट देता है पानी स्वयं उसमें होकर खेत में भर जाता है॥

संगति—पूर्वोक्त श्रद्धा आदि उपाय पूर्वजन्मों के संस्कारों के बल से मृदु, मध्य, और अधिमात्र भेद से तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् किसी के मृदु (मन्द) उपाय होते हैं, किसी के मध्य (सामान्य) और किसी के अधिमात्र (तीव्र) उपाय होते हैं। इससे मृदु उपाय, मध्य उपाय और अधिमात्र उपाय, उपायभेद से तीन प्रकार के योगी होते हैं।

इन तीनों उपायभेद वाले योगियों में भी प्रत्येक संवेग अथवा वैराग्य के मृदु, मध्य, अधिमात्र (तीव्र) तीन प्रकार के भेद होने से तीन तीन प्रकार का होता है। अर्थात् मृदु

उपायवाला योगी कोई मृदु संवेगवाला, कोई मध्य संवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव्र) संवेगवाला, होता है। ऐसे ही अधिमात्र उपायवाला : कोई मृदु संवेगवाला, कोई मध्य संवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव्र) संवेगवाला होता है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि उपायों के तीन भेद तथा संवेग के तीन भेद होने से उपाय-प्रत्यय योगियों के नौ भेद होते हैं :—

(१) मृदु-उपाय मृदु सम्वेगवान; (२) मृदु-उपाय मध्य सम्वेगवान;
(३) मृदु-उपाय तीव्र सम्वेगवान, (४) मध्य-उपाय मृदु सम्वेगवान;
(५) मध्य उपाय मध्य सम्वेगवान; (६) मध्य-उपाय तीव्र सम्वेगवान;
(७) अधिमात्र उपाय मृदु सम्वेगवान, (८) अधिमात्र-उपाय मध्य सम्वेगवान;
(९) अधिमात्र-उपाय तीव्र सम्वेगवान।

इन नौ प्रकार के उपाय प्रत्यय योगियो में से उपाय की न्यूनाधिकता और वैराग्य की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से किसी को विलम्बतम (अत्यन्त विलम्ब से), किसी को शीघ्रतम समाधि का लाभ प्राप्त होता है।

उपरोक्त सब में अन्तिम योगियों को सर्वापेक्षया शीघ्रतम समाधि-लाभ प्राप्त होता है, उन्हीं का अगले सूत्र मे वर्णन करते हैं :—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—तीव्र-सम्वेगानाम् = तीव्र सम्वेगवान (अधिमात्र उपाय वाले योगियों को) समाधि-लाभ। आसन्नः = शीघ्रतम = निकटतम होता है।

अन्वयार्थ—तीव्र सम्वेग और अधिमात्र उपायवाले योगियों को समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है।

व्याख्या—इस सूत्र के आदि में भाष्यकारो ने 'अधिमात्रोपायानाम्' 'अधिमात्र उपायवालो को' इतना पाठ और सम्बद्ध किया है तथा 'समाधिलाभः समाधिफलं च भवति इति।' 'समाधि का लाभ और उसके फल का लाभ होता है'; यह शब्द सूत्र के शेष हैं। ये सूत्र के अन्त मे लगाना चाहिये।

इसलिये यह अर्थ हुए कि जिनका उपाय अधिमात्र है और जिनका सम्वेग तीव्र है उन उपाय-प्रत्यय योगियो को समाधि का लाभ तथा उसके फल का लाभ शीघ्रतम प्राप्त होता है। अर्थात् उपाय के अधिमात्र और सम्वेग के तीव्र होने के कारण उपरोक्त नौ प्रकार के उपाय-प्रत्यय योगियों मे से उनको शीघ्रतम अर्थात् सबसे अधिक शीघ्रता से समाधि तथा उसका फल कैवल्य का लाभ प्राप्त होता है।

इनकी अपेक्षा से अधिमात्र-उपाय मध्य सम्वेग वालो को कुछ विलम्ब से; और इनकी अपेक्षा अधिमात्र-उपाय मृदु सम्वेग वालों को उनसे अधिक विलम्ब से होगा।

इसी प्रकार जितनी-जितनी उपायों की और सम्वेग की न्यूनता होती है उतना-उतना विलम्ब से समाधि-लाभ होता है। और जितनी-जितनी उपायों की और संवेग की अधिकता होती है उतना-उतना शीघ्र समाधि-लाभ होता है।

टिप्पणी—वाचस्पति मिश्र ने सम्वेग के अर्थ वैराग्य किये हैं, किन्तु विज्ञानभिक्षु के योगवार्तिक तथा भोजवृत्ति में क्रम अनुसार इस प्रकार अर्थ हैं: 'सम्वेगः उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्' संवेग उपाय के अनुष्ठान में शीघ्रता को कहते हैं। 'सम्वेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः' क्रिया के करने में जो कारणरूप दृढ़तर संस्कार है वह संवेग कहलाता है।

संगति—तीव्र सम्वेग भी मृदु, मध्य, अधिमात्र—विशेषान्तर भेद से तीन प्रकार का होता है उनमें से अधिमात्र तीव्र वैराग्य वाले योगियों को शीघ्र समाधि का लाभ होता है। यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—मृदु-मध्य-अधिमात्रत्वात् = (तीव्र सम्वेग के भी) मृदु, मध्य, अधिमात्र ये तीन भेद होने से ततः = उस (मृदु तीव्र सम्वेग वालों के और मध्य तीव्र सम्वेग वालों के समाधि-लाभ) से। अपि = भी। विशेषः = (अधिमात्र तीव्र सम्वेग वालों को समाधि-लाभ में) विशेषता होती है।

अन्वयार्थ—मृदु, मध्य, अधिमात्र, ये तीन भेद होने से मृदु तीव्र सम्वेग वालों और मध्य तीव्र सम्वेग वालों के समाधि-लाभ से भी अधिमात्र तीव्र सम्वेग वालों को समाधिलाभ में विशेषता है।

व्याख्या—पूर्व सूत्र में जो तीव्र सम्वेग बतलाया हैं, उस तीव्र सम्वेग के भी मृदु, मध्य, अधिमात्र, ये तीन भेद हैं अर्थात् मृदु तीव्र सम्वेग, मध्य तीव्र सम्वेग और अधिमात्र तीव्र सम्वेग।

इस प्रकार यह तीव्र सम्वेग तीन प्रकार का हुआ। इससे अधिमात्र-उपाय मध्य सम्वेग वाले आठवें श्रेणी के योगियों की अपेक्षा से अधिमात्र-उपाय मृदु-तीव्र सम्वेग वाले योगियों को शीघ्र समाधि-लाभ होता है। और अधिमात्र-उपाय मध्य-तीव्र संवेग वाले योगियों को शीघ्रतर, और अधिमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र सम्वेग वाले योगियों को शीघ्रतम समाधि-लाभ प्राप्त होता है। इन अधिमात्रोपाय अधिमात्र-तीव्र सम्वेग वाले योगियों में पूर्वले दोनों योगियों से यह अत्यन्त शीघ्रता-रूप समाधि-लाभ में विशेषता है।

संगति—पूर्वोक्त अधिमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र सम्वेग से ही शीघ्रतम-समाधि का लाभ होता है, अथवा कोई और सुगम उपाय भी है—इस आशङ्का के निवारणार्थ सूत्रकार शीघ्रतम-समाधि का उपायान्तर बतलाते हैं:—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—ईश्वर-प्रणिधानात् = ईश्वर-प्रणिधान से। वा = अथवा (शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है)।

अन्वयार्थ—अथवा ईश्वर-प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'विशेषः' इस पद का पूर्व सूत्र से अनुवर्तन करने से आसन्नतम (शीघ्रतम) समाधि-लाभ होता है, यह अर्थ निकलते हैं।

पूर्वोक्त अधिमात्र-उपाय अधिमात्र तीव्र सम्वेग से शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है, अथवा सत्य-सङ्कल्प ईश्वर में भक्तिविशेष अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं को उसके आधीन तथा कर्मों और उनके फलों को उसके समर्पण करने और उसके गुणों तथा स्वरूप का चिन्तन करने से, उसके अनुग्रह से शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

साधनपाद सूत्र १ व ३२ में ईश्वर प्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्ति विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तः करण आदि सब करणों, उनसे होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यान्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है किन्तु विशेष रूप से यहाँ ईश्वर-प्रणिधान से जो सूत्रकार का अभिप्राय है वह अट्ठाईसवें सूत्र में कहेंगे।

संगति—जिसके प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि लाभ होता है उस ईश्वर का स्वरूप निरूपण करते हैं:—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ।

शब्दार्थ—क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः = क्लेश, कर्म उनके फल और वासनाओं से। अ-परामृष्टः = न स्पर्श किया हुआ = सम्बन्ध-रहित = असम्बद्ध। पुरुष-विशेषः = अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न, उत्कृष्ट) चेतन। ईश्वरः = ईश्वर है।

अन्वयार्थ—क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और वासनाओं से असम्बद्ध, अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

व्याख्या—क्लेशः 'क्लिश्नन्तीति क्लेशाः' जो दुःख देते हैं वे क्लेश कहलाते हैं। वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-सञ्ज्ञक पाँच प्रकार के हैं जिनका स्वरूप सूत्र (२।३) में बतलाया जायगा।

कर्मः इन क्लेशों से धर्म-अधर्म अर्थात् शुभ-अशुभ और इनमें मिश्रित, ये तीन प्रकार के कर्म (४।७) उत्पन्न होते हैं। वेदों में विधान किये हुए सब प्राणियों की कल्याण की भावना से किये हुए (सकाम) कर्म, धर्म और वेदों में निषेध किये हुए हिंसात्मक कर्म अधर्म हैं।

विपाकः 'विपच्यन्त इति विपाकाः' जो परिपक्व हो जाते हैं वे विपाक कहलाते हैं अर्थात् उन सकाम कर्मों के फल सुख-दुःखरूप जाति, आयु और भोग जिनका सूत्र (२।१३) में वर्णन किया जावेगा; विपाक कहलाते हैं।

आशयः 'आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः' फल पकने तक जो चित्तभूमि में पड़ी हुई सोती हैं वे वासना 'आशय' कहलाती हैं। अर्थात् जो कर्म अभी तक पककर जाति, आयु और भोगरूप फल नहीं दे पाये हैं उन कर्मफलों के वासना-रूप जो संस्कार चित्तभूमि में पड़े हुए हैं वे आशय कहलाते हैं (४।८)।

उपरोक्त क्लेश-कर्म आदि चारों से जो तीन काल में लेश-मात्र भी सम्बद्ध नहीं है वह अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर कहलाता है।

ईश्वर के अर्थ हैं: 'ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः' ईशनशील अर्थात् इच्छामात्र से सम्पूर्ण जगत् के उद्धार करने में समर्थ।

शंका—क्लेश, कर्म, विपाकादि तो चित्त के धर्म हैं, पुरुष तो ईश्वर के समान सदा असङ्ग और निर्लेप है, इसलिये ईश्वर में अन्य पुरुषों से क्लेशादि धर्म से रहित होने की विशेषता अयुक्त है।

समाधान—यद्यपि सभी पुरुषों में वास्तविक क्लेशादि नहीं हैं तथापि चित्त में रहने वाले क्लेशादिकों का पुरुष के साथ औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् चित्त में रहने वाले क्लेशादि पुरुष में अविवेक से आरोप कर लिये जाते हैं। जैसे योद्धाओं में (लड़ने वालों में) जीत हार होती है, पर वह स्वामी की कही जाती है अर्थात् जैसे राजा और सेना का परस्पर स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध होने से सेना-कर्तृक (सेना से की हुई) जयपराजय का स्वामिभूत राजा में व्यवहार होता है; क्योंकि वह उसके फल का भोक्ता है। इसी प्रकार चित्त और पुरुष का भी परस्पर स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध होने से चित्त में वर्तमान क्लेशादिकों का ही पुरुष में व्यवहार होता है, क्योंकि वह उसके फल का भोक्ता है। जैसा कठोपनिषद् (३।३) में कहा है:—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

अर्थ—ज्ञानी-लोग इन्द्रिय, मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं (इन्द्रियादि से जो युक्त नहीं है वह भोक्ता नहीं है)।

किन्तु यह अविवेक-प्रयुक्त औपाधिक क्लेशों का सम्बन्ध विवेक-शील ईश्वर में सम्भावित नहीं है। यह औपाधिक भोग के सम्बन्ध का न होना ही ईश्वर में अन्य पुरुषों से विशेषता है। अर्थात् पुरुष के चित्त के साथ एकरूपता-पन सम्बन्ध से जो चित्त के पुरुष में औपाधिक धर्म आरोप किये जाते हैं उन धर्मों से असम्बद्ध जो विशुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान चित्तोपाधिक नित्य ज्ञान ऐश्वर्यादि धर्म विशिष्ट सत्य-काम, सत्य-संकल्प चेतन है वह ईश्वर पद का वाच्य है। वह अन्य पुरुषों से विशेष है।

शंका—यदि क्लेशादि से असम्बद्ध होना ही ईश्वर में विशेषता है तो मुक्त पुरुष तथा प्रकृतिलय आदि भी ईश्वर पद का वाच्य हो सकते हैं, क्योंकि क्लेश से तो उनका भी सम्पर्क नहीं होता है।

समाधान—प्रकृतिलय और विदेह योगियों को प्राकृत-बन्ध होता है, तथा अपनी अवधि के अनन्तर संसार में आने से भावी क्लेशों से सम्बन्ध होता है। विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न दिव्य-अदिव्य विषयों के भोक्ता देव, मनुष्यादिकों को क्रमशः दाक्षिणिक और वैकारिक बन्ध होता है। यद्यपि इन तीनों बन्धों को काटकर कैवल्य को प्राप्त हुए पुरुष भी मुक्त ही कहलाते (वास्तव में तो मुक्ति और बन्धन दोनों अन्तःकरण के ही धर्म हैं पुरुष उसका द्रष्टा है इस लिये उस में आरोपित कर लिये जाते हैं) हैं तथापि वे सदा मुक्त नहीं हैं क्योंकि क्लेश-युक्त होकर ही योग-साधन के अनुष्ठान द्वारा ही क्लेशों के बन्धन से मुक्त हुए हैं,

किन्तु ईश्वर सर्वदा क्लेशों से अपरामृष्ट होने से सदा ही मुक्त है। यह सदा मुक्तस्वरूपता ईश्वर में मुक्त पुरुषों तथा प्रकृतिलयों से विशेषता है।

शंका—ज्ञानस्वरूप ऐश्वर्य तथा पुरुषों के उद्धार का सत्यसंकल्प रूप ऐश्वर्य का परिणाम अपरिणामी पुरुष में होना असम्भव है। और यदि यह धर्म चित्त का माना जावे तो सदा मुक्त ईश्वर का चित्त के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अविद्या से होता है। इस प्रकार सदा मुक्त पुरुष विशेष में स्वाभाविक ऐश्वर्य के अभाव से और चित्त में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध के असम्भव होने से ईश्वर को सदा मुक्त पुरुष-विशेष नहीं कहा जा सकता।

समाधान—यद्यपि अपरिणामी चेतनभूत ईश्वर में इन ऐश्वर्यों का परिणाम होना असम्भव है क्योंकि यह रजस-तमस रहित विशुद्ध चित्त का धर्म है और चित्त के साथ नित्यमुक्त ईश्वर का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध असम्भव है तथापि जैसे अन्य पुरुषों का अविद्या-प्रयुक्त चित्त के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है वैसे ईश्वर के साथ अविद्या प्रयुक्त नहीं है। किन्तु वह चित्त के स्वभाव को जानता हुआ तीनों तापों से दुःखित संसार सागर में पड़े हुए जीवों का ज्ञान, धर्म, उपदेश द्वारा उद्धारार्थ विशुद्ध सत्त्व रूप न कि अज्ञान-प्रयुक्त चित्त को धारण किये हुए है। इसी प्रकार अज्ञान-पूर्वक सङ्ग वाले चित्त में परिणाम होती है। नित्य विशुद्ध सत्त्व रूप चित्त में नित्य-ज्ञान वा प्रेरणा का होना परिणाम रूप नहीं है अविद्या के सम्बन्ध से रहित ईश्वर चित्त के स्वरूप को जानता हुआ पुरुष के भोग, अपवर्ग और धर्म-ज्ञान के उपदेश के लिये विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त के धारण करने से भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। ईश्वरविशुद्ध सत्त्वरूप चित्त द्वारा जीवों के कल्याणार्थ संसार की रचना करने में भ्रान्त नहीं किन्तु ज्ञानमय ही है।

ईश्वर की इच्छामात्र से सब जगत् का उद्धार-रूप ऐश्वर्य अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त के योग से है और विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त का योग उत्कृष्ट ज्ञान से है। विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त हो तो उत्कृष्ट ज्ञान हो, और उत्कृष्ट ज्ञान हो तो विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त हो। ऐसे अन्योन्याश्रय (एक-दूसरे का सहारा लेना) रूप दोष यहाँ नहीं है क्योंकि यह दोनों ही ईश्वर में अनादि हैं। इन दोनों में कोई किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। जहाँ अपेक्षा होती है वहाँ यह दोष होता है। ईश्वर का उस विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त के साथ अनादि सम्बन्ध है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग-विभाग अर्थात् पुरुष के भोग-अपवर्ग अर्थ सृष्टि, उत्पत्ति व प्रलय बिना ईश्वर-इच्छा (सत्य-संकल्प) के नहीं हो सकती।

भाव यह है कि यद्यपि धर्म, ज्ञान, उपदेश द्वारा पुरुषों के उद्धार करने की इच्छा होने से ईश्वर विशुद्ध सत्त्व-स्वरूप चित्तरूप उपाधि को धारण किये हुए है और इस उपाधि के धारण से पूर्वोक्त इच्छा (सत्य-संकल्प) होती है। अर्थात् उद्धार की इच्छा होने से ईश्वर को चित्त का ग्रहण करना; और चित्त के ग्रहण होने से उद्धार की इच्छा का होना; इस प्रकार परस्पर की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष आता है तथापि बीज-अङ्कुर के समान संसार के अनादि होने से इस दोष की निवृत्ति हो जाती है।

जिस प्रकार अन्य पुरुषों का चित्त पुरुष से प्रतिबिम्बित हुआ सुख, दुःख, मोह (अविद्या) रूप से परिणत होता है और योगियों का चित्त पुरुष से प्रतिबिम्बित हुआ निर्मल सात्त्विक ज्ञान से परिणाम को प्राप्त होता है; और उनकी ही उपाधि से पुरुष में सुख, दुःख और मोह-ग्रस्त होना तथा निर्मल सात्त्विक ज्ञान से युक्त होना आरोप किया जाता है वैसा ईश्वर, का विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त नहीं है। वह केवल सात्त्विक परिणाम, उत्कर्ष (ऐश्वर्यावधि) वाला है यह उसमें अन्य पुरुषों से विलक्षणता है।

उस विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त में निरतिशय ऐश्वर्य-रूप उत्कृष्टता और वेद विद्यमान रहते हैं। उस विद्यमान उत्कृष्टता और वेदों का वाच्य-वाचक-भाव अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् ईश्वर के चित्त में अनादि उत्कृष्टता विद्यमान है और उसी चित्त उसमें उत्कृष्टता के वाचक वेद भी रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ऐश्वर्य वाला और सदा ही मुक्त है।

शंका—यह जो ईश्वर में विशुद्ध सत्त्वमय चित्त के ग्रहण द्वारा सर्वोत्कृष्टता बतलाई है, क्या वह उत्कृष्टता सनिमित्त (किसी शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध) है वा निष्प्रमाणक है ? यदि श्रुति-स्मृति को उसमें प्रमाण माना जावे तो श्रुति-स्मृति में क्या प्रमाण है ?

समाधान—सर्वज्ञ ईश्वर के स्वाभाविक ज्ञानरूप वेद ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाण हैं; और अन्य प्रमाण द्वारा ईश्वर के निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ सिद्ध होने से ईश्वरीय ज्ञान वेद की प्रमाणिता स्वतः सिद्ध है।

यह सर्वज्ञतादि रूप धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त में विद्यमान हैं और इन दोनों का परस्पर अनादि निमित्त-नैमित्तिक भाव सम्बन्ध है अर्थात् ईश्वर के चित्त में वर्तमान विशुद्ध सत्त्व का प्रकर्ष निमित्त कारण है और वेद उसका आविर्भूत है। इस उत्कृष्टता से ही ईश्वर नित्य-मुक्त और नित्य-ऐश्वर्यशाली कहा जाता है।

शंका—यदि ईश्वर को न मानकर केवल प्रधान (मूल-प्रकृति) को ही पुरुष के भोग-अपवर्ग प्रयोजन के सम्पादनार्थ संसार-रचना में प्रवृत्तमान लें तो क्या दोष होगा ?

समाधान—ईश्वर रूप प्रेरक न मानकर केवल जड़-प्रधान को संसार की रचना में प्रवृत्त मानने में यह दोष होगा कि जड़ पदार्थ बिना चेतन की प्रेरणा के अपने कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है, जैसे कि सारथी के बिना रथ नहीं चल सकता। इसलिये विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्य-ज्ञान-क्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वर को मानना ही पड़ेगा। ऐसा ही उपनिषदों में बतलाया है:—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर-उपनिषद्)

अर्थ—माया प्रपञ्च (संसार) का उपादान कारण है और माया का स्वामी प्रेरक परमेश्वर निमित्त कारण है।

अन्य कल्पनाओं का निम्न प्रकार समाधान समझ लेना चाहिये—

ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। यदि एक-से अनेक हों और उनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न हों तो कोई कार्य नहीं चल सकेगा अर्थात् एक चाहे सृष्टि हो और दूसरा चाहे सृष्टि न हो, ऐसी दशा में कुछ भी न हो सकेगा।

यदि ईश्वरों को अनेक मानकर छोटा-बड़ा मानें तो जो बड़ा है वही ईश्वर है, क्योंकि वहीं ऐश्वर्य की पराकाष्ठा (अवधि) को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये जिसमें ज्ञान और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है और जो क्लेश कर्म आदिकों से सदा रहित है वह सदा मुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ पुरुष-विशेष ईश्वर है।

विशेष विचार सूत्र २४—सूत्र चौबीस का सारांश : ईश्वर में अन्य पुरुषों से यह विशेषता है कि वह तीनों काल में क्लेशादि के सम्बन्ध से रहित है।

यद्यपि क्लेशादि चित्त के धर्म हैं न कि असङ्ग, निर्लेप पुरुष के, तथापि चित्त में रहने वाले इन क्लेशों का पुरुष में औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् पुरुष में अविवेक से आरोप कर लिये जाते हैं क्योंकि पुरुष ही इनका भोक्ता है। किन्तु ईश्वर में इन औपाधिक क्लेशों का भी सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर में मुक्त पुरुषों से यह विशेषता है कि वे क्लेश युक्त होकर साधन के अनुष्ठान द्वारा मुक्त हुए हैं, ईश्वर तीनों काल में मुक्त है। ईश्वर के अर्थ हैं : ईशनशील अर्थात् इच्छामात्र (संकल्पमात्र) से सम्पूर्ण जगत् के उद्धार करने में समर्थ।

यह जगत् के उद्धार का ऐश्वर्य अनादि है और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त के अनादि योग से है, और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त का अनादि उत्कृष्ट ज्ञान से अनादि योग है।

इस प्रकार विशुद्ध सत्त्वचित्त के साथ जगत् के उद्धार का ऐश्वर्य तथा उत्कृष्ट ज्ञान के ऐश्वर्य का अनादि योग होने से यह दोनों ऐश्वर्य इसमें परिणाम-रूप नहीं हैं। अन्य चित्तों से इस विशुद्ध सत्त्वचित्त में यह विलक्षणता है कि यह चित्त अन्य चित्तों जैसा न तो गुणों का नियम परिणाम है, और न इसमें कोई विसदृश परिणाम होता है। यह चित्त विशुद्ध अर्थात् रजस्-तमस-शून्य सत्त्व है। इसी सत्त्व के सम्बन्ध से ईश्वर में नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा, नित्य क्रिया रहती है। 'तीनों तापों से दुःखित संसार सागर में पड़े हुए जीवों का उद्धार ज्ञान और धर्म के उपदेश से करूँ' इस प्रकार की इच्छा (सत्य-संकल्प) ईश्वर में सर्वदा रहती है। उपनिषदों में भी ऐसा ही कहा गया है :—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

अर्थ—न उसका (मनुष्य-जैसा) कोई देह है, न इन्द्रियें हैं, न उसके कोई बराबर है, न उससे कोई बड़ा है। उसकी उत्कृष्ट शक्ति अनेक प्रकार की अनादि से सुनी जाती है, और उसका ज्ञान, बल और क्रिया यह तीनों स्वाभाविक और नित्य हैं।

संगति—अब अगले सूत्र में ईश्वर की सर्वज्ञता अनुमान-प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं:—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उस पूर्वोक्त ईश्वर में। निरतिशयम् = अतिशय-रहित। सर्वज्ञ-बीजम् = सर्वज्ञता का बीज है।

अन्वयार्थ—उस पूर्वोक्त ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

व्याख्या—अतीत, अनागत और वर्तमान जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उनमें किसी एक या बहुत-से पदार्थों का जो संयमजय से (सत्त्वगुण के न्यूनाधिक होने से) अल्प वा अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वज्ञता का बीज है। संयमजय अर्थात् सत्त्वगुण की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से कोई योगी किञ्चित् ही अतीन्द्रिय वस्तु को प्रत्यक्ष कर सकता है, कोई बहुत अतीन्द्रिय वस्तु को प्रत्यक्ष कर सकता है। इस प्रकार ज्ञेय-वस्तुओं की अपेक्षा से प्रत्यक्ष ज्ञान अल्प वा बहुत कहा जाता है। प्रथम संयम के जय से योगी का जो एक वा बहुत अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह सातिशय ज्ञान है। वह सर्वज्ञता का बीजरूप सातिशय ज्ञान वृद्धि को प्राप्त होते होते जहाँ निरतिशय हो जावे वह सर्वज्ञ है।

जो वस्तु किसी की अपेक्षा से न्यून वा अधिक हो वह सातिशय कही जाती है। और जो काष्ठा (सीमा) को प्राप्त हुई कहीं विश्रान्त हो जावे वह निरतिशय कही जाती है।

जिस ज्ञान के बराबर अथवा अधिक ज्ञान हो उसको सातिशय ज्ञान; और जिसके बराबर अथवा अधिक ज्ञान न हो अर्थात् जो काष्ठा को प्राप्त हो जावे उसको निरतिशय ज्ञान कहते हैं।

यह प्रथम संयमजय से उत्पन्न हुआ जो योगियों में सर्वज्ञता का बीजरूप सातिशय ज्ञान है वह सातिशय होने से वृद्धि को प्राप्त होते-होते काष्ठा को प्राप्त होकर एक सीमा पर पहुँच कर निरतिशय हो जावेगा; क्योंकि जो पदार्थ न्यूनाधिक-रूप (कम-ज्यादा-पन) धर्म विशिष्ट होने से सातिशय होता है वह अवश्य ही कहीं काष्ठा को प्राप्त होकर निरतिशय हो जाता है। जैसा कि अणु (छोटा) परिमाण परमाणुओं में, और महत् (वृहत् अर्थात् बड़ा) परिमाण आकाश में काष्ठा (अन्तिम सीमा) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अणु परिमाण की विश्रान्ति परमाणु में; और महत् परिमाण की विश्रान्ति आकाश में है, क्योंकि परमाणु से अधिक कोई छोटा नहीं है और आकाश से अधिक कोई वृहत् (बड़ा) नहीं है। ऐसे ही सर्वज्ञता का बीजरूप अतीन्द्रिय वस्तुविषयक योगी का ज्ञान सातिशय है, क्योंकि उस योगी के ज्ञान से किसी दूसरे योगी का ज्ञान अधिक होता है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते जहाँ परम-काष्ठा को प्राप्त होकर यह निरतिशय ज्ञान हो जावे वही सर्वज्ञ, सदामुक्त ईश्वर है।

जिस प्रकार ज्ञान की काष्ठा का आधार ईश्वर बतलाया है इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री, प्रभृति और सम्पत्ति की काष्ठा का भी आधार ईश्वर को जानना चाहिये।

भाष्यकार लिखते हैं कि यह सामान्य दृष्टि से अनुमान द्वारा ईश्वर के सर्वज्ञ होने का समाधान है। यह विशेष-प्राप्ति में समर्थ नहीं है। उसके नाम, महिमा, प्रभाव आदि की विशेष प्राप्ति वेदों में खोजनी चाहिये। संसार की रचना में ईश्वर का कोई अपना अनुग्रह नहीं है। इसमें जीवों का भोग-अपवर्ग-रूप अनुग्रह करना ही प्रयोजन है। इस दयालुता ही के कारण 'ज्ञान और धर्मोपदेश द्वारा सांसारिक पुरुषों का मैं उद्धार करूँगा' इस भाव से कल्प-प्रलय और महाप्रलय के पीछे सृष्टि के आरम्भ में वेदों का उपदेश करता है।

जैसे कपिल मुनि ने योगबल से निर्माण किये हुए चित्त को (अपने संकल्प से रचे हुए, न कि कर्मों से विवश मिले हुए) को आश्रयण कर बिना किसी अपने प्रयोजन के केवल सृष्टि के अनुग्रह के लिये उनके कल्याणार्थ करुणा करके जिज्ञासु आसुरि ब्राह्मण को समाधि द्वारा अनुभव करके पच्चीस तत्त्ववाले तत्त्व-समास रूपी सांख्य-दर्शन का उपदेश दिया। ❀

संगति—पूर्व सूत्रोक्त अनुमान द्वारा ब्रह्मा आदि ही निरतिशय ज्ञान का आधार क्यों नहीं होते ? इस आशंका के निवारणार्थ अगले सूत्र में ब्रह्मादिकों से भी ईश्वर में विशेषता बतलाते हैं:—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—पूर्वेषाम - पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादिकों का। अपि = भी। गुरुः = (वह ईश्वर) उपदेष्टा है। कालेन-अनवच्छेदात् = क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

अन्वयार्थ—वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

व्याख्या—गुरु, उपदेष्टा का और पूज्य का नाम है।

कालेन अवच्छिन्न = काल से परिच्छिन्न अर्थात् जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो।

❀ टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषानुवाद सूत्र २५:—उस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज (सर्वज्ञता का कारण होने से बीज के सदृश बीज अर्थात् कारण) भूत, भविष्यत, वर्तमान पदार्थों के ज्ञान का अल्पत्व, महत्त्व, निरतिशय है अर्थात् अवधि को प्राप्त हो गया है। जो सातिशय अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्म हैं; उनकी अवधि देखी गई है, जैसे परमाणुओं में अल्पत्व की; और आकाश में महत्त्व की, ऐसे ही उच्च, नीच भाव में देखे हुए ज्ञान आदि चित्त के धर्म कहीं निरतिशय होते हैं। जिसमें वे निरतिशय हैं वह ईश्वर है। यद्यपि इससे यह बोध नहीं होता कि जिसमें वे निरतिशय हैं वह ईश्वर ही क्यों है, कोई अन्य क्यों नहीं; तथापि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य आदि के प्रमाण से ईश्वर के ही सर्वज्ञत्वादि धर्म जानने चाहिए। ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं, तो वह जीव और प्रकृति का क्यों संयोग-वियोग करता है ? यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दयालु होने से प्राणियों के ऊपर दया करना ही उसका प्रयोजन है। यह ईश्वर का अध्यवसाय (इच्छा-विशेष) है कि 'कल्पों के प्रलय और महाप्रलयों में सब प्राणियों का उद्धार करूँ।' जो जिसको इष्ट है वही उसका प्रयोजन है।

अतः कालेन अनवच्छिन्न (काल से अपरिच्छिन्न) के अर्थ सर्व काल में विद्यमान के हैं।

जैसे ब्रह्मादि सृष्टि से पूर्व और महाप्रलय के अनन्तर उत्पत्ति, विनाशशील होने से काल-परिच्छिन्न हैं वैसे ईश्वर नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा विद्यमान होने से काल की परिच्छिन्नता से रहित है। इसलिये ब्रह्मादिकों को ज्ञान प्रदान करने से ईश्वर उन सब का गुरु, और उपदेष्टा है।

जैसे वर्तमान सर्ग के आदि में ईश्वर ज्ञान-ऐश्वर्य-युक्त सिद्ध है वैसे ही पूर्व सर्गों के आदि में भी इसी प्रकार विद्यमान होने से ईश्वर ही अनादि, सर्वज्ञ, निरतिशय, ज्ञान का आधार है, ब्रह्मादि नहीं हैं। जैसा यजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् में बतलाया गया है:—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (६।१८)

अर्थ—जिस ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न किया और जिसने ब्रह्मा के हृदय में स्वर, पाठ और रहस्य अर्थ सहित वेद-ज्ञान का प्रकाश किया, उस आत्मदेव की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ।

विशेष वक्तव्य—इस सूत्र में ईश्वर को काल की सीमा से परे गुरुओं का गुरु बतलाया गया है। राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक आदि भावनाओं में भेदभाव तथा स्वार्थ सिद्धि की सम्भावना रहती है। माता पिता का भी पुत्र के प्रति मोह हो सकता है, किन्तु गुरु शिष्य का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक है, जिसमें केवल ज्ञान प्राप्ति और आत्म उन्नति का ही उद्देश्य होता है इसलिये सूत्र में ईश्वर को गुरुओं के गुरु की भावना से उपासना बतलाई गई है।

योग मार्ग में गुरुओं का शिष्यों से अपनी शकल या अपनी मूर्त्ति का ध्यान करवाना ठीक नहीं है। वास्तविक गुरु होने का अधिकारी वही हो सकता है जो गुरुओं के गुरु ईश्वर तक पहुँचावे और उसका ही प्रणिधान अर्थात् उसके ही सब कुछ समर्पण करना सिखलावे।

साधकों को अपने इस आध्यात्मिक मार्ग में सच्चे पथदर्शक की खोज करने में पूरा सचेत रहना चाहिये। योग मार्ग में पथदर्शक का अनुभवी होना तो आवश्यक है ही, किन्तु निम्न विशेषताओं पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। पथदर्शक किसी विशेष शक्ति अथवा किसी विशेष देवी देवता के संकीर्ण उपासना भाव से परे होकर केवल एक सर्वज्ञ सर्व व्यापक सर्व शक्तिमान् परमगुरु परमेश्वर का उपासक हो। जन्म से जात पात मतमतान्तरों की संकीर्णता तथा साम्प्रदायिक पक्षपात से परे होकर प्राणिमात्र में एक ही शुद्ध चेतन परमात्म-तत्त्व को देखता हुआ सभी का शुभचिन्तक हो, जो साधकों के केवल गुण कर्म स्वभाव और सात्त्विक संस्कारों पर दृष्टि डालता हुआ उनको उनके अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचाने में प्रयत्नशील हो। साधकों से धन, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा आदि का इच्छुक न हो अथवा जो केवल अपने सम्प्रदाय के फैलाने तथा शिष्य मण्डली के बढ़ने का इच्छुक न हो अपितु निःस्वार्थ भाव से बिना किसी वैयक्तिक लगाव के समदृष्टि से सभी को आत्म उन्नति में सहायता देने में तत्पर हो। जो दुनियां के रागद्वेष आदि सारे पक्षों तथा पाखण्डों और

बनावट से परे होकर निरभिमान निरहङ्कारता के साथ आत्मचिन्तन में रत हो। पथदर्शक पर इस प्रकार दृष्टि डालने से पूर्व साधकों को स्वयं अपने अन्दर देखना चाहिये। क्या हमारी जिज्ञासा सच्ची और वैराग्य तीव्र है? क्या हम सांसारिक कामनाओं, धन सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा अथवा अन्य किसी प्रकार की स्वार्थ दृष्टि से इस मार्ग में प्रवेश नहीं कर रहे हैं? क्या हमारा प्राणीमात्र के प्रति स्वात्म जैसा प्रेम भाव है? क्या हम जन्म से जातपात मत मतान्तर और साम्प्रदायिक संकीर्णता के कूप मण्डूक तो नहीं हैं? क्या हम अपने पथदर्शक को धोका तो नहीं दे रहे हैं? क्या हम तपस्वी जीवन बिताने और पथदर्शक की सच्ची और हितकारी शिक्षा को ग्रहण करने और पालन करने के लिये तैयार हैं? इत्यादि।

संगति—इस प्रकार ईश्वर का निरूपण करके अब उसका प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिये; यह बतलाने के लिये उसका वाचक (नाम) अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तस्य = उस ईश्वर का। वाचकः = बोधक शब्द (नाम)। प्रणवः = ओ३म् है।

अन्वयार्थ—उस ईश्वर का बोधक शब्द ओ३म् है।

व्याख्या—जिस अर्थ का बोधक जो शब्द होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है; और जिस वाचक शब्द से जो बोध्य अर्थ होता है वह अर्थ उस शब्द का वाच्य कहलाता है। जैसे गौ (गाय) शब्द वाचक है और सास्ना (गौओं के गले में कम्बल-सा लटका हुआ मांस) पुच्छ आदि वाला पशु विशेष वाच्य है। वाचक, बोधक, अभिधायक, संज्ञा नाम एकार्थक हैं। इसी प्रकार वाच्य, बोध्य, अभिधेय, संज्ञी, नामी भी समानार्थक हैं।

प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति, नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः। (भोजवृत्ति)

अर्थ—नम्रता से स्तुति की जाय जिसके द्वारा अथवा भक्त जिसकी उत्तमता से स्तुति करता है वह 'प्रणव' कहलाता है वह 'ओ३म्' ही है।

इस ओ३म् का और ईश्वर का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् निरतिशयज्ञान-क्रिया की शक्तिरूप ऐश्वर्यवाला व्यापक ईश्वर-वाच्य है, अभिधेय है और ओ३म् वाचक, बोधक और अभिधायक है।

भाष्यकार इस सम्बन्ध को प्रश्नोत्तर द्वारा नित्य सिद्ध करते हैं। यथा:—

प्रश्न—क्या यह ईश्वर और प्रणव का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध संकेत-कृत (संकेत-जन्य) है? या दीपक-प्रकाशवत् संकेतद्योत्य अर्थात् दीपक के प्रकाश के सदृश विद्यमान ही संकेत से ज्ञात कराया हुआ है?

यदि संकेत से वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध की उत्पत्ति मानी जावेगी तब जन्य (उत्पत्तिवाला) होने से सम्बन्ध अनित्य कहा जावेगा; और यदि संकेत से उत्पन्न नहीं होता किन्तु ज्ञात कराया जाता है, इस प्रकार संकेत को द्योतक (ज्ञान कराने वाला) माना जावे तो सम्बन्ध नित्य कहा जावेगा। इन दोनों में से कौनसा मत सम्मत है? प्रश्न का यह भाव है।

उत्तर—यह ईश्वर और ओ३म् का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नित्य है। केवल वर्णों के संकेत से प्रकाशित-मात्र होता है, नया उत्पन्न नहीं होता है। जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध विद्यमान ही होता है, उसे कोई नया कल्पित नहीं करता किन्तु केवल बतलाया जाता है कि 'यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है'।

भाव यह है कि जैसे पिता-पुत्र का परस्पर जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध विद्यमान हुआ ही 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है' इस प्रकार संकेत से प्रकाश किया जाता है—ऐसा नहीं है कि उस संकेत से ही वह पिता और वह पुत्र हुआ हो—वैसे ही ईश्वर कृत संकेत भी विद्यमान शब्द-अर्थ सम्बन्ध को प्रकाश करता है, उत्पन्न नहीं करता।

इसी प्रकार सर्वत्र ही संकेत विद्यमान सम्बन्ध का प्रकाशक है, जनक नहीं है। यह संकेत जैसे इस सर्ग में है वैसे ही अन्य सर्गों में भी वाच्य-वाचक शक्ति की अपेक्षा से विद्यमान ही रहता है। अतः पूर्व पूर्व सम्बन्ध के अनुसार उत्तर-उत्तर सर्ग में ईश्वर संकेत करता है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र २७:—सूत्र की व्याख्या में वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव में अनादि सम्बन्ध दिखलाया गया है। शास्त्रों में कहीं २ ऐसा वर्णन आया है कि प्रणव-ध्वनि केवल ध्यान द्वारा अनुभव करने योग्य है। उसका यथार्थ में मुख से उच्चारण होना असम्भव है, तथापि गौण रूपेण जो प्रणव-मन्त्र उच्चारण किया जाता है वह त्रि-अक्षरमय है अर्थात् अ, उ और म् ओंकार रूपी प्रणव होता है। जिसके तीनों अक्षरों में त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः अपने तीनों गुणों, तमस, रजस् और सत्त्व, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत् सहित तथा सर्व शक्तिमान् परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर रूप से अथवा सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की अपेक्षा से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप से विद्यमान हैं। और प्रणव ही ईश्वर रूप है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रणव का स्वरूप यह है कि जहाँ कोई कार्य है वहाँ अवश्य कम्पन होगा और जहाँ कम्पन होगा वहाँ अवश्य कोई शब्द होगा। सृष्टि के आदि कारण रूप कार्य की ध्वनि ही ओंकार है। प्रणव ध्वनि ही ओंकार है। प्रणव-ध्वनि रूप ध्वन्यात्मक शब्द का रूप वर्णात्मक प्रति शब्द होने के कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर सम्बन्ध से ईश्वर वाचक होकर प्रणव कहलाते हैं। प्रणव ध्वन्यात्मक होने के कारण उसका कोई भी अङ्ग मुख से उच्चारण करने योग्य नहीं है। किन्तु मानसिक जाप से परे केवल ध्वनि की अवस्था में अन्तः करण में ही प्रणव ध्वनि सुनाई देसकती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृति के आदि शब्द ईश्वर वाचक प्रणव का वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासना काण्ड की सिद्धि के लिये बताया गया है। उसी वर्णात्मक प्रणव प्रतिशब्द को ओंकार कहते हैं। यह ओंकार अर्थात् वर्णात्मक प्रणव अ, उ, म् के सम्बन्ध से कहा गया है। इस वाचक प्रणव और वाच्य ईश्वर में अनादि और अविमिश्र (नित्य) सम्बन्ध है। इस वाचक अर्थात् वर्णात्मक प्रणव के मानसिक जाप की परिपक्व अवस्था के पश्चात् योगी केवल ध्यान रूप ध्वन्यात्मक प्रणव की भूमि में पहुँच जाता है। उस पर पूर्ण अधिकार की प्राप्ति असम्प्रज्ञात समाधि के प्राप्त करने में सहायक होती है।

यह २८ वें सूत्र के वि० व० में बतलाया जावेगा। योग मार्ग पर चलने वालों को उचित है कि 'ओम्' नाम से ही ईश्वर की उपासना करें क्योंकि यही उसका मुख्य अनादि और नित्य नाम व्यापक अर्थ वाला है अन्य सब गौण और संकीर्ण अर्थ वाले हैं। सारी श्रुतियें और स्मृतियें इसी 'ओम्' का मुख्य रूप से वर्णन कर रही हैं। यथाः—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मु० ।२।४)

अर्थ—प्रणव ('ओम्') धनुष है। आत्मा बाण है। ब्रह्म वह लक्ष्य कहा गया है। सावधानी से उसे बीन्धना चाहिये। बाण के सदृश (अभ्यासी अपने लक्ष्य ब्रह्म में) तन्मय होजावे।

वन्हे र्यथा योनि गतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्ग नाशः।
स भूय एवेन्धनयोनि-गृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्यान निर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ (श्वे० उप०)

जैसा कि अरणि में स्थित भी अग्नि की मूर्ति नहीं दीखती है और नहीं उसके सूक्ष्म रूप (जो अरणि के अन्दर उस समय भी है) का नाश है, वह (अरणिगत अग्नि) फिर २ अधरारणि उत्तरारणियों में और (मंथन दण्ड के रगड़ने से) ग्रहण की जाती है, इन दोनों बातों के सदृश आत्मा ओंकार के देह में (ध्यान से पहले छिपा हुआ ध्यानाभ्यास से ग्रहण किया जाता है) । १३। अपने देह को अधरारणि, और ओम् को उत्तरारणि बनाकर, ध्यान रूपी मंथन = दण्ड की रगड़ के बार बार करने से छिपी हुई आग के सदृश उस परम ज्योति को देखे। १४।

यदा वा ऋचामाप्नोत्योमित्येवातिस्वरति। एवं सामैवं यजुः। एष उ स्वरो यदेतदक्षरमे-तदमृतमभयं। तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्। (छा०।१।४।४)

अर्थ—जब उपासक ऋग्वेद को पढ़ाता है ऊँचे स्वर से ओम् बोलता है। इसी प्रकार साम और इसी प्रकार यजु को। यही ओम् शब्द स्वर है। यह अक्षर, यह अमृत और अभय है। जो उपासक ऐसा जानकर ओम् की स्तुति करता है वह उस स्वर में प्रवेश करता है जो अक्षर, अमृत और अभय है। और जैसे देव उसमें प्रवेश होकर अमर हो गये वैसे ही अमर हो जाता है।

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनु कृतिर्ह स्म वै अप्योश्रा-वयेत्या श्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्र-

मनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति । (तै० शि० ८)

अर्थ—ओम् यह ब्रह्म है। ओम् यह सब कुछ है। ओम् यह आज्ञा मानना है। ओम् अंगीकार का वाचक है। ओम् कहने पर (ऋत्विज्) मन्त्र सुनाते हैं। ओम् शोम् कहकर शस्त्रों (ऋग्वेद के प्रार्थना मन्त्र विशेष) को पढ़ते है। ओम् कहकर (सोम-यज्ञ में) अध्वर्यु यजुर्वेदी प्रतिगर (प्रोत्साहक मन्त्र विशेष) पढ़ता है। ओम् कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है। ओ३म् कहकर अग्नि होत्र की अनुज्ञा देता है। वेद अध्ययन करने वाला ब्राह्मण ओ३म् उच्चारण करता हुआ कहता है मैं ब्रह्म (वेद) को प्राप्त होऊं और इस प्रकार वह ब्रह्म को अवश्य पालेता है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं, भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव; यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव । (मा० १)

अर्थ—यह सब कुछ ओम् अक्षर है। यह जो कुछ भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् है सब उसकी व्याख्या है। और जो कुछ तीनों कालों से ऊपर है वह भी ओंकार ही है।

सोऽयमात्मा अध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं, पादा मात्रा, मात्राश्च पादा अकार उकार मकार इति (मा० ८)

अर्थ—वह यह आत्मा अक्षर दृष्टि से मात्राओं वाला ओंकार है। पाद ही मात्रा है, मात्रा ही पाद है। वे मात्रायें अकार, उकार और मकार हैं।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः, एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद, य एवं वेद । (मा० १२)

अर्थ—चौथा पाद मात्रा रहित है। उसमें कोई व्यवहार नहीं है न कोई प्रपंच है, वह शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश कर जाता है। (माण्डूक्य मन्त्रों की व्याख्या सूत्र २८ के वि० व० में देखें)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ गीता० ८ । १३)

अर्थ जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है। ओंकार को सारे मन्त्रों का सेतु बतलाया गया है तथा मनो वांछित फल की प्राप्ति के लिये प्रत्येक मन्त्र को ओ३म् के साथ उच्चारण किया जाता है। यथाः—

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः"

"माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वं मन्त्रेषु नायकम्" ॥

संगति—ईश्वर अर्थ और उसका शब्द ओ३म् तथा इन दोनों का वाच्य-वाचक नित्य सम्बन्ध बतलाकर अब तेईसवें सूत्र में बतलाए हुए 'ईश्वर-प्रणिधान' का लक्षण कहते हैं:—

तज्जपस्तदर्थ-भावनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—तत्-जपः = उस प्रणव (ओ३म) का जप। तदर्थ = उस प्रणव के अर्थ-भूत ईश्वर का। भावनम् = पुनः पुनः चिन्तन करना (ईश्वर-प्रणिधान है)।

अन्वयार्थ—उस ओ३म् शब्द का जप और उसके अर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना (पुनः पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रणिधान है।

व्याख्या—ओ३म् का मानसिक जप करना और उसका वाच्य अर्थ जो ईश्वर है उसके सूत्र चौबीस, पचीस और छब्बीस में बतलाए हुए गुणों की भावना अर्थात् पुनः पुनः ध्यान करना ईश्वर-प्रणिधान है। चित्त को सब ओर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है। इस भावना से अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म, कर्मफल और वासनाओं के संस्कार जो बन्धन अर्थात् जन्म और मृत्यु के कारण हैं; चित्त से धुल जाते हैं और सात्त्विक शुद्ध ज्ञान के संस्कार उदय होते हैं और केवल ईश्वर ही एक ध्येय रह जाता है। यह भावना बार-बार के अभ्यास से इतनी दृढ़ हो जानी चाहिये कि ओ३म् शब्द के साथ ही उसका अर्थ (ईश्वर का स्वरूप भी) स्मरण हो जावे। जैसे निरन्तर अभ्यास से गौ शब्द के साथ उसका सारा स्वरूप स्मरण हो जाता है।

यद्यपि जप और ईश्वर-भावना-रूप ध्यान दोनों का एक काल में होना नहीं हो सकता है, तथापि भावना-रूप ध्यान से पूर्व और पश्चात् जप करने का क्रम जानना चाहिये। जसे श्री व्यासजी महाराज ने अपने भाष्य में बतलाया है:—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थ—स्वाध्याय नाम प्रणव-जप और अध्यात्म-शास्त्र के विचार का है। प्रणव-जप के पीछे योगाभ्यास करे; और योगाभ्यास के पीछे प्रणव का जप करे। स्वाध्याय और योग, इन दोनों सम्पत्तियों से परमात्मा प्रकाशित होते हैं।

इस प्रकार ईश्वर-प्रणिधान से शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधि-लाभ होता है।

विशेष विचार—सूत्र २८:—

(१) जागृत अवस्था में स्थूल-जगत में जो स्थूल शरीर का व्यवहार चलता है वह आत्मा के सन्निधि-मात्र से है, इस स्थूल-शरीर के साथ आत्मा के शबल-स्वरूप की संज्ञा 'विश्व' होती है।

(२) स्वप्नावस्था अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि में सूक्ष्म जगत में जो सूक्ष्म-शरीर का व्यवहार चलता है वह भी आत्मा की सन्निधि से है। सूक्ष्म-शरीर के सम्बन्ध से आत्मा के शबल स्वरूप की संज्ञा 'तैजस' होती है।

(३) सुषुप्ति अवस्था में जो कारण-शरीर में अभाव की प्रतीति होती है अथवा विवेक-ख्याति में जब गुणों के प्रथम विकृत परिणाम-रूप चित्त की आत्मा से भिन्नता प्रतीत होती है; वह भी आत्मा के सन्निधि-मात्र से है। आत्मा के इस कारण-शरीर के सम्बन्ध से आत्मा के शबल-स्वरूप की संज्ञा 'प्राज्ञ' है।

ये तीनों आत्मा के अपने शुद्ध स्वरूप नहीं हैं, प्रकृति के गुणों से मिश्रित हैं। इस कारण ये शबल, सगुण अथवा अपर-स्वरूप हैं। इनसे परे जो आत्मा का अपना निखरा हुआ निज केवल शुद्ध स्वरूप है वह पर अथवा निर्गुण शुद्ध है। वही स्वरूप अवस्थिति अथवा आत्मस्थिति है।

जिस प्रकार शरीर के सम्बन्ध से आत्मा को समझा है इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा को समझ लेना चाहिये। समस्त संसार में ज्ञान, नियम तथा व्यवस्था-पूर्वक सम्पूर्ण कार्य परमात्मा की सन्निधि-मात्र से होते हैं।

स्थूल-जगत् के साथ परमात्मा के शबल-स्वरूप की संज्ञा 'विराट' है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत् के सम्बन्ध से उसके शबल-स्वरूप की संज्ञा 'हिरण्यगर्भ' है। तथा कारण-प्रकृति के सम्बन्ध से उसके शबल-स्वरूप की संज्ञा 'ईश्वर' है।

ये तीनों परमात्मा के शबल, सगुण अथात् अपर स्वरूप हैं क्योंकि यह प्रकृति के गुणों से मिश्रित हैं। यह सब महिमा उसके शबल-स्वरूप को ही दिखला रही हैं, जैसे कि ऋग्वेद में बतलाया गया है:—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (ऋग् १०।९०।३)

अर्थ—यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है; परमात्मा इससे कहीं बड़ा है। सारे भूत इसका एक पाद हैं। उसके तीन पाद अमृत-स्वरूप अपने प्रकाश में हैं।

ओ३म् की व्याख्या—ओ३म् की पहिली मात्रा 'अकार' परमात्मा के विराट-रूप की बोधक है, जो विश्व का उपास्य है। दूसरी मात्रा 'उकार' हिरण्यगर्भ की बोधक है, जो तैजस का उपास्य है। तीसरी मात्रा 'मकार' ईश्वर की बोधक है, जो प्राज्ञ का उपास्य है, जिसका प्रणिधान तेईसवें सूत्र में बतलाया गया है। चौथे 'इति विराम' में सब मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं। वह गुणों की सर्व उपाधियों से रहित केवल शुद्ध निर्गुण परमात्म-स्वरूप है, जहाँ उपास्य-उपासक के भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं, जिसका निषेधात्मक वर्णन निम्न-प्रकार किया गया है:—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

अर्थ—वह अदृष्ट है, उसको व्यवहार में नहीं ला सकते, उसको पकड़ नहीं सकते, उसका कोई चिन्ह नहीं, वह विचार में नहीं आ सकता, उसको बतला नहीं सकते। वह आत्मा है; केवल यही प्रतीति उसमें सार है, वहाँ प्रपञ्च का झगड़ा नहीं, वह शान्त है, शिव है और अद्वैत (संख्या की सीमा से परे) है, उसको चौथा पाद मानते हैं, वह आत्मा है; उसी को जानना चाहिये।

ओम् के पाद और मात्रायें = माण्डूक्योपनिषद् में ओम् के चार पाद बतलाये गये हैं। पहले पाद में पहली मात्रा अकार, दूसरे पाद में दूसरी मात्रा उकार, तीसरे पाद में तीसरी मात्रा मकार और चौथे पाद में मात्रा रहित विराम है।

१—पहिले पाद वाली अकार मात्रा में विराट् (स्थूल जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शबल स्वरूप) विश्व (स्थूल शरीर के सम्बन्ध से आत्माका शबल स्वरूप) और अग्नि (स्थूल शरीर और स्थूल जगत् की मुख्य प्रकृति अग्नि ही है, क्यों कि अग्नि ही से स्थूल शरीर और स्थूल लोक जीवित रहते हैं)।

२—दूसरे पाद वाली उकार मात्रा में हिरण्यगर्भ (सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शबल स्वरूप), तैजस् (सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का शबल स्वरूप), वायु (सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत् की मुख्य प्रकृति वायु ही है क्योंकि सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत् को वायु ही सूत्रात्मारूप से जीवित रख रहा है।

३—तीसरे पाद वाली मकार मात्रा में ईश्वर (कारण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शबल स्वरूप), प्राज्ञ (कारण शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का शबल स्वरूप) और आदित्य (कारण जगत् और कारण शरीर की मुख्य प्रकृति अव्यक्त मूल प्रकृति गुणों की साम्य अवस्था तो केवल अनुमान और आगमगम्य है, इसलिये वास्तव में कारण जगत् विशुद्ध सत्त्वमय चित्त ही है और कारण शरीर सत्त्वचित्त है। आदित्य विशुद्ध सत्वमय चित्त का ही दूसरा नाम है, इसलिये वही कारण जगत् और कारण शरीर की मुख्य प्रकृति है)।

४—चौथा पाद मात्रा रहित विराम में कारण जगत् और कारण शरीर से परे केवल शुद्ध परमात्म तत्व है।

मात्राओं से ओम् की उपासना

१—पहिले पाद एक मात्रा वाले ओम् की उपासना—ओम का वाचक जाप—अर्थों की भावना सहित ओम् का वाणी से जाप करना पहिले पाद एक मात्रा वाले अकार ओम् की उपासना है। इस में स्थूल शरीर का अभिमान रहता है इसलिये स्थूल शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक होता है और स्थूल जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा विराट् है वह उपास्य होता है। इसको वितर्कानुगतसम्प्रज्ञात समाधि की भूमि समझना चाहिये जिसमें ध्यान के सूक्ष्मता के तारतम्य से विश्व की विराट के स्वरूप में अवस्थिति होती है जिसके फलस्वरूप पाँचों स्थूल भूत आत्म-उन्नति में प्रतिबन्धक न रहकर

सहायक बन जाते हैं। (शेष सूत्र १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के विशेष वक्तव्य में देखें)।

२—दूसरे पाद दो मात्रा वाले अकार उकार ओम् की उपासना—ओम् का मानसिक जाप—अर्थो की भावना सहित ओम् का मन से जप करना दूसरे पाद दो मात्रा वाले अकार उकार ओम् की उपासना है। इसमें सूक्ष्म शरीर का अभिमान रहता है इसलिये सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा तैजस है वह उपास.. होता है और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा हिरण्यगर्भ है वह उपास्य होता है। इसको विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि की भूमि समझना चाहिये जिसमें ध्यान के सूक्ष्मता के तारतम्य से तैजस की हिरण्यगर्भ के स्वरूप में अवस्थिति होती है। जिसके फलस्वरूप सूक्ष्म भूत आत्म उन्नति में प्रतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं। (शेष सू० १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के वि० व० मे देखें)।

३—तीसरे पाद आकार, उकार और मकार तीन मात्रा वाले पूरे ओम् की उपासना ओम् का केवल ध्यान (ध्वनि) जब मानसिक जाप अपनी परिपक्व अवस्था में सूक्ष्म होते होते केवल ध्यान (ध्वनि) रहजावे तो यह तीसरे पाद तीन मात्रा वाले पूरे ओम की उपासना है। इसमें कारण शरीर का अभिमान रहता है इसलिये कारण शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा प्राज्ञ है वह उपासक होता है और कारण जगत के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा ईश्वर है वह उपास्य होता है। ध्यान (ध्वनि) के सूक्ष्मता के तारतम्य से इसको आनन्दानुगत, अस्मितानुगत और विवेकख्याति की भूमि समझना चाहिये जिसमें इस ध्यान की सूक्ष्मता के तारतम्य से प्राज्ञ की ईश्वर के स्वरूप मे अवस्थिति होती है जिसके फल स्वरूप अविद्या आदि सारे क्लेश तनु होकर दग्ध बीज तुल्य हो जाते हैं। (शेष सूत्र १७ व्याख्या व सूत्र १८ के वि० व० मे देखें)।

४—चौथा पाद ओम् का मात्रा रहित विराम—शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति—जब उपर्युक्त ओम् का ध्यान (ध्वनि) भी अपनी अन्तिम परिपक्व अवस्था मे सूक्ष्म होता हुआ समाप्त हो जावे तब कारण शरीर से परे शुद्ध आत्मा की कारण जगत से परे शुद्ध परमात्मा के स्वरूप में अवस्थिति होती है। यह असम्प्रज्ञात समाधि है जिस की प्राप्ति का साधन सूत्र २३ मे ईश्वर प्रणिधान बतलाया था। यहाँ पहुंचकर समस्त व्यवधान उपाधियें तथा उपास्य-उपासक भाव समाप्त हो जाता है। यही स्वरूपावस्थिति, आत्मस्थिति, परमात्म-प्राप्ति अर्थात् प्राणिमात्र का अन्तिम ध्येय है।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद। (माण्डूक्योपनिषद्—१२)

अर्थ—अमात्र (जिसकी कोई मात्रा नहीं वह ओंकार) तुरीय आत्मा है जो व्यवहार में नहीं आता, जहाँ प्रपञ्च का झगड़ा नहीं, जो शिव अद्वैत है, इस प्रकार ओ३म आत्मा ही है। वह जो इसको जानता है; वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश करता है।

भलो भयो हर बीसरो, सर से टली बलाय।
जैसे थे तैसे भये, अब कुछ कहो न जाय॥—(कबीर)
जब मैं था तब तू न था, तू पायो मैं नाय।
प्रेम-गली अति साँकरी, ता में द्वै न समाय॥

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर का वर्णन

ओ३म् की व्याख्या में तीनों शरीरों का संकेत-मात्र ही वर्णन किया गया था। यहाँ उनका स्पष्टीकरण किये देते हैं:—

स्थूल शरीर—रज-वीर्य से उत्पन्न होने वाला, अन्न से बढ़ने वाला, पाँचों भूतों: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना हुआ स्थूल-शरीर है।

जाग्रत्—जब तमोगुण रजोगुण से दबा हुआ होता है तो जाग्रत्-अवस्था में सारे कार्य स्थूल जगत् में इसी स्थूल शरीर द्वारा किये जाते हैं। इसी शरीर का जन्म-मरण और इसी में जरा (बुढ़ापा), रोगादि व्याधियें होती हैं।

सूक्ष्म शरीर—पाँच ज्ञानेन्द्रियें शक्तिमात्र: नासिका, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा; और पाँच कर्मेन्द्रियें शक्तिमात्र: हस्त, पाद, वाणी, गुदा, उपस्थ; ग्यारहवाँ मन जिसके द्वारा ये शक्तियें काम करती हैं तथा जिसमें संकल्प विकल्प होते हैं। पाँच प्राण, और अहंकार: अहमता पैदा करनेवाली शक्ति, बुद्धि चित्त सहित: निर्णय करने वाली तथा भावों और संस्कारों को रखनेवाली शक्ति। ये अठारह शक्तियों का समूह सूक्ष्म-शरीर कहलाता है।

स्वप्न—जब बाहर के कार्यों से स्थूल-शरीर थक जाता है, तब तमोगुण रजोगुण को दबाकर स्थूल-शरीर को स्थूल जगत् में कार्य करने से असमर्थ कर देता है।

किन्तु तमोगुण से दबा हुआ सूक्ष्म-शरीर जाग्रत्-अवस्था के स्मृति के कल्पित विषयों में कार्य करना आरम्भ करता है वह स्वप्न कहलाता है।

सम्प्रज्ञात-समाधि—इसी प्रकार जब समाधि-अवस्था में सत्त्वगुण रजोगुण को दबा लेता है तब स्थूल-शरीर स्थूल दशा में व्युत्थान के कार्य बन्द कर देता है, किन्तु सूक्ष्म-शरीर सत्त्वगुण का प्रकाश पाकर सूक्ष्म-जगत् में कार्य करता रहता है।

जहाँ स्वप्न में तमोगुण के अन्धकार में सब दृश्य कल्पित होते हैं वहाँ समाधि अवस्था में सत्वगुण की प्रधानता से उसके प्रकाश में ध्येय-वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। सूक्ष्म-शरीर को एक पैर में डोरी बँधे हुए पक्षी अथवा एक पतङ्ग के सदृश समझना चाहिये, जिसमें डोरी बँधी हुई है और वह डोरी चर्खी पर चढ़ी हुई है।

यह डोरी प्राण की है और चर्खी हृदय-स्थान की है; जहां प्राणों की ग्रन्थि (केन्द्र) है। उदान इस सूक्ष्म-शरीर को बाहर के समष्टि-प्राण से जोड़े हुए हैं।

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति। (छान्दो० ६।८।२)

अर्थ—जिस प्रकार पतङ्ग अथवा पक्षी डोरी से बँधा हुआ अनेक दिशाओं में घूम कर दूसरे स्थान पर आश्रय न पाकर अपने बन्धन के स्थान पर ही आजाता है, इसी प्रकार निश्चय से, हे सोम्य, यह मन अनेक दिशाओं में घूम-घामकर किसी दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलने के कारण प्राण का ही सहारा लेता है; क्योंकि हे सोम्य, मन प्राण के साथ बँधा हुआ है।

ऊँची अवस्थावाले योगी-जन समाधि-अवस्था में इस प्रकार सूक्ष्म-जगत् में इस सूक्ष्म-शरीर से भ्रमण करते हैं जिस प्रकार चर्खी पर चढ़ी हुई डोरी ढीली करने से पतङ्ग आकाश में उड़ा चला जाता है और जिस प्रकार डोरी चर्खी पर लपेटने से पतङ्ग फिर अपने स्थान पर आ जाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर फिर अपने स्थान पर लौट आता है।

'महाविदेहा-बहिर्-कल्पिता' वृत्तिवाले (३।४३) सिद्ध-योगी समाधि से भिन्न अवस्था में भी स्वेच्छानुसार सूक्ष्म-जगत् में सूक्ष्म-शरीर से भ्रमण कर सकते हैं।

इस सूक्ष्म-शरीर द्वारा ही चित्त में जन्म, आयु और भोग देनेवाले वासनाओं के संस्कार (कर्म-विपाक) एकत्रित रहते हैं। जिस प्रकार चर्खी का डोरा टूटने पर पतङ्ग जब दूसरी चर्खी के डोरे में जोड़ दी जाती है तो उसका सम्बन्ध फिर उसी चर्खी से हो जाता है, इसी प्रकार मृत्यु के समय हृदय-रूपी चर्खी से प्राण-रूपी डोरी टूटने पर सूक्ष्म-शरीररूपी पतङ्ग उड़ता हुआ ऐसे गर्भ के पास पहुँच जाता है जहाँ उसकी वासनाओं (प्रधान कर्म-विपाक) की पूर्ति करनेवाले उसके समान संस्कार होते हैं, (व्याख्या २।१२-१३)। वहाँ उसके हृदयग्रन्थि-रूपी चर्खी में इसके प्राणों की गांठ लग जाती है और इस शरीर के साथ पूर्ववत् कार्य होने लगते हैं।

कई योगाचार्यों का मत है कि सूक्ष्म-शरीर का सूक्ष्म-जगत् में भ्रमण नहीं होता है। सूक्ष्म-जगत् में काल और दिशा का ऐसा भेद नहीं रहता जैसा स्थूल-जगत् और स्थूल-शरीर के व्यवहार में होता है; केवल वृत्तियाँ जाती हैं अर्थात् चित्त में इन्हीं वृत्तियों द्वारा ऐसा परिणाम होता है और सूक्ष्म-शरीर जाता हुआ प्रतीत होता है।

अनन्तं वै मनः। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अर्थ—चित्त अनन्त अर्थात् विभु है।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।

(योगदर्शन ४। १० व्यासभाष्य)

अर्थ—इस विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकास धर्मवाली है; ऐसा आचार्य (पतञ्जलि मुनि) मानते हैं।

कई सज्जनों का विचार है कि समाधि-अवस्था में जो सूक्ष्म-जगत् का अनुभव होता है वह स्वप्न जगत् के समान कल्पित ही होता है। उस समय जैसी वृत्ति उदय होती है वैसे ही दृश्य सामने आकर दिखलाई देने लगते हैं। इस सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त है कि स्वप्न रजोगुण पर तमोगुण की अधिकता (प्रभाव) से होता है और समाधि रजोगुण

पृष्ठ संख्या ८७



ओंकार का भावनामय चित्र

(१) विराम = शुद्ध निर्गुण, उपाधिरहित, चेतन अर्थात् परमात्म तत्त्व (चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप ।

(२) मकार = चेतन तत्त्व + समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण शरीर । समष्टि कारण जगत का अधिष्ठाता 'ईश्वर', उपास्य; व्यष्टि कारण शरीर का अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन तत्त्व का शबल स्वरूप)।

(३) उकार = चेतन तत्त्व + समष्टि सूक्ष्मजगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर । समष्टि सूक्ष्म जगत् का अधिष्ठाता 'हिरण्यगर्भ,' तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी "तैजस" उपासक (चेतन तत्त्व का शबल स्वरूप)।

(४) अकार = चेतन तत्त्व + समष्टि स्थूल जगत् तथा व्यष्टि स्थूल शरीर । समष्टि स्थूल जगत् का अधिष्ठाता 'विराट्' उपास्य; तथा व्यष्टि स्थूल-शरीर का अभिमानी "विश्व" उपासक (चेतन तत्त्व का शबल स्वरूप)।

पर सत्त्वगुण की अधिकता (प्रभाव) से होती है, जैसा ऊपर बतला आए हैं। समाधि में जितनी मात्रा में सत्त्व, तम और रज से दबकर प्रधानरूप से रहता है उतने ही अंश में ये दृश्य कल्पित होते हैं। एकाग्रता के बढ़ने के साथ-साथ जितना-जितना सत्त्व का प्रकाश बढ़ता जाता है उतनी-उतनी इन दृश्यों की वास्तविकता बढ़ती जाती है।

कारण-शरीर—चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त-सत्त्व जिसमें अहंकार बीजरूप से छिपा हुआ अपने कार्य को बन्द किये हुए रहता है जिसकी संज्ञा अस्मिता है उसको कारण शरीर समझना चाहिये। जब तमोगुण रजोगुण को इतना दबा लेता है कि सूक्ष्म-शरीर स्वप्न में भी कार्य करने में असमर्थ हो जाता है तब सुषुप्ति अवस्था आती है, इस अवस्था में केवल कारण-शरीर ही में कार्य होता है। कारण-शरीर के तम से आच्छादित हो जाने के कारण केवल अभाव की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त तमोगुण के अन्धकार में न कुछ बाहर का ज्ञान होता है और न भीतर का।

इसी प्रकार जब समाधि की एकाग्रता बढ़ने पर सत्त्व रजस् को इतना दबा देता है कि सूक्ष्म शरीर एकाग्रता वाली वृत्ति दिखाने में भी असमर्थ हो जाता है तब सत्त्व के अत्यन्त प्रकाश में विवेक-ख्याति उत्पन्न होती है, विवेक-ख्याति का कार्य कारण-शरीर में होता है। इसमें आत्मा की चित्त से भिन्नता प्रतीत होती है अर्थात् चित्त द्वारा आत्मा का साक्षात् होता है, किन्तु यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं है, इसलिये यह स्वरूपावस्थिति नहीं है। विवेक ख्याति भी एक वृत्ति ही है क्योंकि इसमें भी रजोगुण कुछ अंश में बना रहता है जो इस वृत्ति के उदय होने का कारण है। जब इसका भी निरोध हो जाता है तब इस कारण-शरीर से भी भिन्न जो आत्मा का अपना निजी शुद्ध परमात्म स्वरूप है उसमें अवस्थिति होती है।

ओंकार का भावनामय चित्र

(१) विराम = शुद्ध, निर्गुण, उपाधि-रहित, चेतन अर्थात् परमात्म-तत्त्व (चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप)।

(२) मकार = चेतनतत्त्व + समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण-शरीर। समष्टि कारण जगत का अधिष्ठाता 'ईश्वर', उपास्य, व्यष्टि कारण-शरीर का अभिमानी 'प्राज्ञ', उपासक (चेतन-तत्त्व का शबल-स्वरूप)।

(३) उकार = चेतनतत्त्व + समष्टि सूक्ष्म-जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर। समष्टि सूक्ष्म-जगत् का अभिमानी 'हिरण्यगर्भ', तथा व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर का अभिमानी 'तैजस', उपासक (चेतन-तत्त्व का शबल-स्वरूप)।

(४) अकार = चेतनतत्त्व + समष्टि स्थूल-जगत् तथा व्यष्टि स्थूल-शरीर। समष्टि स्थूल-जगत् का अभिमानी 'विराट्', उपास्य, तथा व्यष्टि स्थूल-शरीर का अभिमानी 'विश्व', उपासक (चेतनतत्त्व का शबल स्वरूप)।

संगति—सूत्र २३ में असम्प्रज्ञात समाधि का साधन ईश्वर प्रणिधान और सूत्र २८ में ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप तथा उस से प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधि को बतलाकर उस

विषय को समाप्त कर दिया। अब यहां अगले सूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर प्रणिधान का विशेष फल दिखाते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—ततः = उस ईश्वर-प्रणिधान से। प्रत्यक्चेतना = प्रत्यक्चेतना (जीवात्मा) का। अधिगमः = प्राप्ति (साक्षात्कार)। अपि = भी होता है। अन्तरायअभावः च = और अन्तरायों का अभाव होता है।

अन्वयार्थ—उस ईश्वर-प्रणिधान से प्रत्यक्चेतना का ज्ञान भी होता है और अन्तरायों विघ्नों का अभाव होता है।

व्याख्या—प्रत्यक्चेतना = आत्म।

विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तः करणाभिमुखमंचति
या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना। (भोजवृत्ति)

अर्थ—जो दृक्शक्ति विषयों को छोड़कर अपने अन्तःकरण में सम्मुख प्रवृत्त होती है वह प्रत्यक्चेतना है।

ईश्वर-प्रणिधान से केवल शीघ्रतम समाधि का ही लाभ नहीं होता है, किन्तु अन्तराय (विघ्न) जिनका वर्णन अगले सूत्र में किया जायगा उनकी निवृत्ति-पूर्वक प्रत्यक्चेतना के स्वरूप का भी साथ-के-साथ साक्षात्कार हो जाता है। इसी के बोधनार्थ सूत्र में 'अपि' पद दिया है। भाव यह है कि उपास्य के जिन गुणों की भावना करके उपासक ध्यान करता है उन्हीं गुणों का उपासक में समावेश होता है। जैसे ईश्वर चेतन, कूटस्थ नित्य है और क्लेशादिकों से रहित है वैसे ही वास्तव में जीवात्मा भी चेतन, कूटस्थ नित्य और क्लेशादिकों से रहित है। इस सादृश्यता से ईश्वर के ध्यानरूप प्रणिधान से प्रणिधान-कर्ता को अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाले पदार्थों में एक के ध्यान से दूसरे विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ का साक्षात्कार नहीं हो सकता किन्तु सदृश पदार्थों में एक के ध्यान से दूसरे सदृश पदार्थ का भी साक्षात्कार हो सकता है। जैसे, एक शास्त्र के अभ्यास से सदृश अर्थवाले दूसरे शास्त्र का भी ज्ञान हो जाता है। इससे यह अभिप्राय है कि व्यवधान का अभाव होने से ईश्वर-प्रणिधान से प्रथम ईश्वर का साक्षात्कार न होकर प्रणिधान-कर्ता को अपने कूटस्थ नित्य-शुद्ध स्वरूप का ही साक्षात्कार हो जाता है और योग-विघ्नों का अभाव हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि:—

प्रतीपं विपरीतं अञ्चति, विजानातीति, प्रत्यक् स चासौ चेतनश्च।

अर्थ—जो विपरीत जानता और चेतन है उसको प्रत्यक्चेतन कहते हैं, अर्थात अविद्या-विशिष्ट जीव।

ईश्वर-चिन्तन से जीव का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। यद्यपि अन्य के चिन्तन से अन्य का ज्ञान नहीं होता; किन्तु जीव ईश्वर से चेतनता-धर्म में सदृश है, इससे सदृश

वस्तु का ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः 'प्रति प्रति वस्तु अञ्चति गच्छति सर्वानुगतो प्रत्येक वस्तु के प्रति जाता है अथवा सब में अनुगत (व्याप्त) होता है (वह प्रत्यक् है) इस व्युत्पत्ति से 'प्रत्यक्' शब्द से ईश्वर को भी ले सकते हैं, तब ईश्वरोपासना से दोनों का ज्ञान होता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र २९:—प्रत्यक् चेतना प्राज्ञ का बोधक है और प्राज्ञ पुरुष प्रतिबिम्बित (प्रकाशित) चित्त, अर्थात कारण शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का नाम है इसलिये तीन मात्रा वाले पूरे ओ३म् की उपासना की अन्तिम भूमि में प्रत्यक् चेतना साक्षात्कार होता है। चित्त के उत्तम एकाग्रता की अवस्था में रजस् तमस् का आवरण जाने से सत्त्व की स्वच्छता और निर्मलता में योग के अन्तरायों का भी अभाव हो जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर प्रणिधान का यह विशेष फल है।

संगति—ईश्वर-प्रणिधान से जिन अन्तरायों का अभाव बतलाया है उन चित्त विक्षिप्त करके एकाग्रता को हटानेवाले योग के विघ्नों का स्वरूप अगले सूत्र में निर्देश करते हैं:—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरति भ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—व्याधि......त्वानि=व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व। चित्तविक्षेपाः=चित्त के विक्षेप ते=वे। अन्तरायाः=विघ्न हैं।

अन्वयार्थ—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्व; ये चित्त के नौ विक्षेप (योग के) विघ्न हैं।

व्याख्या—व्याधि; धातु, रस और करण की विषमता से उत्पन्न हुए ज्वरादिक व्याधि कहलाते हैं। वात, पित्त, कफ; इन तीनों का नाम दोष है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा, शुक्र; ये सात धातु हैं। इनका इयत्ता (अन्दाज) को त्यागकर न्यूनाधिक हो जाना धातु की विषमता अथवा दोष-प्रकोप कहा जाता है। भुक्त-पीत (खाये-पिये) अन्न-जल परिपाक दशा को प्राप्त हुए सार का नाम रस है। खाये-पाये अन्न-जल का सम्यक्-रूप (ठीक-ठीक) न पचना रस की विषमता है। करण नेत्रादि इन्द्रियों का नाम है। क देखना, कम सुनना आदि करण की विषमता है।

स्त्यानः चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् इच्छा होने पर भी किसी कार्य का करने (योगसाधन के अनुष्ठान की) सामर्थ्य न होना।

संशय : 'मैं योग-साधन कर सकूंगा, कि नहीं कर सकूंगा, करने पर भी योग सि होगा या नहीं' इस दो कोटि का विषय करनेवाला ज्ञान संशय है।

प्रमाद : समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना।

आलस्य : चित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण ध्यान न लगना। शरी

का भारीपन कफ आदि के प्रकोप से; और चित्त का भारीपन तमोगुण की अधिकता से होता है।

अविरति : विषयों में तृष्णा बनी रहना अर्थात् विषयेन्द्रिय-संयोग से चित्त की विषयों में तृष्णा होने से वैराग्य का अभाव।

भ्रान्तिदर्शन : मिथ्या-ज्ञान (योग के साधनों तथा उनके फल को मिथ्या जानना)।

अलब्ध-भूमिकत्व : किसी प्रतिबन्धक-वश समाधि-भूमि को न पाना अर्थात् समाधि में न पहुँचना।

अनवस्थितत्व : समाधि-भूमि को पाकर भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात् ध्येय का साक्षात् करने से पूर्व ही समाधि का छूट जाना।

उपर्युक्त नौ विघ्न एकाग्रता से हटानेवाले हैं और चित्त की वृत्तियों के साथ होते हैं, उनके अभाव में नहीं होते। इस कारण चित्त के विक्षेप योग के मल, योग के अन्तराय और योग के प्रतिपक्षी कहलाते हैं।

संगति—केवल पूर्वोक्त नौ ही योग के प्रतिबन्धक नहीं हैं किन्तु उनके वर्तमान होने पर अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं, जिनका स्वरूप अगले सूत्र में निर्देश करते हैं:—

दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा: विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—दुःख=दुःख । दौर्मनस्य = दौर्मनस्य । अङ्गमेजयत्व = अङ्गमेजयत्व। श्वासप्रश्वासाः= श्वास और प्रश्वास। विक्षेपसहभुवः= विक्षेपों के साथ होनेवाले हैं अर्थात् पूर्वोक्त अन्तरायों के होने से यह पाँच अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

अन्वयार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वासप्रश्वास; ये विक्षेपों के साथ होने वाले हैं अर्थात् उनके होने से यह पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

व्याख्या—दुःख : पीड़ा जिसकी चोट खाकर उसके नाश करने का यत्न करते हैं, वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के हैं। उनमें से (क) काम, क्रोध आदि जन्य मानस परिताप और व्याधि आदि जन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। आत्मा यहाँ मन तथा शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ है। (ख) सिंह, सर्प आदि भूतों से जन्य दुःख आधिभौतिक हैं। भूत यहाँ प्राणियों के अर्थ में प्रयोग हुआ है। (ग) विद्युत्पात, अति-वर्षण, अग्नि, अति-वायु आदिक दैविक शक्तियों से जन्य दुःख आधिदैविक हैं।

दौर्मनस्य : इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में क्षोभ होना।

अङ्गमेजयत्व : शरीर के अङ्गों का काँपना।

श्वास : बिना इच्छा के बाहर के वायु का नासिका द्वारा अन्दर आना।

प्रश्वास : बिना इच्छा के भीतर के वायु का नासिका-छिद्रों द्वारा बाहर निकलना। ये विक्षेपों के साथ होनेवाले उप-विक्षेप अथवा उप-विघ्न हैं।

संगति—उपरोक्त विक्षेप और उपविक्षेप विक्षिप्त चित्तवालों को ही होते हैं, एकाग्र

चित्तवालों को नहीं होते। इन समाधि के शत्रुओं को अभ्यास वैराग्य द्वारा निरोध करना चाहिये। उन दोनों में से अभ्यास के विषय को उपसंहार करने के लिये अगला सूत्र है :—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—तत् = उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपों के। प्रतिषेधार्थम् = दूर करने के लिये। एकतत्त्व-अभ्यासः = एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात किसी अभिमत एक तत्त्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिये यत्न करना चाहिये।

अन्वयार्थ—उन पूर्वोक्त विक्षेपों तथा उपविक्षेपों को दूर करने के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात किसी अभिमत एक तत्त्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिये यत्न करना चाहिये।

व्याख्या—विक्षेप तथा उपविक्षेपों को दूर करने के लिये किसी एक अभिमत (इष्ट) तत्त्व में चित्त को बार-बार लगाना चाहिये अर्थात किसी अभिमत एकतत्त्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिये यत्न करना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रता के उदय होने पर सब विक्षेपों का नाश हो जाता है। यह एक साधारण उपाय है। सबसे उत्तम उपाय तो ईश्वर-प्रणिधान है जिसको सूत्र २९ में बतला दिया गया है।

योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु तथा भोजवृत्तिकार ने इस सूत्र में एकतत्त्वाभ्यास से किसी इष्ट अभिमत एकतत्त्व के अभ्यास का अर्थ ग्रहण किया है, और वाचस्पति मिश्र ने एकतत्त्व का अर्थ प्रधान तत्त्व; और प्रधान तत्त्व को ईश्वर मानकर ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ग्रहण किया है। असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर प्रणिधान का फल विक्षेपों की निवृत्ति सूत्र २९ में बतला दिया है पुनः उसी बात का निर्देश करने के लिये एक नये सूत्र की रचना अनावश्यक है। इसलिये एक तत्त्व से किसी इष्ट अभिमत तत्त्व का अर्थ लेना ही ठीक हो सकता है और सूत्र ३४ से ३९ तक जो चित्त की स्थिति के उपाय बतलाये हैं;इनका इसी सूत्र से सम्बन्ध है।

टिप्पणी—इस सूत्र में भाष्यकारों ने क्षणिकवाद मत को हटाकर 'सोऽहम्' 'मैं वही हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से चित्त की स्थिरता सिद्ध की है, अर्थात् एक ही चित्त अनेक विषयों का ग्रहण करनेवाला है, नहीं तो 'जिसको मैंने देखा था उसी को स्पर्श करता हूँ' यह ज्ञान न हो, इत्यादि निरूपण किया है। सूत्र की व्याख्या में इसका प्रसंग न देखकर तथा विस्तार के भय से वहाँ न देकर पाठकों की जानकारी के लिये उसको यहाँ लिख देते हैं: —

बुद्ध भगवान् के शिष्य क्षणिक-विज्ञानवादी योगाचार के मतानुयायी जो वैनाशिक लोग हैं उनके मत में सब पदार्थ क्षणिक हैं। जो वस्तु एक क्षण में होकर दूसरे क्षण में नष्ट हो जावे उसे क्षणिक कहते हैं। उन वैनाशिकों के मत में चित्त भी क्षणिक है, प्रत्यय-मात्र है अर्थात् निराधार विज्ञान-मात्र है, और प्रत्यर्थ नियत है अर्थात् क्षणिक होने से एक विषय को ग्रहण करके चित्त नष्ट हो जाता है और अन्य विषय में गमन नहीं कर सकता। फिर

सरा चित्त दूसरे विषय को ग्रहण करके नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक विषय का वेज्ञानरूप क्षणिक चित्त भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार एक ही विषय को ग्रहण करनेवाले चत्त को प्रत्यर्थ नियत कहते हैं। ऐसा क्षणिक प्रत्यय-मात्र प्रत्यर्थ-नियत जो चित्त है वही प्रात्मा है। उनके मत में उस क्षणिक-चित्त से भिन्न और कोई आत्मा नहीं है और सब दार्थ एक क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सब पदार्थों का नाश मानने से उनको वैनाशिक कहते हैं।

बाह्य सर्व पदार्थों को स्वप्न के पदार्थों के सदृश मिथ्या मानकर क्षणिक विज्ञान-मात्र को ही ये 'तत्त्व' 'अमिथ्या' कहते हैं। इससे इनको क्षणिक-विज्ञानवादी कहते हैं। इनके मत में प्रत्यय-मात्र क्षणिक-चित्त प्रत्यर्थ-नियत है। इससे चित्त में अनेक पदार्थ विषयक गमन-रूप चञ्चलता होती ही नहीं। इस प्रकार चित्त को क्षणिक मानने से चित्त का एकाग्र होना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। इस कारण एकाग्रता के लिये उपदेश करना तथा एकाग्रता के लिये यत्न करना भी व्यर्थ होगा।

इन वैनाशिकों से यह प्रश्न किया जावे कि तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेव जी ने जो चञ्चलता-निवृत्ति द्वारा चित्त की एकाग्रता के लिये योग के साधन का उपदेश दिया है वह व्यर्थ ही है?

यदि वैनाशिक लोग इसका उत्तर यह दें कि 'यद्यपि एक विषय को ग्रहण करके दूसरे में गमन करना, दूसरे को त्यागकर तीसरे में गमन करना, उसको त्यागकर अन्य में गमन करना, इत्यादि इस प्रकार की चञ्चलता और चित्त की एक ही विषय में निरन्तर स्थितिरूप एकाग्रता का होना हमारे मत में सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त क्षणिक है और उसका विषय भी क्षणिक है तथापि हमारे मत में चित्त का प्रवाह क्षणिक नहीं है किन्तु अनादि है। इस अनादि 'प्रत्यय-प्रवाह' में अर्थात् चित्त के प्रवाह में विलक्षण-विलक्षण विषयाकारता-रूप चञ्चलता का अभाव करके सदृश-सदृश विषया-कारता-रूप एकाग्रता का होना सम्भव है। अर्थात् प्रथम क्षण में चित्त जैसा विषयाकार होकर नष्ट हुआ, फिर दूसरे क्षण में दूसरा चित्त वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर समाप्त होना, पुनः तीसरे चित्त का भी वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना; इस प्रकार चित्त-प्रवाह में सदृश-सदृश विषयाकार-रूप एकाग्रता हो सकती है?

ऐसा उत्तर देने पर उनसे फिर पूछा जावे कि यह एकाग्रता-प्रवाह चित्त का धर्म है अथवा प्रवाह के अंश चित्त का धर्म है।

यदि वे कहें कि एकाग्रता-प्रवाह चित्त का धर्म है तो यह सम्भव न हो सकेगा; क्योंकि क्षणिक-क्षणिक चित्तों से भिन्न प्रवाह तो कोई पदार्थ ही नहीं है अर्थात् सदृश प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय कोई एकचित्त तुम्हारे मत में है ही नहीं कि जिसका धर्म एकाग्रता माना जावे। इससे प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। और यदि वे कहें कि प्रवाह के अंश चित्त का धर्म है तो यह दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि चाहे प्रवाह का अंश चित्त सदृश प्रत्यय-प्रवाह में होवे अथवा विलक्षण प्रत्यय-प्रवाह में होवे तुम्हारे मत में क्षणिक होने

से प्रत्यर्थ-नियत है अर्थात् एक ही पदार्थ को विषय करनेवाला होता है। इससे क्षणिक-चित्त में अनेकाकारता-रूप चञ्चलता और एकाग्रता सम्भव नहीं है। इससे चित्त में चञ्चलता के और एकाग्रता के असम्भव होने से चञ्चलता के निवृत्तिपूर्वक एकाग्रता के लिये तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेव जी का उपदेश फिर भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। इसलिये प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय एक स्थायी चित्त मानना ही योग्य है जिस स्थायी चित्त का धर्म एकाग्रता सम्भव हो सके।

और यदि प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय एकचित्त न मानकर भिन्न-भिन्न क्षणिक-प्रत्यय रूप ही चित्त उत्पन्न होने मानें तो पहिले अन्य चित्त के किये हुए कर्म का पिछले अन्य चित्त को फल किस प्रकार हो सकेगा ? जैसे भङ्ग पीनेवाला चित्त तो पहिले ही नष्ट हो गया और जिसने भङ्ग नहीं पी उस दूसरे चित्त को नशा कैसे होगा ? और यदि यह कहें कि जैसे पुत्र के किये श्राद्ध का माता-पिता को फल होता है और जैसे पुत्र में तेजस्विता, धीरता आदि गुणों के लिये पुत्र के जन्मादि में पिता के किये वैश्वानर यज्ञ का फल पुत्र को होता है वैसे ही पहिले अन्य चित्त के किये हुए कर्म का, पश्चात् अन्य चित्त को फल प्राप्त होगा; तो यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि पुत्र-पिता आदिकों का परस्पर जैसा जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है वैसा पूर्व-उत्तर चित्तों का जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध होता तो ऐसा कह सकते थे। परन्तु तुम्हारे मत में तो पूर्व-उत्तर चित्तों का जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्व चित्त के नष्ट होने पर उत्तरवाला चित्त उत्पन्न होता है। और क्षणिक चित्त से अपनी उत्पत्ति-विनाश के अतिरिक्त और कोई व्यापार हो भी नहीं सकता।

* जैसे पिता के निमित्त पुत्र श्राद्ध करता है तो पुत्र के किये श्राद्ध का फल पिता को प्राप्त होता है वैसे 'मैं भङ्ग पीता हूँ, मेरे नाश होने के पश्चात् इसका नशा उत्तरवाले चित्त को होवे' इस प्रकार पूर्व चित्त उत्तर-चित्त के निमित्त कर्म नहीं करता है तो उत्तरवाले चित्त को फल कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये यह आपकी युक्तियाँ 'गोमयपायसीय न्याय' से भी अधिक अयुक्त हैं; क्योंकि गोबर और पायस की तुल्यता में तो गौ से उत्पन्न होना हेतु है परन्तु अन्य चित्त के किये कर्म का अन्य चित्त फल भोगता है, इसमें तो कोई हेतु नहीं है।

'गोमयपायसीय-न्याय' यह है कि जैसे कोई कहे 'गोमय' (गोबर) और 'पायस' (रबड़ी), यह दोनों तुल्य ही हैं, क्योंकि यह दोनों गौ से पैदा होते हैं।

यदि क्षणिक-प्रत्ययों के प्रवाह का आश्रय एकचित्त न मानें किन्तु क्षणिक-प्रत्यय-मात्र ही चित्त मानें तो पहिले एकचित्त से देखे पदार्थ का अन्य दूसरा चित्त स्मर्ता कैसे होगा ? क्योंकि जो जिस पदार्थ का द्रष्टा होता है, कालान्तर में वही उस पदार्थ का स्मर्ता होता है। तुम्हारे मत में द्रष्टा चित्त तो पहिले ही नष्ट होगया, पश्चात् अन्य चित्त कैसे स्मरण करेगा ? अर्थात् आपके मत में कोई स्मृति नहीं होनी चाहिये। और यदि प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय एक स्थायी चित्त न मानकर क्षणिक-प्रत्यय-मात्र चित्त को ही आत्मा मानोगे तो स्वात्मा के अनुभव का भी खण्डन प्राप्त होगा। यह स्वात्मा के अनुभव अर्थात् प्रतीति का खण्डन अत्यन्त अयुक्त

* टि०— यह अभ्युपगमवाद से मान लिया है। वास्तव में पुत्र के किए श्राद्ध का फल पुत्र को ही मिलता है, पिता को नहीं।

है, क्योंकि 'जो मैं दूर से गङ्गा को देखता था वह मैं अब गङ्गाजल को स्पर्श करता हूँ'; 'जो मैं स्पर्श करता था वह मैं अब स्नान करके गङ्गा को नमस्कार करता हूँ', 'जो मैं बाल-अवस्था में नाना प्रकार की क्रीड़ा करता था, यौवनावस्था में मद से मत्त हुआ काल व्यतीत करके अब जरारूप राक्षस से गृहीत हुआ काँप रहा हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानों में अनेक क्रियाओं का एक ही कर्ता और उन सब प्रत्ययों का एक ही आश्रय अहम् पद का अर्थ जीवात्मा प्रतीत होता है। वह सब प्रत्यय का आश्रय अहम् पद के अर्थ आत्मा की प्रतीति क्षणिक-प्रत्यय रूप आत्मा मानने से सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि क्षणिक-प्रत्यय-रूप आत्मा बाल्य, यौवनादि अवस्थाओं में अनेक क्रियाओं का कर्त्ता नहीं हो सकता और इन सर्व प्रत्ययों का एक आश्रय अहम् पद के अर्थ को विषय करनेवाले 'अहम्-अहम्' इस प्रत्यय-ज्ञान के सामर्थ्य को कोई प्रमाणान्तर तिरोभूत नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण के ही बल से अन्य प्रमाण प्रवृत्त होते हैं। इस प्रत्यक्ष-प्रमाण का अन्य कोई प्रमाण तिरस्कार नहीं कर सकता।

इस प्रकार क्षणिक-प्रत्यय-मात्र प्रत्यर्थ-नियत चित्त नहीं, किन्तु अनेक पदार्थों को विषय करनेवाला सर्व प्रत्ययों का आश्रय एक स्थायी चित्त है। यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि भगवान् व्यासजी ने तो केवल चित्त का प्रत्यय मात्र और क्षणिक होना अयुक्त बतलाकर उसकी स्थिरता सिद्ध की है। किन्तु बौद्ध धर्म के पश्चात् के भाष्यकारों ने इसको भगवान् बुद्ध के वैनाशिक शिष्यों के क्षणिकवाद के साथ मिलाकर विस्तार दे दिया है।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३२:—बुद्ध भगवान् उच्चतमकोटि के अनुभवी योगी हुये हैं। उन्होंने जो असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप दिखलाया है वह सांख्य योग के ही सदृश है, किन्तु शब्दों के यथार्थ अभिप्राय को समझने में बहुत धोका खाया गया है। सारे सृष्टि के व्यावहार में सत्, रजस् और तमस् ये तीन गुण ही ग्राह्य ग्रहण रूप से वर्त रहे हैं। व्यष्टि रूप में सत्त्व चित्त ही इनके कार्य्य शेष हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के निरुद्ध होजाने पर गुणों का सारा व्यवहार उसके प्रति शून्य हो जाता है, किन्तु उस शून्य अवस्था में आत्म-तत्त्व शेष रहकर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। इसलिये इस शून्यवाद में भी आत्म सत्ता का अस्तित्व वास्तविक रूप में सिद्ध होता है। शब्दों के बाह्य अर्थों में ही खेंचातानी की गई है। ग्राह्य ग्रहण और गृहीत सारे विषयों में चित्त ही वृत्ति रूप से परिणत होकर उनका बोध करा रहा है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का सारा संसार विज्ञानरूप चित्त ही में चल रहा है। आत्मा केवल उसका द्रष्टा है। इस अंश में भगवान् बुद्ध का बतलाया हुआ विज्ञानवाद सार्थक ही है किन्तु इसको दार्शनिक रूप देने में उनके विज्ञानवादी शिष्य इस आशय से बहुत दूर चले गये हैं। इसी प्रकार गुण परिणाम शील हैं। "चलं हि गुणवृत्तिः" गुण परिणाम स्वभाव वाले हैं। क्षण-क्षण में परिणाम हो रहा है। गुणों से बनी हुई सारी वस्तुएँ तथा चित्त में भी प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, इसलिये सारी वस्तुयें तथा विज्ञान रूप चित्त भी क्षणिक ही है। इसको श्री व्यासजी महाराज ने भी ३।५२ सूत्र की व्याख्या में भली प्रकार दर्शाया है। भगवान् बुद्ध के इस क्षणिक परिणाम को लेकर उनके क्षणिकवादी वैनाशिक शिष्यों ने महात्मा बुद्ध के अभिप्राय के विरुद्ध उसको अपने ढंगपर दार्शनिक रूप दे दिया है।

संगति—जब चित्त में असूया आदि कलुष (मल) होते हैं तब वह स्थिति को नहीं लाभ कर सकता। उनके दूर करने का अगले सूत्र में उपाय बतलाते हैं:—

मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाणाम् = मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता—इन धर्मों की। सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य-विषयाणाम् = सुखी, दुःखी पुण्यात्मा और पापियों के विषय में (यथाक्रम) भावनातः = भावना के अनुष्ठान से। चित्तप्रसादनम् = चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

अन्वयार्थ—सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

व्याख्या—राग, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, द्वेष और अमर्ष-संज्ञक राजस तामस-रूप ये छः धर्म चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देते हैं। अतः ये छः चित्त के मल कहे जाते हैं।

इन छः प्रकार के मलों के होने से चित्त में छः प्रकार का कालुष्य (मल) उत्पन्न होता है। जो क्रम से राग-कालुष्य, ईर्ष्या कालुष्य, परापकारचिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य और अमर्ष-कालुष्य कहलाते हैं।

राग-कालुष्य—स्नेह-पूर्वक अनुभव किये हुए सुख के अनन्तर जो 'यह सुख मुझको सर्वदा ही प्राप्त होवे' इत्याकारक (ऐसा आकार वाली) जो राजस-वृत्ति-विशेष है वह राग-कालुष्य है; क्योंकि यह राग सब सुख-साधन विषयों की प्राप्ति के न होने से चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देता है।

ईर्ष्या-कालुष्य—दूसरोंकी *गुणादि वा सम्पत्ति* आदि की अधिकता देखकर जो चित्त में क्षोभ (एक प्रकार की जलन अर्थात् दाह) उत्पन्न होना है वह ईर्ष्या-कालुष्य कहलाता है; क्योंकि यह भी चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

परापकारचिकीर्षा-कालुष्य—किसी के अपकार (बुराई करने, दुःख पहुँचाने) करने की इच्छा चित्त को विह्वल करके कलुषित कर देती है।

असूया कालुष्य—दूसरों के गुणों में दोष आरोप करना असूया पद का अर्थ है। जैसे किसी व्रतशील को दम्भी जानना और आचार वाले को पाखण्डी जानना अर्थात् सदाचारी पर झूठे कलङ्क लगाना असूया-कालुष्य है।

द्वेष-कालुष्य—क्षमा का विरोधी कोप-कालुष्य (द्वेष-कालुष्य) भी चित्त को विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

अमर्ष-कालुष्य—किसी से कठोर वचन सुनकर वा अन्य किसी प्रकार से अपमानित होकर जो उसको न सहन करके बदला लेने की चेष्टा है वह अमर्ष-कालुष्य कहलाता है।

इन उपरोक्त कालुष्य (मलों) से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है और स्थिति

के साधन में प्रवृत्त होने पर भी एकाग्र नहीं हो सकता। अतः इन मलों को निवृत्त करके चित्त को प्रसन्न और एकाग्र करने का सूत्र में निम्न प्रकार उपाय बतलाया गया है:—

(१) सुखी मनुष्यों को देखकर उन पर मित्रता की भावना करने से राग तथा ईर्ष्या-कालुष्य (मल) की निवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा समझने से कि 'यह सब सुख मेरे मित्र को हैं तो मुझे भी हैं', तब जैसे अपने राज्य के न होने पर भी अपने पुत्र के राज्यलाभ को अपना जानकर उस राज्य में ईर्ष्या तथा राग की निवृत्ति हो जाती है वैसे ही मित्र के सुख को भी अपना सुख मानकर उसमें रागनिवृत्ति हो जावेगी। एवं जब उसके सुख को अपना ही सुख समझेगा तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चित्त में जलन न होने से ईर्ष्या भी निवृत्त हो जावेगी।

(२) दुःखी-जनों पर करुणा अर्थात् दया की भावना करने से घृणा अर्थात् परापकारचिकीर्षा-रूप (दूसरे का अपकार अर्थात् बुराई करने की इच्छा) मल का अभाव होता है।

अर्थात् जब किसी दुःखी पुरुष को देखें तो इस वाक्य के अनुसार—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः॥

अर्थ—जैसे हमें अपने प्राण परम-प्रिय हैं वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण प्रिय हैं; इस विचार से साधुजन अपने प्राणों के समान सबके ऊपर दया करते हैं।

अपने मन में यह विचार करे कि 'इस दुखिया को बड़ा कष्ट होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आजाता है तो हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है' उसके दुःख दूर करने की चेष्टा करे। ऐसा न समझे कि हमें उसके सुख दुःख से कोई प्रयोजन नहीं है। जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्त में उत्पन्न हो जावेगी तब अपने समान सबके सुख की चाहना से घृणा और परापकारचिकीर्षा (बुराई करने की इच्छा) की निवृत्ति हो जावेगी।

(३) पुण्यात्मा अर्थात् धर्म-मार्ग में जो पुरुष प्रवृत्त हैं उन पुण्यशील पुरुषों के प्रति हर्ष की भावना करने से असूया मल की निवृत्ति होती है। अर्थात् जब पुण्यजनों को देखे तो चित्त में 'अहोभाग्य इसके माता-पिता के; जिन्होंने ऐसा पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न किया और धन्य है इसको जो तन-मन-धन से धर्म-मार्ग में प्रवृत्त हो रहा है' इस प्रकार आनन्द को प्राप्त होवे। जब इस प्रकार मुदिता-भावना चित्त में उत्पन्न होगी तब असूया-रूप चित्त का मल निवृत्त हो जावेगा।

(४) पाप-मार्ग में प्रवृत्त जो पापशील मनुष्य हैं उनमें उपेक्षा (उदासीनता) की भावना करने से द्वेष तथा अमर्ष (बदला लेने की चेष्टा) वा घृणारूप मल की निवृत्ति होती है। अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले अथवा किसी अन्य प्रकार से अपमान करे तो चित्त में ऐसा विचारे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहार से मेरा कोई प्रयोजन नहीं, मैं इसके प्रति द्वेष वा घृणा करके अपने को क्यों दूषित करूँ, इसको तो स्वयं अपने पापों का दुःख भोगना है इत्यादि'; इस प्रकार उन पर उपेक्षा की भावना करे। इस उपेक्षा की भावना से द्वेष तथा अमर्ष-रूप चित्त-मल की निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार जब इन चारों भावनाओं के अनुष्ठान से चित्त के मल धुल जाते हैं तब निर्मल चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है और प्रसन्न होता हुआ चित्त एकाग्रता का लाभ करता है। ❀

भोज महाराज ने इस सूत्र की व्याख्या निम्न प्रकार की है:—

मैत्री = मित्रता (प्रेम): करुणा = दया (पराये दुखों की निवृत्त करने की इच्छा): मुदिता = हर्ष; उपेक्षा = उदासीनता; इन चारों को क्रम से सुखियों में, दुःखियों में, पुण्य वालों में और पापियों में व्यवहार करना चाहिए। जैसे सुखी जनों में 'ये सुखी हैं' ऐसा समझकर उनके साथ प्रेम करे, न कि ईर्ष्या, अर्थात् उनकी बड़ाई का सहन न करना दुःखियों को देखकर 'इनके दुःख की कैसे निवृत्ति हो', इस प्रकार दया ही करे न कि घृणा और तिरस्कार। पुण्यात्माओं में उनके पुण्य की बड़ाई करके अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करे, न कि 'यह पुण्यात्मा क्यों है ?' ऐसा विरोध करना। पापियों में उदासीनता को धारण करे अर्थात् न उनके पाप में सम्मति प्रकट करें न उनसे द्वेष करें।

सूत्र में सुखादि शब्दों से सुख-दुःख वाले का प्रतिपादन किया है। जब इस प्रकार मैत्री आदि करने से चित्त प्रसन्न होता है तब सुख से समाधि प्रकट होती है। यह परिकर्म ऊपर का कर्म है, जैसे मिश्रकादि व्यवहार, गणित सिद्धि के लिये; और सङ्कलित आदि (जोड़ आदि) कर्म उपकारण रूप से प्रधान क्रिया की सिद्धि के लिये होता है। ऐसे ही राग, द्वेष आदि के विरोधी मैत्री आदि करने से प्रसन्नता को प्राप्त हुआ चित्त, संप्रज्ञात समाधि के योग्य हो जाता है। प्रधानता से राग (विषयों में इच्छा), द्वेष (वैर, अनिष्टों में रोष) ये दो ही चित्त के विक्षेपक हैं। यदि ये दोनों ही जड़ से उखाड़ दिये जावें तो चित्त की प्रसन्नता होने से एकाग्रता होती है।

संगति—मैत्री आदि भावनाओं से निर्मल और प्रसन्न हुआ चित्त जिन उपायों द्वारा स्थिति को प्राप्त होता है उनका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं यहाँ यह बात स्मरण रहे कि अगले सब उपाय केवल समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिए हैं। विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम अधिकारियों को तो साधन पाद में बताए अष्टांग योग का ही आश्रय लेना होगा।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

शब्दार्थ—प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां = नासिका द्वारा बाहर फेंकने और रोकने दोनों से। वा = अथवा। प्राणस्य = कोष्ठस्थित (कोठा = उदर में रहने वाली) वायु के। (मन की स्थिति को सम्पादन करे)।

❀ टिप्पणी सूत्र ३३—मैत्री से द्वेषभाव का ही ग्रहण करना चाहिये, स्नेह का नहीं। क्योंकि स्नेह भी एक प्रकार का राग होने के कारण बन्धन ही है।

मुदिता से भी शोक की निवृत्ति ही समझना चाहिये, हर्ष नहीं। क्योंकि हर्ष भी एक प्रकार का राग का हेतु होने से त्याज्य ही है।—(मनु भाष्यकार मेधातिथि भट्ट)

अन्वयार्थ – अथवा कोष्ठस्थित (कोठा = उदर में रहने वाली) वायु को नासिकापुट द्वारा (प्रयत्न-विशेष से) बाहर फेंकने और बाहर रोकने दोनों से मन की स्थिति को सम्पादन करे।

व्याख्या—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥ (व्यासभाष्य)

अर्थ—कोष्ठस्थित (कोठा = उदर में रहने वाली) वायु को विशेष प्रयत्न से बाहर वमन करने (एकदम नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा बाहर फेंकने) को प्रच्छर्दन कहते हैं। उस बाहर वमन की हुई वायु को वहीं रोक देने को विधारण कहते हैं। प्रच्छर्दन और विधारण दोनों प्राणायामों से मन की स्थिति को सम्पादन करे।

प्राणायाम के तीन भेद: रेचक, श्वास को नासिका-छिद्रों द्वारा बाहर निकालना; पूरक, नासिका-छिद्रों द्वारा श्वास को अन्दर लेजाना; और कुम्भक, श्वास को बाहर अथवा अन्दर रोक देना (२।५०) में विस्तार-पूर्वक बतलाये जाएँगे। इस सूत्र में केवल दो भेद रेचक और कुम्भक बतलाए हैं। रेचक के लिये यहाँ प्रच्छर्दन शब्द प्रयोग हुआ है और उसकी विधि कोष्ठस्थित वायु को प्रयत्न-विशेष से एकदम नासिका-पुट द्वारा बाहर फेंकना बतलाई है। यहाँ केवल बाह्य-कुम्भक बतलाया गया है और उसके लिये विधारण शब्द प्रयोग हुआ है। यह प्राणायाम कपाल-भाति से मिलता-जुलता है जिसकी सारी विधियें २।५० वि० व० में षट्कर्म के अन्तर्गत बतलाई जावेंगी। यहाँ भी प्रसंग से उसकी दो प्रक्रियाएँ लिखी जाती हैं।

प्रक्रिया नं० १ केवल प्रच्छर्दन—किसी सुखासन से बैठकर मूलबन्ध और किंचित् उड्डियान बन्ध लगाकर कोष्ठस्थित वायु को नाभि से उठाकर दोनों नासिका-पुट द्वारा वमन की भांति एकदम बाहर फेंक देना चाहिये। बाहर बिना रोके हुए इसी प्रकार लोहार की धौंकनी के सदृश इस प्राणवायु को बाहर फेंकते रहना चाहिये। इसमें केवल रेचक किया जाता है। पूरक स्वयं होता रहता है। यह क्रिया बिना कुम्भक के की जाती है। आरम्भ में इस प्राणायाम को इक्कीस बार अथवा यथा सामर्थ्य करना चाहिए। शनैः शनैः अभ्यास बढ़ावें।

प्रक्रिया नं० २ प्रच्छर्दन विधारण—ऊपर बतलाई हुई प्रक्रिया पाँचवें प्राणायाम अथवा इससे अधिक जितनी सामर्थ्य हो उस के पश्चात् पूरे उड्डीयान के साथ श्वास को बाहर निकालकर बाहर ही रोक दें और किसी विशेष मन्त्र की मात्रा से अथवा जितनी देर सुगमता से रोक सकें बाहर ही रोक दें। यह एक प्राणायाम हुआ। प्रकार तीन प्राणायाम करें।

भाष्यकार ने केवल बाह्य कुम्भक बतलाया है, इसलिये भाष्य के अनुसार युक्त विधि से प्रच्छर्दन अर्थात् रेचक करते करते जब थक जावें तब विधारण अर्थात् उड्डीयान के साथ बाह्य कुम्भक यथाशक्ति करें। इस प्रकार कई बार करें अथवा प्रत्येक रेचक के पश्चात् यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करें।

प्राणायाम चित्त की एकाग्र स्थिति उत्पन्न करता है।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दन-वासने, एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः। (वशिष्ठ वाक्य)

अर्थ—चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं : प्राणस्पन्दन अर्थात् प्राणों की निरन्तर क्रिया; और दूसरी वासना। इन दोनों में से एक के क्षीण (सूक्ष्म) होने से दूसरा भी शीघ्र ही क्षीण (सूक्ष्म) हो जाता है।

सब इन्द्रियों का काम प्राण के व्यापार से चलता है और मन तथा प्राण का अपने-अपने व्यापार में परस्पर एकसा ही योग क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति—योग और प्राप्त की रक्षा—क्षेम) है। अर्थात् दोनों का कार्य करने में अधिक सम्बन्ध है। इसलिये प्राण वायु-अधीन होकर सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोककर मन की एकाग्रता करने में समर्थ होता है। प्राणायाम सब दोषों का नाशक है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ (मनु)

अर्थ—जैसे अग्नि-संयोग से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों के दोष भी प्राण के रोकने से नष्ट हो जाते हैं।

दोषों से ही चित्त की वृत्तियाँ विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम दोषों को दूर करके चित्त की एकाग्रता करने में समर्थ होता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३४ समा० पा०—'प्राण' : चित्त के सदृश प्राण का ज्ञान भी योग मार्ग के पथिक के लिए आवश्यक है। प्राण श्वास नहीं है जैसा कि कुछ व्यक्ति समझते हैं और न आत्मतत्त्व जैसा कि कई पाश्चात्य-विद्वान् मानते हैं, किन्तु प्राण वह जड़तत्त्व है जिसमें श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ एक जीवित शरीर में होती हैं।

सृष्टि के आरम्भ में पाँचों स्थूलभूत, लोक-लोकान्तर और सारे जङ्गम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादान कारण आकाश से प्राणशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं; इसी प्राणशक्ति से सहारा पाकर जीवित रहते हैं और प्रलय के समय इसी का आश्रय न पाकर कार्यरूप से नष्ट होकर अपने कारणरूप आकाश में मिल जाते हैं।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। (छा० १।९।१)

अर्थ—ये सारे भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं व आकाश में ही लीन हो जाते हैं।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते।
(छा० १।११।५)

अर्थ—ये सब भूत प्राण में लीन होते हैं और प्राण से प्रादुर्भूत होते हैं।

भौतिक पदार्थों में सबसे अधिक व्यापकता का सूचक आकाश और सबसे अधिक शक्ति का प्रकाशक (ज्ञापक) प्राण माना गया है, इसीलिये परमात्मा की व्यापकता को आकाश से और ज्ञानमय सर्वशक्तिमत्ता को प्राण से निर्दिष्ट किया गया है।

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । (तै० उ० ब्रह्म ब० अनु० ३ ॥)

अर्थ—देवता प्राण के सहारे साँस लेते हैं और जो मनुष्य तथा पशु हैं वे भी (प्राण के सहारे साँस लेते हैं) प्राण सब जन्तुओं का आयु है, इसलिये सर्वायुष (सब का आयु) कहलाता है।

प्राणो ब्रह्मेति व्याजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ (तै० उ० भृगुवल्ली अनु० ३ ॥)

अर्थ—उसने प्राण को ब्रह्म जाना । प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होकर प्राण से ही जीते हैं और मरते हुए प्राण में प्रवेश करते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद् में बड़े सौन्दर्य के साथ प्राण का वर्णन किया गया है :—

स मिथुनमुत्पादयते—रयिं च प्राणं च । (प्र० १ । ४ ॥)

अर्थ—प्रजापति (हिरण्यगर्भ) ने एक जोड़ा उत्पन्न किया—रयि और प्राण ।

आकाश से उत्पन्न हुए वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और इनके परमाणु से लेकर बड़े-बड़े तारागण और सूर्यमण्डल सब रयि हैं, और वह शक्ति जिससे इनमें कम्पन हो रहा है, जिससे यह स्थिर रहकर अपना कार्य कर रहे हैं वह प्राण है । अथवा यों समझो कि सारा ब्रह्माण्ड एक बड़ा वाष्प-यन्त्र है, प्राण वाष्प है जिससे इस मैशीन के सारे पुर्जे चल रहे हैं; और हिरण्यगर्भ इञ्जीनियर के सदृश है जो नियम और व्यवस्था के साथ ज्ञान-पूर्वक प्राणरूपी वाष्प से ब्रह्माण्ड-रूपी मैशीन को चला रहा है।

प्राण जीवन-शक्ति है, और रयि मूर्त तथा अमूर्त सारे पदार्थ हैं जो प्राण शक्ति से अपने व्यक्तित्व को रखते हुए कार्य कर रहे हैं । प्राण धन-विद्युत् है और रयि ऋण-विद्युत् है।

समष्टि प्राण को उपनिषदों में मातरिश्वा और सूत्रात्मा कहा गया है।

यह प्राण समष्टि रूप से सारे ब्रह्माण्ड को चला रहा है, इसी प्रकार व्यष्टि रूप से न केवल मनुष्य के पिण्ड-शरीर को ही किन्तु सारे जड़ पदार्थः वृक्ष, लता आदि तथा चेतनः कीट, पतङ्ग, जलचर, पशु-पक्षी आदि सारे शरीर इससे जीवन पा रहे हैं, इस-लिये ये सब 'प्राणी' एवं 'प्राणधारी' कहलाते हैं।

सब इन्द्रियों का कार्य प्राणशक्ति से ही चल रहा है, इसलिये उपनिषदों में कहीं कहीं प्राण का शब्द इन्द्रियों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य शरीर में वृत्ति के कार्य-भेद से इस प्राण को मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामों में विभक्त किया गया है:—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥—गोरक्षपद्धति

अर्थ—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय; ये दस प्रकार के वायु अर्थात् प्राण-वायु हैं।

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्तिताः ।
अपानवायोः कर्मैतद् विण्मूत्रादि विसर्जनम् ॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत् प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥
पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम् ।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ।
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकरस्य च ॥
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र ! तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम् ।
धनंजयस्य शोफादि सर्वकर्म प्रकीर्तितम् ॥

(योगी याज्ञवल्क्य ४ अध्याय ६६ से ६९ तक).

श्वास का अन्दर ले जाना और बाहर निकालना, मुख और नासिका द्वारा गति करना, भुक्त अन्न-जल को पचाना और अलग करना, अन्न को पुरीश; पानी को पसीना और मूत्र, तथा रसादि को वीर्य बनाना प्राण-वायु का काम है। हृदय से लेकर नासिका-पर्यन्त शरीर के ऊपरी भाग में वर्तमान है। ऊपर की इन्द्रियों का काम उसके आश्रित है।

अपान-वायु का काम गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र, और अण्डकोष से वीर्य निकालना तथा गर्भ आदि को नीचे ले जाना, कमर, घुटने और जाँघ का काम करना है। नीचे की ओर गति करता हुआ, नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है, निचली इन्द्रियों का काम इसके आधीन है।

समानः देह के मध्यभाग में नाभि से हृदय तक वर्तमान है। पचे हुए रस आदि सब अङ्गों और नाड़ियों में बराबर बाँटना इसका काम है।

व्यानः इसका मुख्य स्थान उपस्थ-मूल से ऊपर है, सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के सब अङ्गों में रुधिर का सञ्चार करता है।

उदान : कण्ठ में रहता हुआ शिर-पर्यन्त गति करने वाला है, शरीर को उठाये रखना इसका काम है। उसके द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। उदान द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीर का स्थूल-शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म-शरीर के

कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारों के अनुसार गर्भ में प्रवेश होता है। योगी-जन इसी के द्वारा स्थूल-शरीर से निकलकर लोक-लोकान्तर में घूम सकते हैं।

नागवायु उद्गारादि (छींकना आदि); कूर्मवायु संकोचनीय; कृकरवायु क्षुधा, तृष्णादि; देवदत्त-वायु निद्रा, तन्द्रा आदि; और धनञ्जय-वायु पोषणादि का कार्य करता है।

इनमें से अगले पाँच मुख्य हैं, पिछले पाँच उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यमः॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः॥

—गोरक्ष-संहिता ३०॥

अर्थ—हृदय में प्राण-वायु, गुह्यदेश में अपान, नाभि-मण्डल में समान, कण्ठ में उदान, और सारे शरीर में व्यान व्याप्त है।

प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर हो जाता है। प्राणों को वश में करने का नाम प्राणायाम है।

प्राणवायु का स्थान हृदय है, यहाँ व्याप्त होकर नासिका द्वारा बाहर की ओर चलता है। अपान गुदा में व्याप्त होकर नीचे की ओर गति करता है। समान नाभि में व्याप्त होकर भुक्त अन्न आदि के रस को अङ्गों और नाड़ियों में पहुँचाता है।

पूरक में प्राणवायु को गुदा-स्थान तक ले जाकर अपान-वायु से मिलाया जाता है, रेचक में अपान को प्राण द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है, कुम्भक में प्राण और अपान दोनों की गति को समान के स्थान नाभि में रोक दिया जाता है, इससे रज और तम का मल दग्ध होकर सत्त्व का प्रकाश बढ़ता है और मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ —गीता ४। २९

अर्थ—कई योगी अपान वायु में प्राण वायु को होमते हैं (पूरक करते हैं), वैसे ही कुछ योगीजन प्राण में अपान का हवन करते हैं (रेचक करते हैं), तथा कई योगी-जन प्राण और अपान की गति को रोक कर (कुम्भक करके) प्राणायाम के परायण होते हैं।

प्राणायाम से मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मन का प्राण से घनिष्ट सम्बन्ध है, मन का रोकना अति कठिन है, पर प्राण के निरोध तथा वशीकार से मन का निरोध एवं वशीकार करना सुगम हो जाता है, इस लिये प्राणायाम योग का आवश्यक साधन है।

सूक्ष्म प्राण का वर्णन—मनुष्य-शरीर में प्राण-प्रवाहिनी नाड़ियाँ असंख्य हैं, इनमें से पन्द्रह मुख्य हैं। (१) सुषुम्णा (२) इडा (३) पिंगला (४) गांधारी (५) हस्तजिह्वा।

ये दोनों क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रों से वाम और दक्षिण पैर के अंगूठे पर्यन्त चली गई हैं। (६) पूषा (७) यशस्विनी क्रमशः दक्षिण और वाम कर्ण में श्रवण साधनार्थ और (८) शूरा गन्ध ग्रहणार्थ नासिका देश में भ्रूमध्य पर्यन्त जाती है (९) कुहू गुदा में जाती है (१०) सरस्वती जिह्वा के अग्रभाग पर्यन्त जाकर इसके ज्ञान और वाक्यों को प्रकट करती है। (११) वारुणी (१२) अलम्बुषा (१३) विश्वोदरा (१४) शंखिनी (१५) चित्रा। इन पन्द्रह में से भी सुषुम्ना, इड़ा पिङ्गला ये तीन प्रधान हैं (जिनका योग से घनिष्ट सम्बन्ध है) इन तीनों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अति सूक्ष्म नली के सदृश है जो गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर तक चली गई। इसी स्थान (गुदा-स्थान के निकट) से इसके वाम भाग से इड़ा और दक्षिण भाग से पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गई हैं।

वहाँ भ्रू-मध्य में ये तीनों नाड़ियां परस्पर मिल जाती हैं। सुषुम्ना को सरस्वती, इड़ा को गङ्गा और पिङ्गला को यमुना भी कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ से ये तीनों नाड़ियाँ पृथक होती हैं उसको 'मुक्त-त्रिवेणी' और भ्रू-मध्य में जहाँ ये तीनों पुनः मिल गई हैं। उसको 'युक्त-त्रिवेणी' कहते हैं।

साधारणतया प्राण-शक्ति निरन्तर इड़ा और पिंगला नाड़ियों से श्वास प्रश्वास रूप से प्रवाहित होती रहती है। इड़ा को चन्द्र-नाड़ी और पिंगला को सूर्य-नाड़ी कहते हैं। इड़ा तमप्रधान और पिंगला रजप्रधान है। श्वास कभी दांयें नथुने से अधिक वेग से चलता है, कभी बांयें से, और कभी दोनों से समान गति से प्रवाहित होता है। जब बांयें नथुने से श्वास अधिक वेग से चलता रहे तो उसे इड़ा या चन्द्र-स्वर कहते हैं और जब दांयें से अधिक वेग से बहे तो उसे पिंगला व सूर्यस्वर कहते हैं। और जब दोनों नथुनों से समान गति से अथवा एक क्षण एक नथुने से, दूसरे क्षण दूसरे नथुने से प्रवाहित होवे तो उसे सुषुम्ना-स्वर कहते हैं।

स्वस्थ मनुष्य का स्वर प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमशः एक-एक नथुने से चला करता है। इस प्रकार अहोरात्र (एक दिन-रात) में बारह बार (बारह वक्त) बांये और बारह बार ही दाँयें नथुने से क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नथुने से श्वास चलता है इसका निश्चित नियम है:—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपदः दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥

—पवनविजय-स्वरोदयः

अर्थ—शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन दिन की बारी से चन्द्र से (बाँये नथुने से) तथा कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से तीन-तीन दिन की बारी से सूर्य-नाड़ी (दांये नथुने) से सूर्योदय के समय श्वास (ढाई घड़ी तक) प्रथम प्रवाहित होता है।

पाठकों के सुभीते के लिये इस सम्बन्ध में पृथक चित्र दिया गया है, विस्तार के लिये उसमें देखें।

शारीरिक विकार एवं रोग की अवस्था में स्वर अनियमित रूप से चलने लगते हैं। प्रतिश्याय (जुकाम) की अवस्था में सम्भवतः पाठकों को स्वयं इसका अनुभव हुआ होगा। उस अवस्था में अपने प्रयत्न द्वारा स्वर को बदलने से रोग-निवृत्ति में बड़ी सहायता मिलती है। स्वर-साधन से स्वेच्छानुसार स्वर का बदलना अति सुगम हो जाता है, किन्तु विषय-विस्तार के भय से यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जब इड़ा (चन्द्र—बाम स्वर) चल रहा हो तब स्थायी काम करने चाहियें, जिन में अल्प श्रम और प्रबन्ध की आवश्यकता हो तथा दूध, जल आदि तरल पदार्थों के पीने, पेशाब करने, यात्रा और भजन, साधन आदि शान्ति के कार्य करने चाहियें।

पिंगला (सूर्य—दायें स्वर) चलने के समय इनसे अधिक कठिन कार्य करने चाहियें, जिनमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो तथाः कठिन यात्रा, मेहनत के कार्य (व्यायाम आदि), भोजन, शौच, स्नान और शयन आदि करने चाहियें।

सुषुम्ना (जब दोनों स्वर सम अथवा एक-एक क्षण में बदलते हुए चल रहे हों) में योग-साधन तथा सात्त्विक धर्मार्थ कार्य करने चाहियें।

दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रावपि न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्र—निरोधतः॥

(पवनविजय स्वरोदय)

अर्थ—दिन में अर्थात् जब रजोगुण-प्रधान सूर्य-स्वर चल रहा हो तब योगसाधन न करे, और रात्रि में भी अर्थात् जब तम-प्रधान चन्द्र-स्वर जल रहा हो तब भी योगाभ्यास न करे। दिन-रात दोनों अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनों स्वरों का निरोध करके सुषुम्ना के समय जो पिंगला और इड़ा-रूपी दिन और रात दोनों का सन्धि समय है उसमें सदा योगाभ्यास करे।

इस सूत्र की व्याख्या में बताये हुए कपाल-भाति प्राणायाम अथवा अन्य प्राणायाम करने से सुषुम्ना स्वर चलने लगता है। अतः अभ्यास के आरम्भ में (ध्यानादि से पूर्व) प्राणायाम कर लेना चाहिये।

स्वर-साधन—स्वर बदलने की क्रियाएँ

(१) जो स्वर चलाना हो उस नथुने पर कुछ समय तक ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है। (२) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत करवट से लेटकर पसली के निकट तकिया दबाने से कुछ काल में वह स्वर चलने लगता है। (३) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत स्वर में रुई अथवा वस्त्र की गोली रखने से वह चलने लगता है। (४) बन्द स्वर को अंगूठे या अंगुली से दबाकर चालू स्वर से श्वास लेकर पुनः उसे दबाकर बन्द स्वर से श्वास निकालें इस प्रकार कई बार करने से बन्द स्वर चलने लगता है। (५) दौड़ने, परिश्रम करने और प्राणायाम आदि करने से स्वर बदल जाता है।

ज्वर और जुकाम आदि रोगों की अवस्था में स्वर-परिवर्तन से रोग की शीघ्र निवृत्ति होती है।

स्वर-साधन की सिद्धि से इच्छानुसार सुगमता से स्वर बदला जा सकता है। उसके अभ्यास की एक विधि यह है कि दिन के समय सूर्योदय से चन्द्र स्वर के निश्चित समय से चन्द्र स्वर चलाएँ। अपने बाँये नथुनों की ओर ओ३म् का जप करते हुये ध्यान रखने से बांया (चन्द्र) स्वर चलता रहेगा भोजन और शौचादि के समय इससे विपरीत स्वर (सूर्य-स्वर) ध्यान द्वारा चलाएँ। रात्रि के समय सूर्यास्त सूर्य-स्वर के निश्चित समय से सूर्य-स्वर चलावें। दांये नथुने की ओर ओ३म का जप करते हुए ध्यान रखने से सूर्य स्वर चलता रहेगा। जल और दूध आदि पीने तथा मूत्र-त्यागादि के समय विपरीत नथुने पर ध्यान रखकर चन्द्र-स्वर चलावें।

इसी प्रकार योगाभ्यास, भजन ध्यानादि के प्रारम्भ करने से पूर्व नासिका के अग्र-भाग के मध्य में नोक पर ध्यान करने से सुषुम्ना-स्वर चलाया जा सकता है।

तत्त्व—स्वरों का तत्त्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है उनका चक्रों में भी वर्णन आवेगा। इसलिये उनका संक्षिप्त वर्णन चित्र द्वारा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

तत्त्व पाँच हैं: आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। ये प्रत्येक स्वर के साथ चलते रहते हैं।

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीयं च तथानलः।

तृतीयं वहते भूमिश्चतुर्थं वारुणो वहेत्॥ (७१ शिव स्वरोदय)

अर्थ—प्रथम वायु तत्त्व बहता है, द्वितीयबार अग्नितत्त्व, तृतीयबार भूमि तत्त्व, चतुर्थबार वारुण (जल) तत्त्व और (पांचवींबार आकाश तत्त्व बहता है)।

तत्त्व सम्बन्धी सामान्य बातें तथा किस समय कौन तत्त्व चल रहा है; उसको दी हुई तालिका द्वारा पाठक जान सकेंगे।

तत्त्व पहिचानने की रीति

(१) हाथ के दोनों अंगूठों से कान के दोनों छिद्र, बीच की दोनों उंगलियों से नथनों, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठ अंगुलियों से मुंह तथा दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें बन्द करने पर जिस तत्त्व का रंग दिखलाई दे उसी का उदय समझना चाहिए।

(२) दर्पण (आईना) पर जोर से श्वास मारने पर उसकी भाप से दर्पण पर जिस तत्त्व के चिन्ह बनें उसी का उदय समझना चाहिए।

(३) जैसा मुंह का स्वाद हो उससे उसी तत्त्व का उदय समझना चाहिए।

(४) शान्ति से बैठकर श्वास लेवें, फिर देखें जिस तत्त्व के अनुसार श्वास की गति हो, और जिस तत्त्व के अनुसार श्वास का परिमाण हो, उसी तत्त्व का उदय समझना चाहिए।

तत्त्व साधन विधि—(१) पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश, इस क्रम से एक एक तत्त्व का साधन करना चाहिये। (२) जो तत्त्व साधना है उस तत्त्व के आकार व रंग का यन्त्र बनवा कर उस तत्त्व की बाह्य गति के परिमाण अनुसार दूर रख कर ओम के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिये, (३) ऐसी भावना करनी चाहिये कि जाप के साथ श्वास प्रश्वास की गति यंत्र तक हो रही है। (४) प्रायः २ घन्टे २४ मिनिट तक

स्वर-सम्बन्धी तालिका

नाम नाड़ी तथा स्वर	नाम प्रधान प्रकृति	पक्ष तथा तिथि जिसमें स्वर चलता है	शुभ कार्य जो जिस तिथि में किये जावें	नाम तत्त्व शुभकार्य के लिये	नाम दिन जो शुभ कार्य के लिए स्वर से सम्बन्ध रखते हैं	दिशाएँ यात्रा के लिए	स्वर-साधन के लिए स्वर चलाने का समय
नाड़ी— इड़ा, गङ्गा, चन्द्र	तम-प्रधान, शीतल प्रकृति, रात्रि के समान, शुक्ल पक्ष १५ दिन तक प्रधानता	शुक्ल पक्ष, १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५	स्थिर तथा शुभ कार्य : तीर्थ-यात्रा, मकान, तालाब, कुआँ आदि बनवाना, नये मकान में प्रवेश, औषधि आदि सेवन, दूध-जलादि पीना मूत्र-त्याग—सब प्रकार के शुभ कार्य	जल-तत्त्व, पृथ्वी-तत्त्व	बुधवार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार, सोमवार	पश्चिम, दक्षिण	सूर्योदय से दिन में चलाना चाहिये
		कृष्ण पक्ष ४, ५, ६, १०, ११, १२					
स्वर— चन्द्र, वाम		सूर्योदय से ढाई घड़ी अर्थात् एक घण्टा तक चन्द्र-स्वर चलता है, फिर सूर्य-स्वर एक घण्टे तक					भोजन, सोने, मलत्याग, स्नान में सूर्यस्वर कर लेना चाहिये

नाड़ी— पिङ्गला, यमुना, सूर्य —स्वर— सूर्य, दाहिना	रज-प्रधान, गरम प्रकृति, कृष्ण पक्ष में १५ दिन तक इसकी प्रधानता दिन के समान	कृष्ण पक्ष १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५ शुक्ल पक्ष ४, ५, ६, १०, ११, १२ सूर्योदय से ढाई घड़ी अर्थात् एक घण्टा तक सूर्य-स्वर चलता है, उसके पश्चात् चन्द्र-स्वर; यह क्रम बराबर चलता रहता है	चर, कठिन कार्य, व्यायाम आदि परिश्रम के काम, कठोर यात्रा, विद्याध्ययन, अध्यापन, दान, भोजन, मल-त्याग, सन्तानोत्पत्ति, मन्त्रजाप, ध्यान करना, सोना।	अग्नितत्त्व वायुतत्त्व	रविवार शनिवार मङ्गलवार	पूरब, उत्तर	सूर्यास्त से रात्रि में चलना चाहिये जल, दूध आदि पीने के समय, मूत्र-त्याग में चन्द्र-स्वर कर लेना चाहिये
नाड़ी— सुषुम्ना, सरस्वती स्वर— दोनों स्वर बराबर चलना	सत्त्व-प्रधान, दिन-रात की सन्धि, प्रातःकाल तथा सायंकाल के समान	सूर्य-स्वर से चन्द्र-स्वर और चन्द्र-स्वर से सूर्य-स्वर बदलने के समय चलता है। असाधारण अवस्था में एक क्षण सूर्य और एक क्षण चन्द्र-स्वर चलता है।	शुभाशुभ, स्थिर, चर, कोई कार्य न करना चाहिये। योग-साधन, अभ्यास, ईश्वर-भक्ति, ध्यानादि करना चाहिये।	आकाश-तत्त्व			प्रातःकाल तथा सायङ्काल योगाभ्यास के समय

तत्त्व-सम्बन्धी तालिका

सं०	नाम तत्त्व	तत्त्व का रंग	तत्त्व का चिन्ह	तत्त्व का स्वाद	तत्त्व की गति	तत्त्व का परिमाण	तत्त्व का स्वभाव	तत्त्व में करने योग्य कार्य
१	पृथ्वी	पीला	चौकोण	मीठा	सामने को	१२ अङ्गुल	भारी	स्थिर कार्य
२	जल	सफेद	अर्धचन्द्राकार	कसैला	नीचे को	१६ अङ्गुल	शीतल	चर कार्य
३	अग्नि	लाल	त्रिकोण	चर्परा	ऊपर को	४ अङ्गुल	गरम	क्रूर कार्य
४	वायु	धूम्र, मेघ-जैसा	षट्कोण-सदृश गोल	खट्टा	तिरछा	८ अङ्गुल	चञ्चल	शारीरिक व्यायामादि
५	आकाश	मिश्रित रंग	बूंद-बूंद जैसा	कड़ुवा	कई तत्त्वों की मिश्रित गति	दोनों नासिकाओं के भीतर	कई तत्त्वों से मिला हुआ	योगाभ्यास आदि

त्राटक करना चाहिये। (५) प्रायः छः मास अथवा परिस्थिति अनुसार, एक ही तत्त्व का साधन करते रहना चाहिये। (६) जब बराबर तत्त्व के परिमाण तक श्वास प्रश्वास की गति लगातार होने लगे तब उस तत्त्व की सिद्धि समझना चाहिये।

पृथ्वी तत्त्व का साधन—एक इंच चौड़ा और एक इंच लम्बा स्वर्ण, पीतल अथवा पीले कागज़ का चतुष्कोण यन्त्र बनवाकर चन्द्र स्वर के पृथ्वी तत्त्व के उदय काल में नासिका के अग्र भाग से १२ अंगुल दूर रखकर ओम् के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिये।

जल तत्त्व का साधन चांदी या कांसे का अर्ध वृत्ताकार यन्त्र इतना लम्बा व चौड़ा कि पृथ्वी तत्त्व के चतुष्कोण यन्त्र के मध्य में आसके चन्द्र स्वर के जल तत्त्व के उदय के समय नासाग्र भाग से १६ अंगुल दूर रख कर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिये।

अग्नि तत्त्व साधन—तांबे अथवा मूंगा का त्रिकोणाकार यन्त्र इतना लम्बा चौड़ा कि जल तत्त्व के अर्ध वृत्ताकार यन्त्र के मध्य में आसके चन्द्र स्वर के अग्नि तत्त्व के उदय काल में ४ अंगुल नासाग्र भाग से दूर रख कर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिये।

वायु तत्त्व साधन—स्वच्छ नीलाथोथा का ऐसा गोलाकार यन्त्र या कागज़ पर नीले रंग का ऐसा गोलाकार निशान बनवावे कि अग्नि तत्त्व के त्रिकोनाकार यन्त्र के मध्य में आसके। यन्त्र को नासाग्र भाग से ८ अंगुल दूर रखकर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिये।

आकाश तत्त्व का साधन—चन्द्र स्वर में आकाश तत्त्व के उदयकाल में नासाग्र भाग पर ओम् के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिये।

सुषुम्ना-नाड़ी—ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि सुषुम्ना-नाड़ी सर्वश्रेष्ठ है जो मेरुदंड के भीतर सूक्ष्म नली के सदृश चली गई है।

सुषुम्ना के अन्तर्गत सूक्ष्म नाड़ियां—सुषुम्ना के भीतर एक वज्र नाड़ी है, वज्र के अन्दर चित्रणी है, और चित्रणी के मध्य में ब्रह्म-नाड़ी है। ये सब नाड़ियाँ मकड़ी के जाले जैसी अति सूक्ष्म हैं जिनका ज्ञान केवल योगियों को ही हो सकता है। ये नाड़ियाँ सत्त्व प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्ति वाली हैं। यही सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म प्राण के स्थान हैं। इनमें बहुत से सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं, जिनमें बहुत सी अन्य सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलती हैं। इन शक्तियों के केन्द्रों को पद्म तथा कमल कहते हैं। इनमें से मुख्य सात हैं:—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, और सहस्रार।

ये चक्र पांचों तत्त्वों, पाँचों तन्मात्राओं, पांचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों प्राणों, अन्तःकरण, समस्त वर्णों-स्वरों, तथा सातों लोकों के मंडल हैं और नाना प्रकार के प्रकाश तथा विद्युत् से युक्त हैं। साधारण अवस्था में ये चक्र बिना खिले कमल के सदृश अधोमुख हुए अविकसित रहते हैं: ध्यान द्वारा, तथा अन्य प्रकार से उत्तेजना पाकर जब ये ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होते हैं तो उनकी अलौकिक शक्तियों का विकास होता है।

प्रत्येक चक्र में नाना प्रकार की अद्भुत शक्तियें हैं। तान्त्रिक तथा हठयोग के ग्रन्थों में प्रायः इनका वर्णन है। हम जिज्ञासुओं की जानकारी के लिये उनका उतना वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं जितने का राजयोग से सम्बन्ध है तथा तान्त्रिक ग्रन्थों की उन बातों का भी जिनकी पाठकों को जानने की जिज्ञासा होसकती है। यथाः—तत्त्व बीज का वाहन, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यन्त्र, फल इत्यादि। (आत्मोन्नति चाहने वालों को इनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये)

चित्र द्वारा दिखलाई हुई चक्रों की स्थूलाकृति उनके सूक्ष्म स्वरूप का बोध कराने के लिए केवल आनुमानिक है। इसी प्रकार Pelvic Plexus आदि अंग्रेजी नाम उनके वास्तविक स्थान को नहीं बतलाते हैं केवल संकेत मात्र हैं।

चक्रों का वर्णन

मूलाधार चक्र—Pelvic Plexus के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) चक्रस्थान : गुदामूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ मूल से दो अंगुल नीचे है।

(२) आकृति : रक्त रंग के प्रकाश से उज्ज्वलित चार पंखड़ी (दलों) वाले कमल के सदृश है।

(३) दलों के अक्षर (वर्ण) चारों पंखड़ियों (दलों) पर वं, शं, षं, और सं—ये चार अक्षर हैं।

(४) तत्त्व स्थान : चौकोण सुवर्ण रङ्ग वाले पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज : 'लं' है

(६) तत्त्व बीज की गति : ऐरावत हाथी के समान सामने की ओर गति है।

(७) गुण : गंध गुण है।

(८) वायु-स्थान : नीचे की ओर चलने वाले अपान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय : गंधतन्मात्रा से उत्पन्न होने वाली सूंघने की शक्ति नासिका का स्थान है

(१०) कर्मेन्द्रिय : पृथ्वी-तत्त्व से उत्पन्न होने वाली मल-त्याग शक्ति गुदा का स्थान है।

(११) लोक : भूलोक है (भूः)

(१२) तत्त्व बीज का वाहन : ऐरावत हस्ती जिसके ऊपर इन्द्र विराजमान हैं।

(१३) अधिपति देवता : चतुर्भुज ब्रह्मा अपनी शक्ति चतुर्भुज डाकनी के साथ।

(१४) यन्त्र : चतुष्कोण सुवर्णरङ्ग

(१५) चक्रपर ध्यान का फलः आरोग्यता, आनन्दचित्त, वाक्य, काव्य, प्रबन्ध—दक्षता

इस चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसा एक सूक्ष्म योनिमंडल है जिसके मध्य के कोण से सुषुम्ना (सरस्वती) नाड़ी, दक्षिण कोण से पिंगला (यमुना) नाड़ी, और वाम कोण से इड़ा (गंगा) नाड़ी निकलती हैं। इसलिए इसको मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थों में बतलाया गया है कि इस योनि मन्डल के मध्य में तेजोमय रक्त वर्ण क्लीं बीज रूप कन्दर्प नाम का स्थिर वायु विद्यमान है जिसके मध्य में ब्रह्म नाड़ी के मुख

में स्वयंभु लिङ्ग है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन कुण्डल में लिपटी हुई शङ्ख के आवर्तन के समान है। कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन आगे किया जावेगा। मूल शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से इस चक्र को मूलाधार कहते हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र—Hypogastric Plexus के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) स्थान : मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर पेंडू के पास इस चक्र का स्थान है।

(२) आकृति: सिन्दूरी रङ्ग के प्रकाश से प्रकाशित छः पंखड़ी (दलों) वाले कमल के समान है।

(३) दलों के अक्षर (वर्ण) छहों पंखड़ियों (दलों) पर बं, भं, मं, यं, रं, लं, ये छः अक्षर (वर्ण) हैं।

(४) तत्त्वस्थान श्वेत रङ्ग, अर्द्धचन्द्राकार वाले जल तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज : 'वं' है।

(६) तत्त्व बीज गति : जिस प्रकार मकर लम्बी डुबकी लगाता है इसी प्रकार इस तत्त्व की नीचे की ओर लम्बी गति है।

(७) गुण : रस है।

(८) वायु-स्थान : सर्व शरीर में व्यापक होकर गति करने वाले व्यान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय : रसतन्मात्रा से उत्पन्न स्वाद देने की शक्ति रसना का स्थान है।

(१०) कर्म-इन्द्रिय : जलतत्त्व मूत्र-त्याग शक्ति उपस्थ का स्थान है।

(११) लोक : भुवः है।

(१२) तत्त्व बीज का वाहन : मकर जिसके ऊपर वरुण विराजमान हैं।

(१३) अधिपति देवता : विष्णु अपनी चतुर्भुजा राकिनी शक्ति के साथ।

(१४) यन्त्र : अर्ध चन्द्राकार श्वेतरङ्ग।

(१५) चक्र पर ध्यान का फल: तान्त्रिक ग्रन्थों में इस चक्र में ध्यान का फल सृजन पालन और निधन में समर्थता तथा जिह्वा पर सरस्वती देवी का होना बतलाया गया है।

मणिपूरक चक्र—Epigastric Plexus अथवा Solar Plexus के स्थूल स्वरूप के द्वारा इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) स्थान : नाभिमूल है।

(२) आकृति : नीले रङ्ग के प्रकाश से आलोकित (प्रकाशित) दश पंखड़ी (दलों) वाले कमल के तुल्य है।

(३) दलों के अक्षर (वर्ण) : दशों पंखड़ियों (दलों) पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं नं, पं, फं, ये दश अक्षर (वर्ण) हैं। इन दश वर्णों की ध्वनियाँ निकलती हैं।

(४) तत्त्वस्थान : रक्त रङ्ग त्रिकोणाकार वाले अग्नि तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज : 'रं' है।

(६) तत्त्व बीज गति : जिस प्रकार मेष (मेंढ़ा) ऊपर को उछलकर चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्व की ऊपर को गति है।

(७) गुण : रूप है।

(८) वायु स्थान : खान-पान के रस को सम्पूर्ण शरीर में सब स्थान पर समान रूप से पहुँचाने वाले समान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय : रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति चक्षु का स्थान है।

(१०) कर्मेन्द्रिय : अग्नि तत्त्व से उत्पन्न चलने की शक्ति पाद (पैर) का स्थान है।

(११) लोक : स्वः है।

(१२) तत्त्व बीज का वाहनः मेष (मेंढ़ा) जिसके ऊपर अग्नि देवता विराजमान हैं।

(१३) अधिपति देवताः रुद्र अपनी चतुर्भुजा शक्ति लाकिनी के साथ।

(१४) यन्त्रः त्रिकोण रक्त रङ्ग।

(१५) फलः विभूतिपाद में इस चक्र पर ध्यान का फल शरीर व्यूह का ज्ञान बतलाया है। इसमें ध्यान करने से अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं।

अनाहत चक्र—इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेतक Cardiac Plexus का स्थूल स्वरूप है।

(१) स्थान : हृदय के पास।

(२) आकृति : सिंदूरी रङ्ग के प्रकाश से भासित (उज्ज्वलित) बारह पङ्खड़ी (दलों) वाले कमल के सदृश है।

(३) दलों के अक्षर (वर्ण) बारह पङ्खड़ियों पर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं, ये बारह अक्षर (वर्ण) हैं।

(४) तत्त्व-स्थान : धूम्र रङ्ग, षट्कोणाकार वायुतत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज : यं है।

(६) तत्त्व-बीज गति : जिस प्रकार मृग तिरछा चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्व की तिरछी गति है।

(७) गुणः स्पर्श है।

(८) वायुस्थान : मुख और नासिका से गति करने वाले प्राण वायु का मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रियः स्पर्श-तन्मात्रा से उत्पन्न स्पर्श की शक्ति त्वचा का केन्द्र है।

(१०) कर्मेन्द्रिय : वायुतत्त्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति कर (हाथ) का स्थान है।

(११) लोकः महः लोक है। अन्तःकरण का मुख्य स्थान है।

(१२) तत्त्व बीज का वाहनः मृग।

(१३) अधिपति देवताः ईशान रुद्र अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा शक्ति काकिनी के साथ।

(१४) यन्त्र षट्कोनाकार, धूम्र रङ्ग।

(१५) फल:-वाक्‌पतित्व, कवित्व शक्ति का लाभ, जितेन्द्रिय होना इत्यादि तान्त्रिक ग्रन्थों में बतलाया है। शिव सार तन्त्र में कहा है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदा शिव है। और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थान में व्यक्त होता है। यथा:—

शब्द ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदा शिवः।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते॥ (शारदातिलकोल्लास)

अर्थ—जिसको शब्द ब्रह्म कहते हैं वही साक्षात् सदाशिव है। वही शब्द अनाहत चक्र में है। कहीं २ इस चक्र के समीप आठ दलों का एक निम्न मनश्चक्र (Lower mind Plexus) बतलाया गया है। स्त्रियों तथा भक्ति भाव वालों को ध्यान करने के लिये अनाहत चक्र अच्छा उपयुक्त स्थान है।

विशुद्ध चक्र—इसका संकेतक स्थूल स्वरूप Carotid Plexus है।

(१) स्थान : कण्ठदेश है।

(२) आकृति : (दलों) धुंधले रङ्ग के प्रकाश से उज्ज्वलित १६ पङ्खड़ी (दलों) वाले कमल-जैसी है।

(३) दलों के अक्षर : सोलहों पङ्खड़ियों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये सोलह अक्षर हैं।

(४) तत्त्व-स्थान : चित्र-विचित्र आकार तथा नाना रङ्ग वाले अथवा पूर्ण चन्द्र के सदृश गोलाकार आकाश तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज : हं है।

(६) तत्त्व-बीज की गति : जैसे हाथी घूम-घूम कर चलता है उसी प्रकार इस तत्त्व की घुमाव के साथ गति है।

(७) गुण : शब्द है।

(८) वायु-स्थान : ऊपर की गति का हेतु शरीर-पर्यन्त वर्तने वाले उदान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय : शब्द-तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवण-शक्ति श्रोत्र का स्थान है।

(१०) कर्मेन्द्रिय : आकाश तत्त्व से उत्पन्न वाक् शक्ति वाणी का स्थान है।

(११) लोक : जनः है।

(१२) तत्त्व बीज का वाहन: हस्ती जिसके ऊपर प्रकाश देवता आरूढ़ हैं।

(१३) अधिपति देवता : पञ्चमुख वाले सदा शिव अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनी के साथ

(१४) यन्त्र: पूर्णचन्द्र के सदृश गोलाकार आकाश मण्डल।

(१५) फल, महाज्ञानी, शान्त चित्त, नीरोग, शोक हीन और दीर्घ जीवी होना बतलाया गया है। इसके "विशुद्ध" नाम रखने का यह कारण बतलाया गया गया है कि इस स्थान पर मन की स्थिति होने से मन आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है।

आज्ञा चक्र—इसका संकेतक Medula Plexus का स्थूल रूप है।

(१) स्थान : दोनों भ्रुओं के मध्य में भृकुटी के भीतर है।

(२) आकृति : श्वेत प्रकाश के दो पङ्खड़ियों (दलों) वाले कमल के सदृश है।

(३) दलों के अक्षर (वर्ण) : दोनों पङ्खड़ियों पर हं, क्षं है।

इन दोनों पङ्खड़ियों के संकेतक पाश्चात्य विज्ञान के Pineal Gland और Pituitary Body समझना चाहिये; जिनको मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर दो निरर्थक बालू से ढके हुए मांस-पिण्ड कहा गया है। ये दोनों मांस-पिण्ड अपने स्थान पर रहते हुए आज्ञाचक्र के ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होने पर उससे दिव्य शक्ति को प्राप्त होते हैं।

(४) तत्त्व : लिंग अर्थात् लिङ्ग-आकार महत्तत्त्व है।

(५) तत्त्व-बीज : ओ३म् है।

(६) तत्त्व-बीज गति : नाद है।

(७) लोक : तपः है।

(८) तत्त्व बीज का वाहन : नाद जिस पर लिङ्ग देवता हैं

(९) अधिपति देवता : ज्ञानदाता शिव अपनी चतुर्हस्ता षडानना (छः मुख) हाकिनी शक्ति के साथ।

(१०) यन्त्र ! लिङ्गाकार

(११) फल : भिन्न २ चक्रों के ध्यान द्वारा जो फल प्राप्त होते हैं वे सब एक मात्र इस चक्र पर ध्यान करने से प्राप्त हो जाते हैं।

इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सम्प्रज्ञात-समाधि की योग्यता होती है।

मूलाधार से इडा, पिंगला और सुषुम्ना पृथक्-पृथक् प्रवाहित होकर इस स्थान पर मिलती हैं; इसलिये इसको युक्त-त्रिवेणी भी कहते हैं।

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती ॥
त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—(ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र)

अर्थ—इडा को गंगा, पिंगला को यमुना, और इन दोनों के मध्य में जाने वाली नाडी सुषुम्ना को सरस्वती कहते हैं। इस त्रिवेणी का जहाँ संगम है उसे तीर्थराज कहते हैं। इसमें स्नान करके सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं।

तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम् ।
अन्यथा हृदि किंचास्ति प्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः ॥ —योगस्वरोदय

अर्थ—यही अर्थात् आज्ञाचक्र ही सर्वशास्त्र-सम्मत हृदय है। स्थूल-बुद्धि वाले ही अन्य स्थूल स्थान को हृदय कहते हैं।

यह आज्ञाचक्र शिवनेत्र, (Organ of Clarvoyance) दिव्यदृष्टिका यन्त्र है।

प्राणतोषिणी तन्त्र में एक चौंसठ दल वाले ललना-संज्ञक चक्र की तालु में, और एक शत दल वाले गुरुचक्र की अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्र में बतलाई है तथा किसी-किसी ने सोम-चक्र (गुरु-चक्र), मानस-चक्र, ललाट-चक्र आदि का भी वर्णन किया है, किन्तु ये सब सातो चक्रों के ही अन्तर्गत हैं। क्रियात्मक रूप से इनकी अधिक उपयोगिता नहीं है।

सहस्रार या शून्य-चक्र—इसका संकेतक स्थूलरूप Cerebral Plexus है।

(१) स्थान : तालु के ऊपर मस्तिष्क में, ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर। सब शक्तियों का केन्द्र है।

(२) आकृति : नाना रङ्ग के प्रकाश से युक्त सहस्र पङ्खड़ियों (दलों) वाले कमल-जैसी है।

(३) दलों के अक्षर पङ्खों पर 'अ' से लेकर 'क्ष' तक सब स्वर और वर्ण हैं।

(४) तत्त्व : तत्त्वातीत है।

(५) तत्त्व-बीज : विसर्ग है।

(६) तत्त्व बीज गति : बिन्दु है।

(७) लोक : सत्यम् है।

(८) तत्त्व बीज का वाहन : बिन्दु

(९) अधिपति देवता : पर ब्रह्म अपनी महा शक्ति के साथ।

(१०) यन्त्र : पूर्ण च शुभ्र वर्ण।

(११) फल : अमर होना, मुक्ति

इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सर्व वृत्तियों के निरोध-रूप असम्प्रज्ञात-समाधि की योग्यता प्राप्त होती है।

कुछ विद्वानों तथा अभ्यासियों का विचार है कि उपनिषदों में जो अंगुष्ठमात्र हृदय पुरुष का स्थान बतलाया गया है वह ब्रह्म रन्ध्र ही है जिसके ऊपर सहस्रार चक्र है क्योंकि यही अंगुष्ठमात्र आकाश वाला है। यहीं चित्त का स्थान है जिस में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश अथवा प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और इसी स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर होजाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्व वृत्ति निरोध होता है।

कुण्डलिनी शक्ति—पाठकों को सुषुम्ना नाडी की महत्ता उसके भीतर तीन शक्तिशाली नाडियों के केन्द्रों के वर्णन कर देने से प्रकट होगई होगी। वास्तव में ब्रह्मांड में जितनी शक्तियाँ वर्त्तमान हैं वे सब ईश्वर ने शरीर-रूपी पिण्ड के इस भाग में एकत्रित कर दी हैं किन्तु सुषुम्ना नाडी का मुख त्रिकोण योनि मण्डल के मध्य स्थान पर जहाँ से यह मेरुदण्ड के भीतर होती हुई ऊपर की ओर चलती है, साधारण अवस्था में बन्द रहती है। इसी कारण इसकी शक्ति अविकसित रहती है और प्राणशक्ति केवल इडा और पिंगला द्वारा जो इस त्रिकोण मण्डल के वाम और दक्षिण भाग से ऊपर की ओर चक्रों को छूती हुई चलती हैं,

सारे शरीर में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इसी त्रिकोण योनि-मण्डल में एक अति-सूक्ष्म विद्युत्-समान अद्भुत दिव्य-शक्ति वाली नाड़ी लिपटी हुई पड़ी है। इसका दृष्टान्त एक ऐसी सर्पिणी से दे सकते हैं जो साढ़ेतीन लपेट खाये हुए अपनी पूँछ को मुख में दबाये शंखाकार हो कर सो रही हो। इसी को कुण्डलिनी-शक्ति कहते हैं। यह नाड़ी बिना प्रयोग से सुप्त-जैसी पड़ी रहती है। इसका शरीर-सम्बन्धी कोई कार्य बाह्य-दृष्टि से प्रतीत नहीं होता। इस कारण पाश्चात्य शरीर शास्त्र के विद्वान् (Physiologist) अभी तक इसका कुछ पता नहीं लगा सके। किन्तु प्राचीन यूनान, रोम आदि देशों के तत्त्ववेत्ता जहाँ भारतवर्ष से सारी विद्याओं का प्रकाश फैला था; इससे परिचित थे। अफलातूं (Plato) तथा पियागोरस (Pythogorus) जैसे आत्मदर्शी विद्वानों के लेखों में इसका इस प्रकार संकेत पाया जाता है कि नाभि के पास एक ऐसी अद्भुत शक्ति विद्यमान है जो मस्तिष्क की प्रभुता अर्थात् बुद्धि के प्रकाश को उज्ज्वल कर देती है और जिससे मनुष्य के अन्दर दिव्य शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं।

कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत होना—यह नाड़ी यदि किसी प्रकार से अपने लपेटों को खोल कर सीधी हो जावे और इसका मुख सुषुम्ना नाड़ी के भीतर चला जावे तो इसको कुण्डलिनी का जाग्रत होना कहेंगे।

जिस प्रकार सुसज्जित कमरे में बिजली के तार, नाना वर्ण के ग्लोब, झाड़-फानूस तथा बिजली के यन्त्र पंखे आदि लगे हों तो बिजली के बटन (Switch) दबाने से ये सब क्रमशः प्रकाश देने तथा अपना-अपना कार्य करना आरम्भ कर देते हैं, इसी प्रकार जब इस कुण्डलिनी-रूपी बटन (Switch) के दबने से विद्युत का प्रवाह (Electric Current) सुषुम्ना-रूपी तार में पहुँचता है तो क्रमशः सारे चक्रों और नाड़ियों को प्रकाशित कर देता है। जिस-जिस चक्र पर यह कुण्डलिनी शक्ति पहुँचती जाती है वह अधोमुख से ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होता जाता है। जब यह आज्ञाचक्र पर पहुँच जाती है तो सम्प्रज्ञात और जब सहस्रार तक पहुँच जाती है तो सारी वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि की वास्तविक रूप में योग्यता प्राप्त होती है। इस अवस्था में मनुष्य को सारे संसार का ज्ञान बहुत शीघ्र प्राप्त हो सकता है। कुण्डलिनी शक्ति के सुषुम्ना के मुख में प्रवेश होने पर नाना प्रकार के अनुभव होते हैं, उनका प्रकट करना वर्जित है। किन्तु हम कुण्डलिनी जाग्रत करने के कुछ उपाय तथा साधकों के लाभार्थ कुछ चेतावनियां दे देना आवश्यक समझते हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत करने के उपाय—विशेषतया कुण्डलिनी शक्ति तो शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर सात्त्विक विचार, शुद्ध अन्तःकरण, ईश्वर की सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यान से जाग्रत होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्य में अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञान का विकास देखने में आवे तो समझना चाहिये कि पूर्व जन्म के किन्हीं सात्त्विक

संस्कारों के उदय होने अथवा हृदय पर सात्विक प्रभाव डालने वाली अन्य किसी घटना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर सुषुम्ना के मुख में चली गई है।

जिस प्रकार पृथ्वी में लगे हुए नल द्वारा पानी ऊपर जाने के लिए केवल नल के ऊपर लगी हुई मैशीन (Handle) को चलाने से (Pumping से) नली में से पानी स्वयं ऊपर आना आरम्भ हो जाता है, इसी प्रकार साधनपाद में चतुर्थ प्राणायाम की पाचवीं विधि द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करके सुषुम्ना में लाने का यत्न किया जाता है।

निम्न-लिखित प्राणायाम तथा मुद्राएँ कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करने में सहायक हो सकती हैं।

(१) भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्य-भेदी प्राणायाम, इत्यादि चतुर्थ प्राणायाम (वि० व० २। ३७, ४९, ५०, ५१)।

(२) महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, खेचरी-मुद्रा, विपरीतकरणी-मुद्रा, अश्विनी-मुद्रा, योनि-मुद्रा शक्तिचालिनी-मुद्रा, इत्यादि (वि० व० २।४६)।

किन्तु यह सब बाह्य साधन हैं जो कुण्डलिनी को चेतन करने में सहायक होते हैं। उसके मुख का सुषुम्ना में प्रवेश केवल ध्यान की परिपक्व अवस्था में हो सकता है। बिना ध्यान के केवल बाह्य साधनों से कुण्डलिनी शक्ति को क्षोभ पहुँचाने से अधिक से अधिक मूर्छा-जैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है, जो सुषुप्ति तथा बेहोशी से तो ऊँची है किन्तु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न उसमें सूक्ष्म-जगत् ही का कुछ अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जाग्रत करने का सबसे उत्तम उपाय तो मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सब चक्रों का भेदन करना है। विशेष विधि क्रियात्मक होने के कारण लेखबद्ध नहीं की जा सकती। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथ-दर्शक से ही सीखनी चाहिये। उसकी सामान्य विधि निम्न प्रकार है :—

चक्रभेदन अर्थात् कुण्डलिनी योग—(१) बद्धपद्म, (दोनों जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर), पद्म, सिद्ध, वज्र, स्वस्तिक, आदि किसी आसन (२।४६, ४७) से मेरुदण्ड को सीधा किये हुए शिर, गर्दन और पीठ को सम सूत्र में करके मूलबन्ध लगाकर खेचरी-मुद्रा के साथ बैठें।

(२) स्थान एकान्त, बन्द और शुद्ध हो। प्रातःकाल कम-से-कम तीन घंटे और सायंकाल दो घंटे ध्यान करना चाहिये।

(३) कपालभाति, भस्त्रिका आदि प्राणायाम के पश्चात् योनि-मुद्रा करके खेचरी-मुद्रा करें अर्थात् जिह्वा को ऊपर की ओर घुमाकर तालु के पास कण्ठ के छिद्र में लगायें और दाँतों को दबाए रखें।

(४) प्राण मूलाधार चक्र में योनिमण्डल तक ले जाकर ऐसी भावना करें कि वहाँ श्वास-प्रश्वास चल रहा है।

(५) वहीं मानसिक ध्वनि के साथ ॐ का मानसिक जाप करें। (चौथा प्राणायाम विधि ५)।

(६) ध्यान करते समय ऐसी भावना करें कि कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करके मूलाधार को ऊर्ध्वमुख करती हुई विकसित कर रही है।

इस प्रकार जब छः मास, एक वर्ष अथवा दो वर्ष में इस चक्र में ध्यान पक्का हो जावे और प्राणोत्थान भली प्रकार होने लगे तो इसी भाँति अगले-अगले चक्रों को भेदन करना चाहिये। आज्ञाचक्र और सहस्रार में अधिक समय देना चाहिये। प्रथम चक्रों के ठीक-ठीक स्थान निश्चय करने में कठिनाई होगी किंतु कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् स्वयं यथा-स्थान पर मन स्थिर होने लगेगा।

यह चक्रभेदन का क्रम दीर्घ काल तक धैर्य के साथ करते रहना चाहिये। सुगमता और शीघ्र सिद्धि लाभ करने के विचार से आज्ञाचक्र और सहस्रार-चक्र ध्यान के लिये पर्याप्त हैं। यहीं पर विधिपूर्वक ध्यान करने से कुण्डलिनी जाग्रत हो सकती है। यद्यपि निचले चक्रों का विशेष ज्ञान और उनकी विशेष शक्तियाँ उनके अपने-अपने विशेष स्थान पर ध्यान करने के सदृश नहीं प्राप्त होतीं। डाकगाड़ी (Mail Train) से लम्बी यात्रा पर जाने वाले यात्रियों को मार्ग में आने वाले स्टेशनों की भाँति इनका सामान्य ही ज्ञान होता है, किन्तु दोनों चक्रों पर ध्यान के परिपक्व होने के पश्चात् निचले चक्रों का भेदन अति सुगमता और शीघ्रता के साथ हो सकता है।

आत्मस्थिति के जिज्ञासु के लिये तो इन चक्रों के चक्र में अधिक न पड़कर अपने अन्तिम ध्येय को लक्ष्य में रखना ही श्रेयस्कर है।

कुंडीलनी जाग्रत करने का एक अनुभूत साधनः—

सबसे प्रथम साधन पाद सूत्र ५१ के विशेष वक्तव्य में दी हुई चतुर्थ प्राणायाम की पांचवीं विधि अनुसार प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करने का अभ्यास परिपक्व करलें। उपर्युक्त योग्यता की प्राप्ति के पश्चात् शरीर के पूर्ण रूप से स्वस्थ अवस्था में कार्तिक से फाल्गुन अर्थात् नवम्बर मास से मार्च तक के समय में सारे बाह्य व्यवहार से निवृत्त होकर शान्त एकान्त निर्विघ्न स्थान में साधन आरंभ करें। वस्ती अथवा एनमा द्वारा उदर शोधन करते रहें। यदि आवश्यकता हो तो धौती और नेति भी करते रहें। भोजन प्रातः काल बादाम का छौंका (बादाम की गिरी छिलके निकाली हुई)। सोंफ कासनी, काली मिर्च पीसकर छान कर पिसे हुए बादाम के साथ घी में छोंक लिए जाँय। उसमें मुनक्के, अंजीर आदि डाले जा सकते हैं। रात को दूध।

चतुर्थ प्राणायाम द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों को अच्छी प्रकार स्थिर करने के पश्चात् भृकुटि पर ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टि से देखना आरंभ करदे। यदि इस प्रकार प्राणों का उत्थान न हो सके तो शवासन से लेट कर यह प्रक्रिया करे। प्राणों के उत्थान के समय किसी प्रकार की भय की वृत्ति न आने दे। किसी अनुभवी निस्वार्थ पथप्रदर्शक की संरक्षता में साधन करें। इस प्रक्रिया में भी मुख्य वस्तु ईश्वर प्रणिधान और तीव्र वैराग्य है।

ब्रह्मरन्ध्र और भ्रुकुटि पर ध्यान करने वाले जिन साधकों को गर्मी के दिनों में इन स्थानों पर ध्यान करने से अधिक गर्मी और खुश्की प्रतीत हो वे एक एक मास का समय निचले चक्र भेदन में लगा सकते हैं। अर्थात्

प्रथम एक मास मूलाधार चक्र भेदनः—सामर्थ्यानुसार एक निश्चित संख्या में अनुलोम विलोम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्या में मूलाधार तक मध्यम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्या में मूलाधार चक्र पर अश्विनि मुद्रा सदृश क्रिया। इसके पश्चात् चतुर्थ प्राणायाम की पांचवीं विधि अनुसार ओम् का मानसिक जाप। मूलाधार पर जब प्राण स्थिर हो जावें तो वहां केवल ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टि से टिकटिकी लगा कर देखते रहना अथवा वहां अनहद शब्दों को सुनते रहना। दूसरे मास से विशुद्ध चक्र भेदन इसी प्रकार करें तथा अन्य सब चक्रों में स्वाधिष्ठान चक्र तक इसी प्रक्रिया को रखें।

साधकों के लिए चेतावनी

महात्मा मूसा, जो यहूदी धर्म के प्रवर्तक हुए हैं, उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि होरप (Mount Horeb) पर योग-साधन के समय जब उनको प्रथम बार ईश्वर के प्रकाश के दर्शन हुए तो वह उस तेज को सहन न कर सके। इस रहस्य को उनके शिष्य योगमार्ग से अनभिज्ञ होने के कारण नहीं समझ सके हैं।

(१) कुण्डलिनी शक्ति जब सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्रवेश होती है तो उसकी पहिली टक्कर मूलाधार चक्र पर लगती है, इससे उपस्थ इन्द्रिय पर दबाव पड़ता है; इसलिये मूलबन्ध सावधानी से लगाये रहें।

(२) उस समय स्थूल-जगत् से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश, तथा स्थूल-शरीर से सारे प्राणों का प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में जाना आरम्भ होने लगता है, सारे बाह्य प्राण हाथ पैर आदि से खिंचाव के साथ अन्दर जाने लगते हैं; उस समय भयभीत न होना चाहिये; अन्यथा भय की वृत्ति आने के साथ ही प्राण फिर उतर जायेंगे और पछतावा रह जायगा।

(३) विद्युन्मय सूक्ष्म नाड़ियों, चक्रों, तन्मात्राओं तथा तत्त्वों आदि के प्रकाश इतने अलौकिक होते हैं कि साधक को प्रथम अवस्था में उनका सहन करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत् के शब्द भी अपरिचित होने के कारण अति भयानक प्रतीत होते हैं। इसलिये द्रष्टा बनकर देखता रहे; अन्यथा भय की वृत्ति आने के साथ ही कुंडलिनी शक्ति जहाँ पहुँचती है वहीं से फिर लौट जायेगी।

(४) सूक्ष्म-जगत् स्थूल-जगत् से अति विलक्षण है, वहाँ की सूक्ष्मता और विलक्षणता भी प्रथम अवस्था में भय का कारण बन सकती है, उससे भयभीत न हों।

(५) कभी-कभी अप्रिय और भयङ्कर दृश्य भी सन्मुख आते हैं, वह कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते; स्वयं हट जाते हैं, उनसे भय उत्पन्न न हो।

(६) भ्रुकुटि अथवा ब्रह्मरन्ध्र में प्राण रुकजाने के पश्चात् शवासन से लेटकर ध्यान करने से शरीर के सीधे रहने के कारण प्राणों का प्रवाह कुंडलिनी में खिंच आने और

फिर उससे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश होने में आसन से बैठने की अपेक्षा सुगमता से होता है, परन्तु इस तरह लेटकर क्रिया करना स्वास्थ्य के लिये लाभदायक नहीं है।

चित लेटने की अवस्था में जब मूलाधार चक्र पर सारे प्राणों के वेग की टक्कर लगती है और इसलिये उपस्थ इन्द्रिय पर अधिक खिंचाव पड़ता है, उस समय मूलबन्ध पूरी दृढ़ता के साथ बँधा रहना चाहिये; अन्यथा कमजोर क्षीण शुक्र वालों के लिये वीर्य अथवा मूत्र निकलने की सम्भावना हो सकती है।

(७) ये सब प्रकार के भय उसी समय तक रहते हैं जब तक कुंडलिनी भ्रुकुटि तक न पहुँच जाय। आज्ञाचक्र पर स्थिर होने के पश्चात् कोई भय नहीं रहता। उस समय सारे सूक्ष्म-जगत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस ओर वृत्ति जाती है उसी का यथार्थ स्वरूप समक्ष आने लगता है। यही वास्तविक समाधि है। जब सहस्रार में पहुँचती है तो सारी वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

(८) एक बार कुंडलिनी जाग्रत होजाने पर यह न समझना चाहिये कि सर्वदा ऐसा ही होता रहेगा। मन तथा शरीर की स्वस्थ अवस्था, निर्मलता, सूक्ष्मता विचारों की पवित्रता और वैराग्य का बना रहना अत्यावश्यक है; इनके अभाव में यह कार्य बन्द हो सकता है।

(९) भ्रुकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों पर प्राणों के ठहर जाने को कुण्डलिनी जाग्रत हो जाना न समझना चाहिये किन्तु सारे प्राणों का प्रवाह जब स्थूल शरीर से सुषुम्ना नाड़ी में आजाय और स्थूल-शरीर तथा स्थूल-जगत् से बेसुध होकर सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म-जगत् में प्रवेश हो जावे तो कुंडलिनी शक्ति का जाग्रत होना समझना चाहिये।

(१०) मांस भक्षण करनेवाले तो योगमार्ग के अधिकारी ही नहीं हो सकते, इसलिये मांस तो सदा अभक्ष्य ही है। मादक पदार्थः शराब, भङ्ग, सुलफा, सिगरेट, बीड़ी आदि; लाल मिर्च, खटाई, तेल, गरिष्ठ वादी, कोष्ठबद्धता करने वाले और कफवर्द्धक तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन न करें। ध्यान तथा प्राण के उत्थान से उत्पन्न होने वाली खुश्की और गर्मी को दूर करने के लिये दही, छाछ और मट्ठे का सेवन कदापि न करें, इससे वायु आदि के कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं ऐसी अवस्था में घृत, बादाम का छौंका तथा मीठे बादाम का रोगन और दूध लाभ दायक होता है।

(११) मैथुन, कुसङ्ग, क्रोध, शोक, भय आदि उत्पन्न करने वाली बातों तथा अधिक शारीरिक परिश्रम वाले कार्यों से इन दिनों बचा रहे।

(१२) आहार : सूक्ष्म, सात्त्विक, स्निग्ध पदार्थ; दाल : मूंग; सब्जी : लौकी, पपीता आदि; दूध, घी (घृत और बादाम, कासनी, सौंफ, काली मिर्च का छौंका जिसकी विधि सा० पा० सू० ३२ के वि० व० में बतलाई जावेगी) व मीठे स्वास्थ्य-वर्द्धक फल, मेवे का रहना चाहिये।

(१३) शरीर का शोधन वस्ती (एनिमा) से होता रहे, तो आँतों में मल न रहने पावे, न कब्जी रहे, धौती, नेती भी होती रहे तो अच्छा है; किसी रेचक औषधि : इतरीफल, त्रिफला, त्रिवृदा आदि का सेवन अच्छा है। (वि० व० सूत्र २।३२)

(१५) कुपथ्य करने से प्रमेह, वायु-विकार, शरीर-कम्पन, आदि रोगों में ग्रस्त हो जाने का भय है।

(१६) शारीरिक ब्रह्मचर्य के समान मानसिक तथा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य अति आवश्यक है, अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियों का शारीरिक कामों में प्रयोग तथा अपने अनुभवों को दूसरे पर प्रकट न करना चाहिये; अन्यथा शक्तियों के खोये जाने की सम्भावना है।

(१७) इस मार्ग मे आडम्बर, बनावट (Fashion) से बचते हुए अपनी शक्तियों तथा अनुभवों को छिपाये हुए साधारणावस्था में रहना कल्याणकारी है। इसी सम्बन्ध में बतलाया गया है:—

यं न सन्तं न चा-सन्तं नाश्रुतं न बहु-श्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढ-धर्माश्रितो विद्वान् ज्ञात चरितं चरेत्।
अन्धवञ्च जड़वच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥

अर्थ —जिसको कोई सन्त या असन्त, अश्रुत या बहुश्रुत, सुवृत या दुर्वृत नहीं जानता, वह ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान् योगी दूसरों से अज्ञात चरित्र रहे। अन्धे के समान, जड़ के समान और मूक के समान पृथिवी में विचरण करे।

(१८) विशेष दूसरे पाद के सूत्र ३०, ३१, ३२, ४६, ४७, ४९, ५०, ५१ के वि० वि० तथा वि० व० में देखें।

(१९) सं० ५ में बतलाए हुए दृश्य ध्यान की निचली प्रकाश रहित अवस्था में ही सामने आते हैं और अधिकतर अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं रखते हैं। मन की एकाग्रता मे अपने ही पिछले संस्कार वृत्तिरूप से उदय हो जाते हैं। निर्भय होकर उनको द्रष्टा बनकर देखता रहे और यदि कोई अभ्यासी अपने पिछले संस्कारवश इनको वास्तविक रूप से ही अनुभव करे और उनसे अपना अनिष्ट समझ कर उनको हटाना चाहे तो संकल्प मात्र से ही अथवा ॐ या गायत्री के जाप से तुरन्त ही अदृश्य हो जाएंगे।

(२०) और वे जो ज्योतिर्मय अद्भुत दिव्य प्रकाश के साथ सामने आते हैं उनमें भी आसक्त न हो। केवल द्रष्टा रूप से देखता रहे। वे भी अधिकतर अपने ही सात्विक संस्कार होते हैं जो चित्त की प्रकाशमय अवस्था में वृत्ति रूप से उदय होते हैं तथा ब्रह्मलोक तक जो सात्विक संसार है वह भी चित्त की वृत्तिरूप से ही द्रष्टा के सामने आता है। सम्प्रज्ञात समाधि की यह प्रकाशमय अवस्था उस सबीज मुक्ति का अनुभव कराती है जिसका वर्णन १८ सूत्र के विशेष वक्तव्य में किया गया है।

(२१) सं० १५ में बतला आए हैं कि योग की शक्तियों को सांसारिक व्यवहार की बातों में प्रयोग करना अहितकर है। इस सम्बन्ध में एक साधक ने जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था का अनुभव बतलाया है उसको अन्य साधकों के हितार्थ समझते हैं। उस अभ्यासी ने बतलाया कि बड़े तप और साधन के पश्चात् जब उसको किसी एक आसन से छः सात

घंटे बैठने का अभ्यास हो गया और प्राण भी किसी विशेष स्थान पर इतनी देर तक स्थिर होने लगे तब गुरु कृपा और ईश्वर अनुग्रह से एक रात दो बजे के समय कुण्डलिनी जागृत हुई। उस दिन से लगभग दो बजे रात के चाहे वह जागता हो, सोता हो, बैठा हो या भजन कर रहा हो स्वयमेव विचित्र संसनाहट के शब्दों के साथ उसके शरीर के सारे स्थूल प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते और इस स्थूल शरीर से परे होकर सूक्ष्म जगत् के नाना प्रकार के अनुभवों को वह ग्रहण करने लगता। कुछ दिनों तक इसी प्रकार से कार्यक्रम चलता रहा। उसने पाश्चात्य (Spiritulism) स्प्रिरिच्युलिज़्म की बातों में सुन रखा था कि सब मृतक आत्माओं से बातचीत हो सकती है (वास्तव में यह बात ठीक नहीं है इसको साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्य में सम्मोहन शक्ति के प्रकरण में समझाया जावेगा) उसका एक सम्बन्धी जिसके प्रति उस का मोह था कुछ समय पूर्व मर चुका था। एक दिन उसने संकल्प किया कि आज रात अपने निश्चित समय पर उसको देखेंगे कि वह कहाँ है। ठीक रात के २ बजे के पश्चात् जब सूक्ष्म जगत् के अनुभव का कार्य्य आरम्भ हुआ तो उसके समक्ष एक गर्भ आया। पूछने पर अपमान और घृणा के साथ बतलाया गया कि यह वह व्यक्ति है जिसको तुम देखना चाहते हो। इस गर्भ रूप में अमुक घर और अमुक स्थान में है। यह सब बातें कई मास के पश्चात् ठीक निकलीं, किन्तु उसी दिन से उस साधक का वह कार्य्य बन्द हो गया और दो वर्ष तक कई घृणित रोगों में ग्रस्त रहा, जिनके कारण अभ्यास पर बैठना असम्भव हो गया। अन्त में रान पर गाण्ठ वाले फोड़े निकलना आरम्भ हुए। जब पांचवा फोड़ा निकल रहा था तब एक दिन उसको अपनी इस अधोगति की अवस्था पर अत्यन्त शोक और दुःख हुआ उस रात दोनों हाथों को नीचे की ओर सीधा करके दीवार का सहारा लेकर यह निश्चय कर लिया कि पिछली अवस्था को प्राप्त किये बिना न उठेगा। अधिक समय बीतने के पश्चात् उस अवस्था में प्रकाश के साथ एक एक आवाज आई 'कल आएंगे' इसने उत्तर दिया नहीं आज ही आना पड़ेगा। थोड़ी देर के पश्चात् उस प्रकाश में एक और अत्यन्त दिव्य प्रकाश के साथ एक विशाल दिव्य प्रकाशमय आकृति उसके समक्ष आई उस समय की सारी बातें वह साधक बतलाना नहीं चाहता, किन्तु उस सारी रात तथा उसके पश्चात कई दिन तक सुरीले मनोरञ्जक वेदों के मन्त्र सुनाई देते रहे। उस दिन से उसका कार्य्य फिर पूर्ववत् आरम्भ हो गया, किन्तु यह उससे कुछ विचित्र रूप का था इसमें पिछली जैसी मनोरञ्जकता और आकर्षण तो न था, किन्तु उससे अधिक आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाला था। सम्भव है कि पिछले अनुभवों की सूक्ष्मता को अधिक समय तक सहन करने योग्य उसका स्थूल शरीर नहीं और उसको कुछ विशेष भोगों का भोगना और विशेष कार्य्यों का करना हो।

ईश्वर की ओर से जो कुछ भी होता है वह मनुष्य के कल्याणार्थ ही होता है, किन्तु हमारा उद्देश्य केवल इतना बता देना है कि इन शक्तियों का सांसारिक कार्यों में प्रयोग न करना चाहिये।

अपने अनुभवों को दूसरों पर जाहिर करने में जहाँ अपनी इन शक्तियों का ह्रास होना तथा अभिमान और अहंकार का होना है वहाँ दूसरों के लिये भी अहितकर है। योग की रहस्यपूर्ण बातों को साधारण लोग समझने में असमर्थ होते हैं। परिणाम रूप कुछ अन्ध विश्वासी बन कर धोका खाते हैं और कुछ पाखण्ड रच कर सीधे सच्चे लोगों को धोका देते हैं। परस्पर भी एक दूसरे को अनुभव बताने में राग द्वेष असन्तोष और अभिमान की वृत्तियां उदय होकर साधना में विघ्नकारी होती हैं।

संगति—अब चित्त स्थिति का दूसरा उपाय बतलाते हैं:—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—विषयवती = (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द), विषयोंवाली। वा = अथवा। प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति। उत्पन्ना = उत्पन्न हुई। मनसः = मनकी। स्थिति-निबन्धनी = स्थिति को बांधने वाली होती है।

अन्वयार्थ—अथवा (गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयों वाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।

व्याख्या—नासिका के अग्र-भाग में संयम की दृढ़ता से जो दिव्य गंध का साक्षात्कार होता है, उसको गंध प्रवृत्ति तथा गन्ध-संवित् कहते हैं।

जिह्वा के अग्र-भाग में संयम की स्थिरता से जो दिव्य रस का साक्षात्कार होता है, उसे रस प्रवृत्ति तथा रस संवित् कहते हैं।

तालु में संयम की स्थिति में जो दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है उसको रूप प्रवृत्ति और रूप संवित् कहते हैं।

जिह्वा के मध्य भाग में संयम करने से जो दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है उसका नाम स्पर्श-प्रवृत्ति और स्पर्श-संवित् है।

जिह्वा के मूल में संयम की दृढ़ता से जो दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है उसको शब्द प्रवृत्ति और शब्द संवित् कहते हैं।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियें उत्पन्न हुई चित्त की स्थिति को बाँधती हैं। संशय को नाश करती हैं। समाधि प्रज्ञा की उत्पत्ति में द्वार रूप होती हैं। चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र, मणि-प्रदीप, रत्न-प्रभादि में चित्त के संयम से जो इनका साक्षात्कार होता है वह भी विषयवती प्रवृत्ति ही जाननी चाहिए।

भाष्यकार लिखते हैं कि यद्यपि शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश से सम्यक् जाना हुआ अर्थ यथार्थ ही होता है क्योंकि शास्त्र और आचार्य यथार्थ अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं तथापि शास्त्रों और आचार्यों से उपदेश किए हुए पदार्थों में जब तक किसी एक सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक कैवल्य-पर्यन्त सूक्ष्म और सूक्ष्म-तम पदार्थों में दृढ़ विश्वास नहीं होता। इसलिये शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिये किसी एक सूक्ष्म व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट पदार्थ का साक्षात्कार संयम की दृढ़ता के लिये अवश्य करना चाहिए।

जब शास्त्रादि उपदिष्ट अर्थ का एक देश में जिज्ञासु को प्रत्यक्ष हो जाता है तब कैवल्य पर्यन्त जितने सूक्ष्म विषय हैं उन सबको उसका श्रद्धा-पूर्वक दृढ़ विश्वास हो जाता है। इसी-लिए इन विषयवती प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है जिनका शीघ्र साक्षात्कार होजाता है।

इन प्रवृत्तियों में से किसी एक प्रवृत्ति के लाभ से उस शास्त्रोक्त अर्थ में वशीकारिता (स्वाधीनता) के होने से उस शास्त्रोक्त अर्थ के प्रत्यक्ष करने में पुरुष की सहज ही शक्ति हो जाती है और शास्त्रोक्त अर्थ में श्रद्धा की अधिकता से श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि का लाभ भी योगी को निर्विघ्न हो जाता है।

अतः विश्वास और श्रद्धा के लिये, तथा चित्त की स्थिति के लिये पहिले इन विषयवती प्रवृत्तियों में से किसी एक का सम्पादन करना चाहिये।

विशेष विचार—सूत्र ३५ः—सूत्र की व्याख्या में, गंध विषय का स्थान नासिका का अग्रभाग, रसना विषय का जिह्वा का अग्र-भाग; रूप विषय का तालु, स्पर्श विषय का जिह्वा का मध्य भाग, और शब्द विषय का जिह्वा का मूल स्थान बतलाया है।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात—इन स्थानों पर यदि स्थूल ग्राह्य विषयों का अर्थात् किसी विशेष गंध, रस, रूप, स्पर्श, अथवा शब्द का ध्यान किया जावे तो जब पूरी एकाग्रता होने पर उसका साक्षात्कार होने लगे तब वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगी।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात—यदि वहाँ न रुक कर एकाग्रता को और अधिक बढ़ाया जावे अथवा इनके सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं तक का साक्षात्कार होने लगे तब वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाएगी।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात—यदि उसमें भी राग को छोड़कर ध्यान को अन्तर्मुख किया जावे तो अहंकार का साक्षात्कार होने लगेगा। यह अहंकार गंध आदि विषय जैसी कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है, न इसका इस प्रकार जैसा साक्षात्कार होता है। इसमें एक विचित्र आनन्द के साथ बाहर के सारे व्यवहारों से भूली जैसी अवस्था होती है किन्तु यह भूला-पन स्वप्न अथवा सुषुप्ति जैसा नहीं होता। इसमें अहं-वृत्ति से अहंकार का साक्षात्कार होता है। यही अहंकार है, और इस समाधि का नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगा।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात—यदि अनन्दानुगत में आसक्ति और लगाव को छोड़कर ध्यान को और अन्दर की ओर बढ़ाया जावे तो अस्मिता (पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्त सत्व) का साक्षात्कार होने लगता है; इसमें भी चित्त का किसी ग्राह्य विषय जैसा साक्षात्कार नहीं होता। इसकी पृथक अवस्था का ही कुछ वर्णन हो सकता है। अन्तिम अवस्था का यथार्थ रूप शब्दों में नहीं आसकता। इसमें अहंकार द्वारा आत्मतत्त्व को अहं-भाव से प्रतीति कराने वाली 'अहंवृत्ति' नहीं रहती। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ममता, देश, दिशा, काल आदि से भिन्न आत्म-तत्त्व की प्रतीति होती है। बीच-बीच में ध्यान के शिथिल होने पर जब कोई अहंकार वाली वृत्ति आकर अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ममता की सीमा से परिच्छिन्न अवस्था की स्मृति कराती है तो उस दशा में बड़ा आश्चर्य होता है। इसकी उच्चतम अवस्था

विवेक ख्याति है जिसमें चित्त से भिन्न आत्मा का साक्षात्कार होता है। किन्तु यह चित्त द्वारा आत्म-साक्षात्कार वास्तविक नहीं है।

इसमें भी राग और आसक्ति के छूटने पर और अन्दर की ओर घुसने पर (पर-वैराग्य द्वारा) जब यह वृत्ति भी न रहे तब सब वृत्तियों के निरोध होने पर स्वरूपावस्थिति होती है। किन्तु यह सब बातें एक-साथ अथवा सुगमता और शीघ्रता से आने वाली नहीं हैं। दीर्घ काल तक निरन्तर सत्कार से अभ्यास करते हुए और क्रम-क्रम से भूमियों को विजय करते हुए धैर्य के साथ उन्नति करते रहना चाहिये।

अधिकारी पाठकों की जानकारी के लिये यह भी बता देना आवश्यक है कि सम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये भ्रुकुटि (आज्ञा चक्र) और असम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि के लिये ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) ध्यान के लिये सब से उत्तम स्थान हैं। किन्तु अभ्यास के लिये आरम्भ में अन्दर से इन स्थानों का अनुमान द्वारा पता लगाना कठिन होता है। यदि रूपविषय का स्थान जो तालु है उसके समक्ष अन्दर से ध्यान किया जावे तो ध्यान स्वयं भ्रुकुटि (आज्ञाचक्र) तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिह्वामूल (ऊपर का स्थान अथवा छोटी जिह्वा जो शब्द-विषय का स्थान है, वहां से तालु की ओर ऊपर को ध्यान किया जावे तो ध्यान ब्रह्मरन्ध्र तक स्वयं पहुँच जाता है। ध्यान के लिये तालु को भ्रुकुटि का द्वार और जिह्वामूल अथवा छोटी जिह्वा को ब्रह्मरन्ध्र का द्वार समझना चाहिये। कहीं-कहीं जिह्वामूल से ऊपर तालुमूल को एक ललनाचक्र का स्थान बतलाया है।

संगति—चित्त-स्थिति का विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति तीसरा उपाय अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—विशोका = शोक-रहित। वा = अथवा। ज्योतिष्मती = प्रकाश वाली (प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है)।

अन्वयार्थ—अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।

व्याख्या—सूत्र में 'उत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी'—'उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है'—इतना वाक्य शेष है, सो लगाना चाहिये। विशोका = सुखमय (सात्त्विक) अभ्यास से जिसका शोक (दुःख) अर्थात् रजोगुण का परिणाम दूर हो गया है। ज्योतिः = सात्त्विक प्रकाश। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति = सात्त्विक प्रकाश जिसमें अधिक वा श्रेष्ट हो, वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है।

जिस प्रकार पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन को स्थिर कर देती है वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' संज्ञक प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर कर देती है।

जैसे विषयवती प्रवृत्ति के नासिका, अग्रभाग, जिह्वा अग्रभागादि पाँच विशेष स्थान हैं जहाँ मन को स्थिर किया जाता है; वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' प्रवृत्ति के भी सुषुम्ना नाड़ी में विद्यमान मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा आदि सात पद्म अर्थात् चक्र

(जिनका सूत्र चौंतीस के वि० व० में वर्णन कर दिया गया है) विशेष स्थान हैं जहाँ चित्त को स्थिर करना होता है।

भाष्यकारों ने इन चक्रों में से हृदयकमल अर्थात् अनाहत-चक्र में मन को स्थिर करने का वर्णन इस प्रकार किया है :—

हृदय कमल में धारणा करने से (योगी को) जो बुद्धि संविद् होती है—(बुद्धि सत्त्व भास्वर आकाश सदृश है), उसमें स्थिति की दृढ़ता से प्रवृत्ति-सूर्य, चन्द्र, मणि और प्रभा रूपाकार से विकल्पित होती है। इसी भांति अस्मिता में समापन्न चित्त निस्तरङ्ग समुद्र के सदृश शान्त, अनन्त और अस्मिता मात्र होता है, जिसमें कि यह कहा है "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत् संप्रजानीते" उस अणुमात्र आत्मा को जान कर अस्मि (हूँ) इतना ही जानता है। यह दो प्रकार की विशोका विषयवती, और अस्मितामात्र प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है, जिससे योगी का चित्त स्थिर होता है।

भाव यह है कि नाभि में ऊपर हृदय-देश में जो हृदय-पद्म है यद्यपि वह मुख नीचे की ओर, नलिका ऊपर की ओर होने से अधोमुख है तथापि प्रथम रेचक (जैसे प्रच्छर्दन सूत्र ३४) प्राणायाम के अभ्यास द्वारा वह ऊर्ध्वमुख और प्रफुल्लित किया जाता है। उस ऊर्ध्वमुख-प्रफुल्लित पद्म के मध्य में 'ॐ' है, उसका 'अकार' सूर्यमण्डल और जाग्रत स्थान है। उसके ऊपर 'उकार' चन्द्रमण्डल और स्वप्न स्थान है। उसके ऊपर 'मकार' वह्निमण्डल और सुषुप्ति स्थान है। उसके ऊपर आकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद तथा अर्द्धमात्र तुरीय-स्थान है। उस कमल की कर्णिकाओं में स्थित जो ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना नाड़ी है उसको ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं (अथवा उसके बीच में उससे भी सूक्ष्म एक और नाड़ी है जो ब्रह्म-नाड़ी कहलाती है)। यह नाड़ी आन्तरिक सूर्यादि मण्डलों के बीच से होकर मूर्द्धा-पर्यंत चली गई है। इसलिये यह नाड़ी बाह्य सूर्यादि मण्डलों से भी सम्बद्ध है। यहाँ चित्त का निवास-स्थान है। जब योगी उसमें बुद्धि विषयक संयम करता है तब यह सात्त्विक ज्योति-स्वरूप आकाश-तुल्य भासता हुआ चित्त कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र, कभी मणिप्रभा आदि रूप की आकृति वाला भान होता है। फिर उस बुद्धि सत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्योतिस्वरूप बुद्धि सत्त्व का साक्षात्कार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति पद का वाच्य है। इसमें पूर्वोक्त सूर्यादि अनेक विषय रहते हैं, इसलिये यह भी विषयवती है और सत्त्वगुण-प्रधान होने से यह वृत्ति रजोगुण, तमोगुण से रहित है। इसलिये विशोका कहलाती है।

इसी प्रकार अस्मिता में धारणा किया हुआ चित्त जब निस्तरङ्ग समुद्र के तुल्य शान्त और अनन्त होकर सत्त्व-प्रधान हो जाता है तब उस चित्त की दशा को अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहते हैं। इसी अस्मिता के विषय में पञ्चशिखाचार्य का निम्न-लिखित सूत्र है:—

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते।

अर्थ—उस अणुमात्र अस्मिता का धारणा-पूर्वक अनुभव 'हूँ' इस प्रकार जानता है।

इन सब में से प्रथम निरूपित जो बुद्धि संवित् (बुद्धि साक्षात्कार-रूप प्रवृत्ति) है उसका नाम विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है । और दूसरी जो अस्मिता-स्वरूप चित्त की प्रवृत्ति है वह अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहलाती है । विशोका इन दोनों का विशेषण है, क्योंकि शोक के कारण रजोगुण से ये दोनों शून्य हैं ।

इन दोनों प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने से भी योगी का चित्त स्थिति पद की योग्यता प्राप्त कर लेता है ।

संगति—मन के स्थिर करने का अन्य चौथा उपाय बतलाते हैं :—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

शब्दार्थ—वीतराग-विषयम् = राग-रहित योगियों के चित्त-विषयक संयम करने वाला । वा = अथवा । चित्तम् = चित्त – (मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है) ।

अन्वयार्थ—अथवा राग-रहित योगी गण के चित्त विषयक संयम करने वाला (आलम्बन वाला) चित्त मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है ।

व्याख्या 'मनसः स्थितिनिबन्धिनी'—'मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है'—इतना मिलाने से सूत्र का अर्थ पूरा होता है ।

जिन महान् योगियों ने विषयों की अभिलाषा पूर्णतया छोड़ दी है, जिसके कारण उनके चित्त से अविद्यादि क्लेशों के संस्कार मिट गए हैं उनके चित्त का ध्यान करने वाले चित्त में भी वैसे ही सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं और वह सुगमता से एकाग्र हो जाता है ।

सूत्र का यह भी अर्थ निकल सकता है कि साधक यदि क्रमशः विषय राग रहित अवस्था को प्राप्त करके पूर्ण वैराग्य की भूमि पर पहुँच जाय तो भी मन की स्थिति को बांधने में समर्थ हो जाता है ।

संगति—चित्त की एकाग्रता का अन्य पांचवां उपाय अगले सूत्र में बतलाते हैं :—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

शब्दार्थ—स्वप्न-निद्रा-ज्ञान-आलम्बनम् = स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान को आलम्बन करने वाला । वा = अथवा (चित्त मन की स्थिति को बांधने वाला होता है)

अन्वयार्थ—अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान को आश्रय करने वाला चित्त मन की स्थिति को बांधने वाला होता है ।

व्याख्या—'चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनम्'—चित्त मन की स्थिति को बांधने वाला होता है'—इतना मिलाने से सूत्र का अर्थ पूरा होता है ।

जाग्रत अवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है, इस कारण वृत्तियां बहिर्मुख होती हैं । स्वप्न में रजोगुण बना रहता है परन्तु तमोगुण से आच्छादित होता है, इस कारण वृत्तियां अन्तर्मुख हो जाती हैं । निद्रा में तमोगुण रजोगुण को प्रधान-रूप से पूर्णतया दबा लेता है, इस कारण उस समय केवल अभाव की प्रतीति कराने वाली वृत्ति रहती है ।

स्वप्न और निद्रा ज्ञान आलम्बन से यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियां अन्तर्मुख होती हैं इसी प्रकार ध्यान की अवस्था में तम के स्थान पर सत्त्वगुण से वृत्तियों को अन्तर्मुख करना चाहिये। और जिस प्रकार निद्रा में तमोगुण की अधिकता से अभाव की प्रतीति होती है उसी प्रकार सत्त्वगुण की प्रधानता से एकाग्रता उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। इस प्रकार स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का आलम्बन करने (सहारा लेने) से मन स्थिर हो जाता है।

इस सूत्र के यह अर्थ भी निकल सकते हैं कि जिस प्रकार कभी-कभी मनुष्य अच्छे सात्त्विक और मनोरञ्जक स्वप्न के तथा गहरी सात्त्विक निद्रा के पश्चात् जागने पर भी कुछ समय तक यत्न-पूर्वक उसी अवस्था को बनाए रखता है, इसी प्रकार जाग्रत अवस्था से भूले-जैसे होकर वृत्तियों को अन्तर्मुख करते रहने से चित्त एकाग्र हो जाता है।

टिप्पणी—सूत्र ३८—विज्ञानभिक्षु ने सूत्र की व्याख्या निम्न प्रकार की है। स्वप्न रूप जो ज्ञान उस आलम्बन वाला चित्त अर्थात् प्रपंच ज्ञान में स्वप्न दृष्टि वाला चित्त जैसा कि कहा है "दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्" इस प्रपंच को लम्बा स्वप्न जानो या लम्बा चित्त का भ्रम समझो" यह दृष्टि कामदुघत्वादि गुणों से वाणी में धेनु दृष्टि के समान है। क्षणभङ्गुर आदि गुणों से जाग्रत ज्ञान में दृष्टि रूप है यह भी वैराग्य द्वारा चित्त की स्थिरता की कारण है यह आशय है। निद्रा रूप ज्ञान ही है आलम्बन जिसका वह निद्रा ज्ञान आलम्बन चित्त स्थिर हो जाता है। विस्मृत रूप सब जीवों में सुषुप्त दृष्टि वाला चित्त स्थिर हो जाता है। जैसा कि कहा है—

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया।
तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रमुच्यते॥
चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम्।
किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जिसकी माया से प्रसुप्त है उस विष्णु की कृपा से ही कोई मुक्त होता है। यहां इस चराचर को लय की भांति प्रसुप्त देखने वाले पुरुष का मन मिथ्या व्यवहार में विरक्त क्यों न हो अर्थात् अवश्य हो जाता है।

संगति—मनुष्यों की रुचियाँ भिन्न २ होने से जिस वस्तु में जिसकी अधिक रुचि होवे, उसी का वह ध्यान करे—अगले सूत्र में यह बतलाकर प्रवृत्ति के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

यथाभिमतध्यानाद्वा॥ ३९ ॥

अर्थ—यथा-अभिमत-ध्यानात् = जिसको जो अभिमत हो उसके ध्यान से (मन की स्थिति बंध जाती है)। वा = अथवा।

अन्वयार्थ—अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यान से मनकी स्थिति बंध जाती है।

व्याख्या—मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचियाँ होती हैं, इस कारण जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्त्विक श्रद्धा हो, उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र हो जाता है।

इस प्रकार जब चित्त में एकाग्रता की योग्यता प्राप्त हो जावे तो उसको जहाँ चाहे लगा सकते हैं ॥ ३९ ॥

संगति—चित्त के एकाग्र करने के उपाय बतला कर अगले सूत्र में उनका फल बतलाते हैं।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

अर्थ—परमाणु-परम-महत्त्व-अन्तः = परमाणु (सबसे बढ़ कर सूक्ष्म), और परम-महत्त्व (सबसे बढ़कर महान्), पदार्थों पर्यन्त। अस्य = पूर्वोक्त उपायों से स्थित हुए चित्त का। वशीकारः = वशीकार हो जाता है।

अन्वयार्थ—पूर्वोक्त उपायों से स्थित हुए चित्त का सूक्ष्म पदार्थों में परमाणु पर्यन्त, और महान् पदार्थों में परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

व्याख्या—जब ऊपर बतलाए हुए उपायों से चित्त में एकाग्र होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब वह पूर्णतया वश में हो जाता है और छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े विषय में बिना रुकावट के लगाया जा सकता है। फिर अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। सूक्ष्म विषयों की अवधि परमाणु है और बृहत् विषयों की अवधि आकाश है। जब इन दोनों में चित्त स्थित हो जाता है तब स्थिरता चित्त के वशीभूत हो जाती है अर्थात् इच्छानुसार चित्त को स्थिर किया जा सकता है। इस प्रकार दोनों कोटियों में जाते हुए चित्त का जो रुकावट का न होना है वह चित्त का परम वशीकार कहलाता है। इस वशीकार से परिपूर्ण हुआ योगी का चित्त पुनः किसी अन्य अभ्यास-साध्य-स्थिति-उपाय की अपेक्षा नहीं करता ॥४०॥

संगति—इस प्रकार इन उपायों द्वारा संस्कृत हुये चित्त की किस स्वरूप वाली, किस विषय वाली और कैसी समापत्ति होती है?—यह बतलाते हैं:—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥४१॥

अर्थ—क्षीण-वृत्तेः = जिसकी राजस् तामस् वृत्तियां क्षीण हो गई हैं (ऐसे स्वच्छ चित्त की)। अभिजातस्य-मणेः इव = उत्तम जाति (अति-निर्मल) स्फटिक मणि के समान। ग्रहीतृ = अस्मिता। ग्रहण = इन्द्रिय। ग्राह्येषु = स्थूल भूतादि पदार्थ तथा तन्मात्रा तक सूक्ष्म विषयों में। तत्स्थ = एकाग्र स्थित होकर। तदंजनता = उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त होजाना। समापत्तिः = समापत्ति (तदाकार होना) है।

अन्वयार्थ—राजस् तामस् वृत्ति रहित स्वच्छ चित्त की उत्तम जातीय (अति-निर्मल) मणि के समान ग्रहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियें), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों) में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है।

व्याख्या—यहाँ ऊपर बतलाए हुये उपायों से स्वच्छ हुए चित्त की उपमा अति

निर्मल स्फटिक अर्थात् बिल्लोर से दी गई है। जिस प्रकार अति-निर्मल स्फटिक के सामने जैसी वस्तु नीली, पीली, अथवा लाल वर्ण की रखी जावे तो वह वैसा ही प्रतीत होता है इसी प्रकार चित्त की जब सब प्रकार की राजस् तामस् वृत्तियें क्षीण हो जाती हैं तब वह सत्त्व के प्रकाश और सात्त्विकता के बढ़ने से इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसको जिस वस्तु में लगावें उसके तदाकार होकर उसको साक्षात् करा देता है, चाहे वह ग्राह्य अर्थात् स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय हो, चाहे ग्रहण अर्थात् इन्द्रियें और अहंकार और चाहे ग्रहीतृ अर्थात् अस्मिता हो।

यह वस्तु का साक्षात् कराना इस प्रकार होता है कि वह उस वस्तु के स्वरूप को धारण कर लेता है। चित्त के इस प्रकार तदाकार (वस्तु-आकार) हो जाने का नाम समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि है।

यद्यपि अनुष्ठान के क्रम से ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ होना चाहिये था तथापि ध्येय की और समाधि की उत्कृष्टता-अपकृष्टता बतलाने के अभिप्राय से ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य; इस क्रम से सूत्र में इसको बतलाया गया है।

संगति—अब इस समापत्ति के चार भेद दिखलाते हैं:—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उन समापत्तियों में से। शब्द-अर्थ-ज्ञान विकल्पैः = शब्द, अर्थ, और ज्ञान के विकल्पों से (भेदों से)। संकीर्णा = मिली हुई। सवितर्का-समापत्तिः = सवितर्क समापत्ति है।

अन्वयार्थ—उन समापत्तियों में से शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेद रूप से जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति होती है।

व्याख्या—शब्द जो कर्णेन्द्रिय से ग्रहण किया जा सके, अथवा अर्थों के विशेष योजना-रूप हो; जैसे शब्द 'गौ'।

अर्थ : जाति आदि जैसे 'गौ'—चार पाद, दो सींग, सास्ना और पुच्छ वाला पशु-विशेष।

ज्ञान : इन शब्द और अर्थ दोनों का प्रकाश करने वाली सत्त्वप्रधान बुद्धि वृत्ति जो शब्द 'गौ' और उसके अर्थ 'गौ' को मिलाकर बतलाती है कि जो 'गौ' शब्द है उसी का यह 'गौ' पशु-विशेष अर्थ है।

ये तीनों भिन्न हैं, परन्तु निरन्तर अभ्यास के कारण मिले हुए प्रतीत होते हैं। जब 'गौ' में चित्त को एकाग्र किया जावे तब समाधिस्थ चित्त में 'गौ' अर्थ 'गौ' शब्द और 'गौ' ज्ञान, के भेदों से वह मिला हुआ भासे अर्थात् जब इन तीनों में तदाकार रहे तब उस समापत्ति को सवितर्क समापत्ति कहेंगे। इसी को सविकल्प भी कहते हैं, क्योंकि इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान, इन तीनों का विकल्प बना रहता है। जब शब्द

और ज्ञान का विकल्प (भेद) जाता रहे और केवल 'गौ' अर्थ ही चित्त में भासता रहे तब वह निर्वितर्क (वितर्क-रहित) समापत्ति कहलाती है।

इसको विस्तार-रूप से यों समझना चाहिये कि 'गौ' ऐसा कहने से 'गौ-अर्थ', 'गौ-शब्द' और 'गौ ज्ञान' तीनों अभिन्न भान होते हैं। इनमें यद्यपि उदात्त, अनुदात्त आदि धर्मवाला 'गौ' शब्द भिन्न है, 'गौ' शब्द का अर्थ सास्ना, शृङ्ग, पुच्छ आदि धर्म वाला पशु-विशेष भिन्न है और 'गौ' शब्द से जो ज्ञान होता है वह प्रकाश आदि धर्म वाला ज्ञान भी भिन्न है। इसी प्रकार घट-पट आदि शब्द, अर्थ और ज्ञान भिन्न-भिन्न ही होते हैं तथापि शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेद-सा भान होता है। इसलिए असत्य, अभेद-विषयक होने से यह भान विकल्प-रूप ही है। (१।९)

जैसे कि 'गौ' यह शब्द है; यह एक विकल्प है। यह विकल्प 'गौ' इस अंश से गृहीत हुए अर्थ का और ज्ञान का शब्द से अभेद-विषयक है। इसी प्रकार 'गौ' यह अर्थ है; यह दूसरा विकल्प है। ऐसे ही 'गौ' यह ज्ञान है; यह तीसरा विकल्प है। यह विकल्प 'गौ' इस अंश से गृहीत हुए शब्द का और अर्थ का ज्ञान से अभेद-विषयक है।

भाव यह है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान; ये तीनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु शब्द-संकेत की स्मृति से एक के ज्ञान होने से दूसरे दोनों का भी साथ ही भान होता है। इससे शब्द-ज्ञान-पूर्वक—इस शब्द, अर्थ, ज्ञान के असत्य अभेद-विषयक होने से यह ज्ञान विकल्परूप है।

इसलिये संकेत-स्मृति पूर्वक स्थूलभूत अर्थ वा भौतिक पदार्थ में समाहित योगी के जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से मिश्रित समाधि होती है वह सवितर्क समापत्ति है।

और जब शब्द-संकेत की स्मृति के परित्याग-पूर्वक कार्यरूप आगम और अनुमान-रूप विकल्प से रहित, जिस समाधि-अवस्था में स्थूलभूत या भौतिक रूप अर्थमात्र का ही भान होता है वह निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

संकेत स्मृति-पूर्वक सवितर्क-समाधि अवस्था में जो शब्द से और ज्ञान से मिश्रित स्थूलभूत अथवा भौतिक पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसको विकल्प होने से अप्रत्यक्ष ही कहना चाहिये, क्योंकि शब्द-संकेत की स्मृतिपूर्वक जो ज्ञान होता है वह विकल्परूप ही होता है।

संकेत-स्मृति के परित्याग-पूर्वक निर्वितर्क समापत्ति अवस्था में शब्द से और ज्ञान से रहित जो अर्थमात्र का प्रत्यक्ष होता है उसको पर-प्रत्यक्ष कहते हैं। वह पर-प्रत्यक्ष आगम-ज्ञान का और अनुमान-ज्ञान का बीज है, क्योंकि इस पर-प्रत्यक्ष के बल से ही योगीजन उपदेश करते हैं और उपदिष्ट अर्थ का अनुमान द्वारा निश्चय कराते हैं। जैसे महर्षि कपिल, भगवान् पतञ्जलि, याज्ञवल्क्य आदि योगीश्वरों ने इसी पर-प्रत्यक्ष के बल से शब्द संकेत के बोधन द्वारा शास्त्र-स्मृति आदि रूप प्रथम उपदेश किया था। इसलिये महर्षि कपिल आदिक योगी-जनों का वह पर-प्रत्यक्ष संकेत बोधन द्वारा आगमज्ञान का और अनुमान-ज्ञान का कारण है।

अर्थात् इस पर-प्रत्यक्ष से आगम और अनुमान-ज्ञान उत्पन्न होते हैं। आगम और अनुमान-ज्ञान के पश्चात् पर-प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उसके आश्रित आगम और अनुमान

होता है। इसलिए योगी को निर्वितर्क-समाधि से उत्पन्न हुआ पर-प्रत्यक्ष ज्ञान दूसरे प्रमाणों से असम्बद्ध होता है।

संगति—इस निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—स्मृति-परिशुद्धौ = स्मृति के शुद्ध हो जाने पर (अर्थात् आगम, अनुमान, ज्ञान के कारणीभूत शब्द-संकेत-स्मरण के निवृत्त होने से)। स्वरूप-शून्या-इव = स्वरूप से शून्य-जैसी (अर्थात् अपने ग्रहण आकार ज्ञानात्मक रूप से रहित चित्तवृत्ति)। अर्थमात्र-निर्भासा = अर्थमात्र से भासने वाली (अर्थात् केवल ग्राह्य-रूप अर्थमात्र को ही प्रकाश करने वाली)। निर्वितर्का = निर्वितर्क समापत्ति है।

अन्वयार्थ—स्मृति के शुद्ध हो जाने पर (अर्थात् आगम-अनुमान के कारणीभूत शब्द-संकेत-स्मरण के निवृत्त होने से) अर्थमात्र से भासने वाली अपने (ग्रहणाकार ज्ञानात्मक) रूप से रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है।

व्याख्या—'स्वरूपशून्या इव' में 'इव' शब्द यह बतलाता है कि चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से नितान्त शून्य नहीं हो जाता है, क्योंकि ऐसा होने पर अपने ग्राह्य अर्थ के स्वरूप को धारण नहीं कर सकता। वह अर्थ के ग्राह्यमात्र स्वरूप में इतना तदाकार हो जाता है कि अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से शून्य-जैसा प्रतीत होता है।

सवितर्क समापत्ति में चित्त में शब्द, अर्थ और ज्ञान; तीनों भासते रहते हैं। अर्थात् चित्त इन तीनों में तदाकार रहता है। जितनी एकाग्रता बढ़ती जाती है उतनी ही बाह्यवृत्ति अन्तर्मुख होती जाती है। जब एकाग्रता इतनी सीमा तक पहुँच जावे कि शब्द और उस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; इन दोनों की स्मृति भी न रहे और चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूप से शून्य-जैसा होकर उस बाह्य वस्तु के, जिसमें वह लगाया गया है, शब्द और ज्ञान से निखरे हुए केवल अपने निजी अर्थमात्र स्वरूप को साक्षात् करावे अर्थात् शब्द और ज्ञान को छोड़कर केवल ध्येय-वस्तु के तदाकार हो जावे तो उस समापत्ति को निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। इसी का निर्विकल्प भी नाम है, क्योंकि इसमें शब्द और ज्ञान का विकल्प नहीं रहता।

विशेष विचार—सूत्र ४३—सवितर्क समापत्ति से निर्वितर्क समापत्ति में भेद बोधक जो 'अर्थमात्र निर्भासा' पद है उसके अर्थ को यों समझना चाहिये कि जैसे सवितर्क समापत्ति में ग्राह्यध्येय पदार्थ, तथा ग्राह्यध्येय पदार्थ का वाचक शब्द, और ग्राह्यध्येय पदार्थ का ज्ञान; ये तीनों विषय चित्त में वर्तमान रहते हैं वैसे निर्वितर्क समापत्ति में ये तीनों विषय चित्त में नहीं रहते हैं, क्योंकि इस दशा में केवल ग्राह्य (ध्येय) वस्तु-विषयक ही चित्त स्थिर रहता है, शब्द और ज्ञानविषयक नहीं रहता। इसलिये इसको 'अर्थमात्र निर्भासा' कहते हैं, क्योंकि इस समापत्ति में शब्द, अर्थ, ज्ञान-रूप (त्रिपुटि-रूप) विकल्प का भान न होकर केवल अर्थाकार से ही चित्त विद्यमान रहता है।

यद्यपि इस अवस्था में ग्रहणाकार ज्ञानात्मक चित्तवृत्ति भी रहती है, परन्तु वह अपने

रूप से भान नहीं होती है किन्तु ध्येयरूप ही हो जाती है; इसलिये 'स्वरूपशून्या इव' में यह 'इव' पद दिया है।

शब्द और ज्ञान भान न होकर केवल अर्थ का ही भान क्यों होता है ? इसमें हेतु दिखलाने के लिये 'स्मृति परिशुद्धौ' यह पद प्रयोग किया है, अर्थात् यदि विकल्पात्मक आगम-अनुमान ज्ञान के कारणीभूत शब्द-संकेत का स्मरण इसमें रहता तो शब्द और ज्ञान का भी भान होता। परन्तु वह स्मरण इस दशा में नहीं रहता; क्योंकि उसकी इस दशा में परिशुद्धि (निवृत्ति) होगई है। इसलिये शब्द और ज्ञान का भान न होकर केवल स्थूल 'गौ' 'घटादि' पदार्थों के स्वरूप का ही भान होता है, अन्य का नहीं।

संगति—इस प्रकार स्थूलभूत तथा भौतिक पदार्थ-विषयक ग्राह्य समापत्ति के सवितर्क निर्वितर्क-रूप दो भेद निरूपण करके अगले सूत्र में सूक्ष्म पदार्थ विषयक समापत्ति के सविचार-निर्विचार दो भेद निरूपण करते हैं:—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—एतया-एव = इस सवितर्क निर्वितर्क समापत्ति ही के निरूपण से। सविचारा-निर्विचारा-च = सविचार और निर्विचार समापत्ति भी। सूक्ष्म-विषया = सूक्ष्म विषय में। व्याख्याता व्याख्यान की हुई समझनी चाहिये।

अन्वयार्थ—इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के निरूपण से ही सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म विषय में व्याख्यान की हुई समझनी चाहियें।

व्याख्या—जब ध्येय कोई सूक्ष्म विषय हो और चित्त उसके देश, काल और निमित्त के विचार से मिला हुआ तद्रूप होकर उसको साक्षात् करावे तब वह सविचार समापत्ति कहलाती है; और चित्त जब एकाग्रता के बढ़ने पर देश, काल और निमित्त आदि की स्मृति

टिप्पणि—सूत्र ४३:—यहाँ प्रसङ्ग से भाष्यकारों ने यह भी बतलाया है कि इस निर्वितर्क समापत्ति के विषयभूत जो स्थूल 'गौ' 'घटादि' पदार्थ हैं वे न तो†अणु-समुदाय रूप हैं, ‡न ज्ञानस्वरूप हैं और+न अणुओं से उत्पन्न भिन्न कार्यस्वरूप हैं। ॐ किन्तु 'यह घट है' इस एकबुद्धि के उत्पन्न करने वाले अणुओं का स्थूल परिणाम-विशेष है।

† वैभाषिक सौत्रान्तिक-संज्ञक बौद्ध-मत वालों का सिद्धान्त है कि जितने स्थूल घट आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे अनन्त परमाणु ही मिले हुए हैं; परमाणुओं का कार्य वा परिणाम घटादि नहीं है, अतः परमाणु-पुञ्ज ही घट है; इस सिद्धान्त को संघातवाद कहते हैं।

‡ योगाचार-संज्ञक विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि यह सब घट आदि विज्ञान-स्वरूप हैं।

+नैयायिक तथा वैशेषिक यह मानते हैं कि अणुओं से द्व्यणुक, द्व्यणुक से त्रसरेणु इत्यादि प्रकार से परमाणु आदि का कार्य घट है; इस सिद्धान्त का नाम आरम्भवाद है।

ॐ इन तीनों से भिन्न सांख्य-योग का सिद्धान्त परिणामवाद है जिसको यहाँ सिद्ध किया गया है।

से शुद्ध होकर उस सूक्ष्म विषय को केवल धर्मिमात्र स्वरूप से तदाकार होकर प्रकाश करे तब वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

अर्थात् जैसे स्थूलभूत वा भौतिक पदार्थों में शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्प से संकीर्ण (मिश्रित) सवितर्क समापत्ति होती है वैसे ही देश, काल, रूप विशेषणों से अनुभव-पूर्वक सूक्ष्मभूत परमाणुओं में जो शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित समापत्ति है वह सविचार समापत्ति कहलाती है। अर्थात् ऊपर-नीचे आदि जो देश, वर्त्तमान आदि काल, और कार्य्य-कारणरूप जो ज्ञान है, जैसे पार्थिव परमाणु (सूक्ष्म पृथ्वी) का गन्धतन्मात्र-प्रधान पञ्च-तन्मात्र कारण है; जल परमाणु (सूक्ष्म जल) का गन्धतन्मात्र-रहित रसतन्मात्र-प्रधान चार तन्मात्र कारण हैं; अग्नि परमाणु (सूक्ष्म अग्नि) का गन्ध, रसतन्मात्र रहित रूपतन्मात्र-प्रधान तीन तन्मात्राएँ कारण हैं। एवं वायु परमाणु (सूक्ष्म वायु) का गन्ध, रस, रूपतन्मात्र रहित स्पर्शत मात्र प्रधान दो तन्मात्राएँ कारण हैं; एवं आकाश परमाणु (सूक्ष्म आकाश) का केवल शब्दतन्मात्र ही कारण है।

ऐसे देश-काल और कार्य-कारण अनुभव-पूर्वक जो सूक्ष्म-तन्मात्राओं में सवितर्क समापत्ति के सदृश शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित समापत्ति होती है वह सविचार समापत्ति है।

और देश-काल, कार्य-कारण-रूप विशेषणों के अनुभव के त्यागपूर्वक और विकल्प ज्ञान की कारण शब्द संकेत की स्मृति से परिशुद्ध हुए सूक्ष्मभूत परमाणुरूप अर्थमात्र-विषयक जो समापत्ति स्वरूप से शून्य-जैसी अर्थमात्र के रूप में भासमान (प्रकाशमान) होती है वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

इस निर्विचार समापत्ति में भी निर्वितर्क समापत्ति के समान प्रज्ञा-संज्ञक चित्त की वृत्ति स्वरूप से शून्य-जैसी होकर अर्थमात्र से भासती है।

भाव यह है कि सविचार समापत्ति मे (सूक्ष्म पृथ्वी गन्धतन्मात्र-प्रधान पञ्चतन्मा-त्राओं से उत्पन्न हुई है और गन्ध इसका धर्म है) इत्यादि प्रकार से कार्य-कारण भाव का विचार विद्यमान रहता है और निर्विचार में केवल सूक्ष्मभूतों का ही भान होता है, पूर्वोक्त विचार नहीं होता। यही इन दोनों मे भेद है।

इस प्रकार स्थूल पदार्थ-विषयक सवितर्क-निर्वितर्क और सूक्ष्म पदार्थ-विषयक सविचार निर्विचार-रूप भेद से यह समापत्ति चार प्रकार की है।

टिप्पणी सूत्र ४४:—समापत्ति और सम्प्रज्ञात-समाधि पर्यायवाचक शब्द हैं।

सवितर्क-समाधि के समान सविचार समापत्ति को भी नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त होने के कारण सविकल्प कहते हैं। इसी प्रकार निर्विचार समाधि को, जिसमें स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से चित्तवृत्ति रहित होकर केवल अर्थमात्र से भासती है निर्विकल्प भी कहते हैं। निर्विकल्प को असम्प्रज्ञात समाधि समझ लेना बड़ी भूल है, क्योंकि निर्विकल्प में यद्यपि त्रिपुटि का अभाव

होता है तथापि संसार का बीज बना ही रहता है और असम्प्रज्ञात समाधि में शुद्ध परमात्म-स्वरूप में अवस्थिति होती है।

ध्यान, सवितर्क तथा सविचार-समापत्ति और समाधि में भेद

ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटि बनी रहती है।

सवितर्क और सविचार समापत्ति में केवल ध्यान-विषयक ही शब्द, अर्थ से ज्ञान मिला हुआ विकल्प रहता है।

समाधि में केवल ध्येय का स्वरूप-मात्र ही रह जाता है।

अत सवितर्क और सविचार समापत्ति ध्यान से उत्तर एवं समाधि की पूर्व अवस्था है। इसे तटस्थ समापत्ति भी कहते हैं; इसलिये इसे भी समाधि समझा जाता है।

संगति सूक्ष्म विषय कहाँ तक हैं, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—सूक्ष्म विषयत्वं-च=और सूक्ष्म-विषयता। अलिंग-पर्यवसानम्=किसी में लीन न होने वाली अथवा लिंग रहित मूल प्रकृति (गुणों की साम्यावस्था) पर्यन्त है।

अन्वयार्थ—सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग प्रकृति-पर्यन्त है।

व्याख्या—सूक्ष्म—विषय जो सविचार और निर्विचार समापत्ति मे बतलाये हैं उनकी सूक्ष्मविषयता परमाणुओं में समाप्त नहीं हो जाती किन्तु प्रकृति-पर्यन्त है।

अर्थात् † पार्थिव-परमाणु तथा इसका कारणीभूत गन्धतन्मात्रा, जल-परमाणु तथा इसका कारणीभूत रसतन्मात्रा, अग्नि-परमाणु तथा इसका कारणीभूत रूपतन्मात्रा, वायु-परमाणु तथा इसका कारणीभूत स्पर्शतन्मात्रा, आकाश-परमाणु तथा इसका कारणीभूत शब्दतन्मात्रा, एवं पञ्चतन्मात्राओं का कारणीभूत अहङ्कार, अहङ्कार का कारणीभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व और महत्तत्त्व का कारण ‡ अलिङ्ग-संज्ञक प्रकृति; ये सब सूक्ष्म विषयों के अन्तर्गत हैं।

इन सबमें से पूर्व-पूर्व कार्य की अपेक्षा से उत्तर-उत्तर कारणीभूत सूक्ष्म हैं। प्रकृति से परे अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ के न होने से प्रकृति में ही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है।

---

† टिप्पणी सूत्र ४५:—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; इन पाँच तन्मात्राओं से प्रथम आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी-संज्ञक सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म भूतों से आकाशादि स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। पाचों स्थूल भूतों से लेकर पाचों तन्मात्राओं तक सूक्ष्म भूतों की समता का तारतम्य चला गया है।

‡ जो तत्त्व कारण में लीन हो जाता है अथवा कारण का बोधन करता है वह लिङ्ग कहलाता है। अर्थात् स्थूल-भूत और इन्द्रियां विशिष्टलिङ्ग हैं, सूक्ष्म-भूत तन्मात्रायें और अहंकार अविशिष्ट-लिङ्ग हैं और महत्तत्त्व केवललिङ्गमात्र है, ये महत्तत्त्व आदि अपने-अपने कारण में लीन होने से और अपने कारण प्रधान को बोधन करने से लिङ्ग हैं। प्रधान-प्रकृति किसी में लीन न होने से और किसी कारण को बोधन न करने से अलिङ्ग है।

यद्यपि 'अव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुति से प्रकृति की अपेक्षा पुरुष सूक्ष्म है तथापि पुरुष के अग्राह्य और चेतन होने से उसकी सूक्ष्मता जड़तत्त्व की सूक्ष्मता से विलक्षण है।

अर्थात् जैसे महत्तत्त्व की अपेक्षा से प्रकृति में सूक्ष्मता है वैसी पुरुष में नहीं; क्योंकि जिस प्रकार महत्तत्त्व का प्रकृति उपादान कारण है वैसा पुरुष उपादान कारण नहीं है, किन्तु निमित्त-कारण है। इसलिये यद्यपि वस्तुतः पुरुष ही सूक्ष्मतम है तथापि जड़-ग्राह्य, परिणामी-उपादान-कारण-सहित सूक्ष्मता की विश्रान्ति यहाँ प्रकृति में बतलाई गई है।

सूक्ष्मभूतों से लेकर प्रकृति-पर्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं वे सब विचार समापत्ति के विषय हैं। इसलिये आनन्दानुगत और अस्मितानुगत निर्विचार समापत्ति की ग्रहण और ग्रहीता-रूप उच्चतर तथा उच्चतम अवस्थाएं हैं।

सूक्ष्मता किसी नये तत्त्व के उपादान कारण होने की अपेक्षा से बतलाई गई है इस लिये पांच स्थूल भूत और ११ इन्द्रियें किसी नये तत्त्व के उपादान कारण न होने से स्थूल विषय माने गये हैं।

संगति—ये चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि हैं; यह बतलाते हैं:—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—ता-एव=ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही। सबीजः समाधिः=सबीज समाधि कहलाती हैं।

अन्वयार्थ—ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज-समाधि कहलाती हैं।

व्याख्या—ग्राह्य अनात्म वस्तु अर्थात् कार्य-सहित प्रकृति जो ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ-रूप दृश्यवर्ग है इसी का नाम बीज तथा आलम्बन (आश्रय) है। इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधि का नाम सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात है।

उपरोक्त चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि कहलाती हैं, क्योंकि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति तो स्थूल ग्राह्य वस्तु के बीज सहित (आलम्बन सहित=आश्रय सहित) होती हैं; और सविचार तथा निर्विचार सूक्ष्म ग्राह्य वस्तु के बीज सहित (आलम्बन सहित) होती हैं।

सत्रहवें सूत्र में बतलाई हुई आनन्दानुगत ग्रहण-रूप और अस्मितानुगत ग्रहीतृरूप दोनों समाधियाँ निर्विचार समापत्ति के क्रम से उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओं के रूप से निर्विचार समापत्ति के ही अन्तर्गत इस सूत्र में कर दी गई हैं। निर्विचार की इन दोनों उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओं को पृथक्-पृथक् रूप से सम्मिलित करने से सबीज-समाधि के छः भेद होते हैं:—

(१) सवितर्क समापत्ति : स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से युक्त भासने वाली चित्तवृत्ति।

(२) निर्वितर्कः स्थूल पदार्थों में शब्द (नाम) अर्थ (रूप) और ज्ञान के विकल्पों से रहित स्वरूप से शून्य-जैसी केवल अर्थमात्र से भासने वाली चित्तवृत्ति।

(३) सविचार : सूक्ष्म विषयों में देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पों से युक्त भासने वाली चित्तवृत्ति।

(४) निर्विचार : सूक्ष्म विषयों में देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पों से रहित *केवल धर्मीमात्र से भासने वाली चित्तवृत्ति।*

(५) निर्विचार की उन्नतर अवस्था आनन्दानुगत : सत्त्व-प्रधान अहङ्कार की "अहं अस्मि" से भासने वाली चित्तवृत्ति।

(६) निर्विचार की उच्चतम अवस्था अस्मितानुगत: बीजरूप अहङ्कार सहित चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त, 'अस्मिता' की अहंकार रहित 'अस्मि' से भासने वाली चित्तवृत्ति।

विशेष वक्तव्य-सूत्र ४६:—वाचस्पति मिश्र ने आनन्दानुगत और अस्मितानुगत के भी दो-दो अवान्तर भेद करके सबीज-समाधि के आठ भेद बतलाये हैं। इनका कथन है कि 'ता एव सबीजः' इस पाठ से यह अर्थ न लेना चाहिये कि यही चार सबीज-समाधि हैं, अन्य नहीं; क्योंकि ऐसा मानने से ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्ति को सबीजत्व का लाभ नहीं हो सकेगा, किन्तु 'ता सबीज एव' इस प्रकार भिन्न क्रम से 'एव' शब्द का सबीज शब्द के साथ अन्वय करके यह अर्थ करना चाहिये कि चारों सबीज ही हैं, निर्बीज नहीं हैं।

इस प्रकार इन चारों के निर्बीजत्व का निषेध हुआ है। ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्ति के सबीजत्व का निषेध नहीं हुआ है। इसलिये इन दोनों में भी सबीजत्व की विद्यमानता से ग्रहण-ग्रहीतृ समापत्तियों को भी सबीज जानना चाहिये।

जैसे ग्राह्य समापत्ति में विकल्प और विकल्प के अभाव से दो-दो भेद निरूपण किये गए हैं वैसे ही ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्ति में भी दो-दो भेद जान लेना चाहिये। अर्थात् ग्रहण नाम श्रोत्र आदि इन्द्रियों का है। शब्द श्रोत्र का विषय है और अहङ्कार इसका कारण है। इस प्रकार विचारपूर्वक भावना करने से सविचार ग्रहण समापत्ति और केवल इन्द्रियमात्र की भावना करने से निर्विचार ग्रहण समापत्ति, एवं 'महत्तत्त्व का कार्य अहङ्कार त्रिगुणात्मक है' इस प्रकार भावना करने से सविचार ग्रहीतृ समापत्ति और केवल अहङ्कारमात्र की भावना करने से निर्विचार ग्रहीतृ समापत्ति जानना चाहिये।

अतः चार प्रकार की ग्राह्य समापत्ति, दो प्रकार की ग्रहण समापत्ति, और दो प्रकार की ग्रहीतृ समापत्ति; ये सब मिलकर सबीज-समाधि के आठ भेद हुए।

विज्ञानभिक्षु ने सबीज-समाधि के छः भेद दिखलाये हैं:—

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार; और निर्विचार के अन्तर्गत इसकी दो ऊँची अवस्थाएँ आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

यही मूलसूत्र व्यासभाष्य तथा अनुभव के आधार पर ठीक प्रतीत होता है क्योंकि केवल सवितर्क और सविचार समापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान अथवा देश-काल और निमित्त से युक्त होती हैं, न कि निर्वितर्क और निर्विचार। फिर निर्विचार की उत्कृष्ट भूमियों आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात में उपरोक्त विकल्पों की सम्भावना कैसे हो सकती है ? आनन्दानुगत में तन्मात्राओं के कारण अहङ्कार की केवल 'अहं अस्मि' वृत्ति रहती है और अस्मितानुगत में अहंकार के कारण *अस्मिता की अहंकार से रहित* केवल

'अस्मि' वृत्ति रहती है। इसलिये वितर्क और विचार-जैसे आनन्द और अस्मिता समापत्ति के दो-दो भेद नहीं किये जा सकते।

संगति—निर्विचार समापत्ति इन चारों में सबसे बढ़कर है; उसका फल अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—निर्विचार-वैशारद्ये = निर्विचार की वैशारद्य = प्रवीणता = निर्मल होने पर। अध्यात्म-प्रसादः = अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

अन्वयार्थ—निर्विचार समाधि की वैशारद्य (प्रवीणता) होने पर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

व्याख्या—वैशारद्य—"स्वच्छः स्थितिप्रवाहो—वैशारद्यम्" = शुद्ध स्थिति का प्रवाह वैशारद्य कहलाता है।

अध्यात्म—"आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्म" जब आत्मा बुद्धि में स्थित रहता है वह अध्यात्म है।

प्रसाद—प्रसन्नता, निर्मलता।

अध्यात्म-प्रसाद—जब बुद्धि में प्रसन्नता निर्मलता रहती है वह अध्यात्म प्रसाद है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में रज-तम-रूप मल और आवरण का क्षय होने पर प्रकाशस्वरूप बुद्धि का सत्त्वगुण की प्रधानता से रजस्-तमस् से अनभिभूत (अतिरस्कृत) स्वच्छ स्थिरता-रूप एकाग्र-प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसी का नाम वैशारद्य है। इससे योगी को प्रकृति-पर्यन्त सब पदार्थों का एक ही काल में साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कार का नाम अध्यात्म-प्रसाद है इसी को स्फुट-प्रज्ञा-लोक तथा प्रज्ञा-प्रसाद भी कहते हैं। श्री व्यासजी महाराज इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

अर्थ—प्रज्ञारूपी प्रासाद (महल-अटारी) पर चढ़कर शोकरहित प्राज्ञ (योगी) शोक में पड़े जनों को ऐसे देखता है जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा मनुष्य नीचे पृथ्वी पर खड़े मनुष्यों को देखता है। (यहाँ निर्विचार के अन्तर्गत ही आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियें आगई हैं।)

संगति—अध्यात्म-प्रसाद से जिस प्रज्ञा (बुद्धि) का योगी को लाभ होता है उसका साथक नाम अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ऋतम्भरा = सचाई को धारण करने वाली, अविद्यादि से रहित। तत्र = उस अध्यात्म-प्रसाद के लाभ होने पर। प्रज्ञा = बुद्धि अर्थात् ज्ञान (उत्पन्न) होता है।

अन्वयार्थ—अध्यात्म-प्रसाद के लाभ होने पर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न

होती है उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सचाई को धारण करनेवाली अविद्यादि से रहित बुद्धि) है।

व्याख्या—निर्विचार समाधि की विशारदता से जन्य अध्यात्म-प्रसाद के होने पर जो समाहित-चित्त योगी की प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। यह उसका यथार्थ नाम है। क्योंकि 'ऋत' नाम सत्य का है और 'भरा' के अर्थ धारण करने वाली के हैं। अर्थात् यह प्रज्ञा सत्य ही को धारण करने वाली होती है; इसमें भ्रान्ति, विपर्यय-ज्ञान अर्थात् अविद्यादि का गन्ध भी नहीं होता।

इस प्रज्ञा के होने से ही उत्तम योग का लाभ होता है, जैसा कि श्री व्यासजी ने कहा है:—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

अर्थ— वेदविहित श्रवण से, अनुमान (मनन) से, और ध्यानाभ्यास में आदर (निदिध्यासन) से; तीन प्रकार से प्रज्ञा का सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है।

संगति—अगले सूत्र में आगम और अनुमान-जन्य ज्ञान से ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेष्ठता बतलाते हैं :—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम् = आगम और अनुमान की प्रज्ञा से। अन्य-विषया = इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है। विशेष-अर्थत्वात् = विशेष-रूप से अर्थ का साक्षात्कार करने से।

अन्वयार्थ—आगम और अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय अलग है विशेष-रूप से अर्थ का साक्षात्कार कराने से।

व्याख्या—पदार्थ के दो रूप होते हैं : एक सामान्य, दूसरा विशेष। सामान्य वह है जो उस प्रकार के सब पदार्थों में पाया जाता है; और विशेष वह है जो प्रत्येक व्यक्ति का अपना अपना रूप है, जिससे एक ही प्रकार के पदार्थों में भी एक-दूसरे से भेद हो सकता है। आगम-जन्य ज्ञान वस्तु के सामान्य रूप को ही विषय करता है, विशेष रूप को नहीं, क्योंकि विशेष के साथ शब्द का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं होता है। शास्त्र ने जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत किया है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्य रूप से ही बोधन करता है, न कि विशेष रूप से। गो, वृक्षादि शब्दों के सुनने से गो, वृक्षादि का सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, वृक्षादि का विशेष ज्ञान नहीं होता।

इसी प्रकार अनुमान भी सामान्य रूप से वस्तु का ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेष रूप से नहीं, क्योंकि अनुमान में लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है। जहाँ लिङ्ग की प्राप्ति नहीं वहाँ अनुमान नहीं हो सकता, जैसे 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, जहाँ प्राप्ति है वहाँ गति है, जहाँ गति का अभाव है वहाँ प्राप्ति का अभाव है'।

केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण ही वस्तु के विशेष रूप को दिखलाने में समर्थ होता है, किंतु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं के ही प्रत्यक्ष रूप को दिखला सकता है, न कि सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों को। पञ्चतन्मात्राएँ, अहङ्कार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की भी पहुँच नहीं है। आगम और अनुमान से इनके सामान्य रूप का ही पता लग सकता है, वे इनके विशेष रूप को नहीं बतला सकते।

निर्विचार समाधि की विशारदता में होने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। अतएव यह प्रज्ञा विशेष विषयक होने से श्रुत-अनुमान प्रज्ञा से अन्य और उत्कृष्ट है। यही परम प्रत्यक्ष है। यह श्रुत और अनुमान का बीज है, अर्थात् श्रुत और अनुमान इसके आश्रय हैं, न कि यह उनके। वस्तु के इस यथार्थ स्वरूप को ही आगम बतलाता है और इसी का अनुमान किया जाता है। यहां ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्रसंख्यान अर्थात् विवेक ख्याति के तुल्य समझना चाहिये।

संगति—इस प्रज्ञा का फल अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—तत्-जः = उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला। संस्कारः = संस्कार। अन्य-संस्कार-प्रतिबन्धी = दूसरे (सब व्युत्थान के) संस्कारों का प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) होता है।

अन्वयार्थ—*उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों का बाधक (रोकने वाला) होता है।*

व्याख्यान—समाधि से पूर्व चित्त केवल व्युत्थान के संस्कारों से ही संस्कृत होता है। फिर जब समाधि की अवस्था में जो उसको अनुभव होता है उसके भी संस्कार पड़ते हैं। ये संस्कार व्युत्थान के संस्कारों से बलवान् होते हैं, क्योंकि समाधि-प्रज्ञा व्युत्थान की प्रज्ञा से अधिक निर्मल होती है। उसकी निर्मलता में पदार्थ का तत्त्व अनुभव होता है। जितना तत्त्व का अनुभव होता है उतने ही उसके संस्कार प्रबल होते हैं। इन संस्कारों की प्रबलता से फिर समाधि-प्रज्ञा होती है। इस समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार व्युत्थान के संस्कारों और वासनाओं को हटाते हैं। व्युत्थान के संस्कारों के दबने से उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी दब जाती हैं। इन वृत्तियों के निरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है। इससे समाधि प्रज्ञा, समाधि प्रज्ञा से फिर समाधि के संस्कार। इस प्रकार यह चक्र लगातार चलता रहता है। यहाँ तक कि निर्विचार समाधि भी उपस्थित हो जाती है। फिर निर्विचार समाधि से ऋतम्भरा प्रज्ञा का लाभ होता है। उस प्रज्ञा से निरोध-संस्कार होता है, निरोध-संस्कार से फिर ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रकर्ष। उस प्रज्ञा से फिर निरोध-संस्कार का प्रकर्ष। इस प्रकार लगातार चक्र से निरोध के संस्कार पुष्ट हो-होकर व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा रोक देते हैं।

शंका—जब समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कार विद्यमान ही रहते हैं तो वे संस्कार चित्त को

अधिकार-विशिष्ट क्यों नहीं करते; क्योंकि जो चित्त वासना-जनित संस्कारों से युक्त होता है वह चित्त जन्मादि दुःख देने की योग्यता वाला होने से अधिकार-विशिष्ट कहा जाता है।

समाधान—यद्यपि संस्कार विद्यमान रहते हैं तथापि वे संस्कार क्लेशक्षय के हेतु होने से चित्त को अधिकार-विशिष्ट नहीं करते; प्रत्युत चित को अधिकार से रहित करते हैं, क्योंकि जो संस्कार क्लेशादि वासना से उत्पन्न होते हैं वे ही संस्कार चित को अधिकार-विशिष्ट करते हैं, न कि ऋतम्भरा प्रज्ञा-जन्य।

भाव यह है कि चित का दो कार्यों में अधिकार है; एक शब्द-रूप-रसादि विषयों का पुरुष को भोग देना, दूसरा विवेकख्याति उत्पन्न करना। उनमें भोग-हेतु क्लेशादि वासना-जनित संस्कार-विशिष्ट चित्त भोगादि अधिकार वाला होता है; और समाधि-जन्य संस्कार से क्लेश-संस्कार रहित हुआ चित विवेक-ख्याति अधिकार वाला कहा जाता है। इन दोनों में से पहिला ही अधिकार-भोग का हेतु है, न कि दूसरा।

विवेक-ख्याति के उदय होने से भोगाधिकार की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि विवेक-ख्याति के उत्पादन-पर्यन्त ही चित्त की चेष्टा रहती है, इसके पश्चात् नहीं रहती।

संगति—सबीज-समाधि का सबसे ऊँची चोटी तक वर्णन करके अब निर्बीज-समाधि को बतलाते हैं:—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—तस्य = (पर-वैराग्य द्वारा) उस ऋतम्भरा प्रज्ञा-जन्य संस्कार के। अपि = भी। निरोधे = निरोध हो जाने पर। सर्वनिरोधात् = (पुरातन-नूतन) सब संस्कारों के निरोध होने से। निर्बीजः समाधिः = निर्बीज-समाधि होती है।

अन्वयार्थ—पर-वैराग्य द्वारा उस ऋतम्भरा प्रज्ञा जन्य संस्कार के भी निरोध हो जाने पर पुरातन-नूतन सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज-समाधि होती है।

व्याख्या—पर-वैराग्य द्वारा जो निखिल-वृत्ति-प्रवाह तथा संस्कार-प्रवाह का निरोध है वह निर्बीज-समाधि है।

सम्प्रज्ञात-समाधि किसी ध्येय को आलम्बन (आश्रय) बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही बीज है। इसलिये उसको सबीज, सालम्बय तथा सम्प्रज्ञात कहते हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात-समाधि में आलम्बन का अभाव होता है। आलम्बन का अभाव करते-करते अभाव करने वाली वृत्तियों का भी अभाव होने पर जो समाधि होती है वह असम्प्रज्ञात है। आलम्बन न रहने से इसको निर्बीज, निरालम्बय तथा असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

यह निरोध केवल समाधि-जन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही विरोधी नहीं है, किन्तु प्रज्ञा-जन्य संस्कारों का भी विरोधी है। इसी के बोधनार्थ सूत्र में (तस्यापि) यह 'अपि' शब्द दिया गया है। अर्थात् इस निरोध से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह सब सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारों को रोककर ही उदय होता है।

यद्यपि इस सर्ववृत्ति-निरोध में तथा पर-वैराग्य-जन्य संस्कारों में प्रत्यक्ष-प्रमाण की

योग्यता नहीं है, क्योंकि सर्ववृत्ति-निरोध का योगी को प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसी प्रकार स्मृतिरूप कार्य से भी निरोध-संस्कार का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वृत्तिमात्र का निरोध होने के कारण यह संस्कार स्मृति उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, तथापि चित्त की निरुद्धावस्था का जो मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात्रिरूपादि काल-क्रम है उससे निरोध-संस्कारों का अनुमान होता है। अर्थात् योगी की जो वृत्तियों का निरोध होता है वह एक काल में नहीं होता है, किन्तु पहिले एक घटी, फिर दो घटी, फिर एक प्रहर; इत्यादि क्रम से होता है। इसी से निरोध-वृद्धि का सद्भाव सिद्ध होता है।

भाव यह है कि जैसे-जैसे स्वरूपस्थिति के अभ्यास से व्युत्थान तथा समाधि के संस्कारों की न्यूनता होती है, वैसे-वैसे निरोध के संस्कारों की सत्ता का अनुमान कर लेना चाहिये, *क्योंकि बिना निरोध-संस्कार की सत्ता के समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कारों की न्यूनता* होनी असम्भव है।

इस निरोधावस्था में क्लेश-जनक व्युत्थान-संस्कार तथा कैवल्योपयोगी सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारों के सहित ही चित्त अपनी प्रकृति में प्रविलय होकर अवस्थित हो जाता है।

यद्यपि निरोध-संस्कारों के सद्भाव से यह चित्त किञ्चित् अधिकार-विशिष्ट ही प्रतीत होता है, तथापि ये संस्कार अधिकार के विरोधी ही हैं, न कि भोग के हेतु, क्योंकि उस दशा में शब्द-रूप-रसाद्युपभोग तथा विवेकख्याति; ये दोनों ही अधिकार निवृत्त हो जाते हैं।

इसलिये यह चित्त निरोधावस्था में समाप्त अधिकार वाला होकर संस्कारों के सहित निवृत्त हो जाते हैं।

इस समाप्त अधिकार वाले चित्त के निवृत्त होने से पुरुष शुद्ध परमात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ केवल शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है। इस असम्प्रज्ञात समाधि के लाभ से ही योगी जीवन्मुक्त पद को प्राप्त होता है। यह असम्प्रज्ञात-योग ही सब कर्त्तव्यों की सीमा है।

विशेष विचार—सूत्र ५१:—गुण एक क्षण भी बिना परिणाम के नहीं रहते। चित्त में दो प्रकार का परिणाम होता है: एक आन्तरिक परिणाम—जो स्वाभाविक, वास्तविक स्वरूप "सत्त्वचित्त" में होता है; दूसरा, बाह्य—जो नाना प्रकार की वृत्तियों से होता है।

असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि की अवस्था में चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती। वृत्तियों को रोकने वाले संस्कार रहते हैं, जिनको (१।१८) में संस्कार-शेष के नाम से वर्णन किया गया है। इन संस्कारों के कारण चित्त में बाहर से निरोध अर्थात् वृत्तियों के रोकने का परिणाम होता रहता है (३।९)। चित्त में इस निरोध परिणाम के कारण पुरुष किसी बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित रहता है और चित्त पुरुष को दृश्य दिखलाने के कार्य को बन्द करके अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। ये चित्त को बनाने वाले गुण कैवल्य की अवस्था में तो अपने कारण में लीन हो जाते हैं, परन्तु इस निरोध परिणाम की अवस्था में अपने "सत्त्वचित्त" स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

इनमें अब केवल आन्तरिक परिणाम होता रहता है, जो शान्त प्रवाह वाला और स्वाभाविक है, जिसका वर्णन (३ । १०) में किया गया है। निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में पुरुष वृत्ति सारूप्य प्रतीत होता है और असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त पुरुष सारूप्य वृत्ति रहित चेतन प्रतीत होता है। असम्प्रज्ञात समाधि भंग होने पर निरोध संस्कार दबते जाते और व्युत्थान के संस्कार प्रबल होते जाते हैं। यहाँ पर व्याख्याता के गुरु-भाई श्रीमान् हरिभजनजी ने (अपने काष्ठ-मौन व्रत धारण करने से कुछ पूर्व मौनावस्था में) इस सम्बन्ध में जो अपने अनुभव द्वारा प्राप्त किये हुए विचारों को लिखकर दिया था, उनको उन्हीं के शब्दों में लिख देना जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी होगा।

श्रीमान् हरिभजनजी का संक्षिप्त परिचय

यह महात्मा पूर्व-जन्म के वैराग्य के संस्कारों के उदय होने पर अपने बाल्यकाल ही में पूज्यपाद श्री स्वामी सोमतीर्थजी महाराज की सेवा में रहकर कई वर्ष तक योग साधन करते रहे। तत्पश्चात् कई वर्ष तक पुराने गुरुकुल काँगड़ी के एकान्त स्थान में मौन साध कर अपनी अवस्था को परिपक्व करते रहे। गत हरिद्वार कुम्भ के पश्चात् मास मई सन् १९३९ ई० में काष्ठ मौन धारण कर लिया। मास जून १९३९ ई० से उनके कोई समाचार किसी प्रकार के नहीं मिले। उनके पिता, भाई, कुटुम्बियों, तथा भक्त और प्रेमी मित्रों ने उनके खोजने में पूर्ण प्रयत्न किया, परन्तु अब तक कुछ पता नहीं लगा है।

उनके अनुभव

"अब स्वरूप-स्थिति को समझें। प्रयत्न से जब विक्षिप्त चित्त को एकाग्र किया जाता है और फिर उसे निरुद्ध किया जाता है तब सर्ववृत्ति-निरोध हो जाने से जो पर पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना है; उसका नाम स्वरूपस्थिति नहीं है, उसका नाम पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थित होना है। स्वरूपस्थिति उससे बहुत ऊँची स्थिति है। जैसे विक्षिप्त-भूमि चित्त को यदि हम किसी साधन-विशेष से एकाग्र कर दें तो थोड़ी देर एकाग्र रह जाने पर भी हम उसको एकाग्र-स्थिति नहीं कह सकते; यह उसकी एकाग्र अवस्था ही है। अथवा एकाग्र-भूमि चित्त को यदि हम प्रयत्न से वृत्ति-निरोध द्वारा निरुद्ध कर दें तो हम उसे निरुद्ध-भूमि चित्त नहीं कह सकते; यह उसकी निरुद्धावस्था है, निरुद्ध-स्थिति नहीं है। इसी तरह जब जब तक हम चित्त को विक्षिप्त और एकाग्र स्थिति से किसी साधन द्वारा निरुद्ध करते हैं, तब तक हम स्वरूप-स्थिति नहीं कह सकते; यह पुरुष का अपने स्वरूप में केवल अवस्थित होना-मात्र है। जब चित्त की विक्षिप्त और एकाग्र-भूमि सर्वथा निरुद्ध-भूमि में बदल दी जाय, जब यह बिना किसी साधन के निरुद्ध रहने लगे, तब ऐसी अवस्था में जो पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है वही स्वरूप-स्थिति है। स्वरूप-स्थिति वाले की पुनः इतर (व्युत्थान) स्थिति कहना पूरी-पूरी भूल है; क्योंकि स्वरूप-स्थिति स्वाभाविक स्थिति है, वह बदल

नहीं सकती; और जब तक वह स्वाभाविक नहीं तब तक स्वरूप-स्थिति नहीं कहला सकती।

अतः स्वरूप-स्थिति वह स्थिति है जब कि चित्त की विक्षिप्त और एकाग्र-भूमि पूर्ण रूप से निरुद्ध-भूमि में बदल चुकी हो और ऐसी स्थिति में चित्त-वृत्ति-निरुद्ध, सहज ही, स्वाभाविक ही, अनायास ही रहने लगी हो; और इसी लिये उसे किसी प्रकार के भी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसी स्थिति आने पर जो पुरुष का सहज ही, स्वाभाविक ही, अनायास ही अपने स्वरूप में स्थित हो जाना है; वही स्वरूप-स्थिति है। स्वरूप-स्थिति तो उस स्थिति का नाम है जहाँ चित्त अनायास ही, सहज ही, स्वाभाविक ही निरुद्ध स्थिति में रहता हो। पुरुष की 'स्वरूप में अवस्थिति' और 'स्वरूपस्थिति' में बड़ा-भारी अन्तर है। पहिली प्रयत्न की अवस्था है, दूसरी सहज स्थिति है। इतना और याद रहे कि ऐसी स्थिति आने पर, जिस जिज्ञासु की स्वरूप-स्थिति हो गई हो, उसको भोगवश कोशमयी अवस्था में भी प्रारब्धानुसार यद्यपि आना पड़ता है परन्तु उस समय से पहिले क्योंकि वह स्वरूप में स्थित था; और भोग-समय के समाप्त हो जाने के बाद वह स्वरूप-स्थिति में ही रहता है, इसलिये भोगकाल की स्थिति भी उसकी स्वरूपस्थिति ही कही जायेगी। भोग के पहले तथा भोग के पीछे जिसकी स्वरूप में स्थिति है वह भोग-काल में भी स्वरूप में ही स्थित कहा जायेगा, यद्यपि यह भोग भोगते समय कोशमयी हालत में है; परन्तु वह उसकी कोशमयी अवस्था है कोशमयी स्थिति नहीं।

जैसे एकाग्रभूमि चित्त को जब हम प्रयत्न से निरुद्ध कर देते हैं, तो वह उसकी निरुद्ध स्थिति नहीं, वरन निरुद्धावस्था है। इसी तरह स्वरूपस्थिति वाले को जब-जब भी भोगवश कोशमयी हालत में आना पड़ता है तो वह उसकी कोशमयी अवस्था ही कही जायेगी, न कि कोशमयी स्थिति। स्थिति तो उसकी स्वरूपस्थिति ही है और उस कोशमयी अवस्था में भी वह तभी तक आता है जब तक भोग समाप्त हो जाने पर वह सदा के लिये अपने स्वरूप में सुप्रतिष्ठित नहीं हो जाता है।

अर्थात् जब तक व्युत्थान-चित्त की दशा में वृत्तियों का निरोध क्रिया-जन्य हो, प्रयत्न से हो; और स्थायी, दृढ़भूमि, स्वाभाविक, सहज और स्वयं होने वाला न हो गया हो, तब तक वह 'निरोध की अवस्था' अथवा 'स्वरूपावस्था' है, 'निरोध की स्थिति' अथवा स्वरूपस्थिति' नहीं है; बल्कि उस समय तक व्युत्थान की ही स्थिति है जो कि स्वाभाविक और दृढ़भूमि बनी हुई है। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध स्थायी और दृढ़भूमि हो जावे और बिना किसी क्रिया और प्रयत्न के स्वाभाविक, सहज ही प्रतिक्षण (हर-समय) बना रहे तब वह 'निरोध की स्थिति' अथवा 'स्वरूपस्थिति' कहलाएगी।

प्रश्न—क्या स्वरूपस्थिति हो जाने पर योगी के सब कार्य बन्द हो जाते हैं? क्योंकि कोई भी काम बिना व्युत्थान की अवस्था के नहीं हो सकता।

उत्तर—नहीं; बिना कर्म के कोई शरीरधारी नहीं रह सकता।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३। ४-६)

अर्थ—मनुष्य न (तो) कर्मों के न करने से 'निष्कर्मता' को प्राप्त होता है (क्योंकि कर्मों का न करना भी एक प्रकार का सकाम कर्म है) और न कर्मों को त्यागने-मात्र से 'स्वरूप-स्थिति' रूपसिद्धि को प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अर्थ—क्योंकि कोई भी (पुरुष) किसी काल क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता निःसन्देह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को (हठ से) रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी, असंयमी कहा जाता है। (क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ वास्तव में संयमित नहीं होतीं)।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—और हे अर्जुन ! जो (पुरुष) मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ, कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

अर्थ—तू शास्त्रविधि से नियत किये हुए स्वधर्म-रूप (कर्तव्यरूप) कर्म को कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है; तथा कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी (कर्म करते रहना ही जीवित शरीर का स्वभाव है, हठ से कर्म छोड़ देना शरीर का दुरुपयोग और अज्ञान है)।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अर्थ—यज्ञ अर्थात् आसक्ति-रहित निष्काम भाव से सब प्राणियों के कल्याणार्थ अथवा अपनी भोग-निवृत्ति के लिये ईश्वर-निमित्त किये हुए कर्म के सिवाय अन्य कर्म में

(लगा हुआ ही) यह मनुष्य, कर्मों द्वारा बँधता है, इसलिये हे अर्जुन ! आसक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त, कर्म का भली प्रकार आचरण कर।

'निरोध-स्थिति' अथवा 'स्वरूप-स्थिति' वाले योगी के कर्म भोग-निवृत्ति अथवा परमात्मा की आज्ञा-पालन करते हुए प्राणिमात्र के कल्याणार्थ ईश्वर-निमित्त होते हैं। इन॰ निष्काम और आसक्ति-रहित कर्मों के करने में उसकी 'व्युत्थान' की स्थिति नहीं होती, स्थिति तो 'निरोध' की ही रहती है। यह उसकी 'व्युत्थान की अवस्था' है जो अस्वाभाविक, अस्थायी और अदृढ़ तथा क्रिया-जन्य है। यह कर्म निष्काम भाव से और आसक्ति तथा वासना-रहित होते हैं, इसलिये आगे के लिये भोग और बन्धन के संस्कारों के उत्पादक नहीं होते। इस 'स्वरूप स्थिति' को गीता में 'समाधि-स्थिति' और ऐसे योगी को 'स्थित-प्रज्ञ' के नाम से वर्णन किया है।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

(गीता अध्याय २। ५४-११)

अर्थ—हे केशव ! 'समाधिस्थ-स्थितप्रज्ञ' का क्या लक्षण है ? (और) 'स्थित-प्रज्ञ' कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिस समय (यह पुरुष) मन में इच्छित सब इच्छाओं को त्याग देता है, उस समय आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ, 'स्वरूपस्थिति' को प्राप्त हुआ, 'स्थित-प्रज्ञ' कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ—दुःखों की प्राप्ति में उद्वेग-रहित है मन जिसका, (और) सुखों की प्राप्ति में दूर हो गई है स्पृहा जिसकी (तथा) नष्ट हो गए हैं राग, भय और क्रोध जिसके; (ऐसे) मुनि को 'स्थित-प्रज्ञ' कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो पुरुष सर्वत्र स्नेह-रहित हुआ, उस-उस शुभ तथा अशुभ (वस्तुओं) को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है (और) न द्वेष करता है उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

अर्थ—और कछुवा (अपने) अंगों को जैसे (समेट लेता) है (वैसे ही) यह पुरुष जब सब ओर से (अपनी) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है (तब) उसकी 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

अर्थ—(इन्द्रियों के द्वारा) विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के (भी केवल) विषय (तो) निवृत्त हो जाते हैं (परन्तु) राग नहीं (निवृत्त होता); और इस (स्थित-प्रज्ञ समाधिस्थ) पुरुष का (तो) राग भी 'परम-तत्त्व' को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

अर्थ—हे अर्जुन जिससे (कि) यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को यह प्रमथन करने वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अर्थ—उन सब इन्द्रियों को वश में करके समाहित-चित्त हुआ, मेरे (परमात्म तत्त्व के) परायण (स्थित) होवे, क्योंकि जिस पुरुष के इन्द्रियाँ वश मे होती हैं उसकी ही 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥—(गीता २।६९)

अर्थ—सर्व प्राणियों की जो रात है उसमे संयमी-समाधिस्थ (स्थित प्रज्ञ योगी) जागता है। जिसमें अन्य प्राणी जागते हैं वह तत्त्व को जानने वाले (स्थित-प्रज्ञ) मुनि के लिये रात है। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में सब प्राणी तमोगुण के प्रभाव से अन्तर्मुख वृत्ति होकर हृदयाकाश में आनन्दमय-कोश (कारण-शरीर) में रहते हैं। तमोगुण के अन्धकार के कारण ब्रह्मानन्द में रहते हुए भी वे उससे वञ्चित रहते हैं, जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है:—

इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति । (छा० ६।९।२)

अर्थ—सुषुप्ति में ये सारी प्रजायें (प्राणी) सत्-ब्रह्म में रहते हुए भी नहीं जानते कि हम ब्रह्म में स्थित हैं।

स्थित-प्रज्ञ योगी सत्त्वगुण के प्रभाव से आनन्दमय कोश अर्थात् कारण-शरीर में अन्तर्मुख होता है, इसलिये ज्ञान के प्रकाश में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है; यह उसका जागना है। जाग्रत अवस्था मे सब प्राणी व्युत्थान दशा में रहते हुए सांसारिक कार्य करते हैं। किन्तु

स्थित-प्रज्ञ योगी सब कार्यों को अपने भोग-निवृत्ति अथवा ईश्वर की ओर से कर्तव्य-मात्र समझता हुआ ममता और अहमता से रहित, अनासक्ति और निष्काम-भाव से करता है। इससे उत्पन्न होने वाली वासनाओं तथा ममता और अहमता के भावों से न स्पर्श किया हुआ अन्तर्मुख (ही) बना रहता है। इसलिये उसका जाग्रत-दशा में कार्य-क्षेत्र में रहना भी रात्रि की सुषुप्ति-अवस्था के सदृश है। *क्योंकि उससे भोग दिलाने वाली वासनाएँ तथा संस्कार चित्त में नहीं पड़ते।*

ये योगी जो स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर चुके हैं; दो प्रकार के होते हैं: पहिले - जिनके कर्म केवल भोगनिवृत्ति के लिये ही होते हैं; दूसरे—वे योगी जिनके कर्म भोग-निवृत्ति तथा निष्काम आसक्ति-रहित, परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होते हैं।

दो प्रकार की मुक्ति—इसी के अनुसार इन दोनों प्रकार के स्वरूपस्थिति वाले योगियों की मुक्ति भी दो प्रकार की होती है:—

प्रथम प्रकार के योगियों की मुक्ति में चित्त बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं जो सांख्य और योग का कैवल्य है। दूसरे प्रकार वालों की मुक्ति में 'चित्त-सत्त्व' अपने स्वरूप-सहित ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में (जिसका दूसरा नाम आदित्य लोक है) लीन (अवस्थित) रहता है।

ईश्वरीय नियमानुसार जब जब उनकी आवश्यकता होती है तब तब वे सर्व प्राणियों के कल्याणार्थ तथा संसार में धर्म मर्यादा स्थापन करने के लिये शुद्ध चैतन्य स्वरूप से शबल स्वरूप में भौतिक जगत में अवतरण करते हैं; जिस प्रकार स्वरूप स्थिति प्राप्त *किया हुआ योगी असम्प्रज्ञात-समाधि से व्यवहार दशा में आता है। यथा:—*

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ गी० ४।७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ गी० ४।८॥

अर्थ—हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं अपने आप को प्रकट करता हूँ, अर्थात् शुद्ध-स्वरूप से शबल-स्वरूप में आता हूँ ॥ ७॥ सज्जनों की रक्षा के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये (तथा) धर्म स्थापन करने के लिये युग-युग में प्रकट होता हूँ ॥ ८॥

यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि आना-जाना बन्धन और मुक्ति आदि सब क्रियायें अन्तःकरण में होती हैं, चेतन तत्त्व (पुरुष अर्थात् आत्मा) उनका केवल साक्षी, अप्रसवधर्मी, अपरिणामी, निष्क्रिय, कूटस्थ नित्य सदा एक रस रहता है।

उसमें बन्धन तथा मुक्ति का होना विकल्प से आरोप किया जाता है जैसा कि सांख्य सूत्र में बतलाया गया है। "वाङ् मात्रं न तु तत्त्वं चित्त स्थिति" 'पुरुष में बन्ध आदि कथन मात्र हैं क्योंकि चित्त में ही बन्ध आदि की स्थिति है। इन निर्मल, विशाल, ज्ञानवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यवान्, वैराग्य-युक्त चित्तों में यद्यपि अविद्या आदि क्लेशों का बीज सर्वथा दग्ध हो गया है, किन्तु संसार के कल्याण के संस्कार शेष रहते हैं, जिनके कारण ईश्वरीय नियमानुसार समय-समय पर उनका प्रादुर्भाव होता है। इन्हें इस संकल्प को हटा कर चित्त बनाने वाले गुणों को अपने कारण में लीन करके कैवल्य प्राप्ति का सर्वदा अधिकार रहता है।

जिस प्रकार विदेह मुक्त और जीवन मुक्त इन दो प्रकार के भेदों में उन जीवन मुक्त योगियों को भी मुक्त माना जाता है जिनके चित्त के बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं हुये हैं। किन्तु उनमें अविद्या आदि क्लेश सर्वथा दग्ध बीज होकर पुनः बन्धन रूप अंकुर के उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हो गये हैं। इसी प्रकार यहां भी मुक्ति के इन दोनों भेदों को समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

पूर्व अधिकार किये हुये योग का लक्षण चित्तवृत्ति-निरोध-इन पदों का व्याख्यान, अभ्यास और वैराग्य रूप दोनों उपायों का स्वरूप और भेद कह कर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से योग के मुख्य और गौण भेद को कह कर, योगाभ्यास को दिखलाते हुए, विस्तार से उसके उपायों को बतलाकर; और सुगम उपाय होने से ईश्वर का स्वरूप, प्रमाण, प्रभाव और उसका वाचक नाम तथा उपासनाओं को बतलाकर और उनके फलों का निर्णय कर, फिर चित्त के विक्षेप (व्याधिस्त्यानादि तीसवें सूत्रोक्त) और चित्त-विक्षेप के सहकारी दुःख आदि (इकत्तीसवें सूत्रोक्त) को कहकर और विस्तार से चित्त-विक्षेपादि को हटाने वाले, एकतत्त्व के अभ्यास, मैत्री, करुणा आदि और प्राणायाम आदि को कहकर तथा सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात दोनों अंग-रूप 'विषयवती वा प्रवृत्तिः' (पैंतीसवें सूत्र से लेकर) इत्यादि विषयों को कहकर; और उपसंहार द्वारा अपने-अपने विषय-सहित अपने स्वरूप और फल-सहित समापत्ति को कहकर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात की समाप्ति कर, सबीज-समाधि-पूर्वक निर्बीज-समाधि कही गई है। यह उपसंहार केवल सूत्रों का है, इसमें व्याख्याता के अपने वि० वि०, वि० व०, टिप्पणी इत्यादि अर्थात् (सूत्र एक में) अनुबन्ध-चतुष्टय जिसमें योग की प्राचीन परम्परा, योग-दर्शन की विशेषता, योग के भेद आदि विस्तार-पूर्वक वर्णन हैं, (सूत्र दो में) चित्त तथा सृष्टिक्रम का विस्तार के साथ वर्णन, (सूत्र सत्रह में) कोशों द्वारा अभ्यास की प्रणाली तथा कोशों की विस्तृत व्याख्या (सूत्र १८ में) सम्प्रज्ञात समाधि की भूमियों असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्य का विशेष वर्णन (सूत्र १९ में) 'भव' प्रत्यय' के सम्बन्ध में अयुक्

और 'विदेह, तथा 'प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण और पक्षपात पूर्ण विचारों के निराकरणार्थ तथा युक्त और यथार्थ अर्थ के समर्थनार्थ 'व्यासभाष्य' 'तत्त्व वैशारदी' तथा 'योग वार्तिक' का भाषानुवाद, (सूत्र २६ में) गुरु का यथार्थ स्वरूप, (सूत्र २७ में) प्रणव का वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक स्वरूप, (सूत्र २८ में) ओम्, स्थूल सूक्ष्म, तथा कारण शरीर की व्याख्या; जाग्रत; स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि-अवस्थाओं में भेद, (सूत्र चौंतीस में) सूक्ष्म प्राण, स्वर, स्वर-साधन, तत्त्व, तत्त्व-साधन, चक्र, चक्र-भेदन, कुण्डलिनी-शक्ति, कुण्डलिनी जाग्रत करने के उपाय, साधकों को आवश्यक चेतावनी; और (सूत्र इक्यावन में) स्थित-प्रज्ञ के लक्षण इत्यादि को भी उपसंहृत कर लेना चाहिये । इस प्रकार पातञ्जल-योग-प्रदीप में समाधि नाम वाले पहिले पाद की व्याख्या समाप्त हुई ।

इति पातञ्जल-योग-प्रदीपे प्रथमः समाधिपादः समाप्तः



साधन पाद

प्रथम पाद मे समाहित चित्त वाले योग के उत्तम अधिकारियो के लिये योग का स्वरूप, उसके भेद और उसका फल सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि को विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और योग के मुख्य उपाय वैराग्य तथा अभ्यास साधन की कई विधियें बतलाई हैं। पर विक्षिप्त चित्त वाले मध्यमाधिकारी जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष आदि से कलुषित (मलिन) हैं उनके लिये अभ्यास और वैराग्य का होना कठिन है। उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य को सम्पादन कर सके इस अभिप्राय से चित्त की एकाग्रता के असंदिग्ध उपाय क्रिया योग पूर्वक यम-नियमादि योग के आठ अंगो को बतलाने के लिये दूसरे साधन पाद का आरम्भ करते हैं।

योग के अंगों में प्रवृत्त कराने से पूर्व सबसे प्रथम चित्त की शुद्धि का एक सरल और उपयोगी उपाय क्रिया योग बतलाते हैं।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तपःस्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानानि = तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान। क्रिया-योगः = क्रिया योग है।

अन्वयार्थ—तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग है।

व्याख्या—तपः = जिस प्रकार अश्व-विद्या मे कुशल सारथी चंचल घोडों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और मन को उचित रीति और अभ्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुख, हर्षशोक और मान-अपमान आदि सर्व द्वन्द्वों की अवस्था मे बिना विक्षेप के स्वस्थ शरीर और निर्मल अन्तःकरण के साथ योग मार्ग मे प्रवृत्त रह सके। शरीर में व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियो मे विकार, और चित्त मे अप्रसन्नता उत्पन्न करने वाला तामसी तप योग मार्ग में निन्दित तथा वर्जित है। श्री व्यासजी महाराज लिखते हैं "अनादि कर्म क्लेश वासना से हुआ जो विषयो मे प्रवृत्ति कराने वाला अशुद्धि संज्ञक रजस् तमस् का प्रसार है वह बिना तप के अनुष्ठान के नाश को प्राप्त होना असम्भव है। अतः सब से पहिले तप रूप साधन का उपदेश किया है।' तच्च चित्त-ऽसाद नम-बाधमान-मनेना ऽऽ सेव्यमिति मन्यते, जो तप चित्त की प्रसन्नता का हेतु हो तथा शरीर इन्द्रियादि का बाधा कारक (पीडाकार) न हो। वही सेवनीय है अन्य नहीं, यही सूत्र कारादि महर्षियों को अभिमत है। क्योंकि व्याधि, शरीर की पीड़ा आदि और चित्त की अप्रसन्नता योग के विघ्न हैं ऐसा ही उपनिषदों में बतलाया है 'तपसाऽनाशकेन' 'जो शरीर का नाशक न हो'। तप की विशेष व्याख्या इस सूत्र के विशेष वक्तव्य में देखें।

स्वाध्याय—वेद-उपनिषद आदि तथा योग और सांख्य के अध्यात्म सम्बन्धी विवेक

ज्ञान उत्पन्न करने वाले सत्शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकार-सहित गायत्री आदि मन्त्रों का जाप।

ईश्वर प्रणिधान के सामान्य अर्थ (१)

ईश्वर की भक्ति विशेष और शरीर इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य और आभ्यन्तर करणों, उन से होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों को अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण कर देना है। और उस के विशेष अर्थ (२) ओ३म् का उस के अर्थों की भावना सहित मानसिक जाप है। जैसा कि समाधि पाद सू० २८ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्य में बतलाया गया है। दूसरे अर्थ का सम्बन्ध आभ्यन्तर क्रिया से है। यह असम्प्रज्ञात समाधि के लाभ तथा क्लेशों की निवृत्ति में साधन रूप है। समाधि पाद सू० २२ में समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिए यह अर्थ प्रधान रूप मे लिये गये हैं। पहिले अर्थ का सम्बन्ध अधिकतर हमारे व्यवहारिक जीवन से है। यह सम्प्रज्ञात समाधि तथा क्लेशों को तनु (शिथिल) करने में साधन रूप है। इस सूत्र में तथा इस पाद के सूत्र ३२ में विक्षिप्त चित्त वाले मध्यमाधिकारियों के लिए यही अर्थ प्रधान रूप से लिये गये हैं।

कामतो ऽ कामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

अर्थ—फलेच्छा से वा निष्कामता से जो शुभाऽशुभ कर्म का मैं अनुष्ठान करता हूँ। वह सब आप परमेश्वर के ही मैं समर्पण करता हूँ। क्योंकि आप अन्तर्यामी से ही प्रेरित हो कर मैं सब कर्म करता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थ—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! जो तुम कार्य करो वा भक्षण करो वा यज्ञ करो अथवा दान करो वह सब मेरे (परमेश्वर के) ही अर्पण करो। यहां यह ध्यान रखने की बात है। कि जिस योगी ने अपने समस्त कार्य ईश्वर के समर्पण कर दिये हैं। उस का कोई काम अशुभ न होगा। सब शुभ ही होंगे। तथा फलों को ईश्वर, समर्पण कर देने के कारण उसके कर्म फलेच्छा परित्याग पूर्वक ही होंगे। कर्मों और उनके फलों को ईश्वर समर्पण कर देने के अर्थ कर्म हीन बन जाना नहीं है।

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फल हेतु र्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता॥

अर्थ—हे अर्जुन ! कर्मों के अनुष्ठान ही में तुम्हें अधिकार है, कर्मों के फल में कदापि नहीं, अतः फल के अर्थ कर्मों का अनुष्ठान मत करो। और कर्म हीनता में भी तेरी आसक्ति न होनी चाहिये। अर्थात् ईश्वर समर्पण करके सदा निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्य रूप शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

शंका—समाधि पाद में उत्तम अधिकारियों के लिये वैराग्य अभ्यासादि साधन बतलाये गये हैं। और इस साधन पाद में मध्यमाधिकारियों के लिये अष्टांग योग। फिर यहां उस अष्टांग योग के केवल तीन नियमों को ही क्यों साधन रूप बतलाया गया है।

समाधान—इस पाद मे मध्यमाधिकारियों के लिये वास्तव में तो अष्टांग योग ही साधन रूप बतलाया गया है। और तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान पांचो नियमो के अन्तिम तीन भाग हैं। किन्तु यह व्यवहारिक जीवन को शुद्ध और सात्विक बनाने में अधिकसहायक होते हैं। जिससे चित्त शुद्ध और निर्मल होकर अष्टांग योगपर सुगमता से आरूढ हो सकता हैं।

गीता मे ऐसे योगेच्छु को आरुरुक्षु नाम र पुकारा गया है। और इस क्रिया योग का नाम कर्म-योग दिया गया है। यथाः—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

अर्थ—आरुरुक्षु अर्थात् योगारूढ होने की इच्छा रखने वाले मनन शील पुरुषों के लिये कर्मयोग को कारण अर्थात् साधन कहा है। तप से शरीर, वाणी, मन और अन्तः करण की अशुद्धि दूर होती है। स्वाध्याय से तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति तथा मन की एकाग्रता और ईश्वर प्रणिधान से कर्मों मे कामना और फलों मे आसक्ति का त्याग तथा ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। इस लिए इनको क्रिया योग नाम से अष्टांग योग के पूर्व अनुष्ठान करना बतलाया है। और यदि इन तीनों के व्यापक अर्थ लिये जावें तो सारे योग के आठों अंग इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य-सूत्र १

तप की व्याख्याः—जिस प्रकार अग्नि मे तपाने से धातु का मल भस्म हो जाने पर उसमें स्वच्छता और चमक आ जाती है। इसी प्रकार तप की अग्नि में शरीर इन्द्रियो आदि का तमो गुणी आवरण के नाश हो जाने पर उनका सत्त्वरूपी प्रकाश बढ़ जाता है। योग-मार्ग में आसन प्राणायाम जिन का सूत्र ४६ व ४९ मे क्रम से वर्णन किया जायेगा और सात्विक अहार विहारादि शरीर के तप माने गये हैं तथा प्रत्याहार जिसका वर्णन सूत्र ५४ में किया जावेगा और शम दम आदि इन्द्रियों तथा मन के तप है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति-स्वप्न-शीलस्य जाग्रतो नेव चार्जुन॥ गीता० ६। १६॥

अर्थ—यह योग न तो बहुत अधिक खाने वाले को, और न कोरे ोकउपवासी वैसे ही न बहुत सोने वाले को और न बहुत जागने वाले को प्राप्त होता है।

युक्ताहार-विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ गीता० ६। १७॥

अर्थ—जो मनुष्य आहार-विहार मे दूसरे कर्मो में, सोने जागने में नियमित रहता है उसका योग दुःख नाशक होता है।

युक्ताहार (मिताहार) यथाः—

सु स्निग्ध मधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुज्यते शिव-संप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥

अर्थ—स्निग्ध, मीठा, प्रिय आहार, क्षुधा परिमाण से चतुर्थ भाग से न्यून, शिव (ईश्वर) की सम्यक् प्रीति के लिए जो किया जाता है वह मिताहार कहा जाता है।
तामसी राजसी, हिंसा से प्राप्त किये हुये, तथा गरिष्ठ, वात-कफ कारक, अति उष्ण, खट्टे, चर्परे, बासी, अविरुद्ध, सूखे हुये, रूखे, सड़े हुये, जूठे, नशा करने वाले उत्तेजक स्वास्थ्य की हानि पहुंचाने वाले, पदार्थों का त्याग कर केवल शुद्ध, सात्त्विक, हलके, मधुर, रसदार, स्निग्ध, ताजा, स्वास्थ्य वर्द्धक, चित्त को प्रसन्न करने वाले पदार्थ जैसे दूध, घृत, ताजे रसदार मीठे सात्त्विक फल, मीठा सन्तरा, मीठा अनार, मुसम्मी (माल्टा) अंगूर, सेब, केला, मीठा आड़ू, खूबानी आदि, तथा खुश्क फल जैसे बादाम, अंजीर मुनक्का इत्यादि; सात्त्विक सब्जी जैसे लौकी परवल, तुरई आदि; सात्त्विक—अनाज जैसे गेहूं, मूंग, चावल आदि का नियमित रूप से भूख से न्यून मात्रा में सेवन करना अर्थात् उदर को दो भाग अन्न से भरना एक भाग जल से और एक भाग वायु के सञ्चारार्थ खाली रखना। रात्रि में सोने से पूर्व दूध, फल आदि स्वल्प मात्रा में लेना चाहिये।

योगीजन स्वाद को वशीकार किये हुए शरीर से आसक्ति और ममता त्यागे हुए शरीर को केवल भजन के कार्य में उपयोगी बनाने के निमित्त खान पान आदि का विशेष ध्यान रखते हैं। साधारण मनुष्य स्वाद के वशी भूत होकर, शरीर में आसक्ति और ममता के साथ खान पान आदि के व्यवहार में लिप्त रहता है। यह योगी और भोगी में भेद है। योगाभ्यासी के लिए मांस, मादक पदार्थ, तथा लाल मिर्च आदि सर्वथा त्याज्य हैं। इन के सेवन की अपेक्षा भूखा रहना हितकर है। इन के सेवन में आपत्ति तथा धर्म की आड़ किसी अवस्था में नहीं ली जा सकती।

युक्त विहारः—ऐसी लम्बी कठिन यात्रा का न करना जिस से भजन में विघ्न पड़े। चलना फिरना बिलकुल बन्द न कर दिया जाय जिस से तमो गुण रूपी आलस्य तथा प्रमाद उत्पन्न हो कर भजन में बाधक हों बल्कि इतना चलता फिरता और घूमता रहे जिससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न रहे। भजन का कार्य सफलता पूर्वक होता रहे।

युक्त कर्म चेष्टाः—नियमित रूप से कर्त्तव्य तथा नियत सत्कर्मों को नित्य करते रहना अर्थात् न इतना अधिक शारीरिक परिश्रम करना जिस से थकान उत्पन्न होकर भजन में विघ्न पड़े। और न सर्वथा कर्त्तव्य हीन होकर आलसी बन जाना।

युक्त-स्वप्नावबोधः—रात्रि में सात घण्टे से अधिक न सोना जिस से तमो गुण न बढ़े न चार घण्टे से कम सोना जिसमे भजन करते समय नींद न सतावे।

योग मार्ग में चान्द्रायण आदि व्रत तथा लम्बे उपवास वर्जित हैं। सप्ताह में एक दिन उपवास रखना प्रशस्त है, जिससे सप्ताह में संचित हुये शारीरिक तथा मानसिक विकार निवृत्त होते रहें। उपवास वाले दिन अन्न सर्वथा त्याग दे, दूध फलादि हलका आहार लेना चाहिये। सर्वथा निराहार रहने से प्राणों के निरोध के साथ भजन करने की

अवस्था में मस्तिष्क में खुश्की पहुँचने और कई दिनों तक भजन के कार्य में विघ्न पड़ने की सम्भावना हो सकती है। विशेष अवस्था में किसी २ ऐसे साधक से जो शरीर के स्थूल तथा विकारी होने अथवा रजोगुणी मन की चञ्चलता के कारण योग मार्ग पर सुगमता से नहीं चल सकते, चान्द्रायण आदि व्रत तथा लम्बे उपवास भी कराये जाते हैं। ये किसी अनुभवी की अध्यक्षता और पूरी देख भाल में होने चाहियें। प्रत्येक दिन नमक और साबुन मिश्रित गुन गुने जल से एनिमा करते रहना आवश्यक है।

ऐसा न करने से पिछला बचा हुआ मल आंतो में सूख जाता है। उससे आंतों में खराश तथा अन्य विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। लम्बे उपवास में पित्त बढ़ जाता है। इसलिए उपवास की समाप्ति पर कागजी नीबू का शरबत अथवा शिकञ्जबी पिलावे। दूध तथा रसीले फल कागजी नीबू मीठा अनार, सेब, मीठा सन्तरा, मुसम्मी, अंगूर आदि शनैः शनैः बढ़ाते जावें। खट्टे फलों को दूध के साथ न दे। कई दिनों के पश्चात् अन्न को प्रथम मूंग की दाल के पानी से आरम्भ करे और शनैः शनैः मात्रा बढ़ाते जावें। ऐसा करने से शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सुधर जावेगा। लम्बे उपवास के पश्चात् आंतों में पाचन शक्ति कम हो जाती है। और भूख बढ़ जाती है थोड़ी सी भूल में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वाणी का तप—वाणी का तप वाणी को संयम में रखना है अर्थात् केवल सत्य, प्रिय, आवश्यकतानुसार दूसरों का यथा योग्य सम्मान करते हुये वाणी से वचन निकालना वाणी को संयम में रखने का यत्न करते हुये सप्ताह में एक दिन मौन व्रत रखना प्रशस्त है। वाणी को संयम में रखने का यत्न किये बिना केवल देखा देखी मौन रखना मिथ्याचार है।

मन का तपः—मन का तप मन को संयम में रखना है अर्थात् हिंसात्मक, क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारों को मन से हटाते हुये अहिंसात्मक अक्लिष्ट भावनाओं और शुद्ध विचारों को मन में धारण करना है। इस प्रकार क्लिष्ट विचारों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् सब प्रकार के विचार भविष्य के संकल्प विकल्प और भूत काल की स्मृति से मन को शून्य करने का अभ्यास करना चाहिये।

गीता के अध्याय १७ के अनुसार सात्त्विक राजसी और तामसी तपः—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कार-मान-पूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढ़ ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—फल को न चाहने वाले निष्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये

हुए उस तीन प्रकार के (शारीरिक-वाचिक और मानसिक) तप को सात्त्विक कहते हैं। और जो तप सत्कार मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से किया जाता है वह अनिश्चित और क्षणिक फल वाला तप यहां राजस् कहा गया है जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से मन-वाणी और शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तप तामस कहा गया है।

स्वाध्यायः—स्वाध्याय की व्याख्या में हमने जो ओंकार-सहित गायत्री आदि का जाप बतलाया है। उस गायत्री मन्त्र के अर्थों को विशेष रूप से खोल देना उचित प्रतीत होता है। गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में मनु महाराज लिखते हैं।

ओंकार-पूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ २। ८ ॥

अर्थ—तीन मात्रा वाले ओंकार पूर्वक तीन महाव्याहृति और त्रिपदा सावित्री को ब्रह्म का मुख (द्वार) जानना चाहिये।

गायत्री मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो
देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
(य० अ० ३६ मन्त्र ३) (ऋग्वेद ३ सू० ६२ मं १०)

ओंकार की तीन मात्रायें:—अकार, उकार, मकार और चौथा अमात्र विराम।

अकारः—एक मात्रा वाले विराट् जो स्थूल जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का नाम है।

फल—पांचों भूतों और उनसे बने हुए पदार्थों को आत्मोन्नति में बाधक होने से हटा कर साधक बनाने वाला अपने विराट् रूप के साथ स्थूल जगत् के ऐश्वर्य का उपभोग कराने वाला।

उकार—दो मात्रा वाले हिरण्यगर्भ जो सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का नाम है।

फल—पांचों स्थूलसूक्ष्म भूतों और अहङ्कार आदि को आत्मोन्नति में बाधक होने से हटाकर साधक बनाने वाला, अपने हिरण्यगर्भ रूप के साथ सूक्ष्म जगत् में ऐश्वर्य का उपभोग कराने वाला।

मकार तीनों मात्रा वाले ईश्वर जो कारण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का नाम है।

फल—कारण जगत् को आत्मोन्नति में बाधक बनने से हटा कर साधक बनाने वाला अपने अपर स्वरूप के साथ कारण जगत् के ऐश्वर्य का उपभोग कराने वाला।

अमात्र विराम—परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति अर्थात् स्वरूपावस्थिति जो प्राणि मात्र का अन्तिम ध्येय है।

(२) तीन महाव्याहृतियां—भूः, भुवः, स्वः

भूः—सारे ब्रह्माण्ड का प्राण रूप (जीवन देने वाला) ईश्वर सब प्राणधारियों का प्राण सदृश आधार और प्यारा पृथ्वी लोक का नियन्ता।

भुवः—सारे ब्रह्माण्ड का अपान रूप (पालन पोषण करने वाला) ईश्वर, सब प्राणियों को तीनों प्रकार के दुःखो से छुडाने वाला, अन्तरिक्ष लोक का नियन्ता।

स्वः—सारे ब्रह्माण्ड का व्यान रूप (व्यापक) ईश्वर सब प्राण धारियों को सुख और ज्ञान का देने वाला द्यौलोक का नियन्ता।

(३) गायत्री के तीन पाद—तत्सवितुर्वरेण्यम्।

भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

सवितु—सब जगत् को उत्पन्न करने वाले अर्थात् सब प्राणधारियों के परम माता पिता।

देवस्य—ज्ञान रूप प्रकाश के देने वाले देव के

तत्—उस

वरेण्यम्—ग्रहण करने योग्य अर्थात् उपासना करने योग्य

भर्गः—शुद्ध स्वरूप का

धीमहि—हम ध्यान करते हैं।

यः—जो (पूर्वोक्त सविता देव)

नः—हमारी

धियः—बुद्धियों को

प्रचोदयात्—ठीक मार्ग में प्रवृत्त करे।

अर्थः—सब प्राणियों के परम पिता-माता ज्ञानरूप प्रकाश के देने वाले देव के उस उपासना करने योग्य शुद्ध स्वरूप का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को ठीक मार्ग में प्रवृत्त करें।

तीनों गुणों का प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व है। इसको व्यष्टि रूप में बुद्धि तथा चित्त कहते हैं। इसी से सत् असत्, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म अधर्म आदि का निर्णय किया जाता है। इसी में जन्म, आयु और भोग देने वाले सारे संस्कार रहते हैं। इसके पवित्र होने से सन्मार्ग की प्राप्ति संस्कारों की निवृत्ति और जन्म आयु और भोग से मुक्ति हो सकती है। इस गायत्री मन्त्र में विशेष रूप से बुद्धि अथवा चित्त की पवित्रता के लिए प्रार्थना की गई है।

वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम के प्रवेश तथा अभ्यास के आरम्भ से कई दिन पूर्व और प्रायश्चितार्थ एक निश्चित संख्या में गायत्री मन्त्र का जाप अत्यन्त श्रेयस्कर है।

संगति—वह क्रिया योग किस लिये है? यह बतलाते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(क्रिया योग) समाधि-भावनार्थः = समाधि की भावना (समाधि का चित्त में पुनः पुनः निवेश) के लिये। क्लेश-तनू-करण-अर्थः = और क्लेशों के तनूकरण (दुबले करने) के लिये है।

(सहि क्रिया योगः) "सो वह उपर्युक्त क्रिया योग" इतना पाठ भाष्यकारों ने सूत्र के आदि में अध्याहार किया है।

अन्वयार्थ—समाधि की भावना के लिये और क्लेशों के तनू करने के लिये क्रिया योग है।

व्याख्या—समाधि भावना = "समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्" = समाधि जिसका लक्षण १। २ में कहा है उसकी भावना अर्थात् समाधि का चित्त में बार बार निवेश (लाना) है। —(भोजवृत्ति)

क्लेश तनूकरणार्थः = क्लेशा वक्ष्यमाणास् तेषां तनूकरणं स्वकार्यकारणप्रतिबन्धः = क्लेश अविद्यादि अगले सूत्र में कहे हैं उनका तनूकरण "उनके स्वकार्य के कारण होने में प्रतिबन्धकता"। —(भोजवृत्ति)

अविद्या आदि क्लेश जिनका आगे वर्णन किया जायगा जिनके संस्कार बीज रूप से चित्त-भूमि में अनादि-काल से पड़े हुये हैं, उनको शिथिल करने और चित्त को समाधि की प्राप्ति के योग्य बनाने के हेतु क्रिया योग किया जाता है। तप से शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन की अशुद्धि दूर होने पर वे स्वच्छ होकर क्लेशों के दूर करने और समाधि प्राप्ति में सहायता देते हैं। स्वाध्याय से अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्त विक्षेपों के आवरण से शुद्ध होकर समाहित होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है और क्लेशों की निवृत्ति होती है।

भाव यह है कि क्रिया योग द्वारा क्लेशों को तनु करना चाहिये, क्लेशों के शिथिल होने पर अभ्यास वैराग्य का सुगमता से सम्पादन हो सकेगा। अभ्यास वैराग्य से क्रम प्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति रूप अग्नि से, सूक्ष्म किये हुये क्लेशों के संस्कार रूप बीज दग्ध होजाते हैं और चित्त का भोग अधिकार समाप्त हो जाता है। क्लेश-रूप बीजों के दग्ध होने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है। परवैराग्य के संस्कारों की वृद्धि से चित्त का विवेक ख्याति अधिकार भी समाप्त हो जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त होता है।

संगति—जिन क्लेशों के दूर करने के लिये क्रिया-योग बतलाया गया है वे क्लेश कौन से हैं, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं।

व्याख्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं। यह पाँचों बाधना-रूप पीडा को उत्पन्न करते हैं और चित्त में वर्तमान रहते हुए संस्कार-रूप गुणों के परिणाम को दृढ़ करते हैं; इसलिये क्लेश नाम से कहे गए हैं। यह पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है।

संगति—अविद्या सब क्लेशों का मूल कारण है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अविद्या-क्षेत्रम् = अविद्या क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति की भूमि है। उत्तरेषाम्-अगलों की (अस्मिता आदि की)। प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराणाम् = जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्था में रहते हैं।

अन्वयार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्था वाले अस्मिता आदि क्लेशों का अविद्या क्षेत्र है।

व्यवस्था – जिस प्रकार भूमि में रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार अविद्या के क्षेत्र में रहकर सब क्लेश बन्धन-रूपी फल देते हैं। अविद्या ही इन सबों का मूल कारण है। ये क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं:—

प्रसुप्त—जो क्लेश चित्त-भूमि में अवस्थित है, पर अभी जागे नहीं हैं, क्योंकि अपने विषय आदि के अभाव-काल में अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकते हैं वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जिस प्रकार बाल्यावस्था में विषय-भोग की वासनाएँ बीज-रूप से दबी रहती हैं, जवान होने पर जागृत होकर अपना काम दिखलाती हैं।

तनु—तनु वे क्लेश हैं जो प्रतिपक्ष-भावना द्वारा अथवा क्रियायोग आदि से शिथिल कर दिये गए हैं। इस कारण वे विषय के होते हुए भी अपने कार्य के आरम्भ करने में समर्थ नहीं होते, शान्त रहते हैं। परन्तु इनकी वासनाएँ सूक्ष्म-रूप से चित्त में बनी रहती हैं।

निम्न प्रकार से इनको शिथिल (तनु) *किया जाता है:—*

यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से अविद्या को। भेद दर्शन के अभ्यास से अस्मिता को। मध्यस्थ रहने के विचार से राग-द्वेष को। ममता के त्याग से अभिनिवेश क्लेश को तनु (शिथिल) किया जाता है। तथा धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सारे क्लेश तनु किये जाते हैं।

विच्छिन्न विच्छिन्न क्लेशों की वह अवस्था है जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान क्लेश से दबे हुए शक्ति रूप से रहते हैं और उसके अभाव में वर्तमान हो जाते हैं। जैसे द्वेष अवस्था में राग छिपा रहता है और राग अवस्था में द्वेष।

उदार—उदार क्लेशों की वह अवस्था है जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवृत्त हो रहे हैं। जैसे व्युत्थान अवस्था में साधारण मनुष्यों में होते हैं।

इस सब का मूल कारण अविद्या है। उसी के नाश होने से सर्व क्लेश समूल नाश हो जाते हैं।

दग्ध बीज—क्रिया योग अथवा सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा तनु किये हुए क्लेश प्रसंख्यान अर्थात् विवेक ख्याति रूप अग्नि में दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् पुनः अंकुर उत्पन्न करने और फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। यथाः—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञान-दग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मना संपद्यते पुनः॥

अर्थ- जिस प्रकार अग्नि से जले हुये बीज फिर नहीं उगते हैं इसी प्रकार विवेक ज्ञान रूप अग्नि से जले हुये क्लेश फिर उत्पन्न नहीं हो सकते।

शंका—सूत्रकार ने क्लेशों की इस पांचवीं दग्ध बीज अवस्था का वर्णन इस सूत्र में क्यों नहीं किया?

समाधान—सूत्रकार ने इस सूत्र में "अविद्या क्षेत्र" इस पद से क्लेशों की अविद्या मूलक चारों हेय (त्यागने योग्य) अवस्थाओं का ही निरूपण किया है क्लेशों की पांचवीं दग्ध बीज अवस्था अविद्या की विरोधी होने से उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है। अतः उसका इनके साथ कथन करना ठीक न था। इन पाँचवीं दग्ध बीज अवस्था वाले क्लेशों की निवृत्ति किसी प्रयत्न विशेष की अपेक्षा नहीं रखती। असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा उनके धर्मी चित्त के अपने कारण में लीन होने के साथ उनकी स्वयं ही निवृत्ति हो जाती है जैसा कि इसी पाद के दसवें सूत्र में बतलाया गया है। "ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः"।

विशेष वक्तव्य—सूत्र ४—समाधि पाद सूत्र १९ के सदृश इस सूत्र की व्याख्या में भी कई भाष्य कारों ने क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था के समझाने में प्रसुप्त क्लेशों का उदाहरण विदेह और प्रकृतिलयों के क्लेशों से देकर विदेह और प्रकृतिलयों के सम्बन्ध में भ्रान्ति जनक अर्थ किये हैं। इनका आधार भी वाचस्पति मिश्र की ही व्याख्या है, जिसका इन सब ने अनुकरण किया है। वाचस्पति मिश्र ने सूत्र की व्याख्या के अन्त में यह श्लोक दिया है—

"प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषय-सङ्गिनाम्॥"

अर्थ—"तत्त्वलीनों के क्लेश प्रसुप्त, योगियों के तनु और विषयी पुरुषों के क्लेश विच्छिन्न और उदार (अवस्था वाले) होते हैं" तत्त्व लीनों से अभिप्राय विदेह और प्रकृतिलय लिया है। उन्हें अज्ञानी और अयोगी मानकर प्रसुप्तक्लेश युक्त सिद्ध करने का यत्न किया गया है।

(१) समाधि पाद सूत्र १९ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्य में बतला दिया गया है कि सम्प्रज्ञात समाधि की चारों भूमियों में उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मितानुगत को विदेह और प्रकृतिलय क्रम अनुसार प्राप्त किये हुये होते हैं। इन योगियों को अज्ञानी और अयोगी कहना अनुचित है। (२) सम्प्रज्ञात समाधि में क्लेश तनु और विवेकख्याति में दग्ध-बीज भाव को प्राप्त होते हैं। इस लिये इनके क्लेश यद्यपि दग्ध बीज भाव को प्राप्त नहीं हुये हैं तथापि उनके तनु होने में तो कोई सन्देह नहीं हो सकता।

(३) समाधि पाद सूत्र ३२ में एक तत्त्व के अभ्यास को चित्त की स्थिति का साधन बतलाया है। सम्प्रज्ञात समाधि में किसी न किसी विषय को ही आलम्बन (ध्येय) बनाकर धारणा, ध्यान और समाधि लगाई जाती है। फिर इस बतलाई हुई प्रणाली पर चलने वाले साधकों को योग दर्शन के सूत्रों की ही व्याख्या में अयोगी और अज्ञानी कहना कब ठीक हो सकता है। (४) फिर भी यदि किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय को ध्येय बनाकर समाधि लगाने वालों को तत्त्व लीन कहा जावे तो भी यह सीमा वितर्कानुगत और विचारानुगत तक ही रह जाती है, अर्थात् उन्हीं दोनों भूमियों में किसी अन्य माह्य विषय को आलम्बन बनाना होता है। आनन्दानुगत और अस्मिता-अनुगत में तो सारे अन्य विषयों से परे होकर केवल ग्रहण और ग्रहीतृ अहंकार और अस्मिता क्रमानुसार रह जाते हैं। इस उच्चतर और उच्चतम सत्त्व के प्रकाश में क्लेश बिना तनु हुये प्रसुप्त कैसे रह सकते हैं। (५) यदि इस अवस्था को भी अविद्या और अज्ञानमय समझा जावे तब भी क्लेशों की इस अवस्था को उदार कहना होगा न कि प्रसुप्त। विदेह और प्रकृतिलयों की इस प्रकार अधोगति की अवस्था दिखलाना सूत्रकार के आशय के विरुद्ध है। (६) तथा व्यास भाष्य और भोजवृत्ति में विदेह और प्रकृतिलयों का नाम व निशान भी नहीं है। इसके स्पष्टी करण के लिये इस सूत्र के व्यास भाष्य तथा भोजवृत्ति का भाषानुवाद कर देना उचित प्रतीत होता है।

व्यास भाष्य का अर्थ सूत्र ४—इन मे अविद्या उत्तर-क्लेश अस्मिता आदि प्रसुप्त, तनु विच्छिन्न, उदार चार. अवस्थावालों की क्षेत्र अर्थात् उत्पत्ति की भूमि है। उनमें प्रसुप्त क्लेश कौन से हैं? इसका उत्तर यह है कि जो चित्त में बीज भाव को प्राप्त हुये शक्ति मात्र से रहते हैं। आलम्बन अर्थात् विषय के सन्मुख होने पर उनकी जागृति होती है। प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) ज्ञान वाले योगी को जिसके क्लेश दग्ध बीज भाव को प्राप्त होगये हैं विषय रूप आश्रय के सन्मुख होने पर भी इन क्लेशों की फिर जागृति नहीं होती क्योंकि जले हुये बीज को कहाँ से उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये जिस योगी के क्लेश क्षीण होगये हैं वह "कुशल चरम देह" (जिस को मुक्ति में देह पड़ने तक की देर है) कहलाता है। उसी योगी में यह पांचवीं दग्ध-बीज-भाव वाली क्लेशों की अवस्था है, दूसरे में नहीं। क्लेशों के रहते हुए भी उस पांचवीं अवस्था में बीज की सामर्थ्य जल जाती है। इस कारण विषयों के सन्मुख रूप से रहते हुए भी उनकी जागृति नहीं होती। सोते हुए क्लेशों का स्वरूप और दग्ध बीज क्लेशों की अनुत्पत्ति यहां तक कही गई है।

अब तनु क्लेशों की निर्बलता का स्वरूप कहा जाता है। प्रतिपक्ष भावना द्वारा नष्ट किये हुए क्लेश तनु होते हैं। उसी प्रकार नष्ट हो होकर उस उस रूप से फिर २ जो वर्तने लगते हैं वे विच्छिन्न कहलाते हैं। किस प्रकार? उत्तर देते हैं। राग काल में क्रोध के न देखे जाने से निश्चय राग काल में क्रोध नहीं बर्तता। राग भी किसी एक पदार्थ में देखे जाते हुए अन्य विषय में नहीं है यह नहीं देखा जाता है। ऐसा नहीं है कि एक स्त्री में चैत्र नामी पुरुष प्रीतिमान हो और अन्य स्त्रियों मे न हो, किन्तु उसमें राग वर्तमान है और अन्य मे आगे होने वाला है। यह लब्ध-वृत्ति ही तब प्रसुप्त तनु और विच्छिन्न होती है।

विषय में जो वर्तमान वृत्ति है वह उदार कहलाती है।।ये सब क्लेश विपयत्त्व को नहीं छोड़ते। तब वे कौन से क्लेश नहीं छोड़ते हैं? उत्तर:--प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार चारों नहीं छोड़ते। यह सत्य ही है। तो पुनः इन विशेष रूप हुओं का विच्छिन्नादित्व क्या है? जैसे प्रतिपक्ष भावना करते हुए इन की निवृत्ति होती है, वैसे ही अपने प्रकाशक संस्कार और विषय के द्वारा प्रकाशित होकर प्रकटता होती है। ये सब क्लेश अविद्या के भेद हैं, क्यों कि सब में अविद्या ही प्रकाशित होती है। जो अविद्या से वस्तु के स्वरूप को धारण किया जाता है तब क्लेश चित्त में सोए हुए अविद्या वृत्तिकाल में उपलब्ध हो जाते हैं और अविद्या नाश होने पर नाश हो जाते हैं।

भोज वृत्ति का अर्थ सूत्र ४। क्लेशत्व धर्म्म का पांचों के ऊपर तुल्य होने पर भी सब का कारण अविद्या है, अतः अविद्या की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं--

अस्मिता, रागादि, जो प्रसुप्तादि भेद से चार प्रकार के हैं, उन सब को उत्पन्न करने वाली भूमि अविद्या है। मोह को अर्थात् अनात्म पदार्थ देहादि में आत्म अभिमान को अविद्या कहते हैं। जहां यह अविद्या शिथिल पड़जाती है, वहां अस्मितादि क्लेश की उत्पत्ति नहीं देखी जाती (और अविद्या के होने पर देखी जाती है) इससे यह सिद्ध हुआ कि सब का मूल अविद्या है। जो क्लेश चित्त रूपी भूमि में रहते हुए भी प्रबोधक उद्बोधक (उकसाने वाले) के न मिलने पर अपने काम का आरम्भ नहीं करते वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जैसे बाल अवस्था में, बालक के चित्त में संस्कार रूप से बैठे हुए भी क्लेश, किसी सहकारी प्रबोधक के न मिलने से प्रकट नहीं होते। जो अपने २ प्रति पक्ष भावना से कार्य्य करने की शक्ति को शिथिल करने वाले केवल वासना युक्त चित्त में रहते हुए बिना अधिक सामग्री के अपने काम आरम्भ करने में असमर्थ हैं। वे तनु अर्थात् सूक्ष्म कहलाते हैं। जैसे अभ्यास करने वाले योगी के। जो किसी बलवान् क्लेश से दबाव पाकर ठहरे रहते हैं वे विच्छिन्न कहलाते हैं, जैसे द्वेष होने पर राग और राग होने पर द्वेष। क्यों कि ये राग और द्वेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। कभी एक काल में नहीं हो सकते। किसी सहकारी का मेल पाकर जो अपने २ काम को सिद्ध करते हैं वे उदार कहलाते हैं, जैसे योग विरोधी पुरुष के सर्वदा ही व्युत्थान अवस्था में हुआ करते हैं। अस्मिता आदि जो प्रत्येक चार प्रकार के हैं इन का सम्बन्ध कारणीभूत अविद्या के साथ है। अविद्या के सम्बन्ध से शून्य क्लेशों का स्वरूप कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, तो मिथ्या ज्ञानरूप अविद्या की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान के होने पर भुने हुए बीज के समान अस्मितादि अंकुरित नहीं होते। इससे इनका कारण भी अविद्या और इन सब में अविद्या का सम्बन्ध निश्चित है। इसी से यह सब अविद्या शब्द से व्यवहृत होते हैं। सभी क्लेश, चित्त को विक्षिप्त करने वाले हैं इससे इनके उच्छेद में योगी को पहिले यत्न करना चाहिये।

संगति--अविद्या को सर्व क्लेशों का मूल कारण बताकर अब उसका यथार्थ स्वरूप दिखलाते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु = अनित्य, अपवित्र, दुख और आनात्मा (जड़) में (क्रम से)। नित्य-शुचि-सुख आत्मख्याति = नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव अर्थात् चेतनता का ज्ञान। अविद्या = अविद्या है।

अन्वयार्थ—अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है।

व्याख्या—जिसमें जो धर्म नहीं है उसमें उसका भान होना अविद्या का सामान्य लक्षण है। पशु के तुल्य अविद्या के भी चार पाद हैं जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) अनित्य में नित्य का ज्ञान : यह सम्पूर्ण जगत् और उसकी सम्पत्ति अनित्य है, क्योंकि उत्पत्तिवाला और विनाशी है। इसको नित्य समझना।

(२) अपवित्र में पवित्रता का ज्ञान : शरीर, कफ, रुधिर, मल-मूत्र आदि का स्थान अपवित्र है। इसको पवित्र मानना। अन्याय, चोरी हिंसा आदि से कमाया हुआ धन अपवित्र है, उसको पवित्र मानना। अधर्म, पाप, हिंसा आदि से रंगा हुआ अन्तःकरण अपवित्र है, उसको पवित्र समझना।

(३) दुःख में सुख का ज्ञान : संसार के सब विषय दुःखरूप हैं (२।१५), उनमें सुख समझना।

(४) अनात्म (जड़) में आत्मज्ञान : शरीर, इन्द्रिय और चित्त, ये सब अनात्म (जड़) हैं, इनको ही आत्मा समझना। ये चार प्रकार के भेद वाली अविद्या है, यही बन्धन का मूल कारण है।

विशेष विचार—सूत्र ५ अविद्या का उत्पत्ति स्थान—तीनों गुणों का प्रथम विषय परिणाम महत्तत्त्व है। जो सत्त्व में रज क्रियामात्र और तम उस क्रिया को रोकने मात्र है। यह महत्तत्त्व सत्त्व की विशुद्धता से समष्टि रूप में विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमें समष्टि अहंकार बीजरूप से रहता है जो ईश्वर का चित्त है। और सत्त्व की इस विशुद्धता को छोड़कर व्यष्टि रूप में सत्त्व चित्त कहलाता है जो संख्या में अनन्त हैं जिसमें व्यष्टि अहंकार बीज रूप से रहते हैं जो जीवों के चित्त कहलाते हैं। इन व्यष्टि चित्तों में जो लेशमात्र तम है उस तम में ही अविद्या वर्त्तमान है। उस अविद्या से अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है। अर्थात् चेतन तत्त्व से प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित व्यष्टि सत्त्व चित्त व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। त्रिगुणात्मक जड़ चित्त और गुणातीत चेतन पुरुष जिसके ज्ञान का प्रकाश चित्त में पड़ रहा है दोनों भिन्न २ हैं। उपर्युक्त अविद्या के कारण इन दोनों में अभिन्नता की प्रतीति होना अस्मिता क्लेश है। उस अस्मिता क्लेश से राग द्वेष आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं जैसा कि आगे बतलाया जावेगा। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में अस्मिता का साक्षात्कार होता है विवेक ख्याति में सत्त्व की विशुद्धता में चित्त और चेतन पुरुष में भेदज्ञान उत्पन्न होने से अस्मिता क्लेश निवृत्त हो जाता है और अविद्या अन्य सब

क्लेशों के सहित दग्ध बीजतुल्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्तमान थी विवेक ख्यातिरूप सात्त्विक वृत्ति को स्थिर रखने में सहायक हो जाता है।

समाधि पाद सूत्र ८ में विपर्य (अविद्या) वृत्ति रूप से और यहां अविद्या आदि क्लेश संस्कार रूप से बतलाये गये हैं।

संगति—इस अविद्या के कारण सबसे प्रथम जब चित्त और आत्मा में विवेक जाता रहता है तब जड़ चित्त में आत्मा का भाव आरोप हो जाने से उसमें और आत्मा में अभिन्नता प्रकट होने लगती है; इससे अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है जिसका लक्षण अगले सूत्र में बतलाया गया है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—दृग्-दर्शन-शक्त्योः = दृग्शक्ति और दर्शनशक्ति का। एकात्मा-इव = एक रूप-जैसा (भान) होना। अस्मिता = अस्मिता (क्लेश है)।

अन्वयार्थ—दृग्शक्ति और दर्शनशक्ति का एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है।

व्याख्या—पुरुष द्रष्टा है, चित्त दिखाने वाला उसका एक करण है। पुरुष चैतन्य है, चित्त जड़ है। पुरुष क्रियारहित है, चित्त प्रसव-धर्मी अर्थात् क्रिया वाला है। पुरुष केवल है, चित्त त्रिगुणमय है। पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणाम-शील है। पुरुष स्वामी और चित्त उसकी 'स्व' : मिलकियत है। इस प्रकार यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। पर अविद्या के कारण दोनों में भेद की प्रतीति जाती रहती है। जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है :—

बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन ॥

अर्थ—(पुरुष) बुद्धि से परे पुरुष को स्वरूपशील और अविद्या आदि क्लेश से अलग न देखता हुआ मोह (अविद्या) से (बुद्धि = चित्त) में आत्मबुद्धि कर लेता है।

इस प्रकार पुरुष चित्त में अविद्या के कारण एक-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है। इसी को हृदय-ग्रन्थि भी कहते हैं। यही असङ्ग पुरुष और चित्त का परस्पर अध्यारोप है इस अध्यारोप से आत्मा में बन्धन का आरोप होता है।

मुण्डक उपनिषद् में इस ग्रन्थि के भेदन का उपाय विवेक ख्याति बतलाया है। यथा:—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (मु॰ २।२।८)

अर्थ—उस पर और अवर अर्थात् चेतन रूप पुरुष और जड़ रूप चित्त के भेद का विवेक पूर्ण साक्षात् हो जाने से हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाता है। सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

वि॰ व॰—पुरुष से प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्त की संज्ञा अस्मिता है और

पुरुष व चित्त में अभिन्नता की प्रतीति अस्मिता क्लेश है। पुरुष और चित्त में भेद-ज्ञान विवेक ख्याति है।

संगति—इस अस्मिता क्लेश के कारण मन, इन्द्रियों और शरीर में आत्मभाव अर्थात् ममत्त्व और अहमत्त्व पैदा हो जाता है और उनके सुख पहुँचाने वाले विषयों और वस्तुओं में राग उत्पन्न हो जाता है जिसका लक्षण अगले सूत्र में कहते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सुख-अनुशयी = सुख भोगने के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है। रागः—उसका नाम राग है।

अन्वयार्थ—सुख भोग के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है वह राग है।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और मन में आत्म-अध्यास हो जाने पर जिन वस्तुओं और विषयों से उनमें सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त करने के साधनों में जो इच्छा-रूप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है उसके जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं उसी का नाम राग क्लेश है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३। ३४)

अर्थ—इन्द्रिय इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष है उन दोनों के वश में नहीं होवे, क्योंकि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं।

संगति—यह राग ही द्वेष का कारण है, क्योंकि चित्त में राग के संस्कार जम जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर, इन्द्रियों और मन को दुःख प्रतीत हो अथवा जिनसे सुख के साधनों में विघ्न पड़े उनसे द्वेष होने लगता है। अब द्वेष का लक्षण कहते हैं:—

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—दुःख-अनुशयी = दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है उसको द्वेषः = द्वेष कहते हैं।

अन्वयार्थ—दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है उसको द्वेष कहते हैं।

व्याख्या—जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनों से दुःख प्रतीत हो उनसे जो घृणा और क्रोध हो उसके जो संस्कार चित्त में पड़ें उसको द्वेष क्लेश कहते हैं।

संगति—द्वेष क्लेश ही अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदि को दुःखों से बचाने के संस्कार ही अभिनिवेश का कारण हैं, जैसा अगले सूत्र से स्पष्ट है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—स्वरसवाही = स्वभाव से बहने वाला (जो कुदरती तौर पर बह रहा है) विदुषः-अपि = विद्वान् के लिये भी। तथारूढः = ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खों के लिये वह)। अभिनिवेशः = अभिनिवेश क्लेश है।

अन्वयार्थ—(जो मरने का भय हरएक प्राणी में) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानों के लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खों के लिये) वह अभिनिवेश क्लेश है।

व्याख्या—स्वरसवाही—स्वरस नाम वासना द्वारा; वाही नाम प्रवृत्त है। अर्थात् मरण भय के संस्कार जो जन्म जन्मान्तरों से प्राणीमात्र के चित्त में स्वभाव से ही चले आ रहे हैं।

विदुषः—यह शब्द यहाँ केवल शब्दों के जानने वाले विद्वान् के लिये प्रयोग हुआ है। अर्थात् वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रों को पढ़ा है और क्रियात्मक रूप से योग द्वारा अनुभव तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। अभिनिवेश के अर्थ हैं 'मा न भूवं भूयासमिति' = ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किन्तु मैं बना रहूँ। 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति' = शरीर और विषयादि (रूप-रसादि) से मेरा वियोग न हो। आत्मा अजर-अमर है, जैसा गीता अध्याय २ में बतलाया है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १६॥

अर्थ—जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इसको मरा (मरने वाला) समझता है; वे दोनों ही (तत्त्व को) नहीं जानते हैं। यह आत्मा न मरता है, न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

अर्थ—यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है, न मरता है, अथवा न यह होकर फिर न होने वाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ गीता २। २१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ गीता २। २२

अर्थ—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नये शरीरों को धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ गीता २ । २३ ॥

अर्थ—इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता है ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ गीता २ । २४ ॥

अर्थ—यह आत्मा शस्त्रों से छेदन नहीं किया जा सकता, यह आत्मा जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता और सुखाया नहीं जा सकता है । तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य सर्वव्यापक, अचल, कूटस्थ और सनातन है ।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ गीता २ । २५ ॥

अर्थ—यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मन का अविषय और यह आत्मा अविकारी कहा जाता है इससे इस आत्मा को ऐसा जान कर तुझे शोक करना उचित नहीं है ।

फिर भी राग द्वेष के कारण शरीर में आत्माध्यास हो जाता है और मूर्ख से लेकर विद्वान तक अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूलकर भौतिक-शरीर की रक्षा में लगे रहते हैं और उसके नाश से घबराते हैं । इस मृत्यु के भय के जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं इन्हीं को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं । यह अभिनिवेश क्लेश ही सकाम कर्मों का कारण है, जिनकी वासनाएँ चित्तभूमि में बैठकर वर्तमान और अगले जन्मों (आवागमन) को देने वाली होती हैं; जो सूत्र बारह में बतलाया जायगा ।

संगति—सब क्लेशों के बीजरूप होने से जो पांचों क्लेश त्यागने योग्य हैं उन पाँचों क्लेशों और उन क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार-रूप चार अवस्थाओं का पूर्व सूत्रों में निरूपण किया गया है । परन्तु प्रसंख्यान रूप (विवेक ख्यातिरूप) अग्नि द्वारा दग्ध बीज-भाव को प्राप्त हुए क्लेशों की पाँचवीं अवस्था का क्यों नहीं वर्णन किया गया ? इस शङ्का के निवारणार्थ अगला सूत्र है :—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

शब्दार्थ—ते = वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश) । प्रति-प्रसव हेया. = (असम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा) चित्त के अपने कारण में लीन होने से त्यागने अर्थात् निवृत्त करने योग्य हैं । सूक्ष्माः = क्रिया-योग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान (विवेक ख्यातिरूप) अग्नि से दग्ध-बीज हुए ।

अन्वयार्थ—वे पूर्वोक्त पांच क्लेश जो क्रिया-योग से सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्नि से दग्धबीज-रूप हो गए हैं; असम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा चित्त के अपने कारण में लीन होने से निवृत्ति करने योग्य हैं ।

व्याख्या—ते पञ्चक्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति। (व्यासभाष्य)

वे पाँच क्लेश जो दग्ध-बीज के सदृश हैं योगी के चरिताधिकार चित्त के अपने कारण (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) में लीन होते समय उसी चित्त के साथ लीन हो जाते हैं।

क्रिया-योग से सूक्ष्म किये हुए क्लेश जब प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) रूप अग्नि से दग्ध-बीज के समान हो जाते हैं तब असम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा समाप्त अधिकार वाले चित्त के अपनी प्रकृति में लीन होने से ये क्लेश भी उसके साथ लीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। प्रतिप्रसव के अतिरिक्त इन क्लेशों के निरोध के लिये अन्य किसी यत्न की आवश्यकता नहीं है।

अर्थात् पुरुष के प्रयत्न का जो विषय होता है वही उपदेश करने में आता है। जो सूक्ष्म क्लेश प्रसंख्यान-रूप अग्नि में दग्ध बीज-भाव को प्राप्त हो गए हैं उन पाँचवीं अवस्था वाले क्लेशों की निवृत्ति प्रयत्न का विषय नहीं है। जब तक चित्त विद्यमान रहता है तब तक इन दग्ध-बीज-रूप क्लेशों की निवृत्ति किसी भी प्रयत्न से नहीं हो सकती, किन्तु जब पर-वैराग्य की दृढ़ता से असम्प्रज्ञात-समाधि में निरधिकार प्राप्त हुए चित्त का प्रलय होता है तब चित्त के साथ-साथ ही ये दग्ध-बीज-भाव को प्राप्त हुए क्लेश भी प्रलीन हो जाते हैं, क्योंकि धर्मी के नाश बिना संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मों का नाश नहीं होता। धर्मी के नाश से ही संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मों का नाश होता है। इसलिये ये दग्ध-बीज-रूप पाँचवीं अवस्था वाले क्लेश प्रतिप्रसव-हेय अर्थात् चित्त के प्रलय होने से (अपने कारण में लीन होने से) त्यागने योग्य हैं।

चित्त के प्रलय अर्थात् अपने कारण में लीन होने का नाम 'प्रतिप्रसव' और त्यागने योग्य का नाम 'हेय' है। ('प्रसव' का अर्थ उत्पत्ति है उससे विरुद्ध 'प्रतिप्रसव' के अर्थ प्रलय अर्थात् अपने कारण में लीन होने के हैं)

शंका—तनूकरण, दग्धबीज भाव और प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलय यह क्रम है। अतः दग्ध बीजभाव के प्रति पाठक "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ ११॥" इस सूत्र को पहिले रखना उचित था।

समाधान—नहीं, मुख्य फल होने से प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलय को ही पहिले उसमें निर्वचन किया है, उसमें द्वार की साकांक्षा होने पर दग्ध बीजभाव को पीछे कहना उचित है।

संगति—क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) से तनु किये हुए अंकुर उत्पन्न करने की शक्तिरूप बीज भाव के सहित जो तनु क्लेश रूप किस विषयक प्रयत्न से दूर होते हैं? इसको अगले सूत्र में बतलाते हैं।

ध्यानहेयास्तद् वृत्तयः॥ ११॥

शब्दार्थ—ध्यान-हेयाः = (प्रसंख्यान-संज्ञक) ध्यान से त्यागने योग्य हैं। तद्वृत्तयः = (क्लेशों की स्थूल वृत्तिएं) जो क्रिया-योग द्वारा तनु कर दी गई हैं।

अन्वयार्थ—क्लेशों की स्थूल वृत्तियें जो क्रिया-योग से तनु कर दी गई हैं, प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) संज्ञक ध्यान से त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म हो कर दग्ध बीज के सदृश न हो जावें)।

व्याख्या—अंकुर उत्पन्न करने की शक्तिरूप बीजभाव के सहित जो चित्त में क्लेश स्थित हैं वे क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) से तनु करते हुए प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) रूप ध्यान से त्यागने योग्य हैं, जबतक कि वे सूक्ष्म होते होते दग्ध बीज के सदृश न होजावें।

भाव यह है कि प्रसंख्यान विषयक प्रयत्न से उदय हुई जो प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) रूप अग्नि है, उस अग्नि में क्रिया-योग द्वारा तनु किये हुए क्लेश-रूप बीज, दग्ध होते हैं। इसलिए जबतक क्रिया-योग से तनु किये हुए क्लेश दग्ध बीज के सदृश न होजावें तबतक प्रसंख्यान विषयक प्रयत्न करते रहना चाहिए।

जैसे वस्त्र का स्थूलमल प्रक्षालन आदि से सुगमता से दूर किया जा सकता है, परन्तु सूक्ष्म-मल विशेष यत्न से दूर करना होता है, ऐसे ही क्लेशों की स्थूल वृत्तिए कम दुःख देने वाली हैं (छोटे शत्रु हैं) किन्तु क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तिएं अधिक दुःखदायी हैं (महान् शत्रु हैं)। अर्थात् उदार क्लेशों की वृत्तये स्थूल-रूप से ही वर्तमान रहती हैं, उनको क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) द्वारा तनु करना चाहिए (२।२) ये तनु किये हुए क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियें स्थूल वृत्तियों से अधिक दुःख देने वाली और महान् शत्रु हैं। इसलिये इनके निवृत्त करने के लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। इन तनु किये हुए क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियों को प्रसंख्यान ध्यान की अग्नि से दग्धबीज के सदृश कर देना चाहिये; फिर ये दग्धबीज होकर असम्प्रज्ञात-समाधि में चित्त के प्रलय होने पर उसके साथ स्वयं ही प्रलीन हो जाती हैं, जैसा कि पूर्व सूत्र में बतलाया गया है।

संगति—क्लेश ही सकाम कर्मों के कारण हैं, जिनकी वासनाएँ मनुष्य को संसारचक्र में डालती हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—क्लेश-मूलः = क्लेश जिसकी जड़ है ऐसी। कर्माशयः = कर्म की वासना। दृष्टादृष्ट-जन्म-वेदनीयः = वर्तमान और आने वाले जन्मों में भोगने योग्य है।

अन्वयार्थ—क्लेश जिसकी जड़ है ऐसे कर्मों की वासना वर्तमान और अगले जन्मों में भोगने योग्य है।

व्याख्या—सूत्र में 'कर्माशयः' शब्द से कर्माशय का स्वरूप, 'क्लेशमूलः' से उसका कारण, और 'दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः' से उसका फल बतलाया गया है। जिन महान् योगियों ने क्लेशों को निर्बीज-समाधि द्वारा उखाड़ दिया है उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासना-रहित केवल कर्त्तव्य-मात्र रहते हैं, इसलिये उनको इनका फल भोग्य नहीं है। जब चित्त में क्लेशों के संस्कार जमे होते हैं तो उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इस रजोगुण का जब सत्त्वगुण के साथ मेल होता है तो ज्ञान, धर्म, वैराग्य

और ऐश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और जब तमोगुण के साथ मेल होता है तो उसके उल्टे: अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही दोनों प्रकार के कर्म शुभ-अशुभ, शुक्ल-कृष्ण और पाप-पुण्य कहलाते हैं। जब तम तथा सत्त्व दोनों रजोगुण से मिले हुए होते हैं तो दोनों प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और ये कर्म पुण्य-पाप से मिश्रित कहलाते हैं। इन कर्मों से इन्हीं के अनुकूल फल भोगने के बीज-रूप जो संस्कार चित्त में पड़ते हैं उन्हीं को वासना कहते हैं। यही मीमांसकों का अपूर्व और नैयायिकों का अदृष्ट है, इसी को सूत्र में कर्माशय के नाम से बतलाया गया है।

पुण्य कर्माशय मनुष्यों से ऊँचे देवताओं आदि के जैसे भोग देने वाले होते हैं। पाप कर्माशय मनुष्य से नीचे पशु-पक्षी आदि के जैसे भोग देने वाले होते हैं। पाप और पुण्य मिश्रित कर्माशय मनुष्यों के जैसे भोग-फल देने वाले होते हैं। ऊपर तीन श्रेणियों में बतलाये हुए कर्मों में केवल शरीर अथवा इन्द्रियाँ कारण नहीं होतीं, वास्तविक कारण उनमें मनोवृत्ति होती है। इस हेतु यह मनोवृत्ति ही वास्तविक कर्म है; जिसकी प्रेरणा से शरीर तथा इन्द्रियों में क्रिया होती है। उसी से वासनाओं के संस्कार पड़ते हैं। ये मनोवृत्तियें अनन्त हैं और इनसे उत्पन्न हुए कर्माशय अथवा फल-भोग के संस्कार भी अनन्त हैं। इस प्रकार मनोवृत्ति रूप कर्मों से वासनाएँ और वासनाओं से कर्म उत्पन्न होते रहते हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है जब तक कि उनके प्रतिपक्षी या उनसे बलवान कर्म उनको दबा न दें। कुछ कर्माशय वर्तमान जन्म में, कुछ अगले जन्म में और कुछ दोनों जन्मों में फल देते हैं। इसको विस्तार-पूर्वक अगले सूत्र में बतलाया जायगा।

संगति—इन कर्माशयों के अनुसार ही इनका फल, जाति, आयु और भोग होता है; यह बतलाते हैं:—

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—सतिमूले = अविद्या आदि क्लेशों की जड़ के होते हुए। तद्-विपाकः = उसका (कर्माशय का) फल। जाति-आयुः-भोगाः = जाति, आयु और भोग होते हैं।

अन्वयार्थ—अविद्या आदि क्लेशों की जड़ के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होता है।

व्याख्या—मनुष्य, पशु, देव आदि 'जाति' कहलाती है। बहुत काल तक जीवात्मा का एक शरीर के साथ सम्बन्ध रहना 'आयु' पदार्थ है। इन्द्रियों के विषय रूप रसादि 'भोग' शब्दार्थ हैं। यहाँ सूत्र बारह व तेरह में क्लेशों, कर्माशयों, जाति, आयु और भोग को अलङ्कार-रूप से वर्णन किया है। क्लेश जड़ है, उन जड़ों से कर्माशय का वृक्ष बढ़ता है। उस वृक्ष में जाति, आयु और भोग तीन प्रकार के फल लगते हैं। कर्माशय का वृक्ष उसी समय तक फलता है जब तक अविद्या आदि क्लेश-रूपी उसकी जड़ विद्यमान रहती है। प्रसंख्यान (विवेकख्याति) द्वारा इस जड़ के कट जाने पर कर्माशय-रूपी वृक्ष, जाति, आयु और भोगरूपी उसके फल तथा सुख-दुःख-रूपी उन फलों के स्वाद की निवृत्ति स्वयं ही हो जाती है। कर्माशय की उत्पत्ति तथा फल में भी अविद्या आदि क्लेश ही मूल हैं। पिछले

सूत्र में बतला आए हैं कि मन की वृत्ति-रूपी कर्म अनन्त हैं जो समस्त जीवन में होते रहते हैं। इनसे उत्पन्न हुये संस्कार भी अनन्त हैं; जिन से चित्त चित्रित रहता है। ये संस्कार चित्त में प्रबल रूप से उत्पन्न होते हैं तब उन्हें प्रधान कहते हैं, जो शिथिल रूप से रहते हैं उन्हें उपसर्जन कहते हैं। मृत्यु के समय प्रधान कर्माशय पूरे वेग से जाग उठते हैं और अपने-जैसे पूर्व सब जन्मों के कर्माशय के सञ्चित संस्कारों के अभिव्यञ्जक होकर जगा देते हैं (४।९)। इन सब प्रधान संस्कारों के अनुसार ही अगला जन्म, वैसी जाति, देवता, मनुष्य पशु-पक्षी आदि में होता है जिनमें उन कर्माशयों का फल भोगा जा सके; और उनकी आयु देने वाले होते हैं जिसमें निश्चित भोग समाप्त हो सकें। उन्हीं कर्माशयों के अनुकूल उनका भोग नियत होता है। इस प्रधान कर्माशय से जो अगला जन्म, आयु तथा भोग नियत हो गया है उस को 'नियत-विपाक' कहते हैं; जो सूत्र बारह में 'दृष्टजन्मवेदनीय' से बतलाया गया है।

उपसर्जन कर्माशय जो अगले जन्मों में भोग्य हैं पर अभी उनका फल नियत नहीं हुआ है उन्हें 'अनियत-विपाक कहते हैं। इन्हीं को सूत्र बारह में 'अदृष्टजन्मवेदनीय' कहा है। इन उपसर्जन कर्माशयों की, जो दबे पड़े हुए हैं, जिनका फल अभी निश्चित नहीं हुआ है अर्थात् जो अनियत-विपाक वाले हैं, तीन प्रकार की गति होती है:—

(१) या तो वे बिना पके ही नियत विपाक को किञ्चित् न्यून (दुर्बल) करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे बिना फल दिये ही नष्ट हो गए; किन्तु नियत-विपाक को कम (दुर्बल) करने में अपना फल दे चुके और नियतविपाक उनके नष्ट करने में उस अंश तक अपना फल दे चुका।

(२) या वे नियत-विपाक के साथ हो जाते हैं और समय-समय पर अवसर पाकर अपना फल देते रहते हैं।

(३) या वे चित्तभूमि में वैसे ही दबे पड़े रहते हैं जब तक कि किसी जन्म में उनके फल देने का अवसर नहीं मिल जाता। जब कभी उनके जगाने वाले कर्माशय प्रधान होते हैं तो उस अभिव्यञ्जक को पाकर अपना फल देने के लिये जाग उठते हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र १३:—यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि अवस्था भेद से कर्मों को तीन प्रकार में विभक्त किया जा सकता है। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

जो कर्म्म अनन्त जन्मों में किये गए हैं और अभी तक उनके भोग भोगने की बारी नहीं आई है, किन्तु केवल संस्कार रूपेण कर्माशय में हैं, उन्हें सञ्चित कर्म कहते हैं।

कर्माशय में भरे हुए अनन्त कर्मों में से नित थोड़े से कर्मों ने शरीर रूपी फल की उत्पत्ति करदी है अर्थात् जिन का फल इस जन्म में होरहा है उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

जिन नवीन कर्म्मों को संग्रह किया जाता है अर्थात् नवीन इच्छा से जो नवीन कर्म नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं, वे क्रियामाण कहलाते हैं।

सूत्र की व्याख्या में सञ्चित कर्मों के संस्कारों को उपसर्जन कर्माशय अनियत विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कहा गया है और प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों को प्रधान कर्माशय नियत

विपाक दृष्ट जन्म वेदनीय बतलाया गया है। क्रियमाण कर्मों के संस्कारों का वर्णन इसलिये नहीं किया गया क्योंकि कुछ तो इनमें से प्रारब्ध कर्मों के प्रधान कर्माशय के साथ मिल कर अपना फल देना आरम्भ कर देते हैं और कुछ सञ्चित कर्मों के उपसर्जन कर्माशय के साथ मिल जाते हैं।

शंका—संसार की उत्पत्ति पुरुष को आत्मस्थिति कराने के लिये होती है, पशुओं आदि नीच योनियों से मनुष्ययोनि में आना और मनुष्य से मनुष्य अथवा देवयोनियों में जाना तो सम्भव है परन्तु मनुष्य से नीच पशु आदि योनियों में जाना विकासवाद (Evolution theory) के विरुद्ध है और इसके मानने में ईश्वर के सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, दया, न्याय और कल्याणकारी आदि गुणों में भी दोष आता है।

समाधान—सामान्यतः तो मनुष्य का जन्म मनुष्यों में ही अथवा उससे ऊँची योनियों में ही होता है, पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में विशेष अवस्था में उनको अपने कल्याणार्थ ही जाना होता है।

ऊपर व्याख्या में बतलाया गया है कि मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं। यह मनोवृत्तियाँ जब हिंसा, विषय-भोग, मक्कारी, मूढ़, अपवित्रता, द्वेष तथा धर्मद्रोह आदि दोषों से मिलकर होती हैं तब ये मनुष्यत्व से नीची हैं। ये वृत्तियाँ नाना प्रकार के दोषों; काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि के न्यूनाधिक्य और तीनों गुणों के परिणाम के भेद से इतने प्रकार की हैं जितने प्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, जलचर आदि। पशु आदिकों की स्वाभाविक वृत्तियों और मनुष्य की इस प्रकार की मनोवृत्तियों में कुछ अन्तर नहीं रहता। जिस अवस्था में मनुष्य में इस प्रकार की मनोवृत्तियाँ उदय होती हैं तो (मानो) वह सूक्ष्म-शरीर से उन्हीं योनियों में होता है, यद्यपि स्थूल-शरीर मनुष्य-जैसा रहता है। उदाहरणार्थ हिंसक-योनि में जाना बतलाते हैं, उसी से अन्य प्रकार की योनि में जाना समझ लेना चाहिये।

हिंसा और मांस-भक्षण आदि क्रूरता का स्वभाव मनुष्यत्व के विपरीत धर्म है। हिंसकों के संसर्ग से जब किसी में यह दोष उत्पन्न हो जावे और किसी कारण से दूर या कम न हो बल्कि इसमें प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जावे तो उसका स्वभाव क्रूर और हिंसक हो जावेगा; क्योंकि कर्मों से संस्कार और संस्कारों से कर्म बनते रहते हैं। यदि यह क्रम बिना किसी रुकावट के चलता रहे तो एक सीमा पर पहुँच कर उसका सूक्ष्मशरीर उसकी अन्य मनोवृत्तियों की विशेषताओं को सम्मिलित करके उस हिंसक पशु-विशेष-जैसा हो जाता है जिसमें इस प्रकार के हिंसा के अन्तर्गत सर्व गुण होते हैं। ऐसे क्रूर और हिंसक मनुष्य के मुख पर क्रूरता और खूंखारी टपकने लगती है। इससे यह प्रतीत होने लगता है कि उसका स्थूल-शरीर सूक्ष्म-शरीर के आकार में परिणत होना आरम्भ हो गया है। स्वभावतः जहाँ कहीं भी वह मनुष्य जावेगा शिकार, हिंसा, मांस-भक्षण आदि के साधन और सामग्री को चाहेगा। जब शरीर को छोड़ने का समय आवेगा तो यही हिंसा से सम्बन्ध रखने वाले कर्माशय प्रधान-रूप से जागेंगे और उसकी सारी मनोवृत्तियों के अनुसार वैसी ही किसी हिंसक योनि में उसका अगला जन्म होगा और वैसी ही आयु तथा भोग होगा। जैसी की कहावत

है "अन्त समय जो मति सो गति" तथा गीता और उपनिषद् में भी ऐसा ही बतलाया गया है। तथाः—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव-भावितः॥ गीता॥ ८। ६॥

अर्थ—हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है उस उस भाव को ही प्राप्त होता है सदा उस ही भाव को चिन्तन करता हुआ।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः। मुण्डक ३। २। २

अर्थ—जो इच्छाओं को मन में रखता हुआ उनकी पूर्ति चाहता है वह मनुष्य उन वासनाओं के अनुसार उत्पन्न होता है। परन्तु जिसने आत्मा का साक्षात् कर लिया है उस पूर्ण हुई इच्छा वाले मनुष्य की समस्त कामनायें इस शरीर में ही विलीन होजाती हैं। जहाँ किसी हिंसक-योनि में ऐसा गर्भ तैयार होगा जिसमें इसकी सारी वासनाओं की पूर्ति के सब साधन हों वहीं यह अपना स्थान बना लेगा, क्योंकि प्राकृतिक नियम यही है कि स्वभाव अपने-जैसे स्वभाव की तरफ खिंचता है। चुम्बक-पत्थर जिस प्रकार लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है उसी प्रकार ऐसे गर्भ अपने स्वभाव वाले सूक्ष्म-शरीरों को अपनी ओर खींचते हैं। यह ईश्वर के पूर्ण ज्ञान, नियम और व्यवस्था में प्रभाव है कि हरेक प्राणी के लिये शरीर छोड़ने से पूर्व उसके अनुसार गर्भ तैयार रहता है। अब इसमें ईश्वर की दया, सर्वशक्तिमत्ता तथा कल्याणकारी स्वभाव और विकासवाद को देखिये।

(१) ईश्वरीय नियमों से तो सदैव ऐसे बुरे कर्मों से बचने की प्रेरणा होती रहती है। मांस, रुधिर आदि को देखकर मनुष्य को स्वाभाविक ग्लानि होती है, दूसरों की पीड़ा देखकर दिल काँपता तथा पीड़ित होता है, परन्तु हिंसा रूपी मल का आवरण हृदय पर आ जाने से ईश्वर की यह आवाज सुनाई नहीं देती।

(२) मनुष्य कर्म तथा भोग दोनों प्रकार की योनि है, इसमें संस्कार बनते भी हैं और धुलते भी है। दूसरी जो भोग-योनियें हैं उनमें संस्कार बनते नहीं बल्कि उनकी निवृत्ति होती है। यदि वह हिंसक फिर मनुष्य-योनि में ही आवे तो पिछले कर्माशय से दबा हुआ हिंसा के कार्य करता रहेगा और उनसे उसी प्रकार के संस्कार बनते रहेंगे। यह क्रम सदा के लिये जारी रहेगा और वह अपने वास्तविक कल्याण से वञ्चित रहेगा। यदि किसी को अपनी रक्षा के लिये कोई शस्त्र दिया जावे और वह नशे की अवस्था में उससे अपने ही शरीर को घायल करने लगे तो उसका हित इसी में होगा कि नशा रहने तक उससे वह शस्त्र छीन लिया जावे। ईश्वरीय नियम मनुष्य-शरीर इसलिये दिया गया है कि आत्मोन्नति करे और परमात्मा तक पहुँचे यथाः—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

अर्थ—आत्मा को रथ का स्वामी जानो, शरीर को रथ तथा बुद्धि को सारथि और मन को लगाम समझो इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और उनके चलने के मार्ग विषय हैं, इन्द्रिय मन से युक्त आत्मा को बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं। इस कारण ईश्वर की दया से इस नशे के दूर होने तक अथवा इस मल को दूर करने के लिये नीची योनियों में जाना होता है, इस योनि में आगे के लिये संस्कार नहीं बनते बल्कि पिछले हिंसा आदि के संस्कार धुल जाते हैं; और वह फिर मनुष्य-योनि में पवित्र होकर आत्मोन्नति के लिये आता है। यह योनियाँ तो अन्तःकरण के मल धोने के स्थान हैं।

जिस प्रकार अनजान बालक अपने शरीर को विष्ठा में सान लेता है तो माता नाली के पास ले जाकर पानी से धोती है, इसी प्रकार कल्याणकारिणी प्रकृति माता अपने पुत्रों के इन मलों को इन योनियों में अपने हितकारी नियमों के जलों से धोती है।

(३) इसमें ईश्वर की दया है न कि क्रूरता। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा की पूर्ति में ही सुख समझता है; और इस प्रकार ईश्वर के पूर्ण ज्ञान वाले नियम उनकी इच्छाओं के अनुसार योनियों में भेजकर उनको इच्छा-पूर्ति करते हैं।

(४) इसी तरह ईश्वर की कल्याणकारिता यह है कि इस प्रकार मनुष्य के सब मल धुल जाते हैं और उसे फिर उन्नति करने का अवसर मिल जाता है।

(५) इसमें ईश्वर का न्यायकारी नियम भी आ जाता है जिससे हर प्राणी को उसके कर्मों के अनुकूल फल मिल जाता है और इसमें उसकी सर्वज्ञता भी पाई जाती है कि जिससे समस्त संसार का कार्य व्यवस्था-पूर्वक चल रहा है; क्योंकि जिस प्रकार घड़ी के चलाने में सब यन्त्र काम करते हैं इसी प्रकार संसार-रूपी घड़ी के चलाने में सब शरीरधारी अपने-अपने स्थान पर कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं।

संगति—जाति, आयु और भोग में पाप और पुण्य के अनुसार सुख-दुःख मिलता है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—ते = वे (जाति, आयु, भोग)। ह्लाद-परिताप-फलाः = सुख-दुःख फल के देने वाले होते हैं। पुण्य-अपुण्य-हेतुत्वात् = पुण्य तथा पाप कारण होने से।

अन्वयार्थ—वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःख रूपी फल के देने वाले होते हैं क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्र में बतलाये हुए कर्माशयों के फल जाति, आयु और भोग

भी दो प्रकार के (स्वादवाले) होते हैं। एक सुख के देने वाले (मीठे स्वादवाले), दूसरे दुःख के देने वाले (कडवे स्वाद वाले)।

पुण्य अर्थात् अहिंसात्मकः—दूसरों को सुख पहुँचाने वाले कर्मों से जाति, आयु और भोग मे सुख मिलता है। पाप अर्थात् हिंसात्मकः—दूसरों को दुःख पहुँचाने वाले कर्मों से दुःख मिलता है। पिछले सूत्र में बतलाये हुए कर्मों को जब स्वार्थ छोड कर दूसरे प्राणियों के कल्याणार्थ उनकी यथार्थ भलाई और सुख पहुँचाने की मनोवृत्ति से किया जाता है तो वे कर्ता को सुख पहुँचाने का कारण होते हैं, और जब वे स्वार्थवश दूसरे प्राणियों को काम, क्रोध, लोभ, मोहादि से दुःख देने की मनोवृत्ति से किये जाते हैं। तो वे करने वाले को दुःख का कारण होते हैं। यही कारण है कि सब योनियों में सुख-दुःख दोनो देखे जाते हैं। जिस प्रकार भौंरे को फूल की सुगन्ध में आनन्द प्रतीत होता है इसी प्रकार विष्ठा के कीडे को विष्ठा में सुख प्रतीत होता है। जिस प्रकार इसको सुगन्धित फूल के न मिलने में दुःख होता है इसी प्रकार उसको विष्ठा के न मिलने में दुख होता है। कुछ मनुष्यों को ऐश्वर्य, सुख, राज, धन, सम्पत्ति, सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं, और कुछ लूले, लगडे, अन्धे, कोढ़ी, रोटी से तङ्ग, सर्दी मे ठिठुरते हैं। इससे नीची योनियो मे पशु-पक्षी भी इनसे अधिक सुख पाते हैं। कुछ कुत्ते गलियों मे मारे-मारे फिरते हैं, कुछ मोटरों में बैठते हैं, नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ खाते और तीन-तीन नौकर उनकी सेवा में रहते हैं। जो सुख अथवा दुःख दूसरों को दिये हैं उनका फल सुख-दुःख अवश्य मिलता है, चाहे इस योनि मे अथवा दूसरी योनियो (जन्मो) में। सुख-दुःख पहुँचाने वाले कर्मों में भी मनोवृत्तियाँ ही कारण होती हैं। डाक्टर एक पक्के फोडे को नश्तर द्वारा चीरकर उसके मवाद को निकालता है, इससे डाक्टर के चित्त मे सुख पाने के कर्मविपाक बनते हैं, यदि कोई मनुष्य द्वेष से उसी फोडे में चाकू मारता है तो उसके चित्त मे दुःख पाने के कर्मविपाक बनते हैं। अकर्म में भी कर्म होता है, और कर्म में भी अकर्म होता है। जैसा कि श्रीकृष्ण जी महाराज ने गीता अध्याय ४ मे बतलाया है —

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

अर्थ—कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति गहन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म च।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न-कर्म कृत्॥ गीता ४। १८

अर्थ—जो पुरुष कर्म में अर्थात् अहंकार रहित अनासक्त भाव से की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म अर्थात् वास्तव में उनका न होना पना देखे और जो पुरुष अकर्म में भी कर्म के अर्थात् त्याग रूप क्रिया को देखे वह पुरुष मनुष्यों मे बुद्धिमान् है और वह योगी सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है।

यस्य सर्वे समारम्भाः काम-संकल्प-वर्जिताः ।

ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ गीता ४ । १६

अर्थ—जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं ऐसे उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुये कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं ।

त्यक्त्वा कर्म फला-सङ्गं-नित्य तृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभि-प्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ गीता ४ । २० ॥

अर्थ—जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त है वह कर्मों के फल और सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व अभिमान को त्याग कर कर्म में अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है ।

यदि किसी के समक्ष कोई हिंसक जन्तु किसी सोते हुए मनुष्य को काटने के लिये जावे और वह मनुष्य उसको दुःख देने के विचार से न बचावे अथवा कोई अपने किसी नियत कर्त्तव्य कर्म को न करे तो वह अकर्म में कर्म होगा । इससे भी दुःख पाने के कर्मविपाक बनेंगे ।

कर्म-सिद्धान्त बहुत गहन है, स्थूल-बुद्धि से समझ में नहीं आ सकता, एकाग्रबुद्धि से ही समझा जा सकता है । इस कर्म-सिद्धान्त का सार यही है कि कोई कर्म भी किसी को दुःख देने की नीयत से न किया जावे "मा हिंस्यात्सर्व-भूतानि" । वास्तव में न कोई किसी को सुख दे सकता है न दुःख । जो मिलना है वह उसे अवश्य मिलेगा । मनुष्य दूसरों को सुख-दुःख पहुँचाने की नीयत से कर्म करके अपने अन्दर सुख-दुःख पाने के कर्मविपाक एकत्र कर लेता है ।

संगति—योगी के लिये सुख-दुःख दोनों दुःख-रूप ही हैं, अब यह बतलाते हैं:—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैः = परिणाम, ताप, संस्कार के दुःखों से । गुण-वृत्ति-विरोधात्-च = और गुणों की वृत्तियों के विरोध से । दुःखं-एव-सर्वं-विवेकिनः = दुःख ही है सब-कुछ अर्थात् सुख भी दुःख ही है विवेकी को ।

अन्वयार्थ—क्योंकि (विषय-सुख के भोगकाल में भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता और गुणों के स्वभाव में भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुष के लिये सब-कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है ।

व्याख्या—जिस प्रकार विष मिला हुआ स्वादिष्ट पदार्थ भी बुद्धिमान् के लिये त्याज्य है इसी प्रकार जिन योगी-जनों को सम्पूर्ण क्लेश तथा उनके विभाग आदि का विवेकपूर्ण ज्ञान हो गया है उनको संसार के सब विषय-सुखों में दुःख ही दुःख प्रतीत होता है । क्योंकि इन सुखों में भी चार प्रकार का दुःख सम्मिलित है जो नीचे व्याख्या सहित वर्णन किया जाता है :—

परिणाम-दुःख—विषय-सुख के भोग से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती बल्कि रागक्लेश

(२।७) उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों भोग का अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों तृष्णा बलवान् होती है। यथा

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥—(मनु० २।९४)

अर्थ—विषय-कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती किन्तु सामग्री के डालने से अग्नि के सदृश और अधिक भड़कती है। अर्थात् हविः (सामग्री) डालने से अग्नि बुझती नहीं किन्तु और बढ़ती है इसी प्रकार विषय-सुख के भोग से विषय सुख की कामना शान्त नहीं होती किन्तु और बढ़ती है।

विषयों के भोग से इन्द्रियें दुर्बल हो जाती हैं, अन्त में इन्द्रियों में विषय-भोग की शक्ति बिल्कुल नहीं रहती और तृष्णा सताती है। यह सुख परिणाम में दुःख ही है।

ताप-दुःख—विषय-सुख की प्राप्ति में और उसके साधन में राग-क्लेश (२।७) उत्पन्न होता है और उनमें जो रुकावटें होती हैं उनसे द्वेष-क्लेश (२।८) उत्पन्न होता है। यह सुख के नाश होने का दुःख, सुख के भोग काल में भी सताता रहता है। इसी कारण यह सुख परिणाम में ताप-दुःख है।

संस्कार-दुःख—सुख के भोग के जो संस्कार चित्त पर पड़ते हैं उनसे राग (२।७) उत्पन्न होता है, मनुष्य उनके प्राप्त करने में यत्न करता है। उनमें रुकावटों से द्वेष (२।८) होता है। इस प्रकार राग-द्वेष के भी संस्कार पड़ते रहते हैं और उनके वशीभूत होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है उनके भी संस्कार पड़ते हैं। यह संस्कार आवागमन के चक्र में डालने वाले होते हैं इसलिये यह सुख परिणाम में संस्कार-दुःख है।

गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख—सत्त्व, रजस्, तमस्; ये क्रम से प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाव वाले हैं। इनकी क्रम से सुख, दुःख और मोह-रूपी वृत्तियें हैं। ये तीनों गुण परिणामी हैं। कभी एक गुण दूसरे को दबाकर प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको। जब सत्त्व, रजस् तथा तमस् को दबा लेता है तब सुख वृत्ति का उदय होता है। जब रजस्, सत्त्व तमस् को दबा लेता है तब दुःख और जब तमस् सत्त्व तथा रजस् को दबा लेता है तब मोह पैदा होजाता है। इन तीनों गुणों में परिणाम रहता है। इस कारण इनकी वृत्तियों में भी परिणाम का होना आवश्यक है और सुख के पश्चात् दुःख और मोह का होना स्वाभाविक है। यह गुण वृत्तियों के विरोध से सुख में दुःख की प्रतीति है। जिस प्रकार मकड़ी का जाला आँख में पड़कर अत्यन्त दुःखदायी होता है इसी प्रकार विवेकी योगियों का चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, उनको लेश-मात्र भी दुःख और क्लेश खटकता है। इस कारण वे संसार के सुखों को भी सदैव त्याज्य और दुःख-रूप समझते हैं। इसी प्रकार सांख्य दर्शन अध्याय ६ में बतलाया गया है,

'कुत्रापि कोऽपि सुखीति' ॥ ७ ॥

'तदपि दुःख शबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः' ॥ ८ ॥

अर्थ—क्या कहीं कोई सुखी है अर्थात् कहीं कोई भी सुखी नहीं है। (जिसको सुख समझा जाता है) वह सुख भी दुःख से मिला हुआ है इसलिये उस सुख को भी दुःख के पक्ष में विवेकी पुरुष संयुक्त करते हैं।

संगति—जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में रोग, रोग का कारण, आरोग्य, आरोग्य का साधन (औषधि); चार विषय होते हैं इसी प्रकार यहाँ इस शास्त्र में (१) दुःख जो "हेय" त्याज्य है सूत्र १६ में, (२) दुःख का कारण द्रष्टा-दृश्य का संयोग जो "हेय-हेतु" है सूत्र १७ में, (३) दुःख का नाश, इस संयोग का अभाव जो "हान" अर्थात् कैवल्य है सूत्र २५ में, और (४) विवेकख्याति कैवल्य का साधन जो "हानोपाय" है सूत्र २६ में वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्र चतुर्व्यूह कहलाता है। "हेय" अर्थात् त्याज्य क्या है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—हेयं = त्याज्य। दुःखं = दुःख। अनागतम् = आने वाला है।

अन्वयार्थ—आने वाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

व्याख्या—भूतकाल का दुःख भोग देकर व्यतीत होगया इसलिये त्यागने योग्य नहीं। वर्तमान दुःख इस क्षण में भोगा जारहा है दूसरे क्षण में स्वयं समाप्त हो जायगा, इस कारण त्याज्य नहीं। इसलिए आनेवाला दुःख ही त्यागने योग्य है। विवेकी जन उसी को हटाने का यत्न करते हैं।

संगति—इस हेय दुःख का कारण "हेय हेतु" क्या है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—द्रष्टृ-दृश्ययोः—संयोगः = द्रष्टा और दृश्य का संयोग। हेय-हेतुः = हेय (त्याज्य दुःख) का कारण है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा और दृश्य का संयोग "हेय-हेतु" (दुःख का कारण) है।

व्याख्या—द्रष्टा चेतन पुरुष है जो चित्त का स्वामी होकर उसको देखने वाला है। दृश्य चित्त है जो स्व (मिलकियत) बनकर पुरुष को गुणों के परिणाम-स्वरूप संसार को दिखाता है। चित्त द्वारा देखे जाने के कारण यह सारा गुणों का परिणाम विषय, शरीर और इन्द्रिय आदि भी सब दृश्य ही हैं।

संयोग—इस पुरुष और चित्त का जो आसक्ति सहित अविवेक पूर्ण भोक्ता भोग्य भाव का सम्बन्ध है उसके लिये यहाँ संयोग का शब्द आया है। यही इस दुःख का (जो पिछले सूत्र में हेय अर्थात् त्याज्य बतलाया था) "हेतु" अर्थात् कारण है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु ॥ गीता १३। २१ ॥

अर्थः—प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों

पृष्ठ १७८ पर सूत्र १६ की टिप्पणी प्रेसवालों की भूल से छपने से रहगई है। उसके बिना सूत्र २६ तथा सूत्र २९ की टिप्पणी का विषय अधूरा रह गया है। इसलिये उसको यहां संक्षेप से लिख देना आवश्यक है—

पृष्ठ १७८ पंक्ति २७ के पश्चात्

टिप्पणी सूत्र १६—बौद्ध दर्शन—वैदिक दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषयों को बौद्ध धर्म में 'चार आर्य-सत्य' के नाम से वर्णन किया गया है.—

पहिला आर्य-सत्य—दुःखम्—इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है। दूसरा आर्य-सत्य—दुःखसमुदयः—इस दुःख का कारण विद्यमान हैं। तीसरा आर्य सत्य—दुःख निरोधः—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है। चौथा आर्य सत्य—निरोधगामिनी प्रतिपद्—दुःखों के नाश के लिये वास्तविक मार्ग है।

(१) दुःख—दुःख की व्याख्या करते समय तथागत ने बतलाया है "हे भिक्षुगण, दुःख प्रथम आर्य-सत्य है। जन्म दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना, दौर्मनस्य, उपायास सब दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुःख है। प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है। ईप्सित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप से कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पांचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख हैं। धम्मपद गाथा १४६ में बतलाया है:—

को नु हासो किमानन्दो निचं पज्जलिते सति।
(को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति)

जब यह संसार नित्य जलते हुये घर के समान है, तब यहां हंसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जासकता है।

(२) दुःख समुदय—योगदर्शन के हेय हेतु के स्थान में यह दूसरा आर्य सत्य है। समुदय का अर्थ हेतु है। यहाँ दुःख का हेतु तृष्णा बतलाई गई है। मज्झिम निकाय में भगवान् बुद्ध के शब्दों में बतलाया गया है—

हे भिक्षुगण, दुःख समुदय दूसरा आर्य सत्य है। दुःख का वास्तविक हेतु तृष्णा है जो बारम्बार प्राणियों को उत्पन्न करती है, विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है। यहां और वहां सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है (२) कामतृष्णा जो नानाप्रकार के विषयों की कामना करती है (२) भवतृष्णा जो संसार की सत्ता को बनाये रखती है (३) विभव तृष्णा जो संसार के नाश की इच्छा करती है। संक्षेप में दुःख-समुदय का यही स्वरूप है।

सरितः स्निग्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः ।
ते स्रोतः सृता सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नराः ॥

(धम्मपद गाथा ३४१)

तृष्णा की धारायें प्राणियों को बड़ी प्रिय और मनोहर लगती हैं। सुख के फेर में पड़े उसकी धारा में पड़ते हैं और बार-बार जन्म जरा के चक्र में जाते हैं।

न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा यद् आयसं दारूजं बल्वजं च ।
संरक्त-रक्ता मणिकुंडलेषु पुत्रेषु दारेषु च या ऽपेक्षा ॥

(धम्मपद गाथा ३४५)

धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बन्धन को दृढ़ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ़ बन्धन है—सारवान पदार्थों में रक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना।

ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः स्वयं कृतं मर्कटक इव जालम् ।

(धम्मपद गाथा ३४७)

जो राग में रत्त हैं, वे जैसे मकड़ी अपने बनाये जाल में पड़ती है, वैसे ही अपने बनाये स्रोत में पड़ते हैं। मज्झिम निकाय में बतलाया गया है "यही तृष्णा जगत् के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है। इसी के कारण राजराजा से लड़ता है, क्षत्रिय क्षत्रिय से लड़ता है, ब्राह्मण ब्राह्मण से लड़ता है; माता पुत्र से लड़ती है और लड़का माता से लड़ता है। समस्त पाप कर्मों का निदान यही तृष्णा है। चोर इसी के लिये चोरी करता है; कामुक इसी के लिये परस्त्रीगमन करता है। धनी इसी के लिये गरीबों को चूसता है। तृष्णामूलक यह संसार है। तृष्णा ही दुःख का कारण है। इसी का समुच्छेद प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है"।

को भोगता है और इन गुणों का सङ्ग ही इस जीवात्मा के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है (सत्त्व गुण के संग से देवयोनियों में, रजोगुण के संग से मनुष्य योनि में और तमोगुण के सङ्ग से पशुपक्षी आदि नीच यानियों में जन्म होता है।)

टिप्पणी—इस सूत्र की व्याख्या शीघ्रता तथा सरलता के कारण हमने प्रथम संस्करण में भोज वृत्ति अनुसार कर दी थी। इस के व्यास भाष्य के समझने में कई एकों को कुछ शंकाएं उत्पन्न हुई हैं, इसलिये उनके स्पष्टीकरण के साथ व्यास भाष्य के भावार्थ को लिखा जाता है।

व्या० भा० भावार्थ सूत्र १७:—द्रष्टा नाम बुद्धि-प्रतिसम्वेदी पुरुष का है अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर तदाकारता को धारण करने वाले अथवा अपने प्रतिबिम्ब द्वारा बुद्धि को चेतन तुल्य करने वाले पुरुष के लिये द्रष्टा का शब्द प्रयोग हुआ है।

दृश्य नाम बुद्धि सत्त्वोपारूढ़ सब धर्मों (सत्त्व में स्थिर हुई सर्व धर्मों वाली) का है। अर्थात् बुद्धि तथा इन्द्रियों द्वारा जिन पदार्थों को बुद्धि से ग्रहण किया जाता है अथवा अहंकार आदि द्वारा जितने तत्त्व बुद्धि से उत्पन्न होते हैं उन सब प्रकृति के कार्यों को दृश्य पद से ग्रहण करना चाहिये। यह बुद्धि आदि दृश्य ही अयस्कान्तमणि के तुल्य सन्निधिमात्र से द्रष्टृ रूप स्वामी का उपकार करता हुआ दृश्य रूप से स्व हो जाता है (और भोक्ता भूत पुरुष का भोग्य)। यद्यपि यह दृश्य अपने जड़ रूप से लब्ध सत्ता वाला होने से स्वतन्त्र है तथापि पुरुष के अर्थ होने से इसको परतन्त्र ही जानना चाहिये।

यह पुरुषार्थ प्रयुक्त जो स्व स्वामी भाव वा दृग्दृश्य भाव वा भोक्तृ भोग्य भावरूप अनादि प्रकृति पुरुष का संयोग है यह दुःख का कारण है। पञ्चशिखाचार्य ने भी ऐसा ही कहा है:—

"तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतिकारः"

अर्थात् दुःख के कारण बुद्धि संयोग के विवर्जन से (हट जाने से) दुःख का अत्यन्त प्रतिकार (नाश) हो जाता है।

(यहां यह भी जान लेना चाहिये कि यह संयोग ही अस्मिता क्लेश है, और जिसका कारण अविद्या है। और अविद्या सत्त्वचित्त में जो लेशमात्र तम है उसमें वर्तमान है)।

जिस प्रकार लोक में परिहार करने योग्य दुःख-हेतु पदार्थ-प्रतिकार (निवृत्ति का उपाय) है। इसी प्रकार यहां भी दुःख हेतु संयोग का प्रतिकार जान लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार लोक में पादतल (पैर का तलवा) भेद्य (दुःख पाने वाला) है और कण्टक (कांटा) भेदक (दुःख देने वाला) है और कण्टक पर पैर न रखना वा जूते पहिनकर पैर रखना यह इस पैर के तलवे में कांटे लगने के दुःख का प्रतिकार (बचाव) है। इसी प्रकार यहां कोमल पादतल के तुल्य मृदुल सत्त्वगुण (सत्वप्रधान बुद्धि अथवा सत्त्व चित्त) तप्य (दुःख पाने वाला) और रजोगुण उसका तापक (दुःख देने वाला) है और प्रकृति पुरुष

के संयोग की हानि वा विवेक ख्याति इस तापका प्रतिकार है जैसे लोक में भेद्य भेदक और परिहार इन तीनों को जानने वाला भेदक-कण्टकादि की निवृत्ति के उपाय अनुष्ठान करके भेद-जन्य दुःख को प्राप्त नहीं होता वैसे यहां भी जो तप्य तापक और परिहार इन तीनों पदार्थों को जानता है वह भी विवेक ख्याति रूप अनुष्ठान करके संयोग जन्य दुःख को प्राप्त नहीं होता

यद्यपि तापरूप जो क्रिया है वह कर्मभूत सत्त्व (चित्त) में ही है न कि पुरुष में अर्थात् बुद्धि (चित्त) ताप्य है न कि पुरुष, क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा निष्क्रिय है तथापि दर्शित विषयत्वरूप उपाधि से वा अविवेक से बुद्धि के तदाकार होने से पुरुष भी तदाकार धारी अनुताप को प्राप्त हो जाता है। इसलिये पुरुष में औपाधिक ताप का संयोग है अर्थात् बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से पुरुष ताप्य है। प्रकृति पुरुष का सम्बन्धतापक है और विवेकख्याति इसका परिहार है ॥ १७ ॥

विशेष जानकारी के लिये—विज्ञानभिक्षु के योग वार्त्तिक का भाषा-नुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

हेय के सूत्र की व्याख्या करके क्रम से प्राप्त हेय के हेतु के प्रतिपादक सूत्र का अवतरण करते हैं—तस्मात्—जो हेय कहा जाता है, उसके ही कारण का निर्देश किया जाता है—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः—द्रष्टृ शब्द के पदार्थ को कहते हैं—

द्रष्टा बुद्धि प्रतिसंवेदी पुरुष है—

प्रतिसंवेदन—संवेदन-बुद्धि की वृत्ति के प्रतिबिम्ब का नाम है। प्रतिध्वनि के समान इस (प्रतिसंवेदन) शब्द का प्रयोग किया गया है। वह प्रतिसंवेदन जिसको होवे वह बुद्धि की वृत्ति का प्रतिसंवेदी-बुद्धि का साक्षी पुरुष है यह फलितार्थ है।

दृश्य पदार्थ को कहते हैं—दृश्य-बुद्धि सत्त्व में उपारूढ़ सब धर्म हैं। बुद्धि सत्त्व को भी दृश्य होने से यहाँ विशेषण विवक्षित है, धर्म उसको भी बुद्धयारूढ होने से बुद्धि धर्मत्व विवक्षित है, इस अभिप्राय से-दृश्य-बुद्ध्यारूढ सब धर्म हैं, यह कहा गया है—ये धर्म बुद्धि के कार्य हैं, इस अभिप्राय से नहीं कहा है। क्योंकि प्रधान आदि का भी दृश्य होने से त्याग उचित नहीं है। उत्तर सूत्र में मुख्यतया प्रधान को ही दृश्य कहा है। यद्यपि बुद्ध्यारूढ (बुद्धि में प्रतिबिम्बित) पुरुष भी दृश्य है, तो भी वह दुःख से रहित है अतः उसका दर्शन हेय दुःख का हेतु नहीं है, इस आशय से यहाँ दृश्य के अन्दर पुरुष की गिनती नहीं करेंगे। तथा सुख दुःख मोहात्मक दृश्यवाली बुद्धि के साथ द्रष्टा-साक्षी पुरुष का जो काष्ठ में अग्नि के समान सम्बन्ध है—जिसको बन्ध भी कहते हैं वह दुःख का हेतु है, यह सूत्र का अर्थ है। बुद्ध्यारूढ दृश्यों के साथ द्रष्टा का ज्ञानरूप संयोग हेय का हेतु यहाँ विवक्षित नहीं है।

'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'

इस आगामी सूत्र से इस ज्ञान रूप संयोग को ज्ञान का हेतु ही कहा है, ज्ञान रूप नहीं कहा है। इस सूत्र से बुद्धि और आत्मा के संयोग की भांति घटादि

वस्तुओं के साथ आत्मा का संयोग भी भोग का हेतु है, यह जानना चाहिये। क्योंकि लाघव से भोक्ता और भोग्य वस्तु का संयोग ही सामान्य भोग का हेतु कहना उचित है। विषय के भोग में बुद्धि के अवच्छेद से विषय का संयोग हेतु है अतः अतिव्याप्ति नहीं है। यह संयोग पुरुषार्थ का हेतु है और इस संयोग का हेतु पुरुषार्थ है इस बात को कहने के लिये—सकल पुरुषार्थस्वरूप जो पुरुष का स्वत्व है—सम्पत्ति है—उसका बुद्धि में प्रतिपादन करते हैं—*तदेतदिति*—*वह यह दृश्य—अयस्कान्त मणि के सदृश सन्निधिमात्र से उपकारी दृश्यत्व* से स्वामी पुरुष का स्व-सम्पत्ति होता है।

शंका—'तस्य हेतुरविद्या' इस आगामी सूत्र से ही संयोग का कारण कहेंगे, यहाँ संयोग के कारण की अपेक्षा नहीं है?

समाधान—यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अविद्या को भी पुरुषार्थ की असमाप्ति के द्वारा बन्ध की हेतुता आगे कहेंगे। तदेतद् इत्यादि का अर्थ यह है कि वह बुद्धि सत्व है, यह दृश्य जगत जिसमें रहता है वह दृश्य है अतः अयस्कान्तमणि के समान सन्निधिमात्र में उपकारी होने से और स्वयं दृश्य होने से ज्ञान मात्र स्वरूप—स्वामी पुरुष का वह स्व-आत्मीय (सम्पत्ति) होता है।

शंका—बुद्धि का अन्य स्वामी क्यों मानते हो? वह बुद्धि ही अपरतन्त्रा, स्वयं ही द्रष्ट्री स्वार्थ ही हो सकती है।

समाधान—*तत्राह-अनुभवकर्मेति-क्योंकि कर्म कर्तृ विरोध होने से आप अपना* दृश्य तो हो नहीं सकता (अतः) अनुभव नामक जो पुरुष का कर्म हैं, उस कर्म का *विषय होता हुआ ही अन्य रूप से पुरुष चैतन्य से प्रतिलब्धात्मक-सिद्ध सत्तावाला—अथवा* अन्य रूप से अन्य के प्रयोजन के कारण प्राप्त स्थिति (अतः) स्वतन्त्र होने पर भी पुरुष के अनाश्रित भी पदार्थ होने से परतन्त्र हैं, पर-पुरुष का स्व-सम्पत्ति है। इस प्रकार दृश्य नामक-भोग्यात्मक अखिल पुरुषार्थ के बुद्धिनिष्ठ सिद्ध हो जाने पर यहाँ पुरुषार्थ अनागत अवस्था में स्थित-बुद्धि और पुरुष के संयोग में कारण है—यह कहते हुए सूत्र के वाक्यार्थ को कहते हैं—*तयोरिति*—इन स्व और स्वामी का—दृश्यते अनेनेति दर्शनं बुद्धिः—देखा जाय जिससे वह दर्शन नाम बुद्धि का है—पुरुषार्थ कृतत्व वचन कथन के कारण यहाँ अनादि का अर्थ प्रवाह से अनादि है।

शंका—पुरुषार्थ का पुरुष से संयोग मानने में पुरुष की अपरिणामिता का भंग हो जायेगा (कोई भी संयुक्त पदार्थ अपरिणामी नहीं होता)

समाधान—सामान्य गुणों के अतिरिक्त धर्मों की उत्पत्ति को ही व्यवहार के अनुसार परिणाम निश्चय किया है। घट आदि के संयोग आदि से आकाश परिणामी नहीं होता, और द्वित्व आदि संख्या के संयोग से पुरुष परिणामी नहीं कहा जाता, पद्म-पत्र पर रक्खी जल की बूँद से पद्म-पत्र की अपरिणामता और असंयोग भी सुना जाता है। संयोग, विभाग, संख्या आदि द्रव्यों के सामान्य गुण हैं (अतः सामान्यगुण संयोग से अपरिणामता का भंग नहीं होता है) श्रुति और स्मृतियों में सुखादिरूप परिणाम ही पुरुष

में नहीं माने हैं, मन के साथ सुखादि का अन्वय और व्यतिरेक है, अतः मन में ही लाघव से सुखादि माने हैं, सुखादि को मन का अवच्छेदक मान कर अन्यत्र-पुरुष में उसको (सुखादि को) मानने में गौरव है। संयोगादि के प्रति तो द्रव्यत्व रूप से ही हेतुता होने से-वह पुरुष की भी हो सकती है, और पुरुष का द्रव्यत्व तो अनाश्रित होने से तथा परिमाण से सिद्ध है (अर्थात् जो अनाश्रित और परिमाण वाला होता है वह द्रव्य हुआ करता है, पुरुष किसी के आश्रय नहीं और महत् परिमाण वाला है अतः द्रव्य है)

यद्यपि कारणावस्था में बुद्धि और पुरुष दोनों विभु हैं तथापि (तो भी) उनका संयोग परिच्छिन्न गुणान्तर के अवच्छेद से संभव है हाँ, क्योंकि महदादि अखिल परिणाम त्रिगुण के संयोग के विना उत्पन्न नहीं होने, और वह संयोगज संयोग है, कर्म जन्य संयोग नहीं है। जैसे अवयव के संयोग से अवयवी का संयोग होता है, वैसे अवच्छेदकीभूत गुण के संयोग से ही दो विभुओं का (बुद्धि और पुरुष का) संयोग है। साक्षात् संयोग का पुरुष में निषेध है संयोगज संयोग का निषेध नहीं है। यदि आत्मा का संयोग ही नहीं है यह माना जाय तो प्रकृति पुरुष के संयोग से सृष्टि और उनके वियोग से प्रलय यह जो श्रुति, स्मृति और सूत्रों ने माना है वह न बन सकेगा।

भोक्तृ भोग्य योग्यता ही यहाँ औपचारिक संयोग वक्तव्य है यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह स्व-स्वामि-भाव होने से अनादि है, अनादि होने से कार्य हो नहीं सकता, और उसके अविनाशी होने पर ज्ञान से नाशकता का विरोध होगा, नाशवान् मानने में पुरुष को परिणामता होगी (जो कि अनिष्ट है)।

शंका—पुरुष का संयोग मानने से पुरुष की असंगता की क्षति होगी ?

समाधान—नहीं, कमलपत्र में जो कि पुरुष का दृष्टान्त है—संयोग होने पर भी असंगता मानी जाती है। स्व-आश्रय-विकार का हेतु जो संयोग, उससे योग होने पर ही संग की प्राप्ति है। पुरुष में ऐसा संयोग नहीं है (जो पुरुष के अन्दर विकार का हेतु हो); अतः पुरुषार्थ का कारण बुद्धि और पुरुष का संयोग है, वही जन्म रूप से दुःख का हेतु है—यह बात सिद्ध होती है। वह संयोग विशेष परमेश्वर की योगमाया—योगीन्द्रों से भी अचिन्त्य—श्रुति और स्मृतियों से गम्य है—विशेष तर्क का विषय नहीं है, जिस माया के द्वारा ईश्वर, नित्य-मुक्त-असंग, अविद्या आदि से रहित विभु और चेतनमात्र आत्मा जीव समूह को बन्धन में डालता है (जिसके कारण जीव समूह बन्धन में फँसे हुये हैं) ऐसा ही कहा है—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।'

निश्चय ही जो भाव अचिन्त्य हैं उनको तर्क से युक्त न करे—उनके विषय में तर्कना न करे।

'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते ।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्' ॥

यह ही यह भगवान् की माया है जो कि नीति का भी विरोध करती है—(इसी माया के कारण निमुक्त ईश्वर को भी दीनता और बन्धन होता है।❀

संयोग को दुःख की हेतुता दिखलाने के लिये पञ्चशिखाचार्य के संवाद को कहते हैं—तथा चोक्तं-यहाँ से-प्रतीकार-यहाँ तक। बुद्धि और पुरुष का संयोग हेय दुःख का हेतु है, उसके परिवर्जन से-उच्छेद से-दुःख का आत्यन्तिक प्रतीकार होता है—उच्छेद होता है।

शंका—अनादि काल से प्रवृत्त जो दुःख का हेतु संयोग, उसका उच्छेद नहीं हो सकता,इस आशय से पूछते हैं प्रसंग से उसकी शक्यता का निश्चय करने के लिये कस्मादिति।

समाधान—दुःख के हेतु के परिहार से दुःख का प्रतीकार देखा जाता है। प्रकृति आदि की नित्य व्यावृत्ति तथा च दुःख के हेतुत्व नित्यत्व लिङ्ग से संयोग का उच्छेद हो सकता है। इसका अनुमान होता है। दुःख के हेतु का प्रतीकार हो सकता है इसमें लौकिक उदाहरण कहते हैं—तद्यथेति।

भेद्यत्व—भेद्यदुःख—भागित्व हैं, और भेदत्व—भेद के द्वारा दुःख का हेतु है, पादानधिष्ठान—पैर से अनारोहण—न चढ़ना है। पादत्राण जूते को कहते हैं अथवा जूता पहने पैरों से काटों पर चढ़ना।

ये तीन दुःख का आश्रय, दुःख का हेतु और दुःख के परिहार के उपाय हैं, जो इनको जानता है—इस वचन से भाष्यकार ने इन तीनों के ज्ञान को दुःख प्रतीकार की हेतुता कहते हुए—यह तीनों मुमुक्षु को जानने चाहियें यह भी सूचित किया है।

शंका—ताप और दुःख पर्याय वाची शब्द हैं। तब दृष्टान्त में यथा भेद्य-भेत्तृ-प्रतीकार-रूप त्रिक है, वैसा दार्ष्टान्तिक में नहीं है क्योंकि उसमें एक बुद्धि को ही तप्य (तपने वाली) तापक (तपाने वाली) उभय रूप माना है और पुरुष को निर्दुःख माना है। अतः आक्षेप करते हैं—कस्मादिति—

सामाधान—सिद्धान्त कहते हैं—त्रित्वोपलब्धेरिति। बाह्य दुःख के स्थल में उक्त तीनों की उपलब्धि के बल से अन्तर दुःख के स्थान में भी तीनों की सिद्धि होती है यह भाव है, उसका प्रकार कहते हैं—अत्रापीति—वहाँ दार्ष्टान्तिक में भी, भाव यह है बुद्धि के एक होने पर भी त्रिगुणात्मक होने से तीन अंश होते हैं, उन में से रजो अंश तापक है, सत्व अंश तप्य-तपने-वाला है, बुद्धि और पुरुष का वियोग, दुःख का प्रतीकार है, इस भाँति तीन बन सकते हैं। पुरुष ही तप्य-तपने-वाला-क्यों नहीं है इस आशय से पूछते हैं—कस्मादिति—सिद्धान्त कहते हैं—अत्रापि इत्यादिना—इससे क्षेत्रज्ञ—इस तक से कर्मस्थत्व का अर्थ है कर्म-तया अर्थात् सकर्मक होने से। कर्मत्व का अर्थ क्रिया व्यापक है क्योंकि दुःख व्याप्तत्व अपरि-णामी में सम्भव नहीं। वृत्ति व्याप्यत्व तो विषयता रूप अपरिणामी में भी सम्भव है। अतः ज्ञानक्रिया की कर्मता पुरुष में बन सकती है, यह वाक्य शेष है। और जो पुरुष की दृश्यता है, वह भी स्वप्रतिबिम्बित बुद्धि की वृत्ति से व्याप्यत्व ही है, उसमें परिणाम की अपेक्षा नहीं है।

❀ टि०—यह सिद्धान्त नवीन वेदान्त का समझना चाहिए (प्रकाशक)

शंका—दुःख निवृत्ति पुरुषार्थ कैसे हो सकती है ? क्योंकि दुःख तो हेय होता नहीं, यह भी नहीं कह सकते कि पुरुष-निष्ठ दुःख का भ्रम है इससे दुःख हेय है, क्योंकि विद्वानों को भी दुःख-हान के लिये असम्प्रज्ञात समाधि की अर्थिता स्वीकार हैं ?

समाधान—दर्शितविषयत्वादित्यादि—पुरुष क्योंकि दर्शित विषय है, बुद्धि सत्व से निवेदित विषय है अतः सत्त्व के तप्यमान होने पर प्रतिबिम्ब रूप से पुरुष बुद्धि सत्व के समान आकार वाला होता है तपता नहीं, मूढ बुद्धियों को अनुतप्त जैसा दिखलाई देता है, स्व-आकार के प्रतिबिम्बन के सिवाय विषय का निवेदन अपरिणामी पुरुष में सम्भव नहीं है, इस बात का प्रतिपादन 'वृत्तिसारूप्य' इस सूत्र में कर दिया है। तथा च—प्रतिबिम्ब रूप से भोग नामक सम्बन्ध के द्वारा विद्वानों को भी दुःख की हेयता है, पुरुषार्थ के असंभव का दोष नहीं है, यह भाव है,—जो पुरुष में भोक्तृत्व नहीं मानते, उन नवीन वेदान्तियों को ही यह दोष है॥ १७॥

संगति—अब दृश्य का स्वरूप, उसका कार्य तथा प्रयोजन बतलाते हैं।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलं=प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है। भूतेन्द्रिय-आत्मकं=भूत इन्द्रिय जिसका स्वरूप है। भोग-अपवर्ग-अर्थम्=और भोग अपवर्ग जिसका प्रयोजन है। दृश्यं=वह दृश्य है।

अन्वयार्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है वह दृश्य है।

व्याख्या—सत्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण और जो कुछ इनसे बना है वह दृश्य है।

गुणों का धर्म—प्रकाश सत्व-गुण का; प्रवृत्ति (क्रिया=चलना) रजोगुण का और स्थिति=रोकना तमोगुण का स्वभाव है। यह तीनों प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील-गुण-परिणामी और परस्पर संयोग विभाग वाले हैं, तथा विवेक-ख्याति-रहित पुरुष के संग संयुक्त रहते हैं अर्थात् स्वस्वामी भाव=(भोग-भोक्तृभाव) सम्बन्ध रखते हैं और विवेक-ख्याति वाले पुरुष से विभक्त हो जाते हैं।

यह तीनों गुण साम्यावस्था को प्राप्त हुये प्रधान=(प्रकृति=अव्यक्त=कारण) रूप से रहते हैं और विषमावस्था में परस्पर अंग-अंगी भाव से मिले हुये व्यक्त कार्यों को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् जब सात्विक, प्रकाशरूप कार्य उत्पन्न होता है तब सत्व गुण अंगी (मुख्य) होता है, अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुण अंग (गौण) होते हैं। इसी प्रकार जब राजस् तथा तामस् कार्य उत्पन्न होते हैं तब रजोगुण तथा तमोगुण अंगी और अन्य दोनों गुण अंग होते हैं। अंग-अंगी भाव से मिले हुये रहने पर भी इनकी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न ही रहती हैं अतः सब कार्य विलक्षण होते हैं।

मिलकर कार्य करने से ही यह तीनों गुण तुल्य जातीय अतुल्य जातीय कार्य को

आरम्भ करते हैं। अर्थात् प्रकाशरूप सात्त्विक कार्य के आरम्भ काल में सत्व गुण तुल्य जातीय और अन्य दोनो रजोगुण और तमोगुण अतुल्य जातीय होते हैं। इसी प्रकार सत्वगुण की अपेक्षा से प्रकाश तुल्य जातीय और अन्य दोनों गुणों की अपेक्षा से अतुल्य जातीय हैं। इसी से रजोगुण और तमोगुण के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। जहाँ जो तुल्य जातीय है वह उपादान कारण है और जो अतुल्य जातीय है वह सहकारी कारण है।

दिव्य शरीर उत्पन्न करने के समय सत्वगुण प्रधान (मुख्य) होता है और रजोगुण तमोगुण गौण (सहकारी) होते हैं, मनुष्य शरीर उत्पन्न करने के समय रजोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनो गुण गौण होते हैं, और तिर्यक् कीट पशु आदिक शरीर उत्पन्न करते समय तमोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं। इस प्रकार जिस गुण का कार्य उत्पन्न होता है वह गुण प्रधान हुआ उद्‌गार होता है और अन्य दो गुण सहकारी कारण होने से प्रधान-गुण के अन्तर्गत सूक्ष्म रूप से रहते हैं और व्यापार-मात्र से अनुमान से जाने जाते हैं। इस प्रकार यह तीनों गुण गौण प्रधान (अङ्गाङ्गी) भाव से मिले हुए केवल पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष के भोग-अपवर्ग के प्रयोजन साधने के लिये अयस्कान्त-मणि के तुल्य पुरुष की सन्निधि-मात्र से कार्यों को उत्पादन करते हैं। ऐसे धर्मशील गुणों की साम्यावस्था ही प्रधान है और यही दृश्य कहा जाता है।

गुणों का कार्य—यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है, अर्थात् दस भूत, पाँच स्थूलभूत, पृथ्वी-जल आदि और पाँच सूक्ष्मभूत गन्ध, रस, तन्मात्रा आदि; और तेरह इन्द्रियें पाँच ज्ञानेन्द्रियें, पाँच कर्मेन्द्रियें, तीन सूक्ष्म इन्द्रियें मन, अहङ्कार, बुद्धि+चित्त, (महत्तत्त्व) आदि सत्व ग्राह्य-ग्रहण रूप से इन्हीं तीनों गुणों के कार्य हैं अर्थात् इन्हीं के विभिन्न रूप हैं।

गुणों का प्रयोजन—यह त्रिगुणात्मक दृश्य अर्थात् भूतेन्द्रिय आदि रूप से प्रकृति का परिणाम निष्प्रयोजन नहीं है किन्तु पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजन वाला है।

भोग—उसमें द्रष्टा दृश्य के स्वरूप-विभाग से रहित इष्ट-अनिष्ट, गुण, स्वरूप का अवधारण (अनुभव) भोग कहलाता है।

अपवर्ग—द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप से विभक्त भोक्ता के स्वरूप का अवधारण (साक्षात्कार) अपवर्ग है। उपरोक्त दोनों प्रकार के भोग भी पुरुष के कल्याणार्थ हैं, अर्थात् अपवर्ग दिलाने में सहायक हैं; इसको स्पष्ट किये देते हैं।

१(क) भोग—अनिष्ट गुण स्वरूप का अनुभव : कर्माशय का आवरण, क्लेशों और संस्कारों का मल जो अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मों के परिणाम-रूप चित्त पर चढ़ा लिया गया है, इसके निवारणार्थ मन, इन्द्रियों और शरीर आदि का भोग है जो साधारण रूप से सब प्राणी भोग रहे हैं। भाव यह है कि गुणों के विषम परिणाम का प्रयोजन तो पुरुष को उनका (गुणों का) यथार्थ ज्ञान कराकर स्वरूप में अवस्थित कराने का है। पर पुरुष अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मों से चित्त पर कर्माशय

आदि का मल चढ़ा लेता है। इस मल के निवारणार्थ जो पुरुष का भोग है यद्यपि वह अनिष्ट है तथापि वह भी पुरुष के कल्याणार्थ है क्योंकि गुणों का यथार्थ ज्ञान दिलाकर स्वरूप में अवस्थित कराने के लिये चित्त से उन मलों का धोना आवश्यक है जो अनिष्ट-भोगों द्वारा होता है।

(ख) भोग—इष्ट गुण स्वरूप का अनुभव : इस सम्पूर्ण दृश्य का गुणों के परिणाम का सम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा विवेक-पूर्ण तत्त्वज्ञान जो इस दृश्य के भोग का वास्तविक प्रयोजन है जिसको विवेकी-जन भोगते हैं जिसके पश्चात् स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है।

२ अपवर्ग : भोक्ता के स्वरूप का अवधारण स्वरूपावस्थिति है जो विवेकख्याति के पश्चात् प्राप्त होती है, जो पुरुष का परम प्रयोजन है।

इन दोनों दर्शनों अर्थात् पुरुष को गुणों का यथार्थ ज्ञान कराने (गुणों के परिणाम का दर्शन) और स्वरूप अवस्थित कराने (पुरुष-दर्शन कराने) के अतिरिक्त प्रधान प्रवृत्ति का अन्य कोई तीसरा प्रयोजन नहीं है जैसा कि श्री व्यासजी महाराज ने पञ्चशिखा-चार्य के सूत्र से अपने भाष्य में दर्शाया है :—

अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छंकत, इति।

अर्थ—निश्चय इन तीनों गुणों के कर्त्ता होते हुए चौथे उनकी क्रियाओं के साक्षी तुल्य-अतुल्य स्वभाव वाले अकर्त्ता पुरुष में (बुद्धि से) प्राप्त कराये सारे भावों को स्वाभाविक देखता हुआ अन्य दर्शन की सम्भावना नहीं करता।

यद्यपि यह भोग-अपवर्ग-रूप दोनों पुरुषार्थ बुद्धिकृत होने और बुद्धि में ही वर्तने से बुद्धि के ही धर्म हैं तथापि जैसे जय और पराजय योद्धाकृत और योद्धा में वर्तमान होने पर भी उनके स्वामी राजा में कही जाती हैं क्योंकि वह उसका स्वामी और उसके फल का भोक्ता है, इसी प्रकार बन्ध या मोक्ष चित्त में वर्तमान होते हुए भी पुरुष में व्यवहार से कहे जाते हैं क्योंकि वह बुद्धि का स्वामी और उसके फल का भोक्ता है।

वास्तव में पुरुष के भोग-अपवर्ग-रूप प्रयोजन की समाप्ति न होने तक चित्त में ही बन्धन है और विवेकख्याति की उत्पत्ति से पुरुष के उस प्रयोजन की समाप्ति में चित्त का ही मोक्ष है।

जिस प्रकार बन्ध-मोक्ष-रूप चित्त के धर्मों का पुरुष में आरोप किया जाता है, इसी प्रकार ग्रहण (स्वरूप-मात्र से पदार्थ का ज्ञान), धारण (ज्ञात हुए पदार्थ की स्मृति) ऊहा (पदार्थ के विशेष धर्मों का युक्ति से निर्णय करना), अपोह (युक्ति से आरोपित धर्मों का दूर करना), तत्त्वज्ञान (ऊहा अपोह से पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना), अभिनिवेश (तत्त्वज्ञान-पूर्वक त्याग और ग्रहण का निश्चय) आदि धर्म भी चित्त में वर्तमान रहते हुए पुरुष में अविवेक से आरोप किये जाते हैं, क्योंकि वही उसका स्वामी और उसके फल का भोक्ता है।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

दृश्य का रूप कहते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशील सत्त्व है, क्रियाशील रज है और स्थितिशील तम है, ये गुण परस्पर उपरक्त-प्रविभाग हैं, संयोग विभाग धर्म वाले हैं, एक ने दूसरे के सहारे पर अपना मूर्तरूप भूतादि और इन्द्रियादि उपार्जित किया है, परस्पर अंग और अंगी होने पर भी असंभिन्न शक्ति प्रविभाग हैं, तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय शक्ति के भेद से अनुपाती हैं, प्रधान अवस्था के समय में उपदर्शित सन्निधान हैं, गुण होने पर भी व्यापार मात्र से प्रधानान्तर्णीत इनकी सत्ता अनुमित है, पुरुषार्थ कर्त्तव्य होने से अपने सामर्थ्य का प्रयोग करते हैं, सन्निधिमात्र से उपकारी हैं, अयस्कान्त मणि के समान प्रत्यय के बिना एक की वृत्ति के अनुकूल वर्तते हुए प्रधान शब्द के वाच्य होते हैं (प्रधान शब्द से उनको बोला जाता है) यह दृश्य कहलाता है । यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है—भूत भाव से—पृथिवी आदि सूक्ष्म और स्थूल रूप से परिणित होता है, तथा इन्द्रिय भाव से—श्रोत्रादि—सूक्ष्म और स्थूल भाव से परिणित होता है; और वह निष्प्रयोजन नहीं किन्तु प्रयोजन को लेकर प्रवृत्त होता है, अतः वह दृश्य पुरुष के भोगार्थ ही है, उनमें से इष्ट और अनिष्ट गुण के अविभागापन्न स्वरूप का अवधारण भोग है और भोक्ता पुरुष के स्वरूप का अवधारण अपवर्ग है मुक्ति है, इन दो के अतिरिक्त दर्शन नहीं है ।

तथा चोक्तम्—**"अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि उपनीयमानान् सर्वभावान् उपपन्नान् अनुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छंकते इति"**

श्री पंचशिखाचार्य कहते हैं—लोक में तीनों गुणों के कर्ता होने पर भी अकर्ता चतुर्थ पुरुष में जो कि गुणों की क्रियाओं का साक्षी है बुद्धि से लाये गये सब भावों को मूढ युक्ति सिद्धवत् देखता हुआ अन्य दर्शन की शंका भी नहीं करता है—सम्भावना भी नहीं समझता ।

शंका—ये बुद्धिकृत भोग और अपवर्ग, जो कि बुद्धि में ही वर्तमान हैं, पुरुष में किस प्रकार कहे जाते हैं ?

समाधान—जैसे कि विजय और पराजय योद्धाओं में होता है और स्वामी राजा में व्यपदेश से कहा जाता है, क्योंकि राजा ही जय पराजय के फल का भोक्ता होता है, ऐसे ही बन्ध और मोक्ष भी बुद्धि में होते हैं और स्वामी पुरुष में व्यपदेश से कहे जाते हैं, क्योंकि वह पुरुष ही उन बन्ध और मोक्षरूप फलों का भोक्ता है, बुद्धि को ही पुरुषार्थ की समाप्ति तक बन्ध है, और उस पुरुषार्थ की समाप्ति अपवर्ग है, इससे ग्रहण, धारण, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश बुद्धि में होते हुए, पुरुष में अध्यारोपित सद्भाव वाले हैं क्योंकि वह पुरुष ही उनके फल का भोक्ता है ॥ १८ ॥

विज्ञान भिक्षु के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

अब द्रष्टा, दृश्य, और संयोग इन तीनों के ही स्वरूप को सूत्रकार कहेंगे, उनमें से दृश्य के स्वरूप के प्रतिपादक सूत्र का अवतरण करते हैं—दृश्य स्वरूपमुच्यत इति-दृश्य के स्वरूप को कहते हैं—यहाँ पाठक्रम के विपरीत से आदि में दृश्य के कथन का कारण यह है कि दृशिमात्र इस आगामी सूत्र में जो मात्र शब्द आया है, उससे अखिल दृश्य के भेद से द्रष्टा का प्रतिपादन करना है, उसके लिये प्रतियोगी दृश्यों का ज्ञान अपेक्षित होगा, इसी कारण पूर्व सूत्र में प्रथम प्रधानतया द्रष्टा का उपन्यास है यह जानना चाहिये।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। प्रलय काल में प्रकाश आदि कार्य का अभाव होता है अतः यहाँ शील पद दिया है। प्रकाश—बुद्धि की वृत्ति आदि रूप आलोक और भौतिक आलोक है। क्रिया प्रयत्न चलन को कहते हैं, स्थिति, प्रकाश और क्रिया से शून्य या प्रकाश क्रिया के प्रतिबन्ध का नाम है। तत् शीलगुणत्रय यह विशेष्य पद यहाँ उत्तर सूत्र में गुणपर्वाणि इस विभाग वचन से उपलब्ध होता है। अतएव भाष्यकार एते गुणाः ऐसी व्याख्या करेंगे, उस प्रकार गुणों के होने में प्रमाण कहते हैं, भूतेति—भूतेन्द्रियात्मक—स्थूल और सूक्ष्मरूप भूतों और स्थूल तथा सूक्ष्मरूप इन्द्रियों का कारण है, इससे महदादि अखिल कार्यों का कारणत्व ही लब्ध होता है, और वह कारणत्व गुणों में है (अर्थात् महदादि अखिल प्रपंच के कारण गुण हैं) और उनके प्रकाशादि रूपता में प्रमाण है (अनुमान प्रमाण है) क्योंकि त्रिगुणात्मक जड़ कार्यों की सिद्धि त्रिगुणात्मक जड़ कारण के बिना नहीं होती। गुणों के कार्य को कह कर उनके स्वरूप की सत्ता के प्रयोजक प्रयोजन को कहते हैं। भोगापवर्गार्थं—भोग और अपवर्ग प्रयोजन वाला है, यह सूत्रार्थ है।

शंका—तब तो तीन गुण ही दृश्य हैं, उनके विकार दृश्य नहीं हैं?

समाधान—यह नहीं, क्योंकि गुण के पर्व रूप से उत्तर सूत्र से उनके विकारों का भी संग्रह है अतः वे भी दृश्य हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हैं प्रकाशशीलमिति—यह दृश्य प्रकाश-क्रियास्थितिशील है।

शंका—सत्त्व आदि गुण ही यदि प्रकाशादिशील दृश्यरूप से यहाँ कहे हैं और प्रकृति को कहा नहीं, तो सूत्र की न्यूनता है और सत्त्व आदि गुणों को ही भूतेन्द्रियात्मक मानने से प्रकृति मानने के सिद्धान्त की हानि होगी, क्योंकि प्रकृति व्यर्थ होगी।

समाधान—गुण ही प्रकृति शब्द के वाच्य हैं, उनसे अतिरिक्त प्रकृति नहीं है यह निश्चय करते हैं—एते गुणाः—सत्त्व आदि ये गुण प्रकृतिशब्द के वाच्य होते हैं। प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजात मित्यादि व्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्यादिशब्दैरुच्यन्ते इत्यन्वयः। जिसमें कार्यसमूह रहता है, इस व्युत्पत्ति से प्रधान और प्रकृति आदि शब्दों से गुण ही कहे जाते हैं। तथा च सांख्यसूत्रम्—

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्।

पुरुष के उपकरण होने और बन्धन के कारण से सत्त्व आदि गुण कहलाते हैं, प्रकाश और क्रिया आदि की भांति द्रव्य में समवेत होने से सत्त्व आदि गुण नहीं कहलाते, यह भाव है। सत्त्व आदि ही प्रधान शब्द के वाच्य हैं इसको सिद्ध करने के लिए गुणों के ही जगत्कारणत्व अनित्यत्व आदिक जो हेतु-गर्भविशेषण हैं उनका उपपादन करते हैं। परस्परेति-सत्त्व का अविभाग—अधिक भाग रज और तम के स्वल्प भागों से उपरक्त-संसृष्ट होता है, ऐसे ही रजस् और तमस् का भी जानना चाहिये। इस भांति परस्परोपरक्तविभाग तथा संयोग विभाग धर्म वाले हैं, परस्पर संयोग विभाग स्वभाव वाले हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि सत्त्व आदि गुण-द्रव्य हैं (द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं) तथा एक दूसरे की सहायता से अवयवी को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि कार्य कारण के अभेद से ही आरम्भ होता है।

शंका—यदि इतरेतर सहाय में सब गुण सब कार्यों के कारण हों तो सत्त्व आदि को भी क्रिया आदि के हेतु होने से सक्रियत्व आदि की आपत्ति से प्रकाश आदि शक्ति का सांकर्य होगा ?

समाधान—तत्राह—परस्पर अंगांगित्व होने पर भी एक दूसरे के अंगांगिभाव से उत्पन्न किये द्रव्य में प्रकाश सत्त्व का ही गुण है, क्रिया रजस् का ही गुण है और स्थिति तमस् का ही गुण है, अतः प्रकाशादि की शक्ति विभाग का संभेद-सांमिश्रण नहीं है। तथा तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय शक्ति भेद के गुण अनुपाती हैं। सत्त्व आदि जाति से सजातीय हैं और जो सहकारी शक्ति विशेष हैं वे विजातीय हैं, तदनुपाती हैं, उनके अविशेष से उपष्टम्भक स्वभाव वाले हैं। इससे (यह भी सिद्ध है कि) सत्त्व आदि गुण व्यक्तिरूप से अनन्त हैं (व्यापक हैं)। और त्रिगुणत्व आदि व्यवहार तो सत्त्व आदि जातिमात्र से होता है-जैसे कि वैशेषिक मत में नव द्रव्यों में द्रव्यत्व जाति मान कर, द्रव्य व्यवहार होता है, यह सिद्ध हो गया। अतएव लघुत्व आदि धर्मों से एक दूसरे के साथ साधर्म्य और वैधर्म्य भी है, इस बात को सांख्य सूत्र ने सत्त्व आदि के लघुत्व आदि रूप साधर्म्य और वैधर्म्य दर्शा कर स्पष्ट किया है। तथा प्रधान वेला में (प्रधानावस्था में) स्वस्व प्रधानकाल में विकारों में (कार्यों में) अपने सान्निध्य को प्रकट करने वाले होते हैं। तथा गुण होने पर भी इतर के उपसर्जन होने की दशा में भी व्यापारमात्र से (अपने सांनिध्य को प्रकट करने वाले होते हैं) तथा विषय विधि से अयस्कान्तमणि के समान चित्त के आकर्षक होते हैं। वक्ष्यतिहि—अयस्कान्तमणि के सदृश विषय हैं और अयस् धमक चित्त है, तथा प्रत्यय के विना—अभिव्यक्ति के विना अपने अनभिव्यक्ति काल में—उस समय एकतम जिस किसी गुणान्तर की वृत्ति के पीछे सूक्ष्म वृत्ति वाले होते हैं, क्योंकि वृत्ति-अतिशयों का ही विरोध कहा है-यह विशेषण समूह का अर्थ है। यह दृश्य कहलाता है। यह गुणत्रय ही कार्यकारण भावयुक्त दृश्य कहे जाते हैं-इनके सिवाय अन्य दृश्य नहीं है, ये ही गुण न्याय और वैशेषिक के द्वारा द्रव्याष्टक नाम से विभाग किये गये हैं और वेदान्तियों ने इनको

माया कहा है। "मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतेः" माया को तो प्रकृति जान यह श्रुति कहती है। यह बात वृहद्वासिष्ठ में भी कही है—

'नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामन्ये परे त्वणुन्' ॥

नाम और रूप से विनिर्मुक्त यह जगत् जिसमें ठहरता है—लीन हो जाता है—उसको कोई प्रकृति कहते हैं, दूसरे माया बोलते हैं और कुछ लोग अणु नाम लेते हैं।

शंका—यदि त्रिगुण से पृथक् प्रकृति नहीं है तो अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां इत्यादि श्रुति के कहे प्रकृति के एकत्व आदि से विरोध होगा, तथा—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

यह व्यक्त हेतु वाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय-अनेक-आश्रित-लिङ्ग; सावयव और परतन्त्र है इसके विपरीत अव्यक्त है, अहेतु, नित्य, व्यापी, अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग-निरवयव और स्वतंत्र है। इत्यादि से कहा व्यापकत्व अक्रियवत्व निरवयवत्व आदि रूप जो सांख्य का सिद्धान्त है उसका विरोध होगा।

एते प्रधानस्य गुणाः स्युरनपायिनः—

ये तीन प्रधान के अनपायी गुण हैं, इत्यादि स्मृतिपरम्परा में प्रधान के गुणों का आधाराधेय भाव सम्बन्ध और हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध को कहने वाले वचन भी उपपन्न न होंगे। तथा—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः—

सत्त्व, रजस् और तमस् ये प्रकृति से उत्पन्न गुण हैं, यह गीतादि वाक्यों में सत्त्व आदि को जो प्रकृति का कार्य कहा है, वह न बनेगा तथा २८ तत्त्व का पक्ष भी न बनेगा।

समाधान—पुरुष भेद और सर्ग भेद से भेद का अभाव ही प्रकृति का एकत्व अजादि वाक्यों से कहा है और अजादिवाक्यमूलक ही सांख्यादि ने भी प्रतिपादन किया है। अजा-वाक्य से ऐसे ही तात्पर्य्य का निश्चय किया गया है। भोग्य और भोक्तृ के मध्य में भोग्य गुण हैं, वे भोग्यत्व और अभोग्यत्व के द्वारा सर्ग भेद से भिन्न भिन्न (भेद वाले) होते हैं, ये भोग्य के योग्य हैं, और यह भोग्य के योग्य नहीं हैं, यह बात मुक्त पुरुष के उपकरणों में भी हो सकती है क्योंकि वे भी अन्य पुरुष के भोग्य होते हैं। भोक्ता पुरुष भी भोक्तृत्व और अभो-क्तृत्व के भेद से सर्ग के भेद से भिन्न भिन्न हो सकते हैं, पूर्व सर्ग में जो मुक्त हो चुके हैं वे उत्तर सर्ग में भोक्ता नहीं हैं किन्तु दूसरे भोक्ता हैं। अतः प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं यह कहा जाता है। तथा वे ही गुण सब सर्गों में स्रष्टा होते हैं, और महत् आदि विकारों का तो सर्ग भेद से भिन्न होना स्पष्ट ही है, क्योंकि अतीत व्यक्ति का पुनः उदय न होना आगे कहेंगे। यदि प्रकृति एक ही व्यक्ति हो तो "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां" इसमें प्रकृति के लिये

जो बहुवचन दिया है इससे विरोध होगा, और (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते—इत्यादि श्रुति-गत बहुवचन से भी विरोध होगा। प्रकृति का व्यापकत्व तो कारणत्व सामान्य से ही जानना चाहिए (अर्थात् सब कार्यों में अनुस्यूत है अतः व्यापक है) कारणशून्य प्रदेश का अभाव होने से, जैसे कि गन्धादि पृथिवी आदि में व्यापक होते हैं। महद् आदि तो सामान्य से भी व्यापक नहीं है। अतएव अंशभेद से प्रकृति की व्यापकता और परिच्छिन्नता मानी है, अतः "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" इस आगामी सूत्रोक्त प्रकृत्यापूर भी घट जाता है।

प्रकृति को जो अक्रियत्व माना है वह अध्यवसायाभिमान आदि रूप प्रतिनियत कार्य से शून्य है—चलनादि क्रिया शून्य नहीं है।

प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात्।
प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्॥

क्षोभ्यमाण प्रधान (गुणों का विषमावस्था) से तथा पुरातन पुरुष से प्रधान-पुरुषात्मक महद् बीज का प्रादुर्भाव हुआ। इत्यादि स्मृतियों में प्रकृति को भी क्षोभ नामक चलन माना है।

प्रकृतेर्गुण-साम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्यभिधीयते॥

हे मानवि! निर्विशेष-गुणसाम्य प्रकृति की जिससे चेष्टा होती है, वह भगवान् काल कहलाते हैं॥

यहाँ स्पष्ट ही प्रकृति की क्रिया कही गई है और जहाँ कहीं पुरुष का भी क्षोभ श्रुति में आया है, वह संयोग के अनुकूल रूप गौण क्षोभ है, क्योंकि संयोग की उत्पत्ति तो प्रकृति के कर्म से ही होती है। प्रकृति के लिये जो निरवयव कथन वाले वाक्य हैं वे आरम्भ अवयव का निषेध करते हैं, वनांश के तुल्य अंशो का निषेध नहीं करते, इससे " एतेप्रधानस्य गुणाः" ये प्रधान के गुण हैं इत्यादि वाक्य भी उपपादित हो गये, वन के सदृश प्रधान अंशी के पनस, आम, अनार आदि के तुल्य गुण द्रव्य को अंश माना है। जो सत्त्व आदि गुणों को प्रकृति का कार्य कथन करने वाला वचन है, वह वचन व्यवहार के अभिप्राय से कहा गया है, क्योंकि प्रकाशादि-रूप फल से उपहित में ही सत्त्वादि शब्द का प्रयोग होता है। फला-नुपधान दशा में वे प्रकृतिरूप ही होते हैं। फलोपहिततया ही सत्त्व आदि का व्यवहार दिख-लाई देता है। यदि गुणों को प्रकृति का कार्य मानें तो गुणों की नित्यता के सिद्धान्त का विरोध होगा, अखण्ड प्रकृति का विचित्र परिणाम असम्भव है, कदाचित् सम्भव मान भी लें तो महत् आदि दूसरे कार्य भी केवल प्रकृति से ही उत्पन्न हो जायेंगे, गुणों की कल्पना व्यर्थ होगी।

शंका—गुणरूप अवच्छेद के भेद से ही महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है यदि यह कहें।

समाधान—यह नहीं कह सकते—ऐसा मानने में गुणों से ही सब कार्यों की सिद्धि हो जायेगी, उनसे भिन्न प्रकृति की कल्पना व्यर्थ होगी। यदि गुणत्रय से अतिरिक्त प्रकृति हो—तब

गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च महामते।
उच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम् ॥

हे महामते ! गुणों की साम्यावस्था जो कि गुणों से न्यून या अधिक नहीं है। पर-कारण-प्रधान-हेतु या प्रकृति कहलाती है। इत्यादि स्मृतियों में और सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है, इस सांख्य सूत्र में जो साम्यावस्था गुणों को प्रकृति कहा है, वह आसानी से संगत न होगा ? *विशेषाविशेष लिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि, ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान, परिणाम* क्रमसमाप्ति गुणानाम्, इत्यादि सूत्रों में और भाष्य में गुणों को ही मूल कारण कहने वाले वचन भी उपपन्न न होंगे, इत्यादि दूषण होंगे; और साम्यावस्था प्रकृति के लक्षण में विशेषण नहीं है किन्तु यदा कदाचित् सम्बन्ध से प्रकृति का उपलक्षण है जैसे *कि काग वाले देवदत्त के घर हैं (यहाँ काकवत्व घर का विशेषण नहीं उपलक्षण है)* और वह न्यूनाधिक भाव से असंहनन अवस्था—अकार्य अवस्था—है, उस अवस्था में उप-लक्षित गुणत्व प्रकृति का लक्षण है—महदादि से व्यावृत्त है— (महदादि में अव्याप्त है) उस से सर्ग काल में भी गुणों को प्रकृतित्व की सिद्धि होने से प्रकृति की नित्यता की हानि नहीं होती। ईश्वर सदा एक रूप है, साम्यावस्था शून्य है उसमें भी प्रकृति का लक्षण अति-व्याप्त नहीं है। गुणों के सम्बन्ध में प्रमाण के उपदर्शक भूतेन्द्रियात्मक विशेषण की व्याख्या करते हैं—तदेतद्भूतेति—यह दृश्य भूत और इन्द्रियात्मक है—भूतभावेन का विवरण है—पृथिव्यादिना—उनमें भी अवान्तर विशेष को कहते हैं—सूक्ष्म स्थूलेन—तन्मात्रा सूक्ष्म हैं और पृथिवी आदि महाभूत स्थूल हैं। इन्द्रियभावेन, इसका विवरण है श्रोत्रादिना, श्रोत्रादि में भी अवान्तर विशेषों को कहते हैं—सूक्ष्म स्थूलेन। महद् और अहंकार सूक्ष्म इन्द्रियें हैं। एकादश इन्द्रियें स्थूल हैं। इन्द्रियों के संघात में ईश्वर कारण है।

भोगापवर्गार्थमिति—यह गुण का ही दूसरा विशेषण है। मोक्ष के उपपादक की व्याख्या करते हैं—"तत्त्नाप्रयोजनमिति" वह गुणत्रय प्रयोजन शून्यभूत और इन्द्रिय रूप से प्रवृत्त नहीं होता—किन्तु प्रयोजन को लेकर ही प्रवृत्त होता है। अतः इस प्रकार का गुण-त्रय पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये ही प्रवृत्त होता है। भोग और अपवर्ग की व्याख्या करते हैं—तत्रेष्टानिष्टेति—इष्ट और अनिष्ट गुण सुखदुःखात्मक शब्द आदि विषय हैं। उनके स्वरूप का अवधारण—तदाकार बुद्धि की वृत्ति है—पुरुषनिष्ठ साक्षात्कार नहीं क्योंकि बुद्धिनिष्ठता आगे कहेंगे। "स हि तत्फलस्य भोक्ता"—इससे पुरुषनिष्ठ भोगान्तर को भी आगे कहेंगे, पुरुषनिष्ठ भोग के चित् स्वरूप होने से तथा नित्य होने से वह पुरुषनिष्ठ भोग सुतरां फल नहीं है—यह भाव है। शब्द आदि की वृत्ति के काल में, विवेक ख्याति होने पर आगे कहा अपवर्ग ही है अतः इस प्रकार के शब्द आदि की व्यावृत्ति के लिये अविभागापन्नं यह विशेषण पुरुष के साथ अविविक्त है (अमिश्रित है) अर्थात् अहंकार से मम (मेरा) यह आत्मनिष्ठतया अभिमान होना (भोग है), जीवन्मुक्त का भोग नहीं

भोगाभास ही होता है, क्योंकि मैं सुनता हूं इत्यादि अभिमान है अन्दर जिनके उन शब्द आदि वृत्ति के गुणों में ही भोग व्यवहार होता है। भोक्तुरिति—भोक्ता पुरुष का जो स्वरूप-उपाधिरहित चैतन्य है तदाकार बुद्धि अपवर्ग है।

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो राग—संक्षयात्।

कृच्छ्रत्रयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

प्रथम मोक्ष ज्ञान से होता है, दूसरा मोक्ष राग के क्षय से होता है और तीसरा मोक्ष दुःखत्रय के छूट जाने से होता है—यह मोक्ष लक्षण की व्याख्या हो गई। इसमें यह पंच शिखाचार्य का वाक्य प्रमाण है। अथवा अपवृज्यतेऽनेनेति—हट जाता है—छूट जाता है—जिस के द्वारा दुःख से वह अपवर्ग है। इस व्युत्पत्ति से भी दुःखत्रय से छूटना ही अपवर्ग है।

शंका—क्योंजी भोग और अपवर्ग के सिवाय अन्य प्रयोजनार्थ दृश्य क्यों नहीं होता?

समाधान—द्वयोरिति—इन दो भोग और अपवर्ग के अतिरिक्त दर्शन नहीं हैं, बुद्धि की वृत्ति नहीं है। अविभागापन्न में पञ्चशिखाचार्य के संवाद को प्रमाण देते हैं—तथा चोकमिति—लोक में सब के कर्त्ता गुणों के विद्यमान होने पर भी तीन गुणों की अपेक्षा से जो चौथा पुरुष है, जो कि गुणों के व्यापार का साक्षीमात्र है, उसी में कर्त्ता बुद्धि से समर्प्यमाण गुणों के परिणामों को युक्तिसिद्ध के समान देखता हुआ मूढ गुणों से अन्य चैतन्य दर्शन की सम्भावना तक नहीं करता है। इस विवेक के अग्रहण में और भिन्नत्व में हेतु है, तुल्यातुल्यजातीय यह पुरुष का विशेषण। बुद्धि और पुरुष दोनों ही स्वच्छ हैं और सूक्ष्म हैं, इस समानता से गुण और पुरुष दोनों तुल्य जातीय हैं। पुरुष चेतन अपरिणामी है और गुण जड़ हैं, परिणामी हैं इस भिन्नता से गुण और पुरुष विजातीय हैं, यह आशय है।

यहाँ भाष्य में तीन गुणों की अपेक्षा से पुरुष को चतुर्थ कहा है—इस वचन से अन्य भी जो तुरीय वाक्य हैं वे जाग्रत् आदि अवस्था में जो तीन गुण हैं उनकी अपेक्षा से जो पुरुष का साक्षित्व है उस को ही पुरुष की तुरीया (चतुर्थ) अवस्था कहा है यह बात सिद्ध है, ऐसा ही स्मृति भी कहती है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत्।

प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम्॥

सत्त्व गुण से जागरण जानो और रजोगुण से स्वप्न, तथा तमोगुण से सुषुप्ति समझो और तुरीय (साक्षी) इन तीनों जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में सतत-ओतप्रोत है ऐसा समझना चाहिये।

शंका—क्योंजी भोग और अपवर्ग गुणों का कार्य होने से गुण-निष्ठ हैं, फिर पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए दृश्य है यह कैसे कहते हैं?

समाधान—तावेताविति—यद्यपि भोग और अपवर्ग बुद्धि कृत हैं, यह अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध है कि ये बुद्धि के कार्य हैं अतः उनको बुद्धि में मानने में ही लाघव है,

पुरुष नित्य मानने में लाघव नहीं है। दृष्टान्त दिखलाकर परिहार करते हैं—यथेत्यादिना—पुरुष में स्वामी होने से जय की भाँति भोग और अपवर्ग व्यपदेश से (अमुख्य में मुख्य व्यवहार से) कहे जाते हैं यह वाक्यार्थ है। वन्ध और मोक्ष यथोक्त भोग और अपवर्ग हैं। वह पुरुष ही उनके फल का भोक्ता है। बुद्धिगत विषयावधारण और पुरुषावधारण के फल सुख दुःख आदि रूप फल का भोक्ता है, अपने में प्रतिबिम्बित सुख दुःख का साक्षी है। अतः उन सुख दुःख का स्वामी है। यहाँ पुरुष का भी स्वतन्त्र भोग कहा है और "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति" शास्त्र के इस अन्तिम सूत्र में पुरुष का स्वतः ही मोक्ष भी कहेंगे, अतः पुरुष के भोग और अपवर्ग का निषेध नहीं है, क्योंकि बुद्धिगत भोग और अपवर्ग को स्वतः पुरुषार्थता नहीं है। और करण के व्यापार की पुरुषार्थता सिद्ध है। अपितु—परिणाम रूप भोग और अपवर्ग का ही पुरुष में निषेध किया गया है। इसीलिये तौ-एतौ इस विशेषण से भाष्यकार ने भोग और अपवर्ग को विशेषित किया है (अर्थात् तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धि॰ कृतौ (ऐसा विशेषण दिया है)

संसारी पुरुषों को ही मुख्य भोग-बुद्धि की वृत्ति से अभिन्न सुखादि का साक्षात्कार होता है और जीवन्मुक्त तथा ईश्वर को तो गौण भोग होता है जो सुखादि के साक्षात्कार मात्र रूप होता है यह बात ईश्वर के लक्षण वाले सूत्र में हमने प्रतिपादन की है। यदि पुरुष में पृथक् भोग और मोक्ष न मानें तब—

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः"

कार्य, कारण और कर्तृत्व में प्रकृति हेतु कहलाती है और सुख दुःख के भोग में पुरुष को हेतु कहते हैं। अन्यथा रूप को त्याग कर स्वरूप से व्यवस्थिति मुक्ति है। इत्यादि वाक्य उपपन्न न हो सकेंगे। बुद्धि के ही परमबन्ध और मोक्ष भी दर्शाते हैं "बुद्धेरेवेति" बुद्धि रूप से परिणित गुणों को ही पुरुषार्थ की असमाप्ति बन्धन है और विवेक ख्याति द्वारा तदर्थाव॰साय—पुरुषार्थ समाप्ति अपवर्ग है, तथाच यथोक्त भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थों के साथ सम्बन्ध बुद्धि का बन्ध है और पुरुषार्थों से बुद्धि का वियोग मुक्ति है, यह भाव है, ये दोनों बुद्धि के परम बन्ध और परम मुक्ति हैं। और पूर्वोक्त भोग और अपवर्ग अपर बन्धन और जीवन्मुक्ति हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं।

एतेनेति—इससे शब्द आदि विषय भोग और विवेक ख्याति पुरुष में औपचारिक होने से ग्रहण धारणादि भी पुरुष में औपचारिक सत्ता वाले हैं यह जानना चाहिए। स्वरूपमात्र से अर्थों का ज्ञान-ग्रहण है। चिन्तन को धारणा कहा है, अर्थगत विशेष की तर्कना को ऊहा कहते हैं, वितर्क के अन्दर से विचार द्वारा कितनों ही के निराकरण को अपोह माना है। वितर्क के मध्य में से विचार द्वारा कुछ का अवधारण तत्त्वज्ञान है।

तदाकारतापत्ति अभिनिवेश है। प्रकृतयोग की भूमिका मात्र से ही यहाँ चित्त के परिणामों को गिना है इनसे दूसरे भी इच्छा कृति आदि उपलक्षित जानने चाहियें॥ १८॥

संगति—दृश्य का स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन कहकर अगले सूत्र में उनकी अवस्थाओं का वर्णन करते हैं :—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—विशेष-अविशेष-लिङ्गमात्र-अलिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग। गुणपर्वाणि = गुणों की अवस्थाएँ (परिणाम) हैं।

अन्वयार्थ—गुणों की चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं : विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

व्याख्या—सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों की चार अवस्थाएँ हैं : विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

(१) विशेष सोलह है : पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्राओं के क्रम से कार्य हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका; पाँच कर्मेन्द्रिय—वाणी, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ, ग्यारहवाँ मन जो अहङ्कार के कार्य हैं (१।४५)। ये सोलह, तीनों गुणों के विशेष परिणाम हैं। इनको विशेष इस कारण से कहते हैं कि तीनों गुणों के सुख, दुःख मोहादि जो विशेष धर्म हैं वे सब शान्त, घोर, मोह-रूप से इनमें रहते हैं।

(२) अविशेष छः हैं। पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पाँचों महाभूतों के क्रम से कारण हैं; और एक अहङ्कार जो एकादश इन्द्रियों का कारण है (१।४५) यह छः महत्तत्त्व के कार्य गुणों के अविशेष परिणाम हैं। इनमें शान्त, घोर, मूढ़रूप विशेष धर्म नहीं रहते इसलिये अविशेष कहलाते हैं।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चा-विशेषिणः॥

अर्थ—तन्मात्रायें अविशेष हैं। ये इस लिये अविशेष हैं क्योंकि ये शान्त, घोर और मूढ़ नहीं होते।

(३) लिङ्गमात्र : सत्तामात्र महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) यह विशेष-अविशेष से रहित केवल चिन्हमात्र तीनों गुणों का प्रथम परिणाम है, लिङ्ग इसलिये कहलाता है क्योंकि चिन्हमात्र व्यक्त है।

(४) अलिङ्ग : अव्यक्त : मूल प्रकृति अर्थात् गुणों की साम्यावस्था। यह अलिङ्ग अवस्था पुरुष के निष्प्रयोजन है। अलिङ्ग अवस्था के आदि में पुरुषार्थता कारण नहीं है। और उस अवस्था को भी पुरुषार्थता कारण नहीं होती। यह पुरुषार्थ-कृत भी नहीं है, इस कारण नित्य कही जाती है। अलिङ्ग इसलिये कहलाती है कि इसका कोई चिह्न नहीं, अर्थात् व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। ये चारों, तीनों गुणों के परिणाम की अवस्थाविशेष हैं

इनमें से पहिली तीन अवस्थाएं गुणों के विषम परिणाम से होती हैं, यही पुरुष के प्रयोजन को साधती हैं। चौथी अलिंग अवस्था में गुणों में साम्य परिणाम होता है, इस की पुरुष के भोग तथा अपवर्ग किसी प्रयोजन में प्रवृत्ति नहीं होती परन्तु इसी अवस्था की ओर गुणों के जाने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह मूल अवस्था है; इसी को प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त तथा माया भी कहते हैं। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान दिलाने के लिये यह क्रम दिखलाया है। उत्पत्ति का क्रम इससे उल्टा होगा। अर्थात् अलिंग से लिंग, लिंग से छः अविशेष; और अविशेष से सोलह विशेष उत्पन्न होते हैं। (१।४५) इन विशेषों का कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता, उनके केवल धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते रहते हैं जो तीसरे पाद में बतलाये जायेंगे।

विशेष वक्तव्य—गुणपर्वाणि : जैसे बाँस के दण्ड में पोरी होती हैं, सबसे ऊपर की पतली सूक्ष्म होती है और क्रम से नीचे को मोटी स्थूल होती जाती हैं, ऐसे ही प्रकृति अलिंग सूक्ष्म है, लिंगमात्र (महत्तत्त्व) उससे स्थूल है; और लिंगमात्र की अपेक्षा अविशेष (अहङ्कार तन्मात्रा) स्थूल हैं; और अविशेष की अपेक्षा विशेष स्थूल हैं। इस लिए गुणपर्वाणि का अर्थ यह हुआ कि इन चारों विभागों में गुण विभक्त हैं। अर्थात् यह चार गुणों की अवस्थाएँ हैं।

सांख्य तथा योग में जड़-तत्त्व को तीन विभागों में विभक्त किया है—प्रकृति अविकृति, प्रकृति विकृति और अप्रकृति विकृति।

(१) प्रकृति नाम तत्त्व के कारण का और विकृति नाम कार्य का है, तीनों गुणों की साम्यावस्था-रूप जो अव्यक्त प्रधान है यह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं। इसी की इस सूत्र में अलिंग संज्ञा दी है, क्योंकि इसका कोई व्यक्त चिन्ह नहीं है।

(२) महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ; यह सात प्रकृति विकृति हैं, क्योंकि यह सातों कार्य-कारण-स्वरूप हैं। अर्थात् महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य और अहङ्कार का कारण है। अहङ्कार महत्तत्त्व का कार्य और पाँचों तन्मात्राओं का कारण है। और पाँचों तन्मात्राएँ अहङ्कार का कार्य और पाँचों स्थूलभूतों के कारण हैं। इनमें से महत्तत्त्व की संज्ञा लिंग है क्योंकि यह गुणों का प्रथम कार्य = परिणाम, चिह्नमात्र = सत्तामात्र, व्यक्त है। और अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्राएँ, इन छः की संज्ञा अविशेष है क्योंकि इनमें शान्त, घोर, मूढ़-रूप विशेष धर्म नहीं रहते हैं।

(३) पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओं के कार्य और ग्यारह इन्द्रियें अहङ्कार के कार्य, यह सोलह अप्रकृति विकृति हैं, क्योंकि ये स्वयंकार्य हैं और किसी का कारण नहीं हैं। इन सोलह की विशेष संज्ञा है क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढ़ विशेष धर्म रहते हैं। चेतन पुरुष अप्रकृति अविकृति है अर्थात् वह न किसी का कार्य है, न कारण है। अपरिणामी, कूटस्थ, नित्य है (विशेष व्याख्या १।१ में देखो)।

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि तीनों गुण सब धर्मों में परिणाम को प्राप्त होने वाले न नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं किन्तु अतीत, अनागत, वर्तमान रूप से विषम

अवस्था मे उत्पत्ति-विनाशशील प्रतीत होते हैं। जैसे कि लोक मे देवदत्त दरिद्र हो गया, क्योंकि उसका धन हरण हो गया, और गाय आदि पशु मर गए। यहाँ दरिद्रता का व्यवहार गाय आदि के मरने से उसमे आरोप किया जाता है, न कि उसके स्वरूप से हानि होने से। इसी प्रकार गुणों का समाधान है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति-विनाशरूप परिणाम से गुणों के स्वरूप में परिणाम नहीं होता। गुणत्व धर्म सर्वदा एकसा बना रहता है।

यहाँ पर सत्कार्यवाद का सिद्धान्त समझ लेना चाहिये अर्थात् प्रथम कार्य जो लिंगमात्र महत्तत्त्व है वह उत्पत्ति से पूर्व प्रधान म सूक्ष्मरूप से स्थित हुआ ही प्रधान से विभक्त हुआ है। पहिले असत् नही था इसी प्रकार छः अविशेष लिंगमात्र महत्तत्त्व में पहिले सूक्ष्मरूप से स्थित हो अभिव्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार सोलह विशेष भी अविशेषों में स्थित हुए ही विभक्त होते हैं। सोलह विशेषों से आगे कोई नया तत्त्व नहीं बनता है। अर्थात् इनका कोई नया तत्त्वरूप कार्य नहीं, इसलिये न उनमें कोई सूक्ष्मरूप से स्थित है, न कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न होकर विभक्त होता है, अतः उनका नाम विकृति है।

टिप्पणी—व्यास भाष्य का भाषानुवाद सूत्र ॥१९॥ दृश्य गुणों के भेदों का निश्चय कराने के लिये यह सूत्र आरम्भ होता है—विशेषाविशेष लिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये गुणों के पर्व हैं।

उनमें आकाश, वायु, अग्नि, उदक और भूमि ये पाँच भूत हैं। और ये पाँच भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं अविशेषों के विशेष हैं। तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, मन सर्वार्थ ग्यारहवाँ इन्द्रिय है। ये सब अहंकार रूप अविशेष के विशेष हैं, गुणों के ये सोलह विशेष परिणाम हैं। छः अविशेष हैं—शब्द तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा, ये—एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षण वाले शब्दादि पाँच अविशेष हैं और छठा अहंकारमात्र अविशेष है, ये सत्तामात्रस्वरूप महत्तत्त्व के छः अविशेष परिणाम हैं और जो कि अविशेषों से पर है—लिङ्गमात्र है, वह महत्तत्त्व है। ये (छः अविशेष) उस सत्तामात्र महत्तत्त्व में अवस्थित रह कर विवृद्धि की पराकाष्ठा का अनुभव करते हैं। और प्रति संसृज्यमान (प्रलय को प्राप्त होते हुए) उसी सत्तामात्र महत् आत्मा में अवस्थित होकर नि.सत्तासत्त-नि सदसद्-निरसद् अव्यक्त अलिङ्ग; प्रधान में लीन होते हैं यह उनका लिङ्गमात्र परिणाम है, निःसत्तासत्त-अलिङ्ग परिणाम है अत. अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ हेतु नहीं है। आदि में—अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थता कारण नहीं होती है। यतः उसका पुरुषार्थता कारण नहीं होती अतः वह पुरुषार्थ-कृत न होने से नित्य कहलाता है। —

तीन—विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र—जो अवस्था विशेष हैं, इनके आदि मे पुरुषार्थता कारण होती है। वह अर्थ हेतु, निमित्त कारण होता है अतः अनित्य कहा जाता है। गुण तो सर्वधर्मानुपाती हैं—न लीन होते हैं न उत्पन्न होते हैं, गुणान्वयिनी, अतीत, अनागत, व्यय आगम वाली व्यक्तियों से ही उपजन, अपाय धर्म वाले जैसे भासते हैं।

जैसे कहते हैं कि देवदत्त कंगाल हो गया, क्योंकि इसकी गौ मर गई है। गौ के मौत से उसकी कंगाली है, उसके स्वरूप की हानि से उसकी कंगाली नहीं है, इसके समान ही यह समाधान है, लिङ्गमात्र अलिङ्ग के प्रत्यासन्न है, क्रम का उल्लंघन न करके उस प्रधान से संसृष्ट विभक्त होता है। तथा छः अविशेष परिणाम के क्रम से लिङ्गमात्र में संसृष्ट विभक्त होते हैं, तथा उन अविशेषों में भूत और इन्द्रियाँ संसृष्ट विभक्त होते हैं, तथा च यह पूर्व कहा है कि विशेषों से परे तत्त्वान्तर नहीं होता, अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता है। इन विशेषों के धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम कहलाते हैं, व्याख्या किये जाते हैं ॥१९॥

विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद ॥१९॥

इस सूत्र ने गुणों को ही दृश्य कहा है, गुणों के विकारों को दृश्य नहीं कहा है अतः इस न्यूनता के निरासार्थ अगले सूत्र का अवतरण करते हैं दृश्यानां तु-दृश्यों के स्वरूप भेद के निश्चयार्थ-अवान्तर भेदों के प्रतिपादनार्थ इस सूत्र का आरम्भ होता है—

विशेषाविशेष लिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥

गुणरूप बांस है, उस गुणरूप बाँस के अलिङ्ग आदि चार पर्व हैं—चार पोरी हैं। बीज और अङ्कुर की भाँति अवस्था भेद हैं अत्यन्त भिन्न नहीं हैं—अतः गुणों में ही सब दृश्यों का अन्तर्भाव है, यह सूत्रकार का आशय है।

कार्यों से कारणों का अनुमान हुआ करता है इस आशय से विशेषादि के क्रम से पर्वों की गिनती है। उनमें से जिस जिस अविशेष का जो जो विशेष है उसको कहते हैं—तत्राकाशेति—आकाश आदि भूत शब्द आदि तन्मात्राओं के जो कि शान्त आदि धर्मों से शून्य शब्द आदि द्रव्य वाले सूक्ष्म द्रव्य हैं इसीलिये जिनका नाम अविशेष है, उनके विशेष हैं। अभिव्यक्त शान्त आदि विशेष वाले यथा क्रम परिणाम हैं।

तथा इति विशेषा—इसके साथ अन्वय है। अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये कर्मेन्द्रिय और सर्वार्थ मन ये सब एकादश अस्मिता रूप अविशेष के विशेष हैं। मन को इन्द्रियों में प्रवेश के लिये हेतुगर्भ विशेषण दिया है, सर्वार्थ-सर्वेषां दशेन्द्रियाणां अर्था एवार्था यस्य इति मध्यमपदलोपीसमासः। सब दश इन्द्रियों के अर्थ (विषय) ही हैं विषय जिसके वह मन सर्वार्थ है। यह मध्यम पदलोपी समास है, क्योंकि मन की सहायता से ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं अतः मन सर्वार्थ है। अहंकार के अविशेषत्व में हेतुगर्भ विशेषण है। अस्मितालक्षणस्येति—अस्मितारूप—अभिमान-मात्र धर्म वाले श्रवण, स्पर्शन, दर्शन आदि विशेष रहित अहंकार के ये श्रोत्रादि विशेष हैं। इकट्ठा करके विशेष पर्व का उपसंहार करते हैं। गुणानामिति—गुणों के ये सोलह विशेष परिणाम हैं। इसी भाँति पाँच भूत, एकादश इन्द्रियगण यह षोडश संख्या वाला गुणों का विशेष नाम वाला परिणाम है।

LIBRARY KOTA

शंका—इन्द्रियों के समान तन्मात्राओं को अहंकार का विशेष क्यों नहीं कहा ? क्योंकि तन्मात्रा भी शब्द, स्पर्श आदि विशेष वाले हैं ?

समाधान—यह नहीं कह सकते, क्योंकि विशेष मात्र को ही यहाँ विशेष कहा है, तन्मात्रा विशेष मात्र नहीं है क्योंकि वे भूतों की अविशेष भी हैं। अविशेष पर्व की व्याख्या करते हैं। षड् अविशेषा इति—छः को गिनते हैं—शब्द तन्मात्रमित्यादि से अस्मितामात्र इसतक, एक द्वि त्रीति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्—जिससे लखाया जाय उसको लक्षण कहते हैं वह धर्म होता है,—यहाँ तन्मात्राओं को द्रव्यत्व प्रतिपादन करने के लिये लक्षण पद दिया है। तथा उत्तरोत्तर तन्मात्राओं में पूर्व पूर्व तन्मात्राओं के हेतु होने से शब्द तन्मात्र शब्द धर्मवाली हैं, तत्कार्यतयास्पर्शतन्मात्र शब्द स्पर्श उभय धर्म वाली है, इस प्रकार क्रम से एक एक लक्षण धर्म की वृद्धि होती है, इनमें मात्र शब्दों के साथ शान्त आदि विशेष की ही व्यावृत्ति है गुणान्तर के संपर्क की व्यावृत्ति नहीं है क्योंकि एक द्वित्र्यादि लक्षणत्व को कहा गया है।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥

इति विष्णुपुराणाच्च—तन्मात्रा अविशेष हैं इसलिये वे अविशेष हैं क्योंकि वे शान्त, घोर और मूढ नहीं होते, अतः अविशेष हैं, यह बात इस विष्णुपुराण से प्रमाणित होती है॥

शंका—तन्मात्राओं में परस्पर कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाने पर ही कारण गुण के क्रम से उत्तरोत्तर गुण वृद्धि हो जायगी उसी में क्या प्रमाण है ? क्योंकि श्रुति और स्मृतियों को तो स्थूल भूतों के विषय में ही आकाशादि के क्रम से कारणता है ?

समाधान—आकाशादि स्थूल भूतों से वायु आदि की उत्पत्ति दिखलाने से सूक्ष्मभूतों में भी उसी प्रकार के कार्य कारण भाव की कल्पना उचित है, ये तन्मात्रा तामस अहंकार से शब्द आदि के क्रम से उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये। अस्मिता मात्र-अभिमान वृत्ति वाला है, उससे इन्द्रिय भावापन्न अहंकार की व्यावृत्ति होती है। "एते सत्तामात्रस्येति" ये सत्तामात्र महत्तत्त्व के षड् अविशेष परिणाम हैं सत्ता—विद्यमानता वा व्यक्तता का नाम है। आदि कार्य होने से महत्तत्त्व व्यक्ततामात्र है। प्रलय में ही सब विकार (कार्य) द्रव्य अतीत और अनागत रूप से रहते हैं—विद्यमान रूप से नहीं रहते अतः आदि विकार अंकुरवत् जो महान् है, वह सर्ग के आदि में सत्ता को लाभ करता (विद्यमान अवस्था में आता है) वह सत्तामात्र कहलाता है, और वह सत्सामान्य से सत्तामात्र कहा जाता है, क्यों कि सद् विशेष अहंकार आदि उस समय अविद्यमान होते हैं। इसीलिये यास्क मुनि ने षड् भाव विकारों में से जन्म के उत्तर अस्तित्व (सत्ता) ही विकार कहा है। इस प्रकार संसार रूपी वृक्ष का अस्तित्वमात्र परिणाम महत्तत्त्व है, और वही अहंकार से वृद्धि परिणाम है। इस प्रकार सब विकारों के आत्मारूप बुद्धि नामक महत्तत्त्व के छै परिणाम

अविशेष संज्ञक हैं। सामान्यत्व को अविशेषत्व कहा है। यद्यपि षोडशविशेषों का सामान्यत्व महत्तत्त्व और प्रकृति इन दोनों में है, तो भी विशेष शब्द पंकज आदि शब्दों की भाँति षड् (छः) में ही योगारूढ है।

यहाँ छः के मध्य में से तन्मात्राओं को बुद्धि की परिणामता अहंकार के द्वारा ही माननी चाहिये (अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहंकार और उससे तन्मात्रा उत्पन्न होते हैं) क्योंकि "सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्" इस सूत्र पर भाष्य ने ऐसी ही व्याख्या की है।

लिङ्गमात्र पर्व की व्याख्या करते हैं—यत्तत्परं-अविशेषों से जो पर है-पूर्व उत्पन्न है, बांस के प्रथम पर्व की भाँति जगत् का अंकुर महत्तत्त्व है उसीको लिङ्गमात्र कहते हैं। लिङ्ग अखिल वस्तुओं का व्यञ्जक है और वह महतत्त्व है। महत्तत्त्व ही स्वयम्भु—आदि पुरुष—कार्य ब्रह्म का उपाधिरूप है, जो सर्ग के आदि में सब जगत को प्रकट करता हुआ उदय होता है जैसा कि सोकर चित्त उठता है। ज्ञान के अतिरिक्त तो व्यापार पीछे अहंकार से उत्पन्न होता है, अतः महत्तत्त्व लिंगमात्र कहलाता है,ऐसा स्मृति भी कहती है—

> ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात् ।
> विज्ञानात्माऽऽत्म-देहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥

काल से प्रेरित उस अव्यक्त प्रकृति से आत्म देहस्थ इस विश्व को व्यक्त करता हुआ तम का नाशक विज्ञानात्मा उत्पन्न हुआ, कोई सज्जन "लयं गच्छतीति लिंगम्" जो लय को प्राप्त होता है वह लिंग है ऐसा लिंगपद का अर्थ करते हैं। वह प्रमाण के अभाव से उपेक्षित (त्याज्य) है, क्योंकि अहंकार आदि भी लय को प्राप्त होने से लिङ्गमात्र कहे जा सकते हैं, जो उचित नहीं है। तथा लिङ्गमात्र में जो मात्रशब्द का प्रयोग है वह उपपन्न न होगा। उस सूक्ष्म रूप में से पूर्वोक्त अविशेष विशेष पदार्थ अवस्था से अनागत अवस्था से स्थित होकर उत्तरोत्तर बाँस की पोरी की भाँति स्थावर और जंगमों की विवृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। "महान् प्रादुर्भूत ब्रह्मा कूटस्थो जगद् अंकुरः" कूटस्थ जगत् का अंकुर महान् ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुआ इसमें यह स्मृति प्रमाण है।

तथा प्रतिसंसृज्यमान प्रलीयमान वे उसमें ही अतीत अवस्था से अनुगत होकर उसी के साथ जो प्रसिद्ध तीन गुणों की साम्यावस्था रूप अलिंग है—प्रधान नाम का मूलकरण है उस प्रकृति में लीन होते हैं। इससे यह भी व्याख्या हो गई कि जगत् की सृष्टि स्थिति और लय का हेतु महत्तत्व उपाधि युक्त कार्य ब्रह्म भी है। प्रधान के अलिंगत्व को उपपादन करने के लिये अव्यक्त यह विशेषण दिया है। स्वयं अव्यक्त होने से परस्पर व्यंजक नहीं है अतः अलिंग है यह आशय है। पुरुष से पर अभिमत शश शृंगादि से व्यावर्त्तन के लिये "निः सत्ता सत्ते" विशेषण दिया है। निर्गते पारमार्थिके सत्ता सत्ते यस्मात् = निर्गत हैं पारमार्थिक सत् और असत् जिससे यह विग्रह है। कूटस्थ और नित्यत्व आदि पारमार्थिक सत् है।

सतोऽस्तित्वे च नासत्ता नास्तित्वे सत्यता कुतः ।

सत् के अस्तित्व में असत्ता नहीं होती, नास्तित्व में सत्यता कहाँ (अर्थात् नास्तित्व मे सत्यता रह ही नहीं सकती)

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद् द्विज ! वस्तुजातम् ।
यच्चान्यथात्वं द्विज ! याति भूयो न तत्तथा तत्र कुतो हि सत्त्वम् ॥

हे द्विजसत्तम ! इस हेतु से विज्ञान के सिवाय कुछ भी, कहीं भी और कभी भी वस्तु समूह नहीं है । हे द्विज ! जो वस्तु फिर अन्यथा हो जाती है वह वैसी नहीं होती, उसमें सत्ता कहां ? (अर्थात् उसमें सत्ता भी नहीं होती) इन गरुडपुराण और विष्णु-पुराण के वचनों से असत्ता सामान्य के अभाव की-ही पारमार्थिक असत्ता सिद्ध है । और वह प्रधान में नहीं है क्योंकि महद् आदि अखिल विकार रूपों के साथ प्रलयकाल में नहीं होते हैं । सूक्ष्म दृष्टि से तो परिणामी होने से प्रतिक्षण सत् धर्म रूप से अपाय होता ही रहता है यथा श्रुति और स्मृति भी चैतन्य-चिन्मात्र को सत् होते हुए यह जीव लोक क्षय और उदय से परिवर्तन होता हुआ एक क्षण भी नहीं ठहरता इत्यादि कहती हैं । जैसे यह प्रधान सत्ता से वर्जित है वैसे ही पारमार्थिकी असत्ता से भी वर्जित है क्योंकि सत्ता सामान्य का अभाव ही पारमार्थिक असत्व है और वह प्रधान में नहीं है, क्योंकि वह नित्य है, अर्थ क्रियाकारी है और श्रुति, स्मृति तथा अनुमान से सिद्ध है । इसी भाँति सत् और असत् से अनिर्वचनीय—त्रिगुणात्मक—माया नामक प्रधान है यह वेदान्त सिद्धान्त भी अवधारणीय है ।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥

माया न असद्रूपा है, न सद्रूपा है न ही उभय रूपा है—वह सत् या असत् से अनिर्वाच्या है, मिथ्यारूपा और सनातनी है (नित्या है) । इन आदित्य पुराणादि में माया नामक प्रकृति को पारमार्थिक सत्त्व आदि रूप से अनिरूप्या कहा है ।

प्रपंच की अत्यन्त तुच्छता या अत्यन्त विनाशिता वेदान्त का सिद्धान्त नहीं है क्योंकि नाभाव उपलब्धेः '२।२।२८' भावे चोपलब्धे." २।१४।१५ इन वेदान्त के सूत्रों में अत्यन्त तुच्छता का निराकरण किया है । 'सत्त्वाच्चावरस्य" २।१।१६ "असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" २।१।१७ वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् इत्यादि यथा श्रुत वेदान्त सूत्रों से प्रपंच की सत् असत् रूपता की ही सिद्धि होती है । "धर्मान्तरेण" का अर्थ है अतीत और अनागत धर्म से और शास्त्रों में स्वप्न आदि दृष्टान्त क्षणभंगुरत्व और पारमार्थिक असत्य अंश से ही जानने चाहियें । स्वप्न और गन्धर्व नगर आदि भी अत्यन्त असत् नहीं हैं क्योंकि स्वप्न आदि में भी साक्षि-भास्य मानस पदार्थ माने हैं । यदि ऐसा न मानें तो सन्ध्ये सृष्टि राह्हेति" वेदान्त सूत्र से ही स्वप्न में जो सृष्टि का अवधारण किया उससे विरोध होगा ।

'न स्वप्नादिवत्' इस वेदान्त सूत्र में जाग्रत् प्रपंच का केवल मानसत्व होना ही निषेध किया है। इस से जो स्वप्नादि के दृष्टान्तों के द्वारा प्रपंच को मनोमात्र माना है वह नवीन वेदान्तियो का अपसिद्धान्त ही है, क्योंकि वेदान्त सूत्र ने भी स्वप्न तुल्यत्व के अभाव का निर्णय किया है इसलिये यथोक्त ही प्रपंच का "असत्त्व" ब्रह्ममीमांसा का भी सिद्धान्त-समान-तन्त्र सिद्ध है। कोई यहाँ उत्तर विशेषण में अर्थ क्रियाकारित्व ही सत्त्व विवक्षित है और वह प्रलय काल में प्रकृति और प्रकृति के कार्य में होता नहीं अतः-प्रकृति सत् नहीं ऐसी शङ्का करते हैं ? वह ठीक नहीं है क्योंकि इस युक्ति से ईश्वर से अन्य पुरुष भी प्रलय काल में अर्थ क्रियाकारी न होने से असत् हो जायेंगे। जीवों में भी विषय के प्रकाशन रूप व्यापार का उपरम हो असत्ता-लय-स्वाप-प्रलय में है यह ईश्वर प्रकरण में श्रुति और स्मृतियों में प्रसिद्ध है अतः प्रधान के पारमार्थिक सत् असत् के अभाव की सिद्धि के लिये उसके विकारों के भी पारमार्थिक सत् असत् नहीं है यह प्रतिपादन करने के लिये प्रधान का विशेषणान्तर है निःसदसद् इति-निर्गत हैं सत् असत् जिससे ऐसा विग्रह है। निःसन्निरसद् ऐसा पाठ होने पर भी अर्थ वह ही है। प्रधान वृत्ति जितना विकार-समूह है वह पारमार्थिक सत् नहीं है, क्योंकि परिणामी होने से अपने धर्मों द्वारा प्रतिक्षण उसका विनाश होता रहता है। आदि अन्त की व्यक्ति अवस्था से भी असत् ही है। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्। विकार नामधेय (घट, शराव आदि) वाचारम्भण है (वाणी का विलास है) मृत्तिका है, इतना ही सत्य है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ हे भारत ! ये भूत आदि में अव्यक्त थे अब मध्य वर्तमान में व्यक्त हैं, मृत्यु होने पर फिर अव्यक्त हो जायेंगे इनके विषय में परिदेवना क्या ? (दुःख नहीं मानना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये) । इत्यादि श्रुति और स्मृति विकारों के नित्यतारूप सत्त्व का निराकरण करती हैं, यहाँ श्रुति में विकारों के आदि और अन्त में नाममात्र अवशेष होने से स्थिर न होने के कारण अस्थिर की अपेक्षा से कारण की स्थिरत्व रूप सत्यता विवक्षित है, क्योंकि "नित्यो नित्यानां, सत्यस्य सत्यं" वह नित्यों का नित्य है सत्य का भी सत्य है। इन दूसरी श्रुतियों में भी इसी प्रकार का अर्थ सिद्ध है। विकार अत्यन्त तुच्छ हैं इस कारण से उनके नित्यतारूप सत्त्व का निराकरण नहीं है। यदि तुच्छतया निराकरण मानें तो मृद्-विकार जो ब्रह्म विकार में दृष्टान्त दिया है वह उपपन्न न होगा, क्योंकि लोक में मृद्-विकार की अत्यन्त तुच्छता सिद्ध नहीं है, जिससे कि ब्रह्म के कार्य प्रपंच के तुच्छ होने पर उसकी दृष्टान्तता बन सके ? जिस प्रकार प्रधान वृत्ति कार्य समूह अत्यन्त सत् नहीं है, उसी प्रकार अत्यन्त असत् भी नहीं है, क्योंकि अतीत और अनागत रूपों से सदा ही सत् है। तद्धेदं "तर्ह्यव्याकृतमासीत्" वह ही तो यह अव्याकृत था।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

यह दृश्य जगत् प्रलयावस्था में तमोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय सर्वतः प्रसुप्तवत् था। इत्यादि श्रुति और स्मृतियों से कार्य जगत् की कारण रूप सत्ता सिद्ध है।

शंका—इस प्रकार विकार सहित प्रधान के सत् और असत् का प्रतिषेध हो जाने पर, प्रकृति की सत् और असत् आत्मता का प्रतिपादन करने वाली सैकड़ों श्रुति और स्मृतियों का विरोध होता ? और "सदसद् बाधाबाधाभ्याम्" इस सांख्यसूत्र से भी विरोध होगा।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के जितने वाक्य हैं वे सब व्यक्त और अव्यक्त रूप व्यावहारिक सत् और असत् परक हैं। सांख्य सूत्र में बाध और अबाध रूप भेद से सार्वकालिक हैं। यह कहा है—

जगन्मयी भ्रान्तिरियं कदाऽपि न विद्यते।
विद्यते न कदाचिच्च जलबुद्बुदवत् स्थितम्॥

यह जगत्-मयी भ्रान्ति कभी भी नहीं है, यह बात नहीं है, कभी कभी नहीं होती। इसकी स्थिति जल के बुद्बुद के समान है।

भ्रान्ति यह पारमार्थिक भ्रम को लेकर ज्ञान और ज्ञेय के अभेद रूप की विवक्षा से कही गई है। अतएव गौतम सूत्र है—

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्या बुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिरिति-तात्त्विक मिथ्याबुद्धि-अनित्य पदार्थ का ज्ञान है, वह प्रधान मिथ्या ज्ञान है, प्रसिद्ध मिथ्या ज्ञान है जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान। पारमार्थिक भ्रम का लक्षण है—तदभाववति तत्प्रकारक-अथवा असद्विषयकता, यह दोनों ही परिणामी नित्य पदार्थ बुद्धियों में हैं। व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से सत्ता आदि की द्वि प्रकारता विष्णु-पुराण आदि में प्रसिद्ध है।

सद्भाव एषो भवते मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्।
एतच्च यत्संव्यवहारभूतं तथाऽपि चोक्तं भुवनाश्रितं तद्॥

जैसे यह ज्ञान सत्य है और अन्य सब असत्य है, यह सद्भाव मैंने आपके लिये कह दिया है, और यह जो संव्यवहार रूप है जो लोक के आश्रित है वह भी कह दिया है। तीसरी लोकसिद्ध पारिभाषिकी सत्ता भी है, जो मनोमात्र परिणाम, शुक्ति में रजत और स्वप्न के पदार्थों की सत्ता है। जो परमात्म चैतन्य सत्य है जीव चैतन्य सत्य नहीं है यह वेदान्त रहस्य है—

नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा इत्यादि श्रुति सिद्ध है, वह तो लय शून्य-स्वरूप। अति पारमार्थिक सत्ता के अभिप्राय से समझनी चाहिये। प्रलयकाल में ही परमात्मा में प्रकृति और पुरुषों के व्यापार के उपरमरूप लय होता है। "प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि" प्रकृति और पुरुष ये दोनों परमात्मा में लीन होते हैं। इत्यादि वाक्यों से यह सिद्ध है। परमात्मा सदा जाग्रद्रूप से लयशून्य है। वही परमार्थ सत् है, प्रकृति और पुरुष परमार्थ सत् नहीं है यह नवीन वेदान्त वाक्यों की मर्यादा है। इससे सत् और असत् के विरोध से

एकत्र असम्भव का भी कारण हो गया, क्योंकि व्यवहार और परमार्थ के भेद से, काल के भेद से, अवच्छेद के भेद से, स्वरूप के भेद से और प्रकार के भेद से इनका अविरोध है। इस प्रकार श्रुति और न्याय से सिद्ध सत्यत्व और मिथ्यात्व के विभाग को न जानते हुये आधुनिक वेदान्तियों के प्रपञ्च का अत्यन्त असत्यत्व आदि रूप नास्तिकों के सिद्धान्त अनुसार अप-सिद्धान्त हैं—अतः मुमुक्षुओं को दूर से ही त्यागने चाहियें, क्योंकि सामान्यन्याय से अन्यत्र सिद्धान्तों को ही ब्रह्म मीमांसा के सिद्धान्त कहा गया है। इस प्रकार सब ठीक है।

लिङ्गमात्र परिणाम का उपसंहार करते हैं—एष तेषाम्–यह गुणों का लिंगमात्र परिणाम है। अलिंग पर्व की व्याख्या करते हैं–निःसत्तासत्त्वं चेति–निःसत्तासत्त्व अलिंग परिणाम है, निःसत्तासत्त्व इस कथन में जो पदार्थ है वह अलिङ्ग नामक गुणों का परिणाम है और वह साम्यावस्थानात्मक गुणों से अतिरिक्त है, इससे उस प्रधान की गुणात्मता सिद्ध होती है, उसी अवस्था के लिये प्रधानवाची शब्द, धर्मधर्मी के अभेद से महदादि की व्यावृत्ति के लिये ही यहाँ श्रुति स्मृतियों में प्रयोग किया है। परमार्थ से तो गुण ही तद्रूप लक्षित प्रधान हैं, भाष्य में गुणों को ही प्रधान शब्द से कहा है। अब पर्व और गुणों के परस्पर वैधर्म्य से भेद प्रतिपादन करते हैं—उनमें से पहिले अलिंग अवस्था रूप पर्व का तीनों पर्व से और गुणों से वैधर्म्य का प्रतिपादन करते हैं—अलिङ्गावस्थायामिति–पुरुषार्थ विषयभोग और विवेक ख्याति तथा उनके कार्य सुख और दुःख लिङ्ग अवस्था के प्रति हेतु नहीं है, क्योंकि अलिंग अवस्था में आदि में सृष्टि के पहिले पुरुषार्थता–पुरुषार्थ समूह कारण रूप से अभिमत नहीं हो सकते। दुःख निवृत्ति की व्यावृत्ति के लिये कारण यह शब्द कहा है, प्रलय-काल में दुःख निवृत्ति की कर्म के रूप से ही उपपत्ति होने से प्रलय में प्रयोजन न रहने से दुःख की निवृत्ति प्रलय का कारण नहीं होती यह आशय है। उपसंहार करते हैं—न तस्या इति—यूं कहा जा सकता है व्यक्त अवस्था में गुणों से शब्द आदि के उपभोग आदि रूप पुरुषार्थ होता है अतः वह उसमें अनागतावस्था कारण हो, साम्यावस्था में तो तज्जन्य कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता अतः इस अव्यक्त अवस्था में पुरुषार्थ कारण नहीं हैं। इससे क्या प्रयोजन है। यह कहते हैं—यह साम्यावस्था पुरुषार्थकृत नहीं है, अतः शास्त्रों में नित्य कहलाती है। नित्या-स्वाभाविकी है अनैमित्तिकत्व से तीनों पर्वों की अपेक्षा से स्थिर, स्वाभाविकत्व होने पर भी धर्मादिकों से प्रतिबन्ध यहाँ गुणों का साम्यरूप परिणाम है यह भाव है। अव्यक्त अवस्था की स्वाभाविकता व्यक्त अवस्था की अपेक्षा से नहीं होती, बहुत काल तक अवस्थायित्व ही नित्यत्व-सत्यत्व आदि दूसरे नामों से व्यवहार से सिद्ध है। धर्म नित्य है, सुख दुःख अनित्य है इत्यादि महाभारत आदि में व्यवहार होता है, इस प्रकार का नित्यत्व गीतादि में कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त-निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

हे भारत! ये भूत आदि में अव्यक्त थे और मध्य (वर्तमान) में व्यक्त हैं, निधन-मृत्यु (अन्त) में फिर अव्यक्त हो जाते हैं इसमें परिदेवन क्या? इत्यादि से यही बात कही है।

अथवा सर्वदा सत्त्वरूप ही नित्यत्व यहाँ के लिये भी सही, सृष्टि काल में भी गुणों के साम्य का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता है, अंश से ही वैषम्य है आवरण रूप गुण-साम्य सदा ही रहता है। अन्यथा साम्यावस्था का अत्यन्त उच्छेद होने पर पर्वता ही न बन सकेगी। इस ही सूत्र ने ऊर्ध्वमूलमधः शाखमित्यादि गीता को अव्यक्त मूल प्रभव इत्यादि मोक्ष धर्मादिक को अनुसरण करके संसार रूप गुणवृक्ष ही चतुष्पर्वतया निरूपण किया है। उस वंश (बाँस) तुल्य गुणवृक्ष के पूर्व पूर्व तत्त्व आवरणों के अंश से ही उत्तर तत्त्व रूप से परिणत होते हैं, जैसे कि समुद्र के अंश से फेन आदि रूप परिणाम हुआ करता है। जैसे दूध सर्वांश से दही बन जाता है। पूर्व पूर्व तत्त्व का सर्वांश से परिणाम होता है वैसा नहीं है। उत्पन्न कार्य्य के धारण से पुनः पूर्णार्थ तो कारणों को स्व-कार्य के आवरक होने से अवस्थान सिद्ध हैं। इसलिये सर्ग काल में भी बहिर् अलिंगावस्था के अवस्थान से उसकी नित्यता है।

शंका—प्रकृति को लेकर आठ आवरण ब्रह्माण्ड के सुने जाते हैं, तन्मात्रा नहीं सुनी जाती हैं।

समाधान—यह बात नहीं है, सूक्ष्म और स्थूल की एकत्व की विवक्षा से (एक मान कर) आठ प्रकार का आवरण कहा है अतएव भागवत के द्वितीय स्कन्ध में परब्रह्म की गति में पाँच भूतों की बहिः तन्मात्रा आवरण में गति नहीं है, इन्द्रियें कारण न होने से आवरण नहीं कहीं, उनकी उत्पत्ति तो तन्मात्राओं के समान देश में होती है, जैसे कि तिलों के समान देश में सूक्ष्म तेल की उत्पत्ति होती है। इतर तीन अवस्थाओं में अनित्यत्वरूप वैधर्म्य को कहते हैं—लयाणामिति—तीन अवस्था विशेषों की आदि उत्पत्ति में पुरुषार्थता कारण होती है। आदि उत्पत्ति में उपादान कारण के व्यवच्छेद के लिये कहते हैं—सर्वार्थ इति। और वह अर्थ-हेतु-निमित्त-कारण होता है, अतः तीनों अवस्था अनित्य कही जाती हैं। शेष सुगम है।

पर्वों में नित्य और अनित्यत्व वैधर्म्य को कह कर पर्वी गुणों का पर्वों से वैधर्म्य कहते हैं—गुणास्त्विति—सत्त्व आदि गुण तो सर्व विकारों में अनुगत हैं, अतः उत्पत्ति और विनाश से शून्य हैं—अनुपचरित हैं। अलिंग अवस्था भी गुणों के सदृश नित्य नहीं है।

शंका—त्रिगुणात्मक प्रकृति के नित्य होने पर—

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
शोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।

हे द्विज! सर्गकाल प्राप्त होने पर हरि ने आत्मेच्छा से व्यय और अव्यय प्रकृति और पुरुष में प्रविष्ट होकर इन में क्षोभ उत्पन्न किया, उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ। इत्यादि स्मृतियों में प्रकृति के लिये व्यय और उत्पत्ति वचन आये हैं वे संगत कैसे होंगे?

समाधान—व्यक्तिभिरेवेति—गुणान्वयिनीभिः—गुण धर्म कार्य व्यक्ति अतीत से उपचर्यान्त परिणाम वालियों से गुण जन्म और विनाश वाले जैसे प्रतीत होते हैं कार्य-

कारण का विभाग होने से, उन सत्त्वादि गुणों में स्वतः जन्म और विनाश नहीं है। इसी कारण से स्वानुगत व्यय आदि से ही गुणात्मक प्रकृति के व्यय आदि का व्यवहार होता है, यह आशय है। परिणाम तो प्रकृति का पारमार्थिक होने पर व्याप्यों के उत्पत्ति और विनाश का व्यापकों में व्यवहार होता है उसमें दृष्टान्त कहते हैं—यथा देवदत्तो दरिद्राति, दरिद्राति का अर्थ है क्षीण होता है। समः समाधिः—यह समाधान दार्ष्टान्तिक में भी समान है।

शंका—तो भी प्रकृति की नित्यता नहीं बनती। "भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः" फिर अन्त में विश्वमाया निवृत्त होती है।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि।

प्रकृति और पुरुष दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं, इत्यादि वाक्यों से प्रकृति की नित्यता नहीं घनती।

समाधान—इसका उत्तर दे दिया है कि कार्य के विनाश से कारण में विनाश व्यवहार उपचार से होता है। व्यापार के उपरम रूप लय को ही पुरुष के साहचर्य से प्रकृति में व्यय विनाश निश्चय किया है।

वियोजयत्यथाऽन्योन्यं प्रधानपुरुषावुभौ।
प्रधानपुंसोरनयोरेष संहार ईरितः॥

प्रधान और पुरुष दोनों एक दूसरे को अपने से युक्त करते हैं यही प्रधान और पुरुष का संहार कहलाता है। इत्यादि कूर्म पुराण के वचनों से भी यही सिद्ध होता है, प्रकृति और पुरुष का कार्य उपरम ही उपचार से विनाश कहलाता है, यदि ऐसा न मानें, तो न्याय के अनुग्रह से बलवती श्रुतियों का विरोध होगा। ऐसे ही प्रकृति और पुरुष का पुराणों में श्रूयमाण उत्पत्ति भी अन्योऽन्य के संयोग से अभिव्यक्ति ही जाननी चाहिये।

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मजा तयोरिति स्मृतेः।

स्मृति का भी यही तात्पर्य है प्रकृति और पुरुष की संयोग रूप कर्मज उत्पत्ति कही जाती है। तथा चोक्तम्—

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनाम-गुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषाः॥

अज प्रकृति और पुरुष का उद्भव—उत्पत्ति नहीं बनती, प्राणधारी जल में बुद्बुद के समान दोनों से संयुक्त होते हैं। आपके परम रूप के अन्दर ही ये सब नाम और गुणों के सहित लीन होते हैं जैसे कि समुद्र में नदियाँ लीन होती हैं और मधुर रस में सब रस लीन हो जाते हैं।

अब प्रकृति आदि का उन उन के कार्यों से अनुमान कराने के लिये पर्व शब्द से सूचित अलिंगादि के अविरल क्रम को दर्शाते हैं—लिङ्गमात्रमिति—लिंगमात्र के अलिंग

प्रत्यासन्न है—अव्यवहित कार्य है। वही लिंगमात्र उस अलिंग में—अलिंगावस्था प्रधान में अव्यक्त रूप से अविभक्त है अतः उससे विभक्त होता है—उसमें हेतु है—क्रमेति-क्रम का—पौर्वापर्य का कभी भी अतिक्रम नहीं करता, यदि कारण में अनागत अवस्था से असत् की भी उत्पत्ति मानें तो अविशेषतया सब की सर्वत्र उत्पत्ति होनी चाहिये, और अतीत की भी उत्पत्ति होनी चाहिये जो कि असम्भव है। और प्रागभाव कारण है नहीं, क्योंकि अभाव असिद्ध है। यदि अभाव को निमित्त कारण मानें तो उसको ही उपादान कारण भी मान लें, तब तो शून्यवादियों की विजय हो गई। अभाव को उपादान देखा भी नहीं है यदि यह कहा जाय तो निमित्त में भी यह बात तुल्य ही है अतः जैसे अभाव उपादान नहीं हो सकता वैसे निमित्त भी नहीं हो सकता। इसलिये कार्य जनन शक्ति ही अनागत अवस्थारूपिणी कार्य रूपसे परिणित होती है, वह सत्कार्यवाद इस भाष्य ने सिद्ध किया है। तथा इत्यादि की भी यूं ही व्याख्या करनी चाहिये। महद् आदि से प्रकृति आदि के अनुमान का प्रकार सांख्य सूत्रों ने कहा है, हमने भी उनके भाष्य में उसको प्रपंचित किया है, (विस्तार रूप से लिखा है) विस्तार भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं करते। यह बात पहिले कह दी है। जैसे विशेषों से अवान्तरभेद भिन्न विशेष उत्पन्न होते हैं वैसे पहिले इसी सूत्र के आदि में कह दिया है।

शंका—सूत्रकार ने गुणपर्वों का चतुर्धा (चार प्रकार का) विभाग कैसे किया है? ब्रह्माण्ड, स्थावर जंगम रूप से पर्व अनन्त हो सकते हैं?

समाधान—ब्रह्माण्ड आदि सब विशेष कार्यों का विशेषों में ही अन्तर्भाव है यह कहते हैं—न विशेषेभ्य इति—विशेषों से पर-उत्तर भावि, तत्त्वान्तर-तत्त्व भेद नहीं है, अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है। अतः ब्रह्माण्ड आदिक सब विशेष पर्व से ही गृहीत हैं यह भाव है। तत्त्वत्व—द्रव्यत्व है, तत्त्वान्तरत्व—स्वावृत्तिद्रव्यत्व उससे साक्षात् व्याप्य जातियत्व है—पचीसतत्त्वों में पचीस जाति के अंगीकार न करने में तत्त्वान्तरत्व—स्वावृत्तिद्रव्य विभाजक उपाधिमत्व—तत्त्वान्तरत्व है।

शंका—यूं तो तत्त्व का भेद होने से अन्तःकरण का जो कहीं कहीं एकत्व कहा है वह कैसे हो सकेगा?

समाधान—जैसे विशेष नामक एक तत्त्वात्मिका एक ही पृथिवी प्रथम उत्पन्न होती है, उसके पीछे उस पृथिवी के खोदने और मथन करने से पार्थिव जल और पार्थिव तेज अभिव्यक्त मात्र होते हैं इसी प्रकार तत्त्व-त्रयात्मक ही आदि में महान् उत्पन्न होता है, पीछे उस महत्तत्त्व में स्थित अहंकार आदि वृत्तिभेद से प्रकट होते हैं।

प्रश्न—तो क्या विशेषों के परिणाम ही नहीं होवें?

उत्तर—नहीं, विशेषों के परिणाम नहीं होते। उनके तो धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम—सूत्रकार उत्तर पाद में व्याख्या करेंगे, वे होते हैं।

शंका—ऐसा ही सही, महद् आदि के क्रम से कहा सृष्टि का प्रकार आकाश आदि बोधक श्रुति के विरुद्ध होने से हेय है, श्रुति में तन्मात्रा की चर्चा न होने से ये पदार्थ कल्पित

हैं, मनु आदि स्मृतियें सांख्य की इस कल्पना का अनुवाद करने में धर्म [. ५२ प्रकृति आदि परक नहीं हैं। अतः स्मृतियों से भी प्रकृति की सिद्धि नहीं होती ?

समाधान—गुणत्रयात्मिका प्रकृति मूलकारण रूप से मैत्रेयोपनिषद् में सुनी०। यथा—

"तमो वा इदमेकमास तत्परं स्यात् तत्परेणेरितं
विषमत्वं प्रयाति एतद्वै रजसो रूपं तद्रजः
खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य
रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तमसः संप्रास्रवत्
सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषं
क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य
प्रोक्ता अस्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यादि"

यह प्रपंच एक तम ही था, वह पर था, वह पर से प्रेरित विषम बन गया, यह ही रजः का रूप है। वह रजः पर से प्रेरित होकर विषम होगया, यह ही सत्त्व का रूप है, वह सत्त्व प्रेरित हुआ तम से बहा—जुदा हुआ—वह अंश यह है—जो कि पुरुष का चेतितामात्र है—क्षेत्रज्ञ है। सत्त्व प्रेरित हुआ मन संकल्प और अध्यवसाय लिंग है—प्रजापति है, उसका प्रोक्ता ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु इत्यादि उसके तनु शरीर कहे गये हैं। तथा गर्भोपनिषद् में चौबीस तत्त्व इसी क्रम से कहे हैं, यथा—

"अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः शरीरम्" इति।

आठ प्रकृति हैं (मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्रा) षोडश विकार हैं और शरीर। तथा प्रश्नोपनिषद् में—

एवं ह वै तत्सर्वं "परे आत्मनि" संप्रतिष्ठते
पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च
तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा
चाकाशश्चाकाशमात्रा च इत्यादि

इस भाँति यह सब पर आत्मा में संप्रतिष्ठित है पृथिवी, पृथिवी मात्रा, जल व जल-मात्रा, तेज, तेजोमात्रा, वायु, वायुमात्रा, आकाश और आकाश मात्रा इत्यादि से परमात्मा में तेईस तत्त्व प्रतिष्ठित हैं समुद्र में नदी की भाँति यह कहा है। अतः चौबीस तत्त्व प्रत्यक्ष श्रुति से और स्मृति से अनुमेय श्रुति से सिद्ध हैं। व्यवहार और परमार्थ विषय का भेद होने से अद्वैत श्रुति इन श्रुतियों की बाधक नहीं है। व्यावहारिक अद्वैत श्रुतियाँ अविभाग लक्षण के अभेद परक ही हैं—यह बात नदी समुद्र दृष्टान्त से सिद्ध है। इन महदादि की सृष्टि का क्रम भी श्रुति में पाठ क्रम से निश्चित होता है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

इससे प्राण उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सब को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।

और जो तैत्तिरीय उपनिषद् में वियदादि की सृष्टि कही है वहाँ वियन् (आकाश) से पहिले स्मृति से उन्नेय श्रुति के साथ एकवाक्यता द्वारा बुद्धि आदि की सृष्टि पूरण कर लेनी चाहिये। छान्दोग्य में जैसे वियद्वायु की पूर्ति की है। किंच सांख्योक्त सृष्टि के क्रम में स्पष्ट ही श्रुति प्रमाण है जैसा कि गोपालतापनीय में—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तमेवाक्षरं
तस्मादक्षरान्महत् महतो वै अहङ्कारस्तस्मादेवाहङ्कारात्
पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतादीनीति।''

एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, उससे अव्यक्त अक्षर उत्पन्न हुआ, उस अक्षर से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहंकार और अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा, तथा तन्मात्राओं से पाँच महाभूत आदि उत्पन्न हुए हैं। वेदान्तसूत्रों ने भी बुद्धि आदि के क्रम से ही सृष्टि कही है, उन पर नवीनों की व्याख्या का हमने अपने भाष्य में खण्डन किया है। इस प्रकार सांख्य शास्त्र में प्रपंचित (विस्तार से वर्णित) चौबीस तत्त्व ही यहाँ योग दर्शन के दो सूत्रों ने संक्षेप से कहे हैं। इनके स्वरूप आदि भी वहीं दर्शाये हैं। संक्षेप से यहां भी कहते हैं—

पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियें तो प्रसिद्ध ही हैं, तन्मात्रा इन पाँच भूतों के साक्षात् कारण हैं, ये तन्मात्रा शब्द आदि वाले सूक्ष्म द्रव्य हैं, अतः इनको सूक्ष्म भूत भी कहीं कहते हैं। महत् और अहंकार का लक्षण मोक्ष धर्म में कहा है—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्युत ॥
धृतं चैकात्मकं येन कृत्स्नं त्रैलोक्यमात्मना ।
तथैव विश्वरूपत्वाद्विश्वरूप इति श्रुतः ॥
एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना ।
अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥

यह भगवान् हिरण्यगर्भ है जिसको बुद्धि कहा है। योग में इनको महान् और विरंचि कहा है, जिसने अपने आत्मरूप से एकात्मक समस्त त्रैलोक्य को धारण किया हुआ है। इसी कारण विश्वरूप होने से उनको विश्वरूप कहा है। ये ही विक्रियापन्न अपने आत्मा से आत्मा को उत्पन्न करते हैं ये महातेजा प्रजापति अहंकृत रूप अहंकार को उत्पन्न करते हैं। यहाँ उपासना के लिए शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से उपाधियों के नाम और रूपादि

उपाधिमान् रूप कहे हैं। जैसे कि मनुष्य पशु आदि शरीरों के नाम से उन शरीर के अभिमानी आत्माओं को भी मनुष्य और पशु आदि नाम से बोलते हैं। दूसरी स्मृतियों में सांख्य और योग के अविवेक से जड़ वस्तु रूप से ही उनका व्यवहार है ज्ञान और ऐश्वर्यादि रूप महत्तत्त्व और अभिमान रूप अहङ्कार का अन्तःकरण धर्मत्व होने से। प्रकृति के जो तेईस तत्त्वों के कारण सत्त्व आदि नाम वाले सूक्ष्म द्रव्य असंख्य हैं, उनको गुण इसलिये कहा है कि ये पुरुष के उपकरण हैं और पुरुष को बाँधने वाले हैं। वे तीन गुण सुख दुःख मोह वाले होने से सुख दुःख मोहात्मक कहलाते हैं। पुरुषों के सब अर्थों के साधक होने से राजा और मन्त्री के समान प्रधान कहे जाते हैं। जगत् का उपादान होने से प्रकृति और जगत् की मोहक होने से माया कहलाते हैं, वैशेषिक आदि ने अपनी अपनी परिभाषा से परमाणु और अज्ञान आदि शब्दों से कहा है। तदुक्तं वासिष्ठे—

> नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत्।
> तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून्॥

नाम और रूप से रहित यह जगत् जिसमें ठहरा हुआ है, उसको कोई माया कहते हैं, कोई प्रकृति और कुछ लोग अणु कहते हैं। इनमें तेईस तत्त्व सर्ग के आदि में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो रूप से परिणित होते हैं। उनमें से स्थूल तो पांच भूतों से बनता है, और सूक्ष्म शेष १७ तत्त्वों से बनता है। उन दोनों शरीरों में से सूक्ष्म शरीर काष्ठवत् चैतन्य का अभिव्यञ्जक होने से पुरुष का लिंग शरीर कहलाता है। और यह अहंकार के बुद्धि में प्रवेश से सत्रह तत्त्व वाला (अवयव वाला) सांख्यशास्त्र में कहा गया है—सप्तदशैकं लिङ्गमिति, इस सूत्र में एकत्व समष्टि के अभिप्राय से कहा है। "व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्" इस अगले सूत्र से व्यक्ति रूप से एक ही लिंग—शरीर को अनेक कहा है। यह व्यष्टि और समष्टिभाव वन-वृक्षवत् नहीं है किन्तु पिता पुत्रवत् ही है।

> "तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह।
> क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः॥

उस धीमान् हिरण्यगर्भ के स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से समुत्पन्न कार्यों और करणों के सहित क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होते हैं। इन मनु आदि के वाक्यों से हिरण्यगर्भ के दो शरीरों के अंश से ही अखिल पुरुषों के दोनो शरीरों की उत्पत्ति सिद्ध होती है। वन और वृक्षों में इस प्रकार का कार्य कारण भाव नहीं होता है॥ १९॥

संगति—द्रष्टा का स्वरूप दिखाते हैं:—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥२०॥

शब्दार्थ—द्रष्टा = द्रष्टा। दृशिमात्रः = देखने की शक्तिमात्र है। शुद्धः-अपि = निर्मल अर्थात् निर्विकार होने पर भी। प्रत्यय-अनुपश्यः = चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा जो देखने की शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।

व्याख्या—दृशिमात्र, इस शब्द से यह अभिप्राय है कि देखने वाली शक्ति विशेषण-रहित केवल ज्ञानमात्र है अर्थात् यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि यह देखने की शक्तिमात्र धर्मी है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यथा:—

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजन्तुषु॥

अर्थ:—जैसे दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, प्रकाश रूप ही होता है वैसे ही सब प्राणियों के अन्दर आत्मा को भी ज्ञानरूप जानो।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥

अर्थ—ज्ञान न तो आत्मा का धर्म है और न ही किसी भांति गुण है। आत्मा तो नित्य, विभु और शिव (कल्याणकारी) ज्ञानस्वरूप ही है।

प्रत्ययानुपश्य=चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला। चित्तवृत्ति गुणमयी होने से परिणामिनी है। विषय में उपराग होने से वह विषय उसको ज्ञात होता है। पर पुरुष तो चित्त का सदैव साक्षी बना रहता है, वह चित्त पुरुष के ज्ञानरूपी प्रकाश से (प्रतिबिम्बित होकर) चेतन-जैसा भासता है। इस कारण वह (चित्त) जिन-जिन वृत्तियों के सदाकार होता है वह पुरुष से छिपी नहीं रहती। पुरुष में चित्त-जैसा कोई परिणाम नहीं होता।

द्रष्टा स्वरूप से शुद्ध परिणाम आदि से रहित सर्वदा एकरस रहता हुआ भी चित्त की वृत्तियों का ज्ञान रखने वाला है। क्योंकि चित्त में उसके ही ज्ञान का प्रकाश है अर्थात् वह उसी के ज्ञान से प्रतिबिम्बित है। चित्त सुख, दुःख, मोहादि वृत्तियों के रूप में परिणित होता रहता है। यह परिणाम आत्मा में नहीं होता है। क्योंकि वह अपरिणामी ज्ञानस्वरूप है। चित्त का साक्षी होने के कारण उसमें यह वृत्तियें अज्ञान से अपनी प्रतीत होती हैं।

नोट—यह बात अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये कि आत्मा का वास्तविक दर्शन विवेकख्याति द्वारा चित्त को अपने से भिन्न देखना और असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा स्वरूप-स्थिति प्राप्त करना है। इसके अतिरिक्त चित्त की अन्य वृत्तियों को आसक्ति के साथ देखना अदर्शन है, क्योंकि यह अविद्या से होता है और इससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। आगे सूत्र तेईस की व्याख्या में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

टिप्पणी:—इस सूत्र की व्याख्या खोल कर स्पष्ट शब्दों में करदी गई है, फिर भी पाठकों की अधिक जानकारी तथा अपनी व्याख्या की पुष्टि के निमित्त व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति का भावार्थ भी नीचे दिया जाता है—

भाषार्थ व्यासभाष्यः—सूत्र २० ॥ (दृशिमात्रः) सब धर्मों से रहित जो केवल चेतनमात्र अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष है, वह द्रष्टा कहा जाता है। यदि ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है अर्थात् ज्ञानस्वरूप धर्म का आधार होने से दृशिमात्र कैसे हो सकता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं "शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः" यद्यपि वह स्वभाव से ज्ञान का आधार न होने से शुद्ध ही है तथापि प्रत्यय संज्ञक बुद्धि-धर्म ज्ञान को अनुसरण करने से ज्ञान का आधार कहा जाता है।

अर्थात् यद्यपि पुरुष ज्ञानस्वरूप ही है तथापि बुद्धि रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से उस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का आधार प्रतीत होता है। इसलिये बुद्धि वृत्ति का अनुकारी अर्थात् तदाकारधारी होने से पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा गया है।

सो यह दृशिमात्र चेतनभूत पुरुष न तो बुद्धि के समान रूपवाला है और न अत्यन्त विरुद्धरूपवाला है। अर्थात् यह पुरुष बुद्धि से विलक्षण है, क्योंकि ज्ञात अज्ञात विषय होने से बुद्धि परिणामिनी है और सदा ज्ञातविषय होने से पुरुष अपरिणामी है। अर्थात् बुद्धि का विषयभूत जो गवादि घटादि पदार्थ हैं वे कभी ज्ञात होते हैं और कभी अज्ञात, किन्तु पुरुष का विषयभूत जो बुद्धितत्त्व है वह सदा पुरुष को ज्ञात ही रहता है। इसलिये बुद्धि सदा एक रस न होने से अर्थात् विषयसन्निधि से विषयाकार होकर ज्ञात विषय होने से और अन्य समय में अज्ञात विषय होने से परिणामिनी है और पुरुष सदा एक रस होने से अपरिणामी है; क्योंकि पुरुष का विषयभूत बुद्धितत्त्व सदा ज्ञात ही रहता है। अतः यह दोनों परस्पर विलक्षण हैं। एवं संहत्यकारी होने से अर्थात् तीन गुणों से मिलकर पुरुष के भोग अपवर्गरूप अर्थ के सम्पादन करने से बुद्धि परार्थ है और पुरुष असंहत अर्थात् केवल होने से अन्य किसी के अर्थ न होने के कारण स्वार्थ है। इस कारण से भी दोनों परस्पर विलक्षण हैं। तथा शान्त, घोर, मूढाकार से परिणत हुई बुद्धि शान्त, घोर, मूढ पदार्थों विषयक अध्यवसाय शील होने से त्रिगुण तथा अचेतन है और पुरुष गुणों का उपद्रष्टामात्र होने से अर्थात् बुद्धि में केवल प्रतिबिम्बित मात्र प्रकाश डालने से न कि तदाकार परिणत होने से गुणातीत और चेतन है। इस कारण बुद्धि के समान रूप नहीं है।

तो फिर क्या अत्यन्त विरुद्धरूप है ? इसका उत्तर देते हैं कि अत्यन्त विरुद्धरूप भी नहीं है। क्योंकि (शुद्धोऽपि) यह पुरुष शुद्धरूप अर्थात् सब विकारों और परिणामों से रहित होने पर भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि वृत्तिरूप ज्ञान को प्रकाशता हुआ बुद्धि वृत्तिस्वरूप न होने पर भी बुद्धि वृत्ति स्वरूप से भान होता है। ऐसा ही पंचशिखाचार्य ने भी कहा है:—

"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा
च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति,
तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धि-
वृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि
ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते"।

अर्थात् अपरिणामी जो भोक्तृ शक्ति संज्ञक पुरुष है वह यद्यपि अप्रतिसंक्रम है अर्थात् किसी विषय से सम्बन्ध न होने से निर्लेप है तथापि परिणामिनी बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होने से उस बुद्धि की वृत्ति का अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है और उस चैतन्य-प्रतिबिम्ब ग्राहिणी बुद्धि वृत्ति के अनुकार मात्र होने से बुद्धि वृत्ति से अभिन्न हुआ वह चेतन ही ज्ञानवृत्ति कहा जाता है।

भोजवृत्ति भाषार्थ—सूत्र २०। पूर्वोक्त प्रकार से दृश्य के स्वरूप को जो हेय अर्थात् त्यागने योग्य होने के कारण प्रथम जानने के योग्य है अवस्था सहित वर्णन करके अब उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य द्रष्टा पुरुष के स्वरूप को बतलाते हैं। द्रष्टा पुरुष ज्ञान स्वरूप है। पुरुष का ज्ञान धर्म नहीं है इसलिये सूत्र में 'मात्र' शब्द है। कोई एक मानते हैं कि चेतना (ज्ञान) आत्मा का धर्म है। वह स्वरूप से शुद्ध होता हुआ परिणाम आदि से रहित होने पर भी (सुप्रतिष्ठोऽपि) अपने स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ भी (प्रत्ययानुपश्यः) चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है। बुद्धि की समीपता अर्थात् उसमें प्रतिबिम्बित होने के कारण उसकी विषयों से उपरक्त हुई वृत्ति ज्ञान के अनुसार (प्रतिसंक्रमाभावेन) प्रतिसंक्रम के बिना भी अर्थात् बिना किसी विषय से सम्बन्ध रखते हुए निर्लेप होने पर भी देखता है। सारांश यह है कि बुद्धि में विषयों के उपराग की उत्पत्ति होने पर सन्निधिमात्र से पुरुष में द्रष्टापन है।

विज्ञानभिक्षु के वार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र २० ॥

सूत्र का अवतरण करते हैं व्याख्यातमिति–द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः– दृशि यहाँ गुण नहीं है किन्तु प्रकाश स्वरूप द्रव्य है।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथचन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥

ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है और न किसी भाँति गुण ही है आत्मा तो ज्ञान स्वरूप ही है, नित्य है, सर्वगत है और शिव (कल्याणकारी) है॥ इत्यादि स्मृति से भी आत्मा ज्ञानस्वरूप द्रव्य ही सिद्ध होता है। अग्नि और उष्णता आदि में भेद और अभेद होता है क्योंकि उष्णता के ग्रहण न होने पर भी चक्षु से अग्नि का ग्रहण होता है, परन्तु पुरुष का ग्रहण ज्ञान के ग्रहण के बिना नहीं होता। अतः ज्ञान पुरुष का धर्म या गुण नहीं—पुरुष का स्वरूप ही है। मात्र शब्द से पूर्व सूत्र में कहे इन प्रकाश क्रिया आदि गुणों की व्यावृत्ति हो गई। इन प्रकाश क्रिया आदि में सब शेष गुणों का अन्तर्भाव है अर्थात् कोई भी गुण पुरुष में नहीं है। शुद्ध शब्द से भूत और इन्द्रियात्मकत्व की व्यावृत्ति होती है (अर्थात् आत्मा पञ्चभूतात्मक और एकादश-इन्द्रियात्मक भी नहीं है)। शुद्धोऽपि—बुद्धि से अभेद के उपपादनार्थ शेष विशेषण हैं (शुद्ध और प्रत्ययानुपश्य विशेषण हैं)। यहाँ परिणामित्व, पारार्थ्य, अचेतनत्व आदि बुद्धि का अशुद्धि हैं, वे अशुद्धि पुरुष में नहीं हैं यही पुरुष की शुद्धि भाष्य में व्यक्त होगी। प्रत्ययानुपश्य—प्रत्यय के समान आकारतापन्न इव होता हुआ

बुद्धि की वृत्ति का साक्षी है यह अर्थ है। इस विशेषण से द्रष्टा में प्रमाण कहा है। शुद्धोऽपीत्यादि भाष्य के फलान्तर की (दूसरे फल की) भाष्यकार व्याख्या करेंगे। दृशिमात्र के शब्दार्थ को कहते हैं—दृग् शक्ति ही है। प्रलय और मोक्ष आदि में जीवों के दर्शन नामक चैतन्य फल का उपधान नहीं है (प्रतीति-या व्यवहार नहीं है) इस प्रयोजन से भाष्यकार ने शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। एव शब्द का अर्थ कहते हैं—विशेषणों से अपरामृष्ट है (अछूता है) इन विशेषणों से विशेषित का अर्थ है व्यावर्तन, द्रव्यान्तर से भिन्न है यह तात्पर्य है। विशेषण ये विशेष गुण हैं जो वैशेषिक शास्त्र में कहे हैं। इनसे दृग्-शक्ति तीनों कालों में असम्बद्ध है, यह अर्थ है। इससे (सामान्य-गुण) संयोग, संख्या, परिमाण आदि होने पर भी क्षति नहीं है। द्रष्टा यह लक्ष्य (वाचक) पद है बुद्धि से व्यावृत्त-भिन्न रूप से इसकी व्याख्या करते हैं—स पुरुष इति। संवेदिनी बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष है, संवेदन अर्थाकार वृत्ति का नाम है—उस वृत्ति का संवेदन प्रतिध्वनिवत् प्रतिबिम्ब है जिसमें वह पुरुष है, यह अर्थ है। बुद्धि का साक्षी है यह तात्पर्यार्थ है। इससे प्रतिबिम्बरूप आरोपित क्रिया से कल्पित दर्शन कर्तृत्व द्रष्टृत्व है यह बात भी सूचित कर दी है। आत्मा की ज्ञान स्वरूपता तो—

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजन्तुषु॥

जैसे दीपक छोटा है या बड़ा वह प्रकाशरूप ही होता है, वैसे सब प्राणियों के अन्दर आत्मा को भी ज्ञानरूप जानें। इत्यादि सैकड़ों वाक्यों के अनुग्रह से और लाघव तर्क की सहायता से, आत्मत्वादि रूप व्यतिरेकी आदि लिंगो से अनुमेय ज्ञान के आश्रयत्व की कल्पना में धर्मधर्मिभावापन्न दो वस्तु की कल्पना का गौरव होने से (आत्मा की ज्ञानरूपता सिद्ध है)। मैं जानता हूँ इत्यादि प्रत्यय तो, मैं गोरा हूँ ऐसे सैकड़ों भ्रमों के अन्तःपाती होने से (जैसा यह भ्रम है ऐसा ही भ्रम होने से) अप्रमाणता की शंका से युक्त होने के कारण यथोक्त अनुमान की अपेक्षा से दुर्लभ है। बुद्धि और पुरुष के विवेक का प्रतिपादन करने के लिये और उनके अभेद भ्रम का उपपादन करने के लिये, उनके वैरूप्य और सारूप्य के प्रतिपादकतया—क्रम से दो विशेषणों की व्याख्या करते हैं—वह आत्मा न बुद्धि के सरूप है और न अत्यन्त विरूप है—पारमार्थिक सारूप्य का अभाव है—यह शुद्धोऽपि इत्यादि अंश का अर्थ है। प्रतिबिम्बरूप अपारमार्थिक सारूप्य है। यह शेष अंश का अर्थ है। तथा परिणामित्वादिरूप बुद्धि के सारूप्य का अभाव ही शुद्धि है, और बुद्धि की वृत्ति के सारूप्य ही प्रत्ययानुपश्यत्व है, यह बात आ जाती है। सारूप्य के अभाव और सारूप्य का क्रम से प्रतिपादन करते हैं—न तावत् इत्यादि से—प्रथम तो वह आत्मा बुद्धि के सरूप—समान नहीं है, क्यों नहीं है ? इसका उत्तर है—बुद्धि परिणामिनी है, बुद्धि के परिणामिनी होने में हेतु है कि वह बुद्धि ज्ञात और अज्ञात विषय वाली है। ज्ञातेति इस वाक्य का विवरण करते हैं—तस्याश्चेति उस बुद्धि के विषय गवादि और घटादि ज्ञात और

अज्ञात होते हैं, अतः वे बुद्धि की परिणामता को दर्शाते है—(व्याख्या) गवादिरिति—गोशब्द शब्दवाची भी, अतः गवादि व घटादिपदों से धर्मी के सामान्य रूप से—धर्म धर्मीरूप सब ही बुद्धि विशेषों का ग्रहण है। वृत्ति से व्याप्य को ज्ञात कहते हैं और वृत्ति से अव्याप्य को अज्ञात कहते हैं। "दर्शयति" का अर्थ है अनुमान कराता है। भाव यह है—बुद्धि परिणामिनी हो तब भी कभी शब्द आदि के आकारवाली होती है कभी नहीं होती—यह हो सकता है। (परन्तु) पुरुष के समान बुद्धि में अपरिणामिनी होने पर भी विषय का प्रतिबिम्बन ही विषयाकार हो सकती है? उस प्रतिबिम्ब के कदाचित् कभी कभी होने से बुद्धि की ज्ञाताज्ञात विषयता बन सकती है? यह नहीं कह सकते, और क्योंकि स्वप्नावस्था में और ध्यानावस्था में विषय के समीप न होने से प्रतिबिम्ब का पड़ना असम्भव है। शास्त्रों में बुद्धि में विषय के प्रतिबिम्ब को कहने वाले वचन तो उस विषय के समान आकार जो परिणाम होता है उस परिणाम-मात्र के कारण कहे गये हैं। अतः बुद्धि के अर्थ ग्रहण की अनित्यता से बुद्धि के अर्थाकार परिणाम का अनुमान होता है। बुद्धि के परिणामित्व का दिखलाकर उस परिणामित्व के अभाव को पुरुष में दिखलाते हैं—सदाज्ञातेति-सदा ज्ञात है—बुद्धि की वृत्तिरूप जिससे उसका भाव सदा ज्ञात विषयत्व है, वह सदा-ज्ञातविषयत्व पुरुष के अपरिणामित्व को अनुमान कराता है। यदि पुरुष परिणामी ही हो तो जड़ता रूप परिणाम से कभी उस पुरुष का विषय बुद्धि की वृत्ति अज्ञात भी रहनी चाहिए, ऐसा मानने में वर्तमान भी घटादि की वृत्ति का अज्ञान सम्भव हो जायेगा। मैं घटादि को निश्चय जानता हूँ या नहीं इत्यादि (प्रत्यक्ष घटादि-विषय में) संशय भी हो सकता है, ऐसे ही योग्य की अनुपलब्धि से घटादि के ज्ञान का अभाव निश्चय भी न हो सकेगा, क्योंकि अज्ञात वृत्ति की सत्ता का सम्भव है, यह भाव है।

शंका—इतने से भोक्ता का ज्ञान परिणाम न सही? परन्तु सुखादि परिणामों का भोक्ता में अभाव इससे कैसे अनुमान हो सकेगा?

समाधान—शब्द आदि का निश्चयरूप परिणाम के बुद्धि में सिद्ध हो जाने से ही—उन शब्दादि के परिणाम के कार्य्य इच्छा, कृति, सुख, दुख, अदृष्ट, संस्कार आदि भी बुद्धि के धर्म हैं यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि कारण अपने कार्य को समान अधिकरण में ही उत्पन्न किया करता है (अतः बुद्धिरूप अधिकरण में जिन शब्दादि विषयों का निश्चय हुआ है—वह निश्चयात्मक ज्ञान अपने कार्य इच्छा कृति सुखादि को भी उसी अधिकरण बुद्धि में उत्पन्न करेगा, अतः वे भी बुद्धि के ही धर्म या परिणाम है पुरुष के नहीं) इसी में लाघव है।

शंका—पुरुष भी सदा ज्ञात विषय नहीं है क्योंकि प्रलय आदि में अपने विषय बुद्धि की वृत्ति को नहीं जानता है? यह आक्षेप करते हैं कस्मादिति—

समाधान—नहीति—पुरुष विषयक बुद्धि की वृत्ति भी शब्द आदि के समान नहीं है, अथवा वह वृत्ति अगृहीत और गृहीत कालभेद से होती है। ऐसा स्मृति भी कहती है—

"न चिद्प्रतिबिम्बाऽस्ति दृश्याभावादृते किल।
क्वचिन्नाप्रतिबिम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते॥"

चितिशक्ति—दृश्य के अभाव के सिवाय कहीं भी अप्रतिबिम्बा नहीं होती है जैसे कि दर्पण दृश्य के अभाव के सिवाय कभी भी प्रतिबिम्ब रहित नहीं होता है। तथा च—प्रलय आदि में वृत्ति नामक दृश्य के अभाव से ही, उस बुद्धि वृत्ति को नहीं देखता यह भाव है। उपसंहार करते हैं—सिद्धमिति—परिणामित्व की भांति बुद्धि और पुरुष के परार्थत्व और अपरार्थत्व को दिखलाते हैं—किं चेति—बुद्धि संहत्यकारी होने से परार्थ्य है अपने से भिन्न के भोगादि के साधनार्थ है, सहत्यकारी की अपेक्षा से व्यापार वाले शय्या-आसन और शरीर आदि की भांति। पुरुष स्वार्थ है—अपने भोग आदि का साधन है—उसमें उक्त हेतुओं, संहत्यकारी आदि का अभाव है। जो सहकारी सापेक्ष व्यापार वाला नहीं होता वह परार्थ नहीं हुआ करता जैसे पुरुष। बुद्धि का ही व्यापार विषय ग्रहणादि इन्द्रियादि सापेक्ष है, शय्या आदि भी जो शयन आदि के लिये हैं भूमि आदि की अपेक्षा रखते हैं। पुरुष का सुखादि के प्रकाशन का व्यापार ही नहीं होता, क्योंकि वह उसका स्वरूप से नित्य है, सुखादि की सत्ता में सुखादि के प्रकाशनार्थ पुरुष सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं रखता—यह भाव है। बुद्धि के परार्थ होने में श्रुति प्रमाण है—"न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यादि"—सब की कामना के लिये सब प्यारे नहीं होते, अपनी कामना के लिये सब प्यारे होते हैं। यहां कोई स्वार्थ इसका यह अर्थ करते हैं कि साध्य पदार्थ नहीं होता है। यह नहीं हो सकता क्योंकि भृत्य चेतन को भी स्वामी चेतन के अर्थ देखा जाता है। परार्थत्व परमात्मार्थ है यदि यह कहो तो नहीं कह सकते। अचेतनत्वरूप अन्य वैधर्म्य को कहते हैं—तथा सर्वार्थेति—सुख दुःख—मोहात्मक सर्वार्थ तीन गुणों को ग्रहण करती हुई बुद्धि भी तदाकारतया त्रिगुणा-सत्त्व आदि गुणत्रयमयी अनुमान से ज्ञात होती है-त्रिगुण होने से पृथिवी आदि की भाँति अचेतन है यह सिद्ध है। गुणों का उपद्रष्टा पुरुष तो द्रष्टा बुद्धि के सान्निध्य से बुद्धि की वृत्ति के प्रतिबिम्ब मात्र से गुणद्रष्टा होता है—गुणाकार परिणाम से गुणों का उपद्रष्टा नहीं होता, जैसे कि बुद्धि, अतः पुरुष त्रिगुण नहीं है इसी से चेतन है यह शेष है। उपसंहार करते हैं—अत इति-अतः वैधर्म्यत्रय से पुरुष बुद्धि-सरूप नहीं है। इतने से ही शुद्ध है इसकी व्याख्या हो गई।

शंका—सर्व अभिमान की निवृत्ति के लिये सामान्य से ही दृग् और दृश्य के विवेक का प्रतिपादन करना चाहिये, तो वह क्या बुद्धि और पुरुष के वैषम्य का प्रतिपादन किया जाता है?

समाधान—नहीं, बुद्धि ही पुरुष की साक्षात् दृश्या है। क्योंकि अन्यों को बुद्ध्यारूढ होने से ही दृश्यता है। उसी में (बुद्धि ही में) साक्षात् अभिमान होता है और उस बुद्धि के सम्बन्ध से दूसरे विषयों में अभिमान होता है। मृत शरीर में—सुषुप्त्यवस्थ-प्राण में चैतन्य का अभाव स्पष्ट देखने में आता है। एक इन्द्रिय का व्याघात हो जाने पर भी, चेतनता की उपलब्धि होती है, अतः इन्द्रिय भी चेतन नहीं है यह बात स्पष्ट ही है। अतः बुद्धि के विवेक से ही सब अभिमान की निवृत्ति होती है—इस अभिप्राय से पुरुष में बुद्धि का वैधर्म्य ही प्रायः प्रतिपादन करते हैं। एक बात यह भी है कि बुद्धि से व्यतिरिक्तों से तो पुरुष का

विवेक (पृथक्त्व) न्याय और वैशेषिक ने सिद्ध कर ही दिया है, बुद्धि से विवेक ही सांख्य और योग का असाधारण कृत्य है। अत्यन्त वैरूप्य का निराकरण करने के लिये सन्देह उठाते हैं—अस्तु तर्हि—अच्छा तो विरूप ही सही। समाधान—ना अत्यन्त विरूप—क्योंकि पुरुष प्रत्ययानुपश्य है। इसी की व्याख्या करते हैं—क्योंकि वह बौद्ध प्रत्ययों (बुद्धि में उत्पन्न हुए ज्ञानों को) को बुद्धि के पीछे से देखता है (बुद्धिकी वृत्ति को देखता है यह अर्थ है)।

शंका—बुद्धि का द्रष्टा होने पर भी अत्यन्त वैरूप्य क्यों नहीं है ?

समाधान—तमनुपश्यतीति—क्योंकि उस बुद्धि के वृत्ति-प्रत्यय को देखता हुआ पुरुष बुद्धयात्मक न होता हुआ भी—परमार्थ से बुद्धि के असमानरूप भी बुद्धि सरूप जैसा प्रतीत होता है—जपा पुष्प रूप स्फटिक के समान बुद्धि का अनुकारी हो जाता है। अर्थ—ग्रहण रूप से बुद्धि स्थल में पुरुष की अर्थाकारता ही सिद्ध होती है। प्रतिविम्ब रूप से और मिथ्या सारूप्य से पारमार्थिक असारूप्य का विरोध नहीं है। यथोक्त सारूप्य और वैरूप्य के विषय में पञ्चशिखाचार्य के वाक्य को प्रमाण में उपस्थित करते हैं—तथा चोक्तमिति—

भोक्तृशक्ति बुद्धि के समान परिणामिनी नहीं है, तथा बुद्धिवत् स्वविषय में संक्रान्त उपरक्त भी होती है, क्योंकि विकार के हेतु के साथ संयोग ही उपराग है। अत बुद्धि के विकार प्रतिविम्ब से ही इसकी सिद्धि हो जाती है—पुरुष के विकार की कल्पना करना व्यर्थ है। इन दो विशेषणों (शुद्ध व प्रत्ययानुपश्य) से पुरुष का बुद्धि से वैरूप्य दर्शाया है। अब बुद्धि से पुरुष का सारूप्य दिखलाने के लिये पहिले बुद्धि की चिद्रूपता का उपपादन करते हैं—

परिणामिन्यर्थ इति—परिणामी अपना स्वार्थ विषय जो बुद्धि है उसमें प्रतिविम्ब रूप से संक्रान्तु की भांति उपरक्त जैसी होती हुई। चिति शक्ति—तद्वृत्ति—बुद्धि की विषयाकार वृत्ति की अनुयायी है—बुद्धि का चेतन जैसी बना देती है—जैसे कि सूर्य जल में पड़ कर जल को सूर्यवत् कर देता है। इससे बुद्धि के रूप को दिखलाकर—पुरुष के बुद्धि सारूप्य को दर्शाते हैं—

स्याद्धेति—हि शब्द अवधारण वाचक है—उस भोक्तृशक्ति की भी ज्ञान वृत्ति—ज्ञानरूपा वृत्ति बुद्धि वृत्ति से अविशिष्ट ही-अभिन्न ही कही जाती है—इसमें हेतु है—प्राप्तेति-उपग्रह-उपराग है—उक्त रीति से प्राप्त चैतन्य उपराग के सदृश बुद्धि की वृत्ति के अनुकरण करने वाली—प्रतिविम्बोद्ग्राहिणी—तन्मात्रतया यह ज्ञान वृत्ति का विशेषण है तथा च परस्पर के प्रतिविम्ब से दोनों का ही चेतनत्व सुखादिपरिणामकत्व रूप सारूप्य कहा जाता है।

इस सूत्र ने जीव और ईश्वर को साधारणता से ही चिन्मात्र कहा है। तथा च श्रुति और स्मृति हैं—"चेतामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः"

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय नेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद् विद्यते परम्॥

चेतामात्र-प्रतिपुरुष-क्षेत्रज्ञ ।

ज्ञान ही परं ब्रह्म है, ज्ञान ही बन्ध के लिये है, यह सब ज्ञानात्मक है, ज्ञान से परे कुछ नहीं है । जो वैशेषिक आदि आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते हैं वे श्रुति और स्मृति का विरोध होने से उपेक्षणीय हैं (मानने योग्य नहीं हैं) । किं च लाघव से प्रत्येक पुरुष एक-एक व्यक्ति ज्ञानमात्र नित्य है यह सिद्ध हो जाने पर उस ज्ञान का आश्रय माननेरूप गौरव की कल्पना नहीं करनी चाहिये । "जानामि" इस प्रतीति की संयोग सम्बन्ध से ही उपपत्ति हो जाती है । जैसे कि इन्धन तेजस्वी है—यह प्रत्यय संयोग संबन्ध से प्रमा ज्ञान है, ऐसे ही बुद्धि में ज्ञान नामक द्रव्य के संयोग सम्बन्ध से ज्ञानवत्व प्रत्यय प्रमा ही है । लोगों के अहं (मैं) प्रत्यय में बुद्धि भी भासती है । अनादि मिथ्या ज्ञान की वासना नामक दोष के प्रतिबन्धकता में कोई प्रमाण नहीं है, अतः अहं जानामि यह अविद्वानों का प्रत्यय अहं अंश में भ्रम है और ज्ञानवत्व अंश में प्रमा है यह बात हम दोनों को समान ही है । विद्वानों को तो जानामि यह प्रत्यय प्रसिद्ध ही है । परमेश्वर की सर्वज्ञता का व्यवहार लोकव्यवहार की दृष्टि से होता है, अधिक तो सांख्य के भाष्य आदि में कहा है इति दिक् ॥ २० ॥

संगति—इस दृश्य का प्रयोजन पुरुष के लिये है यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥२१॥

शब्दार्थ—तद्-अर्थः-एव = उस (द्रष्टा पुरुष) के लिये ही । दृश्यस्य-आत्मा = दृश्य का स्वरूप है ।

अन्वयार्थ—उस पुरुष के लिये ही (यह सारा) दृश्य का स्वरूप है ।

व्याख्या—ऊपर कहे हुए लक्षणानुसार दृश्य का जो स्वरूप है वह पुरुष के प्रयोजन के हेतु है, क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा न करके केवल पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये प्रवृत्त होती है । इसी को निम्न कारिका स्पष्ट करती है:—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत् से लेकर विशेषभूतों तक का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये स्वार्थ की नाईं परार्थ है ।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

अर्थ—बछड़े की वृद्धि के निमित्त जिस प्रकार अचेतन दूध की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है ।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

अर्थ—नाना प्रकार के उपायों से यह उपकारिणी गुणवती (सत्त्व, रजस् तमस् गुण वाली) प्रकृति उन अनुपकारी गुणरहित (गुणातीत) पुरुष के अर्थ निस्वार्थ काम करती है (जिस प्रकार परोपकारी सज्जन सब का भला करता है और अपना कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता) ।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥सूत्र २१॥ दृशिरूप पुरुष के कर्म और फल के भोगार्थ दृश्य है । उसकी प्रयोजन सिद्धि के लिये ही दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है, यह अर्थ है । जड़ होने के कारण दृश्य का स्वरूप (पर) चेतन रूप से ही लब्ध होता है । इसलिये जिन पुरुषों का भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो गया है उनसे नहीं देखी जाती । अब प्रश्न होता है क्या स्वरूप के हान से इस दृश्य का नाश हो जाता है ?

उत्तर—नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भोजवृत्ति भापार्थ ॥ सूत्र २१ ॥

पूर्वोक्त लक्षण अनुसार जो दृश्य का स्वरूप है वह उस पुरुष के भोक्तृत्व प्रयोजन सम्पादनार्थ है, क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा से प्रवृत्त नहीं होती, किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व सम्पादन के लिये प्रवृत्त होती है ॥ २१ ॥

विज्ञान भिक्षु के वार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

बुद्धि से अतिरिक्त द्रष्टा के विषय में सूत्रकार प्रमाण कहते हैं—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥

उस पुरुष के अर्थ है, प्रयोजन हैं भोग और अपवर्ग, भोग और अपवर्ग ही हैं प्रयोजन जिसके वह पुरुष है । यह मध्यम पद लोपी समास है—भोग और अपवर्ग-प्रयोजन वाला ही दृश्य का स्वरूप है—कार्य और कारण रूप तीनों गुण स्वार्थ नहीं हैं। इसमें अनुमा·· का यह प्रयोग है—

गुण परार्थ हैं—संहत्यकारी होने से, शय्यादि की भाँति । इस अनुमान से—बुद्धि से अतिरिक्त पुरुष नामक पर की सिद्धि होती है । इस अनुमान की व्याख्या पूर्व सूत्र में कर चुके हैं । तदर्थ ही दृश्य है इतना कहने से ही निर्वाह हो जाता । धातु का अर्थ जो दर्शन है उसमें अव्यय का भ्रम न हो इसके लिये आत्म पद का प्रयोग किया है । तदर्थत्व में युक्ति कहते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं—

दृशिरूपस्येति—क्योंकि दृशिरूप पुरुष का जो कर्म के सदृश कर्म-दर्शन, उस दर्शन की विषयता को प्राप्त हुई वस्तु दृश्य होती है और दर्शन सब वस्तुओं का प्रयोजन है यह बात सर्वसम्मत है उसी के लिये गुणों का स्वरूप है । जो वस्तु पर प्रयोजन के लिये हुआ करती है, वह पर प्रयोजन के बिना एक क्षण भी नहीं ठहर सकती, नित्य या अनित्य प्रयोजन के बिना किसी भी पदार्थ वस्तु की स्थिति न दीखने से वह पुरषार्थ की सिद्धि का कारण है यह बात सिद्ध होती है । इस सूत्र से यह सिद्ध है कि दृश्य की सत्ता पर-चैतन्य के आधीन है ॥ २० ॥

संगति—क्या एक पुरुष के प्रयोजन को साधकर यह दृश्य नष्ट हो जाता है ? नहीं, क्योंकि—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—कृतार्थं-प्रति-नष्टं-अपि = जिसका प्रयोजन सिद्ध होगया है उसके लिये नष्ट हुआ भी। अनष्टम् = (वह दृश्य) नष्ट नहीं होता । तद्-अन्य-साधारणत्वात् = क्योंकि वह (दृश्य) दूसरों की सांझे की वस्तु है।

अन्वयार्थ—जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है क्योंकि यह दूसरे पुरुषों के साथ सांझे की वस्तु है।

व्याख्या—इस सारे दृश्य की रचना समस्त पुरुषों के भोग-अपवर्ग के लिये है, न कि किसी विशेष के लिये। इसीलिये जिसका यह प्रयोजन सिद्ध होगया है उसके लिये यद्यपि इस दृश्य का कार्य समाप्त और नाश के तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता। क्योंकि एक पुरुष के मुक्त हो जाने से सब मुक्त नहीं हो जाते । यह दूसरों के इसी प्रयोजन को साधने में लगा रहता है।

पुरुष शब्द के अर्थ यहां चित्त-प्रतिबिम्बित-चिति शक्ति (चेतन तत्त्व) अर्थात् जीवात्मा के हैं। चित्त को बनाने वाले गुणों का जीवात्मा के प्रयोजन भोग और अपवर्ग को सम्पादन करने के पश्चात् अपने कारण में लीन हो जाना ही जीवात्मा की मुक्ति (कैवल्य) कही जाती है। चित्त, पुरुष का दृश्य रूप है। वही वृत्ति रूप से अन्य सब दृश्यों को पुरुष को बोध कराने का साधन है। एक चित्त के नष्ट होने से उससे दृश्यमान सारा जगत् भी उसके प्रति नष्ट होने के तुल्य है। किन्तु अनन्त जीवों के चित्त जिन्होंने (जीवों के) उनके प्रति भोग और अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है अपने विषय सारे दृश्यमान जगत् सहित वर्तमान रहते हैं।

टिप्पणी:—व्यासभाष्य का भाषा अनुवाद ॥ सूत्र २२ ॥ कृतार्थ हुए एक पुरुष के प्रति यह दृश्य नष्ट अर्थात् नाश को प्राप्त हुआ भी अन्य पुरुषों के सांझे की वस्तु होने से नाश को प्राप्त नहीं होता। कुशल पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त हुआ भी यह दृश्य अन्य अकुशल पुरुषों के प्रति कृत प्रयोजन नहीं हुआ है। इसलिये उन पुरुषों की विषयता को प्राप्त हुआ यह दृश्य चेतनरूप आत्मा के द्वारा निज रूप से लब्ध सत्ता वाला ही होता है। अभाव को प्राप्त नहीं होता है। इस कारण (द्रष्टा) पुरुष और (दर्शनशक्ति) प्रकृति के नित्य विद्यमान होने से इन दोनों का संयोग अनादि कहा गया है। ऐसा ही पंचशिखाचार्य ने कहा है—

धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादि-संयोगः ।

अर्थात् (धर्मी) गुणों के संयोग के अनादि होने से धर्मभूत महत्तत्वादि का संयोग भी अनादि है।

भोजवृत्ति भावार्थ सूत्र २२—यद्यपि विवेकख्याति पर्यन्त भोग सम्पादन करना धर्म होने से भी यह दृश्य कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट होजाता है अर्थात् व्यापार त्याग देता है। तथापि सब पुरुषों के साधारण अर्थात् सांझे की वस्तु होने से अन्य के प्रति अनष्ट व्यापार

रूप से रहता है अतः सम्पूर्ण भोक्ताओं के साधारण होने से प्रकृति की कृतप्रयोजनता नहीं होती न कभी उस का नाश होता है। एक के मुक्त होने से सब मुक्त नहीं होजाते, ऐसा शास्त्र का भी सिद्धान्त है।

संगतिः—दृश्य का स्वरूप दिखला कर अब हेय का हेतु जो दृश्य और द्रष्टा संयोग है उसका वर्णन करते हैं।

स्व-स्वामि-शक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

शब्दार्थः—स्व-स्वामि-शक्त्योः = स्व शक्ति और स्वामी शक्ति संज्ञक (बुद्धि पुरुष के) स्वरूप—उपलब्धि—हेतुः = स्वरूप की उपलब्धि का जो कारण है। संयोग—वह (दृश्य द्रष्टा का स्व स्वामि-भाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामि-शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि (दृश्य द्रष्टा के स्व-स्वामि-भाव) संयोग के वियोग का कारण है।

अन्वयार्थ—स्व शक्ति और स्वामी शक्ति संज्ञक स्वरूप की उपलब्धि का जो कारण है वह (दृश्य द्रष्टा का स्व स्वामी भाव) संयोग है। अर्थात् स्व शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि (दृश्य द्रष्टा के स्व स्वामि भाव) संयोग के वियोग का कारण है।

व्याख्या—चित्त और यह सारा जड़ दृश्य स्व (मिल्कियत) है। चेतन पुरुष इसका स्वामी है। शक्ति शब्द का अर्थ स्वभाव वा स्वरूप है, दृश्य ज्ञेय है और द्रष्टा ज्ञाता है। दृश्य और द्रष्टा दोनों नित्य और व्यापक हैं, उनका स्वरूप से भिन्न कोई संयोग नहीं हो सकता। जो दृश्य में भोग्यत्व और द्रष्टा में भोक्तृत्व है वह अनादि काल से है। इस दृश्य के भोग्यत्व और द्रष्टा के भोक्तृत्व भाव को ही संयोग नाम दिया गया है। यह संयोग अनादि काल से चला आ रहा है। इसी के हटाने के हेतु स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है। अर्थात् स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि दृश्य द्रष्टा के स्व स्वामिभाव संयोग के वियोग का कारण है। वह दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि अर्थात् दृश्य स्वरूप का विवेकपूर्ण साक्षात् करना भोग है और द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि अर्थात् पुरुष-दर्शन या स्वरूप स्थिति अपवर्ग है।

गीता में द्रष्टा को क्षेत्रज्ञ और दृश्य को क्षेत्र तथा सांख्य कारिका में दृश्य रूप जड़ प्रकृति को अन्धे और द्रष्टा रूप निष्क्रिय पुरुष को लंगड़े की उपमा देकर इनके परस्पर के संयोग को दिखलाया है।

यथाः—

"यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावर-जङ्गमम्।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ गीता १३।२६॥

अर्थः—हे अर्जुन यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उस सम्पूर्ण को तु क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान अर्थात् प्रकृति और पुरुष के परस्पर के सम्बन्ध से ही सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥२१॥(सांख्यकारिका)

अर्थ—पुरुष का दर्शन के लिये और प्रधान का मोक्ष के लिये दोनों का ही लँगड़े और अन्धे की तरह संयोग है। उससे की हुई (बनी हुई) सृष्टि है।

यह द्रष्टा-दृश्य का संयोग जैसे अनादि है वैसे अनन्त नहीं है। पुरुष दर्शन-पर्यन्त रहता है। पुरुष-दर्शन में इसका अभाव हो जाता है। इसलिये पुरुष-दर्शन वियोग का कारण है। दर्शन, अदर्शन (स्वरूप-स्थिति का प्राप्त न होना अर्थात् अविवेक और आसक्ति के साथ चित्तवृत्तियों का देखना) का विरोधी है। अतः जैसे दर्शन वियोग का निमित्त कारण है वैसे ही अदर्शन संयोग का निमित्त कारण है। अदर्शन का अभाव ही संयोगरूपी बन्धन का अभाव है, यही अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। दर्शन के होने पर बन्धन के कारण अदर्शन का नाश हो जाता है।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र २३। संयोग के स्वरूप को प्रकाशित करने की इच्छासे इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। पुरुष जो स्वामी है वह अपने दृश्य के साथ दर्शनार्थ संयुक्त है। इस संयोग द्वारा दृश्य के स्वरूप की जो उपलब्धि है वह भोग और जो द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि है वह अपवर्ग है। दर्शन कार्य्य (विवेकख्याति) पर्य्यन्त संयोग है। इसलिए दर्शन को वियोग का कारण कहा है। दर्शन अदर्शन का विरोधी है। इसलिये अदर्शन संयोग का निमित्त कारण कहा गया है। अर्थात् जैसे दर्शन (विवेकख्याति) वियोग का कारण है वैसे ही अदर्शन (अविवेक) संयोग का कारण है। यहां दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है (किन्तु) अदर्शन के अभाव से ही जो बन्ध का अभाव होता है वह मोक्ष है। दर्शन के होने पर बन्ध के कारण अदर्शन का नाश हो जाता है। इस लिये दर्शन अर्थात् (विवेकख्याति) ज्ञान को कैवल्य का कारण कहा गया है।

(उपरोक्त कथन का अभिप्राय यह है कि दर्शन अर्थात ज्ञान = विवेकख्याति अदर्शन अर्थात् अज्ञान = अविवेक का विरोधी होने से दर्शन अदर्शन का ही नाश करता है बन्ध का नहीं इसलिए दर्शन साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु अदर्शन निवृत्ति पूर्वक बन्ध निवृत्ति द्वारा परम्परा से मोक्ष का कारण है। अर्थात् अदर्शन के अभाव से जो बन्ध का अभाव होता है यहाँ उसी को मोक्ष कहा है और दर्शन के होने से ही बन्ध के कारण अदर्शन का अभाव होता है, इस लिये इस अभिप्राय से ही दर्शन कैवल्य का कारण कहा जाता है। कैवल्य साक्षात् ज्ञान जन्य नहीं है।)

अब यहाँ पर प्रसंग से यह विचार किया जाता है कि जिस अदर्शन अविद्या, अज्ञान का दर्शन विवेकख्याति = ज्ञान से अभाव होता है वह अदर्शन किस स्वरूप वाला है अर्थात् अदर्शन किस का नाम है।

१—क्या गुणों में जो कार्य्यों के आरम्भ का सामर्थ्य है उसका नाम अदर्शन है ?

२—वा दृशिरूप स्वामी के भोग अपवर्ग रूप अर्थ जिस चित्त ने सम्पादन कर दिया

है ऐसे चित्त का अनुत्पाद (फिर उदय न होना) अर्थात् आत्म दर्शन का अभाव अदर्शन है ?

३—वा गुणों की अर्थवत्ता (चित्त मे भोग अपवर्ग रूप अर्थ की सूक्ष्म अवस्था से विद्यमानता) अदर्शन है ?

४—अथवा चित्त की उत्पत्ति का बीजभूत और प्रलय काल मे चित्त के सहित ही प्रकृति मे लीन जो विपर्यय ज्ञान वासना है वह अदर्शन है ? (यही पक्ष सिद्धान्त होगा)

५—अथवा प्रधान सम्बन्धी स्थिति-संस्कार के क्षय होने पर गति-संस्कार की अभिव्यक्ति अदर्शन है ? अर्थात् प्रधान में दो प्रकार का संस्कार रहता है। एक स्थिति संस्कार जो प्रलय-कालीन साम्य अवस्था का कारण है और एक गति संस्कार जो महत्तत्वादि विकारों का आरम्भ है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्य्य ने कहा है।

"प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्।
तथा गत्यैव वर्तमानं विकारानित्यत्वादप्रधानं स्यात्।
उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते
नान्यथा, कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः"।

अर्थात् "प्रधान यदि स्थिति (गुणों की साम्य अवस्था = कारण अव्यक्त रूप) से वर्ते तो विकार के न करने से अप्रधान है और यदि गति (गुणो की विषम अवस्था = कार्य्य = व्यक्तरूप) से ही वर्ते तो विकार के नित्य होने से अप्रधान है। दोनो तरह इस की प्रवृत्ति प्रधान नाम पाती है, अन्यथा नहीं, जो और (आदि) कारण (माया अविद्या, परमाणु) कल्पना किये गए हैं उनके विषय मे भी यही समान विचार है" एव गति संस्कार के होने से जो महदादिकार्य्य का आरम्भ है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

६—और कोई यह कहते हैं कि "प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्ति" अर्थात् प्रधान की प्रवृत्ति अपने स्वरूप ख्यापन (बोधन) के अर्थ है ? इस श्रुति से दर्शन शक्ति ही अदर्शन पद का वाच्य है। अर्थात् यद्यपि पुरुष सारे पदार्थों के ज्ञान मे समर्थ है। तथापि प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष उनको देख नहीं सकता, सारे कार्य्य करने मे समर्थ दृश्य भी उस समय उसे दिखलाई नहीं देता अर्थात् अनुभव का विषय नहीं होता है। अत प्रधान की प्रवृत्ति से जो पुरुष का दर्शन सामर्थ्य है अर्थात् प्रधान मे जो अनुभव कराने की शक्ति है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

(७) कोई यह कहते हैं कि प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों मे जो परस्पर दर्शन शक्ति है वह अदर्शन है। यद्यपि दृश्य जड़ है और पुरुष असंग निर्धर्मक है इसलिये दोनो का ही धर्म दर्शन नहीं हो सकता तथापि चेतन के प्रतिबिम्ब से दृश्य को चेतन तुल्य होने से उस चेतन के प्रतिबिम्ब की अपेक्षा से दृश्य का धर्म दर्शन और बुद्धिरूप दृश्य की अपेक्षा से पुरुष का धर्म दर्शन जानना। अर्थात् बुद्धि और चेतन का परस्पर अविवेक होने से दोनों का ही जो दर्शन धर्म है वह अदर्शन है।

(८) और कोई यह कहते हैं कि शब्दादि विषयों का जो ज्ञान है वही अदर्शन है।

इस प्रकार अदर्शन (अविद्या) के स्वरूप निरूपण में आठ प्रकार के सांख्यशास्त्र ने विकल्प किए हैं परन्तु यह सब विकल्प सब पुरुषों के सङ्ग प्रकृति संयोग कारण होने से साधारण हैं। अर्थात् यह सब पूर्वोक्त अदर्शन (अविद्या) का लक्षण उसी में रह सकता है जो कि प्रकृति पुरुष के संयोग द्वारा सारे प्रपञ्च का हेतु है। और जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के संग बुद्धि संयोग द्वारा सुख दुःख भोग के वैचित्र्य (विचित्रता) में हेतु है (संख्या ४) । इसका यह लक्षण नहीं अतः यह लक्षण असाधारण है। (अर्थात् संयोग दो प्रकार का है एक सारे संसार का कारण और एक प्रत्येक पुरुष के सुख दुःख बन्ध मोक्ष का कारण। यहां प्रथम साधारण संयोग का हेतु जो अदर्शन है उसी के यह सब पूर्वोक्त लक्षण हैं। द्वितीय असाधारण संयोग (संख्या ४) के हेतुभूत अदर्शन के नहीं) प्रत्येक पुरुष के संग असाधारण बुद्धि संयोग का कारण जो अविद्या है उसको अगले सूत्र में बतलाते हैं।

भोजवृत्ति भाषार्थ सूत्र २३—कार्य्य (स्वरूपज्ञान) के द्वारा इस संयोग का लक्षण करते हैं। स्वशक्ति दृश्य का स्वभाव (स्वरूप) है स्वामि शक्ति द्रष्टा का स्वरूप (स्वभाव, है। इन दोनों (ज्ञेयज्ञातृरूप जानने योग्य और जानने वाला रूप) से वर्तमान का जो स्वरूप उपलब्धि है इसका जो कारण है वह संयोग कहलाता है। वह भोग्य भोक्तृ भाव स्वरूप से भिन्न और कुछ नहीं है। इन दोनों नित्य व्यापकों के स्वरूप से भिन्न संयोग और कोई वस्तु नहीं है। जो कि भोग्य (दृश्य) में भोग्यत्व और भोक्तृ (द्रष्टा) में भोक्तृत्व है वह अनादि काल से है और वही संयोग है।

इस संयोग का कारण बतलाते हैं।

व्यासभाष्य पर विज्ञानभिक्षु के वार्तिक का भाषानुवाद सूत्र २३

द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप कह दिया अब उनके संयोग के प्रदर्शक सूत्र को उठाते हैं—संयोगस्वरूपेति—द्रष्टा और दृश्य का सामान्य संयोग हेय (संसार) का हेतु नहीं है, क्योंकि सामान्य संयोग तो प्रलय और मोक्ष दोनों दशा में समान ही हैं, अतः संयोगगत विशेष का अवधारण करने के लिए यह सूत्र प्रवृत्त होता है—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः—भोग्यता के योग्य होने से स्व शक्ति दृश्य है और भोक्तृ योग्य होने से स्वामिशक्ति द्रष्टा है; इन दोनों के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु जो संयोगविशेष है वह ही द्रष्टृ दृश्य का संयोग, यहां हेय का हेतु कहा है। विभु के साथ द्रष्टा और दृश्य का *सामान्य संयोग* सदा ही रहता है अतः *वह हेय* का हेतु नहीं है, यह भाव है। वह संयोगविशेष—बुद्धिद्वारक-दृश्य बुद्धि सत्त्व उपाधि रूप है, जिसको कि सर्वधर्मा-इस भाष्य ने कहा है, अतः दृश्य वाली बुद्धि के साथ संयोग ही यहां संयोगविशेष है। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। इन्द्रियों और मन से युक्त आत्मा को विचारशील भोक्ता कहते हैं। इस प्रकार की श्रुति आदि से लिङ्ग देह और आत्मा के संयोग से ही विषय का दर्शन जान पड़ता है, इस से भोक्ता और भोग्य की योग्यता ही द्रष्टा और

दृश्य का अनादिसम्बन्ध संयोग है। ऐसा मानने पर पुरुष में परिणामिता आजावेगी। ऐसा जो किसी का कथन है, वह (कथन) सूत्र के स्वरस (अभिप्राय) से ही त्याज्य है। क्योंकि ऐसा होने पर स्वस्वामिभाव संयोग इसप्रकार का सूत्र होना ही उचित है। सामान्य संयोग एक व्यक्ति अनादि होने पर तो आगामी दो सूत्रों से उत्पत्ति और विनाशवचन संगत न हो सकेंगे ? चेतन और अचेतन के अतिरिक्त, प्रतिनियत योग्य-ज्ञान के अवच्छेदक का निरूपण नहीं किया है। वे दोनों (चेतन अचेतन) मोक्षकाल में सामान्य होने से हेय के हेतु नहीं है। यदि स्वभुक्त वृत्तियों की वासनावाली प्रवाहरूप से वासनाओं की जो अनादिता है, वही संयोग है—ऐसा कहें; तो भी इस प्रकार के संयोग को जो वक्ष्यमाण भाष्य में अविद्या की वासना से जन्य कहा है, वह न घट सकेगा ? ऐसे संयोग त्याग का अनौचित्य भी न बनेगा और जो यह कहा है कि संयोग से पुरुष परिणामी हो जायेगा, वह कथन परिणाम लक्षण के अज्ञान से किया गया है, क्योंकि संयोग और विभाग मात्र से आकाश आदि में परिणाम का व्यवहार नहीं होता, अतः सामान्य गुण के अतिरिक्त धर्म की उत्पत्ति ही परिणाम है—यह बात कही है। अन्यथा प्रतिसर्ग मे प्रकृति और पुरुष का संयोग और विभाग जो श्रुति और स्मृतियों में कहे हैं उनसे विरोध होगा, प्रतिसर्ग मे योग्यता के उत्पाद और विनाश भी न घटेंगे, क्योंकि इससे पुरुष मे परिणामित्व दोष होगा; श्रुति प्रतिपादित संयोग और विभाग का ही उत्पादादि क्रम उचित है। सूत्रार्थ का विवरण करते हैं—पुरुष इत्यादि से लेकर सोपवर्ग इस तक (पुरुष स्वामी अपने दृश्य के साथ दर्शन के लिए संयुक्त होता है, वस संयुक्त दृश्य की उपलब्धि भोग है और द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि अपवर्ग है), सूत्र में स्वरूप पद का प्रयोग, विवेकख्यातिपर्यन्त दर्शन सामान्य की संयोगजन्यता के प्रतिपादन के लिए है, अब "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" 'तस्यहेतुरविद्या', इन आगामी दोनों सूत्रों का अर्थ इसी सूत्र ने उत्पन्न कर दिया है, अतः इस क्रम से प्रतिपादन करते हैं—दर्शना-कार्येत्यादी-से कृतकृत्य का प्रयोजन नहीं रहता, अतः उसकी अवस्थिति असम्भव है—अतः दर्शन कार्य का अवसान अन्त होने तक ही संयोग है। अतः दर्शन-द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धिवियोग का कारण अर्थात् इस सूत्र से कहने के लिए उपपादित है। तथा दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्दी है—विरोधी है अतः अदर्शन संयोग का हेतु है, यह भी अर्थात् कह दिया—सिद्ध कर दिया। दर्शन और अदर्शन के विरोधी से विरुद्ध ही वियोग और संयोग के दोनों कार्य भोग और अपवर्ग उचित ही हैं।

शंका—अदर्शन संयोग का कारण है, तो अदर्शन के अभाव से ही संयोग की निवृत्ति रूप मोक्ष हो जायेगा, तब दर्शन को मोक्ष का हेतु किस प्रकार कहा है ?

समाधान—यहां दर्शन मोक्ष का कारण है—हमारे शास्त्र में दर्शन-तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि इसमें गौरव है, निरोध आदि का व्यवधान होने से मोक्ष के अव्यवहित पूर्व काल में नियम से ज्ञान की विद्यमानता असम्भव है, किन्तु वक्ष्यमाण रूप अदर्शन के अभाव से ही द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव होता है और वही मोक्ष है। इससे अनिमित्ततया मोक्ष स्वाभाविक रूप से नित्य है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

शंका—'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय'—इस अग्रिम सूत्र से विरोध है—दर्शन वियोग का कारण है, इस अपने कथन से भी विरोध है ?

समाधान—दर्शनस्य भाव इति.(दर्शन के होने पर बन्ध के कारण अदर्शन का नाश होता है, अत : दर्शन ज्ञान कैवल्य का कारण कहा है), तथा च तत्त्वज्ञान मोक्ष में प्रयोजक मात्र है, उत्तर सूत्र से असाधारण संयोग के हेतु अदर्शन का निश्चय करने के लिए उक्त अदर्शन में विकल्प करके पूछते हैं—कि चेदमिति—संयोग का कारण जो अदर्शन कहा है यह क्या है ? नाम पद वाक्य की शोभार्थक है, यद्यपि संयोग दर्शन का कारण है, ऐसा सूत्र होने से—दर्शन का अनुत्पाद ही संयोग का हेतु है ? यह बात उपस्थित होती है, अन्य संयोग का हेतु नहीं है ? तो भी उस दर्शन के अनुत्पाद के साथ समनियत होने से अन्यों को भी संशय कोटि में समझना चाहिए।

१ उनमें से प्रथम विकल्प है—क्या सत्त्वादि गुणों का अधिकार - कार्य आरम्भ का सामर्थ्य—अदर्शन है ? ज्ञानरूप अग्नि से अदग्ध कार्य विशेष की जनन शक्ति जिसका कि अर्थ उससे भी संसार का हेतु संयोगविशेष उत्पन्न होता है। द्वितीय विकल्प को छोड़ कर सब विकल्पों में बन्ध के कारण सत्त्वादि गुणों का योग होने से अदर्शन शब्द गौण है,

२ द्वितीय विकल्प को कहते हैं—आहोस्विदिति—(दृशिरूप स्वामी के दर्शित विषय प्रधान चित्त का अनुत्पाद अदर्शन है अदर्शन—इसमें दर्शन शब्द का कारण साधनत्व (दृश्यते अनेन) प्रतिपादन करने के लिए "दृशिरूपस्य स्वामिनः दर्शितविषयस्य" यह चित्त का विशेषण है, 'दृशिरूपाय—स्वामिने दर्शितो विषयो येन-तस्य-चित्तस्य-दृशिरूपस्वामि-के लिये दर्शित विषय चित्त का (अनुत्पाद) (तात्पर्य) दृशिरूप स्वामी के लिए दर्शित है विषय जिस चित्त से उस चित्त का अनुत्पाद अदर्शन है ? इस कहे हुए का (भाष्यकार) विवरण करते हैं—स्वस्मिन्निति—अपने चित्त में पुरुषार्थरूप से जो दृश्य है शब्दादि वृत्ति रूप है। उसमें सत्य पुरुष-की अन्यथा-वृत्ति के होजाने पर—जो दर्शन का अभाव चित्त वृत्ति का अभाव है (क्या यह अदर्शन है) मोक्षकालीन दर्शन के अभाव की व्यावृत्ति के लिए—सति सक के शब्दों का प्रयोग है। संयोग का अहेतु होने से इस प्रकार का अदर्शन भी विचारणीय नहीं है, चित्त में पुरुषार्थ की सत्ता होने पर ही अदर्शन संयोग का हेतु होता है। यह भाव है। ३ व्यर्थ होने से द्वितीय विकल्प के विशेष्य भाग के परित्याग मात्र से तृतीय विकल्प को कहते हैं—किमर्थवत्तेति-सत्कार्य की सिद्धि से भावि भोग और अपवर्ग नामक जो अव्यपदेश्य हैं उनका अपने कारण गुणों में अवस्थान अदर्शन है। ४ चतुर्थ विकल्प को कहते हैं—अथाविद्येति-पांच पर्व वाली अविद्या प्रलय काल में अपने चित्त के साथ गुणों में लीन हुई वासनारूप से (रहती है) उनके आश्रय चित्त की उत्पत्ति का बीज (अदर्शन है) तथा च—अविद्या की वासना ही अदर्शन है। यह ही पक्ष सिद्धान्त होगा।

५ पंचम विकल्प को कहते हैं—स्थिति इति—प्रधाननिष्ठ असाम्य परिणाम के हेतु स्थितिसंस्कार के क्षय हो जाने पर, गतिसंस्कार जो कि महदादि रूप विसदृश परिणाम का हेतु है उसकी अभिव्यक्ति अदर्शन है। उस गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति से ही प्रकृति में

क्षोभ के द्वारा पुरुष और प्रकृति संयोग उत्पन्न होता है उन दोनों संस्कारों के सद्भाव में मतान्तर का प्रमाण देते हैं—यत्रेदमुक्तम्-स्थित्यै और गत्यै यह तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति है एव कार का दोनों के पीछे अध्याहार करना चाहिए स्थित्येन—ऐसा पाठ हो तो विशेषण में तृतीया विभक्ति समझनी चाहिए। तथा च प्रधान यदि स्थितिमात्र से ही बर्ते तो विकार का जनक न होने से प्रधान ही न रहेगा क्योंकि मूलकारणत्व ही प्रधानत्व है, और यदि गति मात्र से ही बर्तें तब महद् आदि भी प्रकृति के समान नित्य हो जायेंगे, तब कौन किस का मूल है—यह व्यवहार के योग्य है। कार्य होने से महदादि में प्रधान व्यवहार नहीं होता। केवल मूल कारण में ही स्थिति और गति का कालभेद से निर्णायक विचार नहीं है, किन्तु कल्पित विकाररूप कारण के भेदों में भी महदादि में चर्चा—विचार समान हैं—इस बात को प्रसंग से भी निर्धारण करते हैं—नास्तिकों के अनुर्वद्रूपतावाद का निराकरण करने के लिये—कारणान्तरेष्वपीति—यह चर्चा—यथा मृत्तिका आदि यदि स्थिति से ही या निवृत्ति से ही वर्तें तो—कभी भी घट के उत्पन्न न करने से उसके कारणत्व की हानि होगी यदि गति से ही (प्रवृत्ति से ही) वर्तें तब भी मिट्टी और घट एक काल में होने से कार्य कारण की व्यवस्था न हो सकेगी। अतः विकाररूप कारण भी स्थिति और गति दोनों वाला—(कारण नहीं होता)

६ षष्ठ विकल्प को कहते हैं—दर्शनशक्तिरेवेति—पुरुष के लिए अपने को दिखलाने की जो क्षमता है वह दर्शन शक्ति है, वही अदर्शन है, और यह शक्ति विवेकख्याति के अनुत्पादरूपी संयोग का हेतु है—तथा सांख्यकारिका में कहा है—दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या-इति-पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः मैं देखी गई हूँ इस कारण प्रकृति उपरत हो जाती है, पुरुष के दर्शनार्थ और प्रधान के कैवल्यार्थ—लंगड़े और अन्धे के समान दोनों का ही संयोग होता है और उस संयोग से किया हुआ—बनाया हुआ यह सर्ग-सृष्टि है। तृतीय विकल्प में स्थित शब्द आदि वृत्ति के अनुत्पाद के त्याग से इस छठे विकल्प का भेद है। प्रधान की दर्शन शक्ति होने में श्रुति को प्रमाण देते हैं—प्रधानस्येति—कालगति से लुप्त शाखा की यह श्रुति है।

७ सप्तम विकल्प को कहते हैं—सर्वबोध्य इससे लेकर अवभासते इस तक से, सर्व बोध समर्थ भी पुरुष प्रधान की प्रवृत्ति से पहिले नहीं देखता, इससे एक अदर्शन पुरुषनिष्ठ है—और दूसरा सब कार्यों के उत्पादन में समर्थ स्वरूप योग्य भी दृश्य—प्रधानत्व प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष को दिखलाई नहीं देता, वह दृश्यनिष्ठ अदर्शन है—इस प्रकार दोनों प्रकृति और पुरुष का अदर्शन धर्म है। यह कोई कहते हैं—यह भी अदर्शन है यह वास्य-क्षेप है।

शंका—जड़ अदर्शनात्मक है उसका धर्म अदर्शन कैसे हो सकता है, क्योंकि अभाव अधिकरण रूप होता है—अव्यभिचार होने से लाघवतया एकत्व सिद्ध है—और दृशिरूप पुरुष का भी अदर्शनरूप कैसे घटता है। क्योंकि प्रकाशरूप का अप्रकाशरूप होना असम्भव है।

समाधान—उन दोनों अदर्शनों में से यह एक अदर्शन दृश्य स्वरूपभूत भी दृश्य

धर्मत्व से विशिष्ट होता है, इसमें हेतु है पुरुषप्रत्ययापेक्ष, दृश्य प्रत्यय की अपेक्षा करके—दृश्य गोचर प्रत्यय के अभाव से—यह अर्थ है।

८-अष्टम विकल्प को कहते हैं—दर्शनज्ञानमिति—ज्ञान—वासनारूप है वह भी दृश्य के संयोग का हेतु है—भोगापवर्गरूप—अनागतावस्थ दर्शन यहाँ नहीं कहा है। क्योंकि अर्थ-सत्ता से पुनरुक्त दोष हो जाता।

उपसंहार करते हैं—इत्यत इति—शास्त्रों में ये अज्ञान के भेद तान्त्रिकों—दर्शनकारों ने कहे हैं। संयोग के भेद से सब ही अदर्शनों की हेतुता को सिद्धान्त बनाते हुए ही संयोगविशेष के हेतु अदर्शन विषय परक उत्तर सूत्र को उतारते हैं। तत्र विकल्पेति—उस अदर्शन में विकल्प बहुत हैं—भेद बहुत हैं, ये पुरुष सामान्य और गुण सामान्य के पुरुषार्थ के हेतु के संयोग सामान्य के प्रति कारणता में हैं यह जानना चाहिए। जो प्रत्येक चेतन का तत-तत् चेतन का अपनी बुद्धि के साथ संयोग है वह हेय का हेतु है यह बात स्वस्वामि इत्यादि प्रकृत सूत्र ने कही है तस्य हेतुरविद्या—चतुर्थ विकल्प रूप अदर्शन ही—इस सूत्र के साथ अन्वय (मेल खाता) है। प्रत्येक चेतनस्य इस पाठ में स्व-स्व बुद्धि के अनुगमशील चेतन का—यह अर्थ है। भाव यह है—अविद्यानाश के बाद भी जीवन्मुक्त के भोगार्थ विषयरूप से परिणित गुणों के साथ संयोग उत्पन्न होता है—अतः अविद्या गुण और पुरुष के सामान्य संयोग का हेतु नहीं किन्तु यथोक्त गुणों का अधिकार ही संयोग का हेतु है। स्व बुद्धि के साथ संयोग तो जन्म जिसका दूसरा नाम है उस अविद्या के बिना नहीं होता है, अतः बुद्धि और गुणों के संयोग का असाधारण कारण अविद्या ही है—वही बुद्धि (अविद्या) संयोग के द्वारा द्रष्टा और दृश्य के संयोग का हेतु विद्या से उच्छेद्य—काटने योग्य है, इस आशय से यह ही उत्तर सूत्र ने सूचित किया है—गुणों के अधिकार आदि नहीं कहे, क्योंकि उनका ज्ञान से उच्छेद नहीं होता। एक पुरुष के मुक्त हो जाने पर भी दूसरे पुरुषों के लिए गुणों का अधिकार ज्यूं का त्यूं बना रहता है, जो पुरुष से काटा जा सकता है वही हेय का निदान—हेतु इस शास्त्र का प्रतिपादनीय विषय है, अन्यथा—काल, कर्म, ईश्वर आदि (जो कि सब कार्यों के प्रति सामान्य कारण हैं) वे भी यहाँ प्रतिपादन का विषय बन जायेंगे॥ २३॥

संगति—अगले सूत्र में अदर्शन-रूपी संयोग का कारण बताते हैं—

तस्य हेतुरविद्या॥ २४॥

शब्दार्थ—तस्य-हेतुः = इस अदर्शन-रूपी संयोग का कारण। अविद्या = अविद्या है।

अन्वयार्थ—इस अदर्शनरूपी संयोग का कारण अविद्या है।

व्याख्या—अदर्शन-रूपी संयोग का कारण अविद्या अर्थात् मिथ्या-ज्ञान है; जिससे आत्मा और चित्त में विवेक न होने से अभिन्नता प्रतीत होती है; और चित्त की सुख, दुःख, मोहरूपी वृत्तियों का पुरुष में अध्यारोप होता है।

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वे च तथाकर्तेव भवत्युदासीनः॥२०॥ —(सांख्यकारिका)

अर्थ—इस कारण उनके संयोग से (पुरुष और बुद्धि के अविद्या के कारण आसक्ति वा अविवेकपूर्ण संयोग से) अचेतन बुद्धि चेतन-सी और वैसे ही गुणों के कर्त्ता न होने पर भी उदासीन (पुरुष) कर्त्ता-जैसा प्रतीत होता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥ (गीता अ० ३)

अर्थ—वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं तो भी अहङ्कार से मोहित हुए अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं करता हूं' ऐसा मान लेता है अर्थात् अहं भाव पैदा कर लेता है।

टिप्पणीः—व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र २४ जो प्रत्येक चेतन (अन्तरात्मा) का स्व बुद्धि के साथ संयोग है उस असाधारण संयोग का हेतु अविद्या अर्थात् विपर्यय ज्ञान वासना है। अविद्या का अर्थ है अनादिविपर्ययज्ञानजन्य वासना वही असाधारण संयोग का हेतु है।) ।

विपर्यय ज्ञान की वासना से वासित जो बुद्धि है वह न तो कार्य्य में निष्ठा को प्राप्त होती है (अधिकार को समाप्त करती है) और न पुरुषख्याति को प्राप्त होती है। साधिकार होने से पुनरावृत्तिशील हो जाती है। किन्तु पुरुषख्याति पर्य्यवसान हुई बुद्धि अपने अन्तिम कार्य्यनिष्ठा को प्राप्त हो जाती है। वह समाप्त अधिकार हुई अज्ञान से रहित होकर बन्ध के कारण के अभाव हो जाने से पुनरावृत्तिरहित हो जाती है। यहां पर किसी नास्तिक ने एक नपुंसक के दृष्टान्त से उपरोक्त कथन का खण्डन उपहास के साथ किया है। एक अबोध स्त्री अपने नपुंसक पति से कहती है "आर्य्यपुत्र मेरी बहिन तो पुत्रवती है मैं क्यों नहीं हूं"? वह उस को उत्तर देता है "मैं मर कर तेरे लिये पुत्र उत्पन्न कर दूंगा" इसी प्रकार यह विद्यमान ज्ञान चित्तनिवृत्ति नहीं करता है तो फिर नष्ट होकर करेगा इसकी क्या आशा करनी चाहिये (अर्थात् जब विद्यमान विवेकख्याति चित्तनिवृत्ति रूप मोक्ष नहीं उत्पन्न कर सकती तो परवैराग्य द्वारा विनष्ट होकर मोक्ष उत्पन्न करेगी इसकी कम आशा हो सकती है) इसका उत्तर एक आचार्य्यदेशीय अर्थात् एक साधारण बुद्धि वाले आचार्य्य ने इस प्रकार दिया है कि चित्त के भोग अपवर्गरूप परिणामों की निवृत्ति का नाम मोक्ष है। और चित्त के भोग अपवर्गरूप परिणाम निवृत्ति अदर्शन के अभाव से होती है। वह अदर्शन बन्धका कारण है। उसकी निवृत्ति विवेक दर्शन से होती है। विवेक दर्शन की निवृत्ति परवैराग्य से होती है। चित्त के ऐसे स्वरूप होते ही मोक्ष होता है। फिर उस नास्तिक का उपहास व्यर्थ ही है।

नोटः—यहां व्यास जी ने यह दिखलाया है कि एकदेशीय अर्थात् साधारण बुद्धि वाला आचार्य भी नास्तिक की इस आशंका का परिहार कर सकता है तो इस के उत्तर देने से कोई प्रयोजन नहीं है। सांख्य योग के विद्वान् आचार्य का तो यह मत है कि चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है। चित्त की निवृत्ति का साक्षात् कारण विवेक दर्शन नहीं है) किन्तु

स्थिर विवेकख्याति में परवैराग्य उदय होता है। परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि। असम्प्रज्ञात समाधि के अविकल्प के क्रम से निरधिकार चित्त की निरिन्धन अग्नि के सदृश अपने कारण में लयरूप निवृत्ति होती है। इस लिये परवैराग्य द्वारा चित्तनिवृत्ति का कारण विवेकदर्शन है। इस लिये नास्तिक का उपहास निरर्थक है।

भोजवृत्ति भाषार्थ सूत्र २४ पूर्व जो विपर्यय मोहरूप अविद्या कहा है वह अविवेकख्यातिरूप संयोग का कारण है।

व्यासभाष्य पर विज्ञान भिक्षु के वार्तिक का भाषानुवाद सूत्र २४

तस्य हेतुरविद्या—उस द्रष्टा और दृश्य के संयोग का बुद्धि और पुरुष के संयोग द्वारा अविद्या हेतु है। भाष्यकार ने सूत्रकार के तात्पर्य के अभिप्राय से ही तस्य इस पद का अर्थ बुद्धि-संयोगस्य किया है, साक्षात् ही नहीं—क्योंकि द्रष्टा का दृश्य के साथ सामान्य संयोग ही पूर्वसूत्र में प्रकृत है। (प्रकरण में आया हुआ है)। बुद्धिसंयोगस्येति–अविद्या यहां अनात्म में आत्मबुद्धिमात्र है, क्योंकि वह ही यहाँ बुद्धि के साथ संयोग की कारण है और अनित्यादि में नित्यादि बुद्धि रूप अविद्या जो आगे कहेंगे उसकी विवेकख्याति से निवृत्ति भी नहीं होती है। और यह अविद्या बुद्धि के संयोग से अन्य है अतः बुद्धिसंयोग के अव्यवहित पूर्व काल में होनी चाहिये। (अनात्म में आत्मबुद्धि तो सम्भव है, अनित्यादि में नित्य बुद्धि-रूप सम्भव नहीं है) अतः भाष्यकार कहते हैं विपर्ययेति-सर्गान्तरीय अविद्या स्वचित्त के साथ निरुद्ध हो जाती है—उसकी वासना प्रधान में स्थित रहती हैं उनसे वासित प्रधान उसी पुरुष की संयोगिनी उस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करता है अतः अनादि होने से दोष नहीं है। अविद्या की वासना में बुद्धि और पुरुष का संयोग हेतु है—इसमें युक्ति कहते हैं विपर्ययेति-विपर्यय ज्ञान की वासनाओं के बल से पुरुषख्यातिरूप-कार्य निष्ठारूप स्व कर्त्तव्य की अन्तिम अवधि को बुद्धि प्राप्त नहीं होती अतः साधिकार होने से पुनः लौट आती है—पुरुष के साथ संयुक्त हो जाती है। वही बुद्धि पुरुषान्यताख्यातिपर्यन्त हुई पर वैराग्य के उत्पन्न कर देने से समाप्ति को प्राप्त होती है। ततः—चरिताधिकारो (जिसका अधिकार समाप्त हो चुका है) निष्पादित कार्या (जिसने अपना कार्य भोग और विवेकख्याति सम्पन्न कर दिया है) निवृत्ताविद्या (जिसने अविद्या को निवृत्त कर दिया है) हुई बुद्धि संयोग नामक बन्ध के कारण के अभाव होने से फिर पुरुष से संयुक्त नहीं होती। तथा च अन्वय और व्यतिरेक से विपर्यय वासना बुद्धि पुरुष के संयोग का हेतु है, यह भाव है। पुरुषख्याति से चित्त की निवृत्ति होती है जो यह कहा है इस विषय में नास्तिक के आक्षेप के निराकरण करने का इच्छुक—उसको दिखलाते हैं। अत्र कश्चित् षण्डक के उपाख्यान—दृष्टान्त से उद्घाटन करते हैं—आक्षेप करते हैं–नपुंसक के आख्यान को ही कहते हैं—मुग्धया इत्यादि से लेकर उत्पादयिष्यति—इस तक से, वह षण्डक उस अपनी भार्या को, विनष्टमिति—विनष्ट—परवैराग्य से निरुद्ध—ज्ञान—जो कि चित्त की निवृत्ति रूप है—मोक्ष को करेगा—मुक्ति देगा, यह नास्तिक की प्रत्याशा है—यह अर्थ है। उपेक्षा को सूचित करने के लिए—पूर्वाचार्य के वचनों से इस विषय में सिद्धान्त को कहते हैं

ईषद् असमाप्त आचार्य आचार्यदेशीय होता है (अर्थात् जो आचार्य तो नहीं है परन्तु लगभग आचार्य जैसा है) जिस बात के उत्तर की आचार्य लोग उपेक्षा कर देते हैं। उसका भी उन्होंने उत्तर दिया है; यही उनकी आचार्य देशीयता, है आचार्य वह है जिसका स्वरूप वायुपुराण में कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ इति

शास्त्र के अर्थों का (उद्देशों-प्रयोजनों का) जो संचय करता है, जनता को सदाचार में नियुक्त करता है और स्वयं भी सदाचारी है वह आचार्य कहा जाता है। ननु-शब्द यहां सम्बोधन वाचक है, यूं कह सकते हैं—ज्ञान साक्षात् मोक्ष का हेतु नहीं है, किन्तु अविद्या नामक अदर्शन की निवृत्ति तत्कार्य निरोध योग द्वारा मोक्ष का हेतु है। तथा च विनष्ट भी ज्ञान बुद्धि पुरुष वियोग रूप मोक्ष का व्यापार द्वारा कारण सम्भव है।

शंका—यदि यह आचार्यदेशीय का ही है तो क्या बुद्धि-चित्त आदि नामक अन्तःकरण की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है ?

समाधान—तत्र चित्तेति—चित्तनिवृत्ति मोक्ष होता ही है, किन्तु उस विषय में येमौके ही इस नास्तिक की बुद्धि का मोह व्यर्थ है, इसलिए यहाँ उपेक्षणीय विषय में समाधान करने वाले की आचार्यदेशीयता है यह बात कही है ॥ २४॥

संगति—सूत्र १६ में हेय जो दुःख है, १७ में हेय हेतु द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो दुःख का कारण है, २३ में स्वशक्ति और स्वामी शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि जो संयोग के वियोग का कारण है और २४ में संयोग का कारण अविद्या बतलाकर अब अगले सूत्र मे हान अर्थात् अविद्या के कारण संयोग के नाश को जो कैवल्य है उसको बतलाते हैं।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तदभावात् = उसके (अविद्या के) अभाव से। संयोगाभावः = संयोग का अभाव। हानम् = हान है। तद्-दृशेः = वह चिति शक्ति (द्रष्टा) का। कैवल्यम् = कैवल्य है।

अन्वयार्थ—उसके (अविद्या के) अभाव से (अदर्शनरूपी) संयोग का अभाव 'हान' है। वह चिति-शक्ति का कैवल्य है।

व्याख्या—अविद्या के विरोधी यथार्थ ज्ञान से अविद्या का विच्छेद हो जाता है। अविद्या के अभाव होने पर अविद्या के कार्य 'संयोग' के अभाव को 'हान' कहते हैं। निराकार वस्तु 'संयोग' का मूर्त-द्रव्य के तुल्य छोड़ना नहीं होता है; किन्तु अज्ञान से जन्य संयोग अपने-आप ही निवृत्त हो जाता है। अर्थात् पुरुष का अपने स्वरूप को भूला-जैसा होकर चित्त को अपने से भिन्न न समझते हुए केवल उसकी बाह्य वृत्तियों को ही देखते रहना जो संयोग है उसका कारण अदर्शन सूत्र तेईस में बतलाया था; और इसका कारण पिछले सूत्र में अविद्या बतलादी गई है। इस अविद्या के नाश से अदर्शन का और अदर्शन के नाश से संयोग का स्वयं नाश हो जाता है। इस संयोग का नाश होना ही 'हान' है,

अर्थात् दुःख का अपने कारणसहित नाश हो जाना। यह हान ही चिति-शक्ति (पुरुष) का कैवल्य अर्थात् केवल हो जाना, निखर जाना, स्वरूपस्थिति, मोक्ष अर्थात् शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति है।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र २५। इस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और पुरुष के सङ्ग का अभाव ही अत्यन्त दुःख की निवृत्ति है, यह अर्थ है यही "हान" कहलाता है। यह द्रष्टा का कैवल्य है। यह पुरुष का अमिश्रीभाव है अर्थात् इसके पश्चात् फिर कदापि गुणों से संयोग नहीं होता। दुःख के कारण की निवृत्ति होने पर दुःख की निवृत्ति ही परम हान है। तब पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद सू० २५। अविद्या के विरोधी यथार्थ ज्ञान से अविद्या का उच्छेद हो जाता है। अविद्या के अभाव होने पर उसके कार्य्य संयोग का भी जो अभाव होता है वही 'हान' कहलाता है। मूर्त्त द्रव्य के समान इस का परित्याग नहीं होता है, किन्तु विवेकख्याति के उदय होने पर अविवेक निमित्त संयोग स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। यहाँ इस संयोग का 'हान' है। यह जो संयोग का नाश है यही स्वरूप से नित्य केवली (शुद्ध स्वरूप) पुरुष का कैवल्य कहलाता है।

संगति—इस 'हान' की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं :—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—विवेक-ख्याति = विवेकज्ञान। अविप्लवा—शुद्ध—निर्मल = अडोल अर्थात् संशय-विपर्यय रहित। हानोपायः = हान का उपाय है।

अन्वयार्थ—शुद्ध विवेकख्याति हान का उपाय है।

व्याख्या—विवेक दृश्य-द्रष्टा के भेद; और ख्याति नाम ज्ञानका है। इसलिये चित्त और पुरुष इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान; अथवा यह ज्ञान कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझसे भिन्न हैं, विवेकख्याति है। यह विवेकज्ञान आगम अर्थात् आचार्य के उपदेश और शास्त्रों के पढ़ने तथा अनुमान से भी उदय होता है, पर यह परोक्ष ज्ञान है; और अनादि अविद्या के निवृत्त करने में असमर्थ होता है। मिथ्याज्ञानजन्य व्युत्थान के संस्कार चित्त में बने रहते हैं और तामस राजस वृत्तियें उदय होती रहती हैं। यह विवेकख्याति विप्लव-सहित है। विप्लव के अर्थ विच्छेद हैं अर्थात् जिसमें बीच-बीच में राजसी तामसी वृत्तियों का उदय होता बना रहे। इसलिये ऐसा विवेक-ज्ञान हान का उपाय नहीं है। यह ज्ञान जब दीर्घकाल निरन्तर सत्कार-पूर्वक प्रतिपक्षभावना के बल से अर्थात् क्लेश के विरोधी क्रिया-योग के अनुष्ठान-बल से अविद्या के विरोधी तत्त्वज्ञान, अस्मिता के विरोधी भेदज्ञान, राग-द्वेष के विरोधी मध्यस्थता, अभिनिवेश के विरोधी सम्बन्ध-ज्ञान निवृत्ति के अनुष्ठान से जब परिपक्व हो जाने पर समाधि द्वारा साक्षात् करलिया जाता है तो वह अपरोक्ष ज्ञान होता है। इससे अविद्या के नाश हो जाने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमान से रहित और राजस-तामस मलों से शून्य चित्त हो जाता है। तब सत्त्वगुण के प्रकाश में चित्त में चेतन

का जो प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रकाश पड रहा है और जिसके कारण चित्त में चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्त से भिन्न उसका साक्षात्कार होता है। यद्यपि यह साक्षात्कार भी चित्त के द्वारा होता है इसलिये चित्त ही की एक सात्त्विक वृत्ति है तथापि इसके निरन्तर अभ्यास से विवेक-ज्ञान का प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है। क्लेशों का सर्वथा नाश होता है और मिथ्या-ज्ञान दग्धबीज के तुल्य बन्धन की उत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाता है। यही अविप्लव अर्थात् अडोल, अविच्छेद निर्मल ज्ञान का उपाय है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ गीता १३ । ३४ ॥

अर्थ:—इस प्रकार क्षेत्र (प्रकृति) । और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के भेद को तथा विकारसहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञाननेत्रों द्वारा (विवेकख्याति द्वारा) तत्त्व से जान लेते हैं वे महात्मा जन पर ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषार्थ ॥ सूत्र २६ ॥

अब हान का उपाय क्या है ? यह बतलाते हैं।

बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान विवेकख्याति है और वह मिथ्याज्ञान जिस से निवृत्त हो गया है, ऐसी विवेकख्याति अविप्लव अर्थात् शुद्ध और निर्मल कहलाती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीज के समान बन्धन की अनुत्पत्ति के योग्य होता है तब रजोगुण-निमित्तक क्लेश दूर हो जाने पर सत्त्व के परम प्रकाश में परमवशीकार संज्ञक वैराग्य में वर्तमान हुए योगी के विवेकज्ञान का प्रवाह शुद्ध होता है। वह निर्मल विवेकख्याति हान का उपाय है। उससे मिथ्याज्ञान दग्धबीज भाव को प्राप्त हो जाता है पुनः उत्पत्ति के योग्य नहीं होता यह मोक्ष का मार्ग है। यही हान का उपाय है।

व्यासभाष्य पर विज्ञानभिक्षु के वार्तिक का भाषानुवाद सूत्र २६ ॥ इससे परे हानोपाय व्यूह के चतुर्थ पाद का भी वाच्य कहाँ तक है—इस विषय में चतुर्थ व्यूह के प्रतिपादक सूत्र को उतारते हैं। अथेति बुद्धि—के संयोग की निवृत्ति ही साक्षात् दुःख के हान में कारण है। विवेकख्याति तो बुद्धि के संयोग के हेतु अविद्या की निवर्तक होने से परम्परा-सम्बन्ध से दुःख के हान का हेतु है इस बात को भाष्यकार ने प्राप्ति शब्द से सूचित किया है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—

विवेकख्याति की साक्षात्काररूप निष्ठा को सूचित करने के लिए—उसका अविप्लवा विशेषण दिया है (आरम्भ में अभ्यासी को क्षणिक विवेकख्याति होती है उसी को पर्याप्त समझ कर योगी प्रयत्न को ढीला न करदे इसलिए अविप्लवा कभी भी न हटने वाली विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है यह सूचित किया है) उसमें अविप्लव शब्द से यह अर्थ कैसे निकलता है इस आशंका के लिए कहते हैं—मिथ्याज्ञान के संस्कारों के कारण से विवेकख्याति प्लवित होजाती—मिथ्याज्ञान के संस्कारों से बीच में वह अभिभूत हो जाती है। यदेति—जब साक्षात्कार की दशा में सूक्ष्म मिथ्या ज्ञान—अनागत अवस्था में हो, दग्ध बीज के

समान हो, उसका विवरण है वन्ध्य प्रसव, यह मिथ्या ज्ञान का प्रसव-सामर्थ्य बन्ध्या हो जाता है (उत्पादन कार्य के योग्य नहीं रहता) तब जिसकी क्लेशधूली धुल गई है उस बुद्धि-सत्त्व के पर वैशारद्य—वैलक्षण्य होने पर इसी का विवरण है—परस्यां वशीकारसंज्ञायां परवशीकारसंज्ञक वैराग्य में वर्तने वाले बुद्धि सत्त्व के—*परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य* वशीकार—इस सूत्रोक्त जो इच्छा का अप्रतिघात रूप है उसमें वर्तमान बुद्धि सत्त्व का विवेकख्याति प्रवाह निर्मल—मिथ्या ज्ञान से अकलुषित होता है अतः वह विवेकख्याति अविप्लवा कहलाती है। वह साक्षात्काररूपिणी विवेकख्याति हान का उपाय है। किस के द्वारा हान का उपाय है इस आकांक्षा के विषय में कहते हैं—उस विवेकख्याति से सूक्ष्मरूप मिथ्याज्ञान दग्धबीज होजाता है। फिर वह नहीं जमता। इस प्रकार से यह विवेकख्याति रूप—चित्तकी निवृत्ति आदि रूप—मोक्ष का मार्ग है—इसी का विवरण है हानोपाय—

शंका--इस प्रकार ज्ञान से ही दुःख हान नामक मोक्ष की प्राप्ति के वचन से असंप्रज्ञात योग का प्रयोजन क्या रहा ?

समाधान—परवैराग्य जन्य असंप्रज्ञात योग को भी यहां ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की हेतुता है—यह आशय है ॥ २६ ॥

टिप्पणी सूत्र २६। बौद्ध दर्शन—बौद्ध धर्म में 'हान' के स्थान में "तृतीय आर्य सत्य" 'दुःखनिरोध' (निर्वाण) बतलाया गया है।

दुःखनिरोध : (निर्वाण)—तीसरे आर्य सत्य का नाम 'दुःखनिरोध' है। निरोध शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का नाश होता है। बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने इस सत्य की इस प्रकार व्याख्या की है—

"इदं खोपन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सायेव त तण्हाय असेस विराग निरोधो चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो"।

अर्थात् दुःख निरोध आर्यसत्य उस तृष्णा से अशेष-सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है; इस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थान न देना) यही है।

दुःख के कारण का दूसरे आर्य सत्य में विवरण दिया गया है। उस कारण को यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य आप से आप स्वतः नष्ट हो जावेगा। अतः कार्य कारण का सम्बन्ध ही इस सत्य की सत्ता का पर्याप्त प्रमाण है।

दुःखनिरोध की ही लोकप्रिय संज्ञा 'निर्वाण' है। तृष्णा के नाश कर देने से इसी जीवन में पुरुष उस अवस्था पर पहुंच जाता है—जिसे निर्वाण के नाम से पुकारते हैं। 'अंगुत्तर निकाय' में निर्माण प्राप्त पुरुष की उपमा शैल से दी गयी है:—

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं रूपा, रसा, सद्दा, गन्धा, फस्साच केवला ॥
इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च, न पवेधेन्ति तादिनो।
ठितं चित्तं विप्प मुत्तं वयं चस्सानु पस्सति ॥ (अंगुत्तर निकाय ३।५२)

अर्थात् प्रचण्ड झंझावात पर्वत को स्थान से च्युत नहीं कर सकता, भयकर आंधी के चलने पर भी पर्वत एक रस, अडिग, अच्युत बना रहता है। ठीक यही दशा निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की है। रूप, रस, गन्धादि विषयों के थपेडे उसके ऊपर लगातार पडते रहते हैं, परन्तु उस के शान्त चित्त को किसी प्रकार भी क्षुब्ध नहीं करते। आस्रवों से विरहित होकर वह पुरुष अखण्ड शान्ति का अनुभव करता है।

संगति—निर्मल विवेकख्याति मे योगी की जैसी प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका स्वरूप बतलाते हैं :—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तस्य = उसकी (निर्मल विवेकख्याति वाले योगी की) सप्तधा = सात प्रकार की। प्रान्तभूमिः = सबसे ऊँची अवस्था वाली। प्रज्ञा = बुद्धि होती है।

अन्वयार्थ—उस निर्मल विवेकख्याति वाले योगी की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली प्रज्ञा होती है।

व्याख्या—निर्मल विवेकख्याति द्वारा योगी के चित्त के अशुद्धि-रूप आवरण मल नष्ट हो जाने से दूसरे सांसारिक ज्ञानो के उत्पन्न न होने पर सात प्रकार की उत्कर्ष अवस्था वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उनमें से प्रथम चार प्रकार की प्रज्ञा कार्य से विमुक्त करने वाली है। विमुक्ति चित्त के अधिकार की समाप्ति को कहते हैं। यह चार प्रकार की प्रज्ञा सम्बन्धी विमुक्ति कार्य्य अर्थात् प्रयत्नसाध्य है। इस कारण वह कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है। और अन्त की तीन चित्त से विमुक्त करने वाली हैं, इस कारण वे चित्त-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती हैं। उपरोक्त चारों प्रज्ञाओं के लाभ से यह तीन प्रज्ञा स्वतः ही लब्ध हो जाती हैं।

कार्य विमुक्ति प्रज्ञा:—

१ ज्ञेय शून्य अवस्था—"परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति"। जो कुछ जानना था जान लिया अब कुछ जानना शेप नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप, और संस्कार-दुःखो तथा गुणवृत्ति-निरोध से दुःखरूप ही है इसलिये 'हेय' है—यह मैंने जान लिया (२ । १५, १८, १९.)।

२—हेयशून्य अवस्था—"क्षीणहेयहेतवो न पुनरेतेषां हातव्यमस्ति"। जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया, अब कुछ दूर करने योग्य शेप नहीं रहा (२ । १६, १७)।

३—प्राप्यप्राप्त अवस्था—"साक्षात्कृत निरोधसमाधिना हानम्"। जो साक्षात् करना था वह साक्षात् कर लिया है (अर्थात् निरोध समाधि द्वारा हानको साक्षात् कर लिया) अब कुछ साक्षात् करने योग्य शेप नहीं रहा (२ । २५)।

४—चिकीर्षाशून्य अवस्था—"भावितो विवेकख्याति रूपो हानोपायः।" जो करना था वह कर लिया है अर्थात् हान का उपाय निर्मल विवेकख्याति सम्पादन कर लिया, अब कुछ सम्पादन करने योग्य शेप नहीं रहा (२ । २६)।

५—चित्तविमुक्ति प्रज्ञा—चित्तसत्त्व-कृतार्थता। "चरिताधिकारा बुद्धिः"। चित्त ने अपना अधिकार भोग-अपवर्ग देने का पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहा है।

६—गुणलीनता—गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति। नचैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति।" जिस प्रकार पर्वत की चोटी के किनारे से गिरे हुए पत्थर बिना रुके हुए पृथिवी पर आकर चूरचूर हो जाते हैं इसी प्रकार चित्त के बनाने वाले गुण अपने कारण में लय होने के अभिमुख जा रहे हैं क्योंकि अब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

७—आत्मस्थिति—"एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः इति" गुणों के सम्बन्ध से परे होकर पुरुष की परमात्म स्वरूप में स्थिति हो रही है। अब कुछ शेष नहीं रहा।

इस सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है; और चित्त के अपने कारण में लीन होने पर भी कुशल (विदेह मुक्त) कहलाता है। ये दोनों ही गुणातीत अर्थात् गुणों के सम्बन्ध से रहित केवल शुद्ध आत्मस्वरूप से स्थित होते हैं। इसलिये यह योगी विदेह मुक्त अवस्था को जीवन्मुक्त दशा में ही प्रत्यक्ष कर लेता है।

सङ्गति—ज्ञान का उपाय निर्मल विवेकख्याति की प्रज्ञाओं का स्वरूप दिखाकर अब उसकी प्राप्ति के साधन योग-अंगों को बतलाते हैं।

योगांगाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२८॥

शब्दार्थ—योग-अंग-अनुष्ठानात् = योग के अंगों के अनुष्ठान से। अशुद्धि-क्षये = अशुद्धि के नाश होने पर। ज्ञान-दीप्तिः = ज्ञान का प्रकाश। आविवेक-ख्यातेः = विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

अन्वयार्थ—योग के अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या—योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से क्लेश (२।३) रूपी अशुद्धि दूर होती है और सम्यक् ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। इन अंगों का अनुष्ठान जितना-जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेश की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है। यहाँ तक कि यह ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त पहुँच जाती है, जिसका सूत्र सत्ताईस में वर्णन किया है। योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है और विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है।

टिप्पणी—(सूत्र २८) कारण नौ प्रकार के हैं:—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥

अर्थ—कारण नौ प्रकार का माना गया है : उत्पत्ति-कारण, स्थिति-कारण, अभिव्यक्ति-कारण, विकार-कारण, प्रत्यय-कारण, प्राप्ति-कारण, वियोग-कारण, अन्यत्व-कारण, धृति-कारण। वा अविद्या संयोग की उत्पत्ति का कारण है। (सूत्र २। २४)

(१) उत्पत्ति-कारण : जैसे बीज वृक्ष का या मन विज्ञान का।

(२) स्थिति-कारण : जैसे आहार शरीर की स्थिति का या पुरुषार्थ मन की स्थिति का, क्योंकि मन तब तक बना रहता है जब तक भोग और अपवर्ग को सिद्ध नहीं कर देता।

(३) अभिव्यक्ति-कारण : जैसे प्रकाश रूप की अभिव्यक्ति (प्रकटता) का कारण है या रूपज्ञान पौरुषेय बोध की अभिव्यक्ति का कारण है।

(४) विकार-कारण : जैसे अग्नि से पक कर चावल बदल (गल) जाते हैं, तो अग्नि उनका विकार-कारण है, वा मन का दूसरे विषय में लग जाना मन के विकार का कारण है।

(५) प्रत्यय-कारण : जैसे धुएँ का देखना अग्नि के ज्ञान का कारण है।

(६) प्राप्ति-कारण : जैसे धर्म सुख की प्राप्ति का कारण है, वा योग के अंगों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है।

(७) वियोग-कारण : जैसे कुल्हाड़ा लकड़ी के टुकड़ों के वियोग का कारण है, वा स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि संयोग के वियोग का कारण है। (सू० २। २३) वा योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है। (सू०२।२८)

(८) अन्यत्व-कारण : जैसे सुनार सोने के कुण्डल को दूसरी वस्तु अर्थात् कड़ा बना देने का कारण है वा जैसे रूपवती स्त्री का देखना एक ही है, पर वह देखना पति के सुख, सपत्नियों के दुःख, बेगाने पुरुषों के मोह और तत्त्वज्ञानी की उदासीनता का कारण होता है।

(९) धृति-कारण : जैसे शरीर इन्द्रियों (प्राणों) के धारने का कारण है; और इन्द्रिय (प्राण) शरीर के धारने का कारण हैं, वा मनुष्य, पशु, पक्षी, औषधि, वनस्पति एक-दूसरे के धारने के कारण हैं।—(व्यासभाष्य)

संगति—वे योग के अंग ये हैं :—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ॥२९॥

शब्दार्थ—यमनियमा ···· समाधयः = यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि (ये)। अष्टौ अङ्गानि = आठ योग के अङ्ग हैं।

अन्वयार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (ये) आठ योग के अङ्ग हैं।

व्याख्या—ये आठ योग के अङ्ग विवेकख्याति के साधन हैं। उनमें से धारणा, ध्यान समाधि साक्षात् सहायक होने से योग के अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। यम-नियम योग के रुकावट हिंसादि वितर्कों को निर्मूल करके समाधि को सिद्ध करते हैं। अन्य तीन अगले-अगले अङ्ग में उपकारक हैं अर्थात् आसन के जीतने पर प्राणायाम की स्थिरता होती है और प्राणायाम की स्थिरता से प्रत्याहार सिद्ध होता है।

समाधिपाद में बतलाये हुए अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि और इस पाद में बतलाया हुआ क्रियायोग इन्हीं आठों अङ्गों के अन्तर्गत हो जाते हैं। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि, बिना अभ्यास-वैराग्य के नहीं हो सकते, क्योंकि अभ्यास तो इन आठों अङ्गों का पुनः पुनः अनुष्ठान-रूप ही है। और बिना वैराग्य के समाधि सिद्ध हो ही नहीं सकती, क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि में एकाग्रता अर्थात् एक वृत्ति रहती है, जिसमें राग बना रहता है, पर उस वृत्ति मे राग स्थिर नहीं रह सकता, जब तक उससे इतर अन्य सब प्रकार की वृत्तियों में वैराग्य न हो। सम्प्रज्ञात-समाधि की पराकाष्ठा विवेकख्याति है। उसमें भी जो वैराग्य है वह पर-वैराग्य कहलाता है; और निर्बीज-समाधि का साक्षात् सहायक होने से उसका अन्तरंग साधन है, श्रद्धा वीर्य के बिना किसी साधन का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। क्रियायोग के तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान नियम मे आ जाते हैं।

विशेष वक्तव्य —(सूत्र २९) इस पाद में सूत्र ३ से १३ तक बतला आए हैं कि पुरुष क्रमशः क्लेशों और सकाम कर्मों द्वारा (अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष, इन दोनों से अभिनिवेश क्लेश उससे सकाम कर्म, सकाम कर्मों की वासनाओं से जन्म, आयु, भोग और उनमे सकाम कर्मों के पाप पुण्य अनुसार दुःख सुख) बहिर्मुख होकर नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है। इन दुखों की निवृत्ति के लिये इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होने का सरल उपाय अष्टांग योग है।

१. यमः—बहिर्मुखता की सब से अन्तिम अवस्था मनुष्य का अन्य सब प्राणियों के साथ व्यवहार है। इसलिये सबसे प्रथम इस व्यावहारिक जीवन को यमों द्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाना होता है। सकाम कर्म जो जन्म, आयु और भोग के कारण हैं निवृत्त हो जाते हैं। *बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तनु हो जाते हैं।*

२. नियमः—नियमों का सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर इन्द्रियों तथा अन्तः करण के साथ होता है, इसलिये इनके यथार्थ पालन से अपनी व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला सारा बाह्य व्यावहारिक जीवन राजसी, तामसी विक्षेप और आवरणरूप मलों से धुल कर सात्त्विक पवित्र और दिव्य बन जाता है।

३. आसनः—आसन का सम्बन्ध शारीरिक क्रिया से है। इसके द्वारा शरीर की रज रूप चञ्चलता और अस्थिरता और तमरूप आलस्य और प्रमाद हटकर शरीर में सात्त्विक प्रकाश और दिव्यता उत्पन्न होती है।

४. प्राणायामः—*प्राणायाम द्वारा प्राण की गति को रोक कर अथवा धीमा करके* शरीर की आन्तरिक गति (प्राण) को सात्त्विक (दिव्य) बनाया जाता है।

५. प्रत्याहारः—प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को आलस्य और प्रमादरूप तमस् और बहिर्मुखता रूप रजस् से शून्य करके इनको सात्त्विक रूप में चित्त के साथ अन्तर्मुख करके दिव्य बनाना होता है।

धारणाः—धारणाद्वारा चित्त के मूढ़ और क्षिप्तरूप तमस् और रजस् को हटाकर उसको सात्त्विकरूप में वृत्तिमात्र से किसी एक विषय में ठहरा कर दिव्य बनाना होता है।

७. ध्यानः—जिस विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से ठहराया है उस वृत्ति को अस्थिर करने वाले रजस् और प्रमाद उत्पन्न करने वाले तमस् को हटाकर चित्त को उस सात्त्विक के (दिव्य) रूप से लगातार उस एक वृत्ति में ही ठहराना होता है।

८. समाधिः—जिस विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से ध्यान में अवच्छिन्नता के साथ लगाया है उस ध्येयाकार वृत्ति को जो रजस् ध्यान और ध्यातृ आकारता रूप में लेजा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यातृ रूप आकारता को रोके हुए है उस लेशमात्र रजस् और तमस् को भी हटाकर समाधि में चित्त का उस सात्त्विक (दिव्य) रूप में ध्यातृ और ध्यान से शून्य जैसा होकर केवल ध्येयाकार रूप से भासना होता है।

इन आठों अङ्गों में से पहले पांच योग के बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। उसमें उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता और अन्तिम तीन इसलिये अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं क्योंकि जिस विषयमें समाधि लगाई जाती है वे उसी को लेकर चलते हैं, किन्तु यह तीनों भी असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है, जिस के द्वारा आत्मा को चित्त से भिन्न साक्षात् कराने वाली विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्ति जो अष्टांग योग की सीमा है उसका भी निरोध होकर शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है।

अविद्या और अस्मितादि क्लेश धारणा ध्यान और समाधि में तनु हो कर विवेकख्याति रूप अग्नि में दग्धबीजतुल्य हो जाते हैं और असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा धर्मी चित्त के अपने कारण में लीन होने से उनका भी लय हो जाता है।

अष्टांग योग में निचली भूमियों को सात्त्विक बनाते हुए ऊंची भूमियों में आरोह (Ascent) होता है। उन ऊंची भूमियों की सात्त्विकता की अधिकता के अनुसार ही दिव्यता की वृद्धि होती है। उन ऊंची भूमियों की सात्त्विकता और दिव्यता को लेकर अवरोह (Descent) में नीची भूमियों को सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है और फिर उन नीची भूमियों की उस सात्त्विकता और दिव्यता को लेकर ऊंची भूमियों को आरोह द्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है। इस प्रकार नीची और ऊंची सारी ही भूमियां, सारे अंग और उनकी क्रियायें अर्थात् बाह्य आभ्यन्तर सारा ही जीवन सात्त्विक और दिव्य बन जाता है।

इन अङ्गों का पृथक्-पृथक् साधने का विधान न समझना चाहिये वरन् आरम्भ से ही एक साथ सब अङ्गों को साधना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार निचले अङ्ग ऊपर वाले अङ्गों की सहायता करते हैं इसी प्रकार ऊपर वाले अङ्ग निचले अङ्गों की दृढ़ भूमि करने में सहायक होते हैं। ध्यान और समाधि धारणा की ही ऊंची अवस्थायें हैं। अतः आरम्भ में केवल धारणा का ही यत्न हो सकता है।

टिप्पणी—(सूत्र २९) बौद्ध दर्शन—बौद्ध धर्म में 'हानोपाय' के स्थान में चतुर्थ आर्य सत्य "दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्"- "अष्टांग योग" के स्थान में "अष्टाङ्गिक मार्ग" और "पांच यमों" के स्थान में "पञ्चशील" बतलाये गये हैं। यमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तो समान हैं केवल योगदर्शन के अपरिग्रह यम के स्थान में बौद्ध धर्म में मद्य

का निषेध बतलाया गया है। पाठकों की अधिक जानकारी के लिये बौद्ध धर्म के उन सिद्धान्तों का कुछ विस्तार के साथ बतला देना उचित प्रतीत होता है।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्—'प्रतिपद्' का अर्थ मार्ग है। यह चतुर्थ आर्य-सत्य दुःख-निरोध तक पहुंचाने वाला मार्ग है। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है उस तक पहुंचाने वाले मार्ग का नाम 'अष्टाङ्गिक मार्ग' है। आठ अंग ये हैं—

(१)	सम्यग् दृष्टि	प्रज्ञा
(२)	सम्यक् संकल्प	
(३)	सम्यग् वाचा	शील
(४)	सम्यक् कर्मान्त	
(५)	सम्यग् आजीविका	
(६)	सम्यक् व्यायाम	समाधि
(७)	सम्यक् स्मृति	
(८)	सम्यक् समाधि	

अष्टांगिक मार्ग यह मार्ग बौद्ध धर्म की आचार मीमांसा का चरम साधन है। इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखों का हठात् नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसलिये (अष्टांग योग के सदृश) यह समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है। जेतवन के पांच सहस्र भिक्षुओं को उपदेश देते समय भगवान् बुद्ध ने अपने श्री मुख से इसी मार्ग को ज्ञान की विशुद्धि के लिये तथा मार को मूर्छित करने के लिये आश्रयणीय बतलाया है—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानाञ्च चक्खुमा॥
एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतंहि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥

(धम्मपद २०। १, २)

अर्थात् निर्वाणगामी मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। लोक में जितने सत्य हैं उनमें आर्यसत्य श्रेष्ठ है। सब धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में चक्षुष्मान् ज्ञानी बुद्ध श्रेष्ठ हैं। ज्ञान की विशुद्धि के लिये तथा मार को मूर्छित करने के लिये यही मार्ग (अष्टांगिक मार्ग) आश्रयणीय है।

अष्टांगिक मार्ग का विशिष्ट-रूप

(१) सम्यक् दृष्टि—'दृष्टि' का अर्थ ज्ञान है (सत्कार्य के लिये ज्ञान की भित्ति आवश्यक होती है। आचार और विचार का परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ट होता है। विचार की भित्ति पर आचार खड़ा होता है। इसलिये इस आचार मार्ग में सम्यक् दृष्टि

पहिला अंग मानी गई है। जो व्यक्ति अकुशल को तथा अकुशलमूल को जानता है, कुशल को और कुशलमूल को जानता है, वही सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न माना जाता है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैं—कुशल (भले) और अकुशल (बुरे) इन दोनों को भली प्रकार जानना 'सम्यक्—दृष्टि' कहलाती है। 'मज्झिम निकाय' में इन दोनों का वर्णन निम्न प्रकार है—

	अकुशल	कुशल
काय कर्म	(१) प्राणातिपात (हिंसा)	(१) अ-हिंसा
	(२) अदत्तादान (चोरी)	(२) अ-चौर्य
	(३) मिथ्याचार (व्यभिचार)	(३) अ-व्यभिचार
वाचिक कर्म	(४) मृषावचन (झूठ)	(४) अ-मृषावचन
	(५) पिशुन वचन (चुगली)	५) अपिशुन वचन
	(६) परुष वचन (कटुवचन)	(६) अ-कटुवचन
	(७) संप्रलाप (बकवाद)	(७) अ-संप्रलाप
मानस कर्म	(८) अभिध्या (लोभ)	(८) अ-लोभ
	(९) व्यापाद (प्रतिहिंसा)	(९) अ-प्रतिहिंसा
	(१०) मिथ्या दृष्टि (झूठी धारणा)	(१०) अ-मिथ्यादृष्टि

अकुशल का मूल है लोभ, दोष तथा मोह। इन से विपरीत कुशल का मूल है अ-लोभ, अदोष तथा अमोह। इन कर्मों का सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है। साथ ही साथ आर्यसत्यों—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, तथा दुःखनिरोधमार्ग का भलीभांति जानना भी सम्यक् दृष्टि है।

(२) सम्यक् संकल्प—सम्यक् निश्चय। सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् निश्चय होता है। निश्चय निष्कामता का, अद्रोह का तथा अहिंसा का होना चाहिये। कामना ही समस्त दुःखों की उत्पादिका है। अतः प्रत्येक पुरुष को इन बातों का दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि वह विषय की कामना न करेगा, प्राणियों से द्रोह न करेगा और किसी भी जीव की हिंसा न करेगा।

(३) सम्यक् वचन—ठीक भाषण। असत्य, पिशुनवचन, कटुवचन तथा बकवाद—इन सब को छोड़ देना नितान्त आवश्यक है। सत्य से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। जिन वचनों से दूसरे के हृदय को चोट पहुंचे, जो वचन कटु हो, दूसरे की निन्दा हो, व्यर्थ का बकवाद हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिये। वैर को शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत 'अवैर' से ही होती है—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीह कदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एस सम्मो सनन्तनो॥

(धम्मपद २।५)

व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्रों काम भी निष्फल होते हैं। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है। शान्ति का उत्पन्न करना ही वाक्यप्रयोग का प्रधान लक्ष्य है। जिस पद से इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती, उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो युं सुत्वा उपसम्मति ॥

(धम्मपद ८।१)

(४) सम्यक् कर्मान्त—मनुष्य की सद्‌गति या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही होता है। कर्म के ही कारण जीव इस लोक में सुख या दुःख भोगता है तथा परलोक में भी स्वर्ग या नरक का गामी बनता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मों का सर्वदा तथा सर्वथा परित्याग अपेक्षित है। इन्हीं की संज्ञा पञ्चशील है। पञ्चशील ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरा-मैरेय आदिक मादक पदार्थों का असेवन। इन कर्मों का अनुष्ठान सब के लिये विहित है। इनका सम्पादन तो करना चाहिये, परन्तु इन का परित्याग करने वाला व्यक्ति धम्मपद के शब्दों में "मूलं खनति अत्तनो" अपनी ही जड़ खोदता है—

यो पाणमतिपातेति मुसवादं च भासति ।
लोके अदिन्नं आदयति परदारञ्च गच्छति ॥
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो ॥

(धम्मपद १०।१२, १३)

आत्मविजय अपने ऊपर विजय पाना ही मानव की अनन्तशान्ति का चरम साधन है। आत्मदमन इन कर्मों का विधान चाहता है। "आत्मा ही अपना नाथ-स्वामी है। अपने को छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नहीं। अपने को दमन कर लेने पर ही दुर्लभ नाथ—(निर्वाण) को जीव पाता है"—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥" *

(धम्मपद १२।४)

भिक्षुओं के लिये तो आत्मदमन के नियमों में बहुत कड़ाई है। इन सार्वजनीन कर्मों

* यह आत्मविजय का सिद्धान्त वैदिक धर्म का मूल मन्त्र है—

नोट:—उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ (गीता)

के अतिरिक्त उन्हें पांच कर्म—अपराह्न-भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण, तथा अमूल्य शय्या का त्याग और भी कर्तव्य है। इन्हें ही 'दशशील' कहते हैं। भिक्षुओं के निवृत्ति प्रधान जीवन को आदर्श बनाने के लिये भगवान् बुद्ध ने अन्य कर्मों को भी आवश्यक बतलाया है, जिनका उल्लेख 'विनय पिटक' में किया गया है।

(५) सम्यक् आजीव (जीविका)—झूठी जीविका को छोड़कर सच्ची जीविका के द्वारा शरीर का पोषण करना। बिना जीविका के जीवन धारण करना असम्भव है। मानवमात्र को शरीररक्षण के लिये कोई न कोई जीविका ग्रहण करनी ही पड़ती है, परन्तु यह जीविका सच्ची होनी चाहिये जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का क्लेश पहुंचे और न उनकी हिंसा का अवसर आवे। समाज व्यक्तियों के समुदाय से बना है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करने में लगे तो समाज का वास्तविक मंगल होता है। उस समय के व्यापारों में बुद्ध ने निम्न पांच जीविकाओं को हिंसाप्रवण होने के कारण से अयोग्य ठहराया है—(१) सत्थ वणिज्जा (शस्त्र—हथियार का व्यापार), (२) सत्तवणिज्जा (प्राणी का व्यापार), (३) मंस वणिज्जा (मांस का व्यापार), (४) मज्ज वणिज्जा (मद्य = शराब का व्यापार), (५) विस वणिज्जा (विष का व्यापार)। 'लक्खण सुत्त' ३ में बुद्ध ने निम्न जीविकाओं को गर्हणीय बतलाया है—तराजू की ठगी, कंस (बटखरे) की ठगी, मान की (नाप की) ठगी, रिशवत, वंचना, कृतघ्नता, साचियोग (कुटिलता), छेदना, बध, बन्धन, डाका, लूटपाट की जीविका।

(६) सम्यक् व्यायाम = ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग, सत्कर्मों के करने की भावना करने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये। इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन करने का प्रयत्न, उत्पन्न हुई, अच्छी भावनाओं को कायम रखने का प्रयत्न—ये सम्यक् व्यायाम हैं। बिना प्रयत्न किये, चंचल चित्त से शोभन भावनायें दूर भागती हैं और बुरी भावनायें घर जमाया करती हैं। अतः यह उद्योग आवश्यक है।

(७) सम्यक् स्मृति—इस अंग का विस्तृत वर्णन 'दीघ निकाय' के 'महासति पट्ठान' सुत्त (२।९) में किया गया है। स्मृति प्रस्थान चार हैं—(१) कायानुपश्यना, (२) वेदनानुपश्यना, (३) चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना। काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना नितान्त आवश्यक होता है। काय मलमूत्र, केश तथा नख आदि पदार्थों का समुच्चयमात्र है। शरीर को इन रूपों में देखने वाला पुरुष 'काये कायानुपश्यी' कहलाता है। वेदना तीन प्रकार की होती है—सुख, दुःख, न सुख न दुःख। वेदना के इस स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति 'वेदना में वेदनानुपश्यी' कहलाता है। चित्त की नाना अवस्थायें होती हैं—कभी वह सराग होता है, कभी विराग; कभी सद्वेष और कभी वीतद्वेष; कभी समोह तथा कभी वीतमोह। चित्त की इन विभिन्न अवस्थाओं में उसकी जैसी गति होती है उसे जानने वाला पुरुष "चित्त में चित्तानुपश्यी' होता है। धर्म भी नाना प्रकार के हैं (१) नीवरण—कामच्छन्द (कामुकता),

व्यापाद (द्रोह) स्त्यानमृद्ध (शरीर मन की आलसता), औद्धत्य—कौकृत्य (उद्वेग-खेद) तथा चिकित्सा (संशय) (२) स्कन्ध, (३) आयतन, (४) बोध्यंग; (५) आर्य चतुः-सत्य। इन के स्वरूप को ठीक-ठीक जानकर उनको उसी रूप में जानने वाला पुरुष 'धर्म में धर्मानुपश्यी' कहलाता है। सम्यक् समाधि के निमित्त इस सम्यक् स्मृति की विशेष आवश्यकता है। काय तथा वेदना का जैसा स्वरूप है उसका स्मरण सदा बनाये रखने से आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। चित्त अनासक्त होकर वैराग्य की ओर बढ़ता है तथा एकाग्रता की योग्यता सम्पादन करता है। (विशेष विवरण के लिये देखो 'दघनिकाय' हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १९०-१९८)

(८) सम्यक् समाधि—योग दर्शन "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' तथा उपनिषद् "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती) के सदृश बौद्ध धर्म में ज्ञान को निर्वाण = कैवल्य = मुक्ति का मुख्य साधन माना है। ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में पैदा नहीं होती। ज्ञान के उदय के लिये शरीर की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। इस लिये अष्टांग योग के अनुसार ही बुद्ध भगवान ने शील और समाधि के द्वारा क्रमशः कायशुद्धि और चित्तशुद्धि पर विशेष जोर दिया है।

बुद्ध धर्म के तीन महनीय तत्त्व हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। अष्टांगिक मार्ग के प्रतीक ये तीनों ही हैं। शील से तात्पर्य सात्त्विक कार्यों से है। बुद्ध के दोनों प्रकार के शिष्य थे—गृहत्यागी प्रव्रजित भिक्षु तथा गृहसेवी गृहस्थ। कतिपय कर्म इन दोनों प्रकार के बुद्धानुयायियों के लिये समभावेन मान्य हैं जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मद्य का निरोध, ये 'पचंशील' कहलाते हैं। और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्ध के लिये विहित है। भिक्षुओं के लिये अन्य पांच शील की भी व्यवस्था है—जैसे अपराह्न-भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या—इन पाँचों वस्तुओं का परित्याग। पूर्व शीलों से मिला कर इन्हे 'दश शील' (दश सत्कर्म) कहते हैं। गृहस्थ के लिये अपने पिता माता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा श्रमण-ब्राह्मणों का सत्कार प्रति दिन करना चाहिये।

बुरे कर्मों के अनुष्ठान से सम्पत्ति का नाश अवश्यम्भावी है। नशा का सेवन, चौरास्ते की सैर, समाज (नाचगाना) का सेवन, जूआ खेलना, दुष्ट मित्रों की संगति तथा आलस्य में फसना—ये छओं सम्पत्ति के नाश के कारण हैं। (दघिनिकाय, सिगालोवाद सुत्त ३२ पृष्ठ २७१-२७६)

शील तथा समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय। भवचक्र के मूल में 'अविद्या' विद्यमान है। जबतक प्रज्ञा का उदय नहीं होता, तबतक अविद्या का नाश नहीं हो सकता। साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि में होता है। प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है—(१) श्रुतमयी—आप्त प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय, (२) चिन्तामयी—युक्ति से उत्पन्न निश्चय तथा (३) भावनामयी—समाधिजन्य निश्चय। श्रुत—चिन्ता—प्रज्ञा से सम्पन्न शीलवान् पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान् व्यक्ति नानाप्रकार की

* नोट अभिधर्म कोश ६। ५॥

ऋद्धियां ही नहीं पाता, प्रत्युत प्राणियों के पूर्व जन्म का ज्ञान, परचित्त ज्ञान, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु, तथा दुःखक्षय—ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है। उसका चित्त कामास्रव (भोग की इच्छा), भवास्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिये विमुक्त हो जाता है। साधक निर्वाण प्राप्त कर अर्हत् की महनीय उच्च पदवी को पालेता है। धम्मपद ने बुद्धशासन के रहस्य को तीन ही शब्दों में समझाया है—

(१) सब पापों का न करना (२) पुण्य का सचंय तथा (३) अपने चित्त की परिशुद्धि—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स-चित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

(धम्मपद १४।५)

संगति—यम-नियम के बिना कोई अभ्यासी योग का अधिकारी नहीं हो सकता। यह न केवल अभ्यासियों के लिये ही वरन् सब आश्रमवालों के लिये अत्यावश्यक है। इन में यमों का सारे समाज से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, इस कारण इनके पालन में सब मनुष्य परतन्त्र हैं। अर्थात् ये सब मनुष्यों का परम कर्त्तव्य है, जैसा कि मनु महाराज लिखते हैं :—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ —(मनु०)

अर्थ—बुद्धिमान् को चाहिये कि यमों का लगातार सेवन करे, न केवल नियमों का। क्योंकि केवल नियमों का सेवन करने वाला यमों का पालन न करता हुआ गिर जाता है।

यहाँ इस सूत्र में व्याख्या केवल उतनी ही की जावेगी जो योगियों तथा योग के जिज्ञासुओं के अभिमत है सूत्र ३१ के वि० वि० में उनका सामान्य और व्यापक रूप दिख-लाया जावेगा।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ ३०॥

शब्दार्थ—अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः = अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। यमाः = यम हैं।

अन्वयार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह यम हैं।

व्याख्या—अहिंसा = शरीर, वाणी अथवा मन से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीडा अथवा हानि पहुँचाना, या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है, इससे बचना अहिंसा है। गौ, अश्व आदि पशुओं का उचित रीति से पालन पोषण करके प्राण हरण न करते हुए उनसे नियमित रूप से दूध आदि सामग्री

+ दीघनिकाय सामञ्ज फल सुत्त पृ० ३०-३२॥

प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है, पर यही जब उनकी रक्षा का ध्यान न रखते हुए सेवा इत्यादि क्रूरता के साथ ली जावे तो हिंसा हो जाती है।

शिक्षार्थ ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ औषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्त के लिये दण्ड देना हिंसा नहीं है यदि यह बिना द्वेष आदि के प्रेम से केवल उनके कल्याणार्थ किये जावें। पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि की मनोवृत्तियों से मिश्रित हों तो हिंसा हो जाते हैं। प्राणों का शरीर से वियोग करना सब से बड़ी हिंसा है। श्री व्यासजी महाराज ने अहिंसा की व्याख्या इस प्रकार की है कि सर्व काल में सर्व प्रकार से सब प्राणियों का चित्त में भी द्रोह न करना अहिंसा है। अहिंसा ही सब यम-नियमों का मूल है, उसी के साधन तथा सिद्धि के लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसा को निर्मल रूप बनाने के लिये ग्रहण किये जाते हैं।

पञ्चशिखाचार्य जी कहते हैं :—

स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

अर्थ—निश्चय यह ब्राह्मण (वेदवेत्ता योगी) ज्यों-ज्यों बहुत-से व्रतों यम-नियमों को धारण करने की इच्छा करता है अर्थात् अनुष्ठान करता है त्यों-त्यों प्रमाद से किये हुए हिंसा आदि के कारण-रूप पापों से निवृत्त हुआ उसी अहिंसा को निर्मल करता है।

अहिंसा तथा अन्य सब यमों के विपरीत आचरण करने में मुख्य कारण अपने को छोटे से भौतिक शरीर में संकुचित रूप में देखना है, इसलिये योगियों के लिये तो अहिंसा का उच्चतम स्वरूप प्राणिमात्र में अपनी आत्मा को व्यापक रूप में देखना है। यथा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु-पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईशो० ६)॥

अर्थ—जो (साधक) सम्पूर्ण भूतों को (अपनी) आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी अपनी आत्मा को ही देखता है वह इस (सर्वात्म दर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

अर्थ—जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिये सब भूत (अपनी) आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।

इस विशाल व्यापक दृष्टि के सम्बन्ध में यह शंका न करनी चाहिये कि इस समत्व बुद्धि से तामसी, राजसी प्रकृति वाले प्राणियों के प्रति व्यवहार में कठिनाई आवेगी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के स्वयं अपने अन्तः करण में तामसी, राजसी और सात्त्विक तीनों प्रकार की

वृत्तियों का उदय और लय होता रहता है। जिस महान् योगी ने इन संकीर्ण भावों को हटा दिया है वह सारे अन्तः करणों तथा उनकी वृत्तियों को अपने ही अन्तःकरण और वृत्ति जैसे रूप में देखता है। जिस प्रकार अपनी तामसी, राजसी वृत्तियों के निरोधपूर्वक सात्त्विक वृत्तियों के उदय करने का यत्न करता है, इसी प्रकार सारे अन्तः करणों की तामसी राजसी वृत्तियों के हटाने (लय करने) और सात्त्विक वृत्तियों के उठाने (उदय करने) की चेष्टा करता है।

अहिंसा का सामान्य रूप सूत्र ३१ के विशेष विचार में देखें।

२. सत्य—वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उसका शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है और विचार में लाना मन का सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थ रूप से करना चाहिये वही सत्य है अर्थात् कर्त्तव्य ही सत्य है। अहिंसा तीनों काल में सत्य है। इस कारण यथार्थ रूप से यथार्थ ज्ञान से अहिंसा के लिये जो कुछ किया जावे वह सत्य है। यदि कोई पुरुष द्वेष से दिल दुखाने के लिये अन्धे को तिरस्कार के साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है, क्योंकि यह हिंसा है, और हिंसा सदा असत्य है, श्री व्यासजी महाराज सत्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—

अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार होना अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो और जैसा सुना हो वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना। दूसरे पुरुष में अपने बोध के अनुसार ज्ञान कराने में कही हुई वाणी यदि धोखा देने वाली, भ्रान्ति करानेवाली अथवा ज्ञान कराने म असमर्थ न हो और सब प्राणियों के उपकार के लिये प्रवृत्त हुई हो; और जिससे किसी प्राणी का नाश, पीड़ा अथवा हानि न हो वह सत्य है। यदि इस प्रकार भी कही हुई वाणी प्राणियों का नाश करने वाली हो तो वह सत्य नहीं है बल्कि इस पुण्याभास पुण्य के प्रतिरूप पाप से महान् दुःख को प्राप्त होगा। इसलिए अच्छी प्रकार परीक्षा करके सब प्राणियों के हितार्थ सत्य बोले। मनु भगवान् ने भी ऐसा ही कहा है:—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्

अर्थ—सत्य बोले, प्रिय बोले, वह सत्य न बोले जो अप्रिय हो अर्थात् सत्य को मीठा करके बोले, कटु करके न बोले।

योगियों के लिये तो उच्चतम सत्य का स्वरूप आत्म-अनात्म, चेतन-जड़, पवित्र-अपवित्र, नित्य-अनित्य में विवेकज्ञान अर्थात् आत्मा को त्रिगुणात्मक अन्तःकरण, इन्द्रियों, शरीर, विषयों तथा भौतिक जगत् से सर्वथा भिन्न, निर्विकार, निर्लेप, निष्क्रिय, असंग, अपरिणामी, कूटस्थ, नित्य, ज्ञानस्वरूप विवेकपूर्वक देखना है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ गीता १३। २९ ॥

अर्थः—जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी है।

सत्य का सामान्य रूप सूत्र ३१ के विशेष विचार में देखें।

३. अस्तेय—अन्यायपूर्वक किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार आदि का हरण करना स्तेय है। राजा का प्रजा के नागरिक अधिकार दबाना, ऊँचे वर्ण वालों वा धनपतियों का नीचे वर्ण वालों और निर्धनों के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों का छीनना स्तेय है। अधिकारिगणों का रिश्वत लेना, दुकानदारों का निश्चित वा उचित मूल्य से ज्यादा दाम लेना अथवा तोल में कम देना इत्यादि स्तेय है। पर इस प्रकार किसी वस्तु को प्राप्त करने का मूल कारण लोभ और राग है। इस हेतु योगी को किसी वस्तु में राग होना ही स्तेय समझना चाहिये। इसका त्यागना अस्तेय है।

अस्तेय की अधिक व्याख्या के लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

४. ब्रह्मचर्य—मैथुन तथा अन्य किसी प्रकार से भी वीर्य का नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना अर्थात् अन्य सब इन्द्रियों के निरोधपूर्वक 'उपस्थेन्द्रिय' के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन वही कर सकता है जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले पदार्थों के भक्षण तथा कामोद्दीपक दृश्यों के देखने और इस प्रकार की वार्त्ताओं के सुनने तथा ऐसे विचारों को मन में लाने से भी बचता रहे।

योगियों के लिये ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप रयि अर्थात् अन्न के खींचने के लिये जो प्राणों की आभ्यन्तर क्रिया होती है उसी का नाम भूख है, वह वृक्षों पशु, पक्षी आदि और मनुष्यों में समान है। वृक्ष प्राणों के अनुकूल ही अन्न को खींचते हैं। यही कारण है कि विशेष विशेष वृक्ष उन विशेष स्थानों में जहां उनके अनुकूल पृथ्वी जलादि में परमाणु नहीं होते हैं नहीं उगते हैं। पशु आदि भी प्राणों के अनुकूल ही अन्न को खींचते हैं, यदि मनुष्य के कुसंग से इस स्वाभाविक बुद्धि को न खो बैठे हों। किन्तु मनुष्य नाना प्रकार की वासनाओं से भ्रमित होकर इस विवेक बुद्धि को खो देता है कि किस समय प्राणों को किस-किस विशेष रयि अर्थात् अन्न की आवश्यकता है। कभी-कभी प्राणों में भी कई विशेष कारणों के आधीन होकर बाहर रयि अर्थात् अन्न की ओर आकर्षित होने की आभ्यन्तर क्रिया होती है। यही काम विषयवासना के पीछे जाना है। इसके वशीकार हो जाने से ब्रह्मचर्य्य का खंडन होता है। इसलिये योगी के लिये ब्रह्मचर्य्य का वास्तविक स्वरूप प्राणों पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेना है और प्राण आदि पञ्च वायु अन्तःकरण का सम्मिलित कार्य है। अतः अन्तःकरण पर पूरा अधिकार कर लेना आवश्यक है। यह अधिकार ब्रह्मनिष्ठा से प्राप्त होता है अर्थात् उस क्रम से ब्रह्मनिष्ठ होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्य्य का उनके लिये वास्तविक स्वरूप है।

अधिक जानकारी के लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

५. अपरिग्रह—धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री अथवा अन्य वस्तुओं को अपनी (शरीर-रक्षा आदि) आवश्यकताओं से अधिक केवल अपने ही भोग के लिये स्वार्थ-दृष्टि से सञ्चय या इकट्ठा करना परिग्रह है। (आवश्यक वह वस्तु है जिसके बिना अभ्यास अथवा धार्मिक कार्य निर्विघ्नतापूर्वक न चल सकें अर्थात् जो अध्यात्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्यों में साधनरूप से आवश्यक हो।) इससे बचना अपरिग्रह है। पर योगी के लिये तो सब से बड़ा परिग्रह, अविद्या आदि क्लेश, शरीर और चित्त आदि में ममत्व और अहङ्कार हैं जो

सब परिग्रह के मूल कारण हैं। इसके लिये इन सब क्लेशों आदि का न रखना ही अपरिग्रह का लक्षण अभिमत है।

शेष सूत्र ३१ के विशेष विचार में देखें।

संगति—इस प्रकार सामान्यरूप से यमों का निरूपण करके अगले सूत्र में उनकी सबसे ऊँची अवस्था बतलाते हैं :—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्ना = जाति, देश, काल, और संकेत 'नियमविशेष' की सीमा से रहित। सार्वभौमाः = सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य। महाव्रतम् = महाव्रत है।

अन्वयार्थ—जाति, देश, काल और समय की हद से रहित सर्व भूमियों में पालन करने योग्य यम, महाव्रत कहलाते हैं।

व्याख्या—जाति, देश काल और समय (संकेत, नियमविशेष) की हद से रहित होने का यह अभिप्राय है कि इनके द्वारा हिंसा आदि यम संकुचित न किये जावें।

जाति द्वारा संकुचित : गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मण की हिंसा न करूँगा।

देश द्वारा संकुचित : हरिद्वार, मथुरा आदि तीर्थ में हिंसा नहीं करूँगा।

काल से संकुचित : चतुर्दशी, एकादशी आदि तिथियों में हिंसा नहीं करूँगा।

समय द्वारा संकुचितः समय के अर्थ यहाँ काल नहीं है बल्कि विशेष नियम या विशेष संकेत के हैं। जैसे देव अथवा ब्राह्मण के प्रयोजन-सिद्धि के लिये हिंसा करूँगा अन्य प्रयोजन से नहीं। इसी प्रकार अन्य यमों को समझ लेना चाहिये। अर्थात् समयावच्छिन्न सत्य-प्राणहरण आदि के संकट से अतिरिक्त मिथ्याभाषण न करूँगा। समयावच्छिन्न अस्तेय—दुर्भिक्ष के अतिरिक्त चोरी न करूँगा। समयावच्छिन्न ब्रह्मचर्य—ऋतुकाल से अन्य समय में स्त्रीगमन न करूँगा। समयावच्छिन्न अपरिग्रह—परिवार के परिपालन के लिये ही प्रतिग्रह ग्रहण करूँगा।

जब ये यम इस प्रकार की संकीर्णता से रहित सब जातियों के लिये सर्वत्र सर्वदा सर्वथा पालन किये जाते हैं तो महाव्रत कहलाते हैं।

विशेष विचार—(सूत्र ३१) इस सूत्र का यह भी भाव है कि यमों का पालन किसी जाति-विशेष या देश-विशेष या काल-विशेष या अवस्था-विशेष के मनुष्यों के लिये नहीं है किन्तु यह भूमण्डल पर रहने वाली सभी जाति, देश, काल और अवस्था वालों के लिये पालने योग्य हैं; इसीलिये ये सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं। इससे पूर्व के सूत्र में हमने यमों का वह लक्षण किया है जो योगियों को अभिमत है। अब इस सूत्र के वि० वि० में हम उनका वह विशाल व्यापक और सामान्य स्वरूप दिखलाने का यत्न करेंगे जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मनुष्य समाज और सारे राष्ट्रों से है।

तीसवें सूत्र की संगति में बतला आये हैं कि यमों का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से नहीं है परन्तु सारे मनुष्य-समाज से है, इसलिये सारे मनुष्य इनके पालन करने में

समष्टि रूप से परतन्त्र हैं। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश, काल, अवस्था, वर्णाश्रम, मत-मतान्तर का क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य-समाज में रहना है तो उसके लिये ये यम सर्वदा माननीय व पालनीय हैं।

संसार में फैली हुई भयङ्कर अशान्ति का केवलमात्र उपाय यमों का यथार्थ रूप से पालन करना है। यम के अर्थ ही शासन और व्यवस्था रखने वाले के हैं। इनके पालन से संसार की अवस्था ठीक रह सकती है। यह शङ्का कि क्षत्रिय शासकादि अहिंसा और गृहस्थी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, यमों को यथार्थ रूप से न समझने के कारण उत्पन्न होती है उसके निवारणार्थ यमों के स्वरूप को और स्पष्ट रूप से दिखलाने का यत्न करते हैं :—

अहिंसा—जिस प्रकार सारे क्लेशों का मूल अविद्या है उसी प्रकार सारे यमों का मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकार की है—(१) शारीरिक, किसी प्राणी के प्राण हरण करना अथवा अन्य प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुँचाना; (२) मानसिक, मन को क्लेश देना (३) आध्यात्मिक, अन्तःकरण को मलीन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि तमोगुण वृत्ति से मिश्रित होती है, जैसा कि सूत्र चौंतीस की व्याख्या में बतला आये हैं। किसी प्राणी की किसी प्रकार की हिंसा करने के साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्तःकरण को हिंसा के क्लिष्ट संस्कारों के मल से दूषित करता है। इन तीनों प्रकार की हिंसाओं में सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद् में बतलाया है :—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थ—जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्तःकरण को मलीन करने वाले हैं) वे मरकर उन लोकों में (योनियों में) जाते हैं जो असुरों के लोक कहलाते हैं और घने अँधेरे से ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियों में जाते हैं।

शरीर तथा मन की अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है, क्योंकि शरीर और मन तो आत्मा के करण (साधन) हैं, जो मनुष्य को उसके कल्याणार्थ दिये गए हैं। इसलिए हिंसक अधिक दया का पात्र है, उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेने की भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिस पर हिंसा की जाती है उसके तथा हिंसक दोनों के कल्याणार्थ हिंसा पाप को हटाना चाहिये। योगी में अहिंसा व्रत की सिद्धि से आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सन्निधि से ही हिंसक हिंसा की भावना को त्याग देता है। मानसिक शक्ति वाले मानसिक बल से हिंसा को हटा दें, वाचक तथा शारीरिक शक्ति वाले जहां तक उनका अधिकार है उस सीमा तक इन शक्तियों को हिंसा के रोकने में प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशों का परम कर्त्तव्य संसार में अहिंसा व्रत को स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्र से जो उसके पास शरीर-रक्षा

के लिये है, अपने ही शरीर पर आघात पहुँचाने लगे तो उसके शुभचिन्तकों का यह कर्त्तव्य होता है कि उसके हितार्थ उसके हाथों से वह शस्त्र हरण कर ले। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीर-रूपी शस्त्र से जो उसको उसकी आत्मा के कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरों को तथा अपनी ही आत्मा को हिंसारूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकार से उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमों की सुव्यवस्था रखने वाले शासकों का परम कर्त्तव्य होता है कि उसके शरीर का उससे वियोग कर दें। यह कार्य अहिंसा व्रत में बाधक नहीं है वरन् अहिंसा व्रत का रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुणी वृत्तियों अथवा बदला लेने की भावना से मिश्रित है तो हिंसा की सीमा में आ जाता है। अहिंसा के स्वरूप को इस प्रकार विवेक-पूर्वक समझना चाहिये कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाश में अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमों में, और तमरूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (नीच भावनाओं) के अन्धकार में हिंसा तथा उसके सहायक अन्य चारों वितर्कों में प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापन के लिये युद्ध करना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है उससे बचना हिंसारूपी अधर्म में सहायक करना है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥ गीता अ० २

अर्थ—स्वधर्म को समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है क्योंकि धर्मयुद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥ गीता अ० २

अर्थ—हे पार्थ! यों अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियों को ही मिलता है। वेद में भी ऐसा बतलाया गया है। यथाः—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

अर्थ—जो संग्रामों में लड़ने वाले हैं, जो शूरवीरता से शरीर को त्यागने वाले हैं, और वे जिन्होंने सहस्रों दक्षिणायें दी हैं तू उनको (अर्थात् उनकी गति को) भी प्राप्त हो।

अपनी दुर्बलता के कारण भयभीत होकर अत्याचारियों के अत्याचार सहन करना, अपनी धन-सम्पत्ति को चोर डाकुओं से हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्म को दुर्जनों द्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसा का पोषक कायरता-रूपी महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्रधर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसा व्रत का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुन्सक हिंसकों की हिंसा बढ़ाने में भागी होता है।

उदाहरणार्थ डाकू संगठन और मृत्यु से निर्भयता इन दो शक्तियों को लेकर निकलते हैं। जो पुरुष मृत्यु के भय से अपना धन और सम्पत्ति बिना मुकाबिला किये हुए आसानी से दे देते हैं, वे उनके दूसरे स्थानों में डाका डालने और लूटने के उत्साह और हिम्मत को बढ़ा कर उनके इस प्रकार की हिंसा में पाप के भागी बनते हैं। जो वीर पुरुष उनसे अधिक मृत्यु से अभयरूप आत्मबल और संगठनरूप दिव्य शक्ति रखते हैं और संगठित होकर निर्भयता के साथ उन डाकुओं का मुकाबिला करते हैं, वे अपने प्राणों को खोकर भी उन अत्याचारियों के दूसरे स्थानों में डाका डालने के उत्साह और हिम्मत को कम करते हैं, वे उनकी हिंसा को घटा कर अहिंसा रूपी पुण्य के भागी बनते हैं। यदि वे इस संग्राम में सफल होते हैं तो अपने धन और सम्पत्ति के ऐश्वर्य्य को भोगते हैं और यदि बलिदान होते हैं तो स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। भारतवर्ष के क्षत्रियों में यह प्रथा थी कि जब वे अत्याचारी विधर्मी यवनों के मुकाबिले में अपने धर्म और देश को बचाने की कोई आशा न देखते थे तो उनके छोटे बच्चे और स्त्रिएं आग की चिता में भस्म हो जाती थीं और वे वीर क्षत्री हाथों में तलवारें लेकर एक-एक सैकड़ों अत्याचारियों को तलवार के घाट उतार कर बलि हो जाते थे। इस प्रकार धर्म और देशरक्षा के परमकर्त्तव्य को अपने अन्त समय तक पूरा कर जाते थे। पर इस वीरता के साथ-साथ उनमें एक संकीर्णता और स्वार्थ का दुर्गुण भी था जो उन्होंने असंख्य गरीब और नीची जाति कहलाने वाले अपने भाइयों को उनके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रीय और आर्थिक अधिकारों से वञ्चित करके उनके अन्दर से मनुष्यत्व के अभिमान के संस्कार तक को निकाल दिया था। यह भेदरूप पाप ही उनकी असफलता का कारण हुआ। यदि वे इस स्वार्थमय संकीर्ण दृष्टि का परित्याग करके इन सब असंख्य भाइयों में अपनी जैसी शूर वीरता तथा धर्मप्रेम और देशभक्ति उत्पन्न करने का यत्न करते तो बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष का इतिहास आज के इतिहास से कुछ और ही विचित्र रूप में लिखने योग्य होता। संसार में सारे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का भी मूल उपाय यही हो सकता है कि पराधीन राष्ट्र के सारे व्यक्ति संगठित रूप में निर्भय होकर यह दृढ़ संकल्प कर लें कि यदि जीना है तो स्वतन्त्र राष्ट्र के वायुमण्डल में ही श्वास लेंगे अन्यथा स्वतन्त्रता की वेदी पर बलि हो जाएंगे।

अहिंसा और सत्य के अवतार महात्मा गांधीजी ने जब एक गाय के बछड़े की अत्यन्त रुग्णावस्था में सारे शरीर में कीड़े पड़ जाने और उसका कष्ट असहनीय हो जाने पर उसके बचने की कोई सम्भावना न देखी तो उनकी सत्त्वप्रधान बुद्धि ने इसी को विवेकपूर्ण अहिंसा निश्चय किया कि उसको उस असहनीय कष्ट से बचाने के लिये किसी औषधि द्वारा शीघ्र उसके रुग्ण शरीर को पृथक् कराने में सहायता की जावे। पर यही कार्य यदि कोई चिकित्सक रोगी की चिकित्सा से तंग आकर अथवा उसका कोई सम्बन्धी उसकी सेवा-शुश्रूषा से बचने के लिये तमरूपी प्रमाद से करे तो वह घोर हिंसा में प्रवृत्त हो जावेगा। एक राष्ट्रद्वारा अहिंसा महाव्रत के पालन का सबसे बड़ा उदाहरण सम्राट् अशोक के समय में मिलता है।

सर्वसाधारण के लिये अहिंसारूप व्रत के पालन करने में सबसे सरल कसौटी यह है "Do to others as you want others do to you" अर्थात् दूसरों के साथ व्यवहार करने में पहिले यह भली प्रकार जांच लो कि यदि तुम इनके स्थान पर होते और वे तुम्हारे स्थान पर तो तुम उनसे किस प्रकार का व्यवहार कराना चाहते। बस वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमों में भी घट सकता है।

सत्य—यह अहिंसा का ही रूपान्तर है। सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होता है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। सूत्र तीस की व्याख्या में सत्य का वास्तविक स्वरूप दिखलाते हुए हमने बतलाया है कि कर्त्तव्य ही सत्य है। इसलिये जो मनुष्य प्रत्येक प्राणी के प्रति जिस अवस्था और जिस काल में वह हो उसके प्रति अपना कर्त्तव्य यथार्थरूप से समझता है और उसका यथार्थरूप से पालन करता है वही सत्यव्रती है। राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु का शोक और अपनी स्त्री को घोर विपदा में अपने समक्ष खड़ी हुई देखकर उसका मोह छोड़कर अपने स्वामी चाण्डाल के प्रति कर्त्तव्य को समझा और उसका पालन किया। यह उनके सत्य की अन्तिम परीक्षा थी जिसने उनका नाम सदा के लिये अमर कर दिया। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्यरूपी सत्य-व्रत को पालन करने लगे तो संसार की अशान्ति स्वतः ही दूर हो सकती है।

कई अविवेकी पुरुष दूसरों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले वचन कहने में अपने सत्यवादी होने का घमण्ड करते हैं। इस सम्बन्ध में हम केवल एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन कर देना पर्याप्त समझते हैं।

युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ समाप्ति पर मयदानव चित्रकार द्वारा स्फटिक की बनाई हुई युधिष्ठिर की आश्चर्यजनक सभा में जल को थल, थल को जल, दीवार को दरवाजा, दरवाजे को दीवार इत्यादि समझते हुए दुर्योधन को स्थान-स्थान पर ठोकर खाते हुए देखकर पाण्डवों और द्रौपदी का उसका उपहास करना तथा परिहास से यह शब्द कहना कि हे महाराज धृतराष्ट्र (अन्धे) के पुत्र ! देखो द्वार इधर है, जिन में इन छिपे हुये अर्थों से उसके दिल को चोट पहुँचाने की भावना थी कि अन्धों के अन्धे ही पुत्र होते हैं" (महाभारत सभापर्व अ० ३० श्लोक ३४) हिंसारूपी असत्य था, जिसका फल महाभारत का युद्ध और उससे भारत का सर्वथा पतन हुआ।

इसी प्रकार, महाभारत में कर्णपर्व की एक घटना है। एक समय कर्ण से परास्त होने के पश्चात् युधिष्ठिर ने अर्जुन को कर्ण-वध के निमित्त उसके गाण्डीव धनुष को धिक्कार कर उत्तेजित किया कि 'हे अर्जुन ! तेरे गांडीव धनुष, बाहु-वीर्य, केसरी-सुत हनुमान् से अङ्कित ध्वजा और अग्निदत्त रथ को बार-बार धिक्कार है। तुम अपने गांडीव धनुष को जो तुमसे बलवान् होने का दावा करे, उस मित्र-राजा को सौंप दो।' अर्जुन ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो उसको धिक्कार कर यह कहेगा कि तुम अपने गाण्डीव धनुष को किसी

दूसरे को दे दो क्योंकि वह तुमसे बलवान् है उसको वह मार डालेगा। इसलिये उसने अपनी प्रतिज्ञा पालन करते हुए युधिष्ठिर को वध करने के लिये अपनी तलवार खींच ली। उस समय कृष्ण ने अर्जुन को सत्य का स्वरूप इस प्रकार बतलाया कि 'हे अर्जुन! अज्ञानी केवल शब्द के स्थूल रूप को देखते हैं पर ज्ञानी उसके सूक्ष्म स्वरूप अर्थ को देखते हैं और उसके ही अनुसार व्यवहार करते हैं। तेरी प्रतिज्ञा केवल गाण्डीव धनुष को धिक्कारने वाले का वध करने की थी, और धिक्कारना अपमान के लिये द्वेषभाव से होता है। पर युधिष्ठिर ने गाण्डीव धनुष की प्रशंसा और मान बढ़ाने के लिये प्रेमभाव से तुम्हे उत्तेजित करके कर्ण को वध करने के लिये यह शब्द कहे हैं। इसलिये युधिष्ठिर के शब्दों के यह अर्थ नहीं लिये जा सकते; और उसका मारना असत्य है। फिर भी यदि तू अज्ञानियों के सदृश रूढ़िवाद में ही पड़ना चाहता है तो मारना केवल शस्त्र से और स्थूल शरीर का ही नहीं होता। युधिष्ठिर ज्ञानी है, शरीर उसके लिये कपड़े के तुल्य है, उसके शरीर का पृथक् होना उसके लिये मृत्यु नहीं है। वाणी की चोट शस्त्र से अधिक तीक्ष्ण होती है, वही उनके लिये मृत्यु के सदृश है, उसी से उसको मार।'

राष्ट्र की सब परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए योगीश्वर कृष्ण भगवान् सत्यभाषण की व्यवस्था का उपदेश अर्जुन को महाभारत कर्णपर्व अध्याय ६९ में इस प्रकार करते हैं:—

नहि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनंजय।
यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः॥ १७॥

अर्थ—हे धनञ्जय! धर्म के विभाग को जानने वाला ऐसा नहीं किया करता जैसा कि तुम हे पाण्डव, आज यहाँ धर्मभीरु और अज्ञानी हो रहे हो।

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ! पुरुषाधमः॥ १८॥

अर्थ—जो अकार्यों (न करने योग्य कामों) का क्रिया के साथ संयोग करता है, (अमल में लाता है) और कार्यों (करने योग्य कामों) का अक्रिया से संयोग करता है (अनुष्ठान नहीं करता) हे पार्थ! वह अधम पुरुष है।

अनुसृत्य तु ये धर्मं कथयेयुरुपस्थिताः।
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम्॥ १९॥

अर्थ—जो धर्मानुष्ठान करने वाले (धार्मिक लोग) दृढ़ता से (निश्चयपूर्वक) धर्म का निरूपण करते हैं उन संक्षेप और विस्तार से जानने वालों के निश्चय को तुम नहीं जानते।

अनिश्चयज्ञो हि नरः कार्याकार्यविनिश्चये।
अवशो मुह्यते पार्थ! यथा त्वं मूढ एव तु॥ २०॥

अर्थ—कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निश्चय से हीन मूढ़ मनुष्य, हे पार्थ! तुम्हारी तरह अवश्य ही भूल करता है।

नहि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथंचन।
श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य किसी प्रकार भी सुख-पूर्वक (आसानी से) नहीं जाना जाता, यह सब-कुछ तो वेद और शास्त्रों के श्रवण से जाना जाता है, तुम इस बात को नहीं जानते।

अविज्ञानाद् भवान्यत्र धर्मं रक्षति धर्मवित्।
प्राणिनां त्वं वधं पार्थ! धार्मिको नावबुध्यसे ॥ २२ ॥

अर्थ—हे धर्मवित् कौन्तेय! तुम धर्म के तत्त्व को विना जाने धर्म की रक्षा करना चाहते हो। धार्मिक वृत्ति वाले भी तुम, प्राणियों का वध कब करना चाहिये, यह नहीं जानते।

प्राणिनामवधस्तात! सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ॥ २३ ॥

अर्थ—हे तात! प्राणियों का न मारना ही सब से श्रेष्ठ है मेरा यह मत है (निश्चय है) चाहे झूठ बोल दे परन्तु हिंसा कभी न करे।

स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम्।
हन्याद् भवान्नरश्रेष्ठ प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥ २४ ॥

अर्थ—सो तुम श्रेष्ठ पुरुष दूसरे अज्ञानी मनुष्य की तरह, धर्मतत्त्व के ज्ञाता राजा और बड़े भाई को किस प्रकार मारते हो।

अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽशत्रोश्च मानद!
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥ २५ ॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥ २६ ॥

अर्थ—जो युद्ध नहीं कर रहा है, जो शत्रु नहीं है, हे मानद! जो पीठ दे चुका है—जो युद्ध से भाग रहा है, जो शरण में आ रहा है, जो हाथ जोड़े सामने आया है (आपद्-ग्रस्त है) और जिसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है, भले आदमी इनके वध को अच्छा नहीं कहते; और यह सब-कुछ तुम्हारे पूज्य (युधिष्ठिर) में विद्यमान है।

त्वया चैवं व्रतं पार्थ! बालेनेव कृतं पुरा।
तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात्कर्म व्यवस्यसि ॥ २७ ॥

हे पार्थ! तुमने पहले जो यह प्रतिज्ञा की है, वह तो बच्चों की-सी है। उसी से अपनी मूर्खता के कारण अधर्म-युक्त कार्य करने का निश्चय कर रहे हो।

अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः ।
यस्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥ ६३ ॥

अर्थ—जोकि चोरों के साथ पाला पड़ने पर (झूठ) शपथें ले लेकर भी अपने को उनके हाथ से छुड़ाले तो धर्म के तत्त्व को जानने वाले इसको अधर्म नहीं कहते ।

श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ।
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ॥ ६४ ॥

अर्थ—चोर आदि से सम्बन्ध पड़ने पर झूंठ बोलना अच्छा है, वह बिना विचारे सत्य ही है। सामर्थ्य होते उनको किसी प्रकार भी धन नहीं देना चाहिये ।

पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ।
तस्माद् धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग्भवेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—पापियों को दिया धन दाता को भी दुःख देता है। इस कारण धर्म के लिये झूंठ बोलकर भी मनुष्य झूंठा नहीं होता ।

एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि ।
यथा धर्मं यथा बुद्धिः मयाद्य वै हितार्थिनः ॥ ६६ ॥
एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ यदि वध्यो युधिष्ठिरः ॥

अर्थ—मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, आज मैं ने यह धर्म का लक्षण और उद्देश्य बुद्धिपूर्वक विधि-सहित धर्मानुसार कह दिया। इसको सुनकर, यदि युधिष्ठिर वध के योग्य है तो तुम ही कह दो, (अर्थात् वध के योग्य नहीं है)।

राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः ।
पश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥ ७६ ॥
अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ।
अकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये कर्णं न हन्यादिति चाब्रवीत् सः ॥७७ ॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिर युद्ध में कर्ण के तेज बाणसमूह से घायल हुआ दुःखी और थक गया था; और हे वीर ! युद्ध करते हुए उस पर सूतपुत्र निरन्तर खूब बाण चला रहा था, अतः दुःख से युक्त उस युधिष्ठिर ने रोष में आकर यह अयुक्त-रूप वचन तुमको कहा है। उसने इसलिये ऐसा कहा है कि यदि अर्जुन कुपित न होगा तो युद्ध में कर्ण को नहीं मार सकेगा। (युधिष्ठिर के कथन का अभिप्राय तुम्हारे या गाण्डीव के अपमान करने का नहीं है अपितु तुमको जोश दिलाकर कर्ण का वध कराना है)।

जानाति तं पाण्डव एष चापि पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः ।
ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समक्षं परुषाणि पार्थ ! ॥ ७८ ॥

अर्थ—हे पाण्डव ! राजा युधिष्ठिर यह भी समझते हैं कि यह पापी कर्ण लोक में अन्य वीरों से असह्य है। हे पार्थ ! इसीलिये क्रोधातुर धर्मराज ने तुम्हारे सम्मुख ही तुमको यह कठोर वचन कहे हैं।

नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्ये कर्णे द्यूतं ह्यद्य रणे निबद्धम्।
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्मपुत्रे ॥ ७६ ॥

अर्थ—नित्य उद्यत और अत्यन्त असह्य कर्ण के भरोसे पर ही आज युद्ध में बाजी लगी है, इसके मरने पर कौरव हार जायँगे; महाराज धर्मपुत्र का यह अभिप्राय है।

ततो वधं नार्हति धर्मपुत्रस्त्वया प्रतिज्ञार्जुन पालनीया।
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि तन्मे निबोधेह तवानुरूपम् ॥ ८० ॥

अर्थ—अतः धर्मपुत्र वध के योग्य नहीं है, हे अर्जुन ! तुमको प्रतिज्ञा पालन करनी चाहिये। जिस बात से यह जीते ही मृतवत् हो जाय वह (उपाय) तुम्हारे अनुरूप है, यहाँ मुझसे समझ लो।

यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन् मृत इत्युच्यते सः ॥ ८१ ॥

अर्थ—जबतक माननीय पुरुष मान पाता रहता है तबतक ही वह संसार में जीता है; और जब वह महा अपमान को प्राप्त होता है तब वह जीते-जी मरा कहा जाता है।

सम्मानितः पार्थिवोयं सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम्।
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरैस्तस्यापमानं कलया प्रयुंक्ष्व ॥ ८२ ॥

अर्थ—यह राजा युधिष्ठिर सदा ही तुमसे, भीम, सहदेव और नकुल से तथा अन्य वृद्ध और शूरवीर पुरुषों से लोक में सम्मानित रहा है। तुम इसका कुछ थोड़ा-सा अपमान करलो।

त्वमित्यत्र भवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे पार्थ ! तुम युधिष्ठिर को 'आप' के स्थान में 'तू' कहकर बुला लो। जो पूज्य होता है वह 'तू' कहकर बुलाने से ही मृत के तुल्य हो जाता है।

एवमाचर कौन्तेय ! धर्मराजे युधिष्ठिरे।
अधर्मयुक्तं संयोगं कुरुष्वैनं कुरूद्वह ! ॥ ८४ ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! तुम यही व्यवहार धर्मराज युधिष्ठिर के साथ करो, हे कुरूद्वह ! इनके साथ यह अधर्म-संयुक्त व्यवहार ही करो (इनके अपमान के लिये तुम्हारा इतना व्यवहार ही पर्याप्त है)।

अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः ।
अविचार्यैव कार्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा ॥ ८५ ॥

अर्थ—अथर्वाङ्गिरसी यह श्रुति सारी श्रुतियों में उत्तम है । आत्म-कल्याण के इच्छुक मनुष्यों को यह बिना विचारे ही करनी चाहिये ।

अवधेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुं त्वमिति प्रभुः ।
तद् ब्रूहि त्वं यन्मयोक्तं धर्मराज स धर्मवित् ॥ ८६ ॥

अर्थ—प्रभु को जो कि 'तू' कहना है, यह उसका बिना वध के ही वध है । हे धर्मज्ञ ! जो मैंने कहा है वही तू धर्मराज को कह दे ।

वधं ह्ययं पाण्डव ! धर्मराजस्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेव ।
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात् समं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—हे पाण्डव ! यह धर्मराज इस प्रकार 'तू' कहे हुए को अनुचित समझ ले तब तुम सब इनके चरणों में अभिवादन करके पृथापुत्र युधिष्ठिर को सान्त्वना के वचन कहना (सान्त्वना देना) ।

भ्राता प्राज्ञस्तव कोपं न जातु कुर्याद् राजा धर्ममवेक्ष्य चापि ।
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ ! हृष्टः कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् भाई धर्म को देखते हुए तुम्हारे ऊपर कोप कभी नहीं करेंगे । हे पार्थ ! तुम झूठ और भ्रातृवध से रहित होकर प्रसन्नता-पूर्वक सूतपुत्र कर्ण को मार लेना ।

शास्त्र के अनुसार निरपराधी जीवों की हिंसा को रोकना सब से बड़ा सत्य है । कल्पना करो कि कुछ लोग डाकुओं से पीछा किये जाने पर तुम्हारे समक्ष किसी गुप्त स्थान में छिप जावें और उनके पश्चात् डाकू आकर तुम से पूछें कि वे आदमी कहां गए हैं ? इस अवसर पर तुम्हारा क्या कर्तव्य होगा । ऐसी अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का अपनी अपनी सामर्थ्यानुसार हिंसकों की हिंसा हटाना और निरपराधी की सहायता करना परम कर्तव्य होगा अर्थात् अहिंसाप्रतिष्ठित योगी अपने आत्मबल से हिंसकों की हिंसावृत्ति का दमन करें । यथा "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।"

सम्मोहन और संकल्पशक्ति से युक्त मनोविज्ञानी मानसिक प्रेरणा से हिंसकों की हिंसा वृत्ति को हटावें । वाक्शक्ति में निपुण वक्तागण हिंसकों को इस पाप से बचने का उपदेश दें । शस्त्रविद्या में कुशल योद्धागण अपने शारीरिक बल से हिंसकों की हिंसा हटाने का यत्न करें ।

यदि तुम में उपर्युक्त कोई भी सामर्थ्य नहीं है और अपनी मृत्यु से भी डरते हो तो ऐसी परिस्थिति में मनु महाराज, योगीश्वर भगवान् कृष्ण और नीतिशास्त्र इस प्रकार व्यवस्था देते हैं:—

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत्" ॥ (मनु २ । ११० ॥)

अर्थः—जब तक (हिंसक) कोई प्रश्न न करे तब तक कुछ न बोलना चाहिये और यदि हिंसक अन्याय से पूछे तो भी उत्तर न देना चाहिये। या जानते हुए भी पागल के समान कुछ हां, हूं कर देना चाहिये और यदि इससे भी काम न चले और हिंसक को इस आचरण से शंका होने की सम्भावना हो तोः—

"अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन्नप्यकूजितः।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥" (महाभारत कर्णपर्व)

अर्थ—और यदि बोलना आवश्यक ही हो जावे या न बोलने से शक उत्पन्न हो तो वहां झूठ बोलने में ही श्रेय है। वह बिना विचारे (निःसंदेह) सत्य ही है। तथा—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम ॥ (महा० भा० शान्ति पर्व ॥)

अर्थः—सत्य बोलना अच्छा है परन्तु सत्य से भी ऐसा बोलना अच्छा है जिसमें सब प्राणियों का (वास्तविक) हित हो क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त (वास्तविक) हित होता है वह हमारे मत में सत्य है।

यहां इस बात को भली प्रकार समझना चाहिये कि अहिंसा (अपने वास्तविक स्वरूप में) तीनों काल में सत्य है। इसलिये अहिंसा के लिये नियामित सीमा तक जो कुछ भी किया जाए और कहा जाए वह करना और कहना सत्य रूप ही है क्योंकि जिस समय जिसके लिये जैसा करना चाहिये या कहना चाहिये अर्थात् कर्तव्य ही सत्य है। इसी बात को यहां शास्त्रकारों ने दर्शाया है किन्तु इसको सांसारिक लाभ तथा संकट और आपत्ति के अवसर पर असत्यभाषण में समर्थक समझने की भूल कदापि न होनी चाहिये क्योंकि यही अवसर सत्य की परीक्षा के होते हैं सत्य की महिमा इस प्रकार बतलाई गई है:—

"अश्वमेधसहस्रं च सत्यंच तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥"

अर्थ—हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जावे तो सत्य ही अधिक रहेगा। तथा च:—

"आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्ग-गामिनः" ॥

अर्थः—जो लोग इस जगत् में स्वार्थ के लिये, परार्थ के लिये या हंसी में भी कभी झूठ नहीं बोलते उन्हीं को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसी के स्पष्टीकरण के लिये महाभारत में बतलाया गया है कि धर्मावतार युधिष्ठिर महाराज ने संकट के समय में एक ही

बार "नरो वा कुंजरो वा" "मनुष्य अथवा हाथी" कहा था जिस के फलस्वरूप उनका पृथिवी से चार अंगुल ऊपर चलने वाला रथ साधारण रथों के समान पृथिवी पर चलने लगा। और अन्त में उनको एक घड़ी के लिये नरक में भी रहना पड़ा! अर्जुन को शिखण्डी को सामने खड़ा करके भीष्म पितामह को तीरों द्वारा वध करने के फलस्वरूप अपने पुत्र बभ्रुवाहन से पराजित होना पड़ा।

अस्तेय—अस्तेय सत्य का ही रूपान्तर है। केवल छिपकर किसी की वस्तु अथवा धन का हरण करना ही स्तेय नहीं है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। भूख से तंग आकर उदरपूर्ति के लिये चोरी करने वाला निर्धन स्तेय पाप का इतना अधिक अपराधी नहीं है जितने कि निम्नश्रेणी वाले सम्पत्तिशील।

(१) संकीर्ण हृदय, सुवर्ण, ऊँची जाति कहलाने-वाले, समृद्धिशाली, अपने को धर्म का ठेकेदार समझने वाले जो नीची जाति कहलाने वाले निर्धनों के धार्मिक, सामाजिक, नागरिक अधिकारों का हरण करते हैं (धार्मिक अधिकारों का हरण करना सबसे बड़ा स्तेय और महापाप हैं। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति और आत्मोन्नति करना मनुष्यमात्र का न केवल जन्म सिद्ध अधिकार ही है, प्रत्युत मनुष्य देह का यही एक मुख्य उद्देश्य भी है।)

(२) अत्याचारी राजा जो प्रजा के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार हरण करता है।

(३) लोभी जमींदार जो गरीब किसानों से अत्याचार द्वारा धन प्राप्त करते हैं।

(४) लोभी फैक्ट्रियों के मालिक जो मजदूरों को पेटभर अन्न न देकर सब नफा अपने पास रखते हैं।

(५) लोभी साहूकार जो दूना सूद लेते हैं और गरीबों की जायदाद को अपने अधिकार में लाने की चिन्ता में रहते हैं।

(६) धोखेबाज व्यापारी जो वस्तुओं में मिलावट करके धोखा देकर अधिक लाभ कमाना चाहते हैं।

(७) रिश्वतखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारी-गण जो वेतन पाते हुए भी कर्तव्य पालन में प्रमाद करते और रिश्वत लेते हैं।

(८) वकील जो केवल फीस के लोभ से झूठे मुकद्दमे लड़वाते हैं।

(९) लोभी वैद्य जो रोगी का ध्यान न रखकर केवल फीस का लोभ रखते हैं।

(१०) वे सारे मनुष्य जो अन्यायपूर्वक किसी भी अनुचित रीति से धन, वस्तु अथवा किसी भी अन्य लाभ को प्राप्त करना चाहते हैं।

इस समय सारे राष्ट्रों में जो बड़े आन्दोलन चल रहे हैं वे अस्तेय व्रत के यथार्थ रूप से पालन करने से शान्त हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक, मानसिक, सामाजिकादि सारी शक्तियां ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। एक स्वस्थ शरीर के सदृश ब्रह्मचर्य को पालन करता हुआ सारा मनुष्य समाज सुख-

और शान्ति को प्राप्त होता है। २५ वर्ष तक अखंड ब्रह्मचारी रहने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके शास्त्रानुसार केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ऋतुसमय पर स्त्रीसंयोग करने से ब्रह्मचर्य व्रत नहीं टूटता है, अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो सकता है।

प्राचीन पाश्चात्य देशों में ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण राष्ट्र द्वारा पालन किये जाने का उदाहरण यूनान के स्पार्टा देश में मिलता है जिसके फलस्वरूप थर्मापलि के युद्ध में ईरानी आक्रमणकारी सम्राट् जैरक्सीज Xerxes (ईरानी नाम के ख़ुसरो) के तीन लाख सैनिकों को केवल तीन सौ स्पार्टा के वीर ब्रह्मचारियों ने अपना बलिदान देकर आगे बढ़ने से रोक कर सारे यूनान की स्वतन्त्रता को स्थिर रखा था।

अपरिग्रह—इस व्रत का यथार्थ रूप से पालन न होने के कारण ही धन सम्पत्ति आदि का ठीक-ठीक विभाग नहीं है। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुये हैं, किसी के पास रात में सोने के लिये एक छोटी सी झोंपड़ी भी नहीं है। किसी के पास खत्तियों अनाज भरा हुआ है, कोई भूखा मर रहा है। इत्यादि-इत्यादि।

थोड़े से व्यक्तियों का अपनी आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति तथा सामग्री रखकर उसको अपने तथा दूसरों के निमित्त यमों का पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक रूप से व्यय करने में भी समाज की इतनी हानि नहीं है जितनी कि hoarding and locking up कंजूसी से संग्रह करने और उसको बिना काम में लाये बन्द रखने से होती है। क्योंकि धन सम्पत्ति आदि सामग्री जब व्यय अर्थात् काम में लायी जाती है तो उसका अंश किसी न किसी रूप से सारे समाज में बँट जाता है।

यदि हर-एक मनुष्य के पास केवल उसी की आवश्यकताओं के अनुसार ही सारी वस्तुयें रहें तो कोई मनुष्य निर्धन, भूखा और बेघर न रहेगा। इस समय अपरिग्रहव्रत के कुछ अंश में पालन करने वाले रूस देश U S S R का उदाहरण हमारे समक्ष है। यद्यपि वह भी अपरिग्रह का यथार्थ स्वरूप नहीं है और अनेक दोषों, त्रुटियों तथा नास्तिकता से युक्त है।

संगति—सर्व समाज से सम्बन्ध रखने वाले धर्म रूप यमों का वर्णन करके अब वैयक्तिक धर्मरूपी नियमों को बतलाते हैं—

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय (और) ईश्वरप्रणिधान नियम हैं।

व्याख्या—शौच दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य—मृत्तिका, जल आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान आदि को पवित्र रखना तथा मृत्तिका जल आदि से शरीर के अंगों को शुद्ध रखना, शुद्ध सात्त्विक नियमित आहार से शरीर को सात्त्विक, नीरोग और स्वस्थ रखना। वस्ती, धौती, नेती आदि तथा औषधि से शरीर शोधन करना ये बाह्य शौच हैं।

आभ्यन्तर—ईर्षा, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलों को मैत्री (१ । ३३) आदि से दूर करना, बुरे विचारों को शुद्ध विचारों से हटाना, दुर्व्यवहार को शुद्ध व्यहार से हटाना मानसिक शौच है। अविद्या आदि क्लेशों के मलों को विवेक द्वारा दूर करना चित्त का शौच है।

सन्तोष—सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्न के पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्था में रहना हो उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकार की तृष्णा का छोड़ देना सन्तोष है।

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ मनु० ४ । १२

अर्थ—सुख का अर्थी परम सन्तोष का सहारा लेकर अपने-आप को संयम में रक्खे, क्योंकि सन्तोष सुख की जड़ है और इसका उल्टा (असन्तोष) दुःख की जड़ है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सत्त्व के प्रकाश में चित्त की प्रसन्नता का नाम सन्तोष है न कि तम के अन्धकार में चित्त का आलस्य तथा प्रमादरूपी आवरण, जिसको सांख्य में तुष्टि कहा है।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तुष्टयो अभिमताः ॥ सांख्यकारिका ५०

अर्थ—तुष्टियाँ (मोक्षप्राप्ति से पहिले ही सन्तुष्ट हो जाना) नौ मानी गई हैं, चार आध्यात्मिक हैं, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं; और पांच बाह्य हैं जो विषयों में उपराम से होती हैं।

चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ—१ इस भरोसे पर कि प्रकृति स्वयं पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिये काम कर रही है। आत्मसाक्षात् के लिये धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास न करना प्रकृति-तुष्टि है।

२ इस भरोसे पर कि संन्यास के ग्रहण से स्वयं अपवर्ग प्राप्त हो जावेगा, यत्न करने की आवश्यकता नहीं, उपादान-तुष्टि है।

३ इस विचार से कि सब काम काल-आधीन हैं, समय आने पर अपवर्ग स्वयं प्राप्त हो जावेगा, यत्न न करना काल-तुष्टि है।

४ जब भाग्य में होगा स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जावेगी, इस भरोसे पर यत्न न करना भाग्यतुष्टि है।

बाह्यतुष्टि : मोक्ष के बाह्य साधनों में इस भय से प्रमाद और आलस्य करना कि शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, इन पांचों विषयों में पांच प्रकार के दुःख होते हैं अर्थात् इनके प्राप्त करने में दुःख, रक्षा में दुःख, भोग में दुःख और दूसरे की हिंसा का दुःख। यहां तुष्टियों का वर्णन इस उद्देश्य से दिया है कि कोई अभ्यासी-जन अविवेक के कारण कहीं तुष्टि ही को सन्तोष न समझ बैठें।

तप—जिस प्रकार अश्वविद्या का कुशल सारथी चञ्चल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सर्व द्वन्द्व अवस्था में बिना विक्षेप के योग-मार्ग में प्रवृत्त रहे। शरीर में व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियों में विकार और चित्त में अप्रसन्नता उत्पन्न करने वाला तामसी तप योग-मार्ग में निन्दित तथा वर्जित है। तप की विशेष व्याख्या इस पाद के सूत्र एक के वि० व० में देखें।

स्वाध्याय—वेद, उपनिषद् आदि और अध्यात्म-सम्बन्धी विवेकज्ञान उत्पन्न करने वाले योग और सांख्य के सत्-शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकार सहित गायत्री आदि मन्त्रों का जप स्वाध्याय है। इस की विशेष व्याख्या इस पाद के सूत्र एक के वि० व० में देखें।

ईश्वरप्रणिधान—ईश्वर की भक्ति-विशेष अर्थात् फलसहित सर्व कर्मों को उसके समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है।

ईश्वरप्रणिधान का फल श्री वेदव्यास जी ने अपने भाष्य में इस प्रकार बतलाया है:—

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

अर्थ—जो योगी शय्या तथा आसन पर बैठा हुआ वा मार्ग में चलता हुआ वा एकान्त में स्थित हुआ हिंसादि वितर्क रूप जाल को नष्ट किए हुए ईश्वरप्रणिधान करता है वह संसार के बीज अविद्या आदि क्लेशों के क्षय का अनुभव करता हुआ नित्य परमात्मा में युक्त हुआ अमृत के भोग का भागी होता है अर्थात् जीवन्मुक्ति के सुख को प्राप्त होता है। सब नियमों में ईश्वरप्रणिधान मुख्य है। तथा सब नियमों को ईश्वर-समर्पण-रूप से करना श्रेयस्कर है। यथाः—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन्॥
स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य, अहिंसा सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का सेवन करें। जितेन्द्रिय शुद्ध मन योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष, तप इनका पर ब्रह्म में अर्पण करे।

विशेष व्याख्या इस पाद के सूत्र एक के विशेष वक्तव्य में देखें। विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र ३२ ॥

बिना शुद्ध निर्विकार नीरोग और स्वस्थ शरीर के योग साधना कठिन है। इसलिए शरीरशोधन तथा शरीर के विकार और रोग निवृत्ति के चार साधन बतला देना उचित

प्रतीत होता है। इन चार साधनों में से (१) हठ योग की छः क्रियायें (२) प्राकृतिक चिकित्सा (३) सम्मोहन और संकल्पशक्ति को इस विशेष वक्तव्य में और चौथे औषधियों को साधन पाद के अन्त में परिशिष्ट रूप में दिखलाया जावेगा।

विशेष वक्तव्य—हठ योग की छः क्रियाओं द्वारा शरीर-शोधन—हठयोग में शरीर-शोधन के छः साधन बतलाये हैं :—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकि त्राटकस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥ (गौरक्षसंहिता)

अर्थ—धौति, बस्ति, नेति, नौली, त्राटक और कपालभाति, इन छः कर्मों को (शरीर-शोधन के निमित्त) करे।

इन कर्मों को विशेष रूप से किसी जानने वाले से ही सीखना चाहिये। यहाँ पाठकों की जानकारी के लिये उनका साधारण रूप से वर्णन किया जाता है:—

१ धौति—धौति तीन प्रकार की होती है : वारिधौति, ब्रह्मदातौन और वासधौति।

वारि-धौति अर्थात् कुञ्जर-कर्म : खाली पेट लवण-मिश्रित गुनगुना पानी पीकर छाती हिलाकर वमन की तरह निकाल दिया जाता है। इसको गजकरणी भी कहते हैं क्योंकि जैसे हाथी सूंड से जल खींचकर फेंकता है उसी प्रकार इसमें जल को पीकर निकाला जाता है। आरम्भ में पानी का निकालना कठिन होता है। तालु से ऊपर छोटी जिह्वा को सीधे हाथ की दो अंगुलियों से दबाने से पानी निकलने लगता है।

ब्रह्म-दातौन : सूत की बनी हुई बारीक, मोम से चिकनी की हुई रस्सी के टुकड़े को अथवा रबड़ की ट्यूब को, लवण-मिश्रित गुनगुने पानी को खाली पेट पीने के पश्चात् बिना दाँत लगाये गले से दूध के घूंट के सदृश निगला जाता है, फिर छाती हिलाकर उसको निकाल सारे पानी को वमन के सदृश निकाल दिया जाता है।

वास-धौति (वस्त्र-धौति) : धौति चार अंगुल चौड़ी, सोलह हाथ लम्बी, बारीक मलमल-जैसे कपड़े की होती है। खाली पेट लवण-मिश्रित गुनगुना पानी पीने के पश्चात् पानी अथवा आरम्भ में दूध में भीगी हुई धौति के एक सिरे को अंगुली से हलक में ले जाकर बिना दांत लगाये शनैः-शनैः दूध के घूंट के सदृश निगला जाता है। आरम्भ में निगलना कठिन होता है और उल्टी आती है इसलिये एक घूंट गुनगुने पानी के साथ निगली जाती है, प्रथम दिन एक-साथ ही नहीं निगली जा सकती है, शनैः-शनैः अभ्यास बढ़ाया जाता है। सब धौति निगलने के पश्चात् कुछ अंश मुंह के बाहर रखना पड़ता है। कुछ देर बाद नौली को चालन करके धौति तथा सब पिये हुए पानी को, वमन के सदृश निकाल दिया जाता है। इन क्रियाओं से कफ और पित्त रोग दूर होकर शरीर शुद्ध और हल्का हो जाता है; और मन सुगमता से एकाग्र होने लगता है।

इस क्रिया को अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिये। धौती को तह करके पानी में भिगोना चाहिये। जितना भाग अन्दर ले जाना हो उसको चार तह करते जावें। इस

बात का ध्यान रहे कि अन्दर जाकर धौती उलझने न पावे, क्योंकि उसके निकालने में दिक्कत होगी। यदि असावधानी से कभी ऐसी स्थिति हो जावे तो तुरन्त धौती को वापस खाना शुरू कर दें। दो तीन इन्च खाकर पुनः निकालना प्रारम्भ करें इससे अन्दर उलझी हुई धौती सुलझ जायेगी यदि इस प्रकार भी न निकले तो कोई वमन करने वाली औषधि आदि खालें।

घेरण्ड-संहिता में धौति कर्म के चार निम्न भेद बतलाए हैं :—

(१) अन्तर्धौति, (२) दन्त-धौति, (३) हृद्धौतिः और (४) मूलशोधन।

(१) अन्तर्धौति : इसके भी चार भेद बतलाए हैं— (क) वातसार, (ख) वारिसार, (ग) वह्निसार और (घ) बहिष्कृत।

(क) वातसार अन्तर्धौति : मुख को कौए की चोंच के सदृश करके अर्थात् दोनों होठों को सिकोड़कर धीरे-धीरे वायु का पान करे, यहाँ तक कि पेट में वायु पूर्णतया भर जावे। फिर वायु को पेट के अन्दर चारों ओर सञ्चालित करके धीरे-धीरे नासिकापुट द्वारा निकाल दे, इसे काकी-मुद्रा और काकी प्राणायाम भी कहते हैं।

फलः हृदय, कण्ठ और पेट की व्याधियों का दूर होना, शरीर का शुद्ध तथा निर्मल होना, क्षुधा की वृद्धि, मन्दाग्नि का नाश, फेफड़ों का विकाश, कण्ठ में सुरीलापन होना। वीर्य के लिये भी लाभदायक बतलाया गया है।

(ख) वारिसार अन्तर्धौति : इसमें मुख-द्वारा धीरे-धीरे जल पीकर कण्ठ तक भर लिया जाता है। फिर उदर में चारों ओर संचालित करके गुदामार्ग-द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

फल : देह का निर्मल होना, कोष्ठबद्धता तथा पेट के आमादि सब रोगों का दूर होना, शरीर का शुद्ध होकर कान्तिमान् होना बतलाया गया है।

(ग) वह्निसार अन्तर्धौति : नाभि की गांठ को मेरुपृष्ठ में सौ बार लगाये, अर्थात् उदर को इस प्रकार बार-बार फुलावे-सिकोड़े कि नाभि-ग्रन्थि पीठ में लग जाया करे। इससे, उदर के समस्त रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। (अनुभूत)

(घ) बहिष्कृत अन्तर्धौति : कौए की चोंच के सदृश मुख बनाकर इतनी मात्रा में वायु को पान करे कि पेट भर जावे, फिर उस वायु को डेढ़ घण्टे तक (अथवा यथाशक्ति) पेट में धारण किये रहे। तत्पश्चात् गुदामार्ग-द्वारा बाहर निकाल देना बतलाया गया है। जब तक आधे पहर तक वायु को रोकने का अभ्यास न हो जावे तबतक इस क्रिया को करने का यत्न न करें, अन्यथा वायु के कुपित होने का भय है।

फलः इससे सब नाड़ियां शुद्ध होती हैं। जैसी यह क्रिया कठिन है वैसे ही इसका लाभ अकथ्य तथा अगम्य बतलाया गया है।

(२) दन्त-धौति : यह भी चार प्रकार की होती है—(क) दन्तमूल, (ख) जिह्वामूल (ग) कर्णरन्ध्र और (घ) कपालरन्ध्र।

(क) दन्तमूल धौति : खैर का रस, सूखी मिट्टी अथवा अन्य किसी औषधि-विशेष से दांतों की जड़ को अच्छी प्रकार साफ करे।

(ख) जिह्वामूल-धौति : तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों को गले के भीतर डालकर जीभ को जड़ तक बार-बार घिसे। इस प्रकार धीरे-धीरे कफ के दोष को बाहर निकाल दे।

(ग) कर्णरन्ध्र-धौति : तर्जनी और अनामिका अंगुलियों के योग से दोनों कानों के छिद्रों को साफ करे, इससे एक प्रकार का नाद प्रकट होना बतलाया गया है।

(घ) कपालरन्ध्र-धौति : निद्रा से उठने पर भोजन के अन्त में और सूर्य के अस्त होने पर सिर के गढ़े को दाहिने हाथ के अंगूठे द्वारा प्रतिदिन जल से साफ करे, इससे नाड़ियां स्वच्छ हो जाती हैं और दृष्टि दिव्य होती है।

(३) हृद्धौति : इसके तीन भेद हैं—(क) दण्ड-धौति, (ख) वमन-धौति और (ग) वासो-धौति।

(क) दण्डधौति : केले के दण्ड, हल्दी के डंड,चिकने बेंत के दण्ड, अथवा वटवृक्ष की जटा डाढ़ी को धीरे-धीरे हृदयस्थल में प्रविष्ट करदे, फिर हृदय के चारों ओर घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल दे। इससे पित्त, कफ, अकुलाहट आदि विकारी मल बाहर निकल जाते हैं और हृदय के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। इसको भोजन के पूर्व करना चाहिये।

नोट—इसको उपर्युक्त ब्रह्म-दातौन समझना चाहिये और उसी विधि के अनुसार करना चाहिये।

(ख) वमन-धौति : भोजन करने के पश्चात् कण्ठ तक पानी पीकर भरले और थोड़ी देर तक ऊपर की ओर देखकर उस पानी को मुख-द्वारा बाहर निकालदे। पानी कण्ठ के अन्दर न जाने पावे। कफ-दोष और पित्त-दोष दूर होते हैं।

(ग) वासधौति (वस्त्रधौति) : चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ का बारीक वस्त्र किंचित् उष्ण (गर्म) जल से भिगोकर गुरु के बताये हुए क्रम से अर्थात् पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ अथवा इससे न्यूनाधिक युक्तिपूर्वक धीरे-धीरे ही बाहर निकाल दे। इसको भोजन के पहिले करना चाहिये। इससे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ-पित्त आदि अन्य विकार नष्ट होते हैं। इसका वर्णन ऊपर आचुका है। (ज्वर की अवस्था में न करे)

(४) मूलशोधन (गणेश-क्रिया) : कच्ची मूली की जड़ से अथवा बीच की अंगुली से यत्नपूर्वक सावधानी से बार-बार जल द्वारा गुदामार्ग को साफ करे। इसके पश्चात् घृत, मक्खन उस स्थान पर लगाना अधिक लाभदायक है। जब एक अंगुली का अभ्यास हो जावे तब दो का, कर सकते हैं इससे उदर रोग का काठिन्य दूर होता है। आम-जनित एवं अजीर्ण-जनित रोग उत्पन्न नहीं होते और शरीर की पुष्टि और कान्ति की वृद्धि होती है। यह जठराग्नि को प्रदीप्त करती है। इससे सब प्रकार के अर्श-रोग तथा वीर्यदोष भी दूर होते हैं।

२ वस्ति—वस्ति मूलाधार के समीप है। इसके साफ करने के कर्म को वस्तिकर्म कहते हैं। एक चिकनी नली को गुदा में लेजाकर नौलि-कर्म की सहायता से गुदामार्ग द्वारा

वस्ति में जल चढ़ाया और निकाला जाता है। साधारणतया इस क्रिया का करना कठिन है। इसके स्थान पर एनिमा से काम लिया जा सकता है। इससे आंतों का मल जल के साथ मिलकर पतला हो जाता है और शीघ्रतापूर्वक बाहर निकल जाता है।

जल चढ़ाने के पूर्व सिरिञ्ज (एक शीशे की पिचकारी जो अंग्रेजी दवा की दूकानों पर मिल सकती है) द्वारा गुदा में तेल चढ़ाना प्रशस्त है। एनिमा के अभाव में सिरिञ्ज द्वारा ग्लिसरीन चढ़ाने से भी मल तथा आँव के निकालने में वही लाभ हो सकता है। वस्ति में रोगानुसार भिन्न-भिन्न क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं, पर साधारण रीति गुनगुने जल में साबुन और लवण अथवा पोटैशियम परमेंगनेट (कुँवे में डालने की दवा) मिलाने की है।

घेरण्डसंहिता में वस्ति का निरूपण इस प्रकार है :—

वस्ति के दो भेद हैं : एक जल-वस्ति और दूसरी पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति अथवा शुष्क-वस्ति)।

जल-वस्ति (चालन-कर्म) : किसी बड़े पात्र में नाभिपर्यन्त जल भरवाकर, अथवा नदी, तालाब आदि जिनका जल शुद्ध हो, उत्कटासन लगाकर बैठ जाय, गुदामार्ग का आकुञ्चन और प्रसारण करे अर्थात् उसी जल के अन्दर उत्कटासन से बैठा हुआ गुदा को इस प्रकार सिकोड़े और फैलावे जैसे अश्वादि मल-त्याग के पश्चात् किया करते हैं। इससे प्रमेह, कोष्ठ की क्रूरता आदि रोग दूर होते हैं।

पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति, शुष्क-वस्ति) : भूमि पर पश्चिमोत्तान होकर लेट जाय फिर अश्विनि मुद्रा द्वारा धीरे-धीरे वस्ति का चालन करे अथवा गुदामार्ग का आकुञ्चन और प्रसारण करे। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होकर उदरगत आम, वात आदि रोगों को नष्ट कर देती है।

३ नेति—(क) नेति-कर्म के लिये महीन सूत के दस-पन्द्रह तार से बटी हुई एक डोरी की आवश्यकता होती है, जिसका एक किनारा नोकदार और मोम लगा हुआ होता है। नेति को पानी में भिगोकर उसके नोकदार सिरे को एक हाथ से नासिका द्वारा गले में लेजाकर दूसरे हाथ से पकड़ा जाता है तत्पश्चात् एक दो बार अन्दर बाहर चला कर मुख से निकाल दिया जाता है। इसी प्रकार दूसरे नासिका छिद्र से। इस क्रिया से मस्तिष्क तथा गले की सफाई, नाक, कान, आँख, दाँत के दर्द दूर होते हैं और नेत्र की ज्योति बढ़ती है। बारीक मलमल के कपड़े की भी नेती बनाई जा सकती है।

(ख) जल-नेति : क्रम से दोनों नासिका-छिद्रों से जल को पीते हुए मुंह से अथवा दूसरे नासिकापुट से निकालने से होती है।

(ग) कपालनेति मुंह में पानी भरकर नासिका-छिद्रों से निकालने से होती है।

नोट—नासिका-छिद्रों द्वारा पानी पीने से भी यही लाभ होता है।

४ नौली—आरम्भ में इस क्रिया को एकसाथ करना कठिन है। इसलिये तीन भागों में विभक्त करके इसका प्रयास करने में सुगमता होती है।

पहिला भाग—सीधा खड़ा होकर उदर का वायु बाहर निकालना। दोनों हाथों से दोनों घुटनों को दबाकर पूरा उड्डीयान करके अर्थात् पेट को बिल्कुल पीठ से मिलाकर दोनों नलों को उभारा जाता है। प्रथम पूरे उड्डीयान का अभ्यास पक्का करना होता है। उसके पश्चात् नल स्वयं बाहर उठने लगते हैं।

दूसरा भाग—एक-एक नल को बारी-बारी से निकाला और घुमाया जाता है। पहिले नल निकालने का अभ्यास किया जाता है उसके पश्चात् घुमाने का।

तीसरा भाग—दोनों नलों को बाहर निकालकर पहिले एक ओर से फिर दूसरी ओर से घुमाया जाता है।

इस क्रिया को शौच से निवृत्त होकर खाली-पेट करना चाहिये।

फल : यह क्रिया हठयोग की छः क्रियाओं में सबसे उत्तम मानी गई है। इससे गोला, तिल्ली, मन्दाग्नि, आम, वात, पेट का कड़ापन पेचिश, संग्रहणी आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं तथा वात, पित्त कफ त्रिदोष एक-साथ दूर होते हैं।

५ त्राटक - किसी सुखासन से बैठकर धातु या पत्थर की बनी हुई किसी छोटी चीज अथवा काग़ज पर काला बिन्दु बनाकर बिना पलक झपकाये देखते रहना त्राटक है। स्फटिक (बिल्लौर) के यन्त्र पर त्राटक करने से किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती, नेत्र की ज्योति बढ़ती है, स्वास्थ्य सुधरता है, मन, स्थिर होता है, चित्त शान्त और प्रसन्न होता है, यदि किसी इष्टमन्त्र के साथ किया जावे तो उसमें शीघ्र सफलता होती है। रात्रि के समय मोमबत्ती अथवा तिल के तेल की बत्ती का प्रकाश स्फटिक पर डालते हुए त्राटक करना अधिक लाभदायक है। यन्त्र पर श्वास-प्रश्वास की गति की भावना करते रहने से पहिले बहिःकल्पिता, तत्पश्चात् निरन्तर अभ्यास से बहिः अकल्पिता वृत्ति की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। (३-४३) त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है, इसलिये इस क्रिया के करने वाले को नेति, जलनेति तथा नेत्रों को त्रिफला, दूध अथवा गुलाब के पानी से धोना चाहिये; और नेत्र का व्यायाम अर्थात् शान्ति-पूर्वक दृष्टि को दाँयें-बाँयें, ऊपर-नीचे शनैः-शनैः चलाने की क्रिया करना चाहिए।

कई आचार्यों ने त्राटक के तीन भेद बतलाए हैं :—

(क) आन्तर त्राटक : नेत्र बन्द करके भ्रूमध्य, हृदय, नाभि आदि आन्तरिक स्थानों में चक्षुवृत्ति की भावना करके देखते रहना आन्तर त्राटक है।

(ख) मध्य-त्राटक : किसी धातु अथवा पत्थर की बनी हुई वस्तु पर अथवा काली स्याही से काग़ज पर लिखते हुए ओ३म् अथवा बिन्दु पर अथवा नासिकाग्र-भाग अथवा भ्रूमध्य अथवा अन्य किसी समीपवर्ती लक्ष्य पर खुले नेत्रों से टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य-त्राटक है।

(ग) बाह्य त्राटक: चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं।

६ कपालभाति—घेरण्डसंहिता में कपालभाति के तीन भेद दिखलाये हैं :—

उड्डियान



विधि—दोनों हाथों को घुटनों पर रख कर तथा कुछ झुक कर खड़े हो जाओ। श्वास को नासिका द्वारा जोर से बाहर निकाल कर पेट को अन्दर ले जाओ। यहाँ तक कि अभ्यास करते-करते पेट बिल्कुल पीठ के साथ जाकर लग जाए।

नौली क्रिया



विधि—उड्डियान के ठीक हो जाने पर उसी अवस्था में ही पेट के मध्य की दोनों नलों को बाहर निकालने का प्रयत्न करो। जब दोनों मसल निकालते निकालते बारीक हो जायें तो एक को अन्दर दबा कर बारी-बारी से एक-एक निकालने का प्रयत्न करो। जब एक एक अच्छी तरह निकलने लगें तो फिर घुमाने का प्रयत्न करो। यह क्रिया पेट के लिये जितनी लाभप्रद है उतनी ही कठिन भी है। अतः इसे किसी अनुभवी गुरु से ही सीखना चाहिये।

(क) वातकर्म कपालभाति, (ख) व्युत्क्रम कपालभाति, (ग) शीतक्रम कपालभाति।

(क) वातकर्म कपालभाति : सुखासन से बैठकर दाहिने हाथ के अगूठे से दाहिने नथुने को किञ्चित् दबाकर बायें नथुने से बलपूर्वक वायु को अन्दर खींचे और बिना रोके हुए तुरन्त ही अनामिका और कनिष्ठिका अंगुलियों से बांये नथुने को बन्द करके दाहिने नथुने से पूरी वायु को निकाल दे; इसी प्रकार दाहिने नथुने से वायु खींचकर बांए से निकाले। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्रता से क्रमश. रेचक, पूरक प्राणायाम को कपालभाति कहते हैं। आरम्भ में दस बार करे, फिर शनै-शनैः बढ़ाता जावे। इससे नाड़ीशोधन सिद्ध होता है मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है तथा कफजनित रोग दूर होते हैं। इससे नाक, श्वास नाडी तथा फेंफड़े शुद्ध होते हैं श्वास रोग तथा क्षय रोग के लिये लाभदायक है। कुण्डलिनी जाग्रत और मन के स्थिर करने के निमित्त अभ्यास आरम्भ करते समय इस क्रिया का करना प्रशस्त है। कपालभाति को निम्न दो विधियों से भी किया जाता है।

दूसरी विधि दोनों नासिकापुट से एक-साथ उपरोक्त रीति से वायु को अन्दर खींचना और बाहर निकालना।

तीसरी विधि : दक्षिण नासिकापुट बन्द करके वाम नासिकापुट से उपर्युक्त रीति से पूरक रेचक करना, इसी प्रकार वाम नासिकापुट बन्द करके दक्षिण नासिकापुट से उसी संख्या मे पूरक-रेचक करना।

(ख) व्युत्क्रम कपालभाति : नासारन्ध्रों से जल पीकर मुख से निकाल देवे। इसे भी अनुलोम और विलोम रीति से किया जाता है।

नोट—इन दोनों को हम नेतिकर्म मे जलनेति नाम से बतला आये हैं।

(२) प्राकृतिक नियमों द्वारा शरीर-शोधन अर्थात् बिना औषधि रोग दूर करने के उपाय

(१) प्राकृतिक जीवन, सादा प्राकृतिक खान-पान, शरीर की सफाई ठण्डे पानी से प्रात काल स्नान, सर्दी-गर्मी सहन करने का अभ्यास। सब कार्यों के लिये निश्चित समय-विभाग; प्रात और सायंकाल दो-तीन मील खुली हवा मे भ्रमण, भूख से कम और चबा-चबाकर खाना, सप्ताह मे एक बार उपवास आदि साधारण स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना।

(२) प्रात· और सायंकाल निश्चित समय पर सन्ध्या, व्यायाम, शीर्षासन, ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन, मयूरासन, सर्पासन आदि (साधन पाद सूत्र ४६ वि० व०) प्राणायाम, भस्त्रिका आदि (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०)।

स्वास्थ्य सुधारने, फेफड़े, पसली, छाती आदि के रोगों को हटाने के लिये :—

पेट का फुलाना—गर्दन, कमर, शिर को एक लाइन मे रखकर सीधे खड़े हो, दोनों नथुनों से पूरे श्वास को बाहर निकालकर पेट को दोनों हाथों से दबायें। इस प्रकार दोनों हाथो से पेट को दबाते हुए धीमे-धीमे श्वास को दोनो नथुनो से भरते हुए पेट को फुलावें।

इस बात का ध्यान रखें कि इस प्रकार श्वास भरने से केवल पेट ही फूले, पसलियाँ और छाती बिल्कुल न फूलने पावें। भरसक श्वास भरने के पश्चात् थोड़ी देर उसे वहीं रोके रहे, तत्पश्चात् धीमे-धीमे श्वास को दोनों नथुनों से बाहर निकालें और पेट को भरसक दोनों हाथों से दबाकर अन्दर की ओर सिकोड़ें, इस क्रिया को पाँच छः बार करें।

पसलियों का फुलाना—इसके बाद इसी प्रकार दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों ओर की पसलियों को दबायें, दोनों नथुनों से श्वास को धीमे-धीमे खींचते हुए भरसक पसलियों को फुलावें, पेट व छाती बिल्कुल न फूलने पावे। कुछ देर श्वास को पसलियों में रोककर धीमे-धीमे दोनों नथुनों से निकालें, पसलियों को हाथों से दबाते हुए यथाशक्ति सिकोड़ें। इस क्रिया को भी पाँच छः बार करें।

छाती का फुलाना—इसके बाद दोनों हाथों की हथेलियों से छाती को हँसली की हड्डी के नीचे दबाकर धीमे-धीमे श्वास को खींचते हुए भरसक छाती को फुलावें, इस बात का ध्यान रखें कि पसलियाँ और पेट बिल्कुल न फूलने पावें। कुछ देर श्वास को रोकने के पश्चात् धीमे-धीमे श्वास को बाहर निकालें, छाती को खूब सिकोड़ें। इस क्रिया को भी पाँच छः बार करें।

पूरी गहरी श्वास—उपर्युक्त तीनों क्रियाओं के अभ्यास के पश्चात् इस प्रकार दोनों नथुनों से पूरा गहरा श्वास लें कि पहिले पेट, फिर पसलियाँ और अन्त में छाती फूले, कुछ देर रोकने के पश्चात् इस प्रकार धीमे-धीमे दोनों नथुनों से श्वास निकाले कि पहिले छाती सिकुड़े, फिर पसलियाँ और अन्त में पेट सिकुड़कर पीठ से लग जावे। इस क्रिया को भी पाँच छः बार करें। इन क्रियाओं के करने से सब प्रकार के रोग और निर्बलता दूर होकर शरीर स्वस्थ और निरोग हो जावेगा।

(३) जल-चिकित्सा :

हिप बाथ (Hip bath)—शौच से निवृत्त होकर खाली पेट छाती और पैरों को बचाकर केवल नाभि के पास के पेट को ठण्डे पानी में रखकर नाभि के नीचे के भाग को चारों तरफ कपड़ा फिरा कर ठंड पहुँचावें। इसके पश्चात् व्यायाम अथवा घूमना चाहिए।

सन बाथ (Sun bath)—सुबह को कुछ हलका कपड़ा ओढ़कर धूप में कुछ समय बैठना।

स्टीम बाथ (Steam bath)—कभी-कभी अथवा ज्वर आदि रोग से ग्रसित होने पर कुर्सी या चारपाई के चारों ओर कम्बल या कपड़ा डालकर एक चादर ओढ़ कर बन्द कमरे में बैठें। एक अंगीठी पर एक डेगची में पानी भरकर उसके मुँह को बर्तन से ढक कर चारपाई या कुर्सी के नीचे रख दें। जब खूब भाप आने लगे तब बर्तन हटाकर भाप लें। पसीना बिलकुल सूख जाने पर और शरीर ठण्डा होने पर बाहर निकले।

सिट्ज़ बाथ (इन्द्रिय-स्नान) एक तसले अथवा मिट्टी के बड़े कूंडे में ठंडा पानी भर कर, इन्द्रिय के मुँह के ऊपर वाली खाल को ऊपर करें फिर इन्द्रिय को पानी में रखकर नीचे

से इस खाल को बायें हाथ के अगूठे और उसके पास वाली अगुली से इस प्रकार पकड़े कि जिस प्रकार पकड़ी हुई झिल्ली का कुछ भाग इन दोनों अगुलियों से बाहर रहे। इस झिल्ली को कपड़े से छुआ-छुआ कर ठण्ड पहुँचानी चाहिए। यदि खाल इन्द्रिय के ऊपर चढ़ी हो और दोनों अंगुलियों से न पकड़ी जा सके तो उस स्थान को जहां पर यह खाल ऊपर से जुड़ी हुई है उसको कपड़े से छुआ-छुआ कर ठण्ड पहुँचावें। पानी जितना ठण्डा होगा उतना ही लाभदायक होगा। प्रातःकाल शौच के पश्चात् अथवा भोजन के पूर्व व सायंकाल सोते या ध्यान से पहिले पाँच मिनट से आध घण्टे तक इस क्रिया को करें। यह क्रिया चित्त को शान्त व प्रसन्न, वीर्य-वाहिनी नाड़ियों, मस्तिष्क तथा सब मर्म स्थानों को शक्ति पहुँचाने, ब्रह्मचर्य की रक्षा और प्रमेह आदि सब प्रकार के वीर्य रोगों को दूर करने के लिये उत्तम है इस क्रिया को करके अभ्यास पर बैठने से मन शीघ्र शान्त हो जाता है। पेशाब और शौच के पश्चात् इन्द्रिय के मुख पर ठण्डा पानी धार के साथ डालने से भी लगभग यही लाभ प्राप्त होता है।

शौच साफ़ लाने और आँव के निकालने के लिये :—

एक रूमाल को लपेटकर पानी में भिगोकर अथवा गीली मिट्टी को एक कपड़े में रखकर नाभि के नीचे रात्रि को सोते समय बाधें, जब कपड़ा या मिट्टी सूख जावे तो उसे गीला कर दें। घाव, फोड़े-फुन्सी में गीला चिकनी मिट्टी लगायें। खुजली आदि में गोबर दही के पानी में घोलकर लेप करें।

सूर्यविज्ञान :—

स्वर्गीय श्री परमहंस विशुद्धानन्दजी महाराज (प्रसिद्ध गन्ध बाबा) सूर्य-रश्मियों को स्फटिक यन्त्रों द्वारा आकर्षित करके उनके संयोग-वियोग-विशेष से अद्भुत चमत्कार दिखला कर पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को विस्मित कर देते थे। उन्होंने सूर्यविज्ञान द्वारा असाध्य रोगों के चिकित्सार्थ बनारस में एक सूर्यविज्ञान-मन्दिर की भी स्थापना की थी देश के दुर्भाग्य से इस कार्य के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया।

सूर्यचिकित्सा :—

सूर्य की किरणों को विशेष-विशेष रङ्ग के शीशे द्वारा मनुष्य के पीड़ित अङ्ग पर डालना तथा उनको जल आदि पदार्थों पर आकर्षण करके उनका स्वास्थ्य-सुधार और रोगनिवारण में प्रयोग करना बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, उसको सामान्य रूप से यहाँ उल्लेख किया जाता है।

तत्त्वसम्बन्धी वार्तिका समाधिपाद सूत्र ३४ के विशेष वक्तव्य में पांचों तत्त्वों का रङ्ग, चिह्न, स्वाद, गति, परिमाण आदि बतला आए हैं, इन्हीं तत्त्वों से शरीर बना हुआ है, इसलिये इन तत्त्वों की स्वाभाविक परिमाण से न्यूनता या अधिकता ही रुग्ण अथवा अस्वस्थ होने का कारण है। कौनसा तत्त्व बढ़ा हुआ है और कौनसे तत्त्व की कमी है;

इसकी जांच नाखून, पेशाब, पाखाने आदि के रङ्ग से की जाती है। जैसे लाल रङ्ग की कमी में आंखें और नाखून नीले रङ्ग के, पाखाना और पेशाब सफेद अथवा कुछ-कुछ नीले रङ्ग का होता है। नीले रङ्ग की कमी में आंख गुलाबी, नाखून लाल, पाखाना और पेशाब कुछ लाल या पीला होता है। इसी प्रकार मनुष्य के स्वाद, स्वभाव, श्वास की गति और नाड़ियों की चाल से भी तत्त्वों की जांच की जाती है। यदि किसी तत्त्व की उसके स्वाभाविक अवस्था में कमी को, उसके रङ्ग को सूर्य की किरणों द्वारा रुग्ण शरीर में प्रवेश करके पूरा कर दिया जावे तो रोग-निवृत्ति हो सकती है। विशेष विशेष रङ्गों को सूर्य की किरणों द्वारा रुग्ण शरीर में पहुँचाने के बहुत उपाय ढूंढे गए हैं, उनमें से सबसे सरल चार हैं :—

(१) विशेष रङ्ग के शीशे द्वारा सूर्य की किरणों को रुग्ण शरीर में पहुँचाना अथवा उस रङ्ग की शीशे की लालटेन द्वारा उस रङ्ग का प्रकाश डालना।

(२) विशेष रङ्ग की साफ बोतलों में ताजा या वर्षा का जल अथवा गंगाजल भर कर काग लगाकर कम से कम चार घण्टे और अधिक से अधिक तीन दिन धूप में रख कर पानी को औषधिरूप में पिलाना तथा रुग्ण-स्थान में लगाना।

(३) विशेष रंग की बोतलों में मिश्री आदि पदार्थ अथवा औषधि रखकर, काग लगाकर पन्द्रह दिन से एक माह तक धूप में रखकर औषधिरूप में प्रयोग करना।

(४) विशेष रंग की बोतलों में सरसों, तिल, अलसी आदि का तेल रखकर, काग लगाकर कम से कम ४० दिन तक धूप में रखकर पीड़ित स्थान में मलना।

रंगों का प्रयोग :—

(१) आसमान-जैसा हल्का नीला रंग जिसमें लाली बिल्कुल न हो—यह रंग ठण्डा और कब्ज करने वाला होता है; और लाल रंग का जो गर्म और कब्ज दूर करने वाला है, विरोधी है। इसलिये गर्मी से आये हुए बुखार, पेचिश, आंव, दस्तों में, फोड़े-फुन्सी और जहरीले जानवरों की काटने की पीड़ा आदि जो लाल रंग की अधिकता से होती है, वह इस हल्के नीले रंग के पहुँचने से शान्त हो जाती है।

(२) लाल रंग—यह रंग गरम और कब्ज दूर करने वाला तथा मादे को निकालने वाला होता है। इसलिये ठण्ड की अधिकता से जो रोग होते हैं, जैसे फालिज, लकवा, गठिया; सर्दी से सूजन आदि, इस रंग को तीनों तरह से पहुँचाने से दूर होते हैं।

(३) गहरा नीला रंग अर्थात् वह नीला रंग जो लाली लिये हुए हो, जैसे वे लम्बी बोतलें जिनमें विलायत से अरण्डी का तेल आता है। जहां नीले रंग के साथ किञ्चित् गर्मी पहुँचाकर गन्दे मादे को निकालने की आवश्यकता होती है वहां इस रंग को काम में लाया जाता है, जैसे काली खांसी इत्यादि।

(४) पीला अथवा हल्का नारंगी रंग—यह रंग गहरे नीले रंग की अपेक्षा अधिक कब्ज खोलने वाला और गन्दे मादे को निकालने वाला है। इसलिये खुजली, कोढ़, रक्तविकार, तलग़मी बुखार आदि में काम में लाया जाता है।

लगभग सब प्रकार के बुखार और सिर के दर्द जो गर्मी से उत्पन्न हों उनमें हल्की नीले रंगवाली बोतलों का पानी पिलावें, बुखार की तेजी में हल्के नीले शीशे का प्रकाश डालें और हल्की नीले रंग की शीशी का तेल मलें।

थलगर्मी बुखार में नारंगी रंग की बोतल का पानी पिलावें।

दिल की धड़कन, दिमाग की गर्मी, विषैले जानवरों के काटने में, पेचिश व आंव के दस्तों में हल्के नीले रंग की बोतल का पानी पिलावें और हल्के नीले रंग की बोतलों का सरसों का तेल दिमाग, दिल व पीड़ित स्थानों में मलें, इसी रंग का प्रकाश डालें।

निमोनियों में गहरे नीले रङ्ग की बोतल का पानी पियें तथा लाल बोतल वाले अलसी के तेल को छाती व पसलियों पर मालिश करें।

तिल्ली के रोग के लिये नीले रङ्ग की बोतल का पानी पिलाना और तेल की मालिश करना लाभदायक है।

मृगी में गहरे नीले या हल्के नीले रङ्ग की बोतल का पानी पिलावें, इसी रंग के तेल की मालिश करें, इसी रंग के शीशे का प्रकाश डालें।

नजला या जुकाम के लिये हल्के नीले रंग की बोतल का पानी अथवा नारंगी व हल्के नीले रंग की बोतल का मिश्रित पानी पिलाना। गहरे नीले रंग वाली बोतल का तेल सिर व कनपटियों में मलना, हल्के नीले शीशे का प्रकाश डालना।

सूखी खांसी के लिये गहरे नीले रंग की बोतल का पानी पिलाना और लाल रंग की बोतल का तेल छाती पर मलना।

तर खाँसी में नारंगी रंग की बोतल का अथवा नारंगी बोतल व गहरी नीली बोतल, दोनों रंगों का मिश्रित पानी पिलाना, लाल बोतल का तेल छाती पर मलना।

दमा में नारंगी बोतल का पानी पिलाना और लाल बोतल के तेल को छाती पर मलना।

जिन रंगों (तत्त्वों) की कमी से जो रोग पैदा हुआ है उस रंग (तत्त्व) का ध्यान करने से भी रोग की निवृत्ति होती है।

५. अन्य प्राकृतिक चिकित्साएँ:—

(१) ज्वर आधे सिर का दर्द अथवा इसी प्रकार का और कोई विकार उत्पन्न होने से पूर्व अथवा उसी समय, जिस नथुने से श्वास चलता हो उसे बन्द रखें।

(२) सिर के चक्कर होने पर दोनों हाथों की कुहनी पर ओर से कपड़े की पट्टी बांधें, आधे सिर के दर्द में जिस ओर दर्द हो उस ओर कपड़े की पट्टी बांधें।

(३) नाक से पानी पीने से सर दर्द दूर होता है।

(४) बारी का बुखार आने वाले दिन प्रातःकाल ही सफेद अपामार या मौलसरी के पत्ते हाथों से रगड़ कर हल्के कपड़े में बाँध कर सूँघते रहना चाहिये, कागजी नीबू के पत्ते मलकर सूंघने से भी बुखार को आराम होता है।

(५) दाहिने स्वर में भोजन आदि खाने से और खाने के पश्चात् कुछ समय तक बायें करवट लेटने से भी अजीर्ण रोग दूर होता है। प्रथम दाहिने करवट से लेट कर १६ गहरी सांसें ले और छोड़े, फिर चित्त लेटकर ३२। इसके बाद बायें करवट लेट कर ६४ सांसें ले और छोड़े। प्रति दिन प्रातःकाल भोजन से आध घंटे पूर्व जल पीवे। नाभि के दांये ओर से बांये ओर बड़ी अँतड़ियों की मालिश करने और उठने से पूर्व आध घंटे पेट के बल लेटने से भी अजीर्ण रोग दूर होता है।

(६) कोष्ठबद्ध दूर करना—सौ बार पेट को खूब सिकोड़े और फैलावे। पहले एक-एक पैर को घुटने के ऊपर के हिस्से से मिलाकर पूरा उड्डीयान कर पेट की ओर खूब दबायें, फिर इसी प्रकार दोनों हाथों से दबायें। प्रातःकाल बिस्तर से उठते समय सीधे तथा दोनों करवट से घूमकर हाथ पैरों को सिकोड़े और फैलावें।

शौच से पहले नासिका अथवा मुँह से ताजा पानी पीवें।

खाने के पश्चात् शुद्ध किया हुआ रेत एक फंकी बिना दांतों से लगाये हुए फाँक कर ऊपर से पानी पीना।

रेत को धोकर मिट्टी आदि निकाल कर और बड़ी कंकड़ियों को छान कर साफ किया जाता है।

(७) दन्तरोग—पाखाना जाते या पेशाब करते समय नीचे ऊपर दोनों दांत मिला-कर जोर से दबाये रखें।

(८) चक्षुरोग—प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही मुँह में पानी भरकर आँखों में २०, ३० छींटे पानी के डाल कर धो डालो, स्नान के समय दोनों पैरों के अंगूठे में तेल लगावें। नेती क्रिया करें।

(९) रक्तविकार—शीतली प्राणायाम (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०) से रक्त विकार दूर होता है। और रक्त शुद्ध होता है।

(१०) लू में चलते समय कानों को कपड़े से बन्द रखने से शरीर को लू नहीं सताती।

(११) दिमागी काम में थकावट होने पर कुर्सी आदि का सहारा लेकर आँखें बन्द करके शरीर को बिलकुल ढीला छोड़ देना चाहिये, थकावट दूर होने पर स्मरण-शक्ति ठीक काम करने लगेगी।

(१२) हाथी दांत के कंघे को सर में रगड़ के साथ फेरने से सर दर्द दूर और मस्तिष्क बलवान् होता है।

(१३) नींद न आने पर पैर के नाखूनों में तेल लगावें। नाभी से नीचे भाग में गीला कपड़ा या मिट्टी बांधो या भंग पीस कर पैरों के तलवे तथा नाभि के नीचे भाग में लेप करें।

(१४) मनुष्य अपने ही विचारों का बना हुआ है। यथा "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः", मनुष्य विचारविशेष का ही पुद्गल है, जिसके जैसे विचार हैं वह वैसा ही है। इसलिए आरोग्यता की भावना करने और "ओ३म् आनन्दम् ओ३म् आरोग्यम्" जाप से सब रोग दूर होते हैं।

(३) सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्ति द्वारा शरीर-शोधन (आरोग्यता)

सम्मोहन-शक्ति

सम्मोहन—इस शक्ति को Personal अथवा Animal Magnetism (प्राणी की विद्युत्) और फारसी में शख्सी मिकनातीस या कशिश रूहानी कहते हैं । यह शक्ति मनुष्य में जितनी अधिक मात्रा में होती है उतना ही वह प्रभावशाली, तेजस्वी, उत्साही, आत्मविश्वासी, आशावादी और कार्यकुशल होता है इसकी न्यूनता ही मनुष्य को निराशावादी, निरुत्साही, उसके जीवनको अशान्तिमय और उसके कार्यों को असफल बनाती है।

सम्मोहन-शक्ति का मुख्य स्थान—इस शक्ति का केन्द्र मनुष्य का सिर है, जो मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियों का स्थान है, इसलिये इसकी किरणें मनुष्य के चहरे, आँख, मुँह, नाक और मस्तिष्क द्वारा निकलती रहती हैं। चेहरे के अतिरिक्त हाथों और अंगुलियों से भी इसकी किरणें निकलती रहती हैं, इसलिये हमारे जीवन का बहुत-सा कार्य हाथों द्वारा किया जाता है। यह शक्ति जो किरणों की शक्ल में हाथों की अगुलियों और मुखड़े आदि से निकलती है, उसकी संज्ञा हिन्दी में ओजस्, तेजस्, अंग्रेजी में Aura फारसी मे जलाल और नूर है। इसको प्राणतत्त्व और विद्युत-प्रवाह भी कहते हैं।

सम्मोहन-शक्ति का प्रयोग—इस शक्ति को बढ़ाकर आँखो से त्राटक द्वारा (निगाह जमाकर), नाक से श्वास द्वारा, मुँह से फूंक द्वारा और हाथों से मार्जन (Passes) द्वारा और मस्तिष्क से शुभ भावनाओं और दृढ़तापूर्वक आदेश अर्थात् (Suggestions) सूचनाओं द्वारा शारीरिक तथा मानसिक रोगों की निवृत्ति की जाती है। भारतवर्ष मे यह विद्या प्राचीन काल से चली आ रही है। पाश्चात्य देशों में इसका आधुनिक आविष्कार मैस्मेरिज्म (Mesmerism) और हिपनोटिज्म (Hypnotism) के नाम से प्रसिद्ध है।

योरुप में सबसे प्रथम आस्ट्रिया के वीयना (Vienna) नगर के एक व्यक्ति मैस्मर ने लगभग १७७० में यह सिद्धान्त ढूंढा था कि मनुष्य के हाथ की अंगुलियों के अग्रभाग से विद्युत-प्रवाह अर्थात् अदृश्य शक्ति निकलती है जो रोगी के शरीर में प्रविष्ट होकर रोग निवारण करती है। इसका नाम उसने Animal अथवा Personal Magnetism (प्राणी का विद्युत्-प्रवाह) रखा। उसी मैस्मर के नाम पर इस विद्या का नाम मैस्मेरिज्म (Mesmerism) और इसके प्रयोगकर्त्ता का नाम मैस्मेराइजर (Mesmeriser) प्रचलित हुआ। मैनचेस्टर के एक डाक्टर ब्रेड ने सन् १८४१ में यह अनुभव किया कि कृत्रिम निद्रा को उत्पन्न करके रोगी के रोग की सूचना, आदेश (Suggestions) द्वारा निवृत्ति की जासकती है। कृत्रिम निद्रा को Hypnosis कहते हैं, इसलिये इसी नाम के आधार पर इस विद्या का नाम हिपनोटिज्म (Hypnotism) और इस विद्या के प्रयोगकर्त्ता का नाम हिपनोटिस्ट (Hypnotist) प्रचलित हुआ।

सम्मोहन-शक्ति के विकास करने के नियम—स्वस्थ और नीरोग रहना, ब्रह्मचर्य के नियमों का आचरण करना, शारीरिक, मानसिक आदि किसी प्रकार की शक्ति को बिना

आवश्यकता व्यय न करना, कर्तव्य पर दृढ़ रहना, दृढ़ आत्मविश्वास और सङ्कल्पबल, श्रद्धा और उत्साह, सदाचार, जीवन की प्रत्येक अङ्ग में पवित्रता, निर्भयता, वीरता, धैर्य, शुभ विचार, सर्वदा चित्त की प्रसन्नता, परमार्थ-बुद्धि, प्राणिमात्र के लिये शुभकामना, शुद्ध चिन्तन, यम-नियम का पालन, आसन और प्राणायाम आदि का अभ्यास, मन की एकाग्रता और ईश्वर-भक्ति। ये सब इस शक्ति के विकास के नियम हैं।

सम्मोहन-शक्ति के ह्रास के कारण—शरीर तथा मन का अस्वस्थ और रोगी होना, ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन, शारीरिक और मानसिक शक्तियों का बिना आवश्यकता व्यर्थ व्यय करना, संशयात्मकता (ढिलमिल यक़ीनी), कायरता, निरुत्साह, दुराचार, भय, काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, ईर्ष्या, घमण्ड, घृणा, निर्दयता, दूसरों का अहित-चिन्तन, चित्त की चञ्चलता, अशान्ति, यम-नियमों का उल्लंघन और नास्तिकता। ये सब इस शक्ति के ह्रास के कारण हैं।

आकर्षण शक्ति को बढ़ाने के साधन :—

१ मन को एकाग्र करने का अभ्यास—समाधिपाद ३४ से ३९ वें तक के सूत्रों में बतलाये हुए किसी साधन द्वारा मन को एकाग्र करना।

२ शरीर की आन्तरिक क्रियाओं का तथा रक्तप्रवाहिनी नाड़ियों के वशीकार करने का अभ्यास :—

(क) एकान्त स्थान में सुखासन से बैठकर मन को एकाग्र करके एक हाथ को बिल्कुल खोलकर सीधा रक्खें। एक से दस तक गिनते हुए एक अंगुली को बन्द कर अन्य चारों को खुली रक्खें। फिर एक से दस तक गिनती करते हुए दूसरी अंगुली को भी बन्द करें, अन्य तीनों बिल्कुल खुली रहें। इस प्रकार पाँचों अंगुलियों को बन्द करलें। इसी प्रकार दूसरे हाथ की अंगुलियों को भी बन्द करें। फिर एक से दस तक गिन्ती गिनकर पहिले हाथ की पहिली अंगुली खोलें, अन्य सब बन्द रहें। इस प्रकार उस हाथ की सब अंगुलियों; और दूसरे हाथ की सब अंगुलियों को बन्द करने और खोलने की क्रिया का अभ्यास करें।

(ख) किसी चौकी आदि पर दाहिना हाथ कलाई सहित रखकर हाथ को बिल्कुल ढीला छोड़ दो, मन को सब ओर एकाग्र करके दृढ़ संकल्प से ऐसी भावना करो कि रक्त का प्रवाह बड़ी तेज़ी से हाथ की ओर आरहा है, जिससे हाथ और अंगुलियों की रगें फूल रही हैं और लाल हो रही हैं। जब यह होने लगे तो इसी प्रकार यह भावना करो कि हाथ और अंगुलियों से खून अपने-अपने स्थान पर आरहा है। हाथ तथा अंगुलियाँ अपनी साधारण अवस्था पर आ रही हैं। जब हाथों में इच्छानुसार खून का प्रवाह लाने और उतारने में अभ्यास हो जावे तो मार्जन (पासों) से इस विद्युत को हाथों की अंगुलियों द्वारा रोगी के रुग्ण स्थान में भरकर उसकी रोग-निवृत्ति कर सकते हैं। 'पासों' का अभ्यास इस प्रकार है : हाथों की दोनों हथेलियों को ज़ोर से रगड़ें, जबतक कि गर्म न हो जावें। फिर

हाथों को आगे-पीछे खूब हिलायें और हाथों की अंगुलियों को खूब ज़ोर से खोलें और बन्द करें। फिर एक कपड़े अथवा रुई के तकिये पर मनुष्य की कल्पना करके उसके सिर से पैर तक धीरे-धीरे अपने हाथों को ले जायें, अन्त में झटकावें। कुछ समय के पश्चात् इस अभ्यास से अंगुलियों में सनसनाहट होने लगेगी और ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि अंगुलियों से विद्युत् का सूक्ष्म प्रवाह बह रहा है।

(३) त्राटक का अभ्यास—हठयोग के षट्कर्मों में बतलाये हुए स्फटिक अथवा काले बिन्दु पर इस भावना से त्राटक करें कि नेत्रों के ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं, नेत्र प्रभावशाली और आकर्षक हो रहे हैं।

(४) प्राणायाम का अभ्यास—दीर्घ श्वास-प्रश्वास (Deep Breathing) का अभ्यास "प्राकृतिक नियमों द्वारा शरीर-शोधन" में बतलाई हुई चारों क्रियाओं के अनुसार। तालयुक्त व भस्त्रिका आदि प्राणायाम सूत्र ५० के वि० व० में बतलाई हुई रीत्यनुसार। प्राणायाम ऐसी भावना से करे कि 'मैं प्राणशक्ति को शरीर में खींच रहा हूँ, प्राणशक्ति रोम-रोम में प्रविष्ट होकर मुझे उत्साह, जीवन-शक्ति और आरोग्यता प्रदान कर रही है' मैं सूर्य के सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।'

(५) आरोग्यता और स्वास्थ्य की दृढ़ भावना—"प्राकृतिक नियमों द्वारा आरोग्यता में" बतलाये हुए 'ओ३म् आरोग्यम्', 'ओ३म् आनन्दम्' के जाप के साथ यह विचार किया करें कि 'मैं स्वस्थ हूँ', 'मुझ में आलस्य और प्रमाद नहीं है', 'मैं बुढ़ापे के पाश से मुक्त हूं', 'मैं पूर्णतया नीरोग और बलिष्ठ हूँ', मुझ में अपने कर्त्तव्य कार्यों के करने की पूरी शक्ति है', 'मैं उनको दत्तचित्त होकर करूँगा', 'अपने कर्त्तव्य में कदाचित् प्रमाद न करूँगा', जैसे :—

एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं मएतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद। (छा० उप०)

अर्थ—इतरा का पुत्र महिदास जो इस रहस्य का जानने वाला था उसने रोग को लक्ष्य करके कहा कि 'तू मुझे यह क्या तपाता है, मैं इससे न मरूँगा', वह ११६ वर्ष जीवित रहा तथा जो कोई भी ऐसा जानता है वह भी ११६ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है।

(६) इष्ट (अच्छी) प्रकृतियों का ग्रहण और अनिष्ट (बुरी) प्रकृतियों का परित्यागः—इस शक्ति के प्रयोगकर्त्ता को सबसे प्रथम अपने आपको नियन्त्रण (Self-control) में रखना अति आवश्यक है, क्योंकि जो स्वयं अपने को अपने वश में नहीं रख सकता है वह दूसरों पर किंचित भी प्रभाव नहीं डाल सकता है। इस लिए जो दुष्ट प्रकृतियाँ अपने में हों उनका परित्याग और अच्छी प्रकृतियों का ग्रहण निश्चयात्मकरूप से पूरे आत्म-विश्वास (Self-confidence) और दृढ़ संकल्प (Firm determination) के साथ करना चाहिये।

अच्छे अथवा बुरे विचार मनुष्य के मन में जिस प्रगति से बराबर उठते रहते हैं उसी के अनुसार उनका बल बढ़ता है। अन्त में एक समय वे इतने प्रबल हो जाते हैं कि मनुष्य उनके अनुसार कार्य करने पर बाध्य हो जाता है। जैसे कार्य मनुष्य करता रहता है वैसी ही उसकी प्रकृति बनती जाती है। इससे सिद्ध होता है कि विचार ही मनुष्य की प्रकृति के कारण हैं। इसलिए जिस अनिष्ट प्रकृति को त्यागना है उसको बिना टालमटोल के (जैसे १, २ सप्ताह में छोड़ दूँगा, अथवा ३, ४ बार करने के पश्चात् छोड़ दूँगा इत्यादि तुरन्त उसके परित्याग का पूरे आत्मविश्वास से दृढ़ संकल्प करके उसके विचारों को पूर्णतया मन से हटा दें। अथवा जिस समय अन्दर से अनिष्ट कर्मों को करने का विचार उत्पन्न हो उसी समय उसको हटा दें। इस प्रकार बराबर हटाये जाने से वे विचार दुर्बल होते-होते नष्ट हो जावेंगे। विचारों के न रहने पर उस प्रकार के कर्म होने स्वयं बन्द हो जावेंगे, बुरे कर्मों के छूटने से वह अनिष्ट प्रकृति भी छूट जावेगी।

इसी प्रकार जिस प्रकृति को ग्रहण करना हो उसके विचारों को मन में प्रबल करते-करते दृढ़ प्रकृति के रूप में लाया जा सकता है।

अनिष्ट प्रकृतियों के परित्याग और इष्ट प्रकृतियों के ग्रहण की प्रक्रिया:—आपने अनुभव किया होगा कि जितने बजे उठने का संकल्प करते हुए आप सोते हैं आपकी आँख अवश्य उस समय खुल जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो बात मन अथवा सूक्ष्म शरीर को भलीभाँति सुझा दी जावे उसके अनुसार कार्य करने के लिए स्थूल शरीर बाध्य हो जाता है। विशेषतः उस समय जब निद्रा छा रही हो और समस्त अङ्ग ढीले हों, तब मन के अन्दर विशेष प्रभाव शरीर पर प्रकट होता है। इसलिए आरामकुर्सी या चारपाई पर लेटकर अङ्गों को ढीला कर चित्तवृत्ति को एकाग्र करें। एकाग्रता के साथ साथ हल्की नींद की कल्पना करें। जब नेत्र भारी होने लगें और हल्की सी निद्रा आने लगे तो जिस अनिष्ट प्रकृति को छोड़ना हो उसके सम्बन्ध में प्रभावशाली शब्दों में इस प्रकार आदेश (Auto-suggestions) दें: "हे मन तू इस दुष्ट प्रकृति का परित्याग कर दे, तुझ में यह दुष्ट प्रकृति नहीं रहनी चाहिए, कदाचित् नहीं रहनी चाहिए, मैं इसको निकाल कर बाहर फेंक रहा हूँ। मैंने इसको बाहर फेंक दिया है। अब तुझ में इस प्रकार की कोई प्रकृति नहीं रही है।" यह आवश्यकता नहीं है कि इन्हीं शब्दों को दुहराया जाय, इस आशय को लेते हुए आप अपने ही प्रभावशाली शब्दों में इस प्रकार का आदेश (Auto-suggestions) दे सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई इष्ट प्रकृति ग्रहण करनी हो तो यह प्रबल विचार उत्पन्न करना चाहिये "हे मन, मैं इस शुभ प्रकृति को तुम्हारे अन्दर स्थापना करता हूँ। तुम अब इसी प्रकृति के अनुसार काम करोगे, तुम में यह प्रकृति दृढ़ हो गई है, मैंने इसको पूर्णतया दृढ़ कर लिया है।" इसी रीति से किसी बच्चे, श्रद्धालु शिष्य, भक्त अथवा मित्र की दुष्ट प्रकृति को छुड़ाया जा सकता है। अर्थात् उसको आराम से लिटाकर सम्मोहन निद्रा (कृत्रिम निद्रा में जिसका आगे वर्णन होगा) लाओ। जब कृत्रिम

निद्रा आजावे तो उसका नाम लेकर उपर्युक्त प्रकार की आज्ञाओं (Suggestions) द्वारा अर्थात् 'हे अमुक, मैं तुम्हारी इस अनिष्ट प्रकृति को तुम्हारे अन्दर से बाहर निकालता हूँ, इस अनिष्ट प्रकृति को छोड़ दो, सर्वदा त्याग कर दो, मैंने इसे तुम्हारे अन्दर से बिल्कुल निकाल दिया है।' ऐसा ही इष्ट प्रकृति के स्थापन में 'हे अमुक, मैं तुम्हारे अन्दर इस इष्ट प्रकृति को स्थापित करता हूँ इस प्रकृति को मैंने तुम्हारे अन्दर दृढ़ कर दिया है, अब तुम इसके अनुसार ही सारे कार्य करोगे, इत्यादि।' इस प्रकार के वाक्यों को दस-पन्द्रह मिनट तक निरन्तर दुहराते रहना चाहिए। यदि सर में भारीपन अनुभव करे तो उसके सर पर दाहिना हाथ रखकर, उसके नेत्रों मे कुछ अन्तर से फूंक मारकर यह सूचना देनी चाहिए कि 'मैंने तुमको नीरोग कर दिया है, तुम अब अच्छे हो, अब तुम में भारीपन नहीं है।' इस प्रकार का आदेश प्रातः सायंकल दो बार अथवा रात्रि में एकान्त में दें। रात्रि में स्वाभाविक निद्रा में सोते हुए भी इस प्रकार के आदेश दे सकते हैं।

आकर्षणशक्ति का प्रयोग—जिस प्रकार प्रयोगकर्त्ता (Hypnotist) के लिये दृढ़ संकल्प, आत्मविश्वास और पात्र के प्रति शुभ भावनाओं की आवश्यकता है इसी प्रकार पात्र की प्रयोगकर्त्ता के प्रति पूरी श्रद्धा, विश्वास और उसके आदेशों को ग्रहण करने की इच्छा की भी अति आवश्यकता है। पात्र की इच्छा अथवा उसकी उसके प्रति पूरी श्रद्धा न होने पर प्रयोग का पूरा प्रभाव न पड़ेगा।

सूचनायें अर्थात् आदेश (Suggestions)—इस शक्ति के प्रयोग में मुख्य चीज सूचनायें हैं। सूचनायें चाहे त्राटक, मार्जन, फूंक आदि के साथ हों, चाहे इनके बिना हों, दृढ़-संकल्प, पूरे आत्मविश्वास और प्रभावशाली शब्दों मे अवश्य होनी चाहिये। प्रयोगकर्त्ता को यह अवश्य देखना चाहिये कि जिसके ऊपर वह प्रयोग कर रहा है उसका उसके साथ क्या सम्बन्ध है। यदि किसी अपने बड़े पूज्य, जैसे पिता, गुरु आदि पर प्रयोग किया जावे तो उसके प्रति ये सूचनायें प्रार्थनारूप में होनी चाहियें। जैसे "आप महान् आत्मा के शरीर में कोई विकार नहीं होना चाहिये, आप अपने शरीर से इन सब विकारों को निकाल दीजिये, आप यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार कर लीजिये, आपने यह प्रार्थना स्वीकार करली, अपने शरीर से सब विकारों को निकाल दिया, आप बिल्कुल स्वस्थ हैं, आपका शरीर बिल्कुल नीरोग हो गया है" इत्यादि।

इस प्रकार की मानसिक प्रार्थना केवल त्राटक के साथ बिना मार्जन अथवा फूंक के भी प्रभावशाली होती है। गायत्री आदि वैदिक मन्त्र अथवा ओ३म् के जाप के साथ सूचनायें अधिक प्रभावशाली हो जाती हैं।

मार्जनक्रिया के प्रयोग करने की विधि (Passes)—मनुष्य के शरीर पर हाथ फेरकर अपनी शक्ति को हाथ और अंगुलियों द्वारा प्रवेश करने की क्रिया को मार्जन क्रिया अथवा 'पास' करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकार के होते हैं, लम्बे और छोटे।

लम्बे मार्जन : सिर से पैर की अंगुलियों तक सारे शरीर में जो मार्जन किये जाते हैं उनको लम्बे अथवा पूरे मार्जन कहते हैं।

छोटे मार्जन : जो गर्दन, कमर, जंघा आदि से पैरों की अंगुलियों तक अथवा किसी बाजू, दण्ड, कलाई आदि से उस हाथ की अंगुलियों तक किये जाते हैं उनको छोटे मार्जन कहते हैं।

मार्जन करने की विधि :—मार्जन स्त्री के बाईं और पुरुष के दाहिनी ओर देना चाहिये। मार्जन करते समय पात्र के शरीर से हाथ चार इञ्च दूर रहने चाहिये, दोनों हाथों की हथेलियों और अंगुलियों को मिलाकर तथा अंगूठे को दूर रखकर पीड़ित स्थान पर अंगुलियों को कुछ देर रखकर धीरे-धीरे पैरों अथवा हाथ की अंगुलियों तक ले जाकर हाथ की अंगुलियों को झटक देना चाहिये। चित्त एकाग्र, हृदय शुद्ध और पूरे दृढ़-संकल्प के साथ ऐसी भावना करनी चाहिये कि अंगुलियों द्वारा आपका तेज (विद्युत-प्रवाह) रोगी के पीड़ित स्थान में प्रवाहित होकर पीड़ा को हटाता हुआ स्वस्थ जीवन प्रदान कर रहा है। रोगी के पैरों अथवा हाथों की अंगुलियों तक ले जाकर अपने हाथ की अंगुलियों को इस प्रकार झटक दें जैसे कि रोगी की पीड़ा और रोग को निकालकर बाहर फेंक दिया है। इसी प्रकार कई बार करें। कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता हाथ में छुरी अथवा लोहे की छोटी छड़ी (Iron rod) लेकर मार्जन करते हैं और पीड़ित स्थान पर उसको छुआकर रोग को खींच लेते हैं। यदि आवश्यकता समझें तो रोगी के सन्तोषार्थ और विश्वासार्थ ऐसे शब्दों (Suggestions) का भी कभी-कभी उच्चारण होता रहे जैसे, "तुम्हारी पीड़ा दूर हो रही है, तुम स्वस्थ हो रहे हो, अब देखो तुम्हारी पीड़ा कम हो गई, अब तुम बिल्कुल नीरोग और स्वस्थ हो गए" इत्यादि। किसी वैदिक मन्त्र अथवा ॐ के मानसिक जाप से संकल्पशक्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है। रोगी को कुर्सी, चारपाई अथवा किसी वस्त्र पर आराम से बैठा अथवा लिटा देना चाहिये। फिर यदि उसके सिर अथवा सारे शरीर में दर्द हो जैसे ज्वर आदि, तो लम्बे 'पास' सिर के पास कुछ देर हाथों को रोककर पैर की अंगुलियों तक पास करें। यदि एक पाँव जंघा, पिंडली अथवा पंजे में पीड़ा हो तो उसी स्थान-विशेष से लेकर पाँव की अंगुलियों के सिरे तक पास करे। यदि एक हाथ में बाजू से पहुँचे तक कष्ट हो तो उसी हाथ की अंगुलियों के सिरे तक पास करे। यदि पीठ की ओर पीड़ा हो तो इसी प्रकार पीछे की ओर पास करके पीड़ा को निकालना चाहिये।

त्राटक और फूँक—उपर्युक्त भावना, आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प के सहित नीरोगता की सूचनायें और वैदिक मन्त्र अथवा ॐ के मानसिक जाप के साथ त्राटक द्वारा रोगी के रुग्ण अथवा पीड़ित स्थान पर टकटकी बाँधकर लगातार देखने तथा पीड़ित स्थान पर मुंह से फूंक मारने से भी रोग-निवृत्ति की जाती है। इनका स्वतन्त्र रूप से तथा 'पासों' के साथ, दोनों प्रकार से प्रयोग हो सकता है।

जल, दुग्ध, घृत, तेल आदि पदार्थों अथवा किसी औषधि पर उपर्युक्त सारी भावनाओं के साथ 'पास', त्राटक और फूंक द्वारा इस शक्ति का संचार किया जाता है; और उनके यथायोग्य प्रयोग से रोग-निवृत्ति की जाती है। सूर्यचिकित्सा' में बतलाये हुए जल, तेल, मिश्री आदि पर प्रयोग इस कार्य के लिये विशेष हितकर होगा। इसी प्रकार कपड़ों को

तह करके उनमें इन सब प्रक्रियाओं से इस शक्ति को पहुँचाया जाता है। इसे रोगी के पीड़ित स्थानों में बाँधने अथवा ओढ़ने से रोग-निवृत्ति हो जाती है।

केवल त्राटक का प्रयोग—सङ्कल्पशक्ति के प्रबल हो जाने पर बिना 'पास' या फूंक के दृढ़-संकल्प द्वारा स्वास्थ्य की शुभ भावनाओं के साथ ॐ का मानसिक जाप करते हुए केवल दूर से त्राटक करने से भी सारे रोग दूर किये जा सकते हैं परन्तु यह फल पात्र की श्रद्धा और पूरे सहयोग से ही प्राप्त हो सकता है।

दूर बैठे रोगी का इलाज—Post Hypnotism :—

ध्यान की अवस्था परिपक्व हो जाने पर ही इसका प्रयोग हो सकता है। इसलिये प्रथम अपने अभ्यास के कमरे में विधिपूर्वक नियत आसन से बैठकर किसी ऐसे पवित्रात्मा महान् पुरुष के चित्र को जिस पर आपकी पूरी श्रद्धा हो, ध्यान में लाने का प्रयत्न करें। प्रथम वह चित्र बड़ी कठिनाई से एक क्षण के लिये सामने आवेगा। निरन्तर अभ्यास से जब वह चित्र बीस अथवा तीस मिनट के लिये ध्यान के आगे बना रहे तब दूर स्थान पर बैठे हुए रोगी के चित्र को ध्यान में लाकर उपर्युक्त प्रयोगों से उसके रोगों की निवृत्ति की जा सकती है, किन्तु यह प्रयोग एक निश्चित समय पर होना चाहिए और उस समय रोगी अपने कमरे में एकान्त शान्ति-पूर्वक आराम से सहारा लगाकर बैठ जावे या लेट जावे और इस प्रयोग को ग्रहण करने की भावना करे।

अपने रोग का स्वयं इलाज करना :—

अपनी दृढ़ सङ्कल्पशक्ति और आरोग्यता की दृढ़ भावना के साथ उपर्युक्त विधियों से अपना रोग भी निवारण किया जा सकता है। अथवा एक बड़े दर्पण (आइने) में अपने प्रतिबिम्ब पर उपरोक्त विधि अनुसार त्राटक, पास आदि द्वारा आरोग्यता की सूचनायें (Auto-suggestions) देकर रोग-निवृत्ति की जाती है, परन्तु जब पीड़ा के कारण अपनी इस शक्ति का स्वयं प्रयोग करने में असमर्थता हो तब किसी दूसरे अपने शिष्य अथवा अन्य किसी अनुभवी प्रयोगकर्त्ता से इस शक्ति का प्रयोग करावे और उसमें अपनी शक्ति लगादे।

दूसरे की पीड़ाओं को वस्त्र में खींचना—कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता एक चादर ओढ़ कर बैठते हैं और रोगी को अपने सामने बैठाकर उसकी आंखों से आंखें मिलाकर पूरे संकल्प के साथ उसके रोग को चादर में खींच लेते तत्पश्चात् उस चादर को जला देते हैं।

पूज्यपाद स्वर्गीय परमहंस स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज (प्रसिद्ध गंधबाबा) के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे अपने श्रद्धालु शिष्यों के रोग और पीड़ा को अपने शरीर में खींच लेते थे, परन्तु यह कार्य अधिकतर शिष्यों की गहरी श्रद्धा और विश्वास पर निर्भर था।

कृत्रिम निद्रा (Hypnosis)—त्राटक, मार्जन आदि क्रियाओं तथा सूचना (Suggestions) शक्ति से अथवा किसी चमकीली वस्तु पर नजर जमाकर नेत्रों के मज्जा-

तन्तुओं को थकाकर जो स्वाभाविक निद्रा के समान तन्द्रा उत्पन्न की जाती है उसको कृत्रिम निद्रा Hypnosis अथवा Hypnotic Sleep अथवा Mesmeric Sleep कहते हैं।

कृत्रिम निद्रा उत्पन्न कराने की कई सरल विधियाँ :—

(१) प्रयोगकर्त्ता पात्र को अपने सम्मुख आराम से बैठाकर उसकी आँखों पर त्राटक करे और उससे कहे कि वह भी बिना पलक झपकाए टकटकी बाँधकर उसकी ओर देखे, कुछ देर ऐसा करने के पश्चात् पात्र से कहे कि अब तुम इतने समय तक अथवा जबतक मैं तुमको आज्ञा न दूँ, आँख नहीं खोल सकते, तुम कृत्रिम निद्रा में आगये हो। जो तुमको आज्ञा दूँगा वैसा ही करोगे।

(२) एक काग़ज पर सौ बार कृत्रिम निद्रा (Hypnosis) लिखो और पात्र से यह कहकर पढ़वाओ कि तुम अन्तिम शब्द पढ़ोगे तो गहरी कृत्रिम निद्रा को प्राप्त हो जाओगे, उस समय सारे कार्य मेरी आज्ञा के अनुसार करोगे, मेरी आज्ञा से बाहर किसी भी प्रकार न जा सकोगे।

(३) रुई के फोये को बर्फ या बर्फ-जैसे ठण्डे पानी में भिगोकर पात्र के मत्थे से नीचे की ओर रखे, फिर उसको यह कहकर सूचना दे कि उसको उठाते ही वह गहरी कृत्रिम निद्रा को प्राप्त होगा।

(४) पात्र के सन्मुख किसी धातु के कटोरे को रखकर लोहे की छुरी से धीमे-धीमे कई बार पात्र को यह सूचना देकर बजावे कि ज्यों ही वह बजाना बन्द करेगा त्यों ही वह (पात्र) गहरी कृत्रिम निद्रा को प्राप्त हो जावेगा।

(५) पात्र के सामने एक प्याला दूध का अथवा मिश्री आदि के टुकड़े खाने के लिये रखकर यह सूचना दे कि इसके समाप्त करने के कुछ देर बाद वह गहरी कृत्रिम निद्रा को प्राप्त होगा। तत्पश्चात् कई विधान मार्जन दे।

(६) भ्रुकुटी पर त्राटक करते हुए कृत्रिम निद्रा की सूचना दे।

(७) पात्र को प्रभावशाली शब्दों में यह सूचना देकर कि पन्द्रह मिनट अथवा आध घण्टे में तुम कृत्रिम निद्रा को प्राप्त हो जाओगे। उसको घड़ी में समय देखते रहने को कहो।

(८) चुम्बक छड़ी (Mesmeric wand) हाथ में लेकर प्रभावशाली शब्दों में यह सूचना दो कि इस छड़ी में ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने फिराई जाय वही कृत्रिम निद्रा को प्राप्त होगा, फिर जिस-जिस के सामने घुमाते जाओ वही सोता जावेगा।

इस प्रकार कृत्रिम निद्रा में लाने के कई उपाय हैं। प्रयोगकर्त्ता को समय और आवश्यकतानुसार अपनी प्रयोग-बुद्धि से काम लेना होता है। ऊँची अवस्था वाले तो केवल मानसिक शक्ति से ही सारे कार्य कर सकते हैं। आरम्भ में प्रयोगकर्त्ता को किसी बारह वर्ष से सोलह वर्ष तक की आयु वाले लड़के पर अभ्यास करने से सुगमता होती है। अपनी शक्ति की जाँच इस प्रकार कर सकते हैं कि यदि किसी जाते हुए पुरुष के प्रति त्राटक द्वारा ऐसा संकल्प करो कि वह तुम्हारी ओर देखे। जब ऐसा होने लगे तो समझो कि तुम्हारी शक्ति प्रयोग करने के योग्य हो गई है।

कृत्रिम निद्रा द्वारा रोग-निवारण :—

कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता रोगी को कृत्रिम निद्रा में लाकर पूर्वोक्त रीति से स्वास्थ्य और नीरोगता की सूचनायें देकर और पीड़ा को निकालते हैं। इसमें दो प्रकार के मार्जन 'पास' दिये जाते हैं। विधान मार्जन (Downward Passes) और विसर्जन मार्जन (Upward Passes) विधान मार्जन ऊपर से नीचे की ओर अर्थात् सर से छाती अथवा पैर तक, कृत्रिम निद्रा लाने के लिये; और विसर्जन मार्जन नीचे से ऊपर की ओर अर्थात् छाती अथवा पैर से सिर तक, कृत्रिम निद्रा उतारने के लिए दिये जाते हैं।

कृत्रिम निद्रा लाने की साधारण रीति यह है कि पात्र को पहिले यह समझा दिया जावे कि एक निश्चित समय तक कृत्रिम निद्रा में लाकर तुम्हारे रोग निकाल दिए जायेंगे। फिर उसको कह दे कि शरीर को शिथिल करके लेट जावे और अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ढीला छोड़कर नाक से गहरे श्वास-प्रश्वास करे। भ्रकुटि पर त्राटक करते हुए दृढ़ सङ्कल्प के साथ कृत्रिम निद्रा में लाने की सूचनाओं के साथ विधान मार्जन दे। दस बारह विधान मार्जन देने से जब कृत्रिम निद्रा आ जावे तो पूर्वोक्त विधि से स्वास्थ्य की सूचना (Suggestions) के साथ लम्बे अथवा छोटे मार्जन यथा-आवश्यकता दे। यह सूचना प्रभावशाली शब्दों में होनी चाहिये कि तुम्हारा अमुक रोग निकल रहा है, अब तुम बिल्कुल निरोग हो रहे हो। जाग्रत होने पर रोग अथवा पीड़ा सब जाती रहेगी, इत्यादि।

दूसरी विधि यह है कि प्रयोगकर्त्ता पात्र को अपने सम्मुख एक कुछ दूर कुर्सी पर बैठाकर उसकी दाहिने हाथ की अंगुलियों को अपने बांये हाथ से पकड़कर निगाह से निगाह मिलाकर ऐसा दृढ़ सङ्कल्प करे कि पात्र को निद्रा आ रही है, और पात्र को बिना झपकाए अपनी आँखों की ओर टकटकी बाँधकर देखने के लिए कहे, जब आँखें भारी होकर बन्द होने लगें तो बन्द करने को आज्ञा दे। कृत्रिम निद्रा आजाने पर उपर्युक्त विधि से स्वास्थ्य-दायक सूचनायें दे।

बालकों अथवा शिष्यों को इसी प्रकार कृत्रिम निद्रा में लाकर सूचनाओं द्वारा उनके दुर्गुणों को निकालकर सदाचारी बनाया जा सकता है।

ध्यान की परिपक्व अवस्था में दूर स्थान में रहने वाले शिष्य अथवा किसी प्रेमी के चित्र को ध्यान में लाकर इस प्रकार के Suggestions देने से वे दुर्गुण दूर हो सकते हैं और उसका जीवन पवित्र बनाया जा सकता है। यदि कोई अपने से द्वेष रखे या प्रतिअपकार करे तो उसको ऐसे Suggestions देने से कि तुम मेरे प्रति द्वेष नहीं रखते हो; जैसा मेरा हृदय तुम्हारे प्रति पवित्र है वैसे ही तुम भी मेरे प्रति शुद्ध हृदय हो, इत्यादि से उसका हृदय पवित्र और दोषरहित हो जाता है।

कृत्रिम निद्रा की अवस्थायें :—

कृत्रिम निद्रा अथवा सम्मोहन निद्रा को छः अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है। तन्द्रा, निद्रा, प्रगाढ़ सुषुप्ति, अनुवृत्ति, दिव्य-दृष्टि, और प्रत्यग् दृष्टि।

साधारण पात्र प्रथम तीन अवस्थाओं में ही रहते हैं। उत्तम अधिकारी ही चौथी और पांचवीं अवस्था में पहुँच पाते हैं। छठी अवस्था किसी विरले ही को प्राप्त होती है।

इस सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्ति के ही अन्तर्गत पाश्चात्य देशों की Clairvoyance *दिव्य-दृष्टि*, Spiritualism और Telepathy हैं। जब इस शक्ति को रोगनिवारणार्थ प्रयोग किया जाता है तो उसको क्यूरेटिव मैस्मेरिज्म (Curative Mesmerism) कहते हैं। और जब दिव्य दृष्टि आदि के लिये प्रयोग की जाती है तो फिनामिनल मैस्मेरिज्म (Phenominal Mesmerism) कहते हैं।

Clairvoyance—उपर्युक्त विधि से पात्र को सम्मोहन निद्रा में लाकर ऐसे आदेश दिए जाते हैं कि तुम दिव्य-दृष्टि को प्राप्त हो गये हो, तुम प्रत्येक वस्तु को देख सकते हो, तुम सब छिपी बातों को बता सकते हो इत्यादि। फिर जो छिपी हुई बात पूछी जाती है तो वह उसका उत्तर देता है। आरम्भ में दिव्य-दृष्टि को क्रमानुसार बढ़ाया जाता है। अर्थात् पहिले उस कमरे की चीजों के बारे में पूछा जाता है फिर अन्य स्थानों में भेजकर वहाँ के समाचारों को और फिर दूर देशों और गुप्त बातों को मालूम किया जाता है। आरम्भ में इसका प्रयोग छोटे बालक पर किया जाता है तत्पश्चात् प्रत्येक बड़े मनुष्य पर भी कर सकते हैं।

Spiritualism—एक प्लानचेट (*एक पान के आकार का लकड़ी का पतला तख्ता* जिसके दो ओर धातु के दो पहिये और किनारे पर पेन्सिल लगी होती है) पर अंगुली रखने से उनकी मैगनेट पावर से वह घूमने लगती है। मन की एकाग्रता और हृदय की शुद्धता की अपेक्षा से उसमें पुरुष के उत्तर ठीक-ठीक निकल आते हैं। इसी प्रकार पेन्सिल को हाथ की अंगुलियों से पकड़कर कागज पर रखकर अंगुलियों के मैगनेट पावर से चलने पर प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है इसी प्रकार एक छोटी टेबिल (Table) पर कई प्रयोगकर्ता एकाग्रतापूर्वक विशेष भावनाओं के साथ अपने हाथ की अंगुलियों को रखते हैं। अंगुलियों की विद्युत-शक्ति (Personal Magnetism) से उस टेबिल का एक-एक पाँव उठता है और प्रयोगकर्ताओं की एकाग्रता और हृदय की शुद्धता के कारण बहुधा उत्तर ठीक-ठीक ही मिलते हैं।

यहाँ इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि जो इस प्रकार Planchet द्वारा अथवा किसी Medium द्वारा आत्माओं (Spirits) को बुलाकर उनकी मृत्यु के पश्चात् के जो समाचार मालूम किये जाते हैं, उनमें से अधिक प्रयोगकर्त्ता के अपने ही विचार होते हैं। (Planchet) विद्युत् Nagnet शक्ति से उन्हीं के विचारों की धाराएं घूमती है; तथा Nedium अपने ही विचारों को प्रकट करती हैं।

कभी कभी Nedium (पात्र) प्रयोगकर्त्ता के विचारों से प्रभावित होकर उसी के विचारों को प्रकट करने लगता है। यदि Nedium (पात्र) ऊंची दिव्य दृष्टि वाला हो तो वह उस पुरुष के विचारों को ही ग्रहण करने लगता है जिस की आत्मा Shrit को उस पात्र

द्वारा बुलाने का यत्न किया जाता है। क्योंकि आकाश में सारे ही विचार विद्यमान हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई पुरुष अपनी मृत्यु के समय अपनी विशेष बातों को किसी अपने दूर स्थान में रहने वाले किसी कुटुम्बी या मित्र से कहने की तीव्र इच्छा रखता है तो वे विचार अपनी प्रबल शक्ति के कारण स्वयं उस तक किसी न किसी रूप में पहुंच जाते हैं।

Telepathy—इसी प्रकार दो प्रयोगकर्त्ता अलग-अलग बैठकर एक निश्चित समय पर तालयुक्त प्राणायाम इत्यादि करके एक खबर (Message) भेजता है और दूसरा इसको ग्रहण करता है (उपर्युक्त बातें केवल जानकारी के लिये लिखी गई हैं आत्म उन्नति चाहने वाले अभ्यासियों को इन में अधिक प्रवृत्त न होना चाहिये)।

संकल्पशक्ति (Will-power)—

उपर्युक्त जितने प्रयोगों का सम्मोहन-शक्ति द्वारा होना बतलाया गया है, उन सब में मुख्य भाग संकल्पशक्ति का ही है। बिना संकल्पशक्ति के उनमें से किसी में भी सफलता का होना असम्भव है। किन्तु केवल दृढ़ संकल्पशक्ति-मात्र से वे सब तथा उनसे कहीं अधिक बढ़कर चमत्कार दिखलाये जाते हैं। संकल्पशक्ति ही मनुष्य के जीवन में उन्नति और अवनति का कारण होती है। उपनिषदों में बतलाया गया है 'संकल्पमयोऽयं पुरुषः' अर्थात् मनुष्य संकल्प का ही बना हुआ है। मनु महाराज का कथन है :—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्पसम्भवः।
व्रत-नियम-धर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

अर्थ—सब प्रकार की कामनाओं का मूल यह संकल्प है। यज्ञ संकल्प से उत्पन्न होता है, व्रत (प्रतिज्ञा), नियम, धर्म सब इसी संकल्प से उत्पन्न होनेवाले माने गये हैं।

आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नाम पर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें अत्यन्त आदर से स्मरण करता है, उनके जीवन को पवित्र और उच्च बनाने का कारण संकल्पशक्ति ही है।

आर्यों की ईश्वरीय और जगत् की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' में अनेकों सूक्त इसी विषय के आते हैं जिनमें बारम्बार यही प्रार्थना की गई है :—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् मेरा यह मन पवित्र संकल्प वाला हो। यथा :—

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अर्थ—जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति अर्थात् इन्द्रियों का प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अर्थ—कर्मशील, मनीषी, धीर-पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्र में तथा जीवन-संघर्ष में बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अर्थ—जो नये-नये अनुभव कराता है। पिछले जाने हुए का अनुभव कराता है। संकट में धैर्य धारण कराता है। जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अमर ज्योति है। जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प वाला होवे।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

अर्थ—जिस अमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओं वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अर्थ—जिसमें ऋचायें, साम, यजु इस प्रकार टिके हुए हैं जैसे रथ की नाभि में अरे, जिसमें इन्द्रियों की सारी प्रवृत्ति पिरोई रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

अर्थ—अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान घोड़ों को बागों से पकड़कर चलाये जाता है उसी प्रकार जो मनुष्यों को लगातार चलाता रहता है, जो हृदय में रहने वाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

क्योंकि प्रारब्धकर्म संकल्प द्वारा ही क्रियमाण होते हैं, जैसा कि कहा है :—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' इसलिये मनुष्य यदि अपने संकल्प को विशुद्ध रखे और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुझपर कोई भारी विपत्ति आनेवाली है, शीघ्र ही अपने संकल्प और विचारों को शुद्ध और पवित्र बनाले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता। शुद्ध विचारवाले मनुष्य पर यदि अकस्मात् कोई विपत्ति आ भी जाए तो उसका बोझ तुरन्त ही दूसरे लोग बाँट लेते हैं। अर्थात् अपनी सहायता और सहानुभूति से उसकी विपत्ति को तत्काल ही दूर कर देने का यत्न करते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध दुर्जन को तत्काल दुःख में डालने के लिये सब के सब तैयार हो जाते हैं। सुतरां जो मनुष्य दुःखों को अपने जीवन में कम करने की इच्छा करता है उसको चाहिये कि वह संकल्प-विद्या-प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सीखे।

जैसे उगते हुए पौधे को उखाड़कर फेंकना अति सुगम है, परन्तु जब वह वृक्ष बन जाए तो फिर उसको जड़ से उखाड़ना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो जाता है। ठीक ऐसे ही उत्पन्न होते दुष्ट संकल्पों का उच्छेदन और उनके स्थान में पवित्र तथा शुद्ध संकल्पों का संयोजन करना अतीव सुगम होता है, परन्तु वही जब एक वृक्षाकार धारण कर लेता है तो फिर उसका नष्ट करना कठिन हो जाता है। सुतरां जो उठते हुए दुष्ट संकल्प को उसी समय मिटा देते हैं वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्म के फल दुःख से भी बचे रहते हैं। इसी कारण 'वेद' में बारम्बार यह प्रार्थना आई है—'यह मेरा मन पवित्र संकल्पों का स्रोत बने।' 'संकल्पविद्या' की शक्ति का पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि संसार के प्रत्येक पदार्थ में यह विद्या विराजमान है। आजतक जितनी मानसिक शक्ति (Mental Senses) जैसे मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, टेलीपैथी स्प्रिचुआलिज्म आदि मनुष्य को विदित हुई हैं उन सब में यही अलौकिक शक्ति काम करती है।

मार्कोनी के बिना तार के तार वाले यन्त्र ने संकल्पशक्ति को अत्युत्तमता से सिद्ध किया है। उससे इसके प्रबल अस्तित्व का प्रत्येक बुद्धिमान् को निश्चय हो जाता है। मार्कोनी महाशय कहते हैं,—

"एक शब्द अथवा वैसा ही कोई स्वर वायुमण्डल में उसी प्रकार की गति उत्पन्न करता है जिस प्रकार झील में एक कङ्करी के डाल देने से तरङ्गें उठने लगती हैं। शब्द की यह तरंगें दूर-दूर तक पहुँचती हैं, चाहे कितनी ही दूर का अन्तर क्यों न हो वह टेलिग्राफ के प्रत्येक यन्त्र को अपना अस्तित्व अनुभव कराती हैं। आकाश के सूक्ष्म मण्डलों (ईथर) पर संकल्प की तरंगें दौड़ती, काम करतीं और दूर-दूर तक पहुँचती रहती हैं।" यदि मार्कोनी साहब अपने इस अलौकिक यन्त्र का आविष्कार न करते तो युक्ति तथा तर्क पर ही भरोसा रखने वाले बहुत-से मनुष्यों को विश्वास ही न होता।

ईथर की शक्ति जो आकाश में विद्यमान है, जिस पर संकल्प की तरंगें दूर तक दौड़ती हैं, हमारे मस्तिष्क में भी विद्यमान है। निरन्तर विचार से उसके अन्दर गति उत्पन्न होती है और मस्तिष्क से उसी प्रकार निकलती है जिस प्रकार विद्युत् की धाराएँ निकला करती हैं। विचार की वह धाराएँ जो अनिश्चित और संकल्पशक्ति की संरक्षा के बिना बाहर को निकलती हैं शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु विचारशक्ति की वह तरंगें जिनके साथ संकल्पशक्ति का प्रबल यत्न विद्यमान होता है, मनुष्य के मस्तिष्क से निकल कर रुकावट और विरोध के होते हुए भी उस समय तक निरन्तर दौड़ती रहती हैं जबतक उसको ऐसा कोई मन न मिल जाय जो उस विचार के साथ सहानुभूति और अनुकूलता रखता हो।

यदि आप घृणा, धिक्कार, फटकार या शत्रुता के विचार इसी संकल्पशक्ति की सहायता से किसी के लिये भेजेंगे तो वे विचार जीवित शक्ति बन जायेंगे और वे तबतक निरन्तर दौड़ते रहेंगे जबतक कि उसके मन तक न पहुँच जावें जिसके लिये वे भेजे गए थे। वे इसके अतिरिक्त और बहुत से मनों के अन्दर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाते हैं। प्रेम का जो प्रत्येक विचार बाहर जाता है, अपने परिणाम में प्रेम की पूरी शक्ति लेकर उसी के

पास वापस आ जाता है, इसीलिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि— 'मन का मन साक्षी है, और फ़ारसी में कहा है कि 'दिल रा बदिल रहे अस्त'।

क्योंकि आसमान में अनेक भाँति के विचार चक्कर लगाते रहते हैं, इसलिये जिस प्रकार के विचारों को मनुष्य में ग्रहण करने की प्रकृति होती है, उसी प्रकार के विचारों को आकाश से वह अपनी ओर खींच लेता है। यही कारण है, यदि कोई बुरा विचार मन में उत्पन्न हो जावे तो फिर उसी प्रकार के विचारों की लड़ी मन में बन जाती है और वह तबतक बन्द नहीं होती जबतक कि मनुष्य स्वयं अपनी प्रबल सङ्कल्पशक्ति से अपने मन को उस ओर से नहीं रोक देता।

आकाश में उत्तम से उत्तम और निकृष्ट से निकृष्ट विचार विद्यमान हैं, इसलिये केवल उन विचारों को ग्रहण करने के लिये मनुष्य को एकाग्र-चित्त से उद्यत होना और उस ओर चित्तवृत्ति का लगाना ही पर्याप्त है। जब तत्त्वदर्शी किसी पदार्थ पर विचार करता है तो उसी सम्बन्ध में नवीन बातें उसके मन में उठने लगजाती हैं और वह ऐसी बातें होती हैं जो स्वयं सोचने वालों के लिये भी सर्वथा नई और विस्मित करदेने वाली होती हैं। इसी प्रकार आविष्कार करनेवाला जब अपने आविष्कार के सम्बन्ध में विचार करने के लिये अपने चित्त को एकाग्र करके एकान्त में बैठ जाता है तो वह आकाश में से अपने उपर्युक्त विचारों को उसी प्रकार संग्रह करलेता है जिस प्रकार एक ताड़ का वृक्ष भूमि से मधुर रस को अपने अन्दर खींच लेता है। ठीक इसी प्रकार से एक आविष्कार करनेवाला अपने मन को अन्य विचारों से शून्य और एकाग्र करके अपने उपयोगी विचारों को अपने अन्दर आने का अवसर देता है; एवं निरन्तर अभ्यास के अन्त में एक विख्यात आविष्कारक बन जाता है।

अध्यात्म-विद्या के गुरु जब अपने किसी शिष्य से कोई काम करवाना चाहते हैं तो उसको पत्र आदि नहीं लिखा करते प्रत्युत अपने विचारों को ही उसके मन में रख देते हैं। यह विचार उसके अन्दर पहुँचकर उसको वही काम करने के लिये प्रेरणा करते हैं जिसका कराना उसके गुरु को अभिप्रेत होता है। यही मानसिक प्रेरणा है, यही गुप्त आध्यात्मिक सम्बन्ध और आत्मिक सहायता है, जो पिछले महात्मा अपने शिष्यों के साथ रखते थे। यदि तुम किसी के प्रति बुरे विचारों की भावना करोगे तो वे वहाँ दुःख और व्याकुलता देने के पश्चात् अपने सजातीय अन्य विचारों को तुम्हारे लिये उत्पन्न करेंगे अर्थात् जितने घृणा के विचार तुम दूसरों के निमित्त उत्पन्न करोगे उससे कहीं अधिक मात्रा में लौटकर तुमको मिलेंगे और यदि प्रेम के विचार भेजोगे तो वे भी प्रभाव-रहित न रहेंगे, बल्कि वे उस मन तक अवश्य पहुँचेंगे और अपने परिणाम में अधिक प्रेम को तुम्हारे निमित्त उत्पन्न करेंगे। यही कारण है कि जिससे तुम्हारा मन घृणा करता है वह भी उसी प्रकार तुमसे घृणा करता है। हाँ, यदि तुम उसकी घृणा को दूर करना चाहते हो तो उसके लिये अपने से प्रेम-भरे विचारों को भेजो। ये विचार उसके मन का सुधार करेंगे और फिर अपने परिणाम में तुम्हारे लिये प्रेम को उत्पन्न करेंगे। इसी कारण हमारे प्राचीन शास्त्रों ने उपदेश किया है कि प्रत्येक मनुष्य को जीवमात्र की भलाई के लिये प्रबल शक्ति के साथ यह प्रार्थना करनी चाहिये:—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों को सुख प्राप्त हो, सब प्राणी नीरोग हों, सबका कल्याण हो, किसी को भी दुःख न हो।

जब एक मनुष्य अपने अन्दर से समस्त शत्रुता के विचार निकालकर सारे संसार के लिये भलाई और सुख की प्रार्थना करता है तब उसको उसके बदले में (Universal Love) विश्वमात्र का प्रेम प्राप्त होता है और तब संसार का कोई पदार्थ उसके लिये त्रासोत्पादक नहीं रहता।

ॐ अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु ॥

अर्थ—अन्तरिक्ष में हमारे लिये अभय हो, इन दोनों द्यौ और पृथ्वी में अभय हो, अभय पीछे से हो, आगे से हो, ऊपर नीचे से हमारे लिये अभय हो।

ॐ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अर्थ—हम मित्रों से अभय हों, शत्रुओं से अभय हों, जाने हुए परिचितों से अभय हों और जो आगे आनेवाले हैं, अपरिचित हैं उनसे भी अभय हों। रात्रि और दिन में हम निर्भय रहें, समस्त दिशायें हमारे मित्ररूप में हों। (अथर्व० १९-१५-५-६)

वह वनों में भी उसी आनन्द और सुख से रहता है जैसे कि अपने घर में। स्वामी विवेकानन्द जी महाराज इसी शक्ति का वर्णन करते हुए अपने राजयोग में इस प्रकार लिखते हैं:—

योगी को चाहिये कि वह रात्रि को सोते समय और प्रातःकाल जागने पर चारों दिशाओं में मुंह करके प्रबल संकल्पशक्ति से सारे संसार की भलाई और शान्ति के अर्थ अपने विचारों को छोड़े। यथा:—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—द्युलोक शान्ति दे, अन्तरिक्ष शान्ति दे, पृथ्वीलोक शान्ति दे, जलप्र—ण शान्ति देवे, रोगनाशक औषधियाँ शान्ति देवें, भोज्य वनस्पतियाँ शान्ति देवें। सबके सब देव शान्तिदायक होवें, ज्ञान शान्ति देवे, सब कुछ शान्ति ही देवे, शान्ति भी सचमुच शान्ति ही होवे, वह ऐसी शान्ति मुझे प्राप्त होवे।

क्योंकि *Every bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it and every impulse of life comes back to him.* अर्थात् घृणा का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के अन्दर से बाहर आता है वह वापस अपने पूरे बल के साथ उसी के पास आ जाता है; और ऐसा करने में उसको कोई वस्तु रोक नहीं सकती। इसी प्रकार कोई मनुष्य अनुमान नहीं कर सकता कि अज्ञानता से विचारे हुए घृणा, प्रतिकार और कामी तथा अन्य घातक विचारों के भेजने से कितने जीवन नष्ट होंगे और कितनों की हानि होगी। इसलिये विचारशक्ति के महत्त्व को समझो और उसको सर्वदा पवित्र तथा निर्मल रखने का प्रयत्न करो और प्रतिदिन समस्त जीवमात्र के कल्याण के लिये प्रार्थना किया करो, इससे तुम्हारा और सबका भला होगा।

विचारों द्वारा मनुष्य के शरीर में 'स्वास्थ्य' और 'रोग' दोनों ही का सञ्चार किया जासकता है। 'विचार' भूख को उत्पन्न और नाश कर सकता है। वह मुखमण्डल को सहसा पीला कर देता है, मुंह और होठों को सुखा देता है; और यही विचार मुख-मण्डल को प्रफुल्लित, रक्त की गति को तीव्र और शरीर पर कान्ति प्रदान करता है। यही देह को कँपाते हुए, नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह जारी कर देता है, मन की गति इसी के द्वारा शिथिल और तीक्ष्ण हो जाती है। यही मनुष्य को आनन्दमय बना देता है, और यही मनुष्य को निराशा की चिरकाल खोह में ढकेल देता है, इसी के अकस्मात् प्राप्त आनन्द को न पचाकर मनुष्य फूलकर मर जाता है; और कभी भय के कारण लहू सूख जाने अथवा मन की गति रुक जाने तथा भय, शोक और असह्य दुःख के कारण तुरन्त और अकस्मात् मृत्यु हो जाती है, अर्थात् जहाँ यह मनुष्य को मृत्यु के मुख में तुरन्त ढकेल सकता है वहाँ वही उसे स्वास्थ्य, आनन्द और सुख प्रदान कर सकता है।

वस्तुतः हमारी दुनिया वह नहीं है जिसको हम मानते हैं प्रत्युत वह है जिसका हम विचार करते हैं। मनुष्य विचारों का एक पुतला है। जैसे इसके विचार होते हैं वैसा ही यह बन जाता है। इसलिए यदि हम रोग के विचार को एक समय तक निरन्तर बनाए रखेंगे तो निराश होना पड़ेगा, रोग अपना स्वरूप अवश्य दिखलायेगा, अर्थात् जैसा विचार करेंगे वैसा ही हो जायेगा।

अतः प्रतिदिन प्रतिक्षण मनुष्य को चाहिये कि वह निराश न हो, वरन् सदैव आशाजनक प्रसन्नता, स्वास्थ्य और सफलता के विचारों को मन में धारण करे। सुख और आशा की तरंगें रक्त की गति पर ही उत्तम प्रभाव डालेंगी और उसको शुद्ध तथा लाल करके स्वास्थ्य के सुप्रभाव को सम्पूर्ण देह में बाँट देंगी, जिससे तुम अपने स्वास्थ्य को अच्छा और शरीर को व्याधियों से सुरक्षित रख सकोगे।

प्रत्येक मनुष्य सुन्दरता, स्वास्थ्य और सुखमय जीवन की इच्छा करता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सौ वर्ष तक जीवित रहे। वह सौ वर्ष तक उस प्रकार का जीवन नहीं चाहता जो रोते-झींकते हुए और खाट पर पड़े हुए औषधियों का सेवन करते हुए

कटे। वह जीवन चाहता है जो काम करते हुए रहे, हँसते-खेलते हुए। वह उसी के लिये ईश्वर के सन्मुख सिर झुकाकर प्रार्थना करता है :—

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं शृणुयाम शरदश्शतं
प्रब्रवाम शरदश्शतमदीनाः स्याम शरदश्शतम्। (यजु० ३६। २४)

अर्थ—मैं सौ वर्ष तक देखूं, सौ वर्ष जीवित रहूँ, सौ वर्ष तक सुनूं, सौ वर्ष पर्यन्त बोलूं, सौ वर्ष तक सुखी और स्वतन्त्र जीवन भोगूं।

धार्मिक और लौकिक दोनों विषयों में मनुष्य उतना ही सफल होता है जितना उसका संकल्प दृढ़ होता है। यदि कोई किसी कार्य में असफल है, इसका कारण उसका दुर्भाग्य नहीं बल्कि उसके संकल्प की निर्बलता है। मेरा तो विचार है कि मनुष्य के अन्दर यह बहुमूल्य शक्ति ऐसी गुप्त है कि जो कोई इससे काम लेना शुरू कर देता है उसको ही यह महान् और उच्च बना देता है। अटल सकल्प में एक बलवान् शक्ति होती है जो अपनी अनुकूल अवस्था को स्वयमेव अपनी ओर खींच लेती है। इस कारण यदि आप जीवनयात्रा मे सफल होना चाहते हैं तो इस शक्ति को अपने अन्दर उत्पन्न करें क्योंकि जीवन की कठिनाइयों को दूर करने वाली यही एक शक्ति है। जिनमें यह शक्ति है वे अपने विचारों को बलवान् बनाकर दूर तक भेज सकते हैं। परन्तु जिनमें यह नहीं है वे ऐसा नहीं कर सकते; और यही कारण है कि कुछ मनुष्य निर्बल विचार वाले मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सफल, यशस्वी और ऐश्वर्यवान् हो जाते है। सङ्कल्पशक्ति ही मन को एकाग्र करके मस्तिष्क की ओर विचारों के आकर्षण में सहायक होती है। आकर्षण का यह नियम है कि उसका झुकाव अपने सहधर्मी पदार्थ की ओर अधिकतर होता है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने सहधर्मी पदार्थ को अपनी ओर खींचता है। इसलिए जो मनुष्य जैसा बनना चाहता है, उसको दृढ़ सङ्कल्प के साथ अपने अन्दर वैसे ही विचार उत्पन्न करने चाहियें और यह विचार अपने सहधर्मी को अवश्य अपनी ओर खींच लावेंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि वह अपने उद्देश्य में अवश्य सफल होगा। इसलिए यदि तुम कोई काम करना चाहते हो तो तुम काम की छोटाई-बड़ाई की ओर न देखा करो, प्रत्युत अपने विचारों के न्यूनाधिक्य पर ध्यान रखा करो, क्योंकि काम में उसकी छोटाई व सुगमता के कारण सफलता नहीं होती प्रत्युत उस काम के करने में तुम्हारी सङ्कल्पशक्ति की न्यूनाधिकता के अनुसार सफलता होगी। जो बात तुम्हें करनी हो, उसके लिये योंही विचार न किया करो, और जब किसी काम को करने का विचार करो तो फिर उसको दूसरे निर्बल विचारों की तरङ्गों के नीचे दबने न दो, और किसी ऐसे मनुष्य की सम्मति की परवाह न करो जो तुमको अपने विचार की कठिनाइयों के कारण छोड़ देने का उपदेश कर रहा हो। ऐसे मनुष्य स्वयं निर्बल हृदय और निर्बल विचारों के होते हैं, इसलिये वे साधारण बातों को असम्भव बातों में गिन लेते हैं। और सच तो यह है कि ऐसे मनुष्यों ने विचारों की शक्ति को कभी अनुभव नहीं किया, यदि किया होता तो वे कभी भी किसी के साहस और विचार को (यदि वह विचार किसी बुराई के करने

अथवा ऐसे कर्म करने का न हो जिसके करने से उसकी जान औरों में हो और मनुष्य-समाज में अशान्ति उत्पन्न होने का भय हो) न गिराते वरन् उसका साहस तोड़ने के स्थान में अपने प्रबल विचारों को साथ मिलाकर और भी अधिक पुष्ट करते और सफलता के आदर्श तक पहुँचाने में सहायता देते । जब मनुष्य एकबार दृढ़ विचार करके खड़ा हो जाता है, तो चाहे उसके मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, वह सब को पार कर जाता है। कोई वस्तु उसको अपने उद्देश्य से नहीं रोक सकती, वरन् ऐसे पुरुषार्थी मनुष्य की सहायता के लिए प्रकृति आप काम करती है । कोई पुरुष पहले से ही महान् नहीं होता, प्रत्युत जो अपनी आभ्यान्तरिक शक्तियों से काम लेने लग जाता है वही महान् पुरुष बन जाता है; और जो इनकी ओर ध्यान नहीं देते वही अपनी जीवनयात्रा में पीछे रह जाते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती को साधारण साधु से वर्तमान काल का ऋषि बनाने वाली यदि कोई वस्तु थी, तो वह केवल उनकी सङ्कल्पशक्ति थी। समस्त भारतवर्ष उनके विचारों से विरोध रखता था, परन्तु जब वह मनस्वी एक बार अपने ध्येय पर आरूढ़ हो गए तो कोई भी मनुष्य उनके सम्मुख खड़ा न हो सका । इसका कारण उनकी अगाध विद्या ही न थी, प्रत्युत दृढ़ सङ्कल्पशक्ति और उस शक्ति में पूर्ण विश्वास का होना था। इसी शक्ति के भरोसे पञ्जाब-केसरी महाराजा रणजीत सिंह ने अटक नदी की छाती को घोड़ों के खुरपुटों से यह कह कर रौंद डाला और अपनी सेना को पार कर दिया कि "जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा, जाके मन में अटक नहीं, उसको अटक कहाँ"। सचमुच यदि मन के अन्दर रुकावट नहीं तो फिर कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमको अपने उद्देश्य की पूर्ति से तथा अपने जीवन को सुखी और सार्थक बनाने से रोक सके।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव ।
ऊर्ध्व-पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि ।
द्रविण ँ सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः ।
इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम् । तै० उप० १ । १०

अर्थ—मैं (संसाररूप) वृक्ष को हिलाने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के सदृश है। मैं वह हूं जिस के ज्ञान का पवित्र (प्रकाश) ऊंचा उदय हुआ है मानो सूर्य में है। मैं वह हूं जो असली अमृत है मैं चमकता हुआ धन (खजाना) हूं। मैं सुमेधा हूं, अमृत हूं क्षीण न होने वाला। यह वेद की शिक्षा त्रिशंकु से दी गई है।

दृढ़ और बलवान् सङ्कल्पशक्ति के कारण मनुष्य में ऐसी योग्यता आ जाती है कि वह अपने विचार को बहुत बड़ी शक्ति दे सकता है । अपने लक्ष्य पर फिर वह अपने विचार को उस समय तक स्थिर रखता है, जब तक उसका अभीष्ट प्राप्त नहीं होता । यदि किसी मनुष्य में आनाकानी की प्रकृति है तो यह समझ लेना चाहिये कि उसकी सङ्कल्पशक्ति निर्बल है और उससे कोई काम न हो सकेगा । जो अपना दृढ़ विचार बनाकर फिर दूसरों की दृढ़ सम्मति के कारण उसको बदल देता है तो उससे भी उसकी सङ्कल्पशक्ति का पता

मिलता है और वह दूसरों की सम्मति का दास है, क्योंकि उसने अपनी विवेचना-शक्ति को खो दिया है। वह अपने नहीं, प्रत्युत दूसरों के विचारों के अनुसार कार्य कर रहा है। ऐसा करता हुआ वह दिन-पर-दिन अपनी विचारशक्ति को क्षीण कर रहा है, जिसके कारण प्रायः उसे अपने कामों में कठिनाई और असफलता का मुँह देखना पड़ेगा। इस कारण इस शक्ति के महत्त्व को समझो। किन्तु हठ, दुराग्रह और उच्छृङ्खलता को ही विचारशक्ति न समझ लेना। विचारशक्ति और हठ आदि में महान् अन्तर है। पहिली आचार की दृढ़ता और श्रेष्ठता का परिणाम है तथा दूसरी उसकी निर्बलता का फल है।

संकल्पशक्ति को पूरा विकास देने के लिए दृढ़ आत्मविश्वास की आवश्यकता है और आत्मविश्वास की दृढ़ता आस्तिकता अर्थात् ईश्वरभक्ति से होती है। जब मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर का सहारा लेकर सारे कार्यों को उसके समर्पण करके अनासक्ति और निष्काम भाव से उसके लिए ही और अपने को केवल उसका एक करण (साधन) समझकर कर्त्तव्यरूप से करता है तो उसकी स्वयं अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ भी अगाध और असीम हो जाती हैं। यही कारण है कि ईश्वरभक्तों द्वारा जो महान् कार्य और अद्भुत चमत्कार अनायास साधारणतया प्रकट हो जाते हैं उनके अनुकरण करने में संसार की सारी भौतिक शक्तियाँ अपना पूरा बल लगाने पर भी असमर्थ रहती हैं।

उसके सारे संकल्प ईश्वर के समर्पण और उसी की प्रेरणा से होते हैं, इसलिए वह जो संकल्प करता है वही होता है।

उसकी कोई इच्छा अनुचित अथवा स्वार्थमय नहीं होती किन्तु सारे प्राणियों के कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होती है, इसलिये वह जो इच्छा करता है वही होता है।

वह कोई शब्द अनुचित, अनावश्यक और असत्य नहीं बोलता, उसकी वाणी ईश्वर-समर्पण होती है, इसलिये उसकी वाणी से जो शब्द निकलते हैं वैसा ही होता है।

उसके कार्य अनावश्यक और स्वार्थसिद्धि के लिये नहीं होते, किन्तु सब प्राणियों के हितार्थ निष्काम भाव से ईश्वर की आज्ञानुसार कर्त्तव्यरूप से होते हैं, इसलिए वह उनको पूरे लगन और दृढ़ता से करता है। संसार की कोई शक्ति उसको अपने कर्त्तव्य से नहीं हटा सकती।

संगति—जब यम तथा नियमों के पालन में विघ्न उपस्थित हों तो उसको निम्न प्रकार दूर करना चाहिये :—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—वितर्क-बाधने = वितर्कों द्वारा यम (और नियमों) का बाध होने पर। प्रतिपक्ष-भावनम् = प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये।

अन्वयार्थ—वितर्कों द्वारा यम और नियमों का बाध होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये।

व्याख्या—वितर्क-विरोधी तर्क अर्थात् यम, नियम आदि के विरोधी अधर्म : १ हिंसा, २ असत्य, ३ स्तेय, ४ ब्रह्मचर्य का पालन न करना, ५ परिग्रह, ६ अशौच, ७ असन्तोष,

८ तप का अभाव, ९ स्वाध्याय का त्याग, और १० ईश्वर से विमुखता। जब किसी दुर्घटनावश यह वितर्क उत्पन्न हों और मन में इन योग के विधर्मी अधर्मों के करने का विचार आवे तो उनके प्रतिपक्षी अर्थात् उन वितर्कों के विरोधी विचारों का चिन्तन करके उन वितर्करूप अधर्मों को मन से हटाना चाहिये। प्रतिपक्ष विचारों के चिन्तन से यह अभिप्राय है कि जैसे क्रोध आने पर शान्ति का चिन्तन करना, हिंसा का विचार उत्पन्न होने पर दया के भाव का चिन्तन करना इत्यादि।

व्यासभाष्य अनुसार प्रतिपक्षभावना :—

जब इस ब्रह्मज्ञानेच्छुक योगी के चित्त में अहिंसा आदि के विरोधी हिंसादि वितर्क उत्पन्न हों कि मैं इस वैरी का हनन करूंगा। इसको दुःख पहुँचाने के लिये असत्य भी बोलूंगा, इसका धन भी हरण करूँगा, इत्यादि। इस प्रकार दुर्मार्ग वाली, अति बाधक, वितर्क-ज्वर से जलती हुई अग्नि के समान यम-नियमों का बाध होने लगे तब इनमें प्रवृत्त न होवे; किन्तु इन वितर्कों के विरोधी पक्षों का इस प्रकार बार-बार चिन्तन करे कि संसार की घोर अग्नि में सन्तप्त होकर उससे बचने के लिये सब भूतों को अभयदान देकर मैंने योगमार्ग की शरण ली है। अब उन छोड़े हुए हिंसा आदि अधर्मों का पुनः ग्रहण करना कुत्ते के सदृश अपनी ही त्यागी हुई वमन का चाटना है। धिक्कार है मुझे, यदि मैं योगमार्ग छोड़कर अज्ञानरूपी गढ़े में गिरूँ। इस प्रकार प्रथम सूत्र यमादि और द्वितीय नियमादि दोनों में *वितर्कों की प्रतिपक्षभावना जान लेनी चाहिये।*

संगति—वितर्कों के स्वरूप, उनके भेद और उनके फलसहित प्रतिपक्षभावना को बतलाते हैं :—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—वितर्काः-हिंसा-आदयः = (यम-नियमों के विरोधी) हिंसा आदि वितर्क हैं। *कृत-कारिता-अनुमोदिताः = वे स्वयं किये हुए, दूसरों से कराये हुए और समर्थन किये हुए होते हैं* ‡। लोभ-क्रोध-मोह पूर्वकाः = उनका कारण लोभ, क्रोध और मोह होता है †।

टिप्पणी—॥ सूत्र ३४ ॥ ‡ *यह तीन प्रकार इसलिए बतलाए गए हैं कि इन तीनों में* से किसी एक को यह भ्रम न रह जाये कि 'मैंने हिंसा नहीं की' किन्तु इस प्रकार के तीनों ही हिंसक हैं। छोटी बुद्धि के मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह हिंसा मैंने स्वयं तो नहीं की इसलिये मुझे दोष नहीं।—'भोजवृत्ति'

†यद्यपि सूत्र में पहिले लोभ का ग्रहण किया है तथापि आत्मभिन्न (शरीरादि) में आत्माभिमान-रूपी मोह सब अस्मितादि क्लेशों का कारण है। उसी के होने पर मनुष्य को अपना दूसरा सूझता है। इसलिये लोभ, क्रोध, हिंसा, असत्यभाषणादि का वही मूल जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि दोष-समुदाय मोह से होते हैं। तृष्णा का नाम लोभ है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार का नाशक अग्निरूप चित्त की एक अवस्था का नाम क्रोध है।—'भोजवृत्ति'

मृदु-मध्य-अधिमात्राः = वे मृदु, मध्य और तीव्र भेद वाले होते हैं। दुःख-अज्ञान-अनन्तफला = उनका फल दुःख और अज्ञान का अनन्त (अपरिमित) होना है÷। इति-प्रतिपक्ष-भावनम् = यह प्रतिपक्ष की भावना करना है।

अन्वयार्थ—यम-नियमों के विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकार के होते हैं) स्वयं किये हुए, दूसरों से कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते हैं, वे मृदु, मध्य और अधिमात्रा वाले होते हैं, यह सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलों का देने वाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्ष की भावना करे।

व्याख्या—यहां हिंसा वितर्क को उदाहरण देकर बतलाते हैं, इसी प्रकार अन्य सब वितर्कों को समझ लेना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकार की है : स्वयं की हुई, दूसरों से कराई हुई और दूसरों के किये जाने पर अनुमोदन या समर्थन की हुई। कारणों के अनुसार इसके तीन भेद हैं। लोभ से की हुई, जैसे मांस, चमड़े आदि के लिये। क्रोध से की हुई अर्थात् किसी प्रकार की हानि पहुँचने पर द्वेषवश की हुई। मोहवश की हुई, जैसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिये पशुओं की बलि करना। इस प्रकार ३ × ३ = ९ प्रकार की हिंसा हुई। ये नौ प्रकार की हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्रा के भेद से ९ × ३ = २७ प्रकार की हुई। इसी प्रकार मृदु, मध्य और अधिमात्रा के प्रत्येक का मृदु, मध्य, अधिमात्रा का भेद होने से तीन-तीन भेदवाली २७ × ३ = ८१ प्रकार की हुई। इसी प्रकार असत्य, स्तेय आदि वितर्कों के बहुत भेद होकर अनन्त, अपरिमित अज्ञान और दुःख इनका फल होता है।

जब इस प्रकार वितर्क उपस्थित हों तब उनको इनके प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी विचारों से हटाना चाहिये कि ये हिंसा आदि वितर्क महापाप हैं। रजोगुण व तमोगुण का उभार करके मोह तथा दुःख में डालने वाले हैं। यदि इनमें फँसा तो दुःख और अज्ञान का अन्त न होगा अर्थात् यह सब अपरिमित दुःख और अज्ञानरूपी फलों का देने वाले हैं। इस कारण इन से सर्वदा बचना चाहिये। यह प्रतिपक्ष भावना है। इस प्रकार यम-नियमों के विघ्नों को हटाता हुआ योगमार्ग पर चल सकता है।

श्री व्यासजी महाराज हिंसा वितर्क के प्रतिपक्ष की भावना इस प्रकार बतलाते हैं :—

हिंसक पहिले वध्य-पशु के वीर्य अर्थात् बल का नाश करता है, फिर शस्त्रादि से मारकर दुःख देता है, फिर उस जीवन से भी छुड़ा देता है। वध्य पशु के बल को नष्ट करने के कारण हत्यारे के स्वयं शरीर, इन्द्रिय आदि का बल तथा पुत्र, पौत्र, धनादिक उपकरण नष्ट हो जाते हैं, और शस्त्र द्वारा पशु को दुःख देने के बदले नरक, तिर्यक्, पशु

÷दुःख : अपनी विरुद्ध प्रतीत होनेवाली रजोगुण से उत्पन्न हुई चित्त की एक वृत्ति का नाम दुःख है।

अज्ञान : मिथ्याज्ञान अर्थात् संशयात्मक और विपरीत ज्ञान को कहते हैं।

—'भोजवृत्ति'

आदि योनियों में वैसा ही दुःख भोगता है और वध्य पशु के जीवत्व नष्ट करने के फलस्वरूप दुःसाध्य रोग में पीड़ित होकर प्राणान्त सन्निहित अवस्था को प्राप्त होकर मरने की इच्छा करता हुआ भी दुःख-फल अवश्य भोग्य होने से बड़े कष्ट से ऊँचे-ऊँचे साँस लेकर जीता है। यदि किसी कारण से पुण्य मिली हुई हिंसा होवे तो भी उस जन्म में उस पुण्य का फल सुख-प्राप्ति अल्पायु ही होगी। इसी प्रकार यथासम्भव असत्यादि अन्य यमों तथा नियमों में भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार वितर्कों में अनिष्ट-फल का चिन्तन करता हुआ उनसे मन को हटावे।

संगति—इन वितर्कों के प्रतिपक्षों से निर्मल हो जाने के पश्चात् योगी को यम तथा नियमों में जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका वर्णन करते हैं :—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—अहिंसा-प्रतिष्ठायाम् = अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर। तत्सन्निधौ = उस (अहिंसक योगी) के निकट। वैर-त्यागः (सर्वप्राणिनाम् भवति) = सब प्राणियों का वैर छूट जाता है।

अन्वयार्थ—अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियों का वैर छूट जाता है।

व्याख्या—'सर्वप्राणिनां भवति' सूत्र के अन्त में यह वाक्यशेष है। जब योगी की अहिंसा-पालन में दृढ़ स्थिति हो जाती है तब उसके अहिंसक प्रभाव से उसके निकटवर्ती सब हिंसक प्राणियों की भी अहिंसक वृत्ति हो जाती है।

अहिंसानिष्ठ योगी के निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करने से कि उसके निकट किसी प्रकार की हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरण से अहिंसा की सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेग से बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक वृत्ति को त्याग देते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—सत्य-प्रतिष्ठायाम् = सत्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर। क्रियाफल-आश्रयत्वम् = क्रिया फल का आश्रय बनती है।

अन्वयार्थ—सत्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर क्रिया फल का आश्रय बनती है।

व्याख्या—जिस योगी की सत्य में दृढ़ स्थिति हो गई है उसकी वाणी से कभी असत्य नहीं निकलेगा, क्योंकि वह यथार्थ ज्ञान का रखनेवाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणी द्वारा जो क्रिया होती है, उसमें फल का आश्रय होता है अर्थात् जैसे किसी को यज्ञादिक क्रिया के करने में उसका फल होता है, इसी प्रकार योगी के केवल वचन से ही वह फल मिलजाता है। यदि वह किसी से कहे कि तू धर्मात्मा अथवा सुखी हो जा, तो वह ऐसा ही हो जाता है।

सत्यनिष्ठ योगी के निरन्तर ऐसी भावना और धारणा रखने से कि उसके मुख से न केवल भूत और वर्तमान के सम्बन्ध में किन्तु भविष्य में होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी कोई असत्य वचन न निकलने पावे, सत्य की प्रबलता से उसका अन्तःकरण इतना स्वच्छ और निर्मल होजाता है कि उसकी वाणी से वही बात निकलती है जो क्रिया-रूप में होने वाली होती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—अस्तेय-प्रतिष्ठायाम् = अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर। सर्व-रत्न-उप-स्थानम् = सब रत्नों की प्राप्ति होती है।

अन्वयार्थ—अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सब रत्नों की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—जिसने राग को पूर्णतया त्याग दिया है वह सब प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी है, उसको किसी चीज़ की कमी नहीं रहती। इसमें एक आख्यायिका है :—

किसी निर्धन पुरुष ने बड़ी आराधना के पश्चात् धन-सम्पत्ति की देवी के दर्शन किये। उसके पैरों की एड़ी और मस्तिष्क घिसा हुआ देखकर उसको आश्चर्य हुआ। अपने भक्त की आग्रह-पूर्वक विनय पर उसको बतलाना पड़ा कि जो मुझसे राग रखते हैं और धर्म-अधर्म का विवेक त्यागकर मेरे पीछे मारे-मारे फिरते हैं उनको ठुकराते हुए मेरे पैर की एड़ी घिस गई है; और जिन्होंने ईश्वर-प्रणिधान का आसरा लेकर मुझमें राग छोड़ दिया है तथा मुझसे दूर भागते हैं उनको रिझाने और अपनी ओर प्रवृत्त करने के लिये उनकी चौखट पर रगड़ते-रगड़ते मस्तिष्क घिस गया है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति होने पर। वीर्यलाभः = वीर्य का लाभ होता है।

अन्वयार्थ—ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति होने पर वीर्य का लाभ होता है।

व्याख्या—वीर्य ही सब शक्तियों का मूल कारण है, उसके पूर्णतया रोकने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, और योगमार्ग में बिना रुकावट पूरी उन्नति कर सकता है। वह विनय करने वाले जिज्ञासुओं में ज्ञान प्रदान करने में समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—अपरिग्रह-स्थैर्ये-जन्मकथन्ता-सम्बोधः = अपरिग्रह की स्थिरता में जन्म के कैसेपन का साक्षात् होता है।

अन्वयार्थ—अपरिग्रह की स्थिरता में जन्म के कैसेपन का साक्षात् होता है।

व्याख्या—सूत्र के अन्त में 'अस्य भवति' शेष है। अपरिग्रह की व्याख्या में बतला आए हैं कि योगी के लिये सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या, रागादि क्लेश और शरीर में अहंत्व और ममत्व है। इनके त्यागने से उसका चित्त शुद्ध, निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त

करने में समर्थ हो जाता है। इससे उसको भूत और भविष्य जन्म का ज्ञान हो जाता है कि इससे पूर्व जन्म क्या था, कैसा था, कहाँ था, यह जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा। इस प्रकार इसकी तीनों काल में आत्मस्वरूप की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

संगति—अब नियमों की सिद्धियाँ कहते हैं :—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—शौचात् = शौच से। स्वाङ्ग-जुगुप्सा = अपने अङ्गों से घृणा होती है। परैः-असंसर्गः = दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है।

अन्वयार्थ—शौच से अपने अङ्गों से घृणा और दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है।

व्याख्या—शौच के निरन्तर अभ्यास से योगी का हृदय शुद्ध हो जाता है, उसको मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुओं के भण्डार इस शरीर की अशुद्धियाँ दीखने लगती हैं। इसमें राग और ममत्व छूट जाता है। इसी हेतु से उसका संसर्ग दूसरों से भी नहीं रहता। वह इस शरीर से परे सबसे अलग रहते हुए केवली होने का यत्न करता है। यह शरीरशुद्धि का फल है।

संगति—अब आभ्यन्तर शौच का फल कहते हैं :—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—सत्त्वशुद्धि = चित्त की शुद्धि। सौमनस्य = मन की स्वच्छता। ऐकाग्र्य = एकाग्रता। इन्द्रियजयः = इन्द्रियों का जीतना। आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च = और आत्मदर्शन की योग्यता।

अन्वयार्थ—चित्त की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों का जीतना और आत्मदर्शन की योग्यता आभ्यन्तर शौच की सिद्धि से प्राप्त होती है।

व्याख्या—सूत्र के अन्त में 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है। आभ्यन्तर शौच की दृढ़ स्थिति होने पर तम तथा रज के आवरण धुल जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। मन के स्वच्छ होने से उसकी एकाग्रता बढ़ती है। मन की एकाग्रता से इन्द्रियों का वशीकार होता है अर्थात् बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो जाती हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—कठ उपनिषद् वल्ली ४ मन्त्र १

अर्थ—स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) छेदों को बाहर की ओर छेदा है बहिर्मुख किया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है, अपने अन्दर नहीं देखता। कोई ही धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ अपनी आँखों (इन्द्रियों) को बन्द करके अन्तर्मुख होकर उस आत्मा को जो अन्दर है देखता है। इस प्रकार इन्द्रियों के वशीभूत हो जाने से चित्त में विवेकख्याति-रूपी आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—सन्तोषात् = सन्तोष से। अनुत्तम-सुख-लाभः = अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—सन्तोष से अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या—अनुत्तम सुख—उत्तम से उत्तम सुख अर्थात् जिससे बढ़कर कोई और सुख न हो। सन्तोष में जब पूर्ण स्थिरता हो जाती है तो तृष्णा का नितान्त नाश हो जाता है। तृष्णा-रहित होने पर जो प्रसन्नता तथा सुख प्राप्त होता है उसके एक अंश के समान भी बाह्य-सुख नहीं हो सकता। व्यासजी का कथन है :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

अर्थ—संसार में जो कामसुख है और जो महान् दिव्य सुख है वह तृष्णा के क्षय के सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—काय-इन्द्रिय-सिद्धिः = शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि। अशुद्धि-क्षयात् = अशुद्धि के दूर होने से। तपसः = तप से होती है।

अन्वयार्थ—तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।

व्याख्या—जिस प्रकार लोहे को बार-बार आग पर तपाने और अहिरन पर कूटने से उसके मल दूर हो जाते हैं और उसको इच्छानुसार काम में ला सकते हैं। इसी प्रकार तप के निरन्तर अनुष्ठान से अशुद्धियों के मलों के दूर होने पर शरीर स्वस्थ स्वच्छ और लघु हो जाता है; और उसमें अणिमा आदि सिद्धियें (३।४४, ४५) आ जाती हैं और इन्द्रियें दिव्य-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण (३।४८) आदि सिद्धियों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—स्वाध्यायात् = स्वाध्याय से। इष्ट-देवता-सम्प्रयोगः = इष्ट देवता का साक्षात् होता है।

अन्वयार्थ—स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है।

व्याख्या—स्वाध्यायशील को देवता, ऋषियों और सिद्धों के दर्शन होते हैं और वे इसके *योग-कार्यों में सहायक होते हैं।—(व्यासभाष्य)*

इष्ट मन्त्र के जपरूप स्वाध्याय के सिद्ध होने पर योगी को इष्ट देवता का योग होता है अर्थात् वह देवता प्रत्यक्ष होता है। (भोजवृत्ति)

उपासना में उपास्य के गुणों को धारण करना, उसमें अवस्थित होना अर्थात् उसके तदाकार होना होता है। उपास्य के जिन इष्ट गुणों अथवा आकारविशेष की भावना के साथ किसी विशेष मंत्र अथवा बिना मंत्र के धारणा की जाती है तब ध्यानकी परिपक्व

अवस्था में रजस् और तमस् से शून्य हुआ चित्त सात्त्विक प्रकाश में उस विशेष इष्ट आकार में परिणित हो जाता है। जैसा कि समाधिपाद सूत्र १८ के विशेष वक्तव्य में साकार उपासक भक्तों के सम्बन्ध में बतलाया गया है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—समाधिसिद्धिः = समाधि की सिद्धि। ईश्वर-प्रणिधानात् = ईश्वरप्रणिधान से होती है।

अन्वयार्थ—समाधि की सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है।

व्याख्या—ईश्वर की भक्तिविशेष और सम्पूर्ण कर्मों तथा उनके फलों को उसके समर्पण कर देने से विघ्न दूर हो जाते हैं और समाधि शीघ्र सिद्ध हो जाती है। इस समाधिप्रज्ञा से योगी देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में होनेवाले अभिमत पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि "जब ईश्वर-प्रणिधान से ही समाधि का लाभ हो जाता है तो योग के अन्य सात अङ्गों के अनुष्ठान से क्या प्रयोजन है" क्योंकि इन सातों योग-अङ्गों के बिना ईश्वर-प्रणिधान का लाभ कठिन है। इसलिये यह ईश्वर-प्रणिधान के भी उपयोगी साधन हैं। ईश्वर-प्रणिधान-रहित सातों अङ्गों के अनुष्ठान में नानाप्रकार के विघ्न उपस्थित होने से दीर्घकाल में समाधि का लाभ प्राप्त होता है। ईश्वर-प्रणिधान सहित योग-अङ्गों के अनुष्ठान से निर्विघ्नता के साथ शीघ्र ही समाधि-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसलिये योगाभिलाषी-जनों को ईश्वर-प्रणिधान सहित योग के अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिये।

संगति—यम-नियम को सिद्धियों सहित बतलाकर अब क्रमशः आसन का लक्षण कहते हैं :—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

व्याख्या—जिस रीति से स्थिरतापूर्वक बिना हिले-डुले और सुख के साथ बिना किसी प्रकार के कष्ट के दीर्घकाल तक बैठ सकें वह आसन है। हठयोग में नाना प्रकार के आसन हैं। जो शरीर के स्वस्थ, हल्का और योग-साधन के योग्य बनाने में सहायक होते हैं पर यहाँ उन आसनों से अभिप्राय है जिनमें सुखपूर्वक निश्चलता के साथ अधिक से अधिक समय तक ध्यान लगाकर बैठा जा सके। उनमें से ज्यादा उपयोगी निम्न हैं। जो अभ्यासी जिसमें सुगमतया अधिक देर तक बैठ सके वह उसको ग्रहण करे।

स्वस्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, वज्रासन।

१ स्वस्तिकासन की विधि—दायें पाँव के अंगूठे और अन्य चार उंगलियों को कैंची के सदृश फैलाकर उसके अन्दर बायें पाँव और जंघा के जोड़ वाले नीचे भाग को दबाओ।

और दायें पांव की तली बांई जंघा के साथ लगावें। इसी प्रकार बायें पैर को दायें पैर के नीचे लेजाकर अंगूठे और अंगुलियों की कैंची में दायाँ पाँव और जंघा के जोड़ वाले नीचे भाग को दबाओ। और बायें पांव की तली दायीं जांघ के साथ लगायें। दायें पांव के स्थान पर बायें पैर का तथा बायें के स्थान पर दायें पांव का भी उपयोग किया जा सकता है।

सिद्धासन—बायें पैर की एड़ी को सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रिय के बीच में इस प्रकार दृढ़ता से लगावे कि उसका तला दायें पैर की जंघा को स्पर्श करे। इसी प्रकार दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय के जड़ के ऊपर भाग में इस प्रकार दृढ़ लगावे कि उसका तला बायें पैर की जंघा को स्पर्श करे। इसके पश्चात् बायें पैर के अंगूठे और तर्जनी को दायीं जांघ और पिंडली के बीच में ले लेवें। इसी प्रकार दायें पैर के अंगूठे और तर्जनी को बायीं जंघा और पिंडली के बीच में ले लेवें। सारे शरीर का भार एड़ी और सीवनी के बीच की ही नस पर तुला रहना चाहिए।

इससे नाड़ी समूह में आग-सी लग होने लगती है। इसलिए नितम्बों के बीच में आध इन्च मोटी गद्दी अथवा कपड़ा लगा देना चाहिए। यह आसन वीर्य-रक्षा के लिए अति उपयोगी है। इस आसन के सम्बन्ध में कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि इससे गृहस्थियों को हानि पहुँचती है यह भ्रम-मूलक है।

समासन—सिद्धासन से इसमें केवल इतना भेद है कि इसमें पहले उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपर के भाग में बायें पैर की एड़ी को फिर उसके ऊपर दायें पैर की एड़ी को सिद्धासन की विधि से रखते हैं। इससे कमर सीधी तनी रहती है।

४ पद्मासन—चौकड़ी लगाने में दाहिने पैर को बायें रान की मूल में और बायें पैर को दाहिने रान का मूल में जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। इस आसन से शरीर नीरोग रहता है और प्राणायाम का क्रियाओं में सहायता मिलती है।

५ बद्ध-पद्मासन—यह पद्मासन सिद्ध होने के पश्चात् किया जा सकता है। इस में दोनो जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर रखना होता है और पैरों के अंगूठे भूमितल से लगे रहते हैं।

६ वीरासन—दाहिना पैर बायीं जंघा पर और बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखकर दोनों हाथों को घुटने पर रखें।

७ गोमुखासन—दाहिने पृष्ठ पार्श्व (चूतड़) के नीचे बायें पैर के गुल्फ (गांठ) को और बायें पृष्ठ पार्श्व के नीचे दाहिने पैर के गुल्फ को रखकर दाहिने हाथ को सिर की ओर से और बायें हाथ को नीचे की ओर से पीठ पर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अंगूठे के बगल वाली अंगुली) से बायीं तर्जनी को दृढ़तापूर्वक पकड़ ले।

८ चक्रासन—दोनों जंघाओं को चक्र के समान करके दोनों पावों के तलुवों को गुदा के दोनों ओर पार्श्व भाग में लगाकर घुटने के बल बैठ जावे। जिससे कि घुटने से निचले भाग से पांव की उंगलियों का भाग भूमि को स्पर्श करे।

आसन के समय गर्दन, सिर और कमर को सीधे एक रेखा में रखना चाहिए। और मूलबन्ध के साथ अर्थात् गुदा और उपस्थ को अन्दर की ओर खींच कर बैठना चाहिए।

खेचरी मुद्रा के साथ अर्थात् जिह्वा को ऊपर की ओर ले जाकर तालु से लगाकर बैठने से ध्यान अच्छा लगता है और आसन में दृढ़ता आती है। एक ही आसन से शनैः-शनैः अधिक समय बैठने का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए। पैर आदि किसी अंग में एक आसन में बैठे रहने से यदि दर्द मालूम हो तो उस अंग पर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिए। यदि अधिक पीड़ा हो तो रतन-जोत के तेल की मालिश कर सकते हैं। एक आसन से जब ३ घंटे ३६ मिनिट तक बिना हिले-डुले सुखपूर्वक बैठ सकें तब उस आसन की सिद्धि समझनी चाहिये। आरम्भ में बीच में दो-एक बार आसन को बदल सकते हैं। आसन को दृढ़ करने का सरल उपाय यह है कि जब बैठने का अवसर मिले उसी एक आसन में बैठने का यत्न करें। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होने के कारण उपर्युक्त आसनों में न बैठ सकें वह अर्द्ध पद्म, अर्द्ध सिद्ध अथवा किसी सुखासन से तथा दीवार का सहारा लेकर बैठ सकते हैं। पर मेरुदण्ड को सीधा और कमर, गर्दन और सिर को सम रेखा में रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन—अर्थात् स्वस्तिक, सिद्ध और सम आसनों में हाथों को उल्टा करके घुटनों पर रखना अथवा ज्ञानमुद्रा से बैठना लाभदायक है। दोनों हाथों की कलाई को घुटनों पर रखकर तर्जनी अर्थात् अंगूठे के पास की अंगुली तथा अंगूठे को एक दूसरे की ओर फेरकर दोनों के सिरे आपस में मिलाने और शेष अंगुलियों को सीधा फैलाकर रखने को ज्ञानमुद्रा कहते हैं। अन्य तीन अर्थात् पद्म, बद्ध पद्म तथा वीरासन में दोनों हाथों को उठाकर सीने से लगाये रखना हितकर है। सब आसनों में बायां हाथ एड़ियों के ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायां हाथ उसके ऊपर रख कर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधि से हाथों को रखकर बैठ सकते हैं। मुख को पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर करके बैठना चाहिए।

अभ्यास पर बैठने से तीन घंटे पूर्व कुछ न खावे। बैठने के लिए एक चौकी होनी चाहिए जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो। चौकी के ऊपर कुशासन उसके ऊपर ऊन का आसन उसके ऊपर रेशम या (उसके अभाव में) सूत का वस्त्र होना चाहिए। अहिंसा में निष्ठा रखने वाले अभ्यासियों को किसी प्रकार के चर्म को आसन के रूप में प्रयोग न करना चाहिए। देश काल और परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए किसी-किसी स्मृति में मृगचर्म की व्यवस्था दी गई है किन्तु वर्तमान समय में उत्तम से उत्तम ऊनी आसन सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओं की हिंसा अधिकतर चर्म प्राप्ति के उद्देश्य से ही की जाती है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरे में करना चाहिये। जो शुद्ध शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकार के शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और सील आदि से रहित हो। हवन अथवा घृत के साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओं के जलाने से उसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पांच हजार फीट से अधिक ऊँचाई

वाले पहाड़ी स्थानों का वायुमंडल शुद्ध और भजन के लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदान वाले स्थानों में शरद् और वसन्त ऋतु में भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ों में अथवा जमीन में खुदी हुई गुफा समाधि लगाने के लिए अति उत्तम है किन्तु उसमें सील किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यास में खान-पान में संयम रखना अति आवश्यक है। और शरीर तथा नाड़ीशोधन से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है। जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस पाद के प्रथम तथा ३२ वें सूत्र के विशेष विचार में कर दिया गया है। यहां शरीर के सूक्ष्म, सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नारोग, आसन को दृढ़ और ध्यान को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी को जागृत करने वाले कुछ उपयोगी, बन्ध मुद्रायें और आसन बतलाये देते हैं —

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल-बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्ध के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर को खेंचने को मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल इससे अपान वायु का ऊर्ध्व गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य को ऊर्ध्व-रेतस् बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय मूल-बन्ध को लगाए रखने का अभ्यास करना चाहिए।

२ उड्डीयान बन्ध—दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बल-पूर्वक खींचकर मेरुदण्ड रीढ़ की हड्डी से ऐसा लगादे जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना पेट को अन्दर की ओर अधिक खींचा जावेगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के सदृश सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है इसलिये इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरों के तलुओं को बिना भिड़ाए हुए भी किया जा सकता है।

फल प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना।

जालन्धर-बन्ध—कण्ठ का सिकोड़कर ठोडी को दृढ़ता-पूर्वक कण्ठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोडी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठ स्थान के नाडी-जाल के समूह को बांधे रखता है इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रखा जाता है।

फल : कण्ठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठ के सङ्कोच द्वारा इडा, पिङ्गला नाडियों के बन्द होने पर प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्रायें और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के साथ किये जाते हैं। राजयोग में ध्यानावस्था में जालन्धर-बन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

४ महाबन्ध—पहली विधि : बांये पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में जमाकर बांयीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वार से वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मन को मध्यनाड़ी में लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिका से अनुलोम-विलोम रीति से समान प्राणायाम करे।

दूसरी विधि : पद्म अथवा सिद्धासन से बैठ योनि और गुह्य-प्रदेश सिकोड़ अपान-वायु को ऊर्ध्वगामी कर नाभिस्थ समान-वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपान वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़रूप से कुम्भक करे।

फल : प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि इत्यादि।

५ महावेध—पहली विधि : महाबन्ध की प्रथम विधि अनुसार मूलबन्ध-पूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर करके हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताड़ना देवे; और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैः-शनैः महाबन्ध की विधि अनुसार रेचन करे।

दूसरी विधि : मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभि-स्थान पर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथों को तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसन-सहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें।

फल : कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत होना, प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना। महा-बन्ध, महावेध और महामुद्रा तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१ खेचरी मुद्रा—जीभ को ऊपर की ओर उल्टी लेजाकर तालु-कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गढ़ा) में लगाये रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के लिये तीन साधन किये जाते हैं : छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन : जीभ के नीचे के भाग में सूत्राकार वाली एक नाड़ी नीचे वाले दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिये जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहे। कुछ दिनों ऐसा करने

के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वामूल तक काटते चले जावें। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छन चूर्ण (टैनिन ऐसिड) जीभ के ऊपर-नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किये हुए स्थान पर लगावे। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है; और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यन्त्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा को बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से करना चाहिये। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है कि जिनकी जीभ और वह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और वह नाड़ी पतली होती है। उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा व तीसरा साधन—चालन व दोहन : अंगूठे और तर्जनी अंगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खेंचने को चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ का गाय के स्तन-दोहन जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है। जिस समय जीभ नासिका के अग्रभाग तक पहुँचने लगे तब खेचरी मुद्रा सिद्ध समझना चाहिये।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुँच जावे। फौलाद के अर्क से जिह्वा शीघ्र बढ़ती है। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है।

२ महामुद्रा—मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्ड-कोष के मध्य का चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करे। यह वामाङ्ग की मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्ग में इस मुद्रा को करना चाहिये।

दूसरी विधि : बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैर का अंगूठा पकड़कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को पेट में शनैः-शनैः फुलावे; और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्ना में प्रवेश कर रहा है; तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथा-स्थिति में बैठ जावे। इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से करना चाहिये। प्राणायाम की संख्या एवं समय बढ़ाते रहें।

फल : मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत होना।

३ अश्विनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ योनिमण्डल को अश्व के सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल : यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४ शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ हाथों की हथेलियाँ पृथिवी पर जमादे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बों को पृथिवी से उठा-उठा कर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से अथवा वाम से अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिका से पूरक करके प्राणवायु को अपानवायु से संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेश का आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिकापुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जावे।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल : सर्व रोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ योनिमुद्रा—सिद्धासन से बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बन्द करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रखकर काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौए की चोंच के सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायु को खेंचकर अधोगत अपानवायु के साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रदल कमल में जा रही है। इससे अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है।

६ योगमुद्रा—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटों से पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुकाकर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाते हुए सिर को जमीन पर लगादे। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करे।

फल : पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने मे सहायक होती है।

७ शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयान बन्ध के साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश पेट को वायु से भरने को तड़ागी मुद्रा कहते हैं।

शवासन से चित लेटकर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैलाकर वायु से भरले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट मे इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु को शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेट के सर्व रोग समूल नाश होते हैं।

९ विपरीतकरणी मुद्रा—शीर्षासन = कपालासन = पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उस पर अपने मस्तक को रक्खे। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगाकर शरीर को उल्टा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा करदे। थोड़े ही प्रयत्न मे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी।

फल : वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान् होना, प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिर दर्द आदि का दूर होना, रक्त का शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना।

१० वज्रोली मुद्रा—मूत्रत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षण करें। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देखे कि मूत्रधारा कितने नीचे से आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्यास से जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित होकर खेंची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गई है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तैल अथवा घी, शहद और अन्त मे पारा खींचने का अभ्यास करे।

दूसरी विधि : एक चौदह अंगुल रबड का कैथीटर (जो कि अंग्रेजी दवाखानों मे मिल सकता है) लिङ्ग-छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। यह अभ्यास एक अंगुल से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाते जावें। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिङ्ग के छिद्र अनुसार चौडी जस्त की सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर को मुंह वाली हो जिससे कि लिंगेन्द्रिय मे प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबड़ के कैथीटर की रीति से लिङ्ग-छिद्र मे प्रवेश करने का अभ्यास करें। जब बारह अंगुल तक प्रविष्ट होने लगे तब चौदह अंगुल लम्बी लिङ्ग के छिद्र अनुसार चौड़ी अन्दर से पोली एक चाँदी की

सलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भाग को लिंग-छिद्र में प्रविष्ट करके दो अंगुल बाहर रहने दें, फिर सुनार की धमनी के सदृश धमनी से उस सलाई में लगातार फूत्कार करें। इस प्रकार लिङ्गमार्ग की अच्छी प्रकार शुद्धि हो जाने पर वायु को खींचने और छोड़ने का अभ्यास करे, इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर लिङ्ग-छिद्र से उपर्युक्त रीति से जल, तेल, दूध, शहद और पारे के खींचने का क्रमशः अभ्यास करे।

फल : लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरी को तोड़कर निकालने में सहायता मिलती है।

इस मुद्रा का फल हठयोग के शास्त्र में अलौकिक सिद्धियाँ बतलाई गई हैं परन्तु जरासी असावधानी होने पर इन्द्रिय-छिद्र में विकार होने से भयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज खींचने की चेष्टा में ऊँचे से ऊँचे अभ्यासी के लिये भी आध्यात्मिक पतन होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदि को किसी अनुभवी की सहायता से करना चाहिये अन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुँचने की अधिक सम्भावना है।

काकी और भुजङ्गी मुद्रा का वर्णन पचासवें सूत्र के विशेष वक्तव्य में किया जायगा।

चित लेटकर करने के आसन

१ पादांगुष्ठ नासाग्र स्पर्शासन—पृथिवी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लेट जावे। दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के अंगूठे को पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः-पुनः करे, मस्तक, बायाँ पैर और नितम्ब पृथिवी पर जमे रहें। इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अंगूठे को नासिका के अग्रभाग से स्पर्श करे। फिर दोनों पैरों के अंगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करें। कई दिन के अभ्यास के पश्चात् अंगूठा नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करने लगेगा।

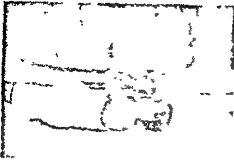
फल : कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कन्ध-स्थान की शुद्धि एवं उदर-सम्बन्धी सर्व रोगों का नाश करता है। यह आसन स्त्रियों के लिये भी लाभदायक है।

२ पश्चिमोत्तानासन—दोनों पाँवों को उड्डीयान और मूलबन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलावे। दोनों हाथों की अंगुलियों से दोनों पैरों की अंगुलियों को खींचकर शरीर को झुकाकर माथे को घुटने पर टिकादे, यथाशक्ति वहीं पर टिकाए रहे। प्रारम्भ में दस-बीस बार शनैः-शनैः रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर ले जावे और इसी प्रकार पूरक करते हुए ऊपर उठाता चला जावे।

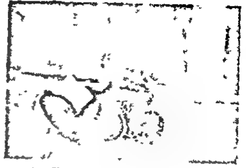
फल : पाचन शक्ति का बढ़ाना, कोष्ठबद्धता दूर करना, मध्य स्नायु और कमर तथा पेट की नस-नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेट को पतला करना इत्यादि।

इस आसन को कम से कम दस मिनट तक करते रहने के पश्चात् उचित लाभ प्रतीत होगा।

३ सम्प्रसारण भू-नमनासन (विस्तृत पाद भू-नमनासन)—पैरों को लम्बा करके



१ पादांगुष्ठ नासाग्र स्पर्शासन, प्रथम प्रकार



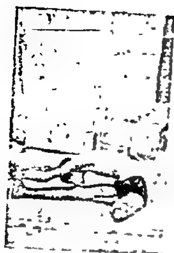
१ पादांगुष्ठ नासाग्र स्पर्शासन २ रा प्रकार



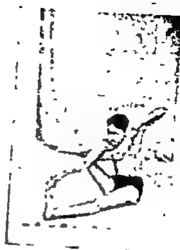
२. पश्चिमोत्तानासन.



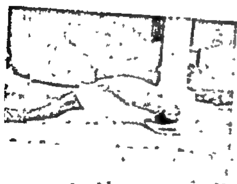
३ सम्प्रसारण भू नमनासन



४. जानुशिरासन



५. आकर्ण धनुरासन



६ शीर्षपादासन



७. हृदयस्तम्भासन

यथाशक्ति चौड़ा फैलावे। तत्पश्चात् दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़कर सिर को भूमि में टिकादे।

फल : इससे ऊरु और जंघा-प्रदेश तन जाते हैं, टाँग, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

४ जानुशिरासन—एक पाँव को सीधा फैलाकर दूसरे पाँव की एड़ी गुदा और अण्डकोश के बीच मे लगाकर उसके पादतल से फैले हुए पाँव की रान को दबावे। मूल और उड्डीयान बन्ध के साथ फैले हुए पैर की अंगुलियों को दोनों हाथों से खींच कर धीरे-धीरे आगे को झुकाकर माथे को पसारे हुए घुटने पर लगादे, इसी प्रकार दूसरे पाँव को फैलाकर माथे को घुटने पर लगावे।

फल : इस आसन के सब लाभ पश्चिमोत्तान आसन के समान हैं। वीर्य-रक्षा तथा कुण्डलिनी जाग्रत करने में सहायक होना, यह इसमें विशेषता है। इसको भी वास्तविक लाभ प्राप्ति के लिये कम से कम दस मिनट करना चाहिये।

५ आकर्ण धनुरासन—दोनों पाँव एक-दूसरे के साथ जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों की अंगुलियों से दोनों पाँव के अंगूठे पकड़ लें। एक पाँव सीधा रखकर दूसरे पाँव को उठाकर उसी ओर के कान को लगावे, हाथों और पैरों के हेर-फेर से यह आसन चार प्रकार से किया जा सकता है :—

(क) दाहिने हाथ से दाहिने पाँव का अंगूठा पकड़कर बायें पाँव का अंगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान को लगावे।

(ख) बायें हाथ से बायें पाँव का अंगूठा पकड़कर दाहिने पाँव का अंगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दाहिने कान को लगावे।

(ग) दाहिने हाथ से बायें पाँव का अंगूठा पकड़कर उसके नीचे दाहिने पाँव का अंगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान को लगावे।

(घ) बायें हाथ से दाहिने पाँव का अंगूठा पकड़कर उसके नीचे बायें पाँव का अंगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दाहिने कान को लगावे।

फल : बाहु, घुटने, जंघा आदि अवयवों को लाभ पहुँचता है।

६ शीर्ष-पादासन—चित लेटकर सिर के पृष्ठ-भाग और पैरों की दोनों एड़ियों पर शरीर को कमान के सदृश कर दे। इस आसन को पूरक करके करे और ठहरे हुए समय में कुम्भक बना रहे, तत्पश्चात् धीरे से रेचक करना चाहिये।

फल : मेरुदण्ड का सीधा और मृदु होना, सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों, गर्दन और पैरों का मजबूत होना।

हृदयस्तम्भासन—चित लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर और दोनों पैरों को आगे की ओर फैलावे, फिर पूरक करके जालन्धर बन्ध के साथ दोनों हाथों और दोनों पैरों को छः-सात इञ्च की ऊँचाई तक धीरे-धीरे उठावे और वहीं पर यथाशक्ति ठहरावे, जब श्वास निकालना चाहे तब पैरों और हाथों को जमीन पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल : छाती, हृदय, फेफड़े का मजबूत और शक्तिशाली होना और पेट के सब प्रकार के रोगों का दूर होना।

८ उत्तानपादासन—चित लेटकर शरीर के सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दे, पूरक करके धीरे-धीरे दोनों पैरों को (अंगुलियों को ऊपर की ओर खूब ताने हुए) ऊपर उठावे, जितनी देर आराम से रख सके रखकर पुनः धीरे-धीरे भूमि पर ले जावे और श्वास को धीरे-धीरे रेचक कर दे। प्रथम बार तीस डिग्री तक, दूसरी बार पैंतालीस डिग्री तक, तीसरी बार साठ डिग्री तक पैरों को उठावे। इस आसन के आधुनिक अनुभवियों ने नौ भेद किये हैं :—

(क) द्विपाद चक्रासन : हाथों के पंजे नितम्ब के नीचे रख चित लेट एक पैर घुटने में मोड़कर घुटने को पेट के पास लाकर तथा दूसरा पैर किञ्चित् ऊपर उठाकर बिल्कुल सीधा रक्खे; और इस प्रकार पैर चलावे जैसे साइकिल पर बैठकर चलाते हैं।

फल : इससे नितम्ब, कमर, पेट, पैर और टाँगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट और स्थिर रहता है।

(ख) उत्थित द्विपादासन : चित लेटकर दोनों पैर पैंतालीस डिग्री तक ऊपर उठा कर जमीन से बिना लगाये धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे।

इससे पेट के स्नायु मजबूत होते हैं और मलत्याग क्रिया ठीक होती है।

(ग) उत्थित एकैक पादासन : चित लेटकर दोनों पैर (एक पैर बीस डिग्री में और दूसरा पैर ४५ डिग्री में) अधर में रखकर जमीन से बिना लगाये हुए ऊपर-नीचे करे।

इससे कमर के स्नायु मजबूत होते हैं, मलोत्सर्ग क्रिया ठीक होती है, वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है।

(घ) उत्थितहस्त-मेरुदण्डासन : हाथ-पैर एक रेखा में सीधे फैलाकर चित लेटे। दोनों हाथ उठाकर पैरों की ओर ले जावे, इस प्रकार पुनः-पुनः पीठ के बल लेटकर पुनः-पुनः उठे।

इससे कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

(ङ) शीर्षबलहस्त-मेरुदण्डासन : पूर्ववत् पीठ के बल लेटकर सिर के पीछे हाथ बाँधे, बिना पैर उठाये कमर से शरीर ऊपर उठावे।

इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़ के दोष दूर होते हैं।

(च) जानुपृष्ठभाल-मेरुदण्डासन : उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़कर बारी-बारी धीरे-धीरे माथे से लगावे, नीचे का पैर भूमि पर टिका हुआ सीधा रहे।

इससे यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), फेफड़े आदि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़, ऊरु बलवान् और निर्विकार होते हैं।

(छ) उत्थित हस्तपाद-मेरुदण्डासन : पूर्ववत् पीठ के बल लेटकर हाथ-पैर दोनों एक-साथ ऊपर उठावे और पुनः पूर्ववत् एक रेखा में ले जावे चार-पाँच बार ऐसा करे।

इससे पेट, छाती, कमर और ऊरु निर्दोष होते हैं।



८. (क) द्विपाद चक्रासन



८. (ख) उत्थित द्विपादासन



८. (ग) उत्थित एकैक पादासन



८. (घ) उत्थित हस्त मेरुदण्डासन



८. (ङ) शीर्षबद्ध हस्त मेरुदण्डासन



८. (च) जानु स्पृष्ट भाल मेरुदण्डासन



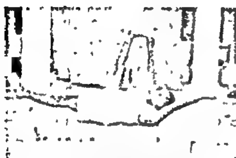
८. (छ) उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन



८. (ज) उत्थितपाद-मेरुदण्डासन



८. (झ) भालस्पृष्ट द्विजानु मेरुदण्डासन



९. हस्तपादांगुष्ठासन (पहिला प्रकार)



११. पवनमुक्तासन



१२. ऊर्ध्व सर्वांगासन



१२. ऊर्ध्व सर्वांगासन



९. हस्तपादांगुष्ठासन
(दूसरा प्रकार)

(ञ) उत्थितपाद मेरुदण्डासन : पैर सामने को फैलाकर हाथों की कोहनियों के बल धड़ को उठावे, अनन्तर पैर पैंतालीस डिग्री तक ऊपर उठाकर ऊपर-नीचे करे।

इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

(ट) भालस्पृष्ट द्विजानु-मेरुदण्डासन : ऊपर कहे अनुसार ही करे, किन्तु इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनों से लगावे।

इससे पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमर के सब विकार दूर होते हैं।

९ हस्त पादाङ्गुष्ठासन—चित लेटकर दोनों नासिका से पूरक करके बायें हाथ को कमर के निकट लगाये रक्खे, दूसरे दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़े, और समूचे शरीर को जमीन पर सटाये रक्खे। दाहिने हाथ और पैर ऊपर की ओर उठाकर तना हुआ रक्खे। इसी प्रकार दाहिने हाथ को दाहिनी ओर कमर में लगाकर बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़कर पूर्ववत् करना चाहिये। फिर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़कर उपर्युक्त विधि से करना चाहिये।

फल : सब प्रकार के पेट के रोगों का दूर होना, हाथ-पैरों का रक्तसञ्चार व बलवृद्धि।

१० स्नायु-सञ्चालासन—चित लेटकर दोनों पैरों को पृथिवी से एक इञ्च उठाकर पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाले और हाथों को सिर की ओर ले जाकर एक इञ्च ऊपर उठावे, बायें पैर व बायें हाथ को मोड़े और फैलावे, फिर दाहिने हाथ व दाहिने पैर को मोड़े और फैलावे जबतक कुम्भक रह सके इसी प्रकार उलट-फेर से हाथों और पैरों को मोड़ता और फैलाता रहे, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर हाथ व पैरों को जमीन पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल : शरीर के सब स्नायुओं में शक्ति उत्पन्न होना, पेट की शिरायें, घुटने एवं मेरुदण्ड का दृढ़ होना।

प्राप्त हो सकते हैं। एक पाँव को आगे और दूसरे को पीछे इत्यादि करने से इसके कई प्रकार हो जाते हैं। इसमें ऊर्ध्व-पद्मासन भी लगा सकते हैं।

फल : रक्तशुद्धि, भूख की वृद्धि और पेट के सब विकार दूर होते हैं। सब लाभ शीर्षासन-समान जानना चाहिये।

१३ सर्वांगासन (हलासन)—चित लेटकर दोनों पाँवों को उठाकर सिर के पीछे जमीन पर इस प्रकार लगावे कि पांव के अंगूठे और अंगुलियां ही जमीन को स्पर्श करें, घुटनों सहित पांव सीधे समसूत्र में रहें, हाथ पीछे भूमि पर रहें।

दूसरा प्रकार—दोनों हाथों को सिर की तरफ ले जाकर पैर के अंगूठों को पकड़ कर ताने।

फल : कोष्ठबद्ध का दूर होना, जठराग्नि का बढ़ना, आँतों का बलवान् होना, अजीर्ण, प्लीहा, यकृत् तथा अन्य सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति और क्षुधा की वृद्धि।

१४ कर्णपीडासन—हलासन करके घुटने कानों पर लगाने से कर्णपीडासन बनता है, इसमें दोनों हाथों को पीठ की ओर जमीन में लगाना चाहिये।

फल : सर्वाङ्गासन के समान, पेट के रोगों के लिए इसमें कुछ अधिक विशेषता है। नादानुसन्धान में भी सहायक है। देर तक करने से वास्तविक लाभ की प्रतीति होगी।

१५ चक्रासन—चित लेटकर हाथों और पैरों के पंजे भूमि पर लगाकर कमर का भाग ऊपर उठावे। हाथ-पैरों के पंजे जितने पास-पास आसकें उतने लाने का यत्न करे। यह आसन खड़ा होकर पीछे से हाथों को जमीन पर रखने से भी होता है।

फल : कमर और पेट के स्थान को इससे अधिक लाभ पहुँचता है, पृष्ठवंश सदा आगे की ओर झुकता है, उसका दोष इस आसन द्वारा विरुद्ध झुकाव होने से दूर हो जाता है।

१६ गर्भासन—चित लेटकर दोनों पैरों को ऊपर उठाकर सिर की ओर जमीन में लगावे, फिर दोनों पैरों की गर्दन में एक पर दूसरे पैर को देकर फँसावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पैरों के अन्दर की ओर से ले जाकर कमर को एक-दूसरे हाथ से पकड़ कर बांधे। इससे पेट के सब प्रकार के रोग, कोष्ठबद्ध यकृत्, प्लीहा (तिल्ली) आदि दूर होते हैं।

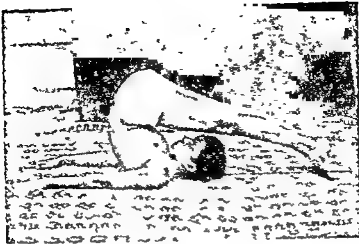
१७ शवासन (विश्रामासन) शरीर के सब अंगों को ढीला करके मुर्दे के समान लेट जावे। सब आसनों के पश्चात् थकान दूर करने और चित को विश्राम देने के लिये इस आसन को करे।

पेट के बल लेटकर करने के आसन

१८ मस्तक-पादांगुष्ठासन—पेट के बल लेटकर सारे शरीर को मस्तक और पैरों के अँगूठे के बल पर उठाकर कमान के सदृश शरीर को बना दे। शरीर को उठाते हुए पूरक ठहराते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करे।

फल : मस्तक, छाती, पैर, पेट की आंतें, तथा सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियां शुद्ध और बलवान् होती हैं। पृष्ठवंश एवं मेरुदण्ड के लिये विशेष लाभ पहुँचता है।

१९ नाभ्यासन—पेट के बल समसूत्र में लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर आगे



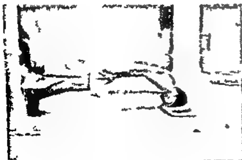
१३ सर्वांगासन (हलासन)



१३ दूसरा प्रकार सर्वांगासन (हलासन)



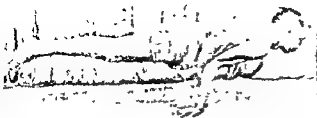
१५ चक्रासन



१८ मस्तक-पादांगुष्ठासन



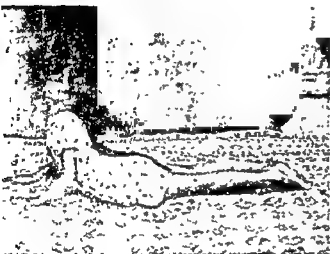
१९ नाभ्यासन



२०. मयूरासन



२१. (क) उत्थितैकपाद-भुजंगासन



२१. (ग) भुजंगासन



२२. मत्स्यासन



२१. (ख) भुजंगासन

दो हाथ की दूरी पर एक-दूसरे हाथ से अच्छी तरह फैलावे, दोनों पैरों को भी दो हाथ की दूरी पर ले जाकर फैलावे। फिर पूरक करके केवल नाभि पर समूचे शरीर को उठावे, पैरों और हाथों को एक या डेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जावे, सिर और छाती को आगे की ओर उठाए रहे, जब श्वास बाहर निकलना चाहे तब हाथों और पैरों को जमीन पर रखकर रेचक करें।

फल : नाभि की शक्ति का विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायु-गोला तथा अन्य पेट के रोगों का तथा वीर्यदोष का दूर होना।

२० मयूरासन—दोनों हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर दोनों हाथों की कोहनियां नाभिस्थान के दोनों पार्श्व से लगाकर मूल उड्डीयान बन्ध के साथ सारे शरीर को उठाये रहे। पांव जमीन पर लगे रहने से हंसासन बनता है।

फल : जठराग्नि का प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात-पित्तादि दोषों को तथा पेट के रोगों गुल्म कब्जादि का दूर करना और शरीर को आरोग्य रखना। बस्ती तथा इनेमा के पश्चात् इसके करने से पानी तथा आंव जो पेट में रह जाती है वह इससे निकल जाती है, मेरुदण्ड सीधा होता है।

२१ भुजंगासन (सर्पासन) आधुनिक आसन-व्यायाम के अनुभवियों ने भुजङ्गासन के निम्न तीन भेद किये हैं :—

(क) वलितैकपाद-भुजङ्गासन : पेट के बल लेटकर हाथ छाती के दोनों ओर से कोहनियों में से घुमाकर भूमि पर टिकावे, भुजङ्ग के सदृश छाती ऊपर को उठाकर दृष्टि सामने रक्खे, एक पैर भूमि पर टिका रहे, दूसरा पैर घुटने को बिना मोड़े जितना जा सके ऊपर उठावे; इसी प्रकार बारी-बारी से पैरों को नीचे-ऊपर करे। इससे कटि-दोष यकृत्, प्लीहादि के विकार दूर होते हैं।

(ख) भुजङ्गासन : पैरों के पंजे उल्टी ओर से भूमि पर टिकाकर हाथों को भी भूमि पर किञ्चित् टेढ़े रखकर धड़ को कमर से उठाकर भुजङ्गाकार होवे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदि के सब दोष नाश होते हैं।

(ग) सरलहस्त-भुजङ्गासन : हाथों को भूमि पर सीधा रखकर पैरों को पीछे की ओर ले जाकर दोनों हाथों के बीच कमर आजाय इस रीति से कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर सीधे आकाश की ओर देखे। इससे पेट की चरबी निकल जाती है, पेट, कमर और गर्दन के सब विकार दूर होते हैं।

२२ शलभासन—शलभ टिड्डी को कहते हैं। पेट के बल लेटकर दोनों हाथों की अंगुलियों को मुट्ठी बाँधकर कमर के पास लगावे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती व सिर को जमीन में लगाये हुए हाथों के बल एक पैर को यथाशक्ति एक-डेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जाकर ठहराये रहे, जब श्वास निकलना चाहे तब धीरे-धीरे पैर को जमीन पर रखकर शनैः-शनैः रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैर को उठावे, फिर दोनों पैरों को उठावे।

फल : जंघा, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है, पेट की आंतें मजबूत होती हैं और सब प्रकार के उदर-विकार दूर होते हैं।

धनुरासन—पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनों पैरों को पकड़ लेवे और शरीर को वक्र-भाव से रक्खे। कहीं-कहीं इस आसन को वज्रासन की भाँति एड़ियों पर बैठकर पीछे की ओर झुककर करना बतलाया है।

फल : कोष्ठबद्धादि उदर के सब विकारों का दूर होना, भूख तथा जठराग्नि का प्रदीप्त होना।

बैठकर करने के आसन

२४ मत्स्येन्द्रासन—इसको पाँच भागों में विभक्त करने में सुगमता होगी :—

(क) बायें पाँव का पंजा दाहिने पाँव के मूल में इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी टूंडी में लगे और अङ्गुलियें पाल्थी के बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बायें घुटने के पास पंजा भूमि पर लगाकर रक्खे।

(ग) बायाँ हाथ दाहिने घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने पाँव का अँगूठा पकड़े, उस दाहिने पाँव के पंजे को बायें घुटने के बाहर सटाकर रक्खे।

(घ) दाहिना हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बायें पैर की जंघा पकड़ ले।

(ङ) मुख तथा छाती पीछे की ओर फिराकर बायें तथा नासाग्र में दृष्टि रक्खे। इसी प्रकार दूसरी ओर से करे।

फल : पीठ, पेट के नल, पाँव, गला, बाहु, कमर, नाभि के निचले भाग व छाती के स्नायुओं का अच्छा खिंचाव होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है; और पेट के सब रोग आमवात, परिणाम-शूल, तथा आँतों के सब रोग नष्ट होते हैं।

२५ वृश्चिकासन—कोहनी से पंजे तक का भाग भूमि पर रखकर उसके सहारे सब शरीर को संभालकर दीवार के सहारे पाँव को ऊपर ले जावे, तत्पश्चात् पाँव को घुटनों में मोड़कर सिर के ऊपर रखदे।

दूसरे प्रकार से केवल पञ्जों के ऊपर ही सब शरीर को संभालकर रखने से भी यह आसन किया जाता है।

यह आसन कठिन है। मोड़चाल से चलनेवाले लड़के इस आसन को शीघ्र कर सकते हैं।

फल : हाथों और बाहों में बलवृद्धि, पेट तथा आँतों का निर्दोष होना, शरीर का फुर्तीला और हल्का होना, मेरुदण्ड का शुद्ध और शक्तिशाली होना, तिल्ली, यकृत्, एवं पाण्डु-रोग आदि का दूर होना।

२६ उष्ट्रासन—वज्रासन के समान हाथों से एड़ियों को पकड़कर बैठे। पश्चात् हाथों से पाँवों को पकड़े हुए चूतड़ों को चढ़ाये, सिर पीछे पीठ की ओर झुकावे और पेट भरसक आगे की ओर निकाले।



२३ धनुरासन



२४ मत्स्येन्द्रासन



२४ मत्स्येन्द्रासन



२५ वृश्चिकासन



२६ उष्ट्रासन

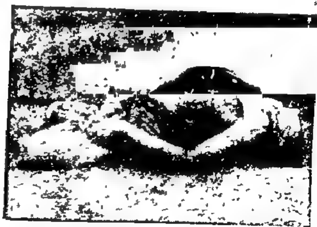



३४, ऊर्ध्व पद्मासन


३५, उत्थित पद्मासन


३६, कुक्कुटासन


३७, गर्भासन


३९, मत्स्यासन

हो, बैठे। फिर निम्न क्रियायें करे :—दोनों हाथों को मिलाकर भरसक ऊपर उठावे दोनों
ों को गौमुख करके रक्खे। दोनों हाथ पीछे फेरकर दाहिने हाथ से बायें पांव के अंगूठे
रक्खे और बायें हाथ से दाहिने पांव के अंगूठे को पकड़े। दोनों हाथों को भूमि पर जमाकर
छाती के सारा शरीर अर्थात् पूरे आसन को उठावे और नितम्बों को पुनः भूमि पर
दे।

२८ : तीनों बन्धों के फल के अतिरिक्त इससे कुण्डलिनी की जागृति और प्राणों के
पेट के ऊपर विशेष सहायता मिलती है, किन्तु सावधानी के साथ करे।

उल्टए कुसिय क पादांगुष्ठासन—एक पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोश के बीच में
प्रकार जोड़ब के अंगूठे को अंगुलियों सहित पृथिवी पर जमाकर दूसरे पैर को ठीक उसके
ऊपर आ जा कर उस पर सारे शरीर का भार सँभालकर बैठे। नासाग्र भाग पर दृष्टि
फल को किञ्चित् उभारे रहे, दायें-बायें दोनों अङ्ग से बारी-बारी से करे।
का नाश होता वीर्यदोष का दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियों का शुद्ध और पुष्ट होना।

२९ पार्श्व खड़े होकर करने के आसन

अंगुलियाँ और सन—गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको समरेखा में करके सीधा
अंगुलियाँ नितम्ब को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलाये रक्खे।
दिखाई देने लगें। धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जावे और नीचेवाले को ऊपर। इसी
फल : घुटने,
का नाश होना, वी शरीर को आरोग्य रखना, मेरुदण्ड का सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श
लाभदायक है। आदि।

३० गौरक्षासन—सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे, तत्पश्चात् दोनों
पर जमाकर पैरों को इस लपेटकर हथेली से हथेली मिलाकर दोनों हाथों को नाक के पास
आ जावें और दायें पैर व
ओर जंघा के नीचे से लाव शुद्धि, अण्डकोश की वृद्धि का रोकना, घुटने और कोहनियों
बन्ध लगाकर चित्त को स्थिर क

फल : कण्ठ, स्कन्ध, बाहु दोनों पैरों को भरसक फैलावे, मस्तक को आगे की
सीवनी, अण्डकोश और कटिप्रदेश की व्याधियों का दूर करना।

३१ सिंहासन—दोनों पैरों को नितम्बों के नीचे इस प्रकार जमावे कि
दायें नितम्ब के नीचे और दायाँ पैर बायें नितम्ब के नीचे आ जावे, फिर दोनों हाथ
पेट की ओर अंगुलियाँ करके जंघा पर जमावे। पेट को अन्दर खींचते हुए, छाती को बाहर
निकाले हुए, मुंह को खोलकर जिह्वा को बलपूर्वक बाहर की ओर निकाल ठोढ़ी पर जमादे।

फल : बाहु और पैरों का शक्तिशाली होना, गर्दन का नीरोग होना, कण्ठ और सीवनी
आदि की शुद्धि, हकलाना बन्द होना।

३२ बकासन—दोनों हाथों के पंजे जमीन पर रखकर दोनों घुटनों को बाहुओं के



१४, ऊर्ध्व पद्मासन



१५, उत्थित पद्मासन



१६, कुक्कुटासन



१७, गर्भासन



१८, मत्स्यासन

से बैठे। फिर निम्न क्रियायें करे :—दोनों हाथों को मिलाकर भरसक ऊपर उठावे दोनो हाथों को गौमुख करके रक्खे। दोनों हाथ पीछे फेरकर दाहिने हाथ से बायें पांव के अंगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पांव के अंगूठे को पकड़े। दोनों हाथों को भूमि पर जमाकर उन पर सारा शरीर अर्थात् पूरे आसन को उठावे और नितम्बों को पुनः भूमि पर ताड़न करे।

फल : तीनों बन्धों के फल के अतिरिक्त इससे कुण्डलिनी की जागृति और प्राणों के उत्थान में विशेष सहायता मिलती है, किन्तु सावधानी के साथ करे।

४२ एक-पादांगुष्ठासन—एक पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोश के बीच में लगाकर उसी के अंगूठे को अंगुलियों सहित पृथिवी पर जमाकर दूसरे पैर को ठीक उसके घुटने पर रखकर उस पर सारे शरीर का भार सँभालकर बैठे। नासाग्र भाग पर दृष्टि जमाकर छाती को किञ्चित् उभारे रहे, दायें-बायें दोनों अङ्ग से बारी-बारी से करे।

फल : वीर्यदोष का दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियों का शुद्ध और पुष्ट होना।

खड़े होकर करने के आसन

४३ ताड़ासन—गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको समरेखा में करके सीधा खड़ा हो एक हाथ को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलाये रक्खे। ऊपरवाले हाथ को धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जावे और नीचेवाले को ऊपर। इसी प्रकार कई बार करे।

फल : सारे शरीर को आरोग्य रखना, मेरुदण्ड का सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श रोग का नाश करना इत्यादि।

४४ गरुड़ासन—सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे, तत्पश्चात् दोनो हाथों को भी उसी प्रकार लपेटकर हथेली में हथेली मिलाकर दोनों हाथों को नाक के पास ले जावे।

फल : पैरों के स्नायु की शुद्धि, अण्डकोश की वृद्धि का रोकना, घुटने और कोहनियों आदि के दर्द का नाश करना।

४५ द्विपाद मध्यशीर्षासन—दोनों पैरों को भरसक फैलावे, मस्तक को आगे की ओर झुकाकर दोनों पैरों के बीच में ले जाकर पृथिवी पर लगावे।

फल : पेट के स्नायु, कमर, मेरुदण्ड, और वीर्यवाही नसों का पुष्ट होना।

४६ पादहस्तासन—सीधे खड़े होकर धीरे-धीरे आगे की ओर झुककर दोनो हाथो से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़े, उड्डीयान और मूलबन्ध के साथ बिना घुटने तथा पाँव झुकाए घुटने पर सिर को लगादे।

फल : तिल्ली, यकृत्, कोष्ठबद्धता आदि का दूर होना। देर तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होगी।

४७ हस्तपादांगुष्ठासन—सीधा समसूत्र में दोनों पैरों को मिलाकर खड़ा हो एक

पैर को सीधा उठाकर कटिप्रदेश की जगह तक ले जावे, दूसरे हाथ से इस पैर के अंगूठे को पकड़कर सीधा ताने, दूसरा हाथ कमर पर रहे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे। जब यह आसन लगभग एक मिनट तक टिकने लगे तो मस्तक को फैलाये हुए घुटने पर लगावें।

फल : पेट, पीठ, जंघा, कमर, कण्ठ आदि अवयवों का बलवान् होना।

४८ कोणासन—टांगों को फैलाकर समसूत्र में खड़ा हो, तत्पश्चात् एक हाथ को सीधा रखकर दूसरे हाथ से बायीं ओर झुककर बायें पैर के घुटने को पकड़े। इसी प्रकार दूसरी ओर करे।

फल : पीठ, कमर का नीरोग होना, स्नायुओं में रक्त व खून का संचार इत्यादि।

यहाँ लगभग सभी मुख्यासन उनके फल-सहित बतला दिये हैं। किन्तु बहुत-से आसनों को करने की अपेक्षा अपनी आवश्यकतानुसार थोड़े-से विशेष-विशेष आसनों को निम्न लिखित सूची-अनुसार विधिपूर्वक देर तक करना अधिक लाभदायक होगा। आसनों को ओ३म् के मानसिक जाप तथा स्थान विशेष पर ध्यान के साथ करना अच्छा रहेगा।

१	शीर्षासन (विपरीतकरणी मुद्रा) (९)	२०	मिनट	कम से कम
२	मयूरासन (२०)	१०	"	"
३	ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन (१२)	१०	"	"
४	पश्चिमोत्तानासन (२)	१०	"	"
५	जानुशिरासन (४)	१०	"	"
६	उत्तानपादासन (८)	५	"	"
७	पवन-मुक्तासन (११)	५	"	"
८	भुजङ्गासन (२१)	५	"	"
९	शलभासन (२२)	५	"	"
१०	त्रिबन्धासन (४१)	५	"	"
११	ताड़ासन (४३)	५	"	"
१२	पादहस्तासन (४६)	५	"	"
१३	सम्प्रसारण भूनमनासन (३)	५	"	"
१४	हृदयस्तम्भासन (७)	५	"	"
१५	शीर्षपादासन (६)	५	"	"
१६	सर्वाङ्गासन (हलासन) (१३)	१०	"	"
१७	कर्णपीड़ासन (१४)	१०	"	"
१८	मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन (१८)	५	"	"
१९	नाभ्यासन (१९)	५	"	"
२०	धनुरासन (२३)	५	"	"
२१	उष्ट्रासन (२६)	५	"	"
२२	सुप्तवज्रासन (१७)	५	"	"

२३ मत्स्यासन(३९) १० ,, ,,
२४ द्विपाद् मध्यशीर्षासन (४५) ५ ,, ,,

आसन का उठना :—ध्यान की अवस्था में प्राण के दबाव में सूक्ष्म और शुद्ध शरीर वाले साधकों का कभी-कभी आसन स्वयं उठने लगता है। बहुधा साधकों को प्राण के उत्थान में आसन के उठने का भ्रम हो जाता है।

आसन उठाने की विधि—वस्ती अथवा एनेमा आदि से पेट की सफाई करके मूल और उड्डीयान बन्ध लगाकर पद्म आसन से बैठे फिर नीचे से पेट में वायु को भरना चाहिये। कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् एक विशेष अकथनीय स्वयमेव होने वाली आन्तरिक क्रिया द्वारा सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवालों का आसन उठने लगता है। किन्तु आसन का उठना केवल शारीरिक क्रिया है। इसमें आध्यात्मिकता का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसके प्रदर्शन में आध्यात्मिक हानि ही है।

गुफा में बैठना : साधारण मनुष्य अधिक समय तक गुफा में बैठने को ही समाधि समझते हैं।

गुफा में बैठने की पहिली विधि—इसमें एक लम्बे समय तक खान-पान तथा अन्य सब शारीरिक क्रियाओं को छोड़ देने का अभ्यास होता है। गुफा में जाने से कई दिन पूर्व वस्ती धौती आदि यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर-शोधन और दूध तथा बादाम का छोंका आदि सूक्ष्म और अल्प आहार लेना होता है। गुफा में जाने वाले दिन वस्ती, धौती, नेती आदि क्रियाओं तथा Cathetar (कैथेटर) से शरीर-शोधन करना चाहिये। गुफा में नमी सील लेशमात्र भी न हो। पक्की होनी चाहिये। कई दिन पूर्व तैयार करा ली जावे जिससे उसकी सील सब निकल जावे। वायु-प्रवेश के लिये एक जालीदार खिड़की होनी चाहिये। दो एक अनुभवी देखभाल करते रहें जिससे किसी दुर्घटना की उपस्थिति में उसका प्रतीकार किया जा सके। युवक और पुष्ट शरीर वाले ही अपनी शक्ति से कम समय के लिये ही बैठने की चेष्टा करें। इसके लिए शीतकाल उपयोगी समय है।

गुफा में बैठने की दूसरी विधि—इसमें पहिली विधि में बतलाई हुई सब बातों के अतिरिक्त किसी विशेष क्रिया से प्राण की बाह्य गति को रोक कर एक ही आसन से निश्चित समय तक बैठना होता है। इसमें खेचरी मुद्रा अधिक उपयोगी होती है। बाह्य प्राण की गति के अभाव में प्राणों की केवल आन्तरिक क्रिया होती रहती है। इसलिये बाहर की हवा की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें गुफा को बिल्कुल बन्द कर दिया जाता है। इसमें बेहोशी जैसी अवस्था रहती है। इसलिये श्रोत्र और नासिकादि के छिद्रों को विशेष रीति से बन्द कर दिया जाता है जिससे कोई जीव-जन्तु अन्दर प्रवेश न कर सके। शरीर में दीमक न लगने पावे इसलिये गुफा में राख डाल दी जावे अथवा अन्य किसी प्रकार से इसका उपचार करना चाहिये। इस क्रिया में पहिली विधि की अपेक्षा अधिक शारीरिक बल और देखभाल की आवश्यकता है। कुछ अनुभवियों को पहिले ही से सब बातें समझा कर नियुक्त कर

देना चाहिये। अपनी सामर्थ्य से कम समय के लिये बैठना चाहिये तथा गुफा में कोई ऐसी बिजली की घण्टी आदि होनी चाहिये कि जिससे दुर्घटना की उपस्थिति में सूचना दी जा सके।

वास्तविक समाधि तो तीव्र वैराग्य होने पर ध्यान द्वारा वृत्तियों के निरोधपूर्वक होती है जैसा कि योग दर्शन में बतलाया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार से गुफा में बैठना न तो वास्तविक समाधि ही है और न इसका आध्यात्मिकता से कोई विशेष संबन्ध ही है। पहिली विधि में अति कठिन शारीरिक तप है और दूसरी विधि में उससे भी भयंकर प्राणसंबन्धी तप और उसकी विशेष क्रियाओं का अभ्यास है। यदि इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में कार्य्य-कुशल साधक जनसमूह में प्रतिष्ठा मान और धन प्राप्ति की अभिलाषा की उपेक्षा करके वैराग्य और ध्यान द्वारा वृत्तिनिरोध की ओर प्रवृत्त हों तो बहुत शीघ्र आत्म-उन्नति के शिखर पर आरूढ हो सकते हैं। इस प्रकार की समाधि का सब से कठिन और आश्चर्य्य जनक प्रदर्शन महाराजा रणजीतसिंहजी के समय में एक प्रमुख हठयोगी हरिदास ने किया था। वह प्राणों की बाह्य गति को किसी विशेष क्रिया द्वारा अन्तर्मुख करके खेचरी मुद्रा लगा कर एक विशेष आसन से बैठ गया। उसके नाक व कानों के छिद्रों को मोम तथा अन्य कई औषधियों द्वारा बन्द कर दिया गया। एक लोहे के बक्स में रख कर ताला लगाकर उसको जमीन खुदवा कर गड़वा दिया गया। तदुपरान्त उस भूमि पर चने बुवा दिये गये। छः मास पश्चात् जमीन को खोद कर बक्स में से उसे निकाला गया और उसकी बतलाई हुई विधि अनुसार होश में लाया गया। इतना सब कुछ होते हुये भी कहते हैं कि उसमें वैराग्य तथा ध्यान द्वारा वृत्तिनिरोध के अभ्यास की कमी थी जिसके फलस्वरूप (बहुत सम्भव है वज्रोली क्रिया की सिद्धि की चेष्टा में) एक क्वांरी लड़की को भगा कर लेजाने के प्रयत्न ने उसकी सारी प्रतिष्ठा और मान पर पानी फेर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के योग के नाम पर प्रदर्शन आरम्भ में जनसमूह में योग शब्द के प्रति अगाध श्रद्धा और अन्ध विश्वास उत्पन्न कर देते हैं किन्तु उनके प्रदर्शकों की सांसारिक और स्वार्थमय चेष्टायें अन्त में उससे कहीं अधिक योग के सम्बन्ध में अश्रद्धा की उत्पादक होजाती हैं।

आसन मुद्रायें आदि सभी यौगिक क्रियाओं का हमने वर्णन कर दिया है। इनमें से जो जिसके अभ्यास में सहायक हों उनको ग्रहण करना चाहिये। किन्तु मुख्य ध्येय आत्म उन्नति को छोड़कर केवल इन शारीरिक क्रियाओं और खान-पान के चिन्तन में ही लगा रहना अहितकर है।)

संगति—आसन की सिद्धि का उपाय बताते हैं:—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—प्रयत्न-शैथिल्य = प्रयत्न की शिथिलता। आनन्त्य-समापत्तिभ्याम् = और आनन्त्य में समापत्ति द्वारा। (आसन सिद्ध होता है)।

अन्वयार्थ—(आसन) प्रयत्न की शिथिलता और आनन्त्य में समापत्ति द्वारा सिद्ध होता है।

व्याख्या—सूत्र के अन्त में 'भवति' वाक्य शेष है। प्रयत्न-शैथिल्य = स्वाभाविक शरीर की चेष्टा का नाम प्रयत्न है। उस स्वाभाविक चेष्टा से अङ्गमेजयत्व (शरीर-कम्पन) के निमित्त उपरत होना प्रयत्न की शिथिलता है। इस प्रयत्न की शिथिलता से आसन सिद्ध होता है। अथवा आनन्त्यसमापत्ति = आकाशादि में रहनेवाली अनन्तता में चित्त की व्यवधान-रहित समापत्ति अर्थात् तद्रूपता को प्राप्त हो जाने से आसनसिद्धि होती है अर्थात् शरीर को प्रयत्नशून्य और मन को व्यापकविषयी वृत्तिवाला करके आसन पर बैठना चाहिये। इस प्रकार शरीर और मन को क्रियारहित करने से शरीर का अध्यास छूट जाता है और उससे भूला-जैसा होकर बहुत समय तक स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बैठ सकता है। आनन्त्य-समापत्ति से यह अभिप्राय है कि चित्त वृत्तिरूप से प्रतिक्षण अनेक परिच्छिन्न पदार्थों की ओर घूमता रहता है। उनकी परिच्छिन्नता से वह अस्थिर रहता है। अपरिच्छिन्न आकाशादि में जो अनन्तता है उसमें चित्त को तदाकार करने से चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

टिप्पणी—॥ सूत्र ४७ ॥ इस सूत्र में अनन्त पाठ मानकर अनन्त-समापत्ति का अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न अपने-अपने विचारों के अनुसार किया है। इसका कारण यह है कि व्यासभाष्य से इसका पूरा स्पष्टीकरण नहीं होता है। व्यासभाष्य में केवल इतना बतलाया है:—

अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति।

अर्थ—अनन्त में समापन्न किया हुआ चित्त आसन को सिद्ध करता है।

इसीलिये किसी ने अनन्त के अर्थ अनन्त पदार्थ, किसी ने ईश्वर किये हैं। और वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु ने अनन्त शेषनाग का नाम बताया है, जो अपने सहस्र फनों पर पृथिवीमण्डल को धारण किये हुए है। इन सबका यह तात्पर्य हो सकता है कि समाधिसिद्धि से आसनसिद्धि हो जाती है। पर समाधि से पूर्व प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान इन चारों अङ्गों की पूर्ति शेष रहती है। आसन साधन है और समाधि साध्य है। समाधिसिद्धि से आसनसिद्धि बतलाना साध्य से साधन को सिद्ध करना है, इसलिये इसके अर्थ हमने "भोजवृत्ति" के अनुसार किये हैं, जो इस प्रकार है :—

यदा चाऽऽकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नाऽऽसनं दुःखजनकं भवति।

अर्थ—जब आकाश आदि में रहनेवाली अनन्तता में चित्त को व्यवधान-रहित तदाकार किया जाता है तब उसकी तद्रूपता प्राप्त हो जाने पर शरीराभिमान का अभाव हो जाने से देह की सुध न रहने से आसन दुःख का उत्पादक नहीं होता।

संगति—उसका फल बतलाते हैं :—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ततः उससे। द्वन्द्व-अनभिघातः = द्वन्द्व की चोट नहीं लगती।

अन्वयार्थ—आसन की सिद्धि से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती।

व्याख्या—आसन सिद्ध होने पर योगी को गर्मी-सर्दी भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते।

संगति—आसनसिद्धि के अनन्तर प्राणायाम को बताते हैं :—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—तस्मिन्-सति = उस आसन के स्थिर हो जाने पर। श्वास-प्रश्वासयोः = श्वास और प्रश्वास की। गति-विच्छेदः = गति को रोकना। प्राणायामः = प्राणायाम है।

अन्वयार्थ—आसन के स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम है।

व्याख्या—श्वास : बाहर की वायु का नासिका द्वारा अन्दर प्रवेश करना श्वास कहलाता है।

प्रश्वास : कोष्ठ-स्थित वायु का नासिका द्वारा बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनों स्थानों में रोकना प्राणायाम कहलाता है। रेचक प्राणायाम की बहिर्गति होने के कारण उसमें श्वास की स्वाभाविक गति का तो अभाव होता ही है पर कोष्ठ की वायु का बहिर्-विरेचन करके बाहर ही धारण करने से प्रश्वास की स्वाभाविक गति का भी अभाव हो जाता है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाम में प्रश्वास की गति का तो अभाव होता ही है, पर बाह्य वायु को पान करके शरीर के अन्दर धारण करने से श्वास की स्वाभाविक गति का भी अभाव हो जाता है; और कुंभक प्राणायाम में रेचन पूरण प्रयत्न के बिना केवल विधारक प्रयत्न से प्राणवायु को एकदम जहाँ के तहाँ रोक देने से श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का अभाव हो जाता है।

जब ठीक आसन से बैठ जावे तब ऊपर बतलाई हुई रीति से प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम के इन तीनों भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन अगले सूत्र में है। आसन यम-नियम की नाईं योग का स्वतन्त्र अङ्ग नहीं है, वह प्राणायाम की सिद्धि का उपाय है। इसलिये 'तस्मिन् सति' उसके अर्थात् आसन के हो जाने पर यह शब्द लाया गया है।

संगति—सुखपूर्वक प्राणायाम की प्राप्ति के लिये उसका भेद करके स्वरूप बताते हैं।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भ-वृत्तिः = बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीनों प्रकार का प्राणायाम)। देश-काल-संख्याभिः-परिदृष्टः = देश, काल और संख्या से देखा हुआ। दीर्घसूक्ष्मः = लम्बा और हल्का होता है।

अन्वयार्थ—(यह प्राणायाम) बाह्य-वृत्ति आभ्यान्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकार का होता है) देश, काल और संख्या से देखा हुआ (नापा हुआ) लम्बा और हल्का होता है।

व्याख्या—बाह्य-वृत्ति (प्रश्वास): श्वास का बाहर निकालकर उसका स्वाभाविक गति का अभाव करना रेचक प्राणायाम है।

आभ्यन्तर-वृत्ति (श्वास): श्वास अन्दर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव पूरक प्राणायाम है।

स्तम्भवृत्ति: श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को एकदम जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। जिस प्रकार तप्त-लोहादि पर डाला हुआ जल एक-साथ संकुचित होकर सूख जाता है, इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का एक-साथ अभाव हो जाता है।

इन तीनों में प्रत्येक प्राणायाम तीन-तीन प्रकार का होता है:—

१ देश परिदृष्ट: देश से देखा हुआ अर्थात् देश से नापा हुआ। जैसे (१) रेचक में नासिका तक प्राण का निकलना, (२) पूरक में मूलाधार तक श्वास का ले जाना, (३) कुम्भक में नाभिचक्र आदि में एकदम रोक देना।

२ कालपरिदृष्ट: समय से देखा हुआ अर्थात् समयोपलक्षित=समय की विशेष मात्राओं में श्वास का निकालना, अन्दर ले जाना और रोकना। जैसे दो सेकिण्ड में रेचक, एक सेकिण्ड में पूरक और चार सेकिण्ड में कुम्भक।

३ संख्यापरिदृष्ट: संख्या से उपलक्षित। जैसे इतनी संख्या में पहिला, इतनी संख्या में दूसरा; और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लम्बा और हल्का होता है।

भाव यह है कि ज्यों-ज्यों योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों रेचक, पूरक, कुम्भक, यह तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ (लम्बा) सूक्ष्म (पतला, हल्का) होता चला जाता है। अर्थात् पहले-पहल रेचक प्राणायाम में बाहर फेंकते समय जितनी दूर तक प्राण जाता है, धीरे-धीरे अभ्यास से उसका परिमाण बढ़ता चला जाता है। इसकी जांच इस प्रकार की जाती है कि रेचक प्राणायाम के समय पहले-पहल नासिका के सामने पतली-सी रुई रखने से जितनी दूर वह श्वास के स्पर्श से हिलती है, कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् उससे अधिक दूरी पर हिलने लगती है। इस प्रकार जब बारह अंगुल-पर्यन्त रेचक स्थिर हो जावे तब उसको दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये।

जिस प्रकार रेचक प्राणायाम में श्वास की लम्बाई बाहर बढ़ती जाती है इसी प्रकार पूरक प्राणायाम में अन्दर बढ़ती जाती है। अन्दर श्वास खींचने में श्वास का स्पर्श चींटी जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यास के क्रम से नीचे की ओर नाभि तथा पादतल और ऊपर की ओर मस्तिष्क तक पहुंच जाता है। नाभि-पर्यन्त पूरक स्थिर हो जाने पर उसको भी दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये। इस तरह केवल रेचक, पूरक की परीक्षा की जाती है, कुम्भक में न बाहर कुछ हिलता है, न अन्दर स्पर्श होता है। यह देशद्वारा परीक्षा हुई।

काल-द्वारा परीक्षा

इसी प्रकार तीनों प्रकार का प्राणायाम अभ्यास द्वारा काल के परिमाण में भी बढ़ता जाता है। आरम्भ में जितने कालतक प्राणायाम होता है, धीरे-धीरे उससे अधिक कालतक बढ़ता जाता है। हाथ को जानु के ऊपर से चारों ओर फिराकर एक चुटकी बजा देने में जितना काल लगता है उसका नाम मात्रा है। दिनों-दिन वृद्धि को प्राप्त किया हुआ प्राणायाम जब छत्तीस मात्राओं पर्यन्त श्वास-प्रश्वास की गति के अभाव में होने लगे तब उसको दीर्घसूक्ष्म जानना चाहिये।

संख्या-द्वारा परीक्षा

इसी प्रकार संख्या के परिमाण से प्राणायाम बढ़ता जाता है। प्राणायाम के बल से कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का एक-एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनने लगे तो जानना चाहिये कि दीर्घ-सूक्ष्म हुआ। यह प्रथम उद्‌घात, मृदु दीर्घ-सूक्ष्म, चौबीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास, द्वितीय उद्‌घात मध्य दीर्घ-सूक्ष्म और छत्तीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास, तृतीय उद्‌घात तीव्र सूक्ष्म कहलाता है। उद्‌घात का अर्थ नाभिमूल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिमाण है। इस प्रकार प्राणायाम अभ्यास से लम्बा (घड़ी, पहर, दिन, पक्ष, आदि पर्यन्त) और सूक्ष्म बड़ी निपुणता से जानने योग्य होता चला जाता है।

विशेष वक्तव्य—॥सूत्र ५०॥ प्राण का विस्तार-पूर्वक वर्णन पहले पाद के चौंतीसवें सूत्र के वि० व० में कर आये हैं। यहाँ प्राणायाम का क्रियात्मक रूप बतला देना आवश्यक है। एक स्वस्थ मनुष्य स्वाभाविक रीति से एक मिनट में पन्द्रह बार श्वास लेता है। साधारण स्थिति में श्वास की गति इस क्रम से होती है : (१) श्वास का भीतर जाना, (२) भीतर रुकना, (३) बाहर निकलना, (४) बाहर रुकना। श्वास के भीतर जाने को श्वास, बाहर निकलने को प्रश्वास और अन्दर तथा बाहर रुकने को विराम कहते हैं। इस स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की गति के वशीकरण से शरीर के भीतर प्राण की समस्त सूक्ष्म गतियों का वशीकार हो सकता है और नाना प्रकार की अद्‌भुत शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इन दोनों गतियों के नियम-पूर्वक रोक देने के अभ्यास से आयु बढ़ती है, शरीर स्वस्थ रहता है, कुण्डलिनी जाग्रत होती है, और मन जो अति चञ्चल तथा दुर्निग्रह है, प्राण से सम्बन्ध रखने के कारण उसके रुकने से शीघ्र स्थिर हो जाता है। योग का अन्तिम लक्ष्य चित्त की वृत्तियों का रोकना है, इसलिये सूत्रकार ने प्राणायाम को योग का चौथा अंग मानकर उसका लक्षण (नियमपूर्वक) श्वास-प्रश्वास की गति का रोकना किया है। तीन नियमित क्रियाओं से इस गति का निरोध किया जाता है। इसलिये प्राणायाम के तीन भेद : पूरक = आभ्यन्तर-वृत्ति, रेचक = बाह्य-वृत्ति, और कुम्भक = स्तम्भ-वृत्ति किये हैं।

(१) पूरक (आभ्यन्तर-वृत्ति) द्वारा श्वास को देश (नाभि, मूलाधार आदि आभ्यन्तर प्रदेश तक ले जाकर), काल (श्वास की मात्रायें बढ़ाकर) और संख्या (कई श्वासों

का एक श्वास बनाकर) के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गति का अभाव किया जाता है। इस प्रकार पूरक द्वारा श्वास की गति को रोक देने को पूरक सहित कुम्भक, अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं।

(२) इसी प्रकार रेचक द्वारा प्रश्वास को देश, काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गति को रोक दिया जाता है। इस प्रकार प्रश्वास की गति को रोक देने को रेचक सहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहते हैं। जहाँ पूरक, रेचक दोनों से श्वास-प्रश्वास की गति को रोक दिया जाता है वह सहित-कुंभक कहलाता है।

(३) बिना पूरक रेचक किये हुए श्वास-प्रश्वास दोनों की गतियों को कुम्भक द्वारा एकदम जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। यह भी देश (हृदय की धड़कन, हाथ की नाड़ी आदि की चाल को देखकर) काल (कितनी मात्राओं में गति का अभाव रहा) संख्या (कितनी विराम की संख्या में गति का अभाव रहा) के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। इसको केवल कुम्भक कहते हैं।

(४) इन तीनों प्रकार के प्राणायामों से भिन्न एक चौथी विलक्षण क्रिया श्वासप्रश्वास की गति को रोकने की है। इसकी संज्ञा योगदर्शन में "चतुर्थ प्राणायाम" की है। इसमें श्वास-प्रश्वास की गति को रोके बिना केवल रेचक, पूरक किया जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति देश, काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ और सूक्ष्म होती हुई स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

समाधिपाद के चौंतीसवें सूत्र के वि० व० में मुख्य प्राण के पाँच भेद : प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान तथा प्राण का निवास-स्थान हृदय, अपान का मूलाधार, और समान का नाभि बतला आये हैं। पूरक में प्राण समान से नीचे जाकर अपान के साथ मिलता है और रेचक में अपान समान से ऊपर आकर प्राण से मिलता है। इसलिये कई योगाचार्यों ने प्राणायाम का लक्षण 'प्राण और अपान का मिलना किया है। यथा :—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचक-पूरक-कुम्भकैः॥

—योगियाज्ञवल्क्य ६।२

अर्थ—प्राण और अपान वायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहने से रेचक पूरक और कुम्भक की क्रिया समझी जाती है।

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचक-पूरक-कुम्भकाः।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः॥

—योगियाज्ञवल्क्य ६।३

अर्थ—रेचक, पूरक और कुम्भक, यह तीनों तीन वर्णरूप हैं अर्थात् इन तीनों में तीन-तीन वर्ण होते हैं। वही यह प्रणव कहा गया है। प्राणायाम प्रणव-रूप ही है। अर्थात्

जिस प्रकार ओम् में अ, उ, म, ये तीन वर्ण हैं, इसी प्रकार पूरक, कुंभक, रेचक तीनों में तीन-तीन वर्ण हैं, इसलिये यह तीनों प्रणव ही हैं। ऐसा जानकर इन तीनों के अलग-अलग अभ्यास में प्रणव उपासना की भावना करनी चाहिये। प्राणायाम की क्रियाओं की भिन्नता से कुम्भक के आठ अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। यथा :—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुंभकाः॥

—गोरक्षसंहिता १९५, घेरण्डसंहिता

अर्थ—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, और केवली भेद से कुम्भक आठ प्रकार का है।

हठयोगप्रदीपिका में कुम्भक का आठवाँ भेद प्लाविनी माना है। इन सब प्रकार के उपर्युक्त कुम्भकों के वर्णन करने से पूर्व इनके सम्बन्ध में कई विशेष सूचनायें दे देना उचित प्रतीत होता है।

बन्धों का प्रयोग—स्थिरासन में खेचरी मुद्रा के साथ नेत्रों को बन्द करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधे रहें; झुके न रहें। शरीर को तानकर नहीं रखना चाहिये बल्कि ढीला छोड़ देना चाहिये। मूलबन्ध आरम्भ से अन्ततक तीनों प्राणायामों में लगा रहना चाहिये। उड्डीयान को भी लगाए रखने का प्रयत्न करें। रेचक में पूरा उड्डीयान करके पेट को पीठ से मिला देना चाहिये। पूरक और कुम्भक के समय पेट की नाड़ियों को फुलाकर आगे की ओर नहीं बढ़ाना चाहिये, वरन् सिकोड़कर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भक के समय जालन्धर-बन्ध लगाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। कुम्भक की समाप्ति पर जालन्धर-बन्ध खोलकर रेचक किया जाता है। जालन्धर-बन्ध यद्यपि बहुत लाभदायक है तथापि तनिक-सी असावधानी होने पर इनमें हानि पहुँचने की भी सम्भावना रहती है। तथा इसके द्वारा गर्दन झुकाने की आदत भी कई अभ्यासियों को पड़ जाती है। इसलिये राजयोग के अभ्यासियों के लिये अधिक हितकर नहीं है। बिना जालन्धर-बन्ध लगाये दोनों नासिकापुट को अंगुलियों से बन्द करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

२ अंगुलियों का प्रयोग—वाम नासिकापुट से पूरक करते समय दाहिने नासिकापुट को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाना होता है। कुम्भक के समय वाम नासिकापुट को भी दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका से दबाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। अर्थात् यदि जालन्धर-बन्ध न लगाना हो तो कुम्भक में दोनों नासिकापुट (नथुने) सीधे हाथ की नियुक्त अंगुलियों से बन्द किये जाते हैं। दक्षिण नासिकापुट से रेचक करते समय केवल वाम नासिकापुट को बन्द रखना होता है, दाहिने पर से अंगुलियाँ हटाली जाती हैं, इसी अवस्था में दाहिने नथुने से पूरक किया जाता है; और कुम्भक के समय इसको भी पूर्ववत् बन्द कर दिया जाता है। बायें नथुने से रेचक के समय उस नथुने पर से अंगुलियाँ हटाली

जाती हैं। दोनों नथुनों से रेचक तथा पूरक करते समय दोनों नथुनों पर से अंगुलियाँ हटाली जाती हैं। आरम्भ में ही अंगुलियों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। अभ्यास परिपक्व हो जाने पर नथुनों को अंगुलियों से दबाये बिना भी रेचक, पूरक, कुम्भक किया जा सकता है। यदि कुम्भक में जालन्धर बन्ध लगाया हो तो अंगुलियों द्वारा नथुनों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं होती।

आगे बतलाये जाने वाले रेचक, पूरक, कुम्भक में अंगुलियों द्वारा नासिकापुट का खोलना, बन्द करना पाठकगण स्वयं समझ लें, हमें अब उनके बतलाने की आवश्यकता नहीं रही।

३ प्राणायाम के आरम्भ में जिस नासिकापुट से पूरक करना हो उससे प्रथम पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिये।

सगर्भ (सबीज) सहित कुम्भकः—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः॥

अर्थ—सहित-कुम्भक सगर्भ और निर्गर्भ भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उसका आचरण करें। सगर्भ बीजमन्त्र के उच्चारण के साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीजमंत्र को छोड़कर किया जाता है।

सगर्भ अर्थात् सबीज प्राणायाम की विधि—पूरक का बीजमन्त्र "अं" है कुम्भक का 'उं' और रेचक का 'मं' है। इस प्रकार सहित-प्राणायाम को प्रणवात्मक समझकर उसमें 'प्रणव' की उपासना की भावना करते हुए पूरक में 'अं' का, कुम्भक में 'उं' का और रेचक में 'मं' का जाप करते हुए अथवा पूरक कुम्भक और रेचक तीनों को अलग अलग प्रणवात्मक जानकर उनमें 'प्रणव' की उपासना की भावना करते हुए तीनों में 'ओम्' की निश्चित मात्रा से जाप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राणायाम है।

१ साधारण सहित अथवा अनुलोम विलोम कुम्भक—बीजमन्त्र 'अं' अथवा ओ३म् का छः बार मानसिक जाप करते हुए बायें नासिकापुट से धीमे-धीमे बिना आवाज़ किये हुये वायु को मूलाधार तक पूरक करे। चौबीस बार बीजमन्त्र 'उं' अथवा ओ३म् का मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करे। बीजमन्त्र 'म' अथवा ओ३म् का-बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना आवाज़ किये वायु को रेचक करे। थोड़ी देर (एक सेकिण्ड) वायु को बाहर रोककर पूर्ववत् बारह मात्रा में 'अं' अथवा ओ३म् का जाप करते हुए पूरक करे पूरक के पश्चात् पूर्ववत् कुम्भक तत्पश्चात् रेचक करे, ये दो प्राणायाम हुए, इस प्रकार दोनों नासिकापुटों से एक साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है। प्राणायाम की संख्या यही रहे मात्राएं पूरक, कुम्भक और रेचक १-४-२ के हिसाब से यथाशक्ति बढ़ाते रहें।

निम्नलिखित क्रमानुसार मात्राओं को शनैः-शनैः बढ़ाया जा सकता है:—

६ मात्रा से पूरक	६ मात्रा से कुम्भक	८ मात्रा से रेचक १५ दिन तक
६ ,, ,,	१२ ,, ,,	९ ,, ,, ,, ,,
६ ,, ,,	१८ ,, ,,	१० ,, ,, ,, ,,
६ ,, ,,	२४ ,, ,,	१२ ,, ,, ,, ,,
७ ,, ,,	२८ ,, ,,	१४ ,, ,, ,, ,,
८ ,, ,,	३२ ,, ,,	१६ ,, ,, ,, ,,
९ ,, ,,	३६ ,, ,,	१८ ,, ,, ,, ,,
१० ,, ,,	४० ,, ,,	२० ,, ,, ,, ,,
११ ,, ,,	४४ ,, ,,	२२ ,, ,, ,, ,,
१२ ,, ,,	४८ ,, ,,	२४ ,, ,, ,, ,,
१३ ,, ,,	५२ ,, ,,	२६ ,, ,, ,, ,,
१४ ,, ,,	५६ ,, ,,	२८ ,, ,, ,, ,,
१५ ,, ,,	६० ,, ,,	३० ,, ,, ,, ,,
१६ ,, ,,	६४ ,, ,,	३२ ,, ,, ,, ,,
१७ ,, ,,	६८ ,, ,,	३४ ,, ,, ,, ,,
१८ ,, ,,	७२ ,, ,,	३६ ,, ,, ,, ,,
१९ ,, ,,	७६ ,, ,,	३८ ,, ,, ,, ,,
२० ,, ,,	८० ,, ,,	४० ,, ,, ,, ,,

इसके पश्चात् यदि चाहें तो केवल कुम्भक कर सकते हैं। मात्राओं को बढ़ाने में शीघ्रता न करें, यथाशक्ति शनैः-शनैः बढ़ावें।

साधारण सहित-कुम्भक के अन्तर्गत कई अन्य उपयोगी प्राणायामः—

(क) तालयुक्त प्राणायाम : हाथ की कलाई पर अंगूठे की ओर नब्ज वाली नाड़ी पर अङ्गुलियों को रखकर उसकी धड़कन (गति) की चाल को अच्छी प्रकार पहचानने का अभ्यास करने के पश्चात् इस प्राणायाम को निम्न प्रकार करें:—

किसी सुखासन में विधि अनुसार बैठकर उस नाड़ी की धड़कन को १ से ६ तक गिनते हुए पूरक, १ से ३ तक गिनते हुए आभ्यन्तर कुम्भक १ से ६ तक गिनते हुए रेचक और १ से ३ तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करें। यह १ प्राणायाम हुआ, इस प्रकार सात प्राणायाम करे। मात्रायें इसी क्रम-अनुसार यथाशक्ति बढ़ाते जावें। इसी प्रकार अनुलोम-विलोम रीति से यह प्राणायाम किया जा सकता है।

फल : मन की एकाग्रता तथा बिना तार के तार वाले यन्त्र (Wireless Telegram) अथवा रेडियो (Radio) के सदृश दूर-दूर स्थानों में बैठे हुए दो मनुष्य एक निश्चित समय पर इस प्राणायाम द्वारा तालयुक्त होकर अपने विचार की तरंगें (धारें) एक-दूसरे तक पहुँचा सकते हैं (सूत्र ३२ वि० व० सम्मोहन शक्ति)।

दूसरी विधि—उपर्युक्त विधि के परिपक्व होने पर सातों चक्रों पर क्रमानुसार ध्यान करते हुए इस प्राणायाम को करें:—

मूलाधार चक्र—पूरक में ऐसी भावना करे कि श्वास उस स्थान में अन्दर आ रहा है। आभ्यन्तर कुम्भक के पश्चात् रेचक में ऐसी भावना करे कि श्वास वहाँ से बाहर निकल रहा है। फिर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार सात प्राणायाम करे। इसी प्रकार क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र, तथा ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए प्राणायाम करे।

फल : चक्रभेदन में सहायता, शरीर के किसी विशेष अंग के विकारी होने पर उस स्थान पर इस प्राणायाम द्वारा प्राण को भरकर विकार का हटाना।

२ सूर्यभेदी कुम्भक—बलपूर्वक सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिने नासिकापुट से धीरे-धीरे आवाज़ के साथ पूरक करें (प्राणवायु को पूर्णतया पेट में भरकर नख से शिखा-पर्यन्त फैलाकर) बलपूर्वक जबतक वायु को रोक सके कुंभक करें। इसके पश्चात् चन्द्र-नाड़ी अर्थात् वाम नासिकापुट से धैर्य के साथ आवाज़ करते हुए वेग-पूर्वक रेचक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। आरम्भ में इस प्रकार पांच प्राणायाम करें, शनैः-शनैः शक्ति अनुसार संख्या बढ़ाते जावें। इस प्राणायाम में पुनः-पुनः केवल सूर्यनाड़ी से ही पूरक और वाम नाड़ी में ही रेचक किया जावे।

सूर्यभेदी प्राणायाम से शरीर में उष्णता तथा पित्त की वृद्धि होती है। वात और कफ से उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्त-दोष, त्वचा-दोष, उदर-कृमि आदि नष्ट होते हैं। जठराग्नि बढ़ती है; और कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण करने में सहायता मिलती है। इस प्राणायाम का अभ्यास गर्मी के दिनों में तथा पित्त-प्रधान प्रकृति वाले पुरुषों के लिये हितकर नहीं है।

चन्द्रभेदी प्राणायाम सूर्यभेदी प्राणायाम से बिल्कुल उल्टा अर्थात् चन्द्रस्वर (बायें नासिकापुट) से पूरक और सूर्यस्वर (दाहिने नासिकापुट) से रेचक करने से चन्द्रभेदी प्राणायाम होता है। इससे थकावट और शरीर की उष्णता दूर होती है।

३ उज्जाई कुम्भक—मुख को किसी-क़दर झुकाकर कण्ठ से हृदय-पर्यन्त शब्द करते हुए दोनों नासिकापुट से (अथवा दाहिने नासिकापुट से) शनैः-शनैः पूरक करें। कुछ देर तक कुम्भक करने के पश्चात् बायें नासिकापुट से इसी प्रकार रेचक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्राणायाम में कुम्भक, पूरक, रेचक स्वल्प परिमाण में किये जाते हैं। कुम्भक में वायु हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिये। रेचक में जितना हो सके शनैः-शनैः वायु को विरेचन करना चाहिये। इसमें पूरक में नासिका-छिद्र द्वारा वायु को बाहर से खींचकर मुख में, मुख से कण्ठ में और कण्ठ से ले जाकर हृदय में धारण किया जाता है। फिर यथाक्रम रेचक में हृदय से कण्ठ में, कण्ठ से मुख में और मुख से वायु को बाहर निकाला जाता है। पाँच से आरम्भ करके शनैः-शनैः यथाशक्ति संख्या बढ़ाते जावें।

फल : कफ-प्रकोप, उदर-रोग, आमवात, मन्दाग्नि, प्लीहा आदि का दूर होना, अग्नि का प्रदीप्त होना एवं कण्ठ, मुख और फेफड़ों की स्वच्छता।

दीर्घसूक्ष्मी उज्जाई—इसमें कण्ठ की सहायता से लम्बी, दीर्घ और हल्की आवाज उत्पन्न करते हुए मन की एकाग्रता के लिये केवल पूरक रेचक किया जाता है।

४ शीतली कुम्भक—काक के चोंच की आकृति में जिह्वा को ओष्ठ से बाहर निकालकर वायु को शनैः शनैः पूरक करे। धीरे-धीरे पेट को वायु से पूर्ण करके सूर्यभेदी प्राणायाम के सदृश कुछ देर कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिकापुट से रेचक करे। पुनः पुनः इसी प्रकार करे।

फल: अजीर्ण, पित्त से उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार, पित्तिश, अम्ल-पित्त, प्लीहा, तृषा आदि रोग इससे दूर होते हैं, बल और सौन्दर्य की वृद्धि होती है। कफ प्रकृति वाले मनुष्यों के लिये तथा शीतकाल में इस प्राणायाम का अभ्यास हितकर नहीं है।

निम्नलिखित प्राणायामों को शीतली के अन्तर्गत समझना चाहिये। इनकी विधि तथा फल भी लगभग उसी के समान हैं। शरीर में ठण्ड पहुँचाने तथा क्षयी (थाईसिस Phthisis) राजयक्ष्मा आदि रोगों के नाश करने में अति उपयोगी होते हैं।

(क) शीतकारी—जिह्वा को ओंठों से बाहर निकालकर और उसका बिलकुल अगला भाग दोनों दाँतों की पंक्ति एवं ओंठों से साधारण हल्का दबाकर छिद्रों से वायु को शीत्कार-पूर्वक अर्थात् शीत्कार की आवाज उत्पन्न करते हुए पूरक करें, अन्य सब विधि शीतली के समान।

(ख) काकी प्राणायाम—इसमें ओठों को सिकोड़कर काक की चोंच के समान बनाकर वायु को शनैः शनैः पूरक किया जाता है, अन्य सब विधि शीतली के समान।

(ग) कवि प्राणायाम—दोनों दाँतों की पंक्तियों को दबाकर उनके छिद्रों द्वारा वायु को शनैःशनैः पूरक करे, अन्य सब विधि पूर्ववत्। वाणी का मीठा और कण्ठ का सुरीला होना यह इसमें विशेषता है।

(घ) भुजङ्गी प्राणायाम—भुजङ्ग के सदृश मुख को खोलकर वायु को पूरक करें। अन्य सब विधि पूर्ववत्। इन प्राणायामों में कहीं-कहीं पाँच बार केवल पूरक रेचक करने के पश्चात् छठी बार कुम्भक करना बतलाया है।

५ भस्त्रिका कुम्भक—भस्त्रिका प्राणायाम कई प्रकार से किया जाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं:

मध्यम भस्त्रिका, वाम भस्त्रिका, दक्षिण भस्त्रिका और अनुलोम विलोम भस्त्रिका

(क) मध्यम भस्त्रिका—जैसे लुहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है इसी प्रकार दोनों नासिकापुट से वायु को आवाज के साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूला-धार तक पूरक करे। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनों नासिकापुट से रेचक करे इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भक के आठ बार पूरक रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करके दशवीं बार उसी प्रकार धीमे धीमे दोनों नासिका पुट से रेचक करे यह एक प्राणायाम हुआ इस प्रकार तीन प्राणायाम करे।

(ख) वाम भस्त्रिका—दक्षिण नासिका पुट को बन्द करके उपर्युक्त रीति से वाम नासिका पुट से मूला धार तक आठ बार पूरक रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि अनुसार दक्षिण नासिका पुट से धीमे-धीमे रेचक करदे। यह एक प्राणायाम हुआ।

(ग) दक्षिण भस्त्रिका—वाम नासिका पुट बन्द करके दक्षिण नासिका पुट से आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भक के उपर्युक्त विधि अनुसार पूरक रेचक करने के पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् वाम नासिका पुट से रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

वाम भस्त्रिका और दक्षिण भस्त्रिका को मिलाकर करने की विधि पहिले वाम भस्त्रिका का एक प्राणायाम करे फिर दक्षिण भस्त्रिका का एक प्राणायाम तत्पश्चात् वाम भस्त्रिका का एक प्राणायाम। इस प्रकार इन तीन प्राणायामों में दो बार वाम भस्त्रिका और एक बार दक्षिण भस्त्रिका होगा।

(घ) अनुलोम-विलोम भस्त्रिका—जैसे लोहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुट से वायु को आवाज के साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेग-पूर्वक मूलाधार तक पूरक करें। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिका-पुट से रेचक करें। बिना बाह्य कुम्भक के उसी नासिका-पुट से पूरक करके फिर बायें नासिका-पुट से विधि अनुसार रेचक करें। यह चार प्राणायाम हुए। इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक, रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुट से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् दसवीं बार दक्षिण नासिकापुट से रेचक करें। यह दस प्राणायाम का पहिला प्राणायाम हुआ। अब दक्षिण नासिकापुट से आरम्भ करके नवीं बार कुम्भक के पश्चात् दसवीं बार वाम नासिकापुट से रेचक करें। यह दूसरा प्राणायाम हुआ। अब पहिले प्राणायाम की भाँति तीसरा प्राणायाम करें।

इन विधियों में पूरक की समाप्ति पर मूलाधार चक्र पर एक सेकिण्ड (कुछ देर) ध्यान के पश्चात् रेचक करें। इसी प्रकार रेचक की समाप्ति पर नासिका के अग्रभाग पर कुछ देर (एक सेकिण्ड) ध्यान के पश्चात् पूरक करें। कुम्भक के समय नाभि-स्थान मणिपुर-चक्र पर ध्यान लगावें। यह प्राणायाम तीन बार ही करें। अर्थात् तीन से अधिक बार कुम्भक बढ़ाने का यत्न न करें। किन्तु तीनों प्राणायामों की संख्या दस से ऊपर शनैः-शनैः यथाशक्ति चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते हुए चले जायें। पूरक, रेचक और कुम्भक का समय भी यथाशक्ति बढ़ाते जावें।

इस प्राणायाम से त्रिधातु-विकृति से उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। गर्मी, सर्दी सब ऋतुओं में किया जा सकता है। कुम्भक बढ़ाने, मन के स्थिर करने और कुण्डलिनी जागृत करने में अति उपयोगी है। अभ्यासीगण ध्यान करने से पूर्व इसे अवश्य करें।

भस्त्रिका में रेचक, पूरक अधिक लाभदायक होते हैं, इसलिये इनकी संख्या अधिक और कुम्भक की कम बतलाई गई है।

(१) बलहीन अशक्त साधकों को साधारण वेगपूर्वक, (२) स्वस्थ, शक्तिशाली साधकों को लम्बा, दीर्घ वेगपूर्वक और (३) अभ्यस्त साधकों को अति वेगपूर्वक पूरक रेचक करना चाहिये।

रेचक में पूरक से अधिक समय देना चाहिये। इसलिये पूरक और कुम्भक में उतना ही समय देना चाहिये जिससे रेचक करने के लिये काफी दम बना रहे।

निम्नलिखित दो प्राणायामों को भस्त्रिका के अन्तर्गत समझना चाहिये:—

(क) अन्तर्गमन प्राणायाम—सिद्धासन से बैठकर वाम नासिकापुट से रेचक करते हुए पूरे उड्डीयान के साथ वाम घुटने पर सिर को टेक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना। इस प्रकार रेचक, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्धरबन्ध के साथ सिर को घुटने पर रखकर यथाशक्ति कुम्भक करना, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर सीधे हो जाना। फिर रेचक करके तीनों बन्धों के साथ सिर को घुटने पर रखकर यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करना। इसी प्रकार दक्षिण की ओर करे।

(ख) सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर वाम नासिकापुट से पूरक करें, फिर जालन्धर बन्ध लगाकर दोनों हाथों की अङ्गुलियों को आपस में गाँठकर उनको उल्टा करके सिर को दबाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें; और ऐसी भावना करें कि प्राण ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ रहा है। तत्पश्चात् दोनों हाथों को सिर पर से हटाकर और जालन्धर-बन्ध खोलकर दक्षिण नासिकापुट से रेचक करें। इसी प्रकार कई बार करें।

६ भ्रामरी कुम्भक—इस प्राणायाम में पूरक और रेचक की विशेषता है। पूरक वेग से और भौंरे के शब्द के सदृश शब्दयुक्त होता है; और रेचक भृङ्गी, भँवरी के सदृश मन्द-मन्द शब्द से युक्त होता है। रेचक का महत्त्व अधिक है, इसलिये इसका नाम भ्रामरी रखा गया है।

नेत्र बन्द करके भ्रूमध्य में ध्यान करते हुए दोनों नासिकापुट से भृंग अर्थात् भौंरे के सदृश ध्वनि करते हुए लम्बे स्वर में पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करके भृङ्गी अर्थात् भौंरी के मंद-मंद शब्द के सदृश ध्वनि करते हुए कण्ठ से रेचक करें। आवाज मीठी, सुरीली और एक तार की होनी चाहिये। इसके साथ-साथ मूल और उड्डीयान बन्ध लगाते जाना चाहिये। कहीं-कहीं साधारण रीति से वेगपूर्वक पूरक करके दृढ़तापूर्वक जालन्धर-बन्ध लगाकर कण्ठ से उपर्युक्त रीति से शब्द करते हुए रेचक करना बतलाया है।

घेरण्डसंहिता में दोनों कानों को अंगुलियों से बन्द करके शब्द सुनने का अभ्यास करना बतलाया गया है। इस प्रकार पहिले झींगुर, भौंरे और पक्षियों के चहचहाने-जैसे शब्द सुनाई देते हैं। फिर क्रमशः घुंघरू, शंख, घण्टा, ताल, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और नगाड़े के सदृश शब्द सुनाई देते हैं। इस प्रकार इन शब्दों को सुनते हुए 'ओ३म्' शब्द का श्रवण होने लगता है।

अनुलोम-विलोम भ्रामरी प्राणायाम—उपर्युक्त विधि-अनुसार वाम नासिकापुट से पूरक करके कुछ देर कुम्भक के पश्चात् दक्षिण नासिकापुट से उसी प्रकार रेचक, फिर दक्षिण नासिकापुट से पूरक, वाम से रेचक, वाम से पूरक, दक्षिण रेचक। यह एक प्राणायाम हुआ।

फल : इस प्राणायाम से वीर्य का शुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी होना, रक्त एवं मज्जातन्तुओं का शुद्ध होना और मन का एकाग्र होना है।

ध्वन्यात्मक प्राणायाम—इस प्राणायाम को भी भ्रामरी के अन्तर्गत समझना चाहिए। विधि यह है कि दोनों नासिकापुट से पूरक करके किञ्चित् मुंह को खोलकर जिह्वा और कण्ठ के सहारे 'ओम्' का मीठी, सुरीली लगातार एक ध्वनि के साथ उच्चारण करो। आवाज के साथ-साथ मूल और उड्डीयान बन्ध लगाते जाना चाहिये और रेचक करते जाना चाहिये। इसे प्रणवानुसंधान भी कहते हैं।

फल : भ्रामरी प्राणायाम के सदृश।

७ मूर्च्छा कुम्भक (षण्मुखी सर्वद्वार बन्द मुद्रा)—इस प्राणायाम में पूरक, रेचक भ्रामरी प्राणायाम के सदृश किया जाता है। उससे इसमें केवल इतनी विशेषता है कि यह दोनों कान, नेत्र, नासिका और मुँह पर क्रमशः दोनों हाथों के अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तथा कनिष्ठिका को रखकर किया जाता है। पूरक के समय नासिकापुट पर से मध्यमा को किञ्चित् ऊपर उठाकर पूरक किया जाता है। इसके पश्चात् नासिकापुट को मध्यमा से दबाकर कुम्भक किया जाता है। कुम्भक की समाप्ति पर फिर नासिकापुट से मध्यमा को शिथिल करके रेचक किया जाता है। यह प्राणायाम अनुलोम-विलोम रीति से भी उपर्युक्त विधि-अनुसार किया जा सकता है।

फल : इससे मन मूर्छित और शान्त होता है, अतः इसका नाम मूर्छा है।

८ प्लाविनी कुम्भक—यथाविधि आसन से बैठकर दोनों नासिकापुट से पूरक करे। नाभि पर मन को एकाग्र कर सब शरीर-मात्र की वायु को उदर में भरकर पेट को चारों ओर से मसक या रबड़ के गोले सदृश फुलाकर ऐसी भावना करे कि सारे शरीर का वायु पेट में एकत्र हो गया है; और शरीर के किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वायु नहीं रहा है। यथाशक्ति इस स्थिति में कुम्भक करके दोनों नासिका से शनैः-शनैः रेचक कर दें।

फल : प्राणवायु पर पूर्णतया अधिकार, पेट के सब प्रकार के रोग, कोष्ठबद्धता आदि का नाश, अपानवायु की शुद्धि, जठराग्नि की वृद्धि, वीर्य तथा रक्त की शुद्धि, जल में सुख-पूर्वक तैरना इत्यादि।

केवल कुम्भक—केवल कुम्भक बिना पूरक रेचक किये हुए एकदम श्वास-प्रश्वास की गति को जहाँ का तहाँ रोक देने से होता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥—गीता ४। २९

अर्थ—कोई अपानवायु में प्राण को हवन करते हैं (पूरक सहित अथवा आभ्यान्तर

कुम्भक करते हैं) कोई प्राण में अपानवायु को होमते हैं (रेचक सहित अथवा बाह्य कुम्भक करते हैं) कोई प्राण अपान (दोनों) की गति को रोककर (केवल कुम्भक) प्राणायाम करते हैं।

सहित-कुम्भक के निरन्तर अभ्यास से केवल कुम्भक होने लगता है।

केवल कुंभक की विधि हठयोग द्वारा— दोनों बन्धों के साथ प्राण को हृदय से नीचे ले आकर और अपान को मूलाधार से ऊपर उठाकर समान वायु के स्थान नाभि पर दोनों को टक्कर देकर मिलाने से हठयोग विधि से केवल कुम्भक किया जाता है। पर इसमें हानि पहुँचने की सम्भावना है और राजयोगियों के लिये अधिक हितकर नहीं है, उनके लिये सबसे उत्तम प्रकार निम्नलिखित है :—

साधारण स्वस्थ अवस्था में मनुष्य के श्वास की गति एक दिन रात में २१६०० बार बतलाई जाती है। इस स्वाभाविक श्वास की गति की संख्या गायन, भोजन करने, चलने, निद्रा, मैथुन, व्यायाम आदि में क्रमशः बढ़ जाती है। जिस प्रकार साधारण घटनाओं को छोड़कर एक घड़ी अथवा अन्य यन्त्रों की आयु उसके काम करने की शक्ति पर निश्चित की जाती है। इसी प्रकार मनुष्य की आयु उसके श्वास-प्रश्वास की गति पर निर्भर बतलाई जाती है। श्वास-प्रश्वास की गति की संख्या जिस परिमाण से बढ़ती जावेगी उसी परिमाण से आयु का क्षय; और जिस परिणाम से घटती जावेगी उसी परिमाण से आयु की वृद्धि होती जावेगी। केवल कुम्भक में श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध होता है। प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये प्राण के रुकने से मन का भी निरोध हो जाता है। जो योग का अन्तिम ध्येय है।

केवल कुम्भक की विधि राजयोग द्वारा:—श्वास-प्रश्वास की गति में प्रणव उपासना की भावना करे, अर्थात् हर समय यह भावना रहे कि श्वास में 'ओ' और प्रश्वास में 'अम्' रूप से प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में ओम् का जाप होरहा है, इस ओम् के अजपाजाप को केवल कुम्भक में परिणित करने की विधि यह है कि 'ओ' से श्वास लेकर जितनी देर तक शान्तिपूर्वक रोक सकें रोके, उसके पश्चात् 'अम्' से छोड़ दें। क्रमशः कुम्भक का अभ्यास बढ़ता रहे। इसका अभ्यास नासिका-अग्रभाग, भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों पर गुरु-आज्ञानुसार करना चाहिये। 'ओ' और 'अम्' के उच्चारण की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने नियत स्थान पर श्वास-प्रश्वास की गति पर इस भावना से ध्यान देना होता है। इसको ५१ वें सूत्र में बतलाये हुए चौथे प्राणायाम के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

विशेष सूचना—॥ सूत्र ५० ॥ प्राणायामों को किसी अनुभवी से सीखकर उनका अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि पहुँचने की संभावना है। नियमित आहार आदि (१।३४) तथा (२।३२) में बतलाये हुए नियमों का पालन करना भी अति आवश्यक है।

यद्यपि सभी प्राणायाम स्वास्थ्य नीरोगता, जठराग्नि, दीर्घआयु, नाड़ी तथा रक्तशोधन और मन को स्थिरता के लिये अति उपयोगी हैं, और सबकी जानकारी आवश्यक

है, पर सबके अभ्यास के लिये पर्याप्त समय मिलना कठिन है, इसलिये राजयोग के साधकों के लिये चतुर्थ प्राणायाम का अभ्यास ही अधिक हितकर हो सकता है। निम्न तीन प्राणायामों को चौथे प्राणायाम और ध्यान तथा अन्य सब प्रकार के प्राणायामों का पूर्व अङ्ग बनाने में शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है।

१ नाड़ीशोधन प्राणायाम—वाम नासिकापुट से कई बार एकदम बाहर श्वांस फैंके फिर उसी नासिकापुट से बाहर से वायुको खींचकर बिना रोके हुए एकदम दूसरे दाहिने नथुने से बाहर फैंक दे। पुनः दाहिने में वायु को खींचकर बायें से फैंकें। इस प्रकार कई बार करें। रेचक पूरक में नासिकापुट को बतलाये हुए नियमानुसार निश्चित अंगुलियों से खोलते और बन्द करते रहें।

२ कपालभाति—जिसकी विधि (२।३२) तथा (१।३४) के वि० व० में बतलाई है।

३ अनुलोम-विलोम भस्त्रिका प्राणायाम—इसकी विधि सहित-कुम्भक में पाँचवें प्राणायाम में बतलाई है।

संगति—चौथे प्राणायाम का लक्षण बताते हैं:—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—बाह्य-आभ्यन्तर-विषय-आक्षेपी = बाहर अन्दर के विषय को फेंकने वाला अर्थात् आलोचना करने वाला। चतुर्थः = चौथा प्राणायाम है।

अन्वयार्थ—बाहर अन्दर के विषय को फैंकने वाला अर्थात् आलोचना करने वाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—व्यासभाष्य:—

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ५१

अर्थ—देश काल और संख्या से परिदृष्ट जो बाह्य-विषय (नासा द्वादशान्तादि बाह्यप्रदेश) है उसके आक्षेपपूर्वक (आलोचनपूर्वक = ज्ञानपूर्वक = विषयपूर्वक = विचारपूर्वक), ऐसे ही देश काल और संख्या से परिदृष्ट जो आभ्यन्तर विषय (हृदय नाभि चक्रादि आभ्यन्तर प्रदेश) है उसके आक्षेपपूर्वक दीर्घ और सूक्ष्म दोनों प्रकार से उत्तरोत्तर क्रम से भूमियों के जय के पश्चात् जो श्वास और प्रश्वास इन दोनों की गति का अभाव है वह चौथा प्राणायाम है। तीसरा प्राणायाम तो (बाह्य और आभ्यन्तर) विषय के आलोचन बिना ही (श्वास प्रश्वास की) गति के अभाव से होता है। वह एकदम ही आरम्भ

होकर देश काल और संख्या से परिदृष्ट दीर्घ और सूक्ष्म होजाता है। चौथे प्राणायाम में यह विशेषता है कि यह श्वास प्रश्वास के (आभ्यन्तर और बाह्य) विषय को अवधारण करके इन दोनों (विषयों) के आक्षेप पूर्वक क्रमानुसार भूमियों के जय से (श्वास प्रश्वास की) गति के अभाव से होता है।

व्यास-भाष्य का भावार्थ—पिछले सूत्र में प्राणायाम के तीन भेद रेचक; पूरक और कुम्भक बतलाते हैं।

१ रेचक प्राणायाम से जब श्वास को बाहर निकाल कर उसकी गति का अभाव किया जावे अर्थात् उसको बाहर ही रोक दिया जावे तो वह रेचक सहित-कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहलाता है।

२ पूरक प्राणायाम से जब श्वास को अन्दर खींचकर उसकी गति का अभाव किया जावे अर्थात् उसको अन्दर ही रोक दिया जावे तो वह पूरक सहित-कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है।

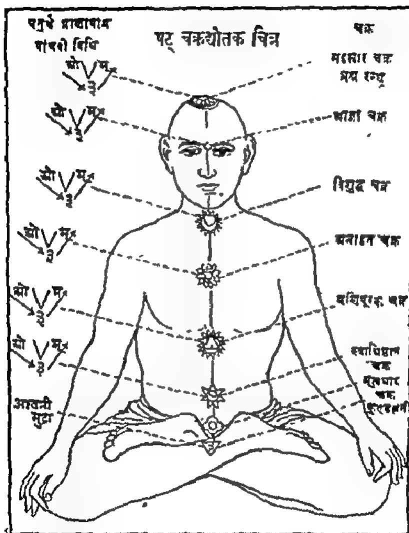
३ जब प्राणवायु को जहाँ का वहाँ एकदम बिना रेचक-पूरक के केवल विधारण प्रयत्न से रोककर श्वास-प्रश्वास की गति का अभाव किया जावे तो वह केवल कुम्भक कहलाता है।

४ चौथा प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर कुम्भक के बिना केवल रेचक, पूरक द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर विषय (प्रदेश) के केवल आलोचन-पूर्वक स्वयं ही श्वास-प्रश्वास की गति के निरोध से होता है। इसमें तीसरे प्राणायाम से यह विशेषता है कि जहाँ तीसरा प्राणायाम रेचक, पूरक के बिना एकदम दोनों श्वास-प्रश्वास की गति के विषय अभाव से होता है, वहाँ चौथा प्राणायाम रेचक, पूरक द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर (प्रदेश) के आलोचन-पूर्वक उत्तरोत्तर भूमियों के जय के क्रम से स्वयं ही श्वास-प्रश्वास की गति के अभाव से होता है। उदाहरणार्थ उसकी चार विधियें बतलाये देते हैं :—

पहली विधि—केवल रेचक द्वारा जहाँतक आ सके श्वास को बाहर ले जावें। बिना रोके हुए वहाँ से पूरक द्वारा जहाँतक जा सके अन्दर ले जावें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार ११, १५, २० इत्यादि की संख्या में बिना कुम्भक किये हुए केवल रेचक, पूरक देर-तक करते रहने से स्वयं दीर्घ और सूक्ष्म होकर दोनों श्वास-प्रश्वास की गतियों का स्वयं ही अभाव हो जाता है।

दूसरी विधि—ओ३म् के मानसिक जाप के साथ यह भावना करें कि 'ओ' से श्वास अन्दर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस क्रम से श्वास-प्रश्वास द्वारा ओम् का मानसिक जाप करते रहें अर्थात् बाह्यप्रदेश तथा आभ्यन्तरप्रदेश हृदय, नाभि आदि तक जहाँतक श्वास जावे वहाँतक उसकी गति को आलोचनपूर्वक दीर्घकाल तक ओम् का इस विधि से जाप करें तो स्वयं श्वास-प्रश्वास दीर्घ और सूक्ष्म होते-होते निरुद्ध हो जायेगा।

तीसरी विधि—नासिका-अग्रभाग, भृकुटी, ब्रह्मरन्ध्र अथवा अन्य किसी चक्र पर इस भावना से ओ३म् का मानसिक जाप करें कि 'ओ' से उसी प्रदेश में श्वास अन्दर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस प्रकार उस विशेष स्थान को श्वास-प्रश्वास का


षट् चक्रद्योतक चित्र
चक्र
सहस्रार चक्र
ब्रह्म रन्ध्र
आज्ञा चक्र
विशुद्ध चक्र
अनाहत चक्र
मणिपूरक चक्र
स्वाधिष्ठान चक्र
मूलाधार चक्र
कुण्डलनी
अश्विनी मुद्रा

केन्द्र बनाये हुए जाप के निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ और सूक्ष्म होते हुए स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

चौथी विधि—ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए श्वास-प्रश्वास की गति में ऐसी भावना करना कि 'ओ' से श्वास मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी में होता हुआ मूलाधार तक जा रहा है और 'अम्' के साथ वहाँ से ब्रह्मरन्ध्र तक लौट रहा है।

चक्रभेदन में इस प्राणायाम का अभ्यास:—इसी प्रकार निचले चक्रों : मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक इत्यादि में ध्यान करते हुए 'ओ' से श्वास और 'अम्' से प्रश्वास की गति की भावना करते हुए उसको ऊपर के चक्रों में आलोचन करने से किया जाता है।

विशेष वक्तव्य:—॥सूत्र ५१॥—इस सूत्र के अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किये हैं। 'आक्षेप' के अर्थ फेंकने के हैं। इससे किसीने उलाँघने = त्यागने = हटाने से अभिप्राय लिया है। और किसीने विषय करने = जानने = आलोचन से अभिप्राय लिया है। यहाँ सूत्र के दूसरे 'आलोचन' अर्थ किये गये हैं। सूत्र के आशय को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से मूल व्यासभाष्य, उसके शब्दार्थ, भावार्थ तथा चतुर्थ प्राणायाम के चार उदाहरण भी दे दिये हैं। चौथे प्राणायाम की विधियें राजयोग के उत्तम अधिकारी के लिये हैं तथा गोपनीय और गुरु-गम्य हैं।

आक्षेपी के अर्थ उलाँघने अर्थात् त्यागने करने से सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा:—

बाहर और अन्दर के विषय को अर्थात् रेचक और पूरक को त्यागने वाला चौथा प्राणायाम है। उसकी विधि निम्न प्रकार होगी :—

पाँचवीं विधि—मूलाधार, आज्ञा, ब्रह्मरन्ध्र आदि किसी चक्र अथवा नासिका-अग्रभाग आदि किसी स्थान को बिना रेचक पूरक के श्वास-प्रश्वास की गति बनाते हुए अर्थात् ऐसी भावना करते हुए कि 'ओ' से उसी विशेष स्थान पर श्वास आ रहा है और 'अम, से छूट रहा है, ओम् का मानसिक जाप करें। उसके निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध हो जाता है। इस विधि को सब से प्रथम स्थान देना चाहिए चक्रभेदन में इस विधि से शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है। (समाधिपाद वि० व० सूत्र ३४)।—

संगति—प्राणायाम का फल बताते हैं :—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२

शब्दार्थ—ततः = उस प्राणायाम के अभ्यास से। क्षीयते = नाश हो जाता है। प्रकाशावरणम् = प्रकाश का आवरण (विवेक-ज्ञान का पर्दा)।

अन्वयार्थ—उससे प्रकाश का आवरण (विवेक-ज्ञान का पर्दा) क्षीण हो जाता है।

व्याख्या—विवेक-ज्ञानरूपी प्रकाश, तम तथा रजोगुण के कारण अविद्यादि क्लेशों के मलों से ढका हुआ है। प्राणायाम के अभ्यास से जब यह आवरण क्षीण हो जाता है तब यह प्रकाश प्रकट होने लगता है। जैसे पञ्चशिखाचार्य ने कहा है :—

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ॥

अर्थ—प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।

इसी प्रकार मनु भगवान् का श्लोक है :—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

अर्थ—जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणायाम के करने से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं।

संगति—प्राणायाम का दूसरा फल :—

धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

शब्दार्थ—धारणासु = धारणाओं में। च = और। योग्यता-मनसः = मन की योग्यता होती है।

अन्वयार्थ—और धारणाओं में मन की योग्यता होती है।

व्याख्या—प्राणायाम से मन स्थिर होता है। जैसे कि 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' पाद १ सूत्र ३४ में बतलाया है। और इसमें धारणा की (जिसका वर्णन अगले पाद में किया जायगा) योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संगति—प्रत्याहार का लक्षण बताते हैं :—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ ५४॥

शब्दार्थ—स्व-विषय = अपने विषयों के साथ। असम्प्रयोगे = सम्बन्ध न होने पर। चित्तस्य-स्वरूप-अनुकारः, इव = चित्त के स्वरूप का अनुकरण अर्थात् नकल-जैसा करना। इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का। प्रत्याहारः = प्रत्याहार कहलाता है।

अन्वयार्थ—इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण (नकल) जैसा करना प्रत्याहार है।

व्याख्या—प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषय से पीछे हटकर अन्तर्मुख होती हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है। जिस प्रकार मधु बनाने वाली मक्खियाँ रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के आधीन होकर काम करती हैं। जब चित्त का बाहर के विषयों से उपराग होता है तब ही उनको ग्रहण करती हैं। यम, नियम, प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है तो इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है। इस

अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मतत्व के अभिमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य-विषयों से विमुख होती हैं। चित्त के सदृश आत्मतत्व के अभिमुख नहीं होतीं। इसलिए "अनुकार इव" अर्थात् नकल जैसा कहा गया है। इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों के जीतने के लिए अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ कठोपनिषद् (२।४।१)

अर्थ— स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) छेदों को बाहर की ओर छेदा है अर्थात् इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है, अपने अन्दर नहीं देखता। कोई विरला धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ आँखों अर्थात् इन्द्रियों को बन्द करके (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहार द्वारा) अन्तर आत्मा को देखता है।

संगति—प्रत्याहार का फल बतलाते हैं।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

शब्दार्थ—ततः = उससे (प्रत्याहार से)। परमा = सबसे उत्तम = उत्कृष्ट। वश्यता = वशीकरण होता है। इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का।

अन्वयार्थ—उस प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्कृष्ट वशीकार होता है।

व्याख्या—सूत्र में प्रत्याहार से इन्द्रियों की परमवश्यता बतलाई है यह परमवश्यता किस अपरमवश्यता की अपेक्षा से है, इसको व्यासभाष्य में इस प्रकार बतलाया है:—

१ कोई कहते हैं कि शब्द आदि विषयों में आसक्त न होना अर्थात् विषयों के आधीन न होकर उनको अपने आधीन रखना इन्द्रियवश्यता अर्थात् इन्द्रियजय है।

२ दूसरे कहते हैं कि वेद-शास्त्र से अविरुद्ध विषयों का सेवन और उनसे विरुद्ध विषयों का परित्याग इन्द्रियजय है।

३ तीसरे कहते हैं कि विषयों में न फँसकर अपनी इच्छा से विषयों के साथ इन्द्रियों का संप्रयोग होना इन्द्रिय जय है।

४ चौथे कहते हैं कि राग-द्वेष के अभावपूर्वक सुख-दुःख से शून्य शब्दादि विषय का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

इन सब उपर्युक्त इन्द्रियजय के लक्षणों में विषयों का सम्बन्ध बना ही रहता है। जिससे गिरने की आशङ्का दूर नहीं होसकती। इसलिये यह इन्द्रियों की परमवश्यता नहीं वरन् अपरमवश्यता है।

भगवान् जैगीषव्य का मत है कि चित्त के एकाग्रता के कारण इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्ति न होना इन्द्रिय जय है। उस एकाग्रता से चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रिय-जय के उपाय में प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यही इन्द्रियों की परमवश्यता है जो सूत्रकार को अभिमत है।

साधनपाद का उपसंहार

पूर्वोक्त प्रकार से पूर्व पाद में कहे हुए योग के अङ्गभूत, क्लेशों को सूक्ष्म बनाने वाले क्रियायोग को कहकर और क्लेशों के नाम, स्वरूप, कारण, फलों को कहकर कर्मों के भी भेद, कारण, स्वरूप और फल को कहकर विपाक के कारण और स्वरूप को कहा। फिर क्लेशों को त्याज्य होने से, क्लेशों को बिना जाने त्याग न कर सकने से, क्लेश-ज्ञान को शास्त्राधीन होने से, शास्त्र को हेय, हेयहेतु, हान, हान-उपाय के बोधन-द्वारा चतुर्व्यूह को अपने-अपने कारण सहित कहकर मुक्ति के साधन विवेकज्ञान के कारण जो अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भाव से स्थित यम-नियमादि हैं उनके फल-सहित स्वरूप को कहकर आसन से लेकर प्रत्याहार तक जो कि परस्पर उपकार्यो पकारक भाव से स्थित हैं, उनका नाम लेकर प्रत्येक का लक्षण और कारणपूर्वक फल कहा है।

इस उपसंहार में व्याख्याता के अपने विशेष-वक्तव्य, विशेष-विचार, टिप्पणी इत्यादि अर्थात् (प्रथम सूत्र में) तप का वास्तविक स्वरूप, युक्ताहार, युक्त-विहार, युक्त-स्वप्न, युक्त बोध, उपवास आदि के नियम, गायत्री मन्त्र की विशेष व्याख्या, (सूत्र ४ में) 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलयों' के सम्बन्ध में संकीर्ण और अयुक्त विचारों का युक्तियों, व्यास भाष्य और भोजवृत्ति द्वारा निराकरण, (सूत्र ५ में) अविद्या के उत्पत्तिस्थान का निर्देश सत्त्वचित्तों में लेशमात्रतम, (सूत्र १३ में) प्रधान कर्माशय, नियत विपाक, अनियत विपाक, अनियत विपाक की तीन गतियाँ, आवागमन के सम्बन्ध में विकासवादियों की शङ्काओं का समाधान, आवागमन द्वारा ईश्वर की दया तथा न्याय, सर्वशक्तिमत्ता, कल्याणकारिता तथा आवागमन का मनुष्य के विकास के लिये अनिवार्य होना (सूत्र २७ में) व्यासभाष्य का भावार्थ, (सूत्र २०, २१, २२ २३, २४, २५ में) व्यासभाष्य योगवार्त्तिक, तथा भोजवृत्ति का भावार्थ, (सूत्र० ३० में) यमों का योगियों के अभिमत स्वरूप, (सूत्र ३१ में) यमों का सार्वभौम स्वरूप तथा संसार में फैली हुई अशान्ति को मिटाने का एकमात्र उपाय, केवल उनका यथार्थ रूप से पालन, महाभारत कर्णपर्व अध्याय ६९ के श्लोक जिनमें श्रीकृष्ण जी महाराज ने राष्ट्र की सारी परिस्थितियों को दृष्टिगोचर रखते हुए सत्य का स्वरूप बताया है, (सूत्र ३२ में) नियमों का विस्तारपूर्वक वर्णन, हठयोग की छहों क्रियाओं द्वारा शरीर-शोधन, औषधियों, प्राकृतिक नियमों, सम्मोहन शक्ति, संकल्प-शक्ति द्वारा नीरोगता, पाश्चात्य देश की आधुनिक विद्यायें : हिपनोटिज्म मैस्मेरिज्म, क्लेयरवायन्स, टेलीपैथी, स्पीच्युलिज्म का विधिपूर्वक वर्णन, (सूत्र ४६ में) ध्यान पर बैठने के सब प्रकार के आसन, योगसाधन के नियम, सब प्रकार की मुख्य-मुख्य मुद्रायें, बन्ध और आसन उनके फलसहित; (सूत्र ५० में) आठ प्रकार के प्राणायाम उनके अवान्तर भेद सहित; (सूत्र ५१ में) चौथे प्राणायाम की पांच विधियाँ इत्यादि भी उपसंहृत कर लेना चाहिये। इस प्रकार यह योग यम-नियमों के बीज भाव को प्राप्त हुआ, आसन प्राणायाम आदिकों से अंकुरित हुआ और प्रत्याहार से पुष्पवाला होकर धारणा, ध्यान और समाधि से फलित होगा। इस प्रकार पातञ्जल योग प्रदीप में साधनपाद वाले दूसरे पाद की व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जल योग-प्रदीपे साधनपादो द्वितीयः।

पोस्त इन्द्रायन (तिंजल) पांच तोला, गाजीकोन पांच तोला, सकमोनिया विलायती पांच तोला, अफ़तीमून तीन तोला, गूगल शुद्ध तीन तोला अनीसून तीन तोला, तज तीन तोला, काली मिर्च तीन तोला, सोंठ तीन तोला, उस्तखद्दूस तीन तोला, गुलाब के फूल तीन तोला, बादरंज बोया तीन तोला पोदीना दो तोला इन सब के चूर्ण से दुगना शहद मिलाकर चालीस दिन के पश्चात् तीन माशे से एक तोले तक खुराक ।

(२) हर प्रकार के बिगड़े हुए जुकाम दिमागी खराबी व हाज़मे के लिये निहायत अनुभूत (मुजर्रब) नुसखा :—

लौंग एक तोला, पत्रज दो तोला, बड़ी इलायची का दाना तीन तोला अकरकरा चार तोला, दालचीनी पांच तोला, पीपलामूल छः तोला, पीपल छोटी सात तोला, काली मिर्च आठ तोला, सोंठ नौ तोला, लाल चन्दन का चूर्ण दस तोला, इस मात्रा में इनका चूर्ण होना चाहिए। इसलिये इन सबके चूर्ण का अलग-अलग नाप लें। सब को एक करके सुबह और शाम चार रत्ती से एक माशा तक शहद के साथ खावें।

(३) जुकाम का बन्द होना, सर का दर्द तथा खांसी व दमा में बहुत लाभ दायक (अनुभूत)

नौसादर उड़ाया हुआ अथवा शुद्ध किया हुआ दो रत्ती, भस्म फटकरी एक रत्ती, खील सुहागा एक रत्ती,

साधारण जुकाम के लिए :—

(४) गुलबनफ़शा छः माशे, तुख्म खतमी (खतमी के बीज) अथवा खतमी का गूदा चार माशे, उस्तखुद्दूस चार माशे, मुलहठी चार माशे, गाजुबाँ चार माशे, बड़ी हड़ छः माशे, उन्नाब विलायती सात दाने, लहसौढ़ा ग्यारह दाने, इनका जोशांदा मिश्री या चीनी डालकर सुबह व सोते समय पीवे। (अनुभूत)

भजन (प्राणायाम, ध्यानादि क्रिया) से उत्पन्न होनेवाली खुश्की के लिए :—

(१) मीठे बादाम की गिरी ग्यारह से पन्द्रह तक, काली मिर्च ग्यारह दाने, सौंफ चार माशे, गुलाब के फूल चार माशे, कासनी चार माशे, गुलबनफशा (फूल) चार माशे, बड़ी इलायची के दाने दो माशे, इन सबको पीस व छानकर मिश्री या बूरा एक छटांक डाल-कर पियें। सर्द मौसम में इनको घी में छौंककर पियें। (अनुभूत)

(२) इलायची के दाने, जीरा, बादाम की गिरी, मुनक्का, गुलबनफ़शा, मिश्री को आवश्यकतानुसार मात्रा में पीसकर चाटे। (अनुभूत)

(४) रूमी मस्तगी, इलायची के दाने, वंशलोचन सम मात्रा, इससे दुगुनी मिश्री, सबका चूर्ण एक माशे घी या मक्खन में खूब खरल करके सोते समय दूध या बिना दूध के खावें। (अनुभूत)

आँव का रोग मरोड़ व पेचिश केलिए :—

(१) सौंफ आधी भुनी हुई और कच्ची पीसकर उसमें मिश्री या चीनी मिला कर दिन में कई बार दो-तीन चुटकी लें। (अनुभुत)

(२) सौंफ, सोंठ, बड़ी हड़ के बक्कल, सब बराबर-बराबर लेकर सोंठ व हड़ को किसी कदर घी में भूनकर सब को कूटकर चीनी मिलाकर सोते समय चार माशे से छः माशे तक पानी या दूध के साथ खावें। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

(३) ईसबगोल का सत अर्थात् उसकी भूसी छः माशे से एक तोला तक दूध में घोलकर पीना। (अनुभूत)

(४) गर्मी से आंव पेचिश व दस्त के लिये : गोंद कतीरा एक तोला, बिलगिरी दो तोला, ईसब गोल चार माशे, बिहीदाना तीन माशे, अर्क बेद मुश्क छः छटांक में सब का चूर्ण मिलाकर खिलावें। (अनुभूत)

(५) बालंगू के बीज तीन माशे, गुलाब का अर्क एक पाव, रोग़न बादाम एक माशा, शर्बत शहतूत दो तोला सबको पकाकर रात को खिलावें और उस रात खाने को कुछ न दें। (अनुभूत)

साधारण ज्वर के पश्चात् निर्बलता दूर करने के लिए :—

दारचीनी तीन माशे, छोटी इलायची के दाने छः माशे, पीपल छोटी एक तोला, बंशलोचन दो तोला, गिलोय का सत दो तोला, मिश्री आठ तोला, इनका चूर्ण एक माशा कुछ घी में चिकना करके शहद मिलाकर खाना। (अनुभूत)

खाँसी खुश्क व तर :—

(१) गोंद बबूल छः माशे, कतीरा छः माशे, बहेड़ा छः माशे, मुलहठी एक तोला, काकरासिंगी तीन माशे, रुब्बुस्सूस (मुलहठी का सत) छः माशे, नमक काला एक तोला, भुने हुई लाल इलायची के दाने एक तोला, कूट-छानकर चने के बराबर गोलियां बनावें एक गोली मुंह में डालकर रस चूसें। (अनुभूत)

(२) रुब्बुस्सूस एक तोला, मुलहठी चार तोला, काकरासिंगी दो तोला, सोंठ एक तोला, काली मिर्च एक तोला, पीपल एक तोला, बिहीदाना एक तोला, मगज़ बादाम (बादाम की गिरी) एक तोला पीसकर शहद में चने के बराबर गोलियाँ बनावें, एक या दो गोली सोते समय मुंह में डाले रहें, खाँसी के वक्त भी मुंह में डाले रहें रस चूसते रहें। (अनुभूत)

(३) अनार का छिक्का जला हुआ चार रत्ती पान के साथ।

साँस, दमा, खाँसी आदि के लियेः—

पारा शुद्ध, गन्धक शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध, त्रिकुटा (सोंठ, पीपल, काली मिर्च), सुहागा की खील, काली मिर्च सम भाग लेकर सबका चूर्ण बनाकर अदरक के रस में खरल करें, एक रत्ती अदरक के रस के साथ लें। (अनुभूत)

दमा के अनुभूत नुसखे :—

(१) दमे की अनुभूत अति उत्तम एलोपेथिक औषधि श्वास उखड़ने की अवस्था में तुरन्त आराम करने वाली एक-एक मात्रा दिनमें दो तीन बार :—

Potsı Iodıde 5 gr . Syrup collana 30 drops, yıncture Labclıa Athcrata 10 drops (श्वास ठीक करने के लिये) Syrup Ferrı Iodıde 20 drops, Extract Gly cyrrhse 30 drops, Aqua (पानी) 1 oz एक सप्ताह के लिए सब औषधि मिलाकर रख लें। पीते समय एक औंस पानी मिला लें (अनुभूत) यदि कफ की अधिक वृद्धि हो तो Tıncture Belladrona 5 drops और मिला लें।

(२) उपर्युक्त औषधि के अभाव में तथा उसके साथ भी Ephedrıne Tablet ½ gr (इफेडरिन टैबलेट ½ ग्रेन) श्वास उखड़ने के समय तथा प्रातः व सायंकाल सेवन कर सकते हैं। श्वास के रोगी अभ्यासी गोली को खाकर दोनों समय अभ्यास पर बैठें। इस से मन के शान्त होने में भी सहायता मिलती है। (अनुभूत)

जिस बूटी से यह दवा बनाई जाती है उसका देशी नाम सोमरूप तथा सोमलता है जो बड़ी-बड़ी देशी फार्मेसी से मिल सकती है। इसका चूर्ण चार रत्ती पानी के साथ ले सकते हैं। इससे भी अधिक और शीघ्र प्रभाव करने वाली एक दूसरी पेटेंट दवा Arthmındon है जो Indo Pharma Bomnbay की बनाई हुई गोलियों के रूप में है।

(३) यदि श्वास उखड़ने की अवस्था में ये दोनों औषधियें नाकाम रहे तो फेल सोल (FELSOL) (एक एलोपैथिक पेटन्ट दवा) की एक पुड़िया पानी के साथ लेवे (अनुभूत)।

(४) भयंकर दौरे की अवस्था में यदि उपर्युक्त तीनों औषधियें नाकाम रहे तो Ephedrıne इफेड्रेन के इन्जेक्शन सामयिक कष्ट दूर करने के लिये।

(५) दमें में स्थायी रूप से ताकत के लिए श्वासकुठार, अभ्रक भस्म, लोह भस्म प्रातः व सायंकाल शहद के साथ लेवें (अनुभूत) किन्तु दौरे की अवस्था में इसको न लें। कफ के सूख जाने से हानि पहुँचने की सम्भावना हो सकती है)।

अन्य साधारण औषधियाँ:—

(६) नौसादर धतूरे के रस में उड़ाया हुआ दो रत्ती पानी या दूध के साथ लेवें। इस के अभाव में शुद्ध अथवा साधारण नौसादर भी लाभदायक है। (अनुभूत)

उड़ाये हुये नौसादर के साथ भस्म फटकरी व खील सुहागा मिलाना अधिक लाभदायक रहेगा।

(७) चने के छिलकों का पाताल यन्त्रसे निकाला हुआ तेल एक बून्द बताशे के साथ।

(८) पीली कौड़ी तीन दिन पानी में नमक मिलाकर रखें, फिर गरम पानी से धोकर एक उपले पर कौड़ियों को रखकर दस उपले ऊपर से रखकर जलावें, जब कौड़ियाँ जल जावें तो आक के दूध में खरल कर टिक्की बनाकर एक मिट्टी के बर्तन में रखकर

कपड़े से लपेटकर जलायें, उसको पीसकर आक के दूध में फिर पकावें, तीन बार ऐसा ही करें, फिर इसको पीसकर एक रत्ती शहद के साथ प्रातः सायं खावें, ऊपर से गाय का दूध पियें।

(९) लोहे की कढ़ाई में चार तोले क़लमी शोरा रखकर उसके ऊपर और चारों ओर एक छटाँक भलावा फैलाकर किसी वर्त्तन से ढक दें। एक अंगीठी में कोयले जलाकर इसको ऐसी जगह पर रख दें जहाँ किसी को धुआँ न लगे। जब जलकर जम जावे तो खुरचकर शीशी में रख लें। खुराक : दो रत्ती बताशे में। परहेज : खटाई, लाल मिर्च इत्यादि। (अनुभूत)

(१०) भांग के पत्ते डेढ़ तोला, धतूरे के पत्ते डेढ़ तोला, इनको कूटकर दो तोले क़लमी शोरा पानी में भिगोकर उसमें मिलाकर धूप में सुखा लो। एक मासा यूकेलिप्टस आइल (Eucalyptus Oil) मिलाकर रख छोड़ो। इसका सिगरेट बनाकर पिलावें, धुआँ कुछ देर रोककर छोड़दें, तुरन्त दमा का दौरा रुक जावेगा। (अनुभूत)

(११) क़लमी शोरा को पानी में डालकर आंच पर पकावें उसमें आज़िब (स्याही-चूस Blotting paper) को भिगो कर सुखालें। दौरे के समय उसका धुवां दें।

(१२) सं० ६ व ९ को बसूटी के खार के साथ दो से चार रत्ती तक गले में डालकर ऊपर से दूध या पानी पीले।

(१३) मदार, धतूरा, बसूटी का खार, उड़ाये हुये नौसादर के साथ अथवा अलग-अलग चार रत्ती तक उपर्युक्त विधि अनुसार।

(१४) कड़वे तमाकू के पत्ते एक पाव मिट्टी के वर्त्तन में डालकर मदार के दूध से खूब भिगो दें। सूख जाने पर वर्त्तन को सम्पुट करके उपलों में भस्म करलें। एक रत्ती भस्म प्रातः काल उबले हुये चनों के पानी के साथ। घी दूध का सेवन रहे। दवा की मात्रा धीमे-धीमे बढ़ाते जावें।

बदहज़मी, दस्त व क़ै के लिए:–

अमृतधारा की दो-चार बूंदें पानी या बताशे के साथ लें।

अमृतधारा का नुस्ख़ा:—पीपरमेंट एक तोला, काफूर एक तोला, अजवाइन का सत छः माशे, दारचीनी का सत एक तोला, लौंग का सत छः माशे, छोटी इलायची का सत छः माशे सबको मिलाकर एक शीशी में रख लें। दो बूंद पानी अथवा बताशे में लें। (अनुभूत)

(२) सञ्जीवनी वटी, जो वैद्यों के पास बनी हुई मिलती है, अदरक या सोंठ के रस के साथ लें। (अनुभूत)

सञ्जीवनी वटी का नुस्ख़ाः बायबिडङ्ग, सोंठ, पीपल, कालीमिर्च, बड़ी हड़, आँवला,

नोटः—दमे में निहार मुंह गुनगुना पानी नोंन मिश्रित पीकर उल्टी करे धोती नेती और न्योली अधिक लाभदायक हैं।

बहेड़ा, बच्छ, गिलोय, भलावा शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध, सब समभाग, इनका चूर्ण सात दिन तक गोमूत्र में खरल कर गोलियाँ बनावें।

भलावे की शोधन-विधि : बिना ब्याई गाय (बछेरी) के गोबर के साथ पकावें और कच्ची ईंट के चूर्ण में डालकर उसके नोंक काटें और गरम पानी में धोवें। इसके शोधन में सावधान रहें, धुएँ से बचें। मीठा तेलिया दूध में पकावें, जब सींक उसमें गड़ने लगे तब समझना चाहिये कि वह पक गया है। अजीर्ण रोग में अदरक के रस के साथ एक गोली, हैजे में दो, साँप के काटे में तीन, सन्निपात अर्थात् सरसाम में चार; और खाँसी में सोंठ के साथ लेना बतलाया गया है।

अजीर्ण (बदहज़मी) के लिए:—

(१) अष्टक गोली : सोंठ, काली मिर्च, पीपल जीरा काला व सफेद, अजमोद, प्रत्येक एक-एक तोला, हींग घी में भुनी हुई छः माशे, नमक काला डेढ़ तोला, गन्धक शुद्ध दो तोला, सबको पीसकर कागजी नीबू के रस में खरल करके चने के बराबर गोली बनावें, खाने के बाद एक या दो गोली लें। (अनुभूत)

(२) भुना हुआ सुहागा, पीपल बड़ी, हड़ का बकल, हिंगुल अर्थात् शिंगरफ शुद्ध, एक-एक तोला, सबको कागजी नीबू के रस में खरल करके मटर के बराबर गोली बनावें। (अनुभूत)

(३) हींग घी में भुनी हुई छः माशे, जीरा सफेद व काला, मिर्च सफेद (दक्खिणी) सैंधा नमक, पीपल, प्रत्येक ढाई तोला, नीबू का सत छः तोला, मिश्री छः तोला, सबका चूर्ण खुराक चार माशे।

(४) अजीर्ण, पेट का फूलना, वायुविकार, खाँसी, श्वासादि सब विकारों को हटाकर जठराग्नि बढ़ाने वाली अनुभूत दवा आनन्द भैरों रस—हिंगुल अर्थात् शिंगरफ शुद्ध *दो तोला, गन्धक आंवलेसार (शुद्ध) एक तोला*, मीठा तेलिया शुद्ध एक तोला, खील सुहागा एक तोला, सोंठ एक तोला, पीपल एक तोला, काली मिर्च एक तोला, धतूरे के बीज एक तोला अदरक के रस में खरल करके काली मिर्च के बराबर गोली बनावें। एक या दो गोली प्रातः व सायंकाल दूध या पानी के साथ (अनुभूत)।

संग्रहणी:—

(१) बड़ी हड़, मोचरस, पठानी लोद, धावे के फूल, बेलगिरी, इन्द्रजौ, अफीम, पारा शुद्ध, गन्धक आंवलेसार, सब सम भाग, गन्धक और पारे की कजली करके अन्य सब दवाओं का चूर्ण मिलाकर खरल करें। तीन रत्ती प्रातःकाल गौ के छाछ के साथ, तीन रत्ती *सायंकाल बकरी के दूध* अथवा खसखस के दूध के साथ। भोजन चावल मूँग की खिचड़ी दही के साथ।

(२) एक तोला शुद्ध गन्धक आंवलेसार को एक माशे त्रिकुटे के साथ खूब बारीक पीसकर तीन भाग बनावें। तीन मलमल के टुकड़ों पर एक-एक भाग रख कर तीन बत्तियाँ

बनावें। एक बत्ती को तिल के तेल में भिगो कर जलावे। तीन बूंद एक पान में टपका कर उसमें दो रत्ती शुद्ध पारा डाल कर खिलावें। तीन दिन तक ऐसा करें। खुराक-दूध चावल।

हैजाः—

मदार का गूदा तीन तोले बारीक पीस कर दो तोले अदरक के रस में खरल करके चने के बराबर गोली बनावे। गुलाब के अर्क या ताजा पानी के साथ एक गोली खिलावें।

अम्लपित्त से हाज़मा ठीक न रहना अविपत्तिकरचूर्णः—

सोंठ, काली मिर्च, पीपल, हड़, बहेड़ा, आँवला, वायविड्ङ्ग, नागरमोथा, पत्रज, छोटी इलायची के दाने, विड़ नमक, एक-एक तोला, लौंग ग्यारह तोला, निसोत चवालीस तोला, मिश्री छियासठ तोला, इन सबका कपड़छन चूर्ण घी में चिकनाकर शहद मिलाकर रखलें। तीन माशे से एक तोला तक रात को सोते समय दूध के साथ या दिन में खाने के बाद ताजे पानी के साथ लें। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

वात-विकार के लिए रेचकः—

(१) वातारि गूगल : गूगल शुद्ध, गन्धक शुद्ध, हड़, बहेड़ा, आँवला का चूर्ण सब बराबर वज़न में लेकर कैस्टर-आइल (अरण्डी का तेल) में एक-एक माशे की गोली बनावें, सोते समय एक गोली दूध के साथ लें। यह रेचक भी है। वायु का दर्द दूर करता है। (अनुभूत)

(२) वातव्याधि के लिये अरण्डी पाक—यह रेचक है, शीतकाल में अधिक लाभदायक है। त्रिकुटा डेढ़ तोला, लौंग तीन माशे, बड़ी इलायची के दाने छः माशे, दारचीनी छः माशे, पत्रज छः माशे, नागकेसर छः माशे, असगन्ध एक तोला, सौंफ एक तोला, सनाय एक तोला, पीपलामूल छः माशे, माले के बीज (निर्गुण्डी) छः माशे, सतावर छः माशे, बिसखपरा (पुनर्नवा सफेद) की जड़ का बक्कल छः माशे, खस छः माशे जायफल चार माशे, जावित्री चार माशे। इन सबका चूर्ण करें। छः तोले अरण्डी के बीज की गिरी बारीक पीसकर एक सेर गाय के दूध में मावा बनावें, उसको दो छटांक गाय के घी में भूनें। फिर दवाओं का चूर्ण और एक सेर बूरा मिलाकर छः-छः माशे के लड्डू बनावें। खुराक : एक लड्डू गाय के दूध के साथ अथवा बिना दूध के प्रातःकाल व सायङ्काल खावें। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

(३) गठिया और प्रत्येक वातविकार के लिये—एक छटाँक अरण्डी के बीज रेत में या भाड़ में भूनकर चबायें और उसके ऊपर आधसेर या जितना पिया जा सके गाय का दूध पिलावें, इससे दस्त आयेंगे। सात दिन तक ऐसा करें। खुराक : दाल मूंग और चांवल की पतली खिचड़ी। हवा से बचाये रखें।

(४) वात के रोग की अत्यन्त पीड़ा में चरस (सुलफा) आधी रत्ती खिलाकर ऊपर से गाय का दूध गाय के घी के साथ पिलावें।

परिशिष्ट

साधनपाद सूत्र ३२ के विशेषवक्तव्य में बतलाए हुए शरीरशोधन के चार साधनों में से चौथा साधन औषधि यहां परिशिष्ट रूप से दिया जाता है।

औषधि द्वारा शरीर शोधन (आरोग्यता)

शरीर का शोधन औषधि द्वारा भी होता है। आजकल लगभग निन्यानवे प्रतिशत मनुष्यों को कोष्ठबद्ध अर्थात् पूर्णतया मलत्याग न होने का विकार रहता है। जिससे भजन अर्थात् मन की एकाग्रता में नानाप्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं, उनके निवारणार्थ चिकित्सक के अभाव में कब्ज तथा अन्य साधारण रोगों के शान्त करने के लिये अभ्यासियों के उपयोगी कुछ अनुभूत तथा अनुभवी संन्यासियों, वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों से प्राप्त की हुई औषधियां लिखे देते हैं।

कोष्ठबद्ध दूर करने की कुछ रेचक औषधियां—

(१) त्रिफला (हड़, बहेड़ा, आँवला सम भाग) दो माशे से छः माशे तक अथवा केवल बड़ी हड़ का चूर्ण दो माशे से छः माशे तक अथवा इतरीफल जमानी दो माशे से छः माशे तक रात को सोते समय दूध अथवा पानी के साथ।

बड़ी हड़ का प्रयोग पूरे वर्ष के लिये :—

चैत और वैशाख	हड़ का चूर्ण तीन माशे	शहद एक तोला से दो तोला के साथ	
ज्येष्ठ और अषाढ़	,,	,,	गुड़ ,, ,,
श्रावण और भादों	,,	,,	सेंधा नमक एक माशे से तीन माशे के साथ
आश्विन और कार्त्तिक	,,	,,	मिश्री एक तोला से दो तोला के साथ
मार्गशीर्ष और पौष	,,	,,	पीपल एक माशे से तीन माशे के साथ
माघ और फाल्गुन	,,	,,	सोंठ ,, ,,

(२) गुलाब के फूल एक तोला, सेंधा नमक एक तोला, बड़ी हड़ का बक्कल एक तोला, सौंफ एक तोला सोंठ एक तोला, सनाय की पत्ती चार तोला, इनका चूर्ण दो माशे से छः माशे तक रात को सोते समय पानी के साथ अथवा दिन में आवश्यकतानुसार। (अनुभूत)

(३) सनाय की फली छः, चार घण्टे तक थोड़े से (आधी छटांक) पानी में भिगो कर फली निकाल कर पानी को पीना। (अनुभूत)

(४) रब्बूसूस एक तोला, बंसलोचन एक तोला, एलुआ दो तोला, रेवनचीनी दो तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सब का चूर्ण खरल करके थोड़ा-सा पानी डालकर चने के बराबर गोली बनावे, एक गोली सोते समय दूध या पानी के साथ लें। (अनुभूत)

(५) रूमी मस्तगी, असार रेवन्द, एलुवा, सुरञ्जान शीरीं बराबर-बराबर लेकर चूर्ण करके चने के बराबर गोलियाँ बनावे, एक गोली सोते समय पानी या दूध के साथ लें। (अनुभूत)

(६) फील सुहागा छः माशे, एलुआ छः माशे, रसौत तीन माशे, बड़ी हड़ का वक्कल दो तोला, सनाय की पत्ती दो तोला, सकमोनिया विलायती एक माशा, सबको घीकुमार के रस में खरल करके चने के बराबर गोलियाँ बनावें। सोते समय एक गोली दूध या पानी के साथ लें। (अनुभूत)

(७) सकमोनिया विलायती एक तोला, जुलाफा हड़ एक तोला एलुआ एक तोला, रेवन्द असार एक तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सोंठ छः माशे, मरमुकी छः माशे, सब को पानी में खरल करके चने के बराबर गोली बनावें, सोते समय एक गोली दूध के साथ। (अनुभूत)

वातविकार-नाशक तथा रेचकः—

(१) रेवन्दचीनी (रेवनचीनी), सोडा खाने का, सोंठ, बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर लें, सोते समय चार रत्ती से एक माशे तक दूध या पानी के साथ लें।

(२) त्रिकुटा अर्थात् पीपल, काली मिर्च, सोंठ बराबर-बराबर लेकर चूर्ण करलें, सोते समय तीन माशे से छः माशे तक दूध के साथ लें। कफ तथा वातनाशक।

(३) एलुआ, तिर्बी सफेद (निसोत), सुरञ्जान मीठा, सब सम भाग—इनके चूर्ण को घीकुमार के गूदे में खरल करके चने बराबर गोली बनावें, एक या दो गोली रात को सोते समय दूध या ताजे पानी के साथ। रेचक, पाचक, वातविकार (दर्द आदि) कब्ज और आम को दूर करता है। (अनुभूत)

कफ-नाशक, पाचक व रेचकः—

बड़ी हरड़ की बकुली तीन तोला, काली मिर्च चार तोला, पीपल छोटी दो तोला, चव्यह एक तोला, तालीसपत्र एक तोला, नागकेशर छः माशे, पीपलामूल दो तोला, पत्रज डेढ़ माशा, छोटी इलायची तीन माशे, दारचीनी तीन माशे, नीलोफर के फूल तीन माशे, इन सबका चूर्ण बनावें। इन सब की चारगुणी मिश्री की चासनी बनाकर उसमें उस चूर्ण को मिलावें, तीन माशे से एक तोला तक सोते समय दूध के साथ या दोपहर को खाने के बाद लें। (अनुभूत)

(१) बिगड़े हुए जुकाम, खाँसी, सिर का भारी रहना, सिर तथा आधे सिर का दर्द व हर प्रकार के मस्तिष्क तथा पेट के विकारों के लिये अत्युत्तम रेचक अनुभूत औषधिः—

अयारज फिकरा (यूनानी दवा, कई औषधियों का चूर्ण) एक माशे से तीन माशे तक इतरीफल कशनीजी एक तोले से दो तोले तक में मिलाकर प्रातः सायं दूध के साथ खा सकते हैं।

अयारज फिकरा का नुसखा—मालछड़, सलीका, दारचीनी, असारुन, जाफरान, ऊदबलसान, हुब-बलसान, रूमी मस्तगी एक-एक तोला; एलुवा एक पाव इन सब का चूर्ण।

अयारज फिकरा का दूसरा नुसखा—जो स्वयं बनवाना होगा अत्तारों के पास न मिल सकेगा—

आधे सिर का दर्द, नयनों का बन्द रहना, सिर का भारी रहना:—

(१) बनफशे के फूल, उस्तखुद्दूस, बर्ग सिम्बल, बराबर वजन में लेकर कपड़छन चूर्ण बनावें, अङ्गुली से नथनों के अन्दर लगावें। (अनुभूत)

(२) नौसादर एक तोला, काफूर तीन माशे, पीसकर माथे पर लेप करें और सुंघावें।

(३) जमालगोटा शुद्ध, यदि शुद्ध न मिल सके तो अशुद्ध पानी में पीस लिया जावे, एक सींक से भवों के ऊपर मस्तिष्क पर बिन्दी लगावें। फौरन दर्द दूर हो जावेगा। उसी वक्त कपड़े से पोंछकर घी या मक्खन लगावें।

(४) नारङ्गी के छिलके का रस दर्द से दूसरी ओर वाले नथने में डालना।

(५) रीठे का छिलका पानी में भिगोकर जिस कनपटी में दर्द हो उसके दूसरी ओर वाले नथुने में डालना। कपड़छन रीठे का चूर्ण भी नाक में लगाने से सिर का दर्द दूर होता है।

(६) नौसादर उड़ाया हुआ या शुद्ध किया हुआ, फिटकरी की भस्म गर्म दूध या पानी के साथ सेवन। ये सब औषधियें अनुभूत हैं।

प्रमेह, पेशाब में शक्कर आना, स्वप्नदोषादि वीर्य के हर प्रकार के विकार के लिये:—

(१) चन्द्रप्रभा। चन्द्रप्रभा का नुस्खा : बच, नागरमोथा, चिरायता, गिलोय, देवदारु, दारुहल्दी, अतीस, चव्य, गजपीपल, सोनामक्खी भस्म, सज्जीखार, काला नमक, कचूर दारुहल्दी, पीपलामूल, चीता की छाल, धनियाँ, हड़, बहेड़ा, आँवला, वायविडंग, त्रिकुटा, जवाखार, सेंधा नमक, बिड़ नमक, प्रत्येक चार-चार माशे, निसौत, तेजपात, छोटी इलायची के दाने, गोदन्ती, दारचीनी, वंशलोचन, प्रत्येक एक तोला-चार माशे, लोह भस्म दो तोला, आठ माशे, मिश्री पांच तोला चार माशे, शिलाजीत शुद्ध दस तोला आठ माशे, गूगल शुद्ध दस तोला आठ माशे, सबका चूर्ण कपड़छन करके चने के बराबर गोली बनावें। वैद्यों के पास बनी हुई मिलती हैं। सोते समय रात को अथवा प्रातःकाल दूध के साथ एक गोली।

(२) सूर्यप्रभावटी। सूर्यप्रभावटी का नुस्खा : चित्रक, हड़, बहेड़ा, आँवला, नीम के अन्दर की छाल, पटोलपत्र, मुलहठी, दालचीनी, नागकेशर, अजवायन, अमलबेत, चिरायता, दारुहल्दी, इलायची के दाने, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, नीला थोथा की भस्म, कुटकी, भारंगी, चव्य, पद्माक, खुरासानी अजवायन, पीपल, कालीमिर्च, निसोत, जमालगोटा शुद्ध, कचूर, सोंठ, पोकरमूल, जीरा सफेद, देवदार, तमालपत्र, कूड़ा की छाल, रासना, दुमासा, गिलोय, निसौत- तालीसपत्र, तीनों नमक (सेंधा, काला और कचिया), धनियां, अजमोद सौंफ, सुवर्णमाक्षिक (सोनामक्खी) भस्म, जायफल, वंशलोचन, असगन्ध, अनार की छाल, कनकोल, नेत्रबाला, दोनों क्षार यानी सज्जी और जवाखार, काली मिर्च, प्रत्येक चार-चार तोला, शुद्ध शिलाजीत बत्तीस तोला, गूगल शुद्ध बत्तीस तोला, लोहभस्म बत्तीस तोला, रूपामाक्षिक (चाँदी माखी) भस्म आठ तोला, सबका चूर्ण बनाकर मिश्री चौसठ तोला, गाय का घी सोलह तोला, शहद बत्तीस तोला, मिलाकर चीनी के बर्तन में रखें अथवा गोलियां बनावें। खुराक : एक माशा प्रातः अथवा सायं दूध के साथ। सूर्यप्रभावटी Diabetes पेशाब में शक्कर आना इस रोग के लिये अति लाभदायक सिद्ध हुई है (अनुभूत)

चन्द्रप्रभा और सूर्यप्रभा सब मौसम और सब अवस्था में सब प्रकार के रोगों में अनुभूत औषधि है। इनसे सब प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ, पेशाब में शक्कर आना इत्यादि, सब प्रकार की वातव्याधि, उदर-रोग, गोला, पाण्डु, संग्रहणी, हृदय-रोग, शूल, खाँसी, भगन्दर, पथरी, रक्तपित्त, विषम-ज्वर तथा वातजन्य, पित्तजन्य रोग दूर होकर शरीर स्वस्थ और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अभ्यासियों के लिये अनुकूल है।

(३) बंगभस्म चार रत्ती पान अथवा शहद के साथ प्रमेह के लिये। (अनुभूत)

(४) हरी गिलोय का रस चार तोला, शहद छः मारो के साथ सुबह को प्रमेह के लिए पियें। (अनुभूत)

(५) सत बड़ चार रत्ती गाय के दूध के साथ सिर्फ एक सप्ताह तक लें। (अनुभूत)

बड़ का सत बनाने की विधि—बड़ की कोपलें दस सेर बारीक काटकर, चालीस सेर पानी में पकावें। जब पत्ते गल जावें तो मल छानकर लोहे की कढ़ाई में पकाकर खोया बना लें। फिर दस तोला बहुफली का चूर्ण मिलाकर चार-चार रत्ती की गोली बनावें। एक गोली को पानी में घोलकर उस पानी को दूध में मिलाकर दूध को जोश दें। केवल सात दिन तक ईसबगोल की भूसी छः मारो और चीनी डालकर दूध को पीवें। बड़ सत तैयार न हो तो बड़ की कोपल दो तोला को एक पाव पानी में पकावें। जब पानी एक छटांक रह जावे तो उसको छानकर आधसेर गाय के दूध में मिलाकर पकावें। फिर ईसबगोल की भूसी और बूरा मिलाकर सिर्फ सात दिन तक पियें। बिना ईसबगोल की भूसी के भी ले सकते हैं। यह वीर्य को गाढ़ा करके स्वप्नदोष इत्यादि सब प्रकार के वीर्यपात को रोकता है। अनुभूत, साधुओं की गुप्त औषधि है। यह औषधि पौष्टिक है इसलिये कब्ज न होने दें।

(६) ब्राह्मी घृत : ब्राह्मी के पञ्चांग का रस दो सेर निकालें।

ब्राह्मी के पञ्चांग का रस निकालने की विधि :—

यदि ब्राह्मी हरी हो तो चौ सेर कूट कर निकालें, सूखी हो तो दो सेर को आठ सेर पानी में पकावें जब दो सेर रह जावे तो छान लें। आंवले का छिलका, हल्दी, कठमटी (कुश्त शीरीं) निसौत (त्रिवी), बड़ी हड़ का छिकलल, पीपल छोटी, मिश्री, प्रत्येक दो-दो तोला, बच, सेंधा नमक छः-छः मारो, सबको दो सेर पानी में पकावें, जब आधसेर रह जावे तो मल छानकर ब्राह्मी का रस मिलाकर लोहे की कढ़ाई या कलई के बर्तन में रखकर आग पर चढ़ावें और आधसेर शुद्ध गौ का घृत उसमें डालकर हल्की आंच से पकावें। जब घृत बाकी रह जावे तो उतार कर छान लें और साफ बर्तन में रख लें। खुराक : छः मारो से तीन तोले तक गौ के दूध में प्रातः व सोते समय।

लाभ : वीर्य के सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति, वीर्यशुद्धि, स्मृति व मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाने के लिये, बुद्धि को तीक्ष्ण करने, कण्ठ को साफ करने, बवासीर, प्रमेह, खांसी आदि रोगों के लिये अति लाभदायक है। वीर्यदोष से जिन पुरुषों अथवा स्त्रियों के सन्तान उत्पन्न न हो उन दोनों के लिये अति लाभदायक है।

ब्राह्मी घृत की दूसरी विधि—हरी ब्राह्मी हो तो पांच सेर, सूखी हो तो दो सेर, शंख पुष्पी एक पाव, आंवला एक पाव, त्रिफला एक पाव, घुड़बच एक छटांक, बायबिडङ्ग, पीपल, धनियां, निसौत की जड़, लौंग, छोटी इलायची, तज, सम्भालू के बीज और हल्दी एक-एक तोला, गिलोय दो तोला, सबको मोटा कूट कर दस सेर पानी में भिगो कर अग्नि में खूब पकावें। जब छः सेर रस के लायक पानी रह जावे तो मलकर छान लेवें। इस रस को लोहे की कढ़ाई या कलई के बर्त्तन में चढ़ाकर ढाई सेर शुद्ध गौ का घृत डालकर पकावें, अग्नि धीमी-धीमी आठ-दस घंटे तक देते रहें। जब पानी का भाग जल जावे और रस का सब भाग इकट्ठा हो जावे तब उतार कर कपड़े में छान लें, खुराक—डेढ़ तोले से ढाई तोले तक आवश्यकतानुसार गाय के दूध के साथ प्रातः सायंकाल।

सोते समय पेशाब निकल जाना :—

आँवले का गूदा, काला जीरा सम-भाग शहद मिलाकर।

पेशाब के साथ शक्कर आना :—

(१) गुड़मार दो तोले, जामुन की गुठली दो तोले, वंशलोचन छः माशे, इलायची छः माशे, गिलोय का सत एक तोला, पीपल की छाल तीन माशे, मण्डूर-भस्म एक माशा, चांदी-भस्म चार रत्ती, शिलाजीत शुद्ध तीन माशे सब का चूर्ण करके चार माशे प्रातः व सायंकाल गाय अथवा बकरी के दूध के साथ। (अनुभूत)

(२) गुड़मार, बबूल या गूलर की जड़ की अंतर छाल, जामुन की गुठली, सौंठ सम-भाग कूट छानकर छः माशे से नौ माशे तक गरम पानी के साथ।

(३) गिलोय सब्ज का रस निकालकर उसमें पाशानभेद और शहद मिलाकर पिलावें।

(४) सूर्यप्रभावटी इस रोग में आश्चर्यजनक लाभदायक सिद्ध हुई है (अनुभूत)

बहुमूत्र :—

(१) चत्रक की लकड़ी एक तोले कूटकर पावभर पानी में मिट्टी के बर्त्तन में रात को भिगोदें, सुबह को पकावें जब दो तोले रह जावे तो मल छानकर पीवें। पन्द्रह दिन तक पीना चाहिए।

(२) फरीद बूंटी साये में सुखाई हुई एक तोला, मूसली सफेद एक तोला घोटकर सात दिन तक पिलावें।

(३) अजवायन देशी छः माशे, नागर मोथा छः माशे, कुन्दर छः माशे, काले तिल एक तोला सब को बारीक पीसकर दो तोले गुड़ में मिलावें। खुराक छः माशे प्रातः वा सायंकाल।

(४) पीली हरड़ का छिलका और अनार का छिलका समभाग कूट छानकर चार माशे प्रातः व सायंकाल पानी के साथ।

(५) बढ़िया किस्म के बड़े अच्छे गूदेदार छुवारे दिन में खाने के पश्चात्, रात को दूध से पहिले। (अनुभूत)

हर प्रकार के बुखार के लिए:—

तुख्म कासिनी दो तोला, गुल नीलोफर छः माशे, वर्ग गावजुबां छः माशे, तुख्म खरबूजा छः माशे, तुख्म खीरा छः माशे, गुलबनफशा छः माशे, नागरमोथा छः माशे, सब्ज गिलोय छः माशे (सब्ज न मिल सके तो सूखा हुआ काम में लावें), छोटी इलायची छः अदद, मुनक्का पाँच अदद, गुलकन्द पाँच तोला सब दवाओं को एक सेर पानी में जोश दे फिर गुलकन्द मिलावें ठंडा होने पर कई बार पियें।

बलगमी बुखार के लिए:—

गुलबनफशा छः माशे, नीलोफर छः माशे, गाजुवाँ छः माशे, कासनी छः माशे, मुनक्का पाँच अदद, छोटी इलायची पाँच अदद, नागरमोथा छः माशे, अंजीर पाँच अदद, गिलोय एक तोला, इन सबको पानी में भिगोवें, सुबह को जोश देकर मिश्री के साथ मिलाकर रख लें, ठण्डा होने पर थोड़ा-थोड़ा पिलावें।

बुखार के लिए, हर प्रकार के अम्लपित्त, मुरदज आदि रोग में:—

गिलोय, धनियाँ, लाल चन्दन, पद्माक, नीम की छाल, इन सबको बराबर वजन में लेकर चूर्ण बनावें। शामको आधसेर पानी में ढाई तोला भिगो दें, सुबह को जोश दें, जब छटाँक-भर रह जावे तब पिलावें।

पित्तज्वर पर 'सफ़ाई' खून के लिये:—

मुनक्का, अमलतास, कुटकी, पित्तपापड़ा, बड़ी हरड़ का बक्कल, नागरमोथा, सब बराबर वजन में लेकर ऊपर वाले नुस्खे की तरह ढाई तोला लेकर तैयार करके पियें।

बुखार के लिये कुछ और अनुभूत नुस्खे:—

(१) मगज करंजवा (करंजुए की गिरी) दो तोला, सेंधा नमक दो तोला, इनका चूर्ण बनालें। चार रत्ती सुबह और शाम ताजे पानी के साथ। बड़े बुखार में भी दिया जा सकता है।

(२) करंजुए के पत्ते तवे पर किञ्चित् आँच देकर चूर्ण बनाया जावे। चार रत्ती दिन में तीन दफा ताजे पानी के साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) फिटकरी लाल एक पाव पीसकर आक के दूध में भिगोवें, जब आक का दूध सूख जावें तो मिट्टी के बर्तन में रखकर सम्पुट कर पाँच से दस उपलों की आँच में जलावें, ठण्डा हो जाने पर इस दवा को निकालकर पीसलें। खुराकः एक रत्ती गाय के दूध के साथ। खाँसी, दमा, बुखार, तपेदिक आदि के लिये लाभदायक है।

(४) गेरू दो तोला, फिटकरी भुनी हुई दो तोला, शक्कर सुर्ख पाँच तोला मिलाकर दिन में दो-तीन बार छः-छः माशे ताजे पानी के साथ।

(५) मृत्युंजय रस—शिंगरफ दो तोला, गन्धक आंवलेसार, मीठा तेलिया शुद्ध, खील सुहागा, सोंठ, पीपल, काली मिर्च एक-एक तोला, कागजी नीबू के रस में खरल करके कालीमिर्च के बराबर गोली बनावें। एक गोली ताजा पानी के साथ (अनुभूत)

(६) तीसरे दिन का बुखार—प्रातःकाल लाल फिटकरी की भस्म चार रत्ती से एक माशा तक अर्क गुलाब के साथ। (अनुभूत)

तपेदिक के लिये:—

(१) गिलोय का सत, वंशलोचन, छोटी इलायची के दाने, काली मिर्च, भलावा शुद्ध, समभाग पीसकर काली मिर्च के बराबर गोली बनावें। पहिले दिन एक गोली एक पाव गाय के दूध के साथ लें, प्रत्येक दिन दूध दो तोला बढ़ाते जावें, एक सेर तक। भलावे की शोधनविधि संजीवनी वटी के नुस्खे में देखें।

(२) एक पोई का लहसुन यदि न मिल सके तो साधारण लहसुन को ही कूटकर दुगुने पानी में उबालें, फिर मल छानकर उस पानी को पकावें, जब गाढ़ा हो जावे तो चने के बराबर गोली बनावें, प्रातः व सायंकाल एक या दो गोली ठण्डे पानी के साथ। (अनुभूत)

(३) पत्ते करेला (करेले के पत्ते) चार तोला, मुश्क काफूर एक तोला, इनको बारीक घोटकर एक माशे की गोली बनावें, बुखार आने के चार घण्टे पहिले पानी के साथ खिलावें। (अनुभूत)

पायोरिया के लिये दाँतों का मंजन:—

(१) लाहौरी नमक, तेजपत्र, फिटकरी भुनी हुई, तम्बाकू के पत्ते भुने हुए गेरू, काली मिर्च, सोंठ, सब एक-एक तोला लेकर चूर्ण बनावें, दाँतों में मलकर पानी निकलने दें। (अनुभूत)

(२) नमक व सरसों का तेल मिलाकर दाँतों पर मलें। दातौन से दाँत साफ करें। लाहौरी नमक और सरसों का तेल पकाकर रखलें, दाँतों पर लगा कर सोवें।

(३) मिट्टी के तेल के गरारे करने से भी पायोरिया दूर होता है।

दाढ़ का दर्द:—

(१) छः सात माशे कुचला दरदरा करके पानी में औटाकर गरारे करना।

(२) मदार (आक का पेड़) की लकड़ी जलाकर, दुखती दाढ़ से दबाकर राल निकालते रहना। (अनुभूत)

(३) पेट की सफाई तथा उपयुक्त किसी रेचक वातनाशक औषधि का सेवन लाभदायक है।

दाँतों के सब रोग-नाशक:—

कुचला एक तोला, देशी नीलाथोथा तीन तोला, इनको सम्पुट करके जलावें। जब राख हो जावे तो माजूफल का चूर्ण एक तोला, फिटकरी सफेद छः माशे, सबको बारीक पीसकर बड़ की डाढ़ी की दातौन से लगावें।

फल : मसूड़ों का साफ होना, दाँतों का जमना, पायोरिया तथा मुंह की बदबू का दूर होना (अनुभूत)

हर प्रकार के बुखार के लिए:—

तुख्म कासिनी दो तोला, गुल नीलोफर छः माशे, बर्ग गावज़ुबां छः माशे, तुख्म खरबूजा छः माशे, तुख्म खीरा छः माशे, गुलबनफ़शा छः माशे, नागरमोथा छः माशे, सब्ज़ गिलोय छः माशे (सब्ज़ न मिल सके तो सूखा हुआ काम में लावें), छोटी इलायची छः अदद, मुनक्का पाँच अदद, गुलकन्द पाँच तोला सब दवाओं को एक सेर पानी में जोश दें फिर गुलकन्द मिलावें ठंडा होने पर कई बार पियें।

बलग़मी बुखार के लिए :—

गुलबनफ़शा छः माशे, नीलोफ़र छः माशे, गाज़ुबाँ छः माशे, कासनी छः माशे, मुनक्का पाँच अदद, छोटी इलायची पाँच अदद, नागरमोथा छः माशे, अन्जीर पाँच अदद, गिलोय एक तोला, इन सबको पानी में भिगो दें, सुबह को जोश देकर मिश्री के साथ मिलाकर रख लें, ठण्डा होने पर थोड़ा-थोड़ा पिलावें।

बुखार के लिए, हर प्रकार के अम्लपित्त, यरक़ान आदि रोग में :—

गिलोय, धनियाँ, लाल चन्दन, पदाक, नीम की छाल, इन सबको बराबर वज़न में लेकर चूर्ण बनावें। शामको आधसेर पानी में ढाई तोला भिगो दें, सुबह को जोश दें, जब छटाँक-भर रह जावे तब पिलावें।

पित्तज्वर पर 'सफ़ाई' खून के लिये :—

मुनक्का, अमलतास, कुटकी, पित्तपापड़ा, बड़ी हरड़ का बक्कल, नागरमोथा, सब बराबर वज़न में लेकर ऊपर वाले नुस्खे की तरह ढाई तोला लेकर तैयार करके पियें।

बुखार के लिये कुछ और अनुभूत नुस्खे:—

(१) *मगज़ करन्जवा (करंजुए की गिरी)* दो तोला, सेंधा नमक दो तोला, इनका चूर्ण बनालें। चार रत्ती सुबह और शाम ताज़े पानी के साथ। चढ़े बुखार में भी दिया जा सकता है।

(२) करंजुए के पत्ते तवे पर किञ्चित् आँच देकर चूर्ण बनाया जावे। चार रत्ती दिन में तीन दफ़ा ताज़े पानी के साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) फिटकरी लाल एक पाव पीसकर आक के दूध में भिगोवें, जब आक का दूध सूख जावे तो मिट्टी के बर्तन में रखकर सम्पुट कर पाँच से दस उपलों की आँच में जलावें, ठण्डा हो जाने पर इस दवा को निकालकर पीसलें। खुराक: एक रत्ती गाय के दूध के साथ। खाँसी, दमा, बुखार, तपेदिक आदि के लिये लाभदायक है।

(४) गेरू दो तोला, फिटकरी भुनी हुई दो तोला, शक्कर सुर्ख़ पाँच तोला मिलाकर दिन में दो-तीन बार छः-छः माशे ताज़े पानी के साथ।

(५) मृत्युंजय रस—शिंगरफ़ दो तोला, गन्धक आंवलेसार, मीठा तेलिया शुद्ध, खील सुहागा, सोंठ, पीपल, काली मिर्च एक-एक तोला, कागज़ी नीबू के रस में खरल करके कालीमिर्च के बराबर गोली बनावें। एक गोली ताज़ा पानी के साथ (अनुभूत)

(६) तीसरे दिन का बुखार—प्रातःकाल लाल फिटकरी की भस्म चार रत्ती से एक माशा तक अर्क गुलाब के साथ। (अनुभूत)

सपेदिक के लिये:—

(१) गिलोय का सत, वंशलोचन, छोटी इलायची के दाने, काली मिर्च, भलावा शुद्ध, समभाग पीसकर काली मिर्च के बराबर गोली बनावें। पहिले दिन एक गोली एक पाव गाय के दूध के साथ लें, प्रत्येक दिन दूध दो तोला बढ़ाते जावें, एक सेर तक। भलावे की शोधनविधि संजीवनी वटी के नुस्खे में देखें।

(२) एक पोई का लहसुन यदि न मिल सके तो साधारण लहसुन को ही कूटकर दुगुने पानी में उबालें, फिर मल छानकर उस पानी को पकावें, जब गाढ़ा हो जावे तो चने के बराबर गोली बनावें, प्रातः व सायंकाल एक या दो गोली ठण्डे पानी के साथ। (अनुभूत)

(३) पर्ते करेला (करेले के पत्ते) चार तोला, मुश्क काफूर एक तोला, इनको बारीक घोटकर एक माशे की गोली बनावें, बुखार आने के चार घण्टे पहिले पानी के साथ खिलावें। (अनुभूत)

पायोरिया के लिये दाँतों का मंजन:—

(१) लाहौरी नमक, तेजपत्र, फिटकरी भुनी हुई, तम्बाकू के पत्ते भुने हुए, रेह, काली मिर्च, सोंठ, सब एक-एक तोला लेकर चूर्ण बनावें, दाँतों में मलकर पानी निकलने दें। (अनुभूत)

(२) नमक व सरसों का तेल मिलाकर दाँतों पर मलें। दातौन से दाँत साफ करें। लाहौरी नमक और सरसों का तेल पकाकर रख लें, दाँतों पर लगा कर सोवें।

(३) मिट्टी के तेल के गरारे करने से भी पायोरिया दूर होता है।

दाढ़ का दर्द:—

(१) छः सात माशे कुचला दरदरा करके पानी में औटाकर गरारे करना।

(२) मदार (आक का पेड़) की लकड़ी जलाकर, दुखती दाढ़ से दबाकर राल निकालते रहना। (अनुभूत)

(३) पेट की सफाई तथा उपयुक्त किसी रेचक वातनाशक औषधि का सेवन लाभदायक है।

दाँतों के सब रोग-नाशक:—

कुचला एक तोला, देशी नीलाथोथा तीन तोला, इनको सम्पुट करके जलावें। जब राख हो जावे तो माजूफल का चूर्ण एक तोला, फिटकरी सफेद छः माशे, सबको बारीक पीसकर बड़ की डाढ़ी की दातौन से लगावें।

फल : मसूड़ों का साफ होना, दाँतों का जमना, पायोरिया तथा मुँह की बदबू का दूर होना (अनुभूत)

दाँत अथवा दाढ़ के दर्द के लिये:—

तुख्म रवासन चार माशे, नरकचूर चार माशे, फिटकरी चार माशे, अफ़ीम चार रत्ती, इनकी दो पोटली बनाना, एक पोटली दुखते दांत अथवा दाढ़ में दबाए रखना, दो घण्टे में आराम हो जावेगा। (अनुभूत)

गोश्त खुरदा और पीब आने की दवा:—

मुश्क काफ़ूर तीन भाग, बोरिक-ऐसिड (Boric Acid) एक भाग मिलाकर शीशी में रखलें, रुई की फुरैरी से लगावें। (अनुभूत)

दाँतों को साफ़ और चमकीला बनाने के लिये:—

(१) समन्दरझाग एक तोला, फिटकरी भुनी हुई छः माशे, माजूफल छः माशे, चूना बुझा हुआ छः माशे, बारीक कपड़छन करके दांतों पर मलें।

(२) मौलसिरी की छाल का चूर्ण दांतों पर मलना और लकड़ी से दातौन करना अति लाभदायक है।

(३) दांतों व मसूढ़ों के सब प्रकार के रोग दूर करने के लिये अति उत्तम एलोपैथिक पैटेंट दवा Camphenal (U. S.) केमफीनल पांच बूँद गरम पानी में डालकर दिन में तीन-चार बार तथा खाना खाने के पश्चात् ग़रारे करें (अनुभूत) यदि यह न मिले तो सेंधे नमक को पानी में खूब औटा कर रखलें। उसके कई बार व सोते समय ग़रारे करें।

फोड़े-फुन्सी आदि रक्त की शुद्धि के लिये:—

(१) सलफ़र नं० ३० (होमोपैथिक दवा) खाने के लिये। (अनुभूत)

(२) सलफर बिटर्स (एक एलोपैथिक दवा) पीने के लिये। (अनुभूत)

(३) शुद्ध गन्धक त्रिफला के साथ।

(४) सफ़ेदा काशगरी छः माशे, मुर्दारसंग आधा माशा, सिन्दूर तीन रत्ती, हल्दी चार रत्ती, फिटकरी भुनी हुई एक माशा, तूतिया भुना हुआ तीन रत्ती, सरसों का तेल तीन माशे, मोम एक माशा मोम को तेल में पिघलाकर, सब दवाइयों को छानकर, मिलाकर मरहम तैयार करें। यह मरहम फोड़े-फुन्सी व घाव आदि के लिये अति लाभदायक है।

(५) खुजली के लिये हल्दी की लुगदी और आक के पत्तों का पानी सरसों के तेल में पकावें, जब लुग्दी रह जावे तो लगावें।

(६) फिटकरी दो मात्रा, बोरिक एसिड तीन मात्रा, गन्धक चार मात्रा। इनका चूर्ण सात माशे, आध छटाँक मक्खन मिलाकर खुजली तथा दाद वाले स्थान पर मलें।

सफ़ाई खून के लिये :—

(१) सत्यानाशी (कटैया की जड़ नौ माशे, काली मिर्च नौ दाने पीस-घोटकर पिलावें, खाने के लिये मूंग की दाल अथवा खिचड़ी दें, सब प्रकार के रक्तविकार, फोड़े, खुजली आदि के लिये सत्यानाशी का खिंचा हुआ अर्क पीना और इसके बीजों का तेल लगाना अति लाभदायक है। घृत अधिक खावें। (अनुभूत)

(२) चिरायता, गिलोय, पित्तपापड़ा, नीम के अन्दर की छाल, मण्डूरएडी, मुण्डी, इन्द्रायण की जड़ समभाग, इनका कपड़छन चूर्ण प्रातः व सायङ्काल पानी अथवा गौ के दूध के साथ आवश्यकतानुसार लें।

सफ़ेद कोढ़ की दवा :—

चीते की छाल दो भाग, सफेद घुंगची एक भाग, बावची तीन भाग, अञ्जीर जङ्गली एक भाग सब मिलाकर गोमूत्र में खरल करके कोढ़ पर लगावें, छाला फूटकर जब मवाद निकल जावे तो नीम के तेल का मरहम लगावें।

खाजन, लाहौरी फोड़े, बगदादी फोड़े तथा अन्य घाव वाले दादों के लिये अनुभूत औषधि:—

(१) थलो वैसलीन, ज़िंक आक्साइड को मिलाकर रखें। दाद अथवा ज़ख्म को नीम के पानी से धोकर मरहम का फोया लगाकर पट्टी बाँध दें। इससे ज़ख्म का मवाद निकलता रहेगा और ज़ख्म भरता रहेगा आंख तथा पलकों के ज़ख्मों के लिये भी प्रयोग करें। (अनुभूत)

सूखे दाद के लिये:—

(२) बादाम के छिलकों अथवा गेहूँ का तेल दाद पर लगावें। यह भी अति उत्तम अनुभूत औषधि है।

तेल निकालने की विधि:—एक मिट्टी की हाँडी में एक कटोरा रखें, उस हाँडी पर तली में सूराख की हुई एक दूसरी हाँडी रखें। सूराख में कुछ सींकें इस प्रकार रखें कि कटोरे में गिरे। उस हाँडी को मोटे गेहूँ से भरकर उस पर ढक्कन रखदें। कपड़े को चिकनी मिट्टी में सानकर दोनों हाँडियों पर लपेटदे। फिर एक गढ़ा खोदकर दोनों हाँडियों को इस प्रकार रखें कि नीचे वाली हाँडि मिट्टी में दबी रहे ऊपर वाली हाँडी के चारो तरफ अन्ने उपले रखकर आंच दें, इस तरह उसका तेल कटोरे में आवेगा। ठण्डा होने पर निकाल लें।

बादाम के छिलकों का तेल निकालने की सब से आसान तरकीब यह है कि एक चौड़े मुँह वाली हांडी में बादाम के छिलके भर कर उसमें एक कटोरा रख दें। हांडी के मुंह पर एक तसला रख कर आटे और मिट्टी से मुंह बन्द करके उसको चूल्हे पर रखदें। तसले में पानी भरदें। पानी बदलते रहें अधिक गर्म न होने पावे। कटोरे में टिंचर की शक्ल का पानी भर जावेगा। यह न केवल दाद व इग्ज़मा के लिये अकसीर है अपितु ज़हरीले जानवरों के काटे पर भी लाभदायक है। इसके अतिरिक्त सारी घावों में टिंक्चर का काम देता है। (अनुभूत)

(३) जङ्गली गोभी के पत्तों को सरसों के तेल में जलावें; और इसको पीसकर रखलें। दाद पर इसे लगावें। इस मरहम के अभाव में जङ्गली गोभी के पत्तों को दाद पर खुजलाने से भी बड़ा लाभ होता है।

(४) एसिटिक-एसिड (Ascetic Acid) और टैरिन-एसिड (Tarin Acid) को मिलाकर शीशी में रखलें। फुरैरी से लगावें, यदि पानी निकले तो उपर्युक्त मरहम नं० १ लगावें।

(५) कलमी शोरा एक भाग, नौसादर दो भाग, सुहागा चार भाग, सबको मिला कर खरल करके फुरैरी से लगावें।

भैंसिया दाद अर्थात् काले दाद के लिये :—

मूंग अथवा मूंग की दाल छिलके सहित बारीक पीसकर लगावें।

छाजन का नुस्खा :—

(१) सीसा एक छटाँक लोहे के चम्मच में पिघलाकर उसमें तीन तोला पारा डाल कर किसी बर्तन में डालदे, जब ठण्डा हो जावे तो एक छटाँक गन्धक के साथ बारीक पीस लें। इसके चूर्ण को सरसों के तेल में मिलाकर लगावें।

(२) जहरीला पानी देनेवाले छाजन आदि पर गूलर को दही के पानी में बारीक पीसकर उसका लेप करें, जब सूखकर छुट जावे तो फिर लेप करें, कष्ट को सहन करलें घबरायें नहीं।

चम्बल की दवा :

पुनर्नवा अर्थात् सांठे (Itsit) की जड़ आधपाव सरसों के तेल में मिलाकर पीसकर एक छटाँक सिन्दूर मिलाकर मरहम तैयार करें।

नासूर, भगन्दर आदि के लिये :—

(१) पारा और रसकपूर दोनों को खरल करें, फिर मुर्दासङ्ग, प्रवाल की जड़, सुपारी का फूल, कत्था, राल, सिन्दूर, सब एक-एक तोला, बंसलोचन, छोटी इलायची डेढ़ माशा खरल करे। फिर १०१ बार धुले हुए पन्द्रह तोला मक्खन में मिलावे। पतले कपड़े की बत्ती बनाकर मरहम में भिगोकर घाव में लगावें।

(२) नौजवान आदमी की खोपड़ी की भस्म नासूर और भगन्दर में लगावे।

कमर के अन्दर का फोड़ा :—

अरण्ड की गिरी को पीसकर मोटा प्लास्टर लगावें। कपड़े के किनारों को सेंजने के गोंद से बन्द कर दें जब यह पीव से भर जाय तो इसी तरह दूसरा प्लास्टर लगावें।

गांठवाले फोड़े की दवा :—

(१) नीम के पत्तों को इतना पीसा जावे कि लेस आजावे, फिर उसे किसी कपड़े में लपेटकर गारा या मिट्टी लपेटकर भूवल में पकावें, मिट्टी सूख जाने पर निकालें। लगभग एक अंगुल मोटी टिकिया बनाकर लगावें।

(२) ऐन्टीफ्लोजिस्टीन या ऐन्टीफ्लेमिन (अंग्रेजी दवा) भी लाभदायक है। (अनुभूत)।

भगन्दर तथा गुदा के सब प्रकार के रोगों के लिये अनुभूत औषधि :—

(१) बोरिक-ऐसिड एक ड्राम अथवा चार माशे, जिङ्क आक्साइड (सफेदा काशतकारी) दो माशे, आइडोफार्म पाँच रत्ती, ऐसिड कार्बोलिक एक माशा. या पन्द्रह बूंद, सरसों अथवा तिल का तेल ढाई तोले, वेसुला (पानी) ढाई तोले, इन सबको मिलाकर इसका रुई या कपड़े का फोया गुदा में लगाया जाय। (अनुभूत) ।

(२) एक सेर गाय के दूध में एक छटांक भङ्ग डालकर उसकी भाप गुदा में पहुँचाना, फिर ऊपर वाले मरहम की बत्ती गुदा में रखकर इस भङ्ग को गुदा में लंगोट- जैसे पट्टी से बांध देना अधिक लाभदायक होगा। (अनुभूत)

(३) भगन्दर, नासूर और पुराने फोड़े के लिये अनुभूत—फिटकरी पांच तोला, संग जराहत पांच तोला, सिंदूर एक तोला। पिसी हुई फिटकरी तवे पर जलावें। पिसा हुआ संगजराहत एक-एक चुटकी उस में डालते जावें और हिलाते जावें। फिर सिंदूर को तवे पर भस्म करके उसमें मिला दें। ठण्डे किये हुये गाय के दूध में थोड़ी-थोड़ी डालते जावें और पिलाते जावें। एक-एक दिन नाग़ा करते जावें। २१ दिन तक।

अर्श (बवासीर) :—

(१) एक तोला संखिया को दस रीठे के तीन पाव पानी में खरल करें, जब सब पानी उसी में खप जाय तो एक चावल इस संख्या को पानी में घोलकर मस्से में लगावें, सात-आठ दिन में मस्सा गिर जावेगा। फिर सफेदा काश्तकारी घिसकर लगावें। (एक अनुभवी संन्यासी से प्राप्त किया हुआ नुसखा, किन्तु अपना अनुभूत नहीं है) ।

(२) जङ्गली बेरी के दो तोले सूखे हुए पत्ते चिलम में रखकर उसमें आग रखकर पिये इसके पश्चात् दो छटाँक गाय का घी पियें। एक हफ्ते तक ऐसा करें, भूख लगने पर गेहूँ का दलिया या रोटी गाय के घी के साथ खावें। खूनी बवासीर के लिये अनुभूत औषधि है' (एक अनुभवी डाक्टर का अनुभूत किन्तु अपना अनुभूत नहीं)

बवासीर के मस्सों का जड़ से उखाड़ना:—

(३) इवेशा, सिन्दूर, नीलाथोथा, समभाग मिलाकर चूर्ण करें, मस्से को फिटकरी से खुजलाकर तुरन्त उस पर इस चूर्ण को पानी में घोलकर सींक से लेप करें, ऊपर से पके हुए चावल दही मिलाकर बाँध दें, मस्से जड़ से निकल जावेंगे। फिर राल का मरहम लगावें। यह औषधि एक अनुभवी फकीर से प्राप्त हुई है, परन्तु अपनी अनुभूत नहीं है।

(४) रीठे की गिरी निकाल कर उसके छिलके का चूर्ण आध पाव, रसौत एक छटांक के साथ खूब खरल करें। फिर दो छटांक पुराने से पुराना गुड़ उसमें डालकर खरल करें। मटर के बराबर गोली बनावें। प्रातः व सायंकाल एक-एक गोली दूध के साथ निगल लें। खटाई, लाल मिर्च, तेल और कब्ज करने वाली चीजों से परहेज।

(५) कुचला मिट्टी के तेल में घिसकर मस्सों पर लेप करें सोते समय। मस्से सूख जायेंगे।

(६) छः माशे बोतल पर लगाने का काग, दो तोले सरसों के तेल में जलावें फिर उसमें पीली भिड़ के छत्ते को मिलाकर खरल करें, मरहम को मस्से पर लगावें।

(७) सौंफ, किशमिश, भङ्ग, दक्षिणी मिर्च, इलायची सफेद सममाग, इन सबके बराबर मिश्री मिलाकर चार रत्ती से अपनी आवश्यकतानुसार सेवन करें।

(८) गेंदे के फूल दस तोला, नीम निबोली दस तोला, केले के दण्ड का रस दो तोला, अफीम तीन रत्ती; दो दो रत्ती की गोली बनाकर प्रातः सायङ्काल पानी के साथ खावें।

(९) जिङ्क आक्साइड और यलो वैसलीन का मरहम गुदा में लगावें।

(१०) रूमी मस्तगी एक तोला, सफेद इलायची के दाने छः माशे मिलाकर दही के साथ खाने से खूनी बवासीर बन्द होती है।

(११) झड़बेरी के पत्ते एक तोला, तीन काली मिर्च के साथ घोटकर पियें।

(१२) रीठे का छिलका आठ तोला, तूत अथवा अरण्ड के पत्ते एक तोला, दोनों को मिलाकर इतना कूटें कि मोम-जैसे हो जावें, यदि चिपटने लगें तो घी लगालें, आठ टिकियें बनालें। एक गढ़ा खोदकर उसमें कोयले जलाकर चिलम रख दें उसके सूराख द्वारा गुदा को धुआं दें। आठ दिन तक इसी प्रकार करें।

(१३) करेल अर्थात् करीर जो एक प्रसिद्ध झाड़दार वृक्ष है, उसकी ताजी जड़ का पातालयन्त्र से तेल निकालें, दिन में दो-तीन बार रुई की फुरैरी भिगोकर मस्सों पर लगावें, खूनी व बादी दोनों प्रकार की बवासीर बन्द हो जायेगी।

(१४) चिरचिटे की क्षार एक रत्ती लें, इसके ऊपर छः माशे चिरचिटे के बीज, ग्यारह काली मिर्च एक सप्ताह तक घोटकर पियें। गेहूँ की रोटी या दलिया घी के साथ खावें।

(१५) जङ्गली गोभी के तीन पत्ते और तीन काली मिर्च घोटकर पियें।

(१६) भङ्ग को पीसकर घी में पकाकर टिकी बांधें।

तिल्ली :—

(१) अजवाइन देशी को आक के दूध में भिगोकर छाया में सुखावें, फिर कागजी नीबू के रस में खरल करके आधी रत्ती की गोली बनावें, एक-एक गोली प्रातः सायंकाल बासी पानी के साथ खावें।

(२) नौसादर, क़लमी शोरा, सुहागा सफेद, लौंग, रेवन्द चीनी, सब एक-एक तोला, जवाखार, सज्जीखार, सूचल नमक, नौ-नौ माशा, घीग्वार के रस में खरल करके गोली बनावें, प्रातः-सायंकाल एक-एक गोली खावें, बादी व खट्टी चीजों से परहेज।

दर्द गुर्दा :—

(१) संगयहूद (पत्थर का बेर) को दूध में उबाल कर साफ कर कूटकर सात दिन मूली के रस में खरल कर टिकी बनाकर मिट्टी के बर्त्तन में रखकर उसको सम्पुट करके आग में रखकर भस्म बनावें। चार रत्ती शरबत नीलोफर के साथ खिलावें।

(२) सूखा पोदीना का चूर्ण, सूखे धतूरे के पत्तों का चूर्ण प्रत्येक दस-दस माशे, पीपल के पेड़ का दूध सोलह बूंद मिलाकर तम्बाकू के समान चिलम में रख कर पिलावें, तुरन्त आराम होगा।

(२) खरबूजे के बीज नौ माशे, हिजरुलयहूद (पत्थर का बेर) साढ़े तीन माशे, खार खुरक सात माशे, तुख्मो खयारैन नौ माशे, राई छः माशे, पानी में घोट छानकर पिलावें।

पथरी तोड़कर निकालने के लिए :—

(१) Athelian एथेलियन, Pepr̄azine पेपरेज़िन दोनों एलोपैथिक पेटेंट दवा (अनभूत)।

बन्द पेशाब का खोलना :—

(१) गोखुरू, इन्द्रजौ, सांभे के बीज, एक एक तोला पाषानभेद दो तोला सबको कूटकर एक सेर पानी में औटालो। दिन में दो-तीन बार दो रत्ती पत्थर बेर की भस्म दो रत्ती जवाखार के साथ पीवें (अनुभूत)

(२) कलमी शोरा एक तोला, तुख्म खियारैन चार माशे, छोटी इलायची के दाने दो माशे, दखिणी मिर्च दो माशे, सीतल चीनी चार माशे सबको पीसकर एक सेर पानी में छान कर दो छटांक सफेद खांड डालकर कई बार पिलावें, पेशाब जोर के साथ आवेगा।

टेसू के फूल उबालकर पेडू पर लेप करें।

(३) राई, कलमी शोरा, मिसरी, सम भाग पीसकर पानी के साथ दिन में दो बार दें। पेडू पर कलमी शोरे का लेप करें।

रुक-रुककर पेशाब आना :—

बड़ी हड़ का गूदा, गोखुरू, अमलतास का गूदा, पाषानभेद, दमांसा, धनियां। इनका काढ़ा पिलावें।

वायुगोला:—

एलुवा, खीलसुहागा, काली मिर्च, हींग, काला नमक, सबको घीगुवार के गूदे में खरल करके चना बराबर गोली बनावें। एक गोली पानी के साथ।

पेट के कीड़े :—

(१) अरड ककड़ी के बीज पाच या सात ताजा पानी के साथ खिलाने से सब कीड़े मर जाते हैं। पाँच दिन में आराम हो जाता है।

(२) आड़ू, अनार व नीम के पत्तों को पीसकर अथवा अकेले आड़ू के पत्तों को पीसकर खिलाने से पेट के कीड़े मर जाते हैं। (अनुभूत)

दिमाग़ के कीड़े :

इस रोग का कष्ट देखने वाले को भी असह्य हो जाता है। उसका एक अनुभूत नुस्खा—

खरगोश की मैंगनी को गुड़ में लपेट कर निगल जावे, ऊपर से चादर मुंह तक ओढ़कर

धूप में बैठावें। कीड़े स्वयं थोड़ी देर में निकलना आरम्भ हो जावेंगे, जब ये निकलना बन्द होजावें तो उठ जावें। एक दिन छोड़कर फिर तीसरे दिन इसी तरह खिलावें, जब कीड़े निकलना बन्द हो जावें तो इसे खिलाना बन्द कर दें।

गठिया का नुस्खा :

(१) सोंठ एक तोला, पीपल छोटी एक तोला, मदार के पेड़ का गूदा एक तोला, कुचला शुद्ध दो तोले इन सबको सेंजने के पत्तों के रस में खरल करके बराबर गोली बनावें प्रातः सायंकाल एक-एक गोली गौ के दूध के साथ खावें।

(२) धतूरे का फल तीन तोला, अजवायन, सोंठ, छोटी पीपल, कायफल, कड़वी तम्बाकू, बचनाक, अफीम, जायफल, सब एक-एक तोला, केशर खालिस छः माशे सब को कूटकर दो सेर पानी में पकावें। जब आध सेर रह जावे तो मल छानकर एक सेर सरसों के तेल में मिलाकर फिर पकावें, जब सिर्फ तेल रह जावे तो छान कर बोतल में रखकर एक तोला मुश्क काफूर मिलावें, दिन में दो बार मालिश करें।

(३) शिंगरफ रूमी एक तोला, भंग की लुब्धी में रखकर ऊपर से धागा बांधकर कढ़ाई में अलसी के तेल में पकावें। जब भंग जलकर राख हो जावे तब निकालकर भंग को पृथक् कर दें। इस प्रकार चालीस बार करें। फिर शिंगरफ की डली को पीस कर रखलें। आधी रत्ती मलाई के साथ खिलावें।

(४) Leucotropin "Silbe" intravenour inyection दस (अधिक दर्द की तकलीफ में)

(५) ईसबगोल एक तोला, खशखश के डोडे एक तोला दोनों को पीसकर एक तोला रोगनगुल खालिस और कुछ पानी डालकर पकावें। दर्द वाले स्थान पर बांध दें (अनुभूत)

आंख के रोग :

कलमी शोरा दो तोला, नमक शीशा दो तोले, पहिले शोरे को बारीक कर कटोरे में बिछावें। उसके ऊपर नमक शीशा बारीक किया हुआ बिछायें। हलकी आंच पर कटोरे को रख दें। जब नमक काला हो जावे तो उतार कर खरल करके शीशी में रख लें, सलाई से लगावें। आंख की धुन्ध, खुजली, रतौंध, पानी आना, सुर्खी दुखने आदि के लिये लाभदायक है।

(२) भलावा भुना हुआ दो तोले, फिटकरी भुनी हुई एक तोला, खरल करके रखलें। आंख के जाले व फूले के लिये लगावें।

(३) काले गधे की दाड़ गुलाब के अर्क में घिसकर फूले और जाले हटाने के लिए लगावें। (अनुभूत)

(४) आंख के फूले के लिये—आक के दूध के साथ जलाई हुई नीलेथोथे की भस्म शहद के साथ सलाई से लगावें।

(५) आंख की ज्योति बढ़ाने के लिये—सीसा, रांगा का बुरादा और पारा सम भाग एक खोखले बेल में बन्द करके खूब अच्छी प्रकार डाट लगाकर बन्द करदें, उसको खूब हिलाते रहें। चालीस दिन के पश्चात् इसको निकाल कर खूब खरल करके सोने या चांदी की सलाई से आंखों में लगावें।

(६) रतौंध—पीपल गोमूत्र में घिसकर आंखों में लगावें।

(७) मोतिया बिन्द—तम्बाकू और नील के बीज समभाग पीसकर लगावें।

(८) आंख के पलक के अन्दर का बाल—पुराना गुड़ और सिंदूर समभाग मिलावें। बाल उखाड़ कर तीन चार बार लगावें। (अनुभूत)

(९) नीम की कोंपल को गाय के घी में भूनकर मरहम बना कर लगावें।

(१०) आंख दुखने और लाली के लिये—अफीम, फिटकरी, रसौत और गोंद का पलास्टर दुखती आंख की कनपुटी पर लगावें। खट्टे अनार का रस एक तोला, मिश्री तीन माशे मिलाकर दो-दो बूंद दोनों समय आंख में डालें। सरस के बीज एक तोला, मिश्री एक तोला पीसकर तीन माशे शहद मिलाकर चाटें। रसौत और छोटी हड़ घिस कर लगावें।

(११) आंखों के रोहे—चाकसू को उबाल कर अन्दर का बीज निकाल कर बारीक पीसकर आंख में लगावें।

कान का दर्द :—

लहसन का रस ढाई तोले, अफीम दो रत्ती, दस तोले सरसों या तिल के तेल में पकाकर छानकर कान में डाले। गेंदे के फूल का रस कान में डाले अथवा गोमूत्र कान में डाले।

मुँह के छाले :—

खरबूजे के छिलके जलाकर लगावें।

दिल की धड़कन के लिए :—

(१) भस्म मूंगा सेवती के गुलकन्द या मुरब्बा सेब के साथ।

(२) Corvotone कोरवाटान (एलापथिक पेटेन्ट दवा) दिल की धड़कन के लिये १५ या २० बूंद नींद लाने के लिए Theominal थ्योमिनल (एलो पैथिक पेटेन्ट दवा) एक पिल (गोली) (अनुभूत)

पागलपन या उन्माद की अनुभूत दवा :—

धवल बरुआ जिसको श्वेत बरुआ तथा सर्पगन्धा भी कहते हैं, जो बड़ी वैदिक फार-मेसी से मिल सकता है उसका चूर्ण चार माशे, खालिस गुलाब के अर्क एक छटाक में १२ घण्टे भिगोकर सात काला मिर्च के साथ पीसकर प्रातः व सायंकाल दोनों समय बिना छाने पिलावें। खटाई लाल मिर्च, गुड़, तेल व गर्म खुश्क चीजों का सख्त परहेज। घी, दूध, मक्खन मलाई अधिक से अधिक मात्रा में। (अनुभूत)

नीन्द का न आना (१), धवल बरुआ एक माशे बादाम के शीरे या दूध के साथ सोते समय।

(२) Potassium Bromide (पोटाशियम ब्रोमाईड) gr. X to XX with water. पानी के साथ

(३) पीपलामूल एक माशा पुराना गुड़ एक माशे में मिला कर सोते समय दूध या शीरा बादाम के साथ।

बुद्धिवर्धक व उन्माद दूर करने के लिये—सरस्वती चूर्ण. बच, ब्राह्मी, गिलोय, सोंठ, सतावर, संखपुष्पी, बायविडंग, अपामार्ग की जड़ समभाग का कपड़छान किया हुआ चूर्ण दो तीन माशे शहद या घी के साथ।"

कायाकल्प तथा पारा आदि रसायन का यौगिक रूप से प्रयोग कराने वाले अनुभवी इस समय दुर्लभ हैं। इसलिये क्रियात्मिकरूप में अनुपयोगी और अनावश्यक समझ कर उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

यहां साधकों तथा पाठकों के हितार्थ केवल पारा बांधने की एक अनुभूत सरल और गोपनीय विधि लिखी जाती है।

पारा बांधना—पारा एक तोला. नीलाथोथा अर्थात् तूतिया एक तोला; नीला थोथा को पीस कर आधा कढ़ाई में रख दें उसके ऊपर पारा रख कर बाकी आधा तूतिया रख दें। दो छटांक पानी उसमें डाल कर कढ़ाई को तेज आंच पर रख दें नीम की लकड़ी से उस को इस प्रकार घोटें जिस प्रकार हलवा को कड़छी से घोटते हैं। पानी जल जाने पर कढ़ाई को तुरंत नीचे उतार लें और दूसरे शुद्ध पानी से धो डालें। तत्पश्चात् अंगुलियों से पारे को इकठा करके गोलियां बनालें। चार पांच घण्टे पश्चात् पारा धातु जैसा सख्त हो जावेगा। शीशे के गिलास और कटोरों के अन्दर इस मुलायम पारे को लपेटने से पारे के गिलास और कटोरे भी बन सकते हैं। जिन को दूध आदि पीने के कार्य में प्रयोग किया जा सकता है।

(यह प्रकरण हमने आवश्यकतानुसार काम निकालने और जानकारी के उद्देश्य से दिया है। साधकों की केवल औषधि आदि शारीरिक बातों में ही अधिक प्रवृत्ति न होनी चाहिये)

इति पातंजल-योग-प्रदीपे द्वितीयः साधनपादः समाप्तः

विभूतिपाद

पहले पाद में योग का स्वरूप उत्तमाधिकारी के लिये, दूसरे में उसके साधन मध्यमाधिकारी के लिये वर्णन करके अब तीसरे में उसका फल विभूतियाँ अश्रद्धालु को श्रद्धापूर्वक उसमें प्रवृत्त करने के लिये दिखाते हैं। साधनपाद में योग के पाँच बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बतलाये थे। इस पाद में उसके अन्तरङ्ग धारणा, ध्यान, समाधि का निरूपण करते हैं। इन तीनों को मिलाकर 'संयम' कहा जाता है। इनका विनियोग इस पाद में बताई हुई विभूतियों के साथ है, इसी कारण इसको इस पाद में वर्णन किया है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

शब्दार्थ—देश = देशविशेष में। बन्धः = बांधना। चित्तस्य = चित्त का (वृत्तिमात्र से) धारणा = धारणा कहलाता है।

अन्वयार्थ—चित्त का वृत्तिमात्र से किसी स्थानविशेष में बांधना 'धारणा' कहलाता है।

व्याख्या—चित्त बाहर के विषयों को इन्द्रियों द्वारा वृत्तिमात्र से ग्रहण करता है। ध्यानावस्था में जब प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होजाती हैं तब भी वह अपने ध्येय विषय को वृत्तिमात्र से ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय के सदाकार होकर स्थिर रूप से भासने लगती है। अर्थात् स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाश करने लगती है।

देश :—जिस स्थान पर वृत्ति को ठहराया जावे वह नाभि, हृदय कमल, नासिका अग्रभाग, भ्रुकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देश रूप विषय हो अथवा चन्द्र, ध्रुव आदि कोई बाह्य देश रूप विषय हो, इसी को ध्येय कहते हैं। अर्थात् जिसमें ध्यान लगाया जावे।

बन्ध :—अन्य विषयों से हटाकर चित्त को एक ही ध्येय विषय पर वृत्तिमात्र से ठहराना।

इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा जब चित्त स्थिर हो जावे तब उसको अन्य विषयों से हटाते हुए एक ध्येय विषय में वृत्तिमात्र से बांधना अर्थात् ठहराना धारणा कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

शब्दार्थ—तत्र = उसमें। प्रत्यय = वृत्ति का। एकतानता = एकसा बना रहना। ध्यानम् = ध्यान है।

अन्वयार्थ—उसमें वृत्ति का एकसा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

व्याख्या—तत्र = उस प्रदेश अर्थात् ध्येय विषय में जिसमें चित्त को वृत्तिमात्र से ठहराया है।

प्रत्यय = ध्येय की आलोचना करने वाली वृत्ति अर्थात् वह वृत्ति जो धारणा में ध्येय के तदाकार होकर उसके स्वरूप से भासती है।

एकतानता = एकसा बना रहना अर्थात् उस ध्येय आलम्बन वाली वृत्ति का समान प्रवाह से लगातार उदय होते रहना और किसी अन्य वृत्ति का बीच में न आना।

धारणा में चित्त जिस वृत्तिमात्र से ध्येय में लगता है जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आये तो उसको ध्यान कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तदेव = वही ध्यान। अर्थमात्र-निर्भासम् = अर्थमात्र से भासने वाला। स्वरूप-शून्यम्-इव = स्वरूप से शून्य-जैसा। समाधिः = समाधि कहलाता है।

अन्वयार्थ—वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्र से भासता है और उसका (ध्यान का) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त ध्येय विषयक ध्यान ही अभ्यास के बल से जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित-जैसा होकर केवल ध्येय स्वरूप-मात्र से अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। ध्यानावस्था में जो ध्येय आलम्बन वाली वृत्ति, समान प्रवाह से उदय होती रहती है, वह ध्यातृ, ध्यान और ध्येय तीनों से मिश्रित रहती है अर्थात् वह तीनों से तदाकार होती हुई ध्येय के स्वरूप से भासनेवाली होती है। इसी कारण उसमें ध्यातृ और ध्यान दोनों बने रहते हैं। इन दोनों के बने रहने से ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को सम्पूर्णता से नहीं प्रकाशित करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति में ध्येय स्वरूपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ तथा ध्यान उसके प्रकाशन करने में अपने स्वरूप से शून्य जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रबल हो जावे कि ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूप से सर्वथा शून्य जैसे होकर ध्येय स्वरूप-मात्र से भासने लगें और ध्येय का स्वरूप ध्यातृ और ध्यान से अभिन्न होकर ध्येयाकार वृत्ति में सम्पूर्णता से भासने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

'अर्थमात्र निर्भासं' में 'मात्र' पद से यह बात बतलाई है कि ध्यान में ध्येय का भान होता है, ध्येयमात्र का नहीं। किन्तु समाधि में ध्यान ध्येयमात्र से भासता है और इस शङ्का के मिटाने के लिये कि ध्यान के आधीन ही ध्येय का भान होता है, समाधि में यदि ध्यान स्वरूप से शून्य हो जाता है तो ध्येय का भान किस प्रकार हो सकता है, (स्वरूपशून्यम् इव) 'इव' पद दिया है अर्थात् समाधि की अवस्था में ध्यान का सर्वथा अभाव नहीं होता किन्तु ध्येय से अभिन्न रूप होकर भासने के कारण स्वरूप से शून्य-जैसा हो जाता है, न कि वास्तव में स्वरूपशून्य हो जाता है।

श्री० भोज महाराज समाधि का अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

"सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः"

अर्थः- "जिससे मन विक्षेपों को हटाकर यथार्थता से धारण किया जाता है अर्थात् एकाग्र किया जाता है वह समाधि है"।

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र ३॥ योग के अन्तिम तीन अंगों : धारणा, ध्यान और समाधि में समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं। जब किसी विषय में चित्त को ठहराया जाता है तब चित्त का वह विषयाकार वृत्ति त्रिपुटी सहित होती है। तीन आकारों के समाहार अर्थात् इकट्ठे होने का नाम त्रिपुटा है। वह त्रिपुटी ध्यातृ, ध्यान और ध्येयरूप है। ध्यातृ ध्यान करनेवाला चित्त है। चित्त की वह वृत्ति जिसके द्वारा विषय का ध्यान होता है, ध्यान है। और ध्यान का विषय ध्येय है। किसी विषय में चित्त को ठहराते समय उस विषयाकार वृत्ति में त्रिपुटी का इस प्रकार अलग-अलग भान होता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। यह ध्यान है, इस विषय का ध्यान हो रहा है।

धारणा : जबतक त्रिपुटी से भान होनेवाली इस विषयाकार वृत्ति का समान प्रवाह से बहना आरम्भ न हो किन्तु व्यवधान-सहित विच्छिन्न हो अर्थात् इस वृत्ति के बीच-बीच अन्य वृत्तियें भी आती रहें तबतक वह धारणा कहलावेगी।

ध्यान : जब यह त्रिपुटी से भान होनेवाली विषयाकार वृत्ति व्यवधान-रहित हो जावे अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियें बीच-बीच में न आवें, किन्तु सदृश वृत्तियों का प्रवाह बना रहे तब तक वह ध्यान कहलाता है।

समाधि : जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधान-रहित त्रिपुटी से भासने वाली विषयाकार वृत्ति में त्रिपुटी का भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूप से शून्य-जैसे भासने लगें अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यान की अवस्था है; किन्तु केवल ध्येय विषय के स्वरूप का ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

पहिले पाद में इसी त्रिपुटी को सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति में ध्येयविषयक शब्द, अर्थ और ज्ञान से बतलाया गया है।

शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। १।४२

अर्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त सवितर्क समापत्ति कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। १।४३

अर्थ—स्मृति के परिशुद्ध होने पर स्वरूप से शून्य-जैसे केवल अर्थमात्र (ध्येयमात्र) से भासनेवाली निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

इसलिये सवितर्क समापत्ति को ध्यान की ही एक अवस्था और निर्वितर्क समापत्ति को समाधि की अवस्था समझनी चाहिये।

यह सम्प्रज्ञात योग अथवा सबीज समाधि है, क्योंकि यद्यपि इसमें त्रिपुटी का

अभाव हो जाता है तथापि संसार का बीज विषय के ध्येयाकार वृत्ति रूप से विद्यमान रहता है। जब इस ध्येयाकार वृत्ति का भी अभाव हो जावे तब सब वृत्तियों के निरोध होजाने पर असम्प्रज्ञात योग अथवा निर्बीज समाधि होती है।

संगति—पूर्वोक्त धारणादि तीनों योगांगों का एक शब्द से व्यवहार करने के लिये अपने शास्त्र में पारिभाषिकी संज्ञा करने को यह सूत्र है:—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—त्रयम् = तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) का। एकत्र = एक विषय में होना। संयमः = संयम कहलाता है।

अन्वयार्थ—तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषय में होना संयम कहलाता है।

व्याख्या—समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग है। धारणा और ध्यान समाधि की ही प्रथम अवस्था है। विभूति आदि में इन तीनों की ही आवश्यकता होती है। इसीलिये योग-शास्त्र की परिभाषा में इन तीनों के समुदाय को संयम कहा जाता है। जब धारणा ध्यान व समाधि एक ही विषय में करनी हों तब उसकी संयम संज्ञा होती है। अर्थात् उसको संयम शब्द से कहते हैं।

संगति—संयम के अभ्यास का फल बतलाते हैं:—

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तज्जयात् = उस संयम के सिद्ध होने से। प्रज्ञा = समाधि प्रज्ञा का। आलोकः = प्रकाश होता है।

अन्वयार्थ—उस (संयम) के जय से समाधि प्रज्ञा का प्रकाश होता है।

व्याख्या—तज्जय = संयमजय = अभ्यास के बल से संयम का दृढ़ = परिपक्व हो जाना संयम-जय है।

प्रज्ञालोक = अन्य विजातीय प्रत्ययों के अभाव-पूर्वक केवल ध्येय-विषयक शुद्ध, सात्त्विक प्रवाह रूप से बुद्धि का स्थिर होना प्रज्ञालोक है।

जब संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि को एक विषय पर ऊपर बतलाये हुए प्रकार से लगाने का अभ्यास परिपक्व हो जावे तब समाधि-प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिससे ध्येय का ज्ञान यथार्थ रूप से होने लगता है और नाना प्रकार की विभूतियाँ सिद्ध होने लगती हैं। अन्त में विवेकख्याति का साक्षात् होने लगता है।

संगति—संयम का उपयोग:—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तस्य = उस संयम का। भूमिषु = भूमियों में। विनियोगः = विनियोग करना चाहिये।

अन्वयार्थ—उस संयम का भूमियों में विनियोग करना चाहिये।

व्याख्या—भूमि से अभिप्राय चित्तभूमि से है और विनियोग के अर्थ लगाने के हैं अर्थात् इस संयम का स्थूल-सूक्ष्म आलम्बन भेद से रहती हुई चित्त की वृत्तियों में विनियोग करना चाहिये। चित्त की स्थूल वृत्ति वाली भूमि जो नीची भूमि है प्रथम उसको विजय करना चाहिये, फिर उससे ऊँची सूक्ष्म वृत्ति वाली भूमि में संयम करना चाहिये। नीची भूमियों के जीते बिना ऊपर की भूमियों में संयम करनेवाला विवेक ज्ञान रूपी फल को नहीं प्राप्त होता। जैसे धनुर्धारी लोग पहिले स्थूल लक्ष्य का वेधन करके फिर सूक्ष्म का वेधन करते हैं, वैसे ही योगी को चाहिये कि क्रम से पहिले वितर्क अनुगत, विचार अनुगत, आनन्द अनुगत फिर अस्मिता अनुगत अथवा पहिले ग्राह्य फिर ग्रहण फिर ग्रहीतृ इत्यादि प्रकार से पहिली-पहिली भूमि को जीतकर ऊँची भूमियों में संयम करे, इस प्रकार विवेकज्ञान-रूपी फल प्राप्त होता है। यदि ईश्वर के अनुग्रह से योगी का चित्त पूर्व ही उत्तर भूमियों में लगने योग्य होगया हो तो पूर्व भूमियों में लगाने की आवश्यकता नहीं। 'चित्त किस योग्यता का है' इसका ज्ञान योगी को स्वयं योग-द्वारा हो जाता है। जैसा कि कहा है :—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥

अर्थ—पहिले-योग से उत्तर-योग जानने में आता है और पहिले-योग से उत्तरयोग प्रवृत्त होता है। इसलिये प्रमाद से रहित जो यत्नशील अभ्यासी है वह पहिले-योग से उत्तर-योग में चिर-पर्यन्त रमण करता है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ६ ॥ वास्तव में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक ही संयमरूप क्रिया के भाग हैं अर्थात् किसी विषय में चित्त का ठहराने का नाम 'धारणा' है। जब देर तक लगातार चित्त इसमें ठहरा रहे तब वही 'ध्यान' कहलावेगा। और जब वही ध्यान इतना सूक्ष्म और तल्लीनता के साथ हो जावे कि ध्यान करने वाले को ध्येय विषय के अतिरिक्त और कुछ भी सुधबुध न रहे तब वही ध्यान की अवस्था 'समाधि' कहलावेगी। यह संयम की क्रिया चित्त के वशीकरण और आत्म-उन्नति अर्थात् सारी आध्यात्मिक भूमियों के विजय पर्यन्त विवेकख्याति द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् स्वरूपावस्थिति के लाभार्थ है। किन्तु इसके दुरुपयोग द्वारा अधोगति तथा आत्म अवनति की सम्भावना भी हो सकती है क्योंकि सारी बातें प्रयोग पर ही निर्भर होती हैं। एक उत्तम से उत्तम वस्तु भी हानिकारक हो सकती है कि यदि उसका प्रयोग उचित रूप से न किया जावे। साधारण मनुष्यों द्वारा बहुत सी आश्चर्यजनक बातें जिनके समझने में बुद्धि चकरा जाती है इसी संयम की सहायता से की जाती हैं यद्यपि करने वाले और देखने वाले दोनों इस बात से अनभिज्ञ होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने सूक्ष्म रूप में अधिक शक्ति की उत्पादक होती है। जितनी सूक्ष्मता बढ़ती जाती है उतनी ही उसकी शक्ति में भी वृद्धि होती जाती है। उदाहरणार्थ औषधियों के स्थूल रूप की अपेक्षा उनके सत्त्व में कई गुना बल बढ़ जाता है। धातुएं अग्नि द्वारा भस्म होकर अपने सूक्ष्म परमाणु रूप में कितनी

प्रभावशाली बन जाती हैं। स्थूल भूतों के सूक्ष्म परमाणुओं में जिस अद्भुत शक्ति का प्राचीन भारतीय दर्शनकारों ने वर्णन किया है उसका ज्ञान अब पाश्चात्य देश वालों को भी होता जा रहा है। इनके सद् उपयोग से संसार की अधिक से अधिक उन्नति और प्राणीमात्र का कल्याण हो सकता है किन्तु इनके दुरुपयोग का रोमाँचक उदाहरण भी हमारे समक्ष है। केवल गंधक, पारा, फौलाद तथा रेडियम (Radium) आदि के सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुये परमाणुबम द्वारा सारे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को उल्लंघन करते हुये हीरोशिमा और नागासाकी नामक जापान के नगरों पर अमरीका ने जो उत्पात उत्पन्न किया है और युद्ध से सर्वथा असंबन्धित लाखों स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध निरपराधी नागरिकों तथा करोड़ों प्राणधारियों का जो प्राणहरण किया है और जो अकथनीय पीड़ा पहुँचाई है उसका उदाहरण सारे भूमण्डल के इतिहास में ढूंढे न मिल सकेगा। इन अमानुष राक्षसीय कार्यों द्वारा देशभक्त स्वतन्त्रताप्रेमी मृत्यु से सर्वथा निर्भय वीर जापानियों को अपनी अद्वितीय निर्भयता वीरता और युद्ध कला कौशल को दिखलाये बिना शस्त्र डाल देने पर विवश कर देने से अमरीका अपने को सफल और कृतकृत्य भले ही समझले किन्तु भविष्य में भूमण्डल के निष्पक्ष और तटस्थ इतिहासलेखकों के लिये यह चरित्र अमरीका के सम्बन्ध में एक लांछन का विषय बना रहेगा।

संयम को भी इसी प्रकार एक परमाणुबम समझ लेना चाहिये जिसमें सर्व प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ हैं। कई स्थानों में इस बात को बतला आये हैं कि स्थूल भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म भूत सूक्ष्मतर हैं। उनकी अपेक्षा तन्मात्रायें और इन्द्रियें हैं और उनकी अपेक्षा अहंकार सूक्ष्मतर है और अहंकार की अपेक्षा चित्त। चित्त—जो गुणों का प्रथम विषम परिणाम है, संसार के सारे पदार्थों की प्रकृति होने के कारण सब के तदाकार हो सकता है तथा सब से सूक्ष्म होने के कारण सब में प्रवेश होकर उनमें यथोचित्त परिणाम कर सकता है। संयम में चित्त का ही सारा खेल होता है। इस लिये विभूतिपाद में बतलाई हुई सारी सिद्धियाँ तथा अन्य सब प्रकार के अद्भुत चमत्कार संयम द्वारा किये जा सकते हैं। हिपनोटिज्म, मैसमरिज्म आदि में एक प्रकार से संयम ही का प्रयोग होता है। कई साधुओं के संबन्ध में कहा जाता है, कि वे बिना टिकट रेल में सफर करते हैं। मांगने पर बहुत से टिकट दिखा देते हैं और कोई कोई ट्रेन को भी रोक देता है तथा कई, अघोरी मनुष्यों का मांस खाते हुये दृष्टिगोचर होने पर मांस को कलाकन्द के रूप में दिखला देते हैं। इन में भी दृष्टिबन्ध (sightism) सम्बन्धी तथा इन्जिन की गति में एक प्रकार से संयम ही काम करता है यद्यपि वे इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। संयम में सब से पहिला और सब से कठिन काम धारणा है। साधारण परिमित-ज्ञान और अल्प-बुद्धि वाले मनुष्यों को बेसिर-पैर और बेतुके मन्त्रों-यथा " कांगरू देश कमक्षा देवी जहां बसे अजयपाल जोगी। अजयपाल जोगी ने कुत्ते पाले चार, हरा पीला, काला लाल। इन कुत्तों का डसा न मरे। जोगी अजयपाल की आन "। तथा अपरिचित भयानक शब्द यथा:— " ह्रीं, क्लीं ", इत्यादि अधिक प्रभावित कर देते हैं। इस अन्धविश्वास द्वारा वे उस

विशेष विषय संबन्धी धारणा में योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार असभ्य जंगली जातियों के कई परिवारों में विशेष मन्त्रों द्वारा विशेष धारणायें परंपरा से गुप्त चली आती हैं, और वे इस कार्य्य को उस मन्त्र का ही परिणाम समझते चले आते हैं। उदाहरणार्थ एक बाजीगर तमाशा करने वाला कहता है "आकाश में राक्षसों और देवताओं में युद्ध हो रहा है। मैं देवताओं की सहायता के लिये जाता हूँ। इस बीच में आप मेरे परिवार और सामान की रक्षा करने की कृपा करें" वह एक रस्सी ऊपर आकाश में फेंक कर उसके द्वारा ऊपर चढ़ता हुआ दृष्टि से ओझल हो जाता है। थोड़ी देर में क्रम से उसके हाथ, पैर, धड़ और सिर ऊपर से पृथिवी पर गिरते हैं। उसकी स्त्री उनको लेकर सती हो जाती है। उसके कुछ ही समय पश्चात् वह बाजीगर नीचे उतरता है। राक्षसों पर विजय के शुभ समाचार सुना कर स्त्री को तलाश करता है और दर्शकों में से मुख्य व्यक्ति की कुर्सी के नीचे से निकाल लाता है। इस सारे खेल की जब फोटू ली गई तब वह बाजीगर आसन लगाये हुये अपने परंपरा से प्राप्त किये हुये एक विशेष मन्त्र का जाप करता हुआ पाया गया जिसमें इस सारे दृष्टिबन्ध सम्बन्धी विषय के संयम की धारणा थी।

एक समय एक जगह मुझे योगसम्बन्धी सात-आठ व्याख्यान (लैक्चर) देने थे। एक सन्यासी महात्मा उनसे प्रभावित होकर यह समझने लगे कि मैंने कभी पिशाच सिद्धि की होगी अथवा मुझे पिशाच-सिद्धि की किसी विशेष क्रिया का ज्ञान है। और बड़ी श्रद्धा और नम्रतापूर्वक उसकी दीक्षा के लिये एकान्त में मुझसे प्रार्थना करने लगे। बार-बार मना करने पर भी मेरी इस प्रकार की बातों से उपेक्षावृत्ति का उन्हें विश्वास नहीं होता था। उन्हीं के हितार्थ उस दिन यह संयम की विवेचना की गई थी।

पिशाच-सिद्धि और भूत-सिद्धि के अभिलाषी कई प्रकार की हिंसा करते हैं। मर-घटादि भयभीत तामसी स्थानों में तामसी भावना वाले बेतुके मन्त्रों से भूत पिशाच की भावना में धारणा करते हैं। यह सारी बातें अपने तामसी प्रभाव से चित्त को शीघ्रतम भूत, पिशाचाकार में परिणित करने के उद्देश्य से की जाती है। इस तामसी भूत पिशाचादि के आकार में दृढ़ स्थिति होने के पश्चात् इस प्रकार के संयम की धारणा द्वारा कभी-कभी उनसे भूत पिशाच जैसे कार्य भी प्रकट होने लगते हैं।

उपर्युक्त सारी बातों को परमाणु बम के सदृश संयम का दुरुपयोग समझना चाहिए। इस प्रकार की बातों को योग, सिद्धि अथवा चमत्कार और उनके करने वालों को योगी, सिद्ध और चमत्कारी पुरुष समझना भी अत्यन्त भूल है। प्रत्युत इन प्रयोगों को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से और उनके प्रयोगकर्त्ताओं को उपेक्षा वृत्ति से देखना चाहिए, क्योंकि रेल में बिना टिकट जाना एक प्रकार का स्तेय (चोरी) है और मांसभक्षण स्वयं हिंसारूपी पाप है। चोरी की पुष्टि करने वाली और हिंसा को छिपाने वाली कोई भी क्रिया योग, सिद्धि अथवा चमत्कार नहीं हो सकती और न उसका करने वाला योगी, सिद्ध अथवा चमत्कारी पुरुष। इसी प्रकार चित्त को भूत अथवा पिशाचाकार और सूक्ष्म शरीर को पिशाच वृत्ति में

परिणित करता मनुष्यत्व से नीचे गिर कर अधोगति को प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस विषय को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है —

यजन्ते सात्विका देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं, तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः, कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं, तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

गीता अ० १७।

अर्थ—सात्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को और तामस पुरुष भूत और प्रेतों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ जो लोग दम्भ और अहङ्कार से युक्त होकर कामना आसक्ति और बल के अभिमान पर शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं ॥ ५ ॥ तथा जो अपने शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन आदि के रूपों में परिणित हुए पांचों पृथ्वी, जल आदि स्थूल भूतों का और अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तरात्मा को भी व्यर्थ कष्ट देते हैं, उन अज्ञानियों को आसुरी स्वभाव वाला जान ॥ ६ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्, पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

(गीता अ० ९ श्लो० २५)

अर्थ—देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त देवताओं के स्वरूप को धारण करता है। पित्रों (तथा यक्ष राक्षस) को पूजने वाले पित्रों (तथा यक्ष राक्षसों) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त पित्र यक्ष राक्षसों के तदाकार हो जाता है। भूतों को पूजने वाले भूतों (और प्रेतों) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त भूतों प्रेतों जैसे तामसी स्वभाव में परिणित हो जाता है। और शुद्ध परमब्रह्म परमात्मा के उपासक उसको प्राप्त होते हैं अर्थात् वे शुद्ध परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित होते हैं।

नोट—यहाँ सांख्य की निष्ठा वाले अहङ्कारादेश "माम और मद्" शुद्ध परमब्रह्म परमात्मा के बोधक हैं (विशेष षड्दर्शन समन्वय के तीसरे और चौथे प्रकरण में देखें।)

संगति—शङ्का : योग के आठ अङ्गों में से केवल पहिले पाँच अङ्गों का साधनपाद में वर्णन किया गया। धारणा, ध्यान और समाधि का क्यों नहीं किया ?

उत्तर : पहिले पाँच अङ्ग समाधि के साक्षात् साधन नहीं बहिरङ्ग साधन हैं। धारणा ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। इसलिये इनका विभूतिपाद में लक्षण किया। इसी को अगले सूत्र में बतलाते हैं :—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—त्रयम्-अन्तरङ्गम् = ये तीनों अन्तरङ्ग हैं। पूर्वेभ्यः = पहलों से।

अन्वयार्थ—पहलों की अपेक्षा से तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या—पहिले पाद में बताये हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की अपेक्षा से ये तीनों धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरङ्ग हैं अर्थात् साधनीय सम्प्रज्ञात-समाधि का जो विषय है वही धारणादि का विषय है, इसलिये समान विषय होने से ये धारणादि तीनों सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरङ्ग हैं और यम-नियमादि पाँचों यद्यपि चित्त को निर्मल बनाकर योग के उपयोगी बनाते हैं तथापि समान विषय न होने से बहिरङ्ग हैं, इसलिए इन पाँचों को साधनपाद में और धारणादि तीनों को विभूतिपाद में वर्णन किया।

संगति—ये धारणादि तीनों भी निर्बीज-समाधि की अपेक्षा से बहिरङ्ग हैं, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं :—

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तत्-अपि = वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी। बहिरङ्गम् = बाहर का अङ्ग है। निर्बीजस्य = असम्प्रज्ञात-समाधि का।

अन्वयार्थ—वह धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात-समाधि का बाहर का अङ्ग है।

व्याख्या—ये धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात-समाधि के अर्थात् सबीज-समाधि के अन्तरङ्ग हैं, पर असम्प्रज्ञात (निर्बीज समाधि) के ये भी बहिरङ्ग साधन हैं। अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से सम्प्रज्ञात-समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से असम्प्रज्ञात-समाधि के बहिरङ्ग सधान हैं। उसका साक्षात् साधन पर-वैराग्य है। अर्थात् जो साधन साध्य के समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधन के दृढ़ होने के अनन्तर साध्य की सिद्धि अवश्य ही हो वह अन्तरङ्ग होता है। धारणा, ध्यानादि सालम्बन (किसी को आलम्बन = सहारा = ध्येय बनाकर) ध्येयरूप समान विषय वाले होते हैं और उनके दृढ़ होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसलिए वे सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरङ्ग हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन (बिना आलम्बन = सहारा = ध्येय के) निर्विषय होती है और धारणादि संयम के दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात योग अवश्य ही सिद्ध हो जावे, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसलिए निर्बीज समाधि के प्रति धारणादि तीनों बहिरङ्ग हैं। इसका अन्तरङ्ग पर-वैराग्य है जो निर्बीज समाधि के सदृश निरालम्ब और निर्विषय है और जिसके दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात समाधि अवश्य ही सिद्ध होता है।

संगति—अब यह शङ्का होती है कि गुण की वृत्ति चलायमान है अर्थात् वह एक

क्षण भी बिना परिणाम नहीं रहता। चित्त त्रिगुणात्मक है, निर्बीज समाधि में जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तब उसका परिणाम कैसा होता है? इसी शङ्का की निवृत्ति में अगले चार सूत्र हैं। परिणामों का वर्णन तेरहवें सूत्र में है। पर जबतक परिणामों को ठीक-ठीक न जाँच लिया जावे उसके समझने में कठिनाई आवेगी। इस कारण उसका संक्षेप से वर्णन करते हैं :—

परिणाम तीन प्रकार के हैं : धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम। ये तीन परिणाम तीनों गुणों से उत्पन्न हुए सब द्रव्यों में पाये जाते हैं। जिसमें ये परिणाम होते हैं उसको धर्मी कहते हैं और वे परिणाम धर्म कहलाते हैं। निरपेक्ष धर्मी केवल कारणरूप प्रकृति है। अन्य उसके सब विकार महत्तत्त्व से लेकर पाँचों स्थूलभूत पर्यन्त सापेक्ष धर्मी हैं। इन धर्मियों में जिस प्रकार ये तीनों परिणाम होते हैं उनको उदाहरण देकर समझाते हैं :—

१ धर्मपरिणाम—जैसे मिट्टी के गोले बनाकर कुम्भकार नानाप्रकार के बर्तन बनाता है, यहाँ मिट्टी द्रव्य धर्मी है, उसमें नानाप्रकार के बर्तन के आकार जो क्रम के बदलने से हो गए हैं, धर्म हैं। मिट्टी धर्मी ज्यों की त्यों बनी रहती है उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यह बर्तन के आकार जो भिन्न प्रकार के क्रम के बदलने से बने हैं, उसके धर्म हैं। इनमें से एक धर्म का दबना, दूसरे धर्म का प्रकट होना मिट्टी धर्मी का धर्म परिणाम कहलाता है।

२ लक्षणपरिणाम—ऊपर बतलाए हुए धर्मपरिणाम में, बर्तन, मिट्टी का एक नया आकार है। यह आकार उसमें छिपा हुआ था, अब प्रकट होगया। यह बर्तन के आकार मिट्टी ही के धर्म हैं जो जिसमें छिपे रहते हैं। उस छिपे हुए धर्म (आकार) का प्रकट होना अर्थात् भविष्य से वर्तमान में आना लक्षण-परिणाम है। लक्षण-परिणाम कालभेद से होता है। बर्तन का आकार प्रकट होने से पहिले धर्मी मिट्टी में छिपा हुआ था। जबतक प्रकट नहीं हुआ था तबतक वह अनागत (भविष्य) लक्षण वाला था, जब प्रकट हो गया तो वर्तमान लक्षण वाला हो गया; और जब टूटकर मिट्टी में मिल गया तो भूत लक्षण वाला हो गया। बर्तन तीनों काल में मिट्टी में वर्तमान है। भूत, भविष्य में छिपे रूप से, वर्तमान में प्रकट रूप से। इस प्रकार कालभेद से धर्मी में तीन लक्षण-परिणाम होते हैं : अनागत (भविष्य) लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण-परिणाम, अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम।

३ अवस्थापरिणाम—ऊपर बतला आये हैं कि बर्तन का प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। यह बर्तन ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है त्यों-त्यों जीर्ण होता चला जाता है, यहाँ तक कि एक समय इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ लगाने से टूटने लगता है। यह जीर्ण होने की अवस्था प्रतिक्षण होती रहती है। इस कारण उसको अवस्था-परिणाम कहते हैं।

इन परिणामों में धर्म और लक्षण-परिणाम वस्तु के उत्पत्ति समय में होता है और अवस्था-परिणाम उसके अन्त होने तक होता रहता है। अन्य कई दर्शनों में गुण और

गुणी को धर्म और धर्मी कहा गया है, परन्तु योगदर्शन में धर्म, धर्मी शब्द कार्य कारण अर्थ में लाये गए हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध-परिणामः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः = व्युत्थान के और निरोध के संस्कारों का। अभिभव-प्रादुर्भावौ = दबना और प्रकट होना। निरोधक्षण-चित्त = यह जो निरोधकाल में होनेवाले चित्त का (दोनों संस्कारों में)। अन्वयः = अनुगत अर्थात् सम्बन्ध होना है। निरोध-परिणामः = वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

अन्वयार्थ—व्युत्थान के संस्कार का दबना और निरोध के संस्कार का प्रकट होना, यह जो निरोधकाल में होनेवाले चित्त का दोनों संस्कारों में अनुगत होना है वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

व्याख्या—व्युत्थान क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त इन तीन पूर्वोक्त भूमियों को व्युत्थान कहते हैं। यह एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षा से व्युत्थान है। निरोध (असम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षा से एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) भी व्युत्थानरूप ही है। इसलिये व्युत्थान पद का अर्थ यहाँ एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) जानना चाहिये।

निरोध : व्याकरण की रीति से यदि नि-पूर्वक रुध् धातु के आगे करण में "घञ्" 'प्रत्यय' मानें तो निरोध शब्द का अर्थ पर-वैराग्य होता है, तथा पर-वैराग्य का संस्कार निरोध शब्द का अर्थ होता है; और यदि भाव में प्रत्यय मानें तो निरोध शब्द का अर्थ रुकना है। इसलिये सूत्र में 'पहिले निरोध शब्द का अर्थ पर-वैराग्य है', 'दूसरे निरोध शब्द का अर्थ किसी वृत्ति का उदय न होना अर्थात् सब वृत्तियों का रुक जाना' और 'तीसरे निरोध पद का अर्थ पर-वैराग्य का संस्कार' जानना चाहिये।

अभिभव = छिपना = कार्य करने की सामर्थ्य से रहित निर्बल रूप से रहना। - वर्तमानावस्था से भूतावस्था में जाना।

प्रादुर्भाव : अनागतावस्था से वर्तमान काल में प्रकटरूप से आना।

निरोधक्षणचित्तान्वय : निरोधकाल में होनेवाले धर्मी चित्त का अपने धर्म व्युत्थान (एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारों में अनुगत होना।

योग की सिद्धियों की व्याख्या करने की इच्छा से सूत्रकार संयम का विषय शोधने के लिये क्रम से तीन परिणामों को कहते हैं। इस सूत्र में निरोध-परिणाम का वर्णन है।

निरोध-परिणाम = चित्त त्रिगुणात्मक होने से परिणामी है। उसमें प्रतिक्षण वृत्तिरूप परिणाम हो रहा है। निर्बीज समाधि में व्युत्थान की सारी वृत्तियाँ रुक जाती हैं और एकाग्रता-वृत्ति भी नहीं रहती। तब उस निरोधक्षण वाले चित्त में कैसा परिणाम उस समय होता है? इसको इस प्रकार समझाते हैं :—

चित्त धर्मी है, व्युत्थान तथा एकाग्रता के संस्कार उसके धर्म हैं। ये संस्कार वृत्तिरूप नहीं हैं। जैसा कि व्यास भाष्यकार ने कहा है:—

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मकाः। इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः।

अर्थ—व्युत्थान के संस्कार चित्त के धर्म हैं, प्रत्ययात्मक अर्थात् वृत्तिरूप नहीं हैं। इसलिये वृत्तियों के निरोध होने पर भी इनका निरोध नहीं हो सकता।

इसलिये वृत्तियों के रुकने पर यह संस्कार नहीं रुकते, धर्मी-चित्त में बने रहते हैं। इसी प्रकार निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। इन दोनों संस्कार-रूपी धर्मों में से एक धर्म का दबना, दूसरे का प्रकट होना चित्तरूपी धर्मी का धर्म-परिणाम है। निरोधक्षण (निर्बीज-समाधिकाल वाले) चित्त के अन्दर उस समय यह परिणाम होता है कि व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कार अभिभूत होते हैं (दबते हैं) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार प्रादुर्भूत होते हैं (प्रकट होते हैं)।

व्युत्थान के संस्कार जो पहिले वर्तमानरूप में थे अब भूतरूप में हो गए। यह उनका भूत लक्षण-परिणाम है और निरोध के संस्कार जो पहिले अनागतरूप में थे, अब वर्तमानरूप में हो गए। यह उनका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। निरोध समय का धर्मी चित्त अपने धर्म इन दोनों व्युत्थान (एकाग्रता) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारों के बदलने में (आविर्भाव-प्रादुर्भाव होने में) अनुगत रहता है। इस प्रकार एक चित्त के एकाग्रता और पर-वैराग्य के संस्कारों का बदलना निरोध-परिणाम है। उस समय संस्कार-शेष वाला चित्त होता है, जैसा कि (१।१८) में बतलाया गया है कि असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के संस्कार शेष रहते हैं।

शंका—वृत्तियों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। जैसे व्युत्थान की वृत्तियों से व्युत्थान के संस्कार, समाधि (आरम्भ) की वृत्तियों से समाधि (आरम्भ) के संस्कार, एकाग्रता की वृत्तियों से एकाग्रता के संस्कार; और सब वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर-वैराग्य है उसकी वृत्तियों से पर-वैराग्य (निरोध) के संस्कार उत्पन्न होते हैं। इसलिये वृत्तियाँ ही संस्कारों के कारण हैं। निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में जब पर-वैराग्य की वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब उसके कार्य निरोध के संस्कार कैसे शेष रह सकते हैं।

समाधान—कारण दो प्रकार के होते हैं, एक निमित्तकारण, जैसे कुलाल घट का निमित्त कारण है, दूसरा उपादान जैसे मिट्टी घट का उपादान कारण है। निमित्त कारण के अभाव से कार्य का अभाव नहीं होता केवल उसके आगे की उत्पत्ति बन्द हो जाती है, किन्तु उपादान कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है।

वृत्तियाँ संस्कारों के निमित्त कारण हैं, उपादान कारण नहीं हैं। संस्कारों का उपादान कारण चित्त है। इस उपादान कारण को ही सांख्य तथा योग की परिभाषा में धर्मी कहते हैं और उसके कार्यों को धर्म। इसलिये निरोधक्षण (असम्प्रज्ञात-समाधि) में सब वृत्तियों के निरोध के निमित्त कारण पर-वैराग्य की वृत्ति भी निवृत्त हो जाती है, पर उनके कार्य

निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार वर्तमान रूप से शेष रहते हैं क्योंकि उनका उपादान कारण धर्मी चित्त विद्यमान रहता है। कैवल्य में जब चित्त अपने उपादान कारण धर्मी में लय हो जाता है तब उसके साथ उसके कार्य निरोध के संस्कार (संस्कारशेष) भी निवृत्त हो जाते हैं।

संगति—उस निरोध-संस्कार का फल कहते हैं :—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—तस्य = उस (चित्त) का। प्रशान्त-वाहिता = प्रशान्त बहना। संस्कारात् = निरोध-संस्कार से (होता है)।

अन्वयार्थ—निरोध-संस्कार से चित्त की शान्त-प्रवाह वाली गति होती है।

व्याख्या—प्रशान्तवाहिता = निरोध-संस्कार के अभ्यास से जब निरोध-संस्कार प्रबल होता है तब व्युत्थान के संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और व्युत्थान-संस्काररूप मल से रहित जो निर्मल निरोध-संस्कारों की परम्परा प्रवृत्त होती है, वही चित्त का प्रशान्त वा एकरस बहना, चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति है।

भाष्यकार इस सूत्र का आशय यह बतलाते हैं कि निरोध-संस्कारों के अभ्यास को दृढ़ करने की आवश्यकता है जिससे चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जावे। क्योंकि निरोध के संस्कार मन्द होते ही व्युत्थान के संस्कार उनको फिर दबा लेते हैं। यहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि निरोध-समाधि के भङ्ग तक, जो चित्त में उन्हीं संस्कारों के दृढ़ और दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाह का बहना है, यह उसका अवस्था-परिणाम है।

संगति—निरोध-परिणाम बताकर अब चित्त में समाधि (सम्प्रज्ञात) परिणाम बताते हैं :—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सर्वार्थता-एकाग्रतयोः = सर्वार्थता और एकाग्रता का। क्षय-उदयौ = क्षय और उदय होना। चित्तस्य समाधि-परिणामः = चित्त का समाधि अवस्था में परिणाम होता है।

अन्वयार्थ—चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मों का (क्रम से) नाश होना और प्रकट होना चित्त का समाधि अवस्था में परिणाम है।

व्याख्या—सर्वार्थता = सब विषयों की ओर जाना। यह शब्द चित्त की विक्षेप अवस्था के लिये यहाँ आया है। विक्षेप अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है पर रजोगुण बना रहता है और अपने कार्य करता रहता है। इस कारण चित्त सारे विषयों की ओर जाता है। यह अवस्था समाधि के आरम्भ-काल में होती है।

एकाग्रता : समाधि की अवस्था जिसमें चित्त सब विषयों को त्यागकर एक विषय पर टिकता है अर्थात् एक ही आलम्बन (सहारा) होने पर सजातीय प्रवाह में परिणत होना चित्त की एकाग्रता कहलाती है। विक्षिप्तता और एकाग्रता दोनों चित्त के धर्म हैं, चित्त धर्मी दोनों में अनुगत है। जब विक्षिप्तता का धर्म दबता है और एकाग्रता का धर्म प्रकट होता है तो इस

प्रकार दोनों धर्मों में अनुगत धर्मी-चित्त में समाधि-परिणाम अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि काल में होनेवाला चित्त का परिणाम है। चित्त का यह एकाग्रता का आकार धारण करना चित्त में धर्म-परिणाम होता है। एकाग्रता जो चित्त की सर्वार्थता (विक्षिप्तता) में अनागत रूप से छिपी हुई थी अब वर्तमान रूप में आगई। यह एकाग्रतारूप चित्त-धर्म का वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

समाधि-परिणाम और निरोध-परिणाम में भेद

निरोध-परिणाम से समाधि-परिणाम में यह भेद है कि निरोध-परिणाम में व्युत्थान-(एकाग्रता) के संस्कारों का अभिभव और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है और समाधि-परिणाम में संस्कार-जनक जो व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थतारूप चित्त का विक्षेप है उसका क्षय और एकाग्रतारूप धर्म का उदय होता है अर्थात् प्रथम सम्प्रज्ञात में व्युत्थान का क्षय और एकाग्रता का उदय किया जाता है फिर असम्प्रज्ञात में निरोध-संस्कारों के प्रादुर्भाव से व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कारों का भी तिरोभाव (दबना) होता है।

संगति—समाधि अवस्था में जब विक्षिप्तता बिल्कुल दब जाती है तब चित्त की समाहित अवस्था में एकाग्रता-परिणाम बतावे हैं :—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—ततः पुनः = तब फिर। शान्त-उदितौ = शान्त और उदय हुई। तुल्य-प्रत्ययौ = समान वृत्तियें। चित्तस्य-एकाग्रता-परिणामः = चित्त का एकाग्र परिणाम है।

अन्वयार्थ—तब फिर समान वृत्तियों का शान्त और उदय होना चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।

व्याख्या—समाहित चित्त की 'विशेष-वृत्ति' ही एक-प्रत्यय कहलाती है। यह अतीत (भूत) मार्ग में प्रविष्ट हुई शान्त, और वर्तमान मार्ग में वर्तती हुई उदित कहलाती है।

यह दोनों ही, चित्त के समाहित होने के कारण, तुल्य अर्थात् एक विषय को ही आल-म्बन करने से सदृश-प्रत्यय हैं। इन दोनों में समाहित चित्त का अन्वयी (अनुगत) भाव से रहना एकाग्रता-परिणाम कहलाता है। अर्थात् समाधि-परिणाम के अभ्यास-बल से जब चित्त का विक्षेप बिल्कुल दब जाता है तो वह समाहित हो जाता है। इस अवस्था में भी चित्त बराबर बदलता रहता है, किन्तु जिस प्रकार विक्षेप में एक वस्तु को छोड़कर दूसरी को पक-ड़ता था इस प्रकार समाहित अवस्था में नहीं होता। इसमें जिस वस्तु को पकड़ता है उसी में लगा रहता है। चित्त के बदलने के कारण वृत्तियाँ बदलती तो हैं पर जैसी वृत्ति दबती है वैसी ही उदय होती रहती है, जबतक समाधि भङ्ग न हो जावे। यह धर्मी चित्त का एका-ग्रता-परिणाम है।

समाधि के भङ्ग होने तक एकाग्रता प्रबल होती रहती है उसके पश्चात् दुर्बल होती जाती है। यह उसकी अवस्था का बदलना अवस्था-परिणाम है।

सावधानी—सम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति से ही योगी अपने-आप को कृतकृत्य न

मान बैठे, किन्तु व्युत्थान के विक्षेप की निवृत्ति के लिये असम्प्रज्ञात-समाधि का अनुष्ठान करना चाहिये।

संगति—अब प्रसङ्ग से चित्त के सदृश ही भूत और इन्द्रियों के परिणाम बताते हैं:—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—एतेन = इससे ही (चित्त के परिणाम से ही) भूत-इन्द्रियेषु = भूत और इन्द्रियों में। धर्मलक्षण-अवस्था-परिणामाः-व्याख्याताः = धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम व्याख्यान किये हुए जानने चाहियें।

अन्वयार्थ—चित्त के परिणाम से ही भूतों और इन्द्रियों में धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम व्याख्या किये गए जानने चाहियें।

व्याख्या—जिस प्रकार चित्त के धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं इसी प्रकार पाँचों भूतों और इन्द्रियों में समझना चाहिये यद्यपि पूर्व चार सूत्रों में धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम का नाम नहीं लिया गया है तथापि उनमें चित्त के ये परिणाम दिखलाये गए हैं। पाठकों के सुभीते के लिये नवें सूत्र की सङ्गति में ये उदाहरणसहित समझा दिये गए हैं; और पिछले चार सूत्रों में चित्त के निरोध आदि परिणामों में भी इनको यथा-स्थान बतलाते चले आये हैं। यहां उनको संक्षेप से फिर बतलाये देते हैं:—

धर्म-परिणाम—धर्मी के अवस्थित रहते हुए पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर उसके अन्य धर्म की प्राप्ति होना धर्म-परिणाम है। —(भोजवृत्ति)

चित्त में धर्म-परिणाम : नवें सूत्र में निरोध-परिणाम बतला आये हैं। धर्मी-चित्त के दो धर्म व्युत्थान-संस्कार और निरोध-संस्कार में से व्युत्थान-संस्कार का दबना और निरोध-संस्कार का प्रकट होना धर्मी-चित्त का धर्म-परिणाम है इसी प्रकार सूत्र ग्यारह में समाधि-परिणाम में धर्मी-चित्त के सर्वार्थता धर्म के दबने और एकाग्रता धर्म के प्रकट होने में धर्मी-चित्त का धर्म-परिणाम है।

भूतों में धर्म-परिणाम : पृथ्वी का उदाहरण—मृत्तिकारूप-धर्मी का पिण्डरूप धर्म को छोड़कर घटरूप धर्म को स्वीकार करना उसका धर्म-परिणाम है।

इन्द्रियों में धर्म-परिणाम : नेत्रेन्द्रिय का उदाहरण—धर्मी-नेत्र का अपने धर्म नील, पीत, रूपादिक विषयों में से एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप का आलोचन-ज्ञान धर्म-परिणाम है।

लक्षण-परिणाम—काल-परिणाम को लक्षण-परिणाम कहते हैं। वह तीन भेद वाला है: अनागत (भविष्य), उदित, (वर्तमान) अतीत (भूत)। प्रत्येक धर्म इन तीन लक्षणों से युक्त होता है।

अनागत लक्षण-परिणाम : किसी धर्म का वर्तमान काल में प्रकट होने से पहिले भविष्यत् काल में छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है। उस धर्म का भविष्य काल को छोड़कर वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्षण परिणाम है और वर्तमान काल को छोड़कर भूत काल में छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है।

सूत्र ९ में धर्मी-चित्त के निरोध-परिणाम में उसके दोनों धर्म, व्युत्थान-संस्कार तथा निरोध-संस्कार इन तीनों लक्षणों से युक्त हैं। उनमें से व्युत्थान-संस्कार का, वर्तमान लक्षण को छोड़कर, धर्मभाव को न त्यागते हुए, अतीत काल में छिप जाना उसका अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम है। इसी प्रकार निरोध-संस्कार का, अनागत मार्ग को छोड़कर, धर्मभाव को न छोड़ते हुए वर्तमान काल में प्रकट होना, उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। ऐसे ही सूत्र ग्यारह में चित्त के समाधि-परिणाम में उसके धर्म सर्वार्थता और एकाग्रता दोनों लक्षण वाले हैं। उनमें से सर्वार्थता का वर्तमान लक्षण को त्यागकर धर्मभाव को न छोड़ते हुए अतीत लक्षण को प्राप्त होना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है। और एकाग्रता धर्म का अनागत लक्षण को त्यागकर धर्मभाव को न छोड़ते हुए वर्तमान लक्षण में प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

मृत्तिका के घटरूप धर्म का, प्रकट होने से पहिले, अनागत काल में छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है। अनागत लक्षण से वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्षण और घटरूप धर्म का वर्तमान लक्षण से अतीत काल में छिप जाना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है।

इसी प्रकार धर्मी-नेत्र के, धर्मों अर्थात् नील, पीत रूपादिक विषयों के आलोचन में इन तीनों लक्षण-परिणामों को समझ लेना चाहिये। अर्थात् धर्मी नेत्र के धर्म नीलादि ज्ञान के प्रकट होने से पूर्व अनागत काल में छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है। अनागत काल से वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्षण-परिणाम है और वर्तमान काल से अतीत मार्ग में छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है।

अवस्था-परिणाम—एक धर्म के अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में प्रकट होने तक उसकी अवस्था को दृढ़ करने में, और इसी प्रकार वर्तमान लक्षण से अतीत लक्षण में जाने तक उसकी अवस्था को दुर्बल करने में जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है वह अवस्था-परिणाम है। सूत्र १० में निरोध-समाधि के भङ्ग तक जो निरोध-संस्कार के प्रतिक्षण दृढ़ और उसके पश्चात् उनका दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाह का बहना है वह उनका अवस्था परिणाम है। इसी प्रकार मृत्तिका के घटधर्म के अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में आने तक और वर्तमान लक्षण से अतीत लक्षण में जाने तक उसकी अवस्था को क्रम से दृढ़ और दुर्बल करने में जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है वह घटधर्म का अवस्था-परिणाम है। ऐसे ही धर्मी नेत्र के धर्म नील, पीत, रूपादिक विषय के आलोचन में अवस्था-परिणाम को जानना चाहिये। अर्थात् वर्तमान लक्षण वाले नीलादि विषय के आलोचन (ज्ञान) रूपधर्म की स्फुटता अस्फुटता रूप अवस्था परिणाम है।

धर्मी का धर्मों से, धर्म का लक्षणों (अनागत, वर्तमान, अतीत) से और लक्षणों का अवस्था से परिणाम होता है। इस प्रकार गुणवृत्ति एक क्षण भी धर्म लक्षण और अवस्था-परिणाम से शून्य नहीं रहती। गुणों का स्वभाव ही प्रवृत्ति का कारण है।

यथार्थ में यह सब एक ही परिणाम है। धर्मी का स्वरूप-मात्र ही धर्म है, कोई भिन्न

वस्तु नहीं। क्योंकि धर्मी का विकार ही धर्म नाम से कहा जाता है। धर्मी के विकाररूप धर्म का ही, धर्मी में वर्तमान रहते हुए, अतीत, अनागत, वर्तमान मार्ग में अन्यथा भाव होता है, न कि धर्मी द्रव्य का अन्यथापन होता है। जैसे सुवर्ण का कोई आभूषण तोड़कर अन्य प्रकार का आभूषण बनाने से भूषण-आकार अन्यथा होता है, सुवर्ण का स्वरूप नहीं बदलता ज्यों का त्यों रहता है। इसी प्रकार चित्त आदि धर्मियों का स्वरूप नहीं बदलता, इनके निरोध आदि धर्मों के भाव बदलते रहते हैं।

भाष्यकार ने प्रतिपक्षियों की शङ्काओं का युक्तिपूर्वक समाधान करते हुए स्वपक्ष का विस्तार के साथ वर्णन किया है। हमने सूत्र ९ की सङ्गति और इस सूत्र की व्याख्या पर्याप्त समझकर विस्तार के भय से उसे छोड़ दिया है। इतना और बतला देना आवश्यक है कि सांख्य तथा योग में धर्मी उपादान कारण के अर्थ में है और धर्म उसका विकार कार्य है, वैशेषिक वालों के गुण के अर्थ में नहीं है।

टिप्पणी—व्यास भाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस पूर्वोक्त धर्मलक्षण और अवस्थारूप चित्त के परिणाम से भूत और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम भी व्याख्यात समझने चाहिए। उनमें धर्मी में व्युत्थान और निरोध धर्मों का अभिभव और प्रादुर्भाव धर्मपरिणाम है।

लक्षणपरिणाम निरोध—त्रिलक्षण होता है। तीन अध्व से युक्त होता है, वह अनागत लक्षण प्रथम अध्व को छोड़ कर धर्मत्व को न छोड़ता हुआ वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है जहां कि इसकी स्वरूप से अभिव्यक्ति होती है, यह इसका द्वितीय अध्व है, वह अतीत और अनागत लक्षण से वियुक्त नहीं है। तथा व्युत्थान त्रिलक्षण तीन अध्व से युक्त होता है। वर्तमान लक्षण को छोड़ कर धर्मत्व का परित्याग न करके अतीत लक्षण को प्राप्त होता है, यह इसका तृतीय अध्व है, और वह वर्तमान और अनागत लक्षण से जुदा नहीं है। इसी भांति पुनः व्युत्थान। उपसंपाद्यमान अनागत लक्षण को छोड़कर धर्मत्व का उल्लंघन न करता हुआ वर्तमान लक्षण को प्राप्त होजाता है जहाँ कि इसके स्वरूप की अभिव्यक्ति होने पर व्यापार होता है, यह इसका द्वितीय अध्व है वह अतीत और अनागत लक्षण से वियुक्त नहीं है, इसी भाँति पुनः निरोध और पुनः व्युत्थान होता रहता है।

तथा अवस्थापरिणाम होता है। उसमें निरोध के क्षणों में निरोध के संस्कार बलवान होते हैं और व्युत्थान के संस्कार दुर्बल होते हैं, यह धर्मों का अवस्थापरिणाम है उसमें धर्मी का धर्मों से परिणाम होता है, धर्मों का लक्षणों से परिणाम होता है, और लक्षणों का अवस्थाओं से परिणाम होता है इस भांति धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामों से शून्य एक क्षण भी गुणों की वृत्ति नहीं रहती हैं, क्योंकि गुणों की वृत्ति चञ्चल स्वभाव वाली है गुणों का गुणस्वाभाव तो प्रवृत्ति का कारण कहा है, इससे भूत और इन्द्रियों में धर्म धर्मी भेद से त्रिविध परिणाम जानना चाहिए, और परमार्थ से तो एक ही परिणाम है, धर्मी का स्वरूपमात्र ही धर्म है, धर्मी की विक्रिया ही यह धर्म द्वारा विस्तार से कही है। वस

धर्मी में वर्तमान धर्म के ही अतीत, अनागत और वर्तमान अध्वों में भाव का अन्यथात्व होता रहता है। द्रव्य का अन्यथात्व नहीं होता, जैसे सुवर्ण पात्र को तोड़ अन्यथात्व करने पर भाव का अन्यथात्व होता है सुवर्ण का अन्यथात्व नहीं होता।

दूसरे कहते हैं—धर्म से धर्मी अन्यूनाधिक होता है, क्योंकि वह पूर्व तत्त्व का अतिक्रम नहीं करता, पूर्व, अपर अवस्था भेद से अनुपतित हुआ कौटस्थ्य से परिवर्तित होगा, यदि वह अन्वयी है ? समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि यह बात एकान्ततः नहीं मानी है, यह त्रैलोक व्यक्ति से च्युत होता है क्योंकि इसके नित्यत्व का निषेध किया है, च्युत हुआ भी है, क्योंकि इसके विनाश का प्रतिषेध किया है, संसर्ग से इसकी सूक्ष्मता है और सूक्ष्म होने से उपलब्धि नहीं होती।

लक्षणपरिणाम—धर्म अध्वों में वर्तमान अतीत होता है अतीत लक्षण से युक्त होता है अनागत और वर्तमान लक्षण से वियुक्त नहीं होता है, तथा अनागत-अनागत लक्षण युक्त होता है, वर्तमान और अतीत से वियुक्त नहीं होता, तथा वर्तमान-वर्तमान लक्षण युक्त होता है, अतीत और अनागत लक्षण से वियुक्त नहीं होता, जैसे पुरुष एक स्त्री में रक्त है, वह शेषों से विरक्त नहीं है ! यहां लक्षणपरिणाम में सर्व का सर्व लक्षणों के साथ योग होने से अध्वसंकर प्राप्त होता है यह दूसरे दोष देते हैं ?

उसका यह परिहार है—धर्मी का धर्मत्व अप्रसाध्य है, धर्मत्व के होने पर ही लक्षण—भेद भी कहना होगा ? उसको धर्मत्व वर्तमान समय में ही नहीं है, इस भांति ही चित्त रागधर्म वाला नहीं होगा क्योंकि क्रोध के समय राग समुदाचार नहीं है। और भी ? तीनों लक्षणों का एक साथ एक व्यक्ति में संभव नहीं ? क्रम से तो उसके व्यंजक की सहायता से भाव होसकता है। उक्तंच—रूपातिशय और वृत्ति अतिशय परस्पर विरोधी हैं, सामान्य तो अतिशय के साथ रहा करते हैं इस कारण से संकर दोष नहीं हैं। जैसे राग का ही कहीं समुदाचार है, इसलिए उस समय अन्यत्र अभाव नहीं है किन्तु केवल सामान्य से समन्वागत है अतः उस समय उसका वहाँ भाव है, तथा लक्षण का भी भाव है।

धर्मी त्रि अध्व (तीन मार्ग वाला) नहीं होता, धर्म त्रि अध्व हुआ करते हैं, वे धर्म लक्षित और अलक्षित उस-उस अवस्था को प्राप्त हुए अवस्थान्तर के कारण अन्यत्व निर्देश किये जाते हैं द्रव्यान्तर से नहीं, जैसे एक रेखा शत स्थान में शत, दश स्थान में दश और एक स्थान में एक होती है, यथा च एकत्व होने पर भी एक स्त्री माता कहलाती है, पुत्री कहलाती है, बहन कहलाती है। अवस्थापरिणाम में कौटस्थ्य प्रसंग दोष कुछ लोगों ने कहा है किस प्रकार कि अध्वों के व्यापार से व्यवहित होने से जब धर्म अपने व्यापार को नहीं करता, तब अनागत है, जब करता है तब वर्तमान है जब करके निवृत्त होजाता है तब अतीत है, इस प्रकार धर्म और धर्मी लक्षण और अवस्था इन सबको कूटस्थ मानना पड़ेगा—यह दूसर सज्जन दोष देते हैं।

वह दोष नहीं हैं, क्योंकि गुणों के नित्य होने पर भी गुणों के विमर्द की विचित्रता है, जैसे विनाशी और अविनाशी शब्द आदिकों का आदिमत् संस्थान धर्ममात्र होता है,

वैसे ही विनाशी और अविनाशी सत्त्व आदि गुणों का आदिमान् लिंग धर्ममात्र है, उसमें विकार संज्ञ. है (उसी को विकार कहते हैं) उसमें यह उदाहरण है मिट्टी धर्मी अपने पिण्डाकार धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ धर्म से परिणित घटाकार होता है यह घटाकार अनागत लक्षण (काल) को छोड़ कर वर्तमान लक्षण (काल) में आगया है यह लक्षण से परिणाम होता है, घट नवीनता और पुराणता का प्रतिक्षण अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है—यह धर्मी की भी धर्मान्तर अवस्था है और धर्म की लक्षणान्तर अवस्था, यह एक ही द्रव्य को परिणामभेद से दिखलाया है। इसी भांति पदार्थान्तर में भी योजित कर लेना चाहिए। धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम धर्मी के स्वरूप का उल्लंघन न करते हुए है इससे एक ही परिणाम उन सब विशेषों को व्याप्त कर रहा है।

अब यह परिणाम क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) परिणाम है ॥ १३ ॥

" वार्तिक " का भाषानुवाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस प्रकार योग—योग के अंगो के परिणाम रूप की विलक्षणता उनके विवेक के लिए दिखलादी है, इसी रीति से व्युत्थानकालीन चित्त के परिणाम भी व्याख्यात प्रायः ही हैं। यहां से 'परिणामत्रयसंयमात्' इस आगामी सूत्र की उपोद्घात संगति से सर्वत्र वैराग्यरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए चित्तवत् ही अन्यों में भी अतिदेश से ही परिणामों की व्याख्या सूत्रकार करते हैं।

"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः" धर्मों से, लक्षणों से और अवस्थाओं से जो परिणाम हैं वे धर्मलक्षणावस्था परिणाम हैं उनकी भाष्य में व्याख्या करनी है। यही परिणाम भूत और इन्द्रियों में होते हैं कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होते। इस असाधारण आशय से ही यहाँ प्रकृति आदि में परिणाम नहीं कहे, इससे तत्त्वान्तरपरिणामवत् ये परिणाम भी सब ही यथायोग्य प्रकृति आदि में भी जानने चाहिए, ऐसा ही भाष्यकार कहेंगे। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामों से शून्य क्षण भर भी गुण वृत्त नहीं ठहरता (नहीं रहता) इससे सर्व वस्तुओं में तीन परिणाम हैं। सूत्र की व्याख्या करते हैं—एतेनेति (इस पूर्वोक्त धर्मलक्षण और अवस्थारूप चित्त के परिणाम से भूत और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम की व्याख्या समझ लेनी चाहिए) भाष्य।

शंका—पूर्व सूत्र में चित्त का परिणाम मात्र कहा है धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम नहीं कहे ? इस शंका को परिणामों के विभाग दिखला कर दूर करने के लिए उपक्रम करते हैं अत्र—व्युत्थानेति—उनमें से व्युत्थान और निरोध के अभिभव और प्रादुर्भाव ही धर्मी चित्त में धर्मपरिणाम प्रथम सूत्र ने ही कहा है, 'अवस्थित' धर्मी के पूर्व धर्म का तिरोभाव होने पर धर्मान्तर के प्रादुर्भाव को ही धर्मपरिणामत्व है,

यह भाव है। यद्यपि प्रथम सूत्र में व्युत्थान और निरोध के संस्कारों का ही अभिभव और प्रादुर्भाव कहा है, तथापि व्युत्थान और निरोध का अपाय और उपजन भी अर्थात् लब्ध है, धर्म द्रव्य है या गुण यह बात दूसरी है, तथा उसी सूत्र ने अभिभव और प्रादुर्भाव शब्दों से धर्म का लक्षणपरिणाम भी कहा है, अतः भाष्यकार कहते हैं, लक्षणपरिणाम श्चेति—लक्षणपरिणाम अवस्थित धर्म का अनागत आदि लक्षण के त्यागने पर वर्तमान आदि लक्षण के लाभ का नाम है, और यह अभिभव और प्रादुर्भाव वचन से ही लब्ध है, क्योंकि अतीतता और वर्तमानता का ही अभिभव और प्रादुर्भाव हुआ करता है, यह भाव है। उनमें से पहिले निरोधरूप धर्म के प्रादुर्भाव शब्द से कहे लक्षणपरिणाम का उदाहरण देते हैं निरोधस्त्रिलक्षण इति—इसी का विवरण, है तीन अध्व से युक्त है, क्रम के सम्बन्ध से अध्व के तुल्य होने से अनागत आदि भाव अध्व कहलाते हैं; तथा धर्मी और धर्मों के अन्योन्य के व्यावर्तन से और लक्षण शब्द से तंत्र में कहा है, इससे क्या आया ? इसको कहते हैं—सखल्विति—वह निरोध प्रादुर्भाव काल में अनागतलक्षण रूप अध्व नाम को छोड़ कर इत्यादि अर्थ है। यहां सत्कार्य की सिद्धि के लिए और धर्म परिणाम के उपपादनार्थ 'धर्मत्वं मनति क्रान्तः' कहा है। स्वरूप से अवस्थित ही धर्म के रूपान्तर के हटने पर रूपान्तर की उत्पत्ति में धर्मपरिणाम शब्द का व्यवहार होता है, वर्तमान अवस्था को इतर दो अवस्थाओं से विवेचन करके दिखलाते हैं यत्रेति—स्वरूप से, अर्थक्रियाकारित्व से अभिव्यक्ति उपलब्धि है। यह अनागत की अपेक्षा से द्वितीय अध्व है, यह शिष्य के व्युत्पादन के लिए प्रसंग से कहते हैं एषोऽस्येति—असत् की उत्पत्ति और सत् के विनाश के प्रतिषेध के लिए कहते हैं नचेति—निरोधक्षण में ही निरोध के लक्षणपरिणाम को दिखलाकर व्युत्थान को भी दिखलाते हैं तथा व्युत्थान-मिति—सब पूर्ववत् है। विशेष है वर्तमानता, को छोड़ कर अतीतता को प्राप्त होता है यह तृतीय अध्व है। इस भांति व्युत्थान काल में भी व्युत्थान और निरोध के लक्षणपरिणामों को क्रम से दर्शाते हैं, एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमान-मिति उपसंपद्यमान जायमान का नाम है, और यह व्यक्ति अन्दर है, क्योंकि अतीत व्यक्ति का अनुवाद आगे कहेंगे। अन्य सब पूर्ववत् है। एवं पुनर्निरोध इति यहां एवं पद से तथा व्युत्थानं इत्यादि वाक्य से कहे निरोध के तृतीय अध्व की प्रक्रिया निर्देश की है। अतः निरोध के तृतीय अवस्था के कथन के अभाव की शून्यता नहीं है, (अर्थात् तृतीय अध्व की प्रक्रिया के निर्देश से निरोध की तृतीय अवस्था के कथन का अभाव है यह व्युत्थान निरोध परिणाम का चक्र अपवर्ग पर्यन्त ही है—यह संक्षेप से कहते हैं। एवं पुनर्व्युत्थानमिति—पुनर्व्युत्थान आदि अर्थ है। चित्त के धर्मों के लक्षण परिणाम को दर्शाकर उस लक्ष्य के अवस्थापरिणाम को 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इस सूत्र पर व्याख्या हो चुकी है यह दिखलाते हैं-तथा अवस्था परिणाम-इति— अवस्था-परिणाम को कहते हैं—संस्कारों का बलवत्व और दुर्बलत्व घट के नये और पुराने के परिमाण से भेद की अनुपपत्ति है लक्षण की भांति है, वृद्धि और ह्रास-उत्पत्ति और विनाशरूप, हैं, लक्षण परिणाम से भेद की अनुपपत्ति है लक्षण के ही नवपुराणत्व आदि अवस्था परिणाम आगे कहेंगे,

शंका—द्रव्य के ही वृद्धि और क्षय देखे जाते हैं गुण के नहीं।

समाधान—यह बात नहीं है रूप आदि गुणों के भी वृद्धि और ह्रास का अनुभव होता है। वृद्धि ह्रास को रूप का अन्य भेद मानें तो गौरव होगा, वही रूप अब बढ़ गया है ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भी न बनेगी अतः संस्कार और अदृष्ट आदि का अवस्थापरिणाम होता है, ज्ञान और इच्छा आदि के उत्पत्ति और विनाश का अनुभव होता है, दो क्षणमात्र स्थायी होने पर भी द्वितीय क्षण में वर्तमान लक्षण का अवस्थापरिणाम होता है, वह क्षणत्व से ही उस परिणाम का हेतु है, यदि ऐसा न मानें तो सब वस्तुओं के प्रतिक्षण परिणाम की जो कि आगे कहेंगे उपपत्ति ही न होगी, इस कथन से उसका भी खंडन हो गया, जो किसी ने कहा है कि उत्तर शृंच विभु विशेष गुण की ही आनादि के नाशक होने से एकाग्रता दशा में भी ज्ञान के बहुत क्षण स्थायी होने से अवस्था परिणाम सम्भव नहीं है, तब इस प्रकार तीनों परिणामों की व्याख्या करके उनके आधार की व्यवस्था को कहते हैं, तत्र धर्मिण इत्यादि से लक्षणों का भी अवस्थाओं से परिणाम होता है, यद्यपि बाल्य आदि अवस्थाओं का भी लक्षणपरिणाम होता है, तथापि यथोक्त क्रम मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शंका—वर्तमान लक्षण का नव पुराण आदि अवस्थापरिणाम हो सकता है, अनागत और अतीत लक्षण का अवस्थाभेद किस प्रकार होगा ?

समाधान—शीघ्र भविष्यता, विलम्ब भविष्यता आदि रूप विशेष उन लक्षणों का भी अनुमान हो सकता है, क्योंकि सत्त्व आदि की भांति ही गुणत्व से, प्रतिक्षण परिणामित्व सिद्ध है, यथोक्त चित्त के परिणामों से सर्व वस्तुओं के परिणामों का अतिदेश करते हुए वैराग्याग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उनकी प्रतिक्षण परिणामिता दिखलाते हैं, एवं धर्म लक्षणेति—यह मनु आदि में भी कहा है—

घोरेऽस्मिन् हत संसारे नित्यं सततघातिनाम्।
कदलीस्तम्भनिःसारे संसारे सारमार्गणम् ॥
यः करोति स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे ।

इति नित्य सतत घातियों के इस घोर संसार में जोकि केले के स्तम्भ के समान निःसार है जल के बुलबुले के सदृश चाल और क्षणभगुर है जो प्राणी सार ढूंढ़ता है वह सम्मूढ़ है।

गुण वृत्त—सत्त्व आदि गुणों का व्यापार है, वह अपने कार्य धर्मादि परिणामों से क्षण भर भी शून्य नहीं रहता, प्रतिक्षण परिणत होता रहता है।

शंका—अव्यापार दशा में तो अपरिणामी होगा ?

समाधान—चलं हि गुण—वृत्तमिति—चल यह भावप्रधान निर्देश है—गुणों का चाचल्य स्वभाव है यह तात्पर्यार्थ है।

प्रश्न—प्रति क्षण चांचल्य में प्रमाण क्या है ?

उत्तर—गुणस्वाभाव्य मिति—गुणों का स्वभाव है, राजा के गुणों, उपकरणों नौकर आदि का स्वामी के लिए प्रतिक्षण ही व्यापार दिखाई देता है, अतः गुणस्वभावता

ही सत्वादि पुरुषगुणों की भी प्रवृत्ति में पूर्व आचार्य ने प्रमाण कही है। पर के ही भोग और अपवर्ग का हेतुत्व गुणत्व है। चित्र के दृष्टान्त में तीनों परिणामों की व्याख्या करके दार्ष्टान्तिक में भी उसकी व्याख्या का आरम्भ करते हैं एतेनेति—इस से भूत और इन्द्रियों में धर्म धर्मी भेद से धर्म धर्मी का आश्रय लेकर तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये। उन पृथिवी आदि धर्मियों में घट आदि धर्म का परिणाम धर्मपरिणाम है, घट आदि धर्मों की वर्तमान अतीतता, लक्षणपरिणाम है, वर्तमान आदि तीनों लक्षणों का भी बाल्य—यौवन आदि अवस्थापरिणाम हैं।

शंका—तीनों परिणाम भूत और इन्द्रियों में किस प्रकार कहे हैं, क्योंकि वे धर्मी हैं उनमें धर्म मात्र परिणाम होगा ?

समाधान—तीनों धर्म धर्मी परिणाम ही परमार्थ से तो एक ही परिणाम हैं, क्योंकि धर्मी स्वरूप ही धर्म होता है अतः धर्मपरिणाम ही यह लक्षणादि परिणाम है—जो कि धर्मादि के अवान्तर विभाग ही हैं।

अब प्रतिक्षण परिणाम में क्षणिकता आदि के प्रसंग को (अति व्याप्ति) को हटाने के लिए तीनों परिणामों की क्रम से परीक्षा करते है। प्रथम धर्मपरिणाम की परीक्षा करते हैं, तत्र धर्मस्येत्यादिना—उन परिणामों के मध्य में धर्मी के सत्य होने पर ही धर्म की अतीत आदि अवस्थाओं में धर्मी का भावान्यथात्व, धर्मान्यथात्व ही होता है, द्रव्यान्यथात्व नहीं होता स्वरूपान्यथात्व होने पर ही प्रतिक्षण परिणाम से क्षणिकता की आपत्ति, प्रत्यभिज्ञा आदि की अनुपपत्ति होती है, यह भाव है।

सुवर्ण का वर्तन आदि रूप हटने पर कटकादि धर्म की अभिव्यक्ति भावान्यथात्व है, प्रत्यभिज्ञा के बल से सर्वविकारानुगत सुवर्ण सामान्य सिद्ध है, यह सामान्य ही अवयवी रूप धर्मी है। वैशेषिक के अनुयायी तो कहते हैं कि सुवर्ण के अन्यथात्व होने पर भी अवयवों के संयोग के नाश से पूर्व सुवर्ण व्यक्ति नष्ट हो ही जाती है उसमें जो प्रत्यभिज्ञा होती है (यह वही सुवर्ण है) वह जातिविषयक होती है—

वह ठीक नहीं है ऐसा मानने से प्रतिक्षण अवयवों के उपचय और अपचय के लिए अवयवों का संयोग और विभाग अवश्य ही मानना होगा और उस से शरीर आदि अखिल वस्तुओं की क्षणिकत्व की आपत्ति को ब्रह्मा भी न हटा सकेगा और जाति से ही सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति होने में प्रत्यभिज्ञा से घटादि के स्थैर्य का जो स्व सिद्धान्त है उससे विरोध आवेगा। इसलिए अवयव के संयोग का नाश द्रव्य के नाश का हेतु नहीं है किन्तु वह्नि आदि में तृण अरणि और मणि आदि की भांति अव्यवस्थित ही फल के बल से कारण की कल्पना करनी चाहिये। अथवा विजातीय अवयव विभाग विशेष है यह स्वरूपान्यथात्ववादी बौद्धों के धर्म परिणाम में कहे दोषों को निराकरण करने के लिए उठाते हैं—

अपर आह—धर्मो से धर्मी अतिरिक्त नहीं होता, अत्यन्त अभिन्न होता है, इसमें हेतु हैं, पूर्व तत्त्व का अतिक्रम न होने से, पूर्वतत्त्व धर्मी के अनतिक्रम की आपत्ति से, कौटस्थ्य की आपत्ति से, यह प्रयोजन है। इसी का विवरण करते हैं पूर्वापरेति (पूर्व और

अपर अवस्था भेद के अनुपतित कौटस्थ से च्युत हो जायगा, यदि अन्वयी होगा। यदि धर्मी धर्मों में अन्वयी होगा, तब पूर्व अपर सकल, अवस्थाभेदों में अनुगत होने से अतीत आदि अवस्था में भी सत्त्व मानना होगा और वह चिति शक्ति के समान कूटस्थ रूप से रहेगा, क्योंकि नित्यत्व और कूटस्थ का एक ही अर्थ है और वह तुमको भी अनिष्ट है।

इसका परिहार करते हैं अयमदोषः—यह दोष नहीं है—एकान्तेति—क्योंकि हम एकान्त नित्यत्व नहीं मानते हैं। एकान्तेन का अर्थ है, सर्वथा स्वरूप से और धर्म से नित्यत्व ही कौटस्थ्य हम मानते हैं, और वह चिति शक्ति का ही है, धर्मरूप से, अनित्य धर्मी की कूटस्थता नहीं है।

विकारऽव्यावृतत्वं प्रकृतेर्नित्यत्वम्—विकार से व्यावृत्ति ही प्रकृति की नित्यता है, सत्व की अतीत और अनागत अवस्था से शून्यत्व नित्यत्व है, स्वरूप से और धर्म से नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों रूपता इस प्रपंच की प्रतिपादन करते हैं तदेतदिति—यह कार्य कारण आत्मक त्रिलोकी, चौबीस तत्व अपने कार्यों के सहित, यथायोग्य धर्म रूप से और स्वतः व्यक्ति से वर्तमान अवस्था से च्युत होते हैं क्योंकि इनके नित्यत्व का श्रुति निषेध करती है 'नैवेह किंचनाग्र आसीत्' यहां आगे कुछ भी नहीं था, असद्वा इदमग्र आसीत् यह प्रपंच पहिले असत् था इत्यादि श्रुतियों ने नित्यत्व का प्रतिषेध किया है।

व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन् प्रकृतिः सम्प्रलीयत इत्यादि। उसमें व्यक्त और अव्यक्त रूप प्रकृति भलीभांति प्रतीत होती है इत्यादि स्मृतियों से जो सावयव होता है वह अनित्य होता है जैसे कि घट आदि इस अनुमान से भी नित्यत्व का प्रतिषेध है।

शंका—तब तो अत्यन्त उच्छेद ही हो जायगा ?

समाधान—अपेत—अतीत भी प्रकृति आदि धर्मी रूप से अतीत रूप से हैं क्योंकि विनाश का प्रतिषेध किया है अत्यन्त उच्छेद का श्रुति ने निषेध किया है 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' उसको एक कहते हैं असद् ही एक आगे था इत्यादि श्रुति से अत्यन्त उच्छेद की आशंका करके जब "कथमसतः सज्जायेत्" सत्यमेव सोम्येद मग्रआसीद् इति असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ? हे सौम्य ! सत् तो यह आगे था, इस प्रकार श्रुति ने उस असत् का प्रतिषेध किया है।

विनाशित्व होने पर अनादित्व भाव की अनुपपत्ति होती है यद्यपि सत्यमेव इस श्रुति में सत् शब्द का अर्थ परमात्मा ही है, क्योंकि उत्तरवाक्य में तदैक्षत आया है, तो भी सत् के एकीभाव से इदमासीत यह था इस वचन से प्रपंच की भी प्रलयकाल में सत्ता सिद्ध होनी ही है। इसी प्रकार "तद्धेदं—तर्ह्यव्याकृतमासीत्तमसैवेदमासीत्" यह अव्याकृत था, तमस ही यह था—

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्'—यह प्रपंच तमरूप अलक्षण और अज्ञात था इत्यादि श्रुति और स्मृति भी अत्यन्त उच्छेद की निषेध करने वाली प्रमाण हैं।

युक्ति भी—असत् से सत् की उत्पत्ति में शशशृंग आदि की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और बन्ध मोक्ष भी अकारण ही होंगे जो कि नहीं हो सकते यह युक्ति भी प्रमाण हैं।

यदि अतीत होने पर भी है तो उपलब्ध क्यों नहीं होते ? इस पर कहते हैं— संसर्ग से उपलब्ध नहीं होते। इस कार्य जगत् का अपने कारण प्रकृति में संसर्ग होने, विभक्त न रहने, लय हो जाने से उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि उसके लौकिक साक्षात्कार में उनकी सूक्ष्मता प्रतिबन्धक है। इस प्रकार कार्य कारण के अभेद से सभी परिणामी प्रकृति आदिकों के प्रकारभेद से नित्य और अनित्य उभय रूप की व्यवस्था हो जाने से उनके सद् और असद् और रूपता का सिद्धान्त सिद्ध हो गया। 'सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्याम्' बाध और अबाध से सद्सत् ख्याति है। यह सांख्यदर्शन का सूत्र भी प्रमाण हो जाता है। यहीं जड़ों की व्यवहारिकी सत्ता पुराण आदि में कही गई है जो निःसत्तासत्त्वं प्रधानं भाष्यकार ने पूर्व कहा है वह पारमार्थिक सत् और असत् के अभिप्राय से कहा है। हमने उसकी वहीं व्याख्या करदी है। इससे आत्मा ही सत् है अन्य सब असद् है। यह श्रुति और स्मृति के वाद के भी विरुद्ध नहीं है। एकान्त नित्य की ही पारमार्थिक सत्ता है और वह कूटस्थ नित्य की ही है, क्योंकि वह असत्ता के संपर्क से रहित है। प्रकृतियों की व्यवहारसत्ता नित्य नहीं है, इसी प्रकार—

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्या भूता सनातनी॥

माया न सद्रूपा है न असद्रूपा है न उभयरूपा ही है। सत् और असत् से अनिर्वचनीया मिथ्यारूपा सनातनी है इत्यादि वाक्य भी संगत हो जाते हैं। आधुनिक वेदान्तियों के अनिर्वचनीयवाद में संगत नहीं होते क्योंकि उन्होंने माया नामक जगत् के कारण का भी विनाश या अत्यन्त तुच्छत्व ही परमार्थ से माना है। उनके मत में सनातन शब्द का विरोध है।

धर्मपरिणाम की परीक्षा करके अब लक्षणपरिणाम की परीक्षा करते हैं। लक्षण परिणाम इति, अध्वसु वर्तमान इति—धर्मों की नित्यत्व कहा है। बिना नित्यत्व अतीत अनागत लक्षण के संयोग असम्भव है। यहां एक एक लक्षण के अभि व्यक्ति के काल में भी धर्म सूक्ष्म लक्षणान्तर के बिना नहीं होता। यह समुदाय का अर्थ है। तथा धर्मों की भांति लक्षण भी नित्य ही है। अतः न सद् की उत्पत्ति होती है और न सद् का अत्यन्त उच्छेद होता है। यह प्रसंग दोष नहीं है।

शंका—एक लक्षण की व्यक्ति के काल में लक्षणान्तर की अनुपलब्धि से उनका अभाव ही युक्त है।

समाधान—उनकी उपलब्धि अनुमान से होती है उसको दर्शाते हैं—यथेति न *शेषासु विरक्त इति—शेषों में विरक्त नहीं है। राग के भावी होने में विरक्त व्यवहार नहीं* देखा जाता, *तथा च एक विषयक रागादि के काल में अन्यों की सत्ता* अनुमान से सिद्ध होती है। *लक्षण परिणाम में भी दूसरों के दूषण की* उद्भावना करते हैं न्नेति—सब अनागतादि को वर्तमानादि सब लक्षणों से योग होने से अनागत आदि भी वर्तमान

ही हो जायेंगे तब अध्वों का संकर हो जायगा, यदि उनमें क्रम मानें तो असत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अतः वर्तमान लक्षण ही सब वस्तु होगी पूर्व और उत्तर काल में उनका अभावमात्र होगा। और अभाव के प्रतियोगी होने से उनमें अतीतादि व्यवहार हो जायेगा, इसमें पहिले धर्मों में लक्षण त्रय के सम्बन्ध की व्यवस्था करते हैं। धर्माणामिति—धर्मों का धर्मत्व पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, यहां सिद्ध नहीं करना है, धर्मत्व के सिद्ध हो जाने पर धर्मों का लक्षण, भेद, और लक्षण यद्धत्व भी कहना चाहिए, अर्द्ध—वैनाशिक के कहे वर्तमान मात्र एक लक्षण नहीं है क्योंकि वर्तमान समय मात्र में ही इस धर्म का धर्मत्व नहीं है, किन्तु अतीतादि समय में भी धर्म का धर्मत्व है। यहां हेतु कहते हैं एवं हीति—क्योंकि इस प्रकार वर्तमान काल में ही धर्मत्व होने पर सब ही चित्त रागधर्मक नहीं होंगे, अर्थात् विरक्त होंगे, विरक्त व्यवहार के योग्य होंगे, क्योंकि क्रोध के काल में राग का आविर्भाव नहीं होता।

भाव यह है—जैसे कि जब कभी चित्राग की सत्ता से आपके मन में चित्तरक्त है यह व्यवहार होता है तथा जब कभी चित्राग के अभाव से चित्त विरक्त है यह व्यवहार होना चाहिए, अतः अतीतादि काल में भी राग आदि चित्त आदि के धर्म हैं धर्मों का त्रिलक्षणत्व सिद्ध है। जो उन्होंने कहा है कि अभाव की प्रतियोगिता मात्र से अतीत आदि व्यवहार होता है यह भी हेय है क्योंकि घट के न होने पर ध्वंस के प्रतियोगिता आदि रूप अतीतत्व की वृत्ति ही नहीं बन सकती, संयोगित्व आदि की भांति प्रतियोगित्व आदि की दो सम्बन्धियों के बिना अनुपपत्ति है, क्योंकि सत् और असत् सम्बन्ध देखा नहीं जाता, अतः ध्वंस और प्रागभाव असिद्ध हैं, घट वर्तमान है। इसकी भांति, घटोऽतीत, घट अतीत हो गया, घट होगा इन प्रतीतियों से घट की अतीत और होने वाली अवस्था विशेष ही सिद्ध है। यदि ऐसा न मानें तो भाव का अभाव भी अतिरिक्त सिद्ध होने लगेगा, इत्यादि दोषों की स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिए। इस प्रकार धर्मों की तीन लक्षण (काल) की स्थापना करके अब उसके सांकर्य का परिहार करते हैं—न चेति—तीनों अनागतादि कालों का एक वस्तु में सम्भव नहीं है किन्तु अपने व्यंजक दण्ड, चाक आदि वस्तु के व्यंजन के समान जिसके उस प्रकार के लक्षण का क्रम से भाव होता है उस वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्ति में सांकर्य नहीं है, स्वरूप से तो सांकर्य इष्ट ही है। अव्यक्त लक्षणों का व्यक्त लक्षणों के साथ विरोध नहीं है, इस विषय में पञ्चशिखाचार्य के वाक्य को प्रमाण देते हैं उक्तं चेति—रूपातिशया वृत्त्यतिशया च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि तु अतिशयैः सह वर्तन्ते। रूप अतिशय और वृत्ति अतिशय आपस में विरोधी हैं। सामान्य तो अतिशयों के साथ रहा करते हैं। धर्म से लेकर अनैश्वर्य तक आठ चित्त के रूप हैं। ज्ञान आदि आश्रय शान्त घोर मूढ चित्त परिणाम वृत्ति हैं, इनका अतिशय अभिव्यक्ति रूप-उत्कटता है। इस वाक्य की व्याख्या गुण वृत्तिविरोधाच्च 'इस सूत्र पर कर दी है।'

उपसंहार करते हैं—तस्मात् इति—असंकर में दृष्टान्त कहते हैं यथेति रागस्यैवेति—धर्मों के तीन लक्षणों के सम्बन्ध में राग का ही यह अर्थ है। क्वचित् विषय में अन्यत्र

विषयान्तर में अभाव है—सामान्याभाव है यह अर्थ है, दार्ष्टान्तिक को कहते हैं तथा लक्षणस्येति—कहीं ननुदाचार है इत्यादि अर्थ है यह लक्षण परिणाम धर्मी का नहीं होता किन्तु धर्मों का ही होता है, इस प्रकार धर्म परिणाम से विशेष कहते हैं—न धर्म इति।

शंका—लक्षण परिणाम लक्षण में है या नहीं ? यदि है तो अनावस्था दोष है। यदि नहीं है अर्थात् लक्षण में लक्षण परिणाम नहीं है तो लक्षण परिणाम में परिणाम लक्षण असम्भव है, क्योंकि पूर्व लक्षण के अतीत होने पर लक्षणान्तर की अभिव्यक्ति को ही लक्षण परिणामत्व है।

समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि बीज और अंकुर की भांति प्रामाणिक होने से यह अनावस्था दोष नहीं है। यदि इसको भी दोष मानें तो धर्म का धर्म उस धर्म का भी धर्म इत्यादि अनवस्था को भी दोष की आपत्ति से धर्म धर्मी भाव आदि भी सिद्ध न होंगे। अधिक तो निर्वितर्क सूत्र पर कह दिया है। इस प्रकार सब धर्मों का सदा ही तीन लक्षणों से सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति तीनों की क्रम से होती है। यह बात सिद्ध हो गई।

शंका—यही हो "लक्षण की अभिव्यक्ति के भी नित्य होने से क्रमिकत्व किस प्रकार होगा। यदि उसमें क्रमिकत्व सम्भव है तो लक्षण क्रमिकत्व ने क्या अपराध किया है जो उसमें क्रमिकत्व नहीं माना।

समाधान—इस विषय में कहते हैं नित्य और अनित्य उभयरूप के कहने से नित्य होने पर भी सब कार्यों में अनित्य रूप से क्रम सम्भव है। लक्षणों का भी क्रम इष्ट ही है। लक्षणाभिव्यक्ति का क्रम तो लक्षण सांकर्य के लिए प्रकृत में प्रदर्शित है। अधिक तो निर्वितर्क समापत्ति सूत्र में हमने कहा है। लक्षण परिणाम की परीक्षा करके अवस्था परिणाम की परीक्षा करने के लिए धर्मगत विभाग को कहते हैं।

ते लक्षिता इति—लक्षिता-व्यक्त वर्तमान अलक्षित, अव्यक्त, अतीत और अनागत-उस उस बाल, यौवन और वार्धक्य आदि अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए अन्योन्य-अन्यत्व से—भेद से बोले जाते हैं। यह बालक है युवा नहीं है इत्यादि रूप से बोले जाते हैं। वह निर्देश अवस्थान्तर से, अवस्था भेद से ही होता है, द्रव्य के भेद से नहीं होता है। सब पूर्व अवस्था के हटने पर अवस्थान्तर की प्राप्ति सिद्ध है। वही अवस्था परिणाम है। यह भाव है। यद्यपि इस प्रकार का अवस्थान्तर परिणाम अनागत और अतीत लक्षणों में भी पूर्व कहा है, तथापि वर्तमान लक्षण के ही अवस्था परिणाम स्फुटतया उपलब्ध होते हैं। इस आशय से वर्तमान लक्षण को आलम्ब करके ही यह उदाहरण दिया है। धर्मी के एक होने पर भी निमित्तभेद से अन्यत्व व्यवहार में दृष्टान्त देते हैं। यथैकेति—जैसे एकत्व की व्यंजक रेखा—अंक विशेष जब दो बिन्दुओं के ऊपर (प्रथम बाई ओर) रहता है तब सौ है एक नहीं ऐसा व्यवहार होता है। इनमें से एक बिन्दु के लोप होने पर यह दश है, सौ नहीं है यह व्यवहार होता है और अवशिष्ट बिन्दु के स्थान में आने पर एकत्व की व्यंजक रेखा देने पर ग्यारह है—दश नहीं यह व्यवहार होता है। दृष्टान्तान्तर कहते हैं। यथाचेति-उच्यते चेति—पुत्र पिता भ्राताओं से जनकत्व आदि निमित्त भेद से व्यवहार होता है।

अवस्था परिणाम में भी बौद्धों के कहे दूषण को कहते हैं। अवस्थेति-अवस्था परिणाम के मानने में धर्म धर्मी लक्षण अवस्था इन चारों को कूटस्थ की आपत्ति है। इसमें हेतु पूछते हैं कथमिति—किस प्रकार से। उत्तर—अध्व के व्यापार से व्यवहित होने से। क्योंकि व्यापार के निमित्त से ही सब वस्तुओं में अनागत आदि अध्वों के अन्योन्य व्यवधान को माना है, और विभाग माना है,भाग रूप से नहीं माना, क्योंकि धर्म और लक्षण को सदा सत्य स्वीकार किया है। अब विभाग के व्यापार-निमित्तक होने का विवरण करते हैं। यदा 'धर्म' इससे लेकर 'तदाध्वतीत' इस तक। धर्म शब्द यहाँ आश्रित वाचक है। न कर्ता है न करेगा आदि और अन्त के अध्वों को व्यापार की निमित्तता व्यापार के अभाव के निमित्त से परम्परा से है। ऐसा होने पर पूर्व धर्म की अतीतता से धर्मान्तर की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार परिणाम लक्षण की अनित्यता अवस्थाओं की भी आपको कहनी होगी विनाश नहीं कह सकते। अवस्थाओं के नित्य होने पर तो कुछ भी अनित्य नहीं होगा। इस भांति तो सभी धर्म धर्मी जगत कूटस्थ होगा। यह दूसरों ने दोष कहा है।

उपसंहार—नित्यत्व मात्र कौटस्थ्य नहीं है किन्तु एकान्त नित्यत्व कौटस्थ्य है इस आशा से पूर्ववत् उक्त दोष का परिहार करते हैं। नासौ दोषा इति-कौटस्थ्य दोष नहीं है। गुण नित्यत्वेऽपीति—धर्मी के नित्य होने पर ही धर्मों के विमर्द—विनाश की कूटस्थ से विचित्रता है, विलक्षणता है, अपरिणाम नित्यता ही कौटस्थ्य है और वह पुरुष के अतिरिक्त दूसरे में नहीं है, यह भाव है। गुणों के नित्य होने पर भी गुणों के विमर्द का उदाहरण देते हैं। यथेति—दृष्टान्त में नहीं किन्तु उदाहरण में है। संस्थानमिति अर्थ के विनाश से अविनाशी शब्द तन्मात्रा आदि के पंचभूतरूप संस्थान धर्म मात्र आदि वाले हैं अतः वे विनाशी हैं। यह अर्थ है एवं इत्यादि की इसी भांति व्याख्या करनी चाहिए, लिंग महत्तत्त्व का नाम है। इसी भांति अहंकार आदि और घट आदि भी अपने विनाश से अविनाशी कारणों के धर्म मात्र और विनाशी हैं यह बात जाननी चाहिए। वह ही यह श्रुति ने कहा है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति' वाचारम्भण—प्रथम मात्र विकार नाममात्र है, मृत्तिका है इतना ही सत्य है। सत्य यहां विकार की अपेक्षा स्थिर का नाम है। उस धर्म में ही विकार संज्ञा या परिणाम संज्ञा है। अतः धर्मियों में परिणामी होने से कौटस्थ्य नहीं है और भलीभांति तो धर्म लक्षण और अवस्थाओं को कौटस्थ्य नहीं है। तीनों परिणामों की विस्तार से परीक्षा कर दी अब भूत और इन्द्रियों में तीनों परिणामों को क्रम से दिखलाते हैं उसमें यह उदाहरण हैं धर्मत इति—धर्म से परिणामित होते हैं। धर्म परिणाम के स्वरूप को दर्शाते हैं घटाकार इति—परिणाम घटाकार है। नव पुराणतामिति—नवीनता के अनन्तर पुराणता को प्राप्त होता हुआ सब ही धर्म आदिकों के अनन्यत्व से अविशेष होने पर भी गोवलीवर्द-न्याय से ही इनका तांत्रिक भेदनिर्देश है यह कहते हैं—धर्मियों के भी—लक्षण की पुराणत्व आदि अवस्था प्राप्त होने से ही नहीं कही हैं। एक एवेति—एक अवस्थामात्र ही परिणाम है यह अर्थ है इस भांति अवस्था और लक्षण के भी धर्म होने से धर्म परिणाम भी गोवलीवर्द-न्याय से ही जानने चाहिए। इसी भांति पदार्थान्तर में भी जानना चाहिए

भूतान्तर में इन्द्रियों में, पर प्रत्यय आदि में—यह अर्थ है। जिसकी विशेषता को जो पूर्वोक्त ही परिणामों में स्मरण कराते हैं। ॥ एते इति—तीनों ही परिणाम धर्मी के स्वरूप का अतिक्रमण न करते हुए धर्मी में ही अनुगत हैं, अतः धर्म धर्मी के अभेद से एक धर्म परिणाम मात्र ही है। सामान्य से धर्मी होता है वही सब परिणामों को प्राप्त करता है। सूत्रस्थ परिणाम शब्द की प्रश्नपूर्वक व्याख्या करते हैं, अथकोयं परिणाम इति—यह परिणाम कौन है क्या है? उत्तर—अवस्थितस्येति— संस्कारों में भी परिणाम कहा है। अतः द्रव्यस्येति—धर्मी का यह अर्थ है। धर्म शब्द आश्रित मात्र का वाचक है। निवृत्ति अतीतता है और उत्पत्ति वर्तमानता है।

शंका—धर्म से अतिरिक्त धर्मी का अनुभव नहीं होता जिसमें कि धर्म आदि परिणाम हैं। इस शंका पर धर्म से विवेचन करके धर्मी का प्रतिपादन सूत्रकार करेंगे ॥१३॥

संगति—ऊपर बतलाये हुए तीनों परिणाम जिसके धर्म हैं उस धर्मी का स्वरूप निरूपण करते हैं :—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—(तत्र = उन परिणामों के)। शान्त = अतीत। उदित = वर्तमान। अव्यपदेश्य = भविष्यत्। धर्मानुपाती = धर्म में रहनेवाला। धर्मी = धर्मी है।

अन्वयार्थ—(उन परिणामों के) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मों में अनुगत धर्मी है।

व्याख्या—सूत्र को तत्र शब्द से पूरा करके पढ़ें। (व्यासभाष्य) ऊपर उदाहरण देकर समझा आए हैं कि मिट्टी-द्रव्य धर्मी है और मिट्टी के गले बर्तन और बर्तन के टुकड़े आदि भिन्न-भिन्न आकार जो हो चुके हैं और जो होंगे, उसके धर्म हैं। अर्थात् धर्म धर्मी के विशेष रूप आकार हैं, और धर्मी सामान्यरूप द्रव्य है जो सारे आकारों में अनुगत है। द्रव्य के दो रूप हैं सामान्य और विशेष। विशेष धर्म है और सामान्य धर्मी है। विशेष भी अपने अगले विशेष के प्रति धर्म बन जाता है।

शान्त—इसमें शान्त वे धर्म हैं जो अपना-अपना व्यापार करके अतीत (भूत) मार्ग (काल, में चले गये। जैसे बर्तन टूटकर (घट) टूटकर मिट्टी में मिलने पर वर्तमान धर्म से अतीत धर्म में चला गया।

उदित—उदित वे धर्म हैं जो अनागत मार्ग (काल) को त्यागकर वर्तमान मार्ग (काल) में अपना व्यापार कर रहे हैं। जैसे घट (बर्तन) के आकार, मिट्टी के धर्म, जो उसमें छिपे हुए थे, अब उसको छोड़कर वर्तमान धर्म में आगए।

अव्यपदेश्य—जो अनागत या भविष्यत् में शक्तिरूप से रह रहे हैं और जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता है अर्थात् जो शक्तिरूप से स्थित हुए व्यवहार में न लाए जा सकें और बतलाने में न आ सकें। जैसे घट (बर्तन) के आकार मिट्टी धर्मी में प्रकट होने से पहिले छिपे रहते हैं जो वर्णन में नहीं आ सकते। इस प्रकार नियम से कार्य-कारणरूप योग्यता से युक्त शक्ति ही धर्म पदार्थ है, उस शक्तिरूप धर्म के उक्त तीन भेद हैं। उन तीनों

मे जो अन्वयी रूप से रहनेवाली मिट्टी है वह धर्मी है अर्थात् जो मिट्टी के विशेष रूप, आकार आदि हैं वह उसके धर्म हैं; और सामान्यरूप से मिट्टी द्रव्य जो उन सब में अनुगत है वह धर्मी है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि धर्मी का धर्मों तथा धर्म का धर्म से परस्पर भेद प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः इनमें अभेद है। धर्मों की वर्तमान अवस्था का प्रत्यक्ष और भूतावस्था का स्मरण होता है पर उनकी अनागतावस्था अनुमेय होती है। यदि धर्मी मृत्तिकादि में अनागत धर्म घटादि न हो तो "मृत्तिका में ही घट होता है, तन्तुओं में ही पट होता है" यह नियम नहीं बन सकता। इससे सिद्ध है कि मृत्तिका आदि धर्मी में घटादि अनागत धर्म रहते हैं। अनागतावस्था नैयायिक का प्रागभाव और अतीतावस्था उनका प्रध्वंसाभाव है। वर्तमानावस्था की कारण अनागतावस्था है। अनागत धर्म तो वर्तमान मार्ग में आते हैं और वर्तमान धर्म अतीत मार्ग में चले जाते हैं परन्तु अतीत धर्म वर्तमान में नहीं आते, क्योंकि वर्तमान के कारण अतीत धर्म नहीं हैं बल्कि अनागत धर्म हैं। इसलिये जो घट चूर्ण होकर मिट्टी में मिलकर अतीत मार्ग में चला गया वह फिर वर्तमान मार्ग में नहीं आयेगा। क्योंकि स्वकारण मिट्टी में लीन हो जाने से सूक्ष्मता को प्राप्त होकर वह दर्शन के अयोग्य हो गया है। इसलिये उपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं बन सकता (किन्तु पूर्व अननुभूत अतीत लोकों आदि को स्वदेह से देखा था इत्यादि सिद्ध योगियों के वाक्य हैं। क्योंकि योगियों के इस प्रत्यक्ष में विषय और उस अतीत विषय का सन्निकर्ष कारण है।) उसके सदृश अन्य घट अवश्य आ सकते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि न्याय, वैशेषिकादि दर्शनों में गुण-गुणी को प्रायः धर्म और धर्मी कहा गया है। परन्तु योगदर्शन में धर्म और धर्मी शब्द कार्य और उपादान कारण के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

इस उपादान कारणरूप धर्मी में उसके कार्य अव्यपदेश्य (अनागत) धर्म शक्तिमात्र अव्यक्त रूप से छिपे रहते हैं उनको अव्यपदेश्य (अनागत) से उदित (वर्तमान) धर्म में व्यक्तरूप से प्रकट करने और फिर उदित धर्म से शान्त (अतीत) धर्म में अव्यक्त रूप से छिपाने में चेतन पुरुष (ईश्वर तथा जीव) देश, काल और संयोग विशेषादि निमित्त कारण होते हैं। अपने-अपने निमित्तों के मिलने से धर्मी के धर्म प्रकट होते हैं।

टिप्पणी—व्यास भाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

योग्यतावच्छिन्न धर्मी की शक्ति ही धर्म है। उस शक्ति (धर्म) की सत्ता फल की उत्पत्ति के भेद से अनुमान की जाती है और वह शक्ति (धर्म) एक की अन्योन्य देखी जाती है।

उनमें वर्तमान स्वव्यापार का अनुभव करता हुआ धर्म धर्मान्तर जो शान्त और अव्यपदेश्य उनसे भेदित होता है, जब सामान्य से समन्वागत होता है, तब धर्मी स्वरूपमात्र होने से कौन किससे भेदित होवे, उस धर्मी में तीन धर्म हैं;—शान्त, उदित और अव्यपदेश्य, उनमें से वे शान्त हैं जो अपना व्यापार कर के उपरत हो गये हैं, सव्यापार उदित हैं, और वे अनागत लक्षण के समनन्तर होते हैं, वर्तमान के अनन्तर अतीत होते हैं, अतीत के

अनन्तर वर्तमान नहीं हुआ करते, क्योंकि उन अतीत और वर्तमान में पूर्व पश्चिमता का अभाव है, जैसी अनागत और वर्तमान की पूर्व पश्चिमता है वैसी अतीत और वर्तमान की पूर्व पश्चिमता नहीं है, इसलिये अतीत की समनन्तरता नहीं है, वह अनागत ही वर्तमान के समनन्तर है।

अथ अव्यपदेश कौन हैं ? "सर्व सर्वात्मकं" अव्यपदेश हैं जिसके विषय में कहा है कि जल और भूमि का पारिणामिक रसादि का वैश्वरूप्य स्थावरों (वृक्षादि) में देखा है, तथा स्थावरों का वैश्वरूप्य जंगमों में देखा जाता है और जंगमों का स्थावरों में देखा जाता है। इस प्रकार जाति के अनुच्छेद से सर्व सर्वात्मक हैं। देश काल आकार निमित्त का सम्बन्ध न होने से, समान काल में आत्माओं (स्वरूपों) की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो इन अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त धर्मों में अनुपाती सामान्य विशेष आत्मा (स्वरूप) है वह अन्वयी धर्मी है। जिसके मत में यह प्रपञ्च धर्ममात्र निरन्वय है, उसके मत में भोग का अभाव है क्योंकि अन्य विज्ञान से किये कर्म का अन्य भोक्ता कैसे होगा ? और अन्य के अनुभव की स्मृति का अभाव होगा, क्योंकि लोक में अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता है, वस्तु के प्रत्यभिज्ञान से (यह वही है जो पूर्व देखा था इससे) अन्वयी धर्मी स्थित है जो धर्म के अन्यथात्व को प्राप्त होकर भी वही प्रतीत होता है, इसलिये यह प्रपञ्च धर्ममात्र निरन्वय नहीं है (इसमें अन्वयी धर्मी अवयवी विद्यमान है) ॥ १४ ॥

विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

'इस सूत्र को तत्र शब्द से पूरा करके पढ़ते हैं उन परिणामों के शान्तोदिता व्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी—अतीत, वर्तमान, अनागत धर्मों में अनुपाती वर्तमान रूप से अनुगत धर्मी होता है, यहाँ अव्यपदेश विशेषण धर्म और धर्मी के विवेक प्रदर्शन के लिये है। तथा च वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वैधर्म्य से धर्मी और धर्म का विवेक है, यह भाव है।

धर्मशब्दार्थ की व्याख्या करते हैं। योग्यता से अवच्छिन्न धर्मी की शक्ति ही धर्म है, योग्यतावच्छिन्ना यह विशेषण द्रव्यशक्ति के संग्रहार्थ दिया है, वर्तमानता का अर्थ स्वरूप की योग्यता है उससे अतीतादि साधारण्य का भी लाभ होता है, वर्तमान आदि विशेष व्यवच्छेदार्थ एवकार का प्रयोग है।

शक्तित्व यहाँ अनागन्तुकत्व है (स्वाभाविकी है) तथा च अग्नि के दाहशक्तिवद्धर्म भी धर्मी में यावद्द्रव्य भावी है, शक्तिमान् से शक्ति का वियोग नहीं हुआ करता, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् का अभेद सम्बन्ध है। धर्म शब्द के अर्थ को कह कर उसके शान्त उदित के उपपादन के लिये अनभिव्यक्ति दशा में भी उनकी सत्ता को सिद्ध करते हैं, स चेति—और वह धर्म शक्तिरूप फल की उत्पत्ति से उस समय अनुमित है, अव्यक्त अवस्था में विद्यमान है, आकस्मिक मानने में मिट्टी से ही घट की उत्पत्ति और तन्तु से ही पट की उत्पत्ति इत्यादि भेद फल की उत्पत्ति में न होने चाहिये अतः अनादि कहना होगा; जब अनादि कहेंगे तो अनन्तता भी माननी पड़ेगी (क्योंकि भाव वस्तु अनादि होने पर अनन्त होती है यह नियम देखा जाता है)।

एकत्व और अनेकत्व के वैधर्म्य से भी धर्म धर्मी के विवेक के लिये कहते हैं एकस्येति—वे धर्म एक धर्मी के अनेक भी देखे गये हैं। सूत्र के तात्पर्य के विषय धर्म से धर्मी के विवेक का प्रतिपादन करके पहिले धर्मों के ही अन्योन्य का प्रतिपादन करते हैं तत्रेति—उन धर्मों के मध्य में वर्तमान धर्म वर्तमानातिरिक्त धर्मान्तरों से, शान्त और अव्यपदेश्यों से भेदित है, विवेचित है, भिन्न है क्योंकि उनसे इसका वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वैधर्म्य है,। वर्तमान का विवरण है स्वव्यापारमनुभवन्—अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ।

शंका—तो क्या इस प्रकार धर्मों के एक का दूसरे से अत्यन्त भेद है? भेद अभेद नहीं है?

समाधान—न इत्याह—नहीं—जब तो शान्त और अव्यपदेश्य अवस्था में धर्म सामान्यता से अभिव्यक्तिविशेष के बिना धर्मी में अनुगत होता है, विलीन होता है तब धर्मिस्वरूपमात्रतया अवस्थित होने से धर्मी से विभागरहित होने से कौन वह धर्म किस व्यापार से भेदित हो, भिन्न हो,। अयोगी उसका विवेचन कैसे करें, क्योंकि धर्म वा धर्म का लक्षण उपलब्ध नहीं है, अतः उस समय अविभागरूप अभेद भी होता है। इससे भाष्यकार ने वेदान्तोक्त ब्रह्माद्वैत भी प्रायः व्याख्यात कर दिया है प्रलय में सब वस्तुओं के परमात्मा में ही अविभाग होने से जैसा कि आकाश में बादलों का लय होता है, तथा च श्रुतिः 'स यथा' सर्वासामपां समुद्र एकायनमित्यादिना" वह जैसे कि सब जलों का समुद्र एक स्थान है इत्यादि से समष्टि जीव के प्रलय को दिखा कर आत्माद्वैत को कहता है "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदेतर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदिति" जब द्वैतवत् होता है तब एक दूसरे को देखता है जब तो इसका सर्व आत्मा ही हो गया है तब कौन किसको देखे। अब शान्त, उदित और अव्यपदेश्य शब्दों के अर्थ की व्याख्या करते हैं तत्र त्रय इति—वहाँ धर्मी के तीन धर्म होते हैं शान्त, उदित और अव्यपदेश्य। वे शान्त हैं जो व्यापारों को कर के उपरत हो गये हैं। जो व्यापार कर रहे हैं वे उदित हैं। उसकी व्याख्या करके उसके पाठ के क्रम से क्रम के भ्रम को दूर करने के लिये कहते हैं, ते चेति—वे उदित अनागत लक्षण के समनन्तर होते हैं। इस प्रकार वक्ष्यमाण अव्यपदेश्य में भी पाठ क्रम का आदर नहीं करना चाहिये। यह कहते हैं कि वर्तमान के अनन्तर अतीत यह पाठ क्रम क्यों त्याग दिया इस आशय से पूछते हैं—अतीत के अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते, उत्तर देते हैं—पूर्वपश्चिमता के अभाव से पूर्व पश्चिम के द्वारा, उसी का विवरण करते हैं—जैसी अनागत और वर्तमान की पूर्व पश्चिमता है वैसी अतीत की वर्तमान के साथ नहीं है, तथा च अनागत अवस्था को जो कि प्रागभाव स्थानीय है वर्तमान अवस्था में हेतुता है अतः अतीत अवस्था के अनन्तर वर्तमान अवस्था नहीं होती है। उदित और अव्यपदेश्य के पाठक्रम के त्याग में भी यही ही बीज है, (यह ही कारण है)। उपसहार करते हैं तस्मादिति—अतीत का समनन्तर नहीं है—पश्चिम लक्षण भेद नहीं है, सत्त्वतः अनागत ही वर्तमान के समनन्तर है,। पूर्व है, इससे सत्कार्यवाद में भी पूर्व अभिव्यक्त घटादि फिर उत्पन्न नहीं होवें, यह सिद्धान्त याद रखना चाहिये।

शंका—क्यों जी! अनागत और वर्तमान के कार्य कारण भाव सम्बन्ध में ही क्या प्रमाण हैं?

समाधान—यदि अतीत की पुनः वर्तमानता हो तो अनिर्मोक्ष होगा। विनष्टान्तःकरणाविद्याकर्मादि का पुनःउद्भव होने में मुक्तको भी फिर संसारी होना सम्भव हो जायेगा? किंच यदि अतीत घट भी पुनः वर्तमान हो जाय तब वह ही यह घट है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कभी होनी चाहिये? (परन्तु होती नहीं) अतः योग्य की अनुपलब्धि से अतीत वस्तु का अनुन्मज्जन निर्णय होता है। यहाँ अनागत और अतीत अवस्थाओं के प्रागभाव और प्रध्वंस रूपों के कार्य के उत्पादक और अनुत्पादक वैधर्म्यवचन में अव्यक्त अवस्था के ही अवान्तर भेद अनागत और अतीत हैं और ये परस्पर विलक्षण हैं यह मानना चाहिये।

शंका—यदि यह बात है तो अतीत के पुनः अनुत्पाद से अतीत की कल्पना ही व्यर्थ है?

समाधान—नहीं कह सकते, अतीत लोकों को स्वदेह में देखता था इत्यादि सिद्ध योगियों के सैकड़ों वाक्यों की अनुपपत्ति से उस अतीत की सिद्धि होती है क्योंकि योगियों के इस प्रत्यक्ष में विषय और उस अतीत विषय का सन्निकर्ष कारण है। यह भी नहीं कह सकते कि अतीत अर्थ का वह स्मरणमात्र है, क्योंकि योगी को पूर्व अनुभूत का भी दर्शन होता है। जो योगज धर्म का भी सन्निकर्ष चाहते हैं उनके मत में भी असत् पदार्थ के सन्निकर्ष की अनुपपत्ति होगी। प्रत्यक्ष के प्रति अनेक सन्निकर्ष के अनुगम से हेतुता के ग्रह की अनुपपत्ति होगी। ज्ञान आदिकों के विषयता आदि रूप सम्बन्ध भी असत् में सम्भव नहीं है, क्योंकि सतों का ही सम्बन्ध देखा जाता है, प्रत्यक्ष आदि में संयोग आदि ही प्रत्यासत्ति होती है, योगज धर्म से तो अधर्म—तम आदि प्रतिबन्धमात्रकी निवृत्ति होती है।

शान्त और उदित की व्याख्या कर के अब अव्यपदेश्य की व्याख्या करने के लिये पूछते हैं अथाव्यपदेश्याः के इति—अव्यपदेश्य कौन हैं? जो व्यापार करेंगे वे अव्यपदेश्य हैं यह तो कह नहीं सकते क्योंकि अकरिष्यमाण व्यापार (जो व्यापार नहीं करेंगी) भी केवल अनागत लक्षण वस्तुओं को (योग सिद्धान्त में) स्वीकार किया है, अतः प्रकारान्तर से अव्यपदेश्य का लक्षण करते हैं सर्वं सर्वात्मकमिति। सर्व सर्वात्मक हैं, सर्वात्मक, सर्वशक्तिक, सब शक्ति धर्म वाले हैं, तथा च सर्वत्र परिणामी में अवस्थित सर्वविकार-जनन-शक्ति ही अव्यपदेश्य है।

शंका—वर्तमान और अतीत अवस्थाओं में तो अनुभव और स्मरण प्रमाण हैं। शक्ति नाम की अनागत अवस्था में क्या प्रमाण है? और सर्वत्र सर्वशक्तिमत्त्व में क्या प्रमाण है?

समाधान—यत्रोक्तमिति—अभिव्यक्तिरित्यन्तेन अन्वय है, जिस सर्वत्र सर्व शक्तिमत्त्व में पूर्वाचार्यों ने यह वक्ष्यमाण प्रमाण कहा है, पहिले प्रत्यक्षस्थल में शक्ति का अनुमान कराते हैं—जलभूम्योरिति—जल और भूमि का पारिणामिक रसादि वैश्वरूप्य रस आदि से स्थावर आदि में देखा जाता है, मधुर-अम्ल-सुरभि-असुरभि-मृदु-कठिन आदि से जो अनन्तरूपत्व है वह जल और पृथिवी के परिणाम के निमित्त से है। इस अन्वय और व्यतिरेक से प्रत्यक्ष देखा जाता है, अतः जल और भूमि स्थावरात्मक हैं, स्थावर शक्ति वाले हैं। शक्ति के बिना भी कार्य करना मानने में अतिप्रसंग होगा, तथा जंगमों में जो वैश्वरूप्य

है वह स्थावरों के परिणाम के निमित्त से देखा जाता है। मनुष्य आदि के विषय में धान्य आदि स्थावर के कार्यों का धान्य आदि विशेषों के सेवन से रूपादि विशेष देखा जाता है, तथा स्थावरों का जो वैश्वरूप्य है वह जंगमों के परिणाम के निमित्त से देखा जाता है। गोबर दुग्धादि से धान्य चम्पक आदि स्थावरों के विचित्र रूप रस आदि देखे जाते हैं, इत्यादि दृष्टान्तों से सब वस्तुओं में सब विकारों के जनन की शक्ति सिद्ध होती है, यह कहते हैं। इत्येवमिति—जैसे जलादि स्थावरात्मक हैं ऐसे ही अन्य भी सर्वविकारात्मक, सब शक्ति वाले हैं।

शंका—अतीत कार्य में भावी वस्तु उत्पादन की शक्ति नहीं है।

समाधान—जाति के अनुच्छेद से—यद्यपि अतीत कार्य व्यक्ति उच्छिन्न हो चुकी है तथापि उसकी जाति की अन्य व्यक्ति उच्छिन्न नहीं है उनमें शक्ति है, तथा च सर्वात्मकत्व सर्वजातीयशक्तिमत्व यहाँ विवक्षित है। यह भाव है, इससे अन्य द्रव्य की परिणाम व्यक्तियों के अन्यत्र अभाव होने पर भी नियम का भंग नहीं होता है, क्योंकि उसकी जाति वाली अन्य व्यक्तियों में जनन शक्ति का होना सम्भव है। यह बात विष्णुपुराण में कही है—

यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुतः।
आदिबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः॥
सम्भवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः।
तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने!॥
एवमव्याकृतात्पूर्वं जायन्ते महदादयः।
सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यश्चाखिलजन्तवः॥

जैसे वृक्ष मूल-स्कन्ध और शाखादि से युक्त आदि बीज से उत्पन्न होता है और उससे दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं फिर उन बीजों से दूसरे वृक्ष उत्पन्न होते हैं, हे मुने! वे वृक्ष भी तल्लक्षणद्रव्यकारण के अनुगत ही होते हैं, इसी भाँति पहिले अव्यक्त से महत् आदि उत्पन्न होते हैं, उस महद् से सुर तथा सुरों से अखिल प्राणी उत्पन्न होते हैं॥

यदि सर्वत्र सर्वजातीय वस्तुओं के जनन की शक्ति न मानी जाय तब एक ही ब्रह्मा से अखिल देव दानव नर पशु आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं—अगस्त के जठर (जाठराग्नि) से समुद्र का शोषण कैसे हो सकता है? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वती के शरीर आदि में विश्व का दर्शन कैसे हो सकता है? योगियों के अपने शरीर और मन से अनन्त विभूति कैसे उत्पन्न हो सकती है? बहुत कहने से क्या लाभ—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुमको ज्ञान का उपदेश देंगे जिस ज्ञान से अशेषतया इन भूतों को मेरे अन्दर देखोगे। सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तात्मा सर्वभूतस्थ आत्मा को और सर्व भूतों को आत्मा में देखता है। इत्यादि वाक्यों से सर्व प्राणियों के शरीरों में सर्व जातीय वस्तु की सत्ता का वचन शक्ति रूपता के बिना आसानी से ठीक-ठीक उपपन्न नहीं हो सकता। अर्जुन आदि ने शक्ति रूप से अवस्थित भावी भीष्मवध आदिक ही कालात्मक कृष्ण के शरीर में दिव्य चक्षु से देखे थे, जैसे कि योगी अतीत और अनागत को देखता है। इससे 'स इदं सर्वं भवति, तस्मात् सर्वमभवत्' वह यह सब हो जाता है, इससे वह सब हो गया था, इत्यादि श्रुति से ब्रह्मवित् की सर्वभावरूपा श्रुत्युक्त सिद्धि भी उपपन्न हो जाती है।

तथा—जीवोपाधि में जो महैश्वर्य शक्तिमान् होने से जीवों के ईश्वरत्व की प्रतिपादक श्रुति और स्मृति हैं वे भी उपपन्न हो जाती हैं। वैसे ही 'वे ये सत्य हैं, अनृत से ढके हैं' यह श्रुति भी माननी चाहिये।

शंका—इस प्रकार सर्वत्र सर्व शक्ति मानने में नाना विकारों की एक साथ उत्पत्ति क्यों नहीं होती? और पत्थर के टुकड़े से भी अंकुर उत्पन्न क्यों नहीं होता! हम लोगों के शरीरों से ब्रह्मा की भाँति संकल्पमात्र से अखिल प्राणियों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—देशकालेति—देश भूलोक आदि काल-कलयुग आदि, संस्थान—अवयवों का संयोग विशेष, निमित्त अधर्मादि के प्रतिबन्धक होने से, (हमारे शरीरों से सर्व प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती)। एक काल में विरुद्ध आत्मशक्ति रूपों की अभिव्यक्ति। वर्तमान लक्षण परिणाम भी नहीं होता है। इस प्रतिबन्ध वचन से अन्य शंकाओं का भी परिहार हो गया। सहकारी के अभाव से ये सब नहीं होते हैं ऐसा भी कोई परिहार करते हैं। उसका भी प्रतिबन्धनिमित्तक विलम्ब में ही तात्पर्य्य है, 'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवद्' इस आगामी सूत्र में सब निमित्त कारणों की स्वतन्त्र प्रकृति के परिणामों प्रतिबन्ध के निवर्तकतामात्र ही मानी है, अतः पत्थर के टुकड़े से अंकुर उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अवयव संयोगविशेष अंकुर की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक हैं। हमारे शरीर से विश्व की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उसमें अधर्म प्रतिबन्धक है। ब्रह्माण्डादि की शक्ति वाले घट आदि ब्रह्माण्ड आदि के उत्पादन के बिना ही नष्ट होते देखे गये हैं वह शक्ति उत्पन्न होकर घटादि के साथ ही नष्ट होजाती है, क्योंकि उसके आधार घट का नाश हो चुका है। कभी नहुष, शरीर आदि के सर्पादिभाव की भांति परमेश्वर आदि के संकल्प से घट आदि के भी प्रकृत्यापूरवश से अवयवों में स्थित अखिल परिणाम होते ही हैं। जैसा कि लौकिक लोगों ने भी कहा है—,

विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छयेति ॥

विष भी कहीं अमृत हो जाता है और ईश्वर की इच्छा से कहीं अमृत भी विष बन जाता है। इससे तथा ज्ञान के द्वारा पुरुषार्थ की समाप्ति से चित्त के अत्यन्त विलय के काल में अनागत शक्तिरूप दुःख भी चित्त के साथ ही नष्ट हो जाता है अतः 'हेयं दुःखमनागतम्' इस सूत्रोक्त अनागत दुःख की हेयता भी उपपन्न हो जाती है, ऐसा होने पर विकारों का कहीं लक्षणमात्र भी होता है वह अनागत अतीतता रूप कहना चाहिये। अन्यथा अनागत दुःख की हेयता नहीं बन सकेगी; दूसरों के मत में अनागत दुःख का ज्ञान सिद्ध ही होने से पुरुषार्थ ही नहीं है, और इसमें अनागत दुःख अभावितया नहीं घटेगा। पदार्थों की व्याख्या करके समग्र सूत्रार्थ को कहते हैं—

य एतेषु—जो इनमें अन्वयी-सर्वधर्मों में अन्वयी-स्थिर है (वह अन्वयी धर्मी है) तथा च अभिव्यक्त अनभिव्यक्तत्व वैधर्म्य से धर्म और धर्मी का विवेक-भेद ज्ञान होता है यह सूत्र का तात्पर्यार्थ है। इस भांति अन्योऽन्य वैधर्म्य से धर्मों से अतिरिक्त होने से धर्मी को सिद्ध किया है। अब उसके न मानने में भाष्यकार बाधक भी कहते हैं। यस्य तु-जिनके मत में धर्ममात्र ही यह सब है और निरन्वय हैं उसके मत म भोग नहीं बन सकता, धर्म मात्र कहने से क्षणिकत्व भी आ जाता है। अनेक क्षण स्थायी होने पर ही क्षण सम्बन्धरूप धर्मवत्व ही पदार्थमात्र होगा ? धर्ममात्र का विवरण है—निरन्वय-निर्धर्मिक (धर्मी रहित धर्म)। धर्मी के निराकरण से आत्मा क्षणिक विज्ञान है यह भी आजाता है, तब तो प्रथम पाद में कहे ही दूषण हैं—तस्य भोगाभावः— (भोग का सिद्ध न होना)। शेष सुगम है॥ १४॥

संगति—एक धर्मी के अनेक परिणाम (धर्म) किस प्रकार हो सकते हैं। इस शङ्का के निवारणार्थ अगला सूत्र है :—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

शब्दार्थ—क्रम-अन्यत्वम् = क्रम का भेद। परिणाम-अन्यत्वे = परिणाम के भेद में। हेतुः = हेतु है।

अन्वयार्थ—क्रमों का भेद परिणाम के भेद मे हेतु है।

व्याख्या—एक क्रम से एक परिणाम होता है। एक धर्म में अनेक प्रकार के क्रम होते हैं। जितने प्रकार के क्रम होते हैं उतने ही उनके परिणाम होते हैं। पिछले उदाहरण के अनुसार मिट्टी के चूर्ण से पिण्ड, पिण्ड से वर्तन बनना, वर्तन टूटकर कपाल होना, कपाल से ठीकरे होना, ठीकरे से चूर्ण। यह सब क्रम हैं। इन्हीं क्रमों के भेद से इनके परिणाम-भेद होते हैं। जो जिस धर्म के पीछे होता है वह उसका क्रम है। जैसे पिण्ड नष्ट होकर वर्तन का उत्पन्न होना। इस प्रकार के क्रम से धर्म-परिणाम होता है। इसी प्रकार लक्षण-परिणाम भी क्रम से होता है, जैसे वर्तन के अनागत भाव का वर्तमान मार्ग (भाव) में आना एक क्रम है। इससे वर्तमान लक्षण-परिणाम होता है। पिण्ड के वर्तमान भाव से अतीत भाव मे आना भी एक क्रम है। इससे अतीत-लक्षण-परिणाम होता है। अतीत

का वर्तमान में कोई क्रम नहीं होता। जैसे पूर्व सूत्र में बतला चुके हैं। इसी प्रकार वर्त्तन के पकने से लेकर चूर्ण होने तक भी जो क्रम प्रतिक्षण होता रहता है उससे अवस्था-परिणाम होता रहता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्म और लक्षण-परिणाम तो कभी-कभी होते हैं पर अवस्था-परिणाम प्रतिक्षण सूक्ष्मरूप से होता रहता है और स्थूल भाव को प्राप्त होकर प्रकट होता है। इसी परिणाम के कारण जो चावल आदि सुरक्षित कुठारियों में रखे गये हैं, बहुत वर्षों के पश्चात् ऐसी दशा में हो जाते हैं कि हाथ लगाने से चूर्ण हो जाते हैं। ऐसी दशा उनकी अकस्मात् नहीं हुई, किन्तु क्षण-क्षण में क्रम-क्रम से होती रही है। इसलिये अवस्था-परिणामों के क्रम यद्यपि प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते तथापि अनुमान से जाने जाते हैं। इस प्रकार क्रमों के भेदरूप हेतु से एकधर्मी के अनेक धर्म-परिणामों का; और धर्मों के तीन प्रकार के लक्षण-परिणामों का; और वर्तमान धर्मों के क्षण-क्षण में होने वाले असंख्यात अवस्था-परिणामों का निश्चय होता है।

यद्यपि वास्तव में धर्म, धर्मी-स्वरूप, ही होता है, तथापि धर्म-धर्मी के किञ्चित् भेद की अपेक्षा से यह तीन प्रकार के क्रमों का भेद कहा है अर्थात् पृथ्वी आदि विकारों से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त यह सब धर्म-धर्मी भाव अपेक्षित हैं। वास्तव में यह नियम नहीं है कि यह धर्म है और यह धर्मी है, क्योंकि घटादिकों की अपेक्षा से जो मृत्तिका धर्मी है वह मृत्तिका भी गन्ध-तन्मात्रा का धर्म है। गन्ध-तन्मात्रा जो मृत्तिका की अपेक्षा से धर्मी है, अहङ्कार का धर्म है। अहङ्कार भी जो गन्ध-तन्मात्रा की अपेक्षा से धर्मी है, महत्तत्त्व का धर्म है; और महत्तत्त्व भी जो अहङ्कार की अपेक्षा से धर्मी है प्रधान (मूल प्रकृति) का धर्म है। इस प्रकार महत्तत्त्व पर्यन्त धर्म-धर्मी भाव सापेक्ष है, नियत नहीं है। वास्तव में निरपेक्ष तो मुख्य धर्मी प्रधान ही है जो किसी का धर्म नहीं है। उस धर्मी के ही यह सब परिणाम हैं। ये किञ्चित् भेद को लेकर तीन प्रकार के कहे गए हैं। वास्तव में यह एक धर्मी के ही धर्म-परिणाम का विस्तार है। यह प्रधान धर्मी ही परिणामी नित्य है।

जिस प्रकार बाह्य पदार्थों के अनेक धर्म-परिणाम हैं, इसी प्रकार चित्त में भी अनेक प्रकार के धर्म-परिणाम हैं। चित्त के धर्म दो प्रकार के हैं: एक परिदृष्ट अर्थात् अपरोक्ष (प्रत्यक्षरूप), दूसरा अपरिदृष्ट अर्थात् परोक्ष (अप्रत्यक्षरूप)। प्रमाणादि (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, राग, द्वेषादि) चित्त की वृत्तियें प्रत्यक्षरूप हैं; और निरोधादि चित्त के धर्म परोक्ष (अप्रत्यक्ष) रूप हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष से नहीं जाने जाते, शास्त्र अथवा अनुमान द्वारा ही उनका ज्ञान होता है। वे अपरिदृष्ट सात हैं, जैसा श्री भगवान् व्यासजी ने निम्न श्लोक में बतलाया है :—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

अर्थ—निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति चित्त के दर्शन वर्जित (परोक्ष) धर्म हैं अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप हैं।

(१) असम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था में सब वृत्तियों का निरोध, "संस्कारशेष" आगमगम्य है अर्थात् केवल योगशास्त्र से जाना जाता है और अनुमानगम्य है क्योंकि सर्व वृत्तियों के अभाव से अनुमान किया जाता है।

(२) चित्त के धर्म पुण्य-पाप केवल सुखदर्शन और दुःखदर्शन आदि से अनुमेय और आगमगम्य हैं।

(३) चित्त का संस्काररूप धर्म स्मृति द्वारा अनुमान किये जाने के कारण अनुमेय है।

(४) चित्त का क्षण-क्षण में होनेवाला परिणाम अतिसूक्ष्म होने के कारण अनुमेय है।

(५) चित्त का जीवनरूप धर्म श्वास-प्रश्वास द्वारा अनुमेय है।

(६) चित्त की चेष्टा (क्रिया) इन्द्रियों तथा शरीर के अङ्गों की चेष्टा से अनुमेय है। क्योंकि इनकी चेष्टा, विना चित्त के संयोग के, नहीं हो सकती और संयोग विना चित्त की चेष्टा के नहीं हो सकता।

(७) चित्त में जो कार्यों की सूक्ष्मावस्थारूप शक्ति है वह भी स्थूल कार्य के ज्ञान से अनुमेय है अर्थात् स्थूल राग-द्वेषादि को देखकर सूक्ष्म राग-द्वेषादि अनुमान किया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त सातों चित्त के धर्म अप्रत्यक्षरूप हैं।

संगति—अब यहाँ से पाद की समाप्ति तक संयम का विषय और संयम की विभूतियाँ दिखलायेंगे। उनमें से पहिले तीनों परिणामों में संयम और उसकी सिद्धि बतलाते हैं :—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-त्रय संयमात् = तीनों परिणामों में संयम करने से। अतीत-अनागत-ज्ञानम् = भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है।

व्याख्या—पिछले सूत्र मे बतलाया गया है कि क्रमों से परिणाम होते हैं इसलिये तीनों कालों मे होनेवाले संसार के समस्त पदार्थ धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम के अन्तर्गत रहते हैं। इसलिये जब योगी किसी वस्तु के इन तीनों परिणामों को लक्ष्य में रखकर संयम करता है तो उसका इन तीनों परिणामों के साक्षात् होने से उस वस्तु के सब क्रमों का अर्थात् जिस जिस अवस्था में होकर वह वस्तु इस रूप में पहुँची है और आगे जिस-जिस अवस्था में पहुँचेगी और जितने-जितने काल में पहुँचेगी, सब ज्ञान हो जाता है।

संगति—संयम-साध्य दूसरी विभूति बतलाते हैं :—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्॥१७

शब्दार्थ—शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ और ज्ञान के। इतर-इतर-अध्यासात् = परस्पर के अध्यास से। संकरः = अभेद भासना होता है। तत्-प्रविभाग-संयमात् = उनके विभाग में संयम करने से। सर्वभूत = सब प्राणियों के। रुत-ज्ञानम् = शब्द का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर के अध्यास से अभेद भासना होता है। उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान होता है।

व्याख्या—शब्द : वाचक, जिसको जिह्वा से उचारण करते हैं और कानों से सुनते हैं जैसे 'गौ' शब्द।

अर्थ : वाच्य, जो शब्द से जाना जाता है, जैसे दूध देने वाला, घास खाने वाला पशुविशेष 'गौ'।

प्रत्यय : ज्ञान अर्थात् विषयाकार चित्त की वृत्ति जो शब्द-गौ और अर्थ-गौ दोनों को मिलाकर इनका ज्ञान करानेवाली है।

यह तीनों अलग-अलग अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। पर निरन्तर अभ्यास के कारण तीनों मिले हुए प्रतीत होते हैं। इस कारण किसी से कहा जाता है कि गौ को घास-चारा दे आओ, तो वह उस पशुविशेष के पास घास चारा ले जाता है। वह इन तीनों में कोई भेद प्रतीत नहीं करता। पर यदि किसी विदेशी पुरुष से जिसने अभी तक गौ का शब्द नहीं सुना है, कहा जाय कि गौ को घास-चारा दे आओ तो वह इन तीनों के भेदों को विचारेगा। वह अनुमान करेगा कि पुरुष घास नहीं खाते हैं। इस कारण वह अनुमान से ही शब्द-गौ से ही अर्थ-गौ और उसके ज्ञान को समझने का यत्न करेगा। इसी प्रकार सब प्राणी जो शब्द बोलते हैं उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों होते हैं। योगी को संयम-अभ्यास से समाधि-प्रज्ञा (३-५) प्राप्त होती है। इसलिये वह शब्द, अर्थ और ज्ञान के विभाग में संयम करने से इस शब्द का अर्थ, और शब्द-अर्थ दोनों के सम्बन्धी ज्ञान को जान लेता है और सब प्राणियों की बोली को समझ लेता है।

टिप्पणी—इस सूत्र के प्रसङ्ग में भाष्यकारों ने स्फोटवाद का बहुत विस्तार के साथ विचार किया है। यह विषय योग-जिज्ञासुओं के लिये उपयुक्त नहीं है इसलिये उसको व्याख्या में छोड़दिया गया है, फिर भी इस विषय से प्रेम रखनेवाले पाठकों के लिये भोजवृत्ति व्यास भाष्य तथा वार्त्तिक का भाषानुवाद और अन्त में इन सबका संक्षेप विशेष वर्णन रूप में यहाँ दिये देते हैं—

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ १७ ॥

कर्णेन्द्रिय से ग्रहण के योग्य और नियम से स्थित है क्रम (पूर्वापर भाव) जिनका ऐसे जो कि नियम से किसी एक अर्थ के बोधक हों वे वर्ण 'शब्द' कहलाते हैं या क्रमशून्य स्फोटरूप ध्वनि से संस्कृत जो बुद्धि, उससे ग्रहण करने योग्य 'शब्द' कहलाते हैं। दोनों ही प्रकार से यह रूप (सुबन्त, तिङन्त) पदरूप और वाक्यरूप (सुप्तिङन्तसमुदाय) शब्द होता है। क्योंकि उन दोनों की ही एक किसी अर्थ के बोधन कराने में शक्ति है। गोत्वादि जाति, रूपादि गुण, पचनादि क्रिया, देवदत्तादि संज्ञा, शब्दों के अर्थ हैं। ज्ञान अर्थात् विषयाकार से परिणित बुद्धि-वृत्ति का नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, अर्थ, प्रत्यय; इन तीनों के परस्पर अध्यास से (आरोप से) वस्तुतः भिन्न-भिन्न का भी बुद्धि के साथ एकाकारता होने से सङ्कर (मेल) हो जाता है। देखिये, 'गौ को ले आ' ऐसा कहने पर गोत्व जाति से युक्त सास्ना (गले का कम्बल) वाले पिण्डरूप अर्थ को, उसके कहनेवाले शब्द को

और उसके ज्ञान को बिना भेद के ही पुरुष निश्चित करता है। यह भेद नहीं होता कि इस अर्थ का 'गो' शब्द वाचक है, यह गो' शब्द का अर्थ है, और यह शब्द अर्थ दोनों का ग्राहक ज्ञान है। जैसे—यह कौन अर्थ है ? कौन यह 'शब्द' है ? कौन यह ज्ञान है ? ऐसे पूछने पर एक रूप से ही पुरुष उत्तर देता है। कि गौ है' यदि 'शब्द' 'अर्थ' 'ज्ञान' इन तीनों का अभेदाध्यवसाय न हो तो एकाकार उत्तर नहीं बन सकता ऐसी स्थिति है। तथापि शब्द में वाचकत्वरूप, अर्थ में वाच्यत्वरूप, ज्ञान में शब्दार्थ-प्रकाशत्वरूप, विभाग है।

इस विभेद को करके इसमें जो योगी संयम करता है उसको सब प्राणियों के अर्थात् पशु पक्षी सर्पादिकों के शब्द से ज्ञान होजाता है कि इस अभिप्राय से उस प्राणी ने यह शब्द उच्चारण किया है। ऐसा ज्ञान होने से सबको जान लेता है ॥ १७ ॥

व्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

इस विषय में वाग—इन्द्रिय वर्णों में ही अर्थवती है (वर्ण का उच्चारण मात्र ही उसका काम है)। ध्वनि के परिणाम मात्र को विषय करने वाला श्रोत्रेन्द्रिय है (श्रोत्र का काम ध्वनि के परिणाम को ग्रहण करना मात्र है) उसके अर्थ को जतलाना नहीं है, पद वर्णात्मक है। जिससे अर्थ का कथन होता है-जैसे घटादि—यह नादानुसंहार बुद्धि से निर्ग्राह्य है (नाद—वर्णों का नाम है, उनके अनुसंहार की बुद्धि—एकत्व के आपादन की बुद्धि से निर्ग्राह्य है, क्योंकि वर्णों को बुद्धि से इकट्ठे करके पद का ग्रहण होता है)।

सब वर्णों का एक काल में उच्चारण असम्भव है। अतः परस्पर निरनुग्रहात्मक हैं, परस्पर असंकीर्ण हैं। वे वर्ण समाहार रूप पद को बिना छुए—बिना उपस्थित किये—बिना बनाये ही आविर्भूत—प्रकट और तिरोभूत—लीन होते रहते हैं—अतः प्रत्येक अपदस्वरूप कहे जाते हैं।

फिर एक एक वर्ण पदात्मा है—पद के निर्माण में उपादान रूप है, सर्वाभिधान शक्ति से प्रचित है (सर्व अभिधानों की शक्ति संचित है जिसमें), सहकारी वर्णान्तर का प्रतियोगी—सम्बन्धी होने से वैश्वरूप्य की भांति आपन्न है (असंख्य पद रूप जैसा बना हुआ है)। पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ और उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के साथ विशेष में अवस्थापित है। इस प्रकार बहुत वर्ण क्रम के अनुरोधी, अर्थ संकेत से अवच्छिन्न (संकेती कृत अर्थ मात्र के वाचक) हैं, इतने ये वर्ण सर्वाभिधान शक्ति से परिवृत हैं, गकार औकार और विसर्जनीय सास्नादिमान् अर्थ (गौ पशु) को द्योतित करते हैं। जो अर्थ संकेत से अवच्छिन्न हैं। जिनका ध्वनिक्रम उपसंहृत है—उन वर्णों का जो एक बुद्धि निर्भास है वह पद वाचक । वाच्य का है संकेतित है, वह एक पद, एक बुद्धि विषय—एक प्रयत्न से आक्षिप्त—अभाग—अक्रम—अवर्ण—बौद्ध—अन्त्य वर्ण के प्रत्यय के व्यापार से उपस्थापित, दूसरे पर प्रतिपादन की इच्छा से अभिधान कर्त्ताओं से अभिधीयमान और श्रोताओं से श्रूयमाण वर्णों से ही अनादि वाग् व्यवहार की वासनाओं से अनुविद्ध लोक बुद्धि से सिद्धवत्—संप्रतिपत्ति से प्रतीत होता है। उसका संकेत बुद्धि से प्रविभाग है कि इतने वर्णों का इस प्रकार का अनुसंहार एक अर्थ का वाचक है।

संकेत तो पद और पदार्थ के इतरेतराध्यासरूप स्मृत्यात्मक होता है, जो यह शब्द है वही यह अर्थ है और जो यह अर्थ है वही यह शब्द है, इस प्रकार इतरेतराध्यासरूप संकेत होता है। इस प्रकार ये शब्द, अर्थ और प्रत्यय इतरेतर अध्यास से संकीर्ण रहते हैं,--गौ अर्थ है, गो शब्द है, गो ज्ञान है। जो इनके विभागों का ज्ञाता है, वह सर्ववित् है। सब पदों में वाक्य की शक्ति होती है। वृक्ष इतना कहने पर—अस्ति (है) क्रिया स्वयं भासने लगती है, क्योंकि पदार्थ सत्ता रहित नहीं रहा करता। तथा क्रिया भी असाधन (कारकरहित) नहीं हुआ करती, तथा—पचति (पकाता है) यह कहने पर सब कारकों का अध्याहार होता है—चैत्र कर्ता, अग्नि कर्म, तण्डुल करण का कथन तो अनुवाद मात्र होता है। वाक्यार्थ में पदों की रचना देखी जाती है श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (श्रोत्रिय अर्थात् जो छन्द पढ़ता है) जीवति—प्राणान्धारयति (जीता है अर्थात् प्राण धारण करता है), इस वाक्य में पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है, उससे पद का विभाग कर के क्रियावाचक है या कारक वाचक है यह व्याख्या करनी चाहिये। अन्यथा (यदि वाक्य में पदार्थ की अभिव्यक्ति न हो तो भवति (है), अश्व, अजापय इत्यादि में नाम और आख्यात के समान रूप होने से क्रिया और कारक में अनिर्ज्ञात की व्याख्या कैसे की जा सकती है। उन शब्द, अर्थ और प्रत्ययों का विभाग है, जैसे कि श्वेतते प्रासादः (महल सफेद होता है) यह क्रिया का अर्थ है, श्वेतः प्रासादः (महल सफेद है) यह कारक का अर्थ है। शब्द क्रिया और कारक रूप है, उस शब्द का अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) है—क्योंकि सोऽयम्—वह यह इस एकाकार ही प्रत्यय संकेत है। जो श्वेत अर्थ है—वह श्वेत शब्द—और श्वेत प्रत्यय (ज्ञान) का आलम्बनीभूत है (विषय है), वह श्वेत अर्थ अपनी अवस्थाओं से विकृत होता हुआ न तो शब्द के साथ रहता है और न प्रत्यय (ज्ञान) के साथ रहता है, ऐसे ही शब्द और प्रत्यय भी विकृत होते हुए एक दूसरे के साथ नहीं रहते, शब्द अन्य प्रकार का है, अर्थ अन्य भाँति का और प्रत्यय इन से भी विलक्षण है। इस प्रकार से इनका विभाग है, इस भाँति इनके विभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

संयमान्तर की सिद्धिको कहते हैं—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्—गौ—इत्यादि शब्द हैं, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि प्रत्यय (ज्ञान) है—इनके वक्ष्यमाण संकेतरूप अध्यास से संकर—अविवेक—ग्रह होता है, वास्तव में इनका भेद है। अतः उनके प्रविभाग में—भेद में संयम द्वारा साक्षात् करने पर सर्व भूतों के शब्दों का ज्ञान होता है—यह काग इस अर्थ को समझ कर इन शब्दों से कहता है।

'यद्यपि साक्षात्कृते सति' यह पाठ सूत्र में नहीं है तो भी संस्कारसाक्षात्करणात्—इस उत्तर सूत्र से—साक्षात्कार पर्यन्त ही संयम की सिद्धि कही हैं, अतः सर्वत्र सूत्रों में संयम की साक्षात्कार द्वारा ही व्याख्या करनी चाहिये। इसीलिये भाष्यकार भी अनेक सूत्रों

में दृग्दर्शनार्थ साक्षात्कार पर्यन्त ही संयम की व्याख्या करेंगे, तीन प्रकार के ही शब्दों के साथ अर्थ और प्रत्ययों का, और उन शब्दों के अन्योऽन्य संकर को दर्शाने के लिये पहिले शब्दों के ही तीन प्रकार भाष्यकार दिखलाते हैं—तत्र वागिति—तत्र शब्द के मध्य में वागिन्द्रिय वर्णों में ही प्रयोजनवाली है, वागिन्द्रिय जन्य शब्द वर्ण ही हैं—शृंग आदि शब्द और वाचक पद वागिन्द्रिय जन्य नहीं हैं। उरः (छाती) आदि, स्थानों में उत्पद्यमान शब्द—वर्ण है।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

उर:, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओठ और तालु वर्णों के उच्चारण के ये आठ स्थान हैं। इस स्मरण से वागिन्द्रिय की शरीर से बाहर वृत्ति (व्यापार) नहीं है, अतः श्रोत्र ग्राह्य वक्ष्यमाण शब्द, तदनन्तर श्रोत्रबुद्धि ग्राह्य वाचक शब्द वागिन्द्रिय के कार्य नहीं हैं। क्योंकि श्रोता के श्रोत्र देश में वक्ता की वागिन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से शब्द की उत्पादकता असम्भव है। वागिन्द्रिय जन्य शब्द से शब्दान्तर को कहते हैं—श्रोत्रं चेति'—वागिन्द्रिय द्वारा शंख आदि में अभिहत उदानवायु का परिणाम भेद ध्वनि हैं जिस परिणाम से उदान वायु वक्ता की देह से उठकर शब्द धारा को उत्पन्न करता हुआ श्रोता के श्रोत्र को प्राप्त होता है, उस ध्वनि का परिणाम भूत वर्णावर्ण साधारण नाद नामक शब्दसामान्य ही श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय होता हैं। ध्वनि का अपरिणाम भूत वाचक पद श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं होता। वह शब्द वर्ण जाति वाला होने से वर्ण कहलाता है। तृतीय शब्द को कहते हैं—पदं पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति—यथा प्रतीति सिद्ध नाद नामक गकारादि वर्णों को प्रत्येक पद—है—ऐसा प्रत्येक को ग्रहण करके अनु पीछे जो बुद्धि संहार करती है—एकत्व का सम्पादन करती है—गौः यह एक पद है इस भाँति—उस बुद्धि से निर्ग्राह्य वर्णों से अतिरिक्त अखण्ड—एक काल में उत्पद्यमान वक्ष्यमाण स्फोट नामक पद है। इस प्रकार यह तृतीय शब्द अन्तःकरण से ही ग्राह्य है (अन्तः करण का ही विषय है)।

उस पद को ही यदि श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य मानें, तो अन्तःकरण निष्ठ अनुसंहार बुद्धि को भिन्न अधिकरण में होते हुए हेतु मानना होगा, और वह अयुक्त है—क्योंकि प्रत्यासत्ति में समानाधिकरण को ही लाघव है। अनुसंहार बुद्धि भी श्रोत्रादि की ही है। —यह नहीं कह सकते, क्योंकि यह असम्भव है। आनुपूर्वी की एकता से वर्णों की एकता का आपादन होता है और वह आनुपूर्वी गकार के उत्तर औकारादि रूपिणी है, वह अनेक वर्ण पदों में श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकती। आशुविनाशी होने से वर्णों का मेल नहीं हो सकता, पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार और उन संस्कारों से स्मृतियाँ जो कि अन्तःकरणनिष्ठ हैं, उनको अन्तःकरण की सहकारिता ही उचित है। अतः स्मृत वर्णों की आनुपूर्वी का मन से ही ग्रहण हो सकता हैं—यह भाव है।

शंका—क्यों जी। स्फोट नामक शब्द किस प्रकार का है? और उसका कारण क्या है? तथा उसमें प्रमाण क्या है?

समाधान—अत्रोच्यते—जैसे बीज, अंकुर आदि अनेक अवस्थाओं में स्थित वृक्ष धर्मी उन क्रमिक अवस्थाओं से अतिरिक्त पल्लव आदि रूप अशेष अवस्था से व्यक्त होता है कि यह आम्र वृक्ष है। दूसरा वृक्ष नहीं है। वह वृक्ष बीजादि से भिन्न-अभिन्न है क्योंकि उसमें भेद और अभेद दोनों का अनुभव होता है, ऐसे ही गकार औकारादि अनेक अवस्था वाला गौः इत्यादि अखण्ड स्फोट शब्द क्रमिक गकारादि अवस्थाओं से अतिरिक्त आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट विसर्जनीय आदि रूप चरम अवस्था से व्यक्त होता है कि यह 'गौ' है यह पद, गौः इति इत्यादि रूप से व्यक्त नहीं होता, वह स्फोट पद गकार आदि वर्णों से भिन्न और अभिन्न है, क्योंकि उसमें भेद और अभेद दोनों का अनुभव होता है, और वह पद नामक शब्द अर्थ के स्फुट (साफ प्रकट) करने से स्फोट कहलाता है। स्फोट शब्द का कारण एक प्रयत्नजन्य ध्वनि विशेष है, प्रयत्नभेद से उच्चारण में व्यवधान होने पर एक पद व्यवहार नहीं, हो सकता। गौः यह एक पद ही यह व्यवहार स्फोट में प्रमाण है। वर्णों के अनेक होने से, उनसे एकत्व व्यवहार सरलतया नहीं बन सकता, तथा प्रत्येक वर्ण से उत्पद्यमान अर्थ प्रत्यय का हेतुत्व स्फोट में प्रमाण है। यदि आनुपूर्वी विशिष्ट समूह के एक होने से एकत्व व्यवहार होता है और उसी रूप से अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) के प्रति हेतुता मानें, तो संयोगविशेष से अवच्छिन्न (युक्त) अवयवसमूह से ही एकत्व व्यवहार और (घट से) जलादि के लाने की सिद्धि हो जायेगी, जिससे कि घटादि अवयवी मात्र का उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि दोनों दशा में युक्ति समान है।

शंका—तब तो युक्तिसाम्य से एक—एक वाक्य भी स्फोट रूप हो जायेगा ?

समाधान—यदि वाक्यस्फोट में कोई बाधक न हो तो वाक्यस्फोट मानना हमको इष्ट ही है। भाष्यकार ने तो वर्णों के पद होने का संक्षेप से निराकरण किया है। वर्णा एकेति—अनेक वर्ण एक काल में स्थिति के योग्य न होने से परस्पर निरनुग्रहात्मा असम्बद्ध स्वभाव हैं, अतः वे पद को न छूकर—पदत्व को प्राप्त न होकर—(पद न बन कर) इसी लिये अर्थ को उपस्थित न करके (अर्थ को विना प्रकट किये ही) आविर्भूत होकर ही क्षण भर में तिरोभूत हो जाते हैं। इस लिये प्रत्येक को अविवेकी अपदस्वरूप कहते हैं। यहाँ स्वरूप पद के ग्रहण से अवस्था और अवस्था वाले के अभेद से वर्णों के पदत्व का निराकरण नहीं किया है।

शंका—यदि वर्ण पदस्वरूप नहीं है तो लोग इतने वर्ण क्रमविशेष से युक्त इस अर्थ के वाचक हैं ऐसा संकेत किस प्रकार कर लेते हैं ?

समाधान—'वर्णाः पुनरित्यादि' यहाँ से लेकर संकेत्यते इस पर्यन्त वाक्य से समाधान किया है। उसका अर्थ यह है, यद्यपि वर्ण पद से भिन्न हैं, तथापि अवस्था और अवस्था वाले के अभेद को भी सत्ता है। (अभेद भी है) अतः एक-एक भी वर्ण पदरूप है। पद से अभिन्न है जैसे कि बीज और अंकुर वृक्ष से अभिन्न होते हैं। इसीलिये पदरूप से सर्व पदार्थों के अभिधान की योग्यता से सम्पन्न होते हैं। इसमें हेतु कहते हैं—सहकारीति-पदभाव में सहकारी जो वर्णान्तर उनका प्रतियोगी-सम्बन्धी होने से अनन्त पद रूपता

LIBRARY

को प्राप्त की भाँति आपन्न होता है (बन जाता है)—यहाँ उन शब्द का प्रयोग भाष्यकार ने वैश्वरूप्य की योग्यतामात्र के प्रतिपादन के लिये किया है।

वैश्वरूप्य का प्रकार कहते हैं—पूर्व गकार उत्तर औः इस वर्णद्वय के साथ गए इत्यादि पद से व्यावृत्त होता है (पृथक् होता है) उत्तर विसर्जनीय पूर्व गौः इन वर्णद्वय से गौः इत्यादि पदों से व्यावृत्त होकर (पृथक् होकर) विशेष गौः इस अखण्ड स्फोट पद में तादात्म्य से (अभेद रूप से) अवस्थापित होता है इस हेतु से इस प्रकार के क्रमानुरोधी बहुत से वर्ण, आनुपूर्वीविशेष की अपेक्षा रखने वाले, पद के अभेद से अर्थ संकेत से अवच्छिन्न (युक्त) नियमित होकर सर्व अभिधान में समर्थ भी इतने इतनी संख्या वाले ये गकारादि गौ को ही अवस्थापित करते हैं (गौ का ही कथन करते हैं) अतः उस प्रकार से वर्ण मुख से, यह पद ही अविवेक से संकेत किया जाता है—यह भाष्य का अन्वय है। इसमें हेतु है वाच्यस्य वाचकमिति—पद ही वाच्य का वाचक है—उपस्थापक है (वाच्य को कहने वाला है)। अन्य का अन्य रूप से संकेत मे हेतु है। एतेषाम् से लेकर निभासः तक। जो पद नामक बुद्धिमात्रग्राह्य अर्थ संकेत से अवच्छिन्न (युक्त) इन वर्णों का स्फोट है, तथा समाप्त ध्वनिजन्य क्रम आनुपूर्वी विशेष जिन उस प्रकार के वर्णों की है, यह एक है, अभिन्न है, यह पद के स्वरूप का कथन किया है। वाक्यार्थ समाप्त हुआ।

भाव यह है, जैसे मिले हुए दो कपाल जल लाने के हेतु होते हैं—यह अविवेक से बालकों के लिये कहा जाय, क्योंकि पट से घट को पृथक् करने वाला अन्य असम्भव है, उससे बालक कपाल के अविवेक से घट को ही जल लाने का हेतु समझता है ऐसे ही स्फोटान्तर के व्यावर्तन के लिये वर्णों के अविवेक से ही स्फोट में संकेत का उपदेश और संकेत का ग्रहण होता है, अतः वर्णों में संकेतता की अनुपपत्ति, असिद्धि नहीं है।

त्रिविध शब्द को दर्शा कर अब उनमें से संकेत के कारण का प्रतिपादन करते हैं, तदेकमिति—प्रतीयते, इसके साथ अन्वय है। अर्थ यह है, यद्यपि वह पद स्फोट नामक एक ही है, वर्णों के समान अनेक नहीं है, और एकत्व में प्रमाण है एकबुद्धिविषयत्व, तथा वक्ता के एक ही प्रयत्न से ध्वनि आदि द्वारा उत्पादित है. (उत्पन्न होता है), वर्ण तो प्रयत्नभेद से भी उत्पन्न होते हैं, तथा यह पद अभाग है, निरंश है वर्णसमूह तो वन के सदृश सांश है, तथा यह पद (स्फोट) अक्रम है, एक काल में ही उत्पद्यमान है। वर्णों के समान क्रम से उत्पन्न नहीं होता, अतः इन हेतुओं से पद स्फोट वर्णों से भिन्न है। किंच—स्फोट बौद्ध है बुद्धिमात्र से ग्राह्य है, तथा अन्त्य वर्ण के प्रत्ययरूप व्यापार से व्यक्त होता है, वर्ण ऐसे नहीं हैं तो भी दूसरों के प्रति प्रतिपादन की इच्छा से वक्ता के बोले और श्रोता के सुने इस प्रकार के वर्णों के द्वारा हा सिद्धवत्, परमार्थवत् एक दूसरे की संप्रतिपत्ति के संवाद से प्रतीत होते हैं, व्यवहार में आते हैं, वर्णों से भिन्न रूप से व्यवहार में नहीं आते, उसमें हेतु है—अनादि वाग्व्यवहार की वासनाओं से वशीकृत लौकिक बुद्धि। यहाँ अभिधीयमानैः इससे पद के वाग् इन्द्रिय विषयक वर्णों का अविवेक समझना चाहिये और श्रूयमाणैः इससे पद के श्रोत्रविषयक शब्द का अविवेक जानना चाहिये।

इस प्रकार तीन प्रकार के शब्दों के अन्योऽन्याध्यास से संकर को दर्शाया है। अब त्रिविध शब्द से अर्थ और प्रत्यय के अध्यास का प्रतिपादन करने के लिये शब्द व्यवहार के संकेतग्रहमूलक होने को कहते हैं तत्रेति—उस पद का प्रविभाग विषय की व्यवस्था के संकेत के ग्रहण से ही होता है। प्रविभाग को ही कहते हैं एतावतामिति—इस प्रकार का, ऐसी आनुपूर्वी वाला-अनुसंहार-मिलन, इस अर्थ का वाचक है, उपस्थापक है, इस भाँति का विभाग होता है एकस्यार्थस्य—इस प्रकार का पाठ मानें तो उसका अर्थ होता है—अर्थविशेष का, ।

संकेत का शब्दार्थ कहते हैं—" संकेतस्त्विति " अध्यास संकेतकर्ता का आहार्य आरोप है जिसका अर्थ है-आरोपित का अभेद, उस ही का ज्ञान पदार्थ का उपस्थापक होता है, उसमें आधुनिकों की कल्पना की व्यावृत्ति के लिये स्मृत्यात्मक पद का प्रयोग है, अतः विषय और विषयी के अभेद से पाणिनी आदि की स्मृति है। यह भी नहीं कह सकते कि कल्पित अभेद असत् से वह असत् संकेत कैसे हो सकता है ? क्योंकि असत्ख्याति तो स्वीकार ही नहीं है, अन्यत्र सत् की अन्यत्र कल्पना होती है, (अन्यत्र सत् रजत की अन्यत्र सीप में कल्पना होती है) अध्यास के संकेतत्व में प्रमाण कहते हैं—योऽयं शब्दः इससे लेकर 'भवति' तक। ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म इत्यादि शास्त्रों में, कम्बुग्रीवादिमान् घटः इत्यादि लोक में पद और पदार्थ का अभेद आरोप ही संकेत दिखलाई देता है, क्योंकि ओमित्यादि के शब्द वाच्यत्व की लक्षणा में कोई प्रमाण नहीं है, अत एव कोशों में अमरा निर्जराः देवा इत्यादि शब्द और अर्थ का आरोप्यमाण अभेद ही संकेत दिखाई देता है, अतएव इस अनादि अभेद के आरोप से आगामी लोग मन्त्र और अर्थ के अभेद उपासना का उपदेश करते हैं, और मीमांसक मन्त्रमयी देवता कहते हैं। जो तो—इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिये इस प्रकार की ईश्वर की इच्छा का विषय शक्ति दूसरे तन्त्रों में लक्षित है वह अप्रामाणिकी है और लक्षणा शक्ति जैसी ही है। दूसरी बात यह है कि ईश्वर को न जानने वाले को भी शब्दार्थ प्रत्यय देखा जाता है, तथा पद और पदार्थ के अभेद से संकेत भी युक्त न हो सकेगा, इत्यादि दोष जान लेने चाहियें।

अब संकेत बुद्धि निमित्तक तीनों का संकेत है इसको कहते हैं एवमेव इति—इस प्रकार संकेत बुद्धि के कारण से वे तीन, प्रकार के शब्द, अर्थ और प्रत्यय संकीर्ण—अविविक्त हैं, उनमें संकेत का ग्रह ही शब्द और अर्थ का इतरेतर अध्यास है, क्योंकि शब्द और अर्थ का तो प्रत्यय के साथ एकाकार होने से अन्योन्याध्यास प्रसिद्ध ही है। यह भाव है

संकर के आकार को कहते हैं—गौरिति य इहि—वह ही शब्द आदि का तत्त्वज्ञ है अन्य नहीं। वर्णों, ध्वनि पदों के अन्योन्य संकर की भाँति अब पद-वाक्य और उनके अर्थों के संकर से भी शब्द-अर्थ और प्रत्ययों का संकर दिखलाते हैं सर्वपदेष्विति—वाक्य की शक्ति-पदार्थान्तर के सहकार से वाक्य भवन शक्ति है (वाक्य बनने की शक्ति है) तथा वृक्ष इत्यादि पदों की वृक्षोऽस्ति (वृक्ष है) वृक्षश्चलति (वृक्ष चलता है) वृक्षश्छिद्यते (वृक्ष कटता है) इत्यादि वाक्यों से संकर—अविवेक होता है यह भाव है। पदों में वाक्य शक्ति का

उदाहरण देते हैं—वृत्त इत्युक्ते-इति वृक्ष ऐसा कहने पर आकांक्षा को पूर्ण करने के लिये योग्यता आदि के वश से अस्ति (है) इस क्रिया का अध्याहार होता है। तथा पद में वाक्य का संकर है यह भाव है।

शंका—शब्द का अध्याहार सम्भव नहीं है क्योंकि एक ही अर्थ में अनन्त शब्दों का प्रयोग होता है और किसी विशेष शब्द का अनुमापक लिंग उपस्थित नहीं है ?

समाधान—यह बात नहीं है क्योंकि अपनी इच्छा से स्वयं कल्पित किसी भी आकांक्षा के पूरक शब्द से वक्ता के तात्पर्य विषयक अर्थ का बोध हो सकता है, अर्थविशेष के अनुमान में तो योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्यादिक लिंग हैं ही। यही कहते हैं, न सत्तामिति योग्यता के दिखलाने से आकांक्षा तात्पर्य आदि भी उपलक्षित हो गये हैं, क्योंकि केवल योग्यता तो अर्थान्तर में भी साधारण है, उदाहरणान्तर कहते हैं, तथा नहीति—असाधन-कारक रहित कोई क्रिया नहीं होती, पचति कहने पर सब कारकों का आक्षेप, अर्थात् अनुमान होता है।

शंका—यह बात है तो कारकवाचक पदों का कहीं भी प्रयोग नहीं होगा ?

समाधान—नियमार्थ इति—कारकवाचक पदों का नियम के लिये अनुवाद होता है, योग्यता आदि से सर्वत्र विशेष अर्थ का अनुमान सम्भव नहीं है, अतः अनुमित कारकों का भी सामान्य से "नियमार्थ दूसरे कारकों से व्यावृत्ति (पृथक् करने के लिये) प्रयोग होता है" चैत्रोऽग्निना भजनम इत्यादि पदों से चैत्र अग्नि भजन—इस कर्ता, कर्म करण का अनुवाद है। अब अध्याहार के बिना भी अर्थ के अभेदनिमित्तक पद और वाक्य के संकर को दिखलाते हैं, दृष्टमे तिच्छन्दोऽधीते (छन्द पढ़ता है) इस वाक्य के अर्थ में श्रोत्रिय इस पद की—तथा प्राणान् धारयति—(प्राणों को धारण करता है) इस वाक्य के अर्थ में जीवति—इस पद का वचन है—कथन है।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

जन्म से ब्राह्मण जानना चाहिये और संस्कार (यज्ञोपवीत संस्कार) से द्विज कहा जाता है, विद्या से विप्रत्व को पाता है और तीनों से (जन्म, संस्कार और विद्या-वेद विद्या-से) श्रोत्रिय कहलाता है। इस स्मृति प्रमाण से। और जीव = बलप्राणधारणयोः इस अनुशासन से (धातुपाठ प्रमाण से)

शंका—यदि वाक्यार्थ की सिद्धि पद से भी होती है तो 'गुरुतरस्य छन्दोऽधीते' इस वाक्य का वचन कभी भी न होगा ?

समाधान—तत्र वाक्य इति—उस वाक्य में पद के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, (उससे पद का विभाग करके क्रियावाचक है या कारक वाचक है विवरण करना चाहिये,) अतः पद और वाक्य के संकर से संशय के स्थल में पद का वाक्य से विवरण करना चाहिये।

प्रसंग से कहते हैं,तत इति—क्योंकि वाक्यार्थ में भी पद रचना होती है। अतः सन्देह स्थल में पद का अंश भेदों के द्वारा वाक्य से विवरण करना चाहिये। व्याकरण न होने पर अर्थ का बोध न होने से वाक्य का व्यवहार ही व्यर्थ हो जावेगा। इसके लिये कहते हैं, अन्यथेति—भवति यह प्रयोग करने पर नाम और आख्यात के समान रूप होने से 'भवति घटो' 'भवति भिक्षां देहि' इन दो अर्थों में सन्देह होने पर अनवधारित पद का किस प्रकार किस प्रयोजन से क्रिया या कारक में विवरण किया जाय ? श्रोता को अर्थ का ज्ञान असम्भव है, इसी भाँति 'अश्व' यह कहने पर 'गतिमकार्षीर्वेटको वा' चला था या घोड़ा है यह सन्देह होता है क्योंकि नाम और आख्यात में समानरूपता है। तथा 'अजापयः' यह कहने पर 'छाग्याः पयः, शत्रून् पराभाविसवान् वा' इस अर्थ में सन्देह होता है क्योंकि नाम और आख्यात समान रूप हैं। इस प्रकार अर्थ और प्रत्ययों के संकर को दिखला कर अब प्रविभाग को दिखलाते हैं, तेषामित्यादि से उनमें से पहिले शब्द का भेद होने पर भी अर्थ और प्रत्यय के अभेद से शब्द और अर्थ के भेद को दिखलाते हैं—श्वेतते इससे लेकर प्रत्ययश्च इस तक से (श्वेतते प्रासादः यह क्रिया का अर्थ है, श्वेतः प्रासादः यह कारक का अर्थ है—शब्द क्रियाकारक रूप है, उस शब्द का अर्थ और प्रत्यय ज्ञान होता है—यह भाव्य है) क्रिया साध्यरूप है अर्थ जिसका वह क्रियार्थ है, श्वेतते यह उसका शब्द है, तथा कारकः सिद्धरूप है अर्थ जिसका वह कारकार्थ है—श्वेतः यह उसका शब्द है। ये शब्द भिन्न हैं, इनका अर्थ क्रियाकारकरूप श्वेतगुणमात्र एक ही है, इसी प्रकार प्रत्यय भी जानना चाहिये। क्रियाकारकात्मक गुणाकार हैं। इसमें प्रमाण पूछते हैं, कस्मात् इति—किस प्रकार ?

उत्तर देते हैं, सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्—यह वही है इस सम्बन्ध क्रियाकारकात्मक गुणाकार है श्वेतन जो क्रिया है वही यह श्वेतरूपकारक गुण है, और जो श्वेतते इससे श्वेताकार प्रत्यय है वही प्रत्यय श्वेतः इस शब्द से भी श्वेताकार प्रत्यय ही अभेद की प्रत्यभिज्ञा से होता है।

शब्द और अर्थ के अभेद से संकेत कैसे होता है ? इस विषय में कहते हैं—एकाकार इति—एकाकार—आरोपरूप प्रत्यय ही संकेत आरोपित के अभेद में ही संकेत है, पारमार्थिक अभेदरूप में संकेत नहीं है।

शंका—शब्द और अर्थ के अभेद प्रत्यय से प्रत्यभिज्ञा का ही बाध क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—तत्राह—यस्त्विति—जो श्वेत अर्थ वह शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) का विषय होने से, अपनी शब्द आदि से भिन्न नई-पुरानी अवस्थाओं से विक्रियमाण होने से शब्द और प्रत्यय के सहगत (साथ) नहीं रहता काल से काल रूप अधिकरण के भिन्न होने से सहचार नहीं रहता। ऐसे ही देश से भी सहचार नहीं रहता, क्योंकि शब्द का अधिकरण आकाश है और प्रत्यय (ज्ञान) का अधिकरण बुद्धि है और अर्थ-श्वेत गुणादि प्रासाद आदि में रहते हैं। यह भाव है। एवमिति—इस प्रकार शब्द भी

अपनी अवस्थाओं से विक्रियमाण अर्थ और बुद्धि का भी सहचारी नहीं है; इस प्रकार प्रत्यय (ज्ञान) भी शब्द और अर्थ का सहचारी नहीं रहता। उपसंहार करते हैं—इत्यन्यथेति—अन्यथा शब्द है अन्यथा अर्थ है और अन्यथा प्रत्यय है यह विभाग है। सूत्र के अर्थ का उपसंहार करते हैं—एवं—तत्प्रविभागेति (इस प्रकार उनके विभाग में संयम करने से योगी को सब भूतों के शब्द का ज्ञान होता है। इस प्रकार मनुष्य के विषय में शब्द अर्थ और प्रत्ययों में (जो प्रविभाग है) उसमें संयम करने से साक्षात् पर्यन्त संयम करने से सब भूतों के शब्द उसके अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) को योगी जान लेता है, क्योंकि योगज धर्म अचिन्त्य शक्ति वाला है, स्वसदृश फल देना धर्मों का स्वाभाविक है। हमारे सदृशों को शब्द अर्थ और प्रत्यय के भेद का साक्षात्कार होने पर भी उस साक्षात्कार के संयमजन्य न होने के कारण सब भूतों के शब्द का ज्ञान नहीं होता, संयम की ही यह सिद्धि है—ऐसे ही अगले सूत्रों में भी यथास्थल यही समाधान है ॥ १७ ॥

विशेष वर्णन—॥ सूत्र १७ ॥ शब्द तीन प्रकार का है:—

१—वर्णात्मक : (क, ग आदि) जो वाणीरूप इन्द्रिय से उत्पन्न होता है।

२—ध्वन्यात्मक वा नादात्मक : (शंख आदि का शब्द) यह प्रयत्न प्रेरित उदान वायु का परिणाम विशेष है। यही शब्दों की धारा को उत्पन्न करता हुआ श्रोता के श्रोत्र इन्द्रिय तक जाता है।

३—स्फोट नामक शब्द है : (स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः) यह अर्थ का बोधक और केवल बुद्धि से गृहीत होता है। निरवयव, नित्य और निष्क्रम है। वर्ण शीघ्र उत्पन्न होकर नष्ट होजाते हैं। इनका मेल नहीं हो सकता; क्योंकि 'गौ' यहां पर गकारोच्चारण के समय में औकार नहीं और औकार के उच्चारण के समय में गकार नहीं इत्यादि। मेल न होने पर भी, वर्णों के संस्कार और उन संस्कारों से स्मृति होती है, अन्तिम वर्ण (जैसे 'धर्षात' में इकार) स्फोट का व्यञ्जक है। यदि इसे न माना जाय तो 'गौः' यह एक पद है; ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि एकता को ग्रहण करने वाली बुद्धि न वर्णों में (जो विनाशी हैं) हो सकती है और न स्फोटबोधक ध्वनि में; यह स्फोट-नामक शब्द दो प्रकार का है : पद-स्फोट और वाक्य-स्फोट (स्फोट का विषय नागेशकृतमंजूषा और वैयाकरण भूषण में विस्तृतरूप से लिखा है; व्याकरणाचार्य और योगाचार्य इनका स्फोट विषय में एक मत है, नैयायिक शब्दमात्र को अनित्य मानते हैं। मीमांसक शब्दों को नित्य मानते हैं, उत्तर मीमांसक 'वेदान्ती शब्दों को आपेक्षिक नित्य मानते हैं; ये सब स्फोटवादी नहीं हैं)।

स्फोट का वड़ा व्याख्याता है। इन तीनों अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर अध्यास (भिन्नों में अभिन्न बुद्धि) होता है। आरोप को अर्थात् अन्य में अन्य बुद्धि करने को 'अध्यास' कहते हैं। इन शब्दों का अर्थ-और-ज्ञान के साथ संकेत रूप (इस पद का यह अर्थ है एतद्रूप) अध्यास है। पर वस्तुतः शब्द, अर्थ, प्रत्यय तीनों भिन्न हैं। जब उनके भेद में योगी चित्त की एकाग्रता करता है, तब उनका प्रत्यक्षकर वानर, कौवे आदि की बोली को जान लेता है कि इस अर्थ को लेकर यह बोल रहे हैं। योगियों में विचित्र शक्ति होती

है। धारणा, ध्यान और समाधि की बड़ी महिमा है। हम लोगों को जो शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है वह समाधिजन्य नहीं है इससे हम नहीं जान सकते।

संगति—दूसरी सिद्धि कहते हैं :—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—संस्कार-साक्षात्-करणात् = संस्कार के साक्षात् करने से। पूर्व-जाति-ज्ञानम् = पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—संस्कार के साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

व्याख्या—संस्कार दो प्रकार के होते हैं, एक स्मृति के बीज रूप से रहते हैं जो स्मृति और क्लेशों के कारण हैं। दूसरे विपाक के कारण वासनारूप से रहते हैं जो जन्म, आयु, भोग और उनमें सुख-दुःख के कारण होते हैं। वे धर्म और अधर्मरूप हैं। ये सब संस्कार इस जन्म तथा पिछले जन्म में किये हुए कर्मों से बनते हैं और ग्रामोफोन के प्लेट के रेकर्ड (Records) के सदृश चित्त में चित्रित रहते हैं। वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्म की भांति अपरिदृष्ट चित्त के धर्म हैं। उनमें संयम करने से योगी को उनका साक्षात् हो जाता है। इससे उसको जिस देश, काल और जिन निमित्तों से वे संस्कार बने हैं, सब स्मरण हो जाते हैं। यही पूर्वजन्म ज्ञान है। (योगियों के अतिरिक्त बहुत से शुद्ध संस्कार वाले बालक भी अपने पूर्वजन्म का हाल बतला देते हैं) (जिस प्रकार संस्कारों के साक्षात् करने से अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है इसी प्रकार दूसरे के संस्कारों के साक्षात् करने से दूसरे के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। (विज्ञान भिक्षु के अनुसार) 'पर' अर्थात् भावी जन्मों का भी इसी भांति संस्कार के साक्षात् करने से ज्ञान हो जाता है)

टिप्पणी:—॥ सूत्र १८ ॥ पूर्वोक्त अर्थ में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये भाष्यकारों ने आवट्य नामक योगीश्वर का योगीराज जैगीषव्य के साथ एक संवाद उपन्यस्त किया है। उसका यहां निरूपण किया जाता है। भगवान् जैगीषव्य जो प्रसिद्ध योगीश्वर हुए हैं उनके सम्बन्ध में ऐसा प्रसिद्ध है कि वे संस्कारों के साक्षात्कार से दश महा-कल्पों में व्यतीत हुए अपने जन्म परिणाम परम्परा का अनुभव करते हुए विवेकज ज्ञान सम्पन्न थे। और योगिराज भगवान् आवट्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि योगबल से स्वेच्छामय दिव्य विग्रह को धारण करके विचरते थे। किसी समय इन दोनों योगियों का संगम होगया। तब आवट्य ने जैगीषव्य से यह बात पूछी कि दश महा-कल्पों में देव मनुष्यादि योनियों में उत्पन्न होते हुए आपने जो अनेक प्रकार के नरक तिर्यक् योनियों में और गर्भ में दुःखों को अनुभव किया है वह सब आपको परिज्ञात है, क्योंकि स्वच्छ और अनभिभूत बुद्धि सत्त्व होने के कारण आपको सारे पूर्व जन्मों का ज्ञान है। इस लिये आप यह बतलाएं कि दस महाकल्पों में जो आपने अनेक प्रकार के जन्म धारण किए हैं, उन जन्मों में आपने सुख और दुःख में अधिक किस को जाना अर्थात् संसार सुखबहुल है या

व्याख्या—पिछले सूत्र में दूसरे के चित्त की वृत्ति में संयम करना बतलाया है। इससे इतना ही ज्ञान हो सकता है कि चित्त राग-द्वेषादि से युक्त है अथवा वीतराग है। राग, द्वेष आदि का विषय ज्ञात नहीं होता कि किस विषय में राग है, किस विषय में द्वेष है, इत्यादि। क्योंकि यह उस संयम के विषय न थे। संयम-द्वारा उसी का साक्षात् होता है जो उसका विषय है। और संयम का विषय वही होता है जिसको किसी न किसी प्रकार से पहिले जान लिया है। बाहरी चिन्हों अर्थात् नेत्र अथवा चेहरे की आकृति से केवल राग-द्वेषादि जाने जा सकते हैं न कि राग-द्वेषादि के विषय। इसलिए वे सालम्बन चित्त के संयम के विषय नहीं बन सकते। यदि राग-द्वेषादि आभ्यन्तर लिङ्गों द्वारा संयम किया जावे तो उनके विषय का भी अर्थात् सालम्बन चित्त का भी ज्ञान हो सकता है।

टिप्पणी—विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र को भाष्य मानकर उन्नीसवें सूत्र में ही सम्मिलित कर दिया है। भोज और वाचस्पति मिश्र ने इसको अलग सूत्र माना है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

शब्दार्थ—काय-रूप-संयमात् = अपने शरीर के रूप में संयम करने से। तद्-ग्राह्य-शक्ति-स्तम्भे = उसकी (रूप की) ग्राह्य-शक्ति रुक जाने पर। चक्षुः-प्रकाश-असम्प्रयोगे = दूसरे की आँखों के प्रकाश का संयोग न होने पर। अन्तर्धानम् = योगी को अन्तर्धान प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—अपने शरीर के रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है इससे दूसरे के आंखों के प्रकाश से योगी के शरीर का सन्निकर्ष न होने के कारण योगी के शरीर का अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है।

व्याख्या—चक्षु ग्रहण-शक्ति है और रूप ग्राह्य-शक्ति है। इन दोनों शक्तियों के संयोग से ही देखने का काम होता है। इन दोनों में से किसी एक की शक्ति के रुक जाने से देखने का कार्य बन्द हो जाता है। योगी संयम द्वारा शरीर के रूप की ग्राह्यशक्ति को रोक देता है। इस कारण चक्षु की ग्रहण-शक्ति होते हुए भी दूसरे पुरुष उसके शरीर को नहीं देख सकते। यह उस योगी का अन्तर्धान अर्थात् छिप जाना है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध में संयम करने से उस-उसकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है और उनके वर्तमान रहते हुए भी वे अपने विषय करने वाली इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किये जा सकते।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

शब्दार्थ—सोपक्रमम् = उपक्रम सहित (तीव्र वेगवाले) अथवा आरम्भ सहित। च-निरुपक्रमम् = और उपक्रम-रहित (मन्द वेगवाले) अथवा आरम्भ-रहित। कर्म = (दो प्रकार के) कर्म होते हैं। तत्-संयमात् = उनमें संयम करने से। अपरान्त-ज्ञानम् = मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्टेभ्यः-वा = अथवा उल्टे चिन्हों से।

अन्वयार्थ—कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार का होता है। उनमें संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है।

व्याख्या—आयु नियत करनेवाले पूर्वजन्म के कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक सोपक्रम अर्थात् वे कर्म जो आयु समाप्त करने का काम पूरे वेग से कर रहे हैं, जिनका बहुतसा फल हो गया है, कुछ शेष है। दूसरे निरुपक्रम अर्थात् वे कर्म जो मन्द वेग वाले हैं, जिन्होंने आयु भोगने का कार्य अभी तक आरम्भ नहीं किया है। जैसे गीला वस्त्र गरम देश में विस्तारपूर्व फैलाया हुआ शीघ्र ही सूख जाता है अथवा जैसे शुष्क तृणों के ऊपर फेंकी हुई अग्नि चारों ओर वायु से युक्त होकर शीघ्र ही तृणों को जला देती है वैसे ही शीघ्र फल करने वाले सोपक्रम कर्म हैं। और जैसे वही गीला वस्त्र इकट्ठा लपेटकर शीत देश में रखा हुआ देर से सूखता है अथवा जैसे हरित तृणों पर फेंकी हुई अग्नि वायुरहित स्थान में देर में तृणों को जलाती है वैसे ही विलम्ब से फल देने वाले निरुपक्रम कर्म को जानना चाहिये। अपरान्त शरीर के वियोग को कहते हैं। इन दोनों कर्मों में संशय रहित यह ज्ञान हो जाता है कि आयु कितनी शेष रही है। किस काल और किस देश में शरीर का वियोग होगा।

अथवा अरिष्टों से अर्थात् उल्टे चिन्हों से जो मृत्यु के बतलाने वाले हैं, अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

अरिष्ट तीन प्रकार के हैं :—

१ आध्यात्मिक—अभ्यास होते हुए भी कानों को बन्द करने पर अन्दर की ध्वनि का न सुनाई देना। अथवा आँखों को हाथों से दबाने पर भी ज्योति के कणों का न दिखलाई देना।

२ आधिभौतिक—मरे हुए पुरुषों का इस प्रकार दिखलाई देना मानों सामने खड़े हैं।

३आधिदैविक—अकस्मात् सिद्धों का दिखाई देना, अथवा आकाश के नक्षत्र तारा आदि का उल्टा-पुल्टा दिखाई देना। इन अरिष्टों के देखने से मृत्यु के निकट होने का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार प्रकृति का बदल जाना अर्थात् उदार का कृपण और कृपण का उदार हो जाना इत्यादि; तथा विपरीत ज्ञान का होना, जैसे धर्म को अधर्म अधर्म को धर्म मनुष्यलोक को स्वर्गलोक और स्वर्गलोक को मनुष्यलोक समझना इत्यादिभी अरिष्ट अर्थात् सन्निहित-मरण के चिन्ह हैं।

पहिला संयम द्वारा मृत्यु का ज्ञान तो केवल योगियों को ही होता है। दूसरा अरिष्टों द्वारा योगियों और साधारण मनुष्यों को भी होता है। मृत्यु के जानने के प्रसङ्ग में अरिष्टों का भी वर्णन कर दिया है, इन अरिष्टों से भी अयोगियों को साधारण रीति से और संशयात्मक ज्ञान होता है। योगियों को संशय रहित प्रत्यक्ष के तुल्य देश और काल सहित मृत्यु का ज्ञान होता है।

संगति—पूर्वोक्त परिकर्म अर्थात् चित्तशुद्धि से हुई सिद्धियों को बतलाते हैं :—

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—मैत्री-आदिषु = मैत्री आदि में (संयम करने से)। बलानि = मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

अन्वयार्थ—मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

व्याख्या—पहिले पाद के तेंतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा चार भावनायें बतलाई गई हैं। इनमें से पहली तीन भावनाओं में साक्षात्-पर्यन्त संयम करने से योगी का क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता बल बढ़ जाता है। अर्थात् योगी को मैत्री आदि ऐसी उत्कृष्ट हो जाती है कि सबको मित्रता आदि को प्राप्त होता है। जब मैत्री में संयम करता है तो सर्व प्राणियों का सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणा में संयम करने से दुखियों के दुःख दूर करने की शक्ति आजाती है। मुदिता में संयम करने से पक्षपाती नहीं होता। चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है इस कारण वह संयम का विषय नहीं बन सकता।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—बलेषु = बलों में (संयम करने से)। हस्ति-बल-आदीनि = हाथी आदि के बल (प्राप्त होते हैं)।

अन्वयार्थ—हाथी आदि के बलों में संयम करने से हाथी आदि के बल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जब योगी हाथी, सिंह आदि के बल और वायु आदि के वेग में तदाकार होकर साक्षात् पर्यन्त संयम करता है तो उन-जैसे बलों को प्राप्त होता है अर्थात् जिसके बल में संयम किया जाता है वही बल प्राप्त होता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्ति-आलोक-न्यासात् = प्रवृत्ति के प्रकाश के डालने से। सूक्ष्म = सूक्ष्म (इन्द्रियातीत)। व्यवहित = व्यवधान वाली (आड़ में रहनेवाली)। विप्रकृष्ट = दूर की वस्तुओं का। ज्ञानम् = ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—प्रवृत्ति के प्रकाश डालने से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का ज्ञान होता है।

व्याख्या—पहिले पाद के छत्तीसवें सूत्र में बतलाई हुई मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को जब योगी संयम द्वारा किसी सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) जैसे अदृश्य परमाणु आदि, व्यवहित (ढके हुए) जैसे भूमि के अन्दर दबी हुई खानें दीवार की ओट में छिपी हुई वस्तुयें, शरीर के अन्दर के भाग इत्यादि, विप्रकृष्ट = दूरस्थ वस्तु पर जहाँ आँख नहीं पहुंचती, डालता है तब उनका उसको प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है जैसे सूर्यादि के प्रकाश से घटादि प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ही ज्योतिष्मती के प्रकाश में सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भुवन-ज्ञानम् = भुवन का ज्ञान। सूर्य-संयमात् = सूर्य में संयम करने से होता है।

अन्वयार्थ—सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है।

व्याख्या—प्रकाशमय सूर्य में साक्षात्-पर्यन्त संयम करने से भूः, भुवः, स्वः आदि सातों लोकों में जो भुवन हैं अर्थात् जो विशेष हदवाले स्थान हैं, उन सबका यथावत् ज्ञान होता है। पिछले पच्चीसवें सूत्र में सात्त्विक प्रकाश के आलम्बन से संयम कहा गया है, इस सूत्र में भौतिक सूर्य के प्रकाश द्वारा संयम बताया गया है। यह इसमें विशेषता है।

टिप्पणी—कई टीकाकारों ने सूर्य का अर्थ इड़ा नाड़ी से लगाया है जो सुषुम्ना के दक्षिण ओर से चली गई है। पर यह अर्थ न भाष्यकार को अभिमत है, न वृत्तिकार को और न इसका प्रसङ्ग से कोई सम्बन्ध है।

भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में अनेक लोकों को बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है उसको इस विषयवालों के लिये उपयोगी न समझकर हमने व्याख्या में छोड़ दिया है और सूत्र का अर्थ भोजवृत्ति के अनुसार किया है।

इस भाष्य के सम्बन्ध में कई-एकों का मत है कि यह व्यासकृत नहीं है, इसीलिये भोजवृत्ति में इसका कोई अंश भी नहीं मिलता।

इसमें अलङ्काररूप से वर्णन की हुई तथा सन्देहजनक बहुतसी बातें स्पष्टीकरणीय भी हैं, इन सब बातों के स्पष्टीकरण के साथ व्यास भाष्य का भावार्थ पाठकों की जानकारी के लिये कर देना उचित समझते हैं—

व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र ॥ २६ ॥

भूमि आदि सात लोक, अवीचि आदि सात महानरक (सात अधो लोक जो स्थूल भूतों की स्थूलता और तमस् के तारतम्य से क्रमानुसार पृथिवी की तली में माने गये हैं) तथा महातल आदि सात पाताल (सात जल के बड़े भाग जो पृथिवी की तली में सात महानरक संज्ञक प्रत्येक स्थूल भाग के साथ माने गये हैं); यह भुवन पद का अर्थ है। इनका विन्यास (ऊर्ध्व-अधोरूप से फैलाव) इस प्रकार है कि अवीचि (पृथिवी से नीचे सबसे पहिला नरक अर्थात् तामसी स्थूल भाग। अवीचि के पश्चात् क्रमानुसार स्थूलता और तामस् आवरण की न्यूनता को लेते हुए छः और स्थूल भाग हैं) से सुमेरु (हिमालय पर्वत) की पृष्ठ पर्यन्त जो लोक है वह भूलोक, है और सुमेरु पृष्ठ से ध्रुव-तारे (PoleStar पोलस्टार)पर्यन्त जो ग्रह, नक्षत्र, तारों से चित्रित लोक है वह अन्तरिक्ष लोक है (यह अन्तरिक्ष लोकही भुवः लोक कहलाता है)। इससे परे पाँच प्रकार के स्वर्ग-लोक हैं। उनमें भूलोक और अन्तरिक्ष-लोक से परे जो तीसरा स्वर्गलोक है वह महेन्द्र लोक (स्वःलोक) कहलाता है। चौथा जो महः लोक है वह प्राजापत्य-स्वर्ग कहलाता है। इससे आगे जो जनः लोक, तपः लोक और सत्यलोक नाम के तीन स्वर्ग हैं, वे तीनों ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। (इन पाँचों स्वः महः, जनः, तपः और सत्यलोक को ही द्यौः लोक कहते हैं)। इन सब लोकों का संग्रह निम्न श्लोक में है—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा॥

(जनः, तपः, सत्यम्) तीन ब्राह्म लोक हैं उनसे नीचे महः नाम का प्राजापत्य लोक है उनसे नीचे स्वः नाम का माहेन्द्र लोक है, उनसे नीचे अन्तरिक्ष में भुवः नामक तारा लोक है। उनसे नीचे प्रजा-मनुष्यों का-लोक-भूलोक है।

जिस प्रकार पृथिवी के ऊपर छः और लोक हैं, इसी प्रकार पृथिवी से नीचे चौदह और लोक हैं उनमें सबसे नीचा अवीचि नरक है। उससे ऊपर महाकाल नरक है जो-मिट्टी, कंकड़, पाषाणादि से युक्त है। उससे ऊपर अम्बरीष नरक है जो जल पूरित है। उससे ऊपर रौरव नरक है जो अग्नि से भरा हुआ है। उससे ऊपर महारौरव नरक है जो वायु से भरा हुआ है। उसके ऊपर महासूत्र नरक है जो अन्दर से खाली है। उसके ऊपर अन्धतामिस्र नरक है जो अन्धकार से व्याप्त है। इन नरकों में वही पुरुष दुःख देने वाली दीर्घ-आयु को प्राप्त होते हैं जिनको अपने किये हुए पाप कर्मों का दुःख भोगना होता है। इन नरकों के साथ महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल, ये सात पाताल हैं। आठवीं इनके ऊपर यह भूमि है जिसको वसुमति कहते हैं जो सात द्वीपों से युक्त है, जिसके मध्य भाग में सुवर्णमय पर्वतराज सुमेरु विराजमान है। उस सुमेरु पर्वतराज के चारों दिशाओं में चार शृंग (पहाड़ की चोटी) हैं। उनमें जो पूर्व दिशा में शृंग है वह रजतमय है (सम्भवतः यह शान स्टेट का पर्वत शृङ्ग हो। बर्मा की शान स्टेट के नमूर पर्वत में आज कल रजत निकलती भी है), दक्षिण दिशा में जो शृङ्ग है वह वैडूर्य्य-मणिमय (नीली मणि के सदृश) है, जो पश्चिम दिशा में शृङ्ग है वह स्फटिक-मणिमय (जोकि प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकती है) और जो उत्तर दिशा में शृङ्ग है वह सुवर्णमय (या सुवर्ण के रंग वाले पुष्प विशेष के वर्णवाला) है। वहाँ वैडूर्य-मणि की प्रभा के सम्बन्ध से सुमेरु के दक्षिण भाग में स्थित आकाश का वर्ण नीलकमल के पत्र के सदृश श्याम (दिखलाई देता) है। पूर्व भाग में स्थित आकाश श्वेत वर्ण (दिखलाई देता) है। पश्चिम भाग में स्थित आकाश स्वच्छ वर्ण (दिखलाई देता) है। और उत्तर भाग में स्थित आकाश पीत वर्ण (दिखलाई देता) है। अर्थात् जैसे वर्ण वाला जिस दिशा का शृङ्ग है वैसे ही वर्ण वाला उस दिशा में स्थित आकाश का भाग (दिखलाई देता) है। इस सुमेरु पर्वत के ऊपर उसके दक्षिण भाग में जम्बू-वृक्ष है जिसके नाम से इस द्वीप का नाम जम्बू-द्वीप पड़ा है (प्रायः विशेष देशों में विशेष वृक्ष हुआ करते हैं। सम्भव है यह प्रदेश किसी काल में जम्बू-वृक्ष-प्रधान देश हो। वर्तमान समय में जम्मू रियासत सम्भवतः जम्बू-द्वीप का अवशेष हो)।

इस सुमेरु के चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है, जिससे यह सर्वदा दिन और रात से संयुक्त रहता है। (जब कोई बड़े मोटे बेलन के साथ पतला छोटा बेलन घूमता है तब वह भी अपना पूरा चक्र करता है इस दृष्टि से उस पतले बेलन के चारों ओर बड़े बेलन का चक्र हो जाता है। इसी प्रकार जब पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो चौबीस घण्टे में सूर्य का भी पृथिवी के चारों ओर घूमना हो जाता है। इस भांति सुमेरु पर्वत के एक ओर उजाला और एक ओर अंधेरा है। उजाला दिन है और अन्धेरा रात्रि है। इसी प्रकार दिन और रात सुमेरु पर्वत से मिले जैसे मालूम होते हैं)। सुमेरु की उत्तर दिशा में नील, श्वेत

और शृङ्गवान् नामवाले तीन पर्वत विद्यमान हैं जिनका विस्तार दो दो हजार वर्ग योजन है। इन पर्वतों के बीच में जो अवकाश (बीच के भाग = घाटी = valley) हैं उनमें रमणक हिरण्मय, उत्तर कुरु (शृङ्गवान् के उत्तर में समुद्र पर्यन्त उत्तर कुरु है। टालेमी ने लिखा है कि चीन के एक प्रदेश का नाम उत्तर कोई Ottarokarrha है, जो कि उत्तर कुरु शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है, इससे आस-पास का समुद्र पर्यन्त प्रदेश उत्तर कुरु प्रतीत होता है।) नामक तीन वर्ष (खण्ड) हैं जो नौ-नौ हजार वर्ग-योजन विस्तार वाले हैं (नीलगिरि मेरु के साथ लगा है। नीलगिरि के उत्तर में रमणक है। पद्म पुराण में इसे रम्यक कहा है। श्वेतगिरि के उत्तर में हिरण्मय है।) और दक्षिण भाग में तीन पर्वत निषध, हेमकूट, हिमशैल दो-दो हजार वर्ग योजन विस्तार वाले हैं (लंका के उत्तर पूर्व सागर तक विस्तृत हिमगिरी है। हिमगिरी के उत्तर हेमकूट है। यह भी समुद्र तक फैला हुआ है। हेमकूट के उत्तर में निषध पर्वत है। यह जनपद शायद विन्ध्याचल पर अवस्थित था। दमयन्ती-पति नल निषध के राजा थे)। इनके बीच के अवकाश में नौ-नौ हजार वर्ग योजन विस्तार वाले तीन वर्ष (खण्ड) हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत विद्यमान हैं (सम्भवतः हिमालय के इलावृत प्रदेश और निषध पर्वत के बीच के प्रदेश को भारत कहा गया हो, हरिवर्ष सम्भवतः वह प्रदेश हो जो कि हरि अर्थात् वानर जाति के राजा सुग्रीव द्वारा कभी शासित होता था)। सुमेरु की पूर्व दिशा में सुमेरु से संयुक्त माल्यवान् पर्वत है (माल्यवान् पर्वत से समुद्र पर्यन्त प्रदेश भद्राश्व नामक है। आजकल बर्मा के नीचे एक मलय प्रदेश है। सम्भवतः यह प्रदेश और इसके ऊपर का बर्मा प्रदेश माल्यवान् हो)। माल्यवान् से लेकर पूर्व की ओर समुद्र पर्यन्त भद्राश्व नामक प्रदेश हैं। [बर्मा और मलय से पूर्व की ओर श्याम और अनाम (इण्डो चाइना) के प्रदेश सम्भवतः भद्राश्व नामक हैं]। सुमेरु के पश्चिम में केतुमाल और गन्धमादन देश हैं। और केतुमाल तथा भद्राश्व के बीच के वर्ष का नाम इलावृत है [सुमेरु के दक्षिण में जो उपत्यका (अर्थात् पर्वतपाद की ऊँची भूमि) है उसे यहाँ इलावृत कहा गया है]।

पचास हजार वर्ग योजन विस्तार वाले देश में सुमेरु विराज मान है और सुमेरु के चारों ओर पचास हजार वर्ग योजन विस्तार वाला देश है। इस प्रकार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का परिमाण सौ हजार वर्ग योजन है। इस परिमाण-वाला जम्बू द्वीप अपने से दुगुने परिमाण वाले वलयाकार (कङ्कण के सदृश गोल आकार वाले) क्षार समुद्र से वेष्टित (घिरा हुआ) है। जम्बू-द्वीप से आगे दुगुने परिमाण वाला शाक-द्वीप है, जो अपने से दुगुने परिमाण वाले वलयाकार इक्षुरस (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है (भारत में शक जाति ने आक्रमण किया था। कास्पीयन सागर के पूर्व की ओर "साकी" नाम की एक जाति का निवास है। युरोपीय पुराविदों ने स्थिर किया है कि वर्तमान तातार, एशियाटिक रूस, साईबेरिया, क्रिमिया, पोलैण्ड, हङ्गरी का कुछ हिस्सा, लिथुयनिया, जर्मनी का उत्तरांश, स्वीडन, नारवे आदि को शाकद्वीप कहा गया है)। इससे आगे इससे दुगुने परिमाण वाला कुश-द्वीप है, जो अपने से दुगुने परिमाण वाले

वलयाकार मदिरा (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तार वाला क्रौञ्च-द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाण वाले वलयाकार घृत (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे इससे दुगुने परिमाण वाला शाल्मलि द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाण वाले वलयाकार दधि (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने परिमाण वाला मगध-द्वीप है जो अपने से दुगुने परिमाण वाले वलयाकार क्षीर (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तार वाला पुष्कर-द्वीप है, जो अपने से दुगुने विस्तार वाले वलयाकार मिष्ट जल के समुद्र से वेष्टित है। इन सातों द्वीपों से आगे लोकाऽलोक पर्वत है। इस लोकाऽलोक पर्वत से परिवृत जो सात समुद्र सहित सात द्वीप हैं वे सब मिल कर पचास कोटि वर्ग योजन विस्तार वाले हैं [वर्तमान समय में पृथिवी का क्षेत्र फल १९६५०००० वर्ग मील तथा घन फल २५९८८००००००० घन मील माना जाता है। साथ ही वर्तमान समय में योजन ४ कोसों का तथा कोस २ मील के लगभग माना जाता है]। यह जो लोकाऽलोक पर्वत से परिवृत विश्वम्भरा (पृथिवी) मण्डल है वह सब ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत संक्षिप्त रूप से वर्तमान है और यह ब्रह्माण्ड प्रधान का एक सूक्ष्म अवयव है, क्योंकि जैसे आकाश के एक अति अल्प देश में खद्योत विराजमान होता है वैसे ही प्रधान के अति अल्प देश में यह सारा ब्रह्माण्ड विराजमान है।

इन सब पाताल, समुद्र, पर्वतों में असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराएँ, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, विनायक नाम वाले देवयोनि-विशेष (मनुष्यों की अपेक्षा निकृष्ट अर्थात् राजसी तामसी प्रकृति वाले प्राणधारी) निवास करते हैं। और सब द्वीपों में पुण्यात्मा देव-मनुष्य निवास करते हैं। सुमेरु पर्वत देवताओं की उद्यान-भूमि है, वहाँ पर मिश्र-वन, नन्दन-वन चैत्ररथ-वन, सुमानस-वन चार वन हैं। सुमेरु के ऊपर सुधर्म नामक देव सभा है, सुदर्शन नामक पुर है और वैजयन्त नामक प्रासाद (देव-महल) है। यह सब पूर्वोक्त भूलोक कहा जाता है। इसके ऊपर अन्तरिक्ष-लोक है जिसमें ग्रह (बुध, शुक्र आदि जो कि सूर्य के चारों ओर घूमते हैं), नक्षत्र (अश्विनी आदि जिसमें कि चंद्रमा गति करता है), तारका (ग्रहों और नक्षत्रों से भिन्न अन्य तारे तथा तारा मण्डल) भ्रमण करते हैं। यह सब ग्रह, नक्षत्र आदि, ध्रुव नामक ज्योति (Pole star पोल स्टार) के साथ, वायुरूप रज्जु से बँधे हुए (वायु मण्डल में स्थित) वायु के नियत सञ्चार से लब्ध सञ्चार वाले होकर, ध्रुव के चारों ओर भ्रमण करते हैं। ध्रुवसंज्ञक ज्योति मेढिकाष्ठ (एक काठ का स्तम्भ जो कि खलिहान के मध्य में खड़ा होता है जिसके चारों ओर बैल घूमते हैं) के सदृश निश्चल है। इसके ऊपर स्वर्गलोक है जिसको माहेन्द्र-लोक कहते हैं। माहेन्द्र-लोक में त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मित-वशवर्ती; ये छः देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता संकल्पसिद्धि अणिमादि ऐश्वर्य-सम्पन्न और कल्पायुष वाले तथा वृन्दारक (पूजने

योग्य) कामभोगी और औपपादिक देहवाले (बिना मात-पिता के दिव्य शरीर वाले) हैं; और उत्तम अनुकूल अप्सरायें इनकी स्त्रियाँ हैं।

इस स्वर्गलोक से आगे महान् नामक स्वर्ग-विशेष है, जिसको महालोक तथा प्राजापत्य-लोक कहते हैं। इसमें कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ, प्रचिताभ ये पाँच प्रकार के देवयोनि-विशेष काम करते हैं। ये सब देवविशेष महाभूतवशी (जिनकी इच्छामात्र से महाभूत कार्यरूप में परिणत होते हैं) और ध्यानाहार (बिना अन्नादि के सेवन किये ध्यानमात्र से तृप्त और पुष्ट होने वाले) तथा सहस्र कल्प आयु वाले हैं। महर्लोक से आगे जनःलोक है जिस को प्रथम ब्रह्म लोक कहते हैं। जनःलोक में ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर, ये चार प्रकार के देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये भूत तथा इन्द्रियों को स्वाधीन करणशील हैं। जनः लोक से आगे तपःलोक है जिसको द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं। तपोलोक में आभास्वर, महाभास्वर, सत्य-महाभास्वर; ये तीन प्रकार के देवयोनि-विशेष निवास करते हैं, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति (अन्तःकरण) इन तीनों को स्वाधीन करणशील हैं और पूर्व से उत्तर-उत्तर दुगुने-दुगुने आयुवाले हैं। ये सभी ध्यानाहार ऊर्ध्वरेतस् (जिनका वीर्यपात कभी नहीं होता) हैं। ये ऊर्ध्व सत्यादि लोक में अप्रतिहत ज्ञानवाले और अधर, अवीचि आदि लोक में अनावृत ज्ञानवाले अर्थात् सब लोकों को यथार्थ रूपसे जानने वाले हैं। तपोलोक से आगे सत्यलोक है जिसको तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं। इस मुख्य ब्रह्मलोक में अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी ये चार प्रकार के देवता विशेष निवास करते हैं। ये अकृत-भवनन्यास (किसी एक नियत गृह के अभाव होने से अपने शरीररूप गृह में ही स्थित) होने से स्वप्रतिष्ठित हैं और यथाक्रम से ऊँची-ऊँची स्थिति वाले हैं। ये प्रधान (अन्तःकरण) को स्वाधीन करणशील और पूरी सर्ग आयु वाले हैं। अच्युत नामक देव-विशेष सवितर्क ध्यानजन्य सुख भोगने वाले हैं, शुद्धनिवास सविचार ध्यान से तृप्त हैं। इस प्रकार ये सभी सम्प्रज्ञात (समाधिपाद सूत्र १७) निष्ठ हैं। ये सब मुक्त नहीं हैं, किन्तु त्रिलोकी के मध्य में ही प्रतिष्ठित हैं। इन पूर्वोक्त सातों लोकों को ही परमार्थ से ब्रह्मलोक जानना चाहिये। (क्योंकि हिरण्यगर्भ के लिङ्गदेह से यह सब लोक व्याप्त है)।

विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी (समाधिपाद सूत्र १९) मोक्षपद (कैवल्य पद) के तुल्य स्थिति में हैं इसलिये वे किसी लोक में निवास करने वालों के साथ नहीं उपन्यास किये गए।

सूर्यद्वार (सुषुम्ना नाड़ी) संयम करके योगी इस भुवन-विन्यास के ज्ञान को सम्पादन करे। किन्तु यह नियम नहीं है कि सूर्यद्वार में संयम करने से ही भुवन-ज्ञान होता हो, अन्य स्थान में संयम करने से भी भुवन-ज्ञान हो सकता है, परन्तु जब तक भुवन का साक्षात्कार न हो जावे तब तक दृढ़चित्त से संयम का अभ्यास करता रहे और बीच-बीच में उद्वेग से उपराम न हो जावे।

उपर्युक्त व्यास भाष्य में बहुत सी बातों का हम ने स्पष्टीकरण कर दिया है। कुछ एक बातें जो पौराणिक विचारों से सम्बन्ध रखती हैं उनको हमने वैसा ही छोड़ दिया है।

भूलोक अर्थात् पृथिवी लोक को विशेष रूप से वर्णन किया गया हैं। उस के ऊपरी भाग को जो सात द्वीपों और सात महा सागरों में विभक्त किया गया है उनका इस समय ठीक ठीक पता चलना कठिन है क्यों कि उस प्राचीन समय से अब तक भूलोक सम्बन्धी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया होगा तथा योजन चार कोस को कहते हैं। यहां कोस का क्या पैमाना है यह भाष्यकार ने नहीं बतलाया है। यह वही हो सकता है जिसके अनुसार भाष्यकार का परिमाण पूरा हो सके। वर्तमान समय के अनुसार सात द्वीप और सात सागर निम्न प्रकार हो सकते हैं। सात द्वीपः—१. एशिया का दक्षिण भाग अर्थात् हिमालय पर्वत के दक्षिण में जो अफगानिस्तान, भारतवर्ष, बर्मा और स्याम आदि देश हैं। २. एशिया का उत्तरी भाग अर्थात् हिमालय पर्वत के उत्तर में तिब्बत, चीन तथा तुर्किस्तान इत्यादि। ३. यूरोप, ४. अफ्रीका, ५. उत्तरी अमेरिका, ६. दक्षिणी अमेरिका ७. भारतवर्ष के दक्षिण पूर्व म जो जावा सुमात्रा और आस्ट्रेलिया आदि का द्वीप समूह है।

सात महा सागर :—१. हिन्द महासागर (Indian Oceon)

२. प्रशान्त महासागर (Pacible Ocean)

३. अन्ध महासागर (Atlantie Ocean)

४. उत्तर हिममहासागर (Arctie Ocean)

५. दक्षिण हिममहासागर (Antaritie Ocean)

६. अरब सागर (Arabian Sea)

७. भूमध्य सागर (Meaitranian Sea)

सुमेरु अर्थात् हिमालय पर्वत उस समय भी ऊंची कोटि के योगियों के तप का स्थान था।

स्थूल भूतों की स्थूलता और तमस् के तारतम्य के क्रमानुसार पृथिवी के नीचे भाग को सात अधो लोकों में नरक लोकों के नाम से विभक्त किया गया है। इनके साथ जो जल के भाग हैं उनको सात पातालों के नाम से दर्शाया गया है तथा इन तामसी स्थानों में रहने वालों मनुष्य से नीची राजसी तामसी योनियों को असुर राक्षस आदि नामों से वर्णन किया गया है।

भुवः—लोक अन्तरिक्ष लोक है जिस के अन्तर्गत पृथिवी के अतिरिक्त इस सूर्य्य मण्डल के ध्रुव पर्य्यन्त सारे ग्रह नक्षत्र तारका आदि तारा गण हैं। यह सब भूलोक अर्थात् हमारी पृथिवी के सदृश स्थूल भूतों वाले हैं। इनमें किसी में पृथिवी किसी में जल किसी में अग्नि और किसी में वायु तत्त्व की प्रधानता है।

अन्य पांच सूक्ष्म और दिव्य लोक हैं जिनकी सम्मिलित संज्ञा द्यौःलोक है। यह सारे भू भुवः अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक के अन्दर हैं। इनकी सूक्ष्मता और सात्त्विकता का क्रमानुसार तारतम्य चला गया है अर्थात् भू और भुवः के अन्दर स्वः, स्वः के अन्दर महः, महः के अन्दर जनः, जनः के अन्दर तपः और तपः के अन्दर सत्य लोक है।

इनके सूक्ष्मता और सात्त्विकता के तारतम्य से और बहुत से अवान्तर भेद भी हो सकते हैं। इनमें से स्वः, महः, स्वर्गलोक, और जनः, तपः और सत्यलोक ब्रह्म लोक कहलाते हैं। इनमें वे योगी स्थूल शरीर को छोड़ने के पश्चात् निवास करते हैं जो वितर्कानुगत भूमि की परिपक्व अवस्था, विचारानुगत भूमि तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि की आरम्भिक अवस्था में सन्तुष्ट हो गए हैं और जिन्होंने विवेक ख्याति द्वारा सारे क्लेशों को दग्ध बीज करके असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा स्वरूपावस्थिति के लिये यत्न नहीं किया है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि की परिपक्व अवस्था वाले उच्चतर और उच्चतम कोटी के विदेह और प्रकृतिलय योगी सूक्ष्म शरीरों सूक्ष्म इन्द्रियों और सूक्ष्म विषयों को अतिक्रमण कर गए हैं इसलिये वे इन सब सूक्ष्म लोकों से परे कैवल्य पद जैसी स्थिति को प्राप्त किये हुए हैं।

सूर्य के भौतिक स्वरूप में संयम द्वारा योगी को भूलोक अर्थात् पृथिवी लोक और भुवः लोक अर्थात् अन्तरिक्ष लोक के अन्तर्गत सारे स्थूल लोकों का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है और इसी संयम में पृथिवी का आलम्बन करके अथवा केवल पृथिवी के आलम्बन सहित संयम द्वारा पृथिवी के ऊपर के द्वीपों सागरों पर्वतों आदि तथा उसके अधो लोकों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यान की अधिक सूक्ष्म अवस्था में इसी उपर्युक्त संयम के सूक्ष्म हो जाने पर अथवा सूर्य्य के अध्यात्म सूक्ष्म स्वरूप में संयम द्वारा सूक्ष्म लोकों अर्थात् स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

वाचस्पति मिश्र ने सूर्य्य द्वार को सुषुम्ना नाड़ी मान कर सुषुम्ना नाड़ी में संयम करके भुवन विन्यास के ज्ञान को सम्पादन करना बतलाया है। वास्तव में कुण्डलिनी जागृत होने पर सुषुम्ना नाड़ी में जब सारे स्थूल प्राणादि प्रवेश कर जाते हैं तभी इस प्रकार के अनुभव होते हैं।

उस समय संयम की भी आवश्यक्ता नहीं रहती किन्तु जिधर वृत्ति जाती है अथवा जिसका पहिले ही से संकल्प कर लिया है उसी का साक्षात्कार होने लगता है।

संगति—अन्य भौतिक प्रकाश को संयम का विषय बनाकर भिन्न-भिन्न सिद्धियें कहते हैं :—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—चन्द्रे = चन्द्रमा में (संयम करने से) तारा-व्यूह-ज्ञानम् = ताराओं के व्यूह का (नक्षत्रों के स्थानविशेष का) ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—चन्द्रमा में संयम करने से ताराओं के व्यूह का ज्ञान होता है।

व्याख्या—ताराओं की स्थिति का अर्थात् अमुक तारा अमुक स्थान पर है इसका यथावत् ज्ञान चन्द्रमा में संयम करने से होता है। पृथिवी एक दिन में, प्रायः दो दो घण्टों में एक एक राशि के हिसाब से, बारह राशियों को एक बार देखा करती है। और एक एक राशियों से एक एक मास तक निवास करती हुई १२ राशियों का चक्कर १२ मासों में

अर्थात् एक वर्ष में करता है। परन्तु चन्द्रमा चूँकि अपने चान्द्रमास में एक बार पृथिवी के चारों ओर घूमता है, अर्थात् एक चान्द्रमास में १२ राशियों में एक बार घूम लेता है, इस लिये एक वर्ष में चन्द्र बारह राशियों में घूमेगा। इस कारण चन्द्र में संयम द्वारा योग को राशि चक्र का क्रमानुसार रीति से हो सकता है। ज्योतिष का यह सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सब में चन्द्र एक राशि पर सब से कम समय तक रहता है, इस हिसाब से प्रत्येक तारा व्यूह राशि की आकर्षण विकर्षण शक्ति के साथ चन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इस आकर्षण विकर्षण शक्ति के अवलम्बन से कुछ तारा व्यूह के ज्ञान में चन्द्र की सहायता ली जा सकती है।

टिप्पणी—कई टीकाकारों ने चन्द्रमा से इडानाड़ी अर्थ लिया है जो सुषुम्ना के बाम ओर से गई है। यह अर्थ व्यासभाष्य और भोजवृत्ति के अभिमत नहीं है और न इसका प्रसंग से कोई सम्बन्ध है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—ध्रुवे=ध्रुव में संयम करने से। तद्गतिज्ञानम्=उनकी (ताराओं की) गति का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—ध्रुव में संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

व्याख्या—ध्रुव सब ताराओं में प्रधान और निश्चल है। इसलिए इसमें संयम करने से प्रत्येक तारा की गति का ज्ञान, नियत काल और नियत देश सहित हो जाता है। अर्थात् इतने समय में यह तारा अमुक राशि, अमुक नक्षत्र में जावेगा।

टिप्पणी—कई टीकाकारों ने ध्रुव से सुषुम्ना नाड़ी अर्थ लिया है जो मेरुदण्ड में मूलाधार से लेकर सहस्रार तक चली गई है। पूर्व सूत्र की टिप्पणी में इस सम्बन्ध में जो लिख आये हैं वही यहाँ भी समझना चाहिए।

व्यास भाष्य में इतना और है—ऊर्ध्व (आकाश में उड़ने वाले) विमानों में संयम करने से उनका ज्ञान होता है।

संगति—बाहर की सिद्धियों का प्रतिपादन करके अब आभ्यन्तर सिद्धियों का आरम्भ करते हैं :—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—नाभिचक्रे=नाभि चक्र में संयम करने से। कायव्यूहज्ञानम्=शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—नाभि चक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है।

व्याख्या—१६ अरों (सिरों) वाला नाभिचक्र, शरीर के मध्य में है और सब ओर फैली हुई नाड़ियों आदि का विशेष स्थान है। इसलिए इसमें संयम करने से शरीर में रहने वाले वात, पित्त, कफ तीनों दोष और त्वचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चर्बी, वीर्य सातों धातुओं की स्थिति आदि का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—कण्ठ-कूपे = कण्ठ-कूप में (संयम करने से) क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः = क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ—कण्ठ-कूपमें संयम करने से क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास) की निवृत्ति होती है।

व्याख्या—जिह्वाके नीचे सूत के समान एक नस है उसके नीचे कण्ठ है। उस कण्ठ के नीचे जो गढ़ा है उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस स्थान में प्राणादिकों का स्पर्श होने से पुरुष को भूख-प्यास लगती है। इसलिये इस कण्ठ-कूप में संयम द्वारा प्राणादिकों के स्पर्श की निवृत्ति होजाने से योगी को भूख प्यास नहीं लगती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—कूर्मनाड्यां = कूर्म नाड़ी में (संयम करने से) स्थैर्यम् = स्थिरता होती है।

अन्वयार्थ—कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है।

व्याख्या—कण्ठ-कूपके नीचे छाती में कछुवे के आकार वाली एक नाड़ी है। उसे कूर्म-नाड़ी कहते हैं। उसमें संयम करने से स्थिरता की प्राप्ति होती है। जैसे सर्प और गोह स्थिर होते हैं। (प्रसिद्धि भी है और वास्तविक घटना भी है—सर्प छिद्र में आधा घुसा हो तो आधे को पकड़ कर कितना ही बलपूर्वक खींचे वह ऐसा जम जाता है कि चाहे टूट जाये परन्तु खिंचता नहीं। यही बात गोह के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है, प्रायः चोर किसी वृक्ष पर चढ़ने के निमित्त गोह के कमर में रस्सी बाँध कर उसको ऊपर चढ़ा देते हैं। जब वह मुंडेर पर पहुँच जाती है तब पैर जमा लेती है और चोर रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ जाते हैं। श्री अंगद जी के पैर न उठने की बात भी इसी संयम के सिद्धि की सूचक है।)

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—मूर्ध-ज्योतिषि = मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से)। सिद्ध-दर्शनम् = सिद्धों का दर्शन होता है।

अन्वयार्थ—मूर्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है।

व्याख्या—शरीर के कपाल में ब्रह्म-रन्ध्र नामक एक छिद्र है। उसमें जो प्रकाश वाली ज्योति है वह मूर्धा-ज्योति कहलाती है। उसमें संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं। द्यौ और पृथिवीलोक में विचरने वाले सिद्ध (व्यासभाष्य) द्यौ और पृथिवीलोक के अन्तराल में विचरनेवाले सिद्ध, अर्थात् दिव्य-पुरुष जो दूसरे प्राणियों को अदृश्य रहते हैं, योगी उनको ध्यानावस्था में देखता है और उनके साथ भाषण करता है। (भोजवृत्ति)

विशेष विचार—इस ज्योति का सम्बन्ध भ्रकुटी अर्थात् आज्ञाचक्र से है। इसलिये ब्रह्मरन्ध्र में प्राण तथा मनको स्थिर करने के पश्चात् जब आज्ञाचक्र में ध्यान किया जाता है तो इस मूर्धा ज्योति के सत्त्वगुण के प्रकाश में सूक्ष्म जगत् का अनुभव होने लगता है। विशेष १।२४ के वि० व० देखो।

संगति—सब वस्तुओं को जानने का उपाय कहते हैं :—

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—प्रातिभाद्वा = अथवा प्रातिभ-ज्ञान से। सर्वम् = सबकुछ जाना जाता है।

अन्वयार्थ—अथवा प्रातिभ-ज्ञान से योगी सबकुछ जानलेता है।

व्याख्या—प्रातिभ (Intutional insight) वह प्रकाश अथवा ज्ञान है जो बिना किसी बाहर के निमित्त के स्वयं अन्दर से प्राप्त हो। प्रातिभ ही तारक-ज्ञान (३-५४) का नाम है। यह विवेक-ज्ञान का प्रथम रूप है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने का प्रथम ज्ञापक चिन्ह प्रभा है इसी प्रकार प्रसंख्यान के उदय होने का प्रथम लिङ्ग प्रातिभज्ञान है। जैसे सूर्य की प्रभा के उत्पन्न होने पर सबकुछ जाना जा सकता है इसीप्रकार प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी बिना संयम के ही सबकुछ जान लेते हैं। वा (अथवा) शब्द इस अभिप्राय से लगाया गया है कि इससे पूर्व जो-जो संयम कहा गया है उससे जिन-जिन विषयों का ज्ञान होता है वह सब प्रातिभ-ज्ञान से होजाता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—हृदये = हृदय में (संयम करने से)। चित्त-संवित् = चित्तका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—हृदयकमल चित्त का निवासस्थान है, उसमें संयम करने से वृत्तिसहित चित्त का साक्षात्कार होता है। विशेष व्याख्या १।३४ के वि० व० में अनाहतचक्र देखें।

टिप्पणी:—हृदय शरीर में विशेष स्थान है उसमें सूक्ष्म कमलाकार जिसका मुख नीचे को है उसके अन्दर अन्तःकरण चित्त का स्थान है। उसमें जिस योगी ने संयम किया है उसको अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है। अपने चित्त में प्रविष्ट सब वासनाओं और दूसरे के चित्त में प्रविष्ट रागादि को जान लेता है। यह अर्थ है। भोजवृत्ति

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—सत्त्व-पुरुषयोः = चित्त और पुरुष। अत्यन्त-असंकीर्णयोः = जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (इन दोनों की)। प्रत्यय-अविशेषः = प्रतीतियों का अभेद। भोगः = भोग है। उनमें से। परार्थ = परार्थ प्रतीति (से)। अन्य-स्वार्थ-संयमात् = भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति (पौरुषेय प्रत्यय) है उसमें संयम करने से। पुरुष-ज्ञानम् = पुरुष का ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इन दोनों की प्रतीतियों का अभेद भोग है। उनमें से परार्थ प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

व्याख्या—सत्त्व अर्थात् चित्त प्रकाश और सुखरूप होने से, और पुरुष ज्ञानस्वरूप

होने से तुल्य-जैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं क्योंकि चित्त परिणामी, जड़ और भोग्यरूप है और पुरुष निर्विकार, चैतन्य और भोक्ता-स्वरूप है। इस जड़ चित्त में चैतन्य पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर जो दुःख, सुख और मोहरूपी वृत्तियों का उदय होता है यह प्रत्ययाविशेष है क्योंकि इससे चित्त के धर्म सुख, दुःख और मोह आदि का चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुष में अध्यारोप होता है। यही प्रत्ययाविशेष अर्थात् चित्त और चित्त में प्रतिबिम्बित चेतन के प्रत्ययों (वृत्तियों) का अभेद भोग है। यह भोगरूप प्रत्यय यद्यपि चित्त का धर्म है तथापि चित्त को (परार्थत्वात्) पुरुष के अर्थवाला होने से और पुरुष का चित्त का भोक्ता होने से यह भोगरूप प्रत्यय भी परार्थ अर्थात् पुरुष के अर्थ है। और जो भोगरूप प्रत्यय से भिन्न चेतनमात्र को अवलम्बन करने वाला पौरुषेय प्रत्ययरूप चित्त का धर्म है वह स्वार्थ प्रत्यय है।

अर्थात् यद्यपि सुख, दुःखादिकों के अनुभव का नाम भोग है और भोग का अनुभव करनेवाला भोक्ता कहलाता है ऐसा भोग-कर्तृत्वरूप-भोक्तृत्व निर्विकार-चेतन-पुरुष में भी वास्तव में सम्भव नहीं है। तथापि चित्त के धर्म इस प्रत्ययरूप भोग सुख, दुःख आदिकों का पुरुष के प्रतिबिम्ब द्वारा पुरुष में आरोप-स्वरूप ही है। जैसे स्वच्छ जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में जल के कम्पन से चन्द्रमा काँपता है, ऐसा कम्पन का आरोप होता है। वास्तव में चन्द्रमा में कम्पन नहीं होता है, वैसे ही यह भोग चित्त का परिणाम होने के कारण वास्तव में चित्त ही में होता है। परन्तु प्रतिबिम्ब द्वारा निर्विकार पुरुष में सुख-दुःखादिकों का आरोपरूप भोग है। इसलिए आरोपित भोग वाला होने से पुरुष भोक्ता कहलाता है। ऐसा चित्त का परिणाम प्रत्ययस्वरूप-भोग जड़ होने से परार्थ है और परार्थ होने से भोग्य है क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। इस परार्थ जड़ भोग से भिन्न जो पुरुष का प्रतिबिम्बित रूप प्रत्यय है वह स्वार्थ कहलाता है। यह पौरुषेय प्रत्ययरूप भोग किसी का भोग्य नहीं है। उस प्रतिबिम्बरूप स्वार्थ प्रत्यय को पौरुषेय प्रत्यय और पौरुषेय बोध भी कहते हैं। इस स्वार्थ प्रत्यय में संयम करने से पुरुष (विषयक) ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुष को विषय करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चित्त के धर्म पुरुष प्रत्यय से पुरुष जाना जाता है किन्तु पुरुष ही चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ स्वात्मावलम्बन (अपने स्वरूप को प्रकाश करने वाली) रूप प्रत्यय को देखता है। क्योंकि ज्ञाता पुरुष का वास्तविक स्वरूप चित्त द्वारा नहीं जाना जा सकता है, जैसा बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्

अर्थ—सबको जानने वाले विज्ञाता को किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसी से नहीं जाना जा सकता है।

विशेष वक्तव्य—। सूत्र ३५। वाचस्पति आदि ने इस सूत्र में "परार्थ स्वार्थ संयमात्" पाठ पढ़कर 'अन्य' शब्द का अध्याहार करके अर्थ पूरा किया है। पर भोजवृत्ति का पाठ "परार्थान्यस्वार्थसंयमात्" अध्याहार की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए यहाँ यही

पाठ रखा गया है। इस सूत्र के भाव को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से भोजवृत्ति का भाषार्थ भी दिये देते हैं—

भोजवृत्ति का भाषार्थ— । सूत्र ३५ । सत्त्व (चित्त=बुद्धि) जो प्रकाश और सुखरूप है वह प्रकृति का परिणाम-विशेष है। पुरुष उसका भोक्ता और अधिष्ठाता (स्वामी) रूप है। ये दोनों भोग्य-भोक्ता और जड़-चेतनरूप होने से अत्यन्त भिन्न हैं। इन दोनों के प्रत्ययों (वृत्तियों=ज्ञानों) का जो अविशेष अर्थात् अभेद का भासित होना है उससे सत्त्व (चित्त=बुद्धि=अन्तःकरण) की कर्तृत्व-वृत्ति द्वारा जो सुख, दुःख का ज्ञान होता है वह भोग है। सत्त्व (चित्त=बुद्धि) स्वार्थ अर्थात् अपने किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए वह भोग उसके लिये 'स्वार्थ' नहीं है किन्तु 'परार्थ' दूसरे के निमित्त अर्थात् पुरुष के निमित्त है। उसमें भिन्न 'स्वार्थ' पुरुष का अपने स्वरूप-मात्र का आलम्बन (अपने स्वरूप का विषय करना) अर्थात् अहंकार-रहित सत्त्व (चित्त=बुद्धि) में जो चेतन के छाया (प्रतिबिम्ब) का संक्रमण है उसमें संयम करने वाले योगी को पुरुष-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार पुरुष स्वावलम्बन (अपने स्वरूप को विषय करनेवाले) सत्त्व (चित्त) में रहने वाले ज्ञान को जान लेता है। यह नहीं है (इससे यह न समझना चाहिये) कि इस प्रकार ज्ञाता चेतन पुरुष ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि ऐसा मानने में ज्ञाता पुरुष ज्ञेय (ज्ञान का विषय) मानना पड़ेगा और ज्ञाता और ज्ञेय में अत्यन्त भेद है।

संगति - स्वार्थ-प्रत्यय के संयम के मुख्य-फल अर्थात् पुरुष-ज्ञान के उत्पन्न होने से पूर्व जो सिद्धियाँ होती हैं उनका निरूपण करते हैं:—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—ततः=उस स्वार्थसंयम के अभ्यास से। प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श-आस्वाद-वार्ता-जायन्ते=प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

अन्वयार्थ—उस स्वार्थ-संयम के अभ्यास से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—स्वार्थ-संयम के अभ्यास से पुरुष-ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व निम्न प्रकार की छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं—

१ प्रातिभ—मन में सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) व्यवहित (छिपी हुई) विप्रकृष्ट (दूरस्थ) अतीत और अनागत वस्तुओं के जानने की योग्यता। सूत्र ३।३३

२ श्रावण—श्रोत्रेन्द्रिय की दिव्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता।

३ वेदना—त्वचा इन्द्रिय की दिव्यस्पर्श जानने की योग्यता।

'वेद्यतेऽनया' इस व्युत्पत्ति के द्वारा स्पर्शेन्द्रिय में उत्पन्न ज्ञान की 'वेदना' संज्ञा है।
—(भोजवृत्ति)

४ आदर्श—नेत्रेन्द्रिय की दिव्य रूप देखने की योग्यता।

आ समन्ताद् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन

इस व्युत्पत्ति से नेत्रेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान का नाम आदर्श है। —(भोजवृत्ति)

५ आस्वाद—रसनेन्द्रिय की दिव्य रस जानने की योग्यता।

६ वार्ता—घ्राणेन्द्रिय की दिव्य गन्ध सूंघने की योग्यता।

शास्त्रीय परिभाषा में वृत्ति शब्द घ्राणेन्द्रिय का वाची है 'वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः गन्ध जिसका विषय है वह वृत्ति है अर्थात् नासिकाग्रवर्ती घ्राणेन्द्रिय है, उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'वार्ता' कहलाता है। —(भोजवृत्ति)

संगति—स्वार्थ प्रत्यय का संयम पुरुष-ज्ञान के निमित्त किया है उससे पूर्व इन सिद्धियों को पाकर योगी अपने-आप को कृतार्थ मानकर उपराम को प्राप्त न हो जावे किन्तु पुरुष-ज्ञान के लिए बराबर प्रयत्न करता रहे, इस हेतु से कहते हैं:—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—ते = वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ। समाधौ-उपसर्गाः = समाधि (पुरुष दर्शन) में विघ्न हैं। व्युत्थाने-सिद्धयः = व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

अन्वयार्थ—वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्र में बतलाई हुई छः सिद्धियाँ एकाग्र चित्त वालों की समाधि-प्राप्ति (पुरुष दर्शन) में विघ्नकारक हैं। क्योंकि उनमें हर्ष, गौरव, आश्चर्यादि करने से समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान-दशा में विशेष फलदायक होने से सिद्धिरूप होती हैं अर्थात् जैसे जन्म का कँगला अत्यल्प द्रव्य को पाकर ही अपने-आपको कृतार्थ समझने लगता है वैसे ही विक्षिप्त चित्तवालों को ही पुरुष-ज्ञान से पूर्व होने वाले उपर्युक्त प्रातिभादि छः ऐश्वर्य सिद्धिरूप दीखते हैं।

समाहित चित्त वाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्यों से दोष-दृष्टि द्वारा उपराम होकर इनको समाधि में रुकावट जानकर अपने अन्तिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार के लिए स्वार्थ संयम का निरन्तर प्रमाद-रहित होकर अभ्यास करता रहे।

संगति—पुरुष-दर्शन पर्यन्त संयम का फल ज्ञानरूप ऐश्वर्य-विभूतियों का निरूपण करके अब क्रियारूप सिद्धियों को दिखलाते हैं:—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—बन्ध-कारण शैथिल्यात् = बन्ध के कारण के शिथिल करने से। प्रचार-संवेदनात्-च = और घूमने के मार्ग जानने से। चित्तस्य = चित्त का (सूक्ष्म शरीर का)। पर-शरीर-आवेशः = दूसरे के शरीर में आवेश होता है।

अन्वयार्थ—बन्ध के कारण के शिथिल करने से और घूमने के मार्ग के जानने से चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरे के शरीर में आवेश होता है।

व्याख्या—चित्त का शरीर में बन्ध रहने का कारण धर्माऽधर्म अर्थात् सकाम कर्म और उनकी वासनायें हैं। योगी जब धारणा, ध्यान, समाधि के अभ्यास से सकाम कर्मों को छोड़कर निष्काम कर्मों का आसरा लेता है तो इन बन्धों के कारणों को ढीला कर देता है और नाड़ियों में संयम करके चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के उनमें आने जाने का मार्ग प्रत्यक्ष कर लेता है। इस प्रकार जब बन्ध के कारण शिथिल हो जाते हैं और नाड़ियों में चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के घूमने के मार्ग का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है तब योगी में यह सामर्थ्य हो जाती है कि वह अपने शरीर से चित्त (सूक्ष्म-शरीर) को निकालकर किसी दूसरे शरीर में डाल सके। चित्त के अनुसार ही इन्द्रियाँ भी यथास्थान आवेश कर जाती हैं।

टिप्पणी—भोज वृत्ति का भाषार्थ—। सूत्र ३८। अन्य सिद्धि कहते हैं :—

आत्मा और चित्त व्यापक है, पर नियत कर्मों (भले-बुरे कर्मों) के वश से ही शरीर के भीतर रहते हैं। उनका जो भोक्ता (आत्मा) और भोग्य (चित्त) बनकर बँध जाना है यह ही शरीर का बन्धन है। इस बन्धन का कारण, धर्म और अधर्म जब समाधि से शिथिल अर्थात् कृश हो जाता है तब हृदय से लेकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों के सम्मुख जो चित्त का प्रचार (फैलाव वा गमनागमन का मार्ग) है उसका ज्ञान हो जाता है कि यह चित्त को बहाने वाली (चित्त के गमनागमन की) नाड़ी है। इससे चित्त बहता है अर्थात् विषयों में जाता है। और यह नाड़ी रस और प्राणादि को बहानेवाली नाड़ियों से भिन्न है। जब अपने और दूसरों के शरीरों में चित्त के सञ्चार को जान जाता है तब दूसरे के मृतक शरीर में वा जीते हुए शरीर में चित्त के सञ्चार द्वारा प्रवेश करता है। दूसरे के शरीर में प्रवेश होने पर चित्त के पीछे अन्य सब इन्द्रियाँ भी साथ ही लेती हैं, जैसे रानी मक्खी के पीछे अन्य मक्खियाँ। दूसरे के शरीर में घुसा हुआ योगी अपने शरीर की तरह उस शरीर में वर्तता है, क्योंकि चित्त और पुरुष दोनों व्यापक हैं इसलिये भोगों के संकोच का कारणरूप कर्म (क्रिया) यदि समाधि से हट गया तो स्वतन्त्रता के कारण सर्वत्र ही भोग सम्पादन हो सकता है।

उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—उदान-जयात् = संयम द्वारा उदान के जीतने से। जल = जल। पंक = कीचड़। कण्टक-आदिषु = काँटों आदि में। असङ्गः = असङ्ग रहना होता है। उत्क्रान्तिःच = और ऊर्ध्व गति होती है।

अन्वयार्थ—(संयम द्वारा) उदान के जीतने से जल, कीचड़, काँटों आदि में असङ्ग रहना और ऊर्ध्व गति होती है।

व्याख्या—शरीर से समस्त इन्द्रियों में वर्तने वाले जीवन का आधार प्राणवायु है। उसके क्रियाभेद से पाँच मुख्य नाम हैं :—

१ प्राण—यह इन पाँचों में सब से प्रथम है, यह मुख और नासिका द्वारा गति

करने वाला है। नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदय-पर्यन्त वर्तता है।

२ अपान—नीचे को गति करनेवाला है। मूत्र, पुरीष और गर्भ आदि को नीचे ले जाने का हेतु है। नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है।

३ समान—खान-पान के रस को सम्पूर्ण शरीर में अपने-अपने स्थान पर समान रूप से पहुँचाने का हेतु है। हृदय से लेकर नाभि तक वर्तता है।

४ व्यान—सारे शरीर में व्यापक होकर गति करनेवाला है।

५ उदान—ऊपर की गति का हेतु है। कण्ठ में रहता हुआ शिर-पर्यन्त वर्तने वाला है। इसी के द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीर इसी उदान द्वारा स्थूल-शरीर से बाहर निकलता है। जब योगी संयम द्वारा उदान को जीत लेता है तो उसका शरीर रुई की तरह हल्का हो जाता है। वह पानी पर पैर रखते हुए उसमें नहीं डूबता। कीचड़-काँटो में उसके पैर नहीं फँसते क्योंकि वह अपने शरीर को हल्का किये ऊपर उठाये रखता है। और मरण समय में उसकी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्राणों के निकलने से † ऊर्ध्व गति (शुद्ध गति) उत्तर-मार्ग से होती है।

विशेष वक्तव्य सं० १ ‡। सूत्र ३९। —अन्तःकरण की दो प्रकार की वृत्तियें होती हैं:—

(१) बुद्धि का निश्चय, चित्त का स्मृति, अहङ्कार का अभिमान, मन का संकल्प करना यह इन सबका अलग-अलग काम बाह्य-वृत्ति है।

(२) इन सबका साधारण साझा (मिश्रित) काम आभ्यन्तर-वृत्ति है। जैसे सूखे हुए तृणों में अग्नि लगाने से एकदम अग्नि प्रज्वलित हो जाती है अथवा जैसे एक कबूतर पिंजरे को नहीं हिला सकता और बहुत से मिलकर एक साथ चला सकते हैं इसी प्रकार शरीर-धारणरूपी कार्य जो अन्तःकरण की मिश्रित आभ्यन्तर वृत्ति से चल रहा है, इसी का नाम जीवन है। यह जीवनरूप प्रयत्न शरीर में उपगृहीत वायु की क्रियाओं के भेद का कारण है। इस जीवनरूप प्रयत्न से पांच प्रकार के वायु की क्रिया होती हैं। उन क्रियाओं और स्थानों के भेद से वायु के प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पांच मुख्य नाम हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच ॥ (सांख्यकारिका २९)

अर्थ—अपना-अपना लक्षण तीनों (अन्तःकरणों) का काम है। सो यह साझा (काम) नहीं है, अन्तःकरणों का साझा (काम) प्राण आदि पांच वायु हैं।

अर्थात् बुद्धि का निश्चय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प यह तीनों अन्तःकरणों का अपना-अपना काम है। साझा काम नहीं है।

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान यह पांच वायु इनका साझा काम है। यह पांच प्रकार का जीवन-कार्य मन, अहंकार और बुद्धि के आश्रित है इनके होते हुए होता है।

विशेष वक्तव्य सं० २ †—। सूत्र ३९। मृत्यु के समय लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर की चार अवस्थाएँ—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ (प्रश्न उप० ३-७)

अर्थ—अब उदान जो ऊपर को जानेवाला है वह एक (नाड़ी, सुषुम्ना) के द्वारा (लिङ्ग-शरीर को) पुण्य से पुण्यलोक आदित्य लोक वा चन्द्र लोक) को ले जाता है (इन दोनों लोकों में अन्तर्मुख होकर जाना होता है)। पाप से पापलोक (पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि की योनि को) और दोनों (मिले हुए पुण्य-पाप) से मनुष्यलोक को ले जाता है।

वे मनुष्य जिनकी रुचि सदा पाप में रहती है, जो स्वार्थसिद्धि अथवा बिना स्वार्थ के भी दूसरों को हानि पहुँचाने तथा नाना प्रकार के हिंसात्मक और नीच कर्मों में लगे रहते हैं उनका लिंग (सूक्ष्म) शरीर मृत्यु के समय वर्तमान स्थूल-शरीर को छोड़कर कीट, पशु, पक्षी आदि तिर्यक् योनियों को प्राप्त होता है। और पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, हिंसात्मक और अहिंसात्मक इन दोनों प्रकार के मिश्रित कर्म करनेवाला जीव मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिङ्ग शरीर की मृत्यु के समय अधः तथा मध्यम गति स्थूल लोकों में बाहर की ओर से होती है।

पितृयाण व देवयान

पुण्यात्माओं के लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरों की कृष्ण और शुक्ल गतियों का पितृयाण और देवयान नाम से वेदों, उपनिषदों और गीता में सविस्तार वर्णन किया गया है।

" यथा—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

(यजुर्वेद १९ ४७ ऋग्वेद १०।८८।१५)

अर्थ—(अन्तरिक्ष लोक और पृथ्वीलोक के बीच में) मनुष्यों के जाने के लिये मैंने दो मार्ग सुने हैं। जिनमें से एक का नाम देवयान और दूसरे का नाम पितृयाण है। इन्हीं दोनों मार्गों से समस्त संसारी पुण्यात्माओं के लिङ्ग शरीर जाते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ (गीता ८।२३)

अर्थ—और हे अर्जुन! जिस काल (मार्ग) में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन *लौटकर न आनेवाली गति को और लौटकर आनेवाली गति को भी प्राप्त होते हैं उस काल* (मार्ग) को कहूँगा।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥ (गीता ८।२६)

अर्थ—क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयाण मार्ग सनातन माने गए हैं (इनमें) एक के द्वारा (गया हुआ) पीछे न आनेवाली गति को

प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा (गया हुआ) पीछे आता है अर्थात् जन्ममृत्यु को प्राप्त होता है।

पितृयाण—सकामी पुण्यात्माओं (तथा सम्प्रज्ञात समाधि की नीची भूमियों में आसक्त योगियों) का लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर पितृयाण मार्ग द्वारा चन्द्रलोक (स्वर्गलोक) में जाकर अपने सुकृत कर्मों को भोगने के पश्चात् उसी मार्ग से लौटकर मनुष्यलोक में मनुष्य-शरीर धारण करता है। "सकाम कर्म" अविद्या और अज्ञानरूपी अन्धकार से मिश्रित होते हैं। इसलिए ऐसे लिङ्ग-शरीरों की गति निष्काम-कर्म योगियों की अपेक्षा रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन जैसे अन्धकार के समय (मार्ग) तथा अन्धकार के लोकों में होकर बतलाई गई है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ (गीता ८।२५)

अर्थ—धूमरात्रि तथा कृष्णपक्ष (जब चन्द्रमा का कृष्ण भाग पृथ्वी के सामने रहता है जो कृष्ण प्रतिपदा से अमावस्या तक अथवा कृष्ण पञ्चमी से शुक्लपक्ष पञ्चमी तक अथवा कृष्ण अष्टमी से शुक्ल अष्टमी तक माना गया है) और दक्षिणायन के छः महीने (जब उत्तर ध्रुव-स्थान पर रात होती है अथवा सूर्य के कर्क में संक्रमण से लेकर छः मास) उस काल (मार्ग) में मरकर गया हुआ सकाम-कर्म योगी का लिङ्गशरीर चन्द्रलोक (स्वर्गलोक) को प्राप्त होकर (वहाँ अपने शुभकर्मों का फल भोगकर) फिर लौटता है (मनुष्य-शरीर धारण करता है)।

ते धूममभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्
यान् षड्दक्षिणैति मासाँस्तान्, नैते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥३॥
मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम्।
एष सोमो राजा। तद् देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥
तस्मिन्, यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते ॥ ५ ॥
(छान्दोग्य उप० ५।१०)

अर्थ—इनके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर धूम को अपना मार्ग बनाते हैं। धूम से रात्रि के अन्धकार को, रात्रि से कृष्णपक्ष के अन्धकार को, कृष्णपक्ष से छः मास दक्षिणायन के अन्धकार को जिनमें सूर्य दक्षिण को जाता है, मार्ग बनाते हुए आगे जाते हैं। वे सम्वत्सर (कल्प) को प्राप्त नहीं होते।

दक्षिणायन के छः महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को मार्ग बनाते हैं। आकाश से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। यह सोम राजा (चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रलोक 'स्वर्गलोक') है। यह पितरों का अन्न (शुभ कर्मों के फलों का भोगस्थान) है इसको पितर भक्षण करते हैं, अर्थात् चन्द्रलोक में अपने अमृतरूपी सूक्ष्म फलों को भोगते हैं।

वे वहाँ (चन्द्रलोक में) उतनी देर रहते हैं जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं होते। तब वे उसी मार्ग को फिर लौटते हैं, जैसे गये थे।

उपनिषदों में लिङ्ग-शरीर का वृष्टिद्वारा पृथ्वीलोक में आना इत्यादि जो बतलाया गया है वह केवल अधोगति का सूचक है, और कई एक भाष्यकारों ने स्थूलदृष्टि वाले सकाम-कर्मियों को सकाम-कर्मों को निःसारता दिखलाकर उनसे आसक्ति छुड़ाने के लिये इस अधोगति को और अधिक स्थूलरूप से वर्णन किया है। यथा—लिङ्ग-शरीर का ओषधियों आदि में जाकर मनुष्यों से खाये जाना और वीर्यद्वारा रज से मिलकर जन्म लेना इत्यादि। वास्तव में लिङ्ग-शरीर का इस भाँति स्थूल-पदार्थों-जैसा व्यवहार नहीं है। लिङ्ग-शरीर की गति स्थूल-शरीर तथा स्थूल-पदार्थों से अति विलक्षण है। जैसा (सूत्र १।२८ व ४।१० की) व्याख्या में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

यहां चन्द्र से अभिप्राय यह भौतिक चन्द्र नहीं है जो आकाश में हमें दीखता है। यह तो हमारी पृथिवी के सदृश एक स्थूल जगत् है। हमारे मर्त्यलोक पृथिवी की अपेक्षा से चन्द्र शब्द अमृत के अर्थ में सारे सूक्ष्म लोकों के लिये प्रयोग हुआ है, जिनको द्युलोक स्वर्गलोक और कहीं-कहीं ब्रह्मलोक भी कहा जाता है (वि० पा० सूत्र २६ का वि० व०) ये सूक्ष्म लोक तो भूः और भुवः अर्थात् पृथ्वीलोक और सारे स्थूल अन्तरिक्ष लोकों के अन्दर हैं, नीकि बाहर। ऊपर बतला आए हैं कि सूक्ष्म लोकों में अन्तर्मुख होकर जाना होता है। उसी के उलटे क्रम से सूक्ष्म लोकों से मनुष्य लोक मे बहिर्मुख होना होता है। इस लिये लिङ्ग शरीरों का वृष्टि द्वारा पृथिवी लोक में गिरना और ओषधियों आदि द्वारा मनुष्यों आदि से खाए जाने की कल्पना भ्रममूलक है। देवस्थान से पशु पक्षी आदि नीची योनियों में जाने की बात भी अयुक्त है, क्योंकि सूक्ष्म लोकों में दिव्य शरीर को देने वाले नियत विपाक के प्रधान कर्माशयों की निचली भूमि में मनुष्य शरीर को देने वाले नियत विपाक के कर्माशय ही हो सकते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् ५।१० मे अधोगति दिखलाने के लिये उस स्थूल गर्भ का वर्णन है, जिसमें सकामियों को चन्द्रलोक के आनन्द भोगने के पश्चात् मनुष्य लोक में प्रवेश करना होता है अर्थात् "अभ्रमेघ होकर बरसता है उससे चावल ओषधियाँ तिल आदि उत्पन्न होते हैं। इनसे बड़ी कठिनाई से वीर्य्य बनता है अर्थात् जब मनुष्य उनको खाता है तो उनका अति सूक्ष्म अंश वीर्य्य बनता है। उस वीर्य्य को जब वह (स्त्री की योनि में) सींचता है तब रज से मिलकर गर्भ बनता है। उस गर्भ में सकामियों का सूक्ष्म शरीर चन्द्र लोक से (वृतिरूप से) प्रवेश करता है"

सूक्ष्म शरीर का वीर्य द्वारा प्रवेश करना श्रुति के विरुद्ध भी है। श्रुति में ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रवेश होना बतलाया है। यथा :—

"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत"

(ऐतरेय अध्या० १ खण्ड ३। १२।

अर्थ :—तब उसने इसी सीमा ब्रह्मरन्ध्र को फोड़ा, और वह इस द्वार से प्रविष्ट हुआ ।

और मन्त्र ७ में इस बात को दर्शाया गया है कि इस लोक में अच्छे कर्म्म वाले अच्छे गर्भों में और बुरे कर्म्मों वाला बुरे गर्भों में अर्थात् वे जो इस लोक में शुभ आचरण वाले हैं वे तत्काल ही शुभ जन्म को पाते हैं जैसे ब्राह्मण जन्म क्षात्रिय जन्म, वैश्य जन्म, और जो इस लोक में निन्दित आचरण वाले हैं शीघ्र ही नीच जन्म को पाते हैं जैसे कुत्ते के जन्म, सूकर के जन्म, तथा चाण्डाल के जन्म ।

देवयान—निष्कामकर्मी (तथा असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त किये योगी) पुण्यात्माओं का लिङ्ग-शरीर देवयान मार्ग द्वारा आदित्य लोक में आकर मुक्ति को प्राप्त होता है । उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती है । निष्काम-कर्म विद्या और ज्ञान के प्रकाश से युक्त होते हैं इसीलिये उन की गति सकामकर्मियों की अपेक्षा दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण-जैसे प्रकाश के समय (मार्ग) तथा प्रकाश के लोकों में होकर बतलाई गई है । यथा—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ [गीता ८।२४]

अर्थ—अग्नि ज्योति दिन शुक्लपक्ष (जब चन्द्रमा का शुक्ल-भाग पृथ्वी के सामने रहता है अर्थात् शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक अथवा शुक्ल पञ्चमी से कृष्ण पञ्चमी तक अथवा शुक्ल अष्टमी से कृष्णपक्ष अष्टमी तक) उत्तरायण के छः मास (जब उत्तर ध्रुव स्थान पर दिन होता है अथवा सूर्य के मकर में संक्रमण से लेकर छः मास) इस प्रकार के समय (मार्ग) में मरकर गये हुए योगीजन आदित्य लोक को प्राप्त होते हैं ।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न, अर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषो-ऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो-ऽमानवः ॥ ५ ॥

अर्थ—अब चाहे वे (ऋत्विज) उनके लिये शवकर्म (अन्त्येष्टि संस्कार) करते हैं, चाहे न, सर्वथा वे (उपासक) किरण अर्चि को प्राप्त होते हैं । अर्चि से दिन को दिन, से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उन छः महीनों को जिनमें सूर्य उत्तर को जाता है । महीनों से बरस को, बरस से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को । वहाँ एक अमानव (जो मानुषी सृष्टि का नहीं) पुरुष अर्थात् पुरुष विशेष=ईश्वर=अपरब्रह्म) है ।

स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥ [छान्दोग्य ४।१५]

अर्थ—वह इनको परब्रह्म को पहुँचाता है । यह देवपथ (देवताओं का मार्ग है, ब्रह्मपथ है (वह मार्ग जो पर-ब्रह्म को पहुँचाता है) वे जो इस मार्ग से जाते हैं । इस मानवचक्र (मानुषी जीवन) को वापिस नहीं आते हैं । हाँ, वापिस नहीं आते हैं ।

उपर्युक्त सारे प्रकाशमय मार्गों के वर्णन से सकामकर्मियों की अपेक्षा निष्कामकर्मियों की केवल ऊर्ध्व तथा शुक्ल गति का ही निर्देश समझना चाहिये। वास्तव में तो—

स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ —(छान्दोग्य ८।६।५)

अर्थ—वह जितनी देर में मन फेंका जाता है उतनी देर में आदित्य लोक में पहुँच जाता है। क्योंकि यह आदित्य लोक पर-ब्रह्म का द्वार है। ज्ञानियों के लिये यह खुला हुआ है और अज्ञानियों के लिये बन्द है।

इसी ऊर्ध्व गति को योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्र में 'उत्क्रान्तिः' शब्द से बतलाया गया है। यथा—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥

(छान्दोग्य ८।६—६ कठ ६।१६)

अर्थ—एकसौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा की ओर निकलती है। उस नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ (ज्ञानी) अमृतत्व (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। दूसरी (नाड़ियाँ) निकलने में भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती हैं। हां, निकलने में भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं।

मुक्ति के दो भेद

वेदान्त में मुख्यतया मुक्ति के दो भेद माने हैं :—

१ क्रममुक्तिः—जिसमें निष्कामकर्म योगी जो शबल ब्रह्म को तो साक्षात् कर चुके किन्तु शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् करने से पूर्व ही इस लोक से चल देते हैं। वे उपर्युक्त देवयान द्वारा आदित्यलोक में पहुँचकर वहां शुद्ध ब्रह्म को साक्षात् करके मुक्त होते हैं। यथा—(तथा असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त किये हुए वे योगी जो निरोध के संस्कारों द्वारा बहुत अंश में व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट कर चुके हैं कुछ शेष रह गए हैं जिस अवस्था में उन्होंने स्थूल शरीर को त्यागा है वे आदित्यलोक विशुद्ध सत्वमयचित्त को प्राप्त होते हैं। वहां ईश्वर के अनुग्रह से उनके व्युत्थान के शेष संस्कार निवृत्त हो जाने पर कैवल्य अर्थात् पर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।)

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।—(वेदान्तदर्शन ४।३।१०)

अर्थ—आदित्यलोक में पहुँचकर वह कार्य (शबल ब्रह्म) को उलांघकर उस कार्य से परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्य को भोगता है' (आदित्यलोक यहां आकाश में दिखलाई देने वाले भौतिक सूर्य का बोधक नहीं है जो हमारी पृथिवी के सदृश एक भौतिक स्थूललोक है। इससे अभिप्राय विशुद्ध सत्वमयचित्त है, जिसका वर्णन हमने कई

स्थानों में ईश्वर के चित्त के रूप में किया है। जो सारे सूक्ष्म लोकों से सूक्ष्मतम, कारण लोक अर्थात् कारण जगत् है।)

२ सद्योमुक्ति—वे निष्काम-कर्म योगी जो शुद्ध ब्रह्म को पूर्णतया साक्षात् कर चुके हैं (तथा असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त किये हुए वे योगी जो व्युत्थान के सारे संस्कारों को निवृत्त कर चुके हैं) उनको आदित्यलोक में जाने की अपेक्षा नहीं है। वे देह को छोड़ते ही मुक्त हो जाते हैं। यथा—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। (बृह० उप० ४।४।६)

अर्थ—जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनायें पूरी हो गई हैं या जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुँचता है।

ब्रह्म के शबल स्वरूप की उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है, शुद्ध चेतनतत्त्व में कारण शरीर तथा कारण जगत् परे रह जाते हैं। यथा—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। (तै० उप०)

अर्थ—जहाँ से वाणियाँ (इन्द्रियाँ) मन के साथ बिना पहुंचे लौटती हैं। ब्रह्म के उस आनन्दको अनुभव करता हुआ (शुद्ध परमात्म-स्वरूप में एकी भाव को प्राप्त करता हुआ) सर्वतो अभय हो जाता है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—समान-जयात् = (संयम द्वारा) समान के जीतने से ज्वलनम् = योगी का दीप्तिमान् होना होता है।

अन्वयार्थ—(संयम द्वारा) समान के जीतने से योगी का दीप्तिमान् होना होता है।

व्याख्या—जब संयम द्वारा योगी समानवायु को वश में कर लेता है तो समान प्राण के आधीन जो शारीरिक अग्नि है उसके उत्तेजित होने से उसका शरीर अग्नि के समान चमकता हुआ दिखाई देता है।

संगति—छत्तीसवें सूत्र में स्वार्थसंयम के अवान्तर फलरूप श्रावणसिद्धि को बतलाया है, अब श्रावणसिद्धि वाले संयम को बतलाते हैं:—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—श्रोत्र-आकाशयोः = श्रोत्र और आकाश के। सम्बन्ध-संयमात् = संबन्ध में संयम करने से। दिव्य-श्रोत्रम् = दिव्य श्रोत्र होता है।

अन्वयार्थ—श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होता है।

व्याख्या—शब्द की ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय अहङ्कार से उत्पन्न हुई है और अहङ्कार से

उत्पन्न हुए शब्द-तन्मात्रा का कार्य आकाश है। इन दोनों का सम्बन्ध देश-देशी, आश्रयाश्रयि भाव से है। इस सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है जिससे कि वह दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित (आवृत्त) और विप्रकृष्ट अर्थात् दूरस्थ शब्दों को सुन सकता है। इसी प्रकार (त्वचा, वायु, चक्षु-तेज, रसना-जल, घ्राण-पृथ्वी) के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य त्वचा, दिव्य नेत्र, दिव्य रसना और दिव्य घ्राण प्राप्त होता है। ये सब सिद्धियाँ सूत्र छत्तीस में पुरुष-ज्ञान से पूर्व भी बतलाई गई हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—काय-आकाशयोः = शरीर और आकाश के। सम्बन्ध-संयमात् = संबन्ध में संयम करने से। लघु-तूल-समापत्तेः-च = और हल्के, रुई आदि में समापत्ति करने से। आकाश-गमनम् = आकाश-गमन (सिद्धि प्राप्त होती है)।

अन्वयार्थ—शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और हल्के रुई आदि में समापत्ति करने से आकाश-गमन सिद्धि प्राप्त होती है।

व्याख्या—जहाँ शरीर है वहाँ उसको अवकाश देनेवाला आकाश है इस प्रकार इन दोनों में आधेय-आधार व्याप्य-व्यापक भाव का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में संयम करने से अथवा रुई सदृश हल्की वस्तुओं में समापत्ति (१-४१) करने से (तदाकार होने से) योगी का शरीर लघुता को प्राप्त करता है। इसलिए जलपर पाँव रखता हुआ चल सकता है। इसके पश्चात् मकड़ी के जाले सदृश सूक्ष्म तारों पर चलने की सामर्थ्य आ जाती है। अन्त में शरीर के अति सूक्ष्म हो जाने से आकाश-गमन की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—बहिः-अकल्पिता = शरीर से बाहर कल्पना न की हुई। वृत्तिः = वृत्ति। महा-विदेहा = महाविदेहा कहलाती है। ततः = उससे। प्रकाश-आवरण-क्षयः = प्रकाश के आवरण का नाश होता है।

अन्वयार्थ—शरीर से बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है उससे प्रकाश के आवरण का नाश होता है।

व्याख्या—मन को शरीर से बाहर धारण करना "विदेहा-वृत्ति" तथा मन की "विदेहा-धारणा" कहलाती है। जब तक मन शरीर के अन्दर ही स्थित रहे पर उसको वृत्तिमात्र से बाहर ही धारण किया जावे तब तक वह "कल्पिता" कहलाती है। अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर बिना कल्पना के मन शरीर से बाहर यथार्थ रूप से स्थित हो जाता है। तब विदेहा-वृत्ति अकल्पिता कहलाती है। इसी को महाविदेहा कहते हैं। यह योगी को पर-शरीर-आवेश तथा लोक-लोकान्तरों में सूक्ष्म-शरीर से भ्रमण करने में सहायक होती है। इन दोनों में कल्पित-विदेहा-धारणा साधन है और अकल्पित-विदेहा-धारणा साध्य है, क्योंकि पहिले कल्पित-विदेहा का अभ्यास किया जाता है उसके पश्चात् अकल्पित-विदेहा को साधा जाता है। इसके अभ्यास से चित्त के प्रकाश को रोकने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्मविपाक

आदि मल जो रजस्-तमस् के मूलक हैं, नाश हो जाते हैं और चित्त में निरावरण होने के कारण यथा इच्छा विचरने की सामर्थ्य हो जाती है।

संगति—सोलहवें सूत्र से लेकर तैंतालीसवें सूत्र तक समाधि में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न संयम और उसकी सिद्धियाँ वर्णन करके अब अपने दर्शन के उपयोगी सबीज और निर्बीज-समाधि की सिद्धि में विविध उपाय दिखाते हैं। अगले सूत्र में ग्राह्य पाँचों भूतों का संयम बताया है:—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—स्थूल = (पाँचों भूतों के) स्थूल । स्वरूप = स्वरूप । सूक्ष्म = सूक्ष्म । अन्वय = अन्वय अर्थवत्व = अर्थवत्व में। संयमात् = संयम करने से भूत-जय = भूतों का जय होता है।

अन्वयार्थ—पाँचों भूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से भूतों का जय होता है।

व्याख्या—पृथ्वी आदि पाँच भूतों के पाँच-पाँच रूप हैं :—

१ स्थूल—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश का अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रूप है।

२ स्वरूप—उपर्युक्त पाँच भूतों का अपना-अपना नियत धर्म जिनसे यह जाने जाते हैं—जैसे पृथ्वी की मूर्ति और गन्ध, जल का स्नेह, अग्नि का उष्णता, वायु का गति व कम्पन और आकाश का अवकाश देना स्वरूप है।

३ सूक्ष्म—स्थूल भूतों के कारण गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा और शब्द-तन्मात्रा सूक्ष्म रूप हैं।

४ अन्वय रूप—सत्त्व, रजस् तथा तमस् जो तीनों गुण अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्म से पाँचों भूतों में अन्वयी भाव से मिले रहते हैं, अन्वयी रूप हैं।

५ अर्थवत्व—पुरुष का भोग अपवर्ग। जिस प्रयोजन को लेकर ये पाँचों भूत कार्यों में लगे हुए हैं वह अर्थवत्व रूप है। इस प्रकार पांचों भूतों के धर्म, लक्षण और अवस्था भेदों से पच्चीसों रूपों में क्रम से साक्षात् पर्यन्त संयम करने से पांचों भूतों का सम्यक्‌ज्ञान और उन पर पूरा वशीकार होता है। इस प्रकार भूतों के स्वाधीन होने पर जैसे गायें बछड़ों के अनुकूल होती हैं वैसे ही सब भूतों की प्रकृतियां योगी के सङ्कल्पानुसार हो जाती हैं।

टिप्पणी—व्यासभाष्य की व्याख्या सूत्र ४४ :—

पांचों भूतों के जो अपने-अपने धर्मों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम वाले विशेष और आकार आदि सहित जो एक-एक रूप हैं वे स्थूल रूप हैं। जैसे पृथ्वी के गोलादि आकार (अवयवों का सन्निवेश विशेष), गुरुत्व (भारीपन), रूक्षता (रुखाई), आच्छादन (ढांपना), स्थिरता, सर्व भूताधारता, भेद (विदारण), सहनशीलता (सहिष्णुता), कृशता, मूर्त्ति (कठोरता) सर्वभोग्यता रूप धर्मों सहित शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध हैं यह

पृथ्वी का एक रूप है; और जल के जो स्नेह (चिकनापन) सूक्ष्मता, प्रभा (कान्ति), शुक्लता, मृदुता, गुरुत्व (भारीपन), शीतल स्पर्श रूक्षता, पवित्रता, सम्मेलन सहित शब्द, स्पर्श, रूप, रस हैं यह जल का एक रूप है; अग्नि के जो उष्णता, ऊर्ध्वगति, पवित्रता, दाह्-शीलता, लघुता, भास्वरता प्रध्वंसन, बलशीलता, रूप धर्मों सहित शब्द-स्पर्श रूप हैं यह अग्नि का एक रूप है; वायु के जो वहनशीलता (तिर्यग्गति) पवित्रता, आक्षेप (गिरा देना) कंपन, बल, चञ्चलता, अनाच्छादन (आच्छादन का अभाव), रूक्षता रूप धर्मों सहित शब्द स्पर्श हैं यह वायु का एक रूप है; और आकाश के जो व्यापकता, विभाग करना, अव-काश देना आदि रूप धर्मों सहित जो शब्द है वह आकाश का एक रूप है। इस प्रकार पांचों भूतों के अपने-अपने धर्मों सहित जो शब्दादि हैं वे सूत्र में 'स्थूल' पद से कहे हुए पांच भूतों के एक रूप हैं।

पांचों भूतों का जो स्व-स्व सामान्य धर्म है वह सूत्र में 'स्वरूप' पद से कहे हुए भूतों का द्वितीय रूप है। अर्थात् मूर्ति (कठिनता), स्निग्धता (चिकनापन), उष्णता, वहनशीलता, और सर्वत्र विद्यमानता, क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के जो द्वितीय, रूप हैं वे स्वरूप हैं। ये मूर्ति (कठिनता) आदि धर्म ही स्व-स्व सामान्य पद के वाच्य हैं। इन कठिनतादि सामान्य धर्म वाले पृथ्वी आदिकों के परस्पर भेद करने वाले शब्दादि हैं। इस लिये शब्दादि को विशेष कहा जाता है। जैसे स्निग्ध, उष्णादि रूप जल, अग्नि, आदिकों से कठिन पृथ्वी का भेदक (भिन्नता का ज्ञापक) मूर्ति (कठिनता) धर्म है; और कठिन, उष्णादि रूप पृथ्वी, अग्नि आदिकों से जल का भेदक स्नेह है; और कठिन स्निग्ध आदि रूप पृथ्वी, जल आदिकों से अग्नि की भिन्नता का ज्ञापक उष्णता धर्म है। इस प्रकार भूतों के परस्पर भेदक होने से मूर्ति (कठिनता) आदि आदि धर्म विशेष कहलाते हैं। ऐसे ही पञ्चशिखाचार्य जी ने कहा है—

"एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः"

अर्थात् एक जाति वाले पृथ्वी आदिकों की अम्ल मधुरादि धर्म मात्र से व्यावृत्ति होती है। यद्यपि कठिनतादि धर्म भी पृथ्वी आदिकों के परस्पर भेदक हैं तथापि नीबू रूप पृथ्वी से अंगूर रूप पृथ्वी का भेद है उसका करने वाला केवल खट्टा मीठा रस ही कहा जावेगा। इससे रस आदि को विशेष जानना-अर्थात् पृथ्वी का जल आदिकों से जो भेद है वह तो कठिनतादि रूप असाधारण धर्मों से परिज्ञात हो सकता है, परन्तु पृथ्वी से अन्य पृथ्वी का भेदक रस आदि हैं। इस अभिप्राय से "एकजाति समन्वितानां" इन दोनों सामान्य और विशेष का जो समुदाय है वही योगमत में द्रव्य कहा जाता है। प्रसंग से समुदाय का निरूपण करते हैं।

समुदाय दो प्रकार का होता है। एक 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' दूसरा 'शब्दे-नोपात्तभेदावयवानुगत' अर्थात् अवान्तर विभाग के बोधक शब्द से जिन अवयवों का अवान्तर विभाग बोधन न किया गया तो उन अवयवों में अनुगत जो द्रव्य है वह' 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' कहलाता है जैसे कि शरीर, वृक्ष यूथ, वन ये समुदाय हैं।

इसके अवान्तर विभाग के बोधक शब्द का उच्चारण नहीं किया गया है अर्थात् हस्तादि अवयवों का समुदाय शरीर पद का वाच्य है, शाखादि अवयवों का समुदाय वृक्ष पद का वाच्य है, वृक्षादि का समुदाय वन पद का वाच्य है, किन्तु इन सब समुदायों में अवान्तर विभाग का बोधक कोई शब्द नहीं उच्चारण किया गया है केवल समुदाय मात्र उच्चारण किया गया है इस लिये यह 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है।

जहां अवान्तर विभाग के बोधक शब्द का उच्चारण किया जाता है वह 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है। उभये देवमनुष्याः (देवता और मनुष्य दोनों हैं) यह समुदाय है। इस आकांक्षा पर कि वे दो अवयव कौन हैं जिनके लिये शब्द का अर्थ है— कहते हैं देव और मनुष्य अर्थात् इस समूह का एक भाग देव है और दूसरा अवयव मनुष्य है। ये दोनों 'देवमनुष्याः' इस शब्द से उच्चारण किये गये हैं इस लिये यह समुदाय 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' कहा जाता है। यह शब्द 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' समुदाय भेद विवक्षा और अभेद विवक्षा से दो प्रकार का है। जैसे 'आम्राणां वनं' आमों का वन है और ब्राह्मणानां संघः' ब्राह्मणों का समूह है। यह भेद विवक्षा से दो प्रकार का समूह है। और अभेद विवक्षा में 'आम्रवनम्' आम ही यह वन है और 'ब्राह्मणसंघः' ब्राह्मण ही संघ है। ये दो समूह हैं। इस प्रकार समूह-समूह की अभेद विवक्षा में यहां समानाधिकरण है। पुनः यह समुदाय दो प्रकार का है एक 'युतसिद्धावयव'। दूसरा'अयुतसिद्धावयव' 'युतसिद्धावयव' समुदाय वह है जिसके अवयव विरले अर्थात् जुदा-जुदा हों जैसे वृक्ष और संघ रूप समुदाय में वन के अवयव वृक्ष जुदे-जुदे और विरले प्रतीत होते हैं तथा यूथ के समुदाय गाय बैल आदि भी पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है।

'अयुतसिद्धावयव समुदाय' वह है जिसके अवयव पृथक् प्रतीति से रहित निरन्तर मिले हुए हों जैसे कि शरीर, वृक्ष, परमाणु आदि। यहां त्वक्, रुधिर, मांस, मज्जादिकों का जो समुदाय शरीर है उसके ये अवयव मिले हुये होते हैं और मूल शाखादिकों का समुदाय जो वृक्ष है उसके भी ये अवयव मिले हुए होते हैं।

यह 'अयुतसिद्धावयव' समुदाय' ही पतञ्जली मुनि के मत में द्रव्य कहलाता है। यही भूतों का द्वितीय रूप है और यही स्वरूप पद का अर्थ है। अर्थात् मूर्ति (कठिन) रूप सामान्य का और कठोरता आदि धर्मों सहित शब्दादि रूप विशेषों का 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप पृथ्वी द्रव्य है। स्निग्ध (चिकना) रूप सामान्य का और स्नेहादि धर्मों सहित शब्दादि विशेषों का 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप जल द्रव्य है। इसी प्रकार सामान्य विशेषों का 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप अग्नि आदि द्रव्य भी जानलेना चाहिये। यही सामान्य विशेषों का समुदाय रूप द्रव्य सूत्र में 'स्वरूप' शब्द से बतलाये हुए पांचों भूतों का दूसरा रूप है।

इन पृथ्वी आदि पांचों भूतों के कारण पञ्चतन्मात्रायें हैं और तन्मात्राओं के परिणाम परमाणु हैं अर्थात् तन्मात्रायें परमाणुओं का 'अयुत सिद्ध अवयवानुगत समुदाय' हैं। इस लिये परमाणु और पञ्चतन्मात्रायें सूत्र में सूक्ष्म पद से बतलाये हुए पांचों भूतों के तृतीय रूप

हैं अर्थात् पांचों भूतों के जैसे परमाणु सूक्ष्म रूप हैं वैसे ही पंचतन्मात्रायें परमाणुओं के सूक्ष्म रूप हैं।

भूतादि सर्व कार्यों में अनुगत जो प्रकाश-क्रिया-स्थिति शील तीन गुण हैं वे सूत्र में अन्वय शब्द से बतलाये हुए पांचों भूतों का चतुर्थ रूप हैं।

पुरुष के भोग और अपवर्ग के सम्पादन करने का जो गुणों में सामर्थ विशेष हैं, वह सूत्र में अर्थवत् शब्द से कथन किया हुआ भूतों का पांचवां रूप है।

यहां इतना और जान लेना चाहिये कि गुणों में तो भोगापवर्ग संपादन की सामर्थ्य साक्षात् अनुगत है और तन्मात्रा-भूत आदिकों में परम्परा से (गुणों द्वारा) अनुगत है तथा साक्षात् और परंपरा से सब ही पदार्थ अर्थवत्ता वाले हैं। इस प्रकार पांच भूतों के पांच रूपों में जिस-जिस रूप में योगी संयम करता है उस-उस रूप का योगी को साक्षात्कार और जय होता है। स्थूल स्वरूप सूक्ष्मादि रूपों के क्रम से पांचों भूतों के पांचों रूपों में संयम करने से योगी को पांचों भूतों का प्रत्यक्ष और वशीकार हो जाता है। ऐसे योगी को भूत जयी कहते हैं। सब भूतों की प्रकृतियाँ उसके संकल्पानुसार हो जाती हैं अर्थात् भूतों का स्वभाव उसके संकल्पानुसार हो जाता है।

उपर्युक्त कथित भूतजय की कई सिद्धियाँ पूज्य पाद परमहंस श्री विशुद्धानन्दजी महाराज में देखी गई थीं जिनके जीवन के अन्त समय में लेखक को लगभग छः मास सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

संगति—भूतजय का फल बतलाते हैं :—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे (भूतजय से) अणिमादि-प्रादुर्भावः=अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव। काय-सम्पत्=काया सम्पत्। तत्-धर्म-अनभिघातः-च=और पांचों भूतों के धर्मों से चोट का न लगना=रुकावट न होना होता है।

अन्वयार्थ—उस भूतजय से अणिमा आदि आठ सिद्धियों का प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है और उन पांचों भूतों के धर्मों से रुकावट नहीं होती।

व्याख्या—चौवालीसवें सूत्र में बताये हुए भूतजय से निम्न प्रकार की आठ सिद्धियें प्राप्त होती हैं।

१ अणिमा—शरीर का सूक्ष्म कर लेना।

२ लघिमा—शरीर का हल्का कर लेना।

३ महिमा—शरीर का बड़ा कर लेना।

४ प्राप्ति—जिस पदार्थ को चाहें प्राप्त कर लेना। ये सिद्धियें भूतों में संयम करने से प्राप्त होती हैं।

५ प्राकाम्यम्—बिना रुकावट के इच्छा पूर्ण होना। यह पांचों भूतों के स्वरूप में संयम करने से सिद्ध होती है।

६ वशित्व—पांचों भूतों तथा भौतिक पदार्थों का वश में कर लेना (भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने से)

७ ईशितृत्व—भूत भौतिक पदार्थों के उत्पत्ति-विनाश का सामर्थ्य। (यह सिद्धि अन्वय में संयम करने से प्राप्त होती है)।

८ यत्रकामावसायित्व—प्रत्येक सकल्प का पूरा हो जाना अर्थात् जैसा योगी सङ्कल्प करे उसके अनुसार भूतों के स्वभाव का अवस्थापन हो जाता है। वह योगी यदि सङ्कल्प करे तो अमृत की जगह विष खिलाकर भी पुरुष को जीवित कर सकता है। (यह सिद्धि अर्थवत्व में संयम करने से प्राप्त होती है)।

ये सब संकल्प होते हुए भी योगी के संकल्प ईश्वरीय नियम के विपरीत नहीं होते। अपने परमगुरु नित्यसिद्ध योगिराज ईश्वर के सकल्पानुसार ही योगियों का संकल्प होता है।

भगवत्-भाष्यकार कामावसायी योगी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि यद्यपि यह योगी सर्व सामर्थ्य वाला है तथापि वह पदार्थों की शक्तियों को ही विपरीत करता है न कि पदार्थों को। अर्थात् चन्द्रमा को सूर्य और सूर्य को चन्द्रमा तथा विष को अमृत नहीं करता है, किन्तु विष में जो प्राण-वियोग करने की शक्ति है उसको निवृत्तकर उसमें जीवन-शक्ति का सम्पादन कर देता है। क्योंकि पदार्थों का विपरीत होना नित्यसिद्ध ईश्वर के संकल्प के विरुद्ध है। इसलिये ऐसा नहीं होता है। और शक्तियां पदार्थों की अनियत हैं। इसलिये उनके विपरीत करने में कोई दोष नहीं अर्थात् पूर्वसिद्ध अन्यकामावसायी सत्यसङ्कल्प ईश्वर का यह सङ्कल्प है कि सूर्य सूर्य ही रहे और चन्द्रमा चन्द्रमा ही रहे। इसलिये उसकी आज्ञा के विरुद्ध योगी सङ्कल्प नहीं कर सकता।

यहां यह भी जान लेना चाहिये कि कामावसायी योगी शुद्ध चित्त और न्यायकारी होते हैं। उनका सङ्कल्प, ईश्वर-संकल्प और उसकी आज्ञा के विपरीत नहीं होता है। इस लिए जब कभी वे अपने इस ऐश्वर्य को काम में लाते हैं तो वह ईश्वर के संकल्प और उस की आज्ञानुसार न्याय और व्यवस्था के धारणार्थ ही होता है।

२ कायसंपत्—शरीर की संपदा। इसका वर्णन अगले सूत्र में दिया है।

३ तद्धर्मानभिघातः—इन पांचों भूतों के कार्य योगी के विरुद्ध रुकावट नहीं डालते, अर्थात् मूर्तिमान् कठिन पृथ्वी योगी की शरीरादि क्रिया को नहीं रोकती। शिला में भी योगी प्रवेश कर जाता है। जल का स्नेहधर्म योगी को गीला नहीं कर सकता। अग्नि की उष्णता उसको नहीं जला सकती। वहनशील वायु उसको नहीं उड़ा सकता। अनावरणरूप आकाश में भी योगी अपने शरीर को ढक लेता है और सिद्ध पुरुषों से भी अदृश्य हो जाता है।

संगति—अगले सूत्र में कायसंपत् को बतलाते हैं :

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—रूप = रूप। लावण्य = लावण्य। बल = बल। वज्रसंहननत्वानि = वज्र की सी बनावट। कायसंपत् = शरीर की सम्पदा कहलाती है।

अन्वयार्थ—रूप, लावण्य, बल, वज्र की सी बनावट। कायसंपत् (शरीर की सम्पदा) कहलाती है।

व्याख्या—१ रूप—मुख की आकृति का अच्छा और दर्शनीय होजाना।

२ लावण्य—सारे अङ्गों में कान्ति का होजाना।

३ बल—बल का अधिक होजाना।

४ वज्रसंहननत्वानि—शरीर के प्रत्येक अङ्ग का वज्र के सदृश दृढ़ और पुष्ट हो जाना। यह कायसंपत् कहलाती हैं।

संगति—ग्राह्य भूतों में संयम करने की विधि दिखलाकर अगले सूत्रों में ग्रहण इंद्रियों में संयम दिखलाते हैं।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—ग्रहण=ग्रहण। स्वरूप=स्वरूप। अस्मिता=अस्मिता। अन्वय=अन्वय। अर्थवत्त्व=अर्थवत्त्व में। संयमात्=संयम करने से इन्द्रिय-जयः=इन्द्रियजय होता है।

अन्वयार्थ—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व में संयम करने से इन्द्रियजय होता है।

व्याख्या—इन्द्रियों के निम्न पांच रूप हैं। इन पांचों रूपों में क्रम से साक्षात् पर्यन्त संयम करने से इन्द्रिय-जय सामर्थ्य प्राप्त होती है।

१ ग्रहण—इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है।

२ स्वरूप—सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व जैसे नेत्रों का नेत्रत्व आदि स्वरूप कहलाता है।

३ अस्मिता—इन्द्रियों का कारण अहंकार जिसका इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं।

४ अन्वय—सत्त्व, रजस् व तमस् तीनों गुण जो अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति धर्म से इंद्रियों में अन्वयी भाव से अनुगत हैं।

५ अर्थवत्त्व—इनका प्रयोजन पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाना।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषा अनुवाद ॥ सूत्र ४७ ॥

सूत्र की उपर्युक्त सरल और संक्षिप्त व्याख्या कर दी गई है यहां व्यासभाष्य का स्पष्टीकरण के साथ अनुवाद किया जाता है :

पांच ज्ञानेइन्द्रियों में एक-एक इन्द्रिय के पांच-पांच रूप हैं।

(१) इनमें सामान्य विशेष रूप जो शब्दादि ग्राह्य विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियों की जो विषयाकार परिणामरूप वृत्ति हैं वह ग्रहण पद का अर्थ है। यह इन्द्रियों की वृत्ति केवल सामान्य मात्र विषयक नहीं होती है किन्तु सामान्य-विशेष दोनों विषय वाली होती है। यदि विशेष विषयक इन्द्रियों की वृत्ति न मानी जावे तो इन्द्रियों से अगृहीत होने के कारण वह विशेष मन से निश्चित न किया जा सकेगा क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के आधीन होकर ही मन बाह्य विषयों में अनुव्यवसाय वाला होता है स्वतन्त्र नहीं होता है इसलिए सामान्य विशेषरूप

विषयाकार ही इन्द्रियों की वृत्ति होती है। यह सूत्र में ग्रहण पद से कथन किया हुआ इन्द्रियों का प्रथम रूप है।

(२) प्रकाशात्मक महत्तत्त्व का परिणाम जो अयुतसिद्ध अवयव सात्त्विक अहंकार है उसमें कार्यरूप से अनुगत जो सामान्य विशेष रूप द्रव्य है वह इन्द्रियों का स्वरूप है अर्थात् सात्त्विक अहंकार का कार्य जो प्रकाशस्वरुप द्रव्य 'इन्द्रिय' है वह इन्द्रियों का 'स्वरूप' नामक दूसरा रूप है।

(३) इन्द्रियों का कारण जो अहंकार है वह इन्द्रियों का अस्मिता नामक तीसरा रूप है। इस सामान्य रूप अहंकार के इन्द्रयाँ विशेष परिणाम हैं।

(४) व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) महत्तत्त्व के आकार में परिणाम को प्राप्त हुए जो प्रकाश-प्रवृत्ति-स्थिति शील गुण हैं वह अन्वय नामक इन्द्रियों का चौथा रूप हैं अर्थात् अहंकार के साथ इन्द्रियों को महत्तत्त्व का परिणाम होने से और महत्तत्त्व को गुणों का परिणाम होने से तीनों गुण इन्द्रियों में अनुगत हैं इसलिए गुणों को अन्वय रूप कहा जाता है।

(५) गुणों में अनुगत जो पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन की सामर्थ्य है वह अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियों का पांचवा रूप है।

इन पाचों इन्द्रियों के रूप में क्रम से संयम करने से उस-उस रूप के जय द्वारा पांचों रूपों का जय होने से योगी को इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

संगति—इंद्रियजय का फल बताते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे (इंद्रियजय से)। मनोजवित्वं=मनोजवित्व। विकरणभावः=विकरण भाव प्रधान-जयः च=और प्रधान का जय होता है।

अन्वयार्थ—इंद्रियजय से मनोजवित्व विकरणभाव और प्रधान का जय होता है।

व्याख्या—उपर्युक्त इंद्रियजय से निम्न फल प्राप्त होते हैं:—

१ मनोजवत्वि—मन के समान शरीर का वेग वाला होना (ग्रहण के संयम से)।

२ विकरणभावः—शरीर की अपेक्षा के बिना इंद्रियों का वृत्तिलाभ अर्थात् बिना शरीर की परवाह के इंद्रियों में काम करने की शक्ति आजाना। दूर के और बाहर के अर्थों का जान लेना। (स्वरूप में संयम करने से)

३ प्रधानजय—प्रकृति के सब विकारों का वशीकार (अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व में संयम से) ये सिद्धियां जितेन्द्रिय पुरुष से ही प्राप्त की जासकती हैं। योगशास्त्र में ये तीनों सिद्धियां मधुप्रतीका कहलाती हैं क्योंकि इन सिद्धियों के प्राप्त होने पर योगी को प्रत्येक सिद्धि में मधु समान स्वाद प्रतीत होता है। अथवा योग से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा का नाम "मधु" है उस मधु का प्रतीक अर्थात् कारण जिस से प्रत्यक्ष किया जावे वह मधुप्रतीक है।

संगति—ग्राह्य और ग्रहण के पश्चात् ग्रहीतृ (चित्त) में संयम का फल बतलाते हैं

अर्थात् जिस विवेकख्याति के लिये यह सब संयम निरूपण किये हैं उसका अवान्तर फल बतलाते हैं।

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

शब्दार्थ—सत्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य=चित्त और पुरुष के भेद जाननेवाले को। सर्व-भाव-अधिष्ठातृत्वम्=सारे भावों का मालिक होना। च-सर्वज्ञातृत्वम्=और सर्वज्ञ (सबका जाननेवाला) होना प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष के भेद जाननेवाले को सारे भावों का मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

व्याख्या—सर्वभाव-अधिष्ठातृत्वं—गुणों का कर्तृत्व अभिमान शिथिल होने पर उनके सब परिणामों और भावों को पुरुष के प्रति स्वामी के समान वर्तना है।

सर्वज्ञातृत्व—वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमान काल में धर्मी भाव से अवस्थित रहते हैं, उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्व कहलाता है। सूत्र (१।२) में बतला आये हैं कि गुणों का सब से प्रथम परिणाम महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि चित्त है। इसी में सृष्टि के सब नियम बीजरूप से रहते हैं। पुरुषों के व्यष्टि चित्त महीतृरूप हैं, जिन के द्वारा गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं। पुरुष चित्त का स्वामी, ज्ञान स्वरूप है पर अविवेक के कारण चित्त में आत्मा का अध्यारोप होजाता है। यही सर्व क्लेशों की मूल अविद्या है। सात्त्विक चित्त के प्रकाश में संयम करने से पुरुष और चित्त में भेद कराने वाला विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है। जिसको विवेक-ख्याति कहते हैं। इस विवेक-ख्याति के हो जाने पर पुरुष अपने को चित्त से पृथक् देखता हुआ गुणों के परिणामों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्तकर लेता है और उन पर पूर्ण अधिकार रखते हुये उनका अधिष्ठाता होकर नियम में रखता है। इस सिद्धि का नाम विशोका है। क्योंकि इसकी प्राप्ति से योगी क्लेशों के बन्धनों के क्षीण होने से सब का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होकर शोक से रहित विचरता है।

टिप्पणी:—व्यासभाष्य का भाषा अनुवाद सूत्र ॥ ४९ ॥

जब बुद्धि सत्त्व के रज और तम धुल जाते हैं, वह परवैशारद्य परवशीकार अवस्था में अवस्थित होता है। सत्त्व और पुरुष की अन्यताख्याति-मात्ररूप प्रतिष्ठित होता है, तब बुद्धि सत्त्व को सर्वभावों का अधिष्ठातृत्व हो जाता है। सर्वात्मकगुण व्यवसाय और व्यवसेयरूप गुण स्वामी क्षेत्रज्ञ के प्रति अशेष दृश्य रूप से उपस्थित होजाते हैं।

सर्वज्ञातृत्व-सर्वात्मकगुण जो कि शान्त उदित और अव्यपदेश्य धर्म से अवस्थित हैं, उनके विषय में अक्रमोपारूढ (क्रियारहित) विवेकज ज्ञान होता है, यह विशोका नाम की सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन और वशी विहार करता रहता है।॥४९

योग वार्तिक का भाषा अनुवाद ॥ सूत्र ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से ग्राह्य और ग्रहण विषय के संयोग की सिद्धि को कह कर महीतृ संयम की सिद्धि को कहते हैं:

सूत्र में मात्र शब्द से संयम रूप ख्याति उपलब्ध होती है, तथा सत्त्व और पुरुष की अन्यता के संयम वाले (धर्म-धर्मी के अभेद से) चित्त का सर्व भावों में-प्रकृति और प्रकृति के कार्यों और पुरुष के विषय में अधिष्ठातृत्व स्वदेह समान स्वेच्छया विनियोक्तृत्व होजाता है तथा प्रकृति और पुरुष आदि में सर्वज्ञातृत्व होजाता है । यहां भी साक्षात्कार तक ही समझना चाहिये, क्योंकि संयम की सिद्धि ही अन्य सिद्धियों का हेतु है ।

शङ्का:—"परार्थात् स्वार्थसंयमात्" इस सूत्रोक्त संयम से इस संयम का क्या भेद है जिससे कि वहां पुरुषज्ञानरूप सिद्धि होती है और यहाँ दूसरी सिद्धि होती है ।

समाधान:—वहां सुखादि के अनुभव रूप परिच्छिन्न में पौरुषेय प्रत्यय ही संयम कहा है और अपरिच्छिन्न पुरुष में संयम नहीं कहा यहां तो उस संयम से परिपूर्ण पुरुष का ज्ञान होजाने पर बुद्धि विवेक संयम कहा है, यह विशेषता है ।

शङ्का:—सत्त्व यह विशेष वचन अनुचित है गुणपुरुषान्यता आदि कहना ही ठीक है।

समाधान:—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि रजस और तमस् से पुरुष में साक्षात् अविवेक हो नहीं सकता, बुद्धिसत्त्व के अविवेक द्वारा ही देह और इन्द्रियादि में अविवेक से स्वप्न और बाधिर्य (बहरापन) आदि अवस्थाओं में चेतन में देह और इन्द्रियादि के विवेक का योग के आरम्भकाल में ही साधारण पुरुष भी जानते हैं ।

इस सूत्र की व्याख्या करते हैं—निर्धूतेति, परवैशारद्य परम स्वच्छता को कहते हैं अर्थात् अतिसूक्ष्म वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के सामर्थ्य का नाम है परम वशीकार संज्ञा " परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार" यह कहा है, 'रूपेण प्रतिष्ठस्य रूपप्रतिष्ठस्य, यह तृतीयातत्पुरुष समास है । रूप से प्रतिष्ठित अन्त करण बुद्धि सत्त्व का सर्वभावाधिष्ठातृत्व होता है इसका विवरण करते हैं सर्वात्मान इति = इसका भी विवरण है व्यवसाय व्यवसेयात्मक इन्द्रिय और इन्द्रिय विषयात्मक गुण, अशेष दृश्यति संकल्पमात्र से पुरुषों के साथ संयुक्त और असंयुक्त अशेष वस्तुओं के आकार से परिणत होकर योगी उपस्थित होते हैं । उस में स्वामिनं क्षेत्रज्ञं, यह दो हेतु गर्भित विशेषण हैं क्योंकि वह स्वामी क्षेत्रज्ञ भोक्ता होने से प्रेरक है । अतः जैसे अयस्कान्त मणि के पास लोहा खिंच आता है वैसे ही गुण दृश्य रूप बन कर स्वामी क्षेत्रज्ञ को उपस्थित होजाते हैं । अथवा क्योंकि वह स्वामी क्षेत्रज्ञ गुणों के परिणाम क्षेत्रादि को प्रेरित करता है, प्रवृत्त करता है या परिणमन प्रकार को जानता है । अतः उसके प्रति वे उपस्थित होजाते है ।

यद्यपि सब पुरुष सब गुणों के अशेषतया स्वामी हैं तथापि पापादि के प्रतिबन्ध से सब गुण सब समय सब पुरुषों के आदि भोग्यरूप से उपस्थित नहीं होते यह भाव है ।

ऐसी श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है 'स यदि पितृलोककामः संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादि" जब यह पुरुष पितर लोक की कामना वाला होता है तो संकल्प मात्र से ही उसको आदि पितर उपस्थित होजाते हैं ।

क्रियैश्वर्यरूप सिद्धि व्याख्या करके ज्ञानैश्वर्यरूप सिद्धि की व्याख्या करते हैं । सर्वज्ञातृत्वमिति = सब आत्मा सब पुरुष बद्ध मुक्त और ईश्वरों का और शान्त उदित तथा अव्य-

पदेश्य रूप धर्म विशिष्ट गुणों का ज्ञान सर्वज्ञातृत्व है। इस का नाम है विवेकज ज्ञान-विवेक से जायमान ज्ञान है। यह संज्ञा सान्वय है। विशेष संज्ञा के अन्वर्थ को कहते हैं याम्प्राप्येति-क्लेशबन्धन के क्षीण होने से विशोका नाम की सिद्धि है। जिसका अर्थ है शोकशून्यता

संगति—विवेकख्याति भी चित्त की ही अवस्था है, इसलिये उसमें भी वैराग्य बताते हैं, अर्थात् विवेकख्याति का अवान्तरफल कहकर अब उसका मुख्य फल कैवल्य को बतलाते हैं।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—तत्-वैराग्यात्-अपि=उसके (विवेकख्याति के) वैराग्य से भी। दोषबीज-क्षये=दोषों के बीज-क्षय होने पर। कैवल्यम्=कैवल्य होता है।

अन्वयार्थ—विवेक-ख्याति से भी वैराग्य होने पर दोषों के बीज क्षय होने पर कैवल्य होता है।

व्याख्या—यह विवेक-ख्याति जिससे योगी सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता है, और जिसमें अपने शुद्ध, अपरिणामी और ज्ञान-स्वरूप को त्रिगुणात्मक, परिणामी और जड़ चित्त से अलग करके देखता है, चित्त ही का एक धर्म है, उसी का एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नहीं। इसलिए अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने के लिए इस विवेक-ख्याति से भी विरक्त होजाता है। इसीको परवैराग्य कहते हैं। जब परवैराग्य पूर्ण तथा परिपक्व होजाता है, तो चित्त को बनाने वाले गुण पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाने के कार्य को पूर्ण करके अपने कारण में लीन होजाते हैं। उन के साथही अविद्या आदि क्लेशों के संस्कार भी विवेकख्याति द्वारा दग्ध बीज के सदृश उत्पत्ति के अयोग्य होकर लीन होजाते हैं, तब आत्मा के सामने कोई दृश्य नहीं रहता। यह पुरुष का गुणों से अत्यन्त पृथक् होकर अपने कैवली स्वरूप में अवस्थित होना कैवल्य है।

टिप्पणी—व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र ॥ ५० ॥

क्लेश और कर्मों के क्षय होने पर जब इस योगी का ऐसा भाव होता है कि विवेक प्रत्यय बुद्धिरूप सत्त्व का धर्म है और बुद्धि अनात्म होने से हेय (त्याज्य) पक्ष में मानी गई है। और शुद्ध स्वरूप अपरिणामी पुरुष बुद्धि से भिन्न है। तब इस प्रकार के विवेक से विवेक-ख्याति में भी वैराग्य उदय होजाता है। उस परवैराग्य वाले पुरुष के चित्त में जो क्लेश बीज विद्यमान हैं वे शालि (चावलों) के दग्ध बीज के सदृश अपने अंकुरोत्पादन में असमर्थ हुये मन के सहित ही नष्ट होजाते हैं। उन क्लेश आदिकों के प्रलीन होने पर पुरुष आध्यात्मिक-आधिभौतिक आधिदैविक इन तीनों तापों को नहीं भोगता है और कर्म क्लेश विपाक रूप से चित्त में विद्यमान चरितार्थ हुये गुणों का प्रतिप्रसव अर्थात् मन के सहित ही स्वकारण में लय हो जाता है। यह पुरुष का आत्यन्तिक गुण वियोग (गुणों से अत्यन्त पृथक होजाना) कैवल्य है। इस दशा में चितिशक्तिरूप पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित होता है। ५०।

संगति—योग के मार्ग में मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसके सामने बड़े-

बड़े प्रलोभन, दिव्यविषय और विभूतियां उपस्थित होती हैं। उनसे सावधान रखने के लिये अगला सूत्र है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—स्थानि-उपनिमन्त्रणे = स्थान वालों के आदर भाव करने पर। सङ्गस्मय-अकरणम् = लगाव और घमंड नहीं करना चाहिए। पुनः अनिष्ट-प्रसङ्गात् = फिर अनिष्ट के प्रसंग से (अनिष्ट के लगने के भय से)।

अन्वयार्थ—स्थान वालों के आदर-भाव करने पर लगाव व घमंड नहीं करना चाहिए। क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्ट के प्रसंग का भय है।

व्याख्या—योगियों को भूमियों के अनुसार चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

१ प्रथम कल्पिक—आरम्भिक अभ्यास वाले जो सवितर्क समाधि का अभ्यास कर रहे हैं। (१-४२)

२ मधु-भूमिका—जो निर्वितर्क समाधि नामी ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करके भूत और इन्द्रियों के जीतने का अभ्यास कर रहे हैं। (१-४३) (३-४४-४७)

३ *प्रज्ञा-ज्योति—वे जिन्होंने सविचार समाधि द्वारा भूत इन्द्रियों, को जीत लिया है,* और स्वार्थ संयम द्वारा विशोका-भूमि का अभ्यास कर रहे हैं। (३१, ३५, ४९)

४ अतिक्रान्त-भावनीय—जो निर्विचार समाधि द्वारा मधु-प्रतीका और विशोका भूमियों को प्राप्त करके उनसे विरक्त होगये हैं, जिनको अब कुछ साधना शेष नहीं रहा केवल असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त का लय करना बाकी है। जो सात प्रकार की प्रान्त-भूमि प्रज्ञा वाले हैं। (२। २७)

अपनी-अपनी भूमियों के स्थानपति देवता बड़े आदर से नानाऽकार के भोगों और ऐश्वर्यों का योगियों को प्रलोभन देते हैं, अर्थात् इन भूमियों में नाना प्रकार के भोग, ऐश्वर्य, दिव्य-विषय, और विभूतियों के प्रलोभन आते हैं। इनसे योगियों को सदा सावधान और सचेत रहना चाहिए। इनमें यदि फँसा तो सब किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जायगा। इस कारण इनसे सदा अलग रहना चाहिये। परन्तु इन प्रलोभनों को देखकर और अपने में उनको हटाने की सामर्थ्य समझ कर अभिमान भी न करना चाहिए। क्योंकि अभिमान से उन्नति रुक जाती है और पतन होने लगता है। प्रथम भूमि वाला अभ्यासी इस योग्य ही नहीं होता कि उसके लिये यह प्रलोभन आवें, तीसरे और चौथे भूमि के अभ्यासी इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, कि आसानी से इनके फन्दे में नहीं आसकते। दूसरी भूमि वालों के गिरने की बहुत सम्भावना है, इस कारण उनको सबसे अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

संगति—सूत्र ४९ से जो फलरूप विवेक ज्ञान कहा है उसी के विषय में पूर्वोक्त संयम से भिन्न दूसरा उपाय बतलाते हैं।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—क्षण-तत्-क्रमयोः = क्षण और उसके क्रमों में। संयमात् = संयम करने से। विवेकजं-ज्ञानम् = विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

अन्वयार्थ—क्षण और उसके क्रमों में संयम करने से विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार द्रव्य का सबसे छोटा विभाग जो कि भागरहित है वह परमाणु है, वैसे ही समय को सबसे छोटी विभागरहित गति क्षण है। अथवा जितने समय में चलाया हुआ परमाणु पूर्वदेश को छोड़कर उत्तर देश को प्राप्त होवे वह काल की मात्रा क्षण है। उन क्षणों के प्रवाह का विच्छेद न होना अर्थात् बने रहना क्रम कहलाता है।

क्षण और उसका क्रम दोनों एक वस्तु नहीं हैं। यह बुद्धि के निर्माण किये हुए मुहूर्त, दिन, रात, मास आदि होते हैं। अथवा इसको यों समझना चाहिये कि काल वास्तव में वस्तु से शून्य है केवल बुद्धि ही की निर्माण की हुई वस्तु है। वस्तु से शून्य होवे हुए भी काल को शब्द-ज्ञान के पीछे विकल्प (१। ९) से व्यवहार दशा में लोग वस्तु के समान जानते हैं। क्षण, क्रमाश्रित होने से कोई वस्तु नहीं है। एक क्षण के पीछे दूसरे क्षण का आना क्रम कहलाता है। योगी-जन इसी को काल कहते हैं। दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते और क्रम से भी दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्व वाले क्षण से उत्तर वाले क्षण का अन्त न होना ही क्षणों का क्रम है। इसलिए वर्तमान ही एक क्षण है, पूर्व और उत्तर क्षण नहीं हैं। इसलिए इन दोनों का एकत्व भी नहीं है। अतीत और अनागत क्षण वर्तमान क्षण के ही परिणाम कहने योग्य हैं। उस एक वर्तमान क्षण से ही सम्पूर्ण लोक परिणाम को प्राप्त होते हैं। सब धर्म उस एक क्षण के ही आश्रित हैं। इसलिए क्षण और उसके क्रम में संयम करने से इन दोनों का साक्षात्कार पर्यन्त विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि जैसे नैयायिक सबसे छोटे. निर्विभाग पदार्थ को परमाणु मानते हैं वैसे ही योगाचार्य सत्त्वादि के एक परिणाम-विशेष को द्रव्यरूप क्षण मानते हैं। क्षणों के प्रवाह का अविच्छेद अर्थात् पूर्वापरभाव होना क्रम कहलाता है। पर यह क्रम वास्तव में सत्य नहीं है, कल्पित है। क्योंकि दो अगले पिछले क्षणों का एक समय में समाहार होना असम्भव है। इसलिए घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप काल भी वास्तव में वस्तुशून्य हैं। इनमें विकल्प से व्यवहार हो रहा है। वास्तव में एक वर्तमान क्षण ही सत्य है। उसी एक वर्तमान क्षण का परिणाम यह सारा ब्रह्माण्ड है। ऐसा जो एक वर्तमान क्षण है और उसका जो यह कल्पित क्रम है, उसमें संयम करने से विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेकज-ज्ञान = विवेक से उत्पन्न ज्ञान योग का पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण सूत्र ५४ में बतलाया जावेगा।

टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ ५२ ॥

पूर्व जो फलरूप विवेक ज्ञान कहा है उसी के विषय में पूर्वोक्त संयम से भिन्न उपाय कहते हैं—

सबके अन्त का, काल का ऐसा अवयव, जिसके फिर हिस्से न होसकें वह क्षण कहलाता है। उस प्रकार के कालक्षणों का जो क्रम अर्थात् पूर्वापरभाव से परिणाम है, उसमें संयम करने से भी पूर्वोक्त विवेकज ज्ञान उत्पन्न होजाता है। तात्पर्य यह है कि यह क्षण इस क्षण से पूर्व और इस क्षण से उत्तर है, इस प्रकार काल क्रम में संयम करने वाले को जब अत्यन्त सूक्ष्म क्षण-क्रम का प्रत्यक्ष होता है तो अन्य बुद्धि आदि सूक्ष्म पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होजाता है ऐसे विवेकज्ञान से ज्ञानान्तर होते हैं।

संगति—इस विवेकज ज्ञान का मुख्य फल बतलाने से पूर्व अवान्तर फल अगले सूत्र में बतलाते हैं :—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—जाति-लक्षण-देशैः = जाति, लक्षण, देश से। अन्यता-अनवच्छेदात् = भेद का निश्चय न होने से। तुल्ययोः = दो तुल्य वस्तुओं का। ततः = उस विवेकज ज्ञान से। प्रतिपत्तिः = निश्चय होता है।

अन्वयार्थ—एक दूसरे से जाति, लक्षण, देश से भेद का निश्चय न होने से दो तुल्य वस्तुओं का, विवेकज ज्ञान से निश्चय होता है।

व्याख्या—जातिः अनेक व्यक्तियों में जो अनुगत सामान्य धर्म है वह जाति है। जैसे गायों में गोत्व; भैंसों में महिषत्वादि।

लक्षण—जाति से समान वस्तुओं को, पृथक् करने वाले असाधारण धर्म का नाम लक्षण है। जैसे लाल गाय, काली गाय, इत्यादि।

देश—देश नाम पूर्वत्व तथा परत्व का है।

पदार्थों के, एक दूसरे से, भेद निश्चित कराने के कारण जाति, लक्षण और देश होते हैं। जैसे एक देश में समान लक्षण अर्थात् काले रङ्ग की एक गौ और एक भैंस हो तो उन दोनों में जाति से भेद होता है। जाति और देश समान होने पर जैसे एक चितकबरी गाय और एक लाल गाय हो, इनका भेद लक्षण से होता है। जाति और लक्षण समान होने पर जैसे दो आँवले समान जाति और लक्षण के हों तो उनका पूर्व व उत्तर देश से भेद जाना जाता है। जिसने इन दोनों आंवलों को पहले देखा है, उसकी दृष्टि बचाकर यदि कोई पूर्व देश के आंवले को उत्तर देश में और उत्तर देश के आंवले को पूर्व देश में रखदे तो तुल्य देश होने पर इन दोनों में संशयरहित यथार्थ ज्ञान द्वारा यह विभाग निश्चय नहीं हो सकता कि यह पूर्व वाला है यह उत्तर वाला है। इसका निश्चय विवेकज ज्ञान से हो सकता है। यह ज्ञान योगी को विवेकज ज्ञान से किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर भाष्यकार ने इस प्रकार दिया है—कि उत्तर आँवले के क्षण-सहित-देश से पूर्व आँवले का क्षण-सहित-देश भिन्न है। जब वे आँवले अपने देश-क्षण अनुभव में भिन्न हैं तब उन दोनों के देश-क्षण का अनुभव उन दोनों के भेद का कारण है। इसी दृष्टान्त के समान जाति, लक्षण, देश के परमाणुओं में पूर्व देश वाले परमाणु के देश, क्षणों सहित, साक्षात् करने से उस उत्तर देश वाले परमाणु का वह

देश निश्चय न होने पर उत्तर वाले के देश का भिन्न अनुभव, क्षणों सहित भेद से, होता है। उन दोनों देश-क्षण-सहित परमाणुओं के ज्ञान में समर्थ योगी ही को उन दोनों के भेद का ज्ञान होता है।

वैशेषिक सिद्धान्त वाले जो यह कहते हैं कि (छः पदार्थों द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय में) जो विशेष पदार्थ है वही द्रव्यों का भेदक है। सो उन विशेषों में भी (१) देश (२) लक्षण (३) मूर्ति (अवयव सन्निवेश विशेष) (४) व्यवधि (व्यवधान विशेष) और (५) जाति, भेद-ज्ञान का कारण होते हैं। यहाँ यह और जान लेना चाहिए कि जाति आदि के भेद से पदार्थों का भेद-ज्ञान होना तो साधारण है किन्तु क्षण-भेद से भेद-ज्ञान होना केवल योगी के ही बुद्धिगम्य है। इसीसे ही वार्षगण्याचार्य ने कहा है "मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति" मूल प्रकृति में भेद नहीं होसकता, क्योंकि उसमें मूर्ति, व्यवधि, जाति आदि जो भेद के कारण हैं इनका अभाव है।

संगति—इस प्रकार विवेक-ज्ञान का अवान्तर फल दिखलाकर अब लक्षण द्वारा उसका मुख्य फल बतलाते हैं :—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—तारकम् = बिना निमित्त के अपनी प्रभा से स्वयं उत्पन्न होनेवाला। सर्वविषयम् = सबको विषय करने वाला। सर्वथाविषयम् = सब प्रकार से विषय करने वाला। अक्रमम् = बिना क्रम के (एक साथ ज्ञान को) विवेकजं-ज्ञानम् = विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

अन्वयार्थ—बिना निमित्त के अपनी प्रभा से स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करने वाला, सब प्रकार से विषय करने वाला, बिना क्रम के एक साथ ज्ञान को विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—विवेक जज्ञान चार लक्षणों वाला होता है:

१ तारकम्—बिना बाह्य निमित्त के अपनी प्रभा से स्वयं उत्पन्न होनेवाला, और संसारसागर से तारने वाला।

२ सर्वविषयम्—महदादि पर्यन्त सब तत्त्वों का विषय करने वाला।

३ सर्वथाविषयम्—सब तत्त्वों को सब अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म आदि भेद से उनके तीनों परिणामों सहित सब प्रकार से विषय करने वाला।

४ अक्रमम्—क्रम की अपेक्षा-रहित होकर सबको एक क्षण में सब प्रकार से विषय करने वाला।

ये सम्पूर्ण विवेक-ज्ञान हैं। इक्यावनवें सूत्र में बतलाई हुई ऋतम्भरा प्रज्ञा वाली मधुमती भूमि इसका एक अंश है। उससे ज्ञान की वृद्धि करता हुआ योगी इस अवस्था तक पहुँचता है।

यह ज्ञान की अन्तिम गति है क्योंकि इसमें कोई वस्तु इसका अविषय नहीं रहती।

संगति—योगी को उपर्युक्त प्रकार से विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो अथवा न हो, चित्त और पुरुष दोनों की समान शुद्धि ही कैवल्य का कारण है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—सत्त्व-पुरुषयोः = चित्त और पुरुष की। शुद्धि-साम्ये = शुद्धि समान होने पर कैवल्यम् = कैवल्य होता है। इति = यहाँ तीसरा पाद समाप्त होता है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।

व्याख्या—सत्त्व-चित्त का पुरुष के समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजस्-तमस् का मैल यहाँ तक दूर हो जावे कि वह पुरुष और चित्त का भेद दिखाकर गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुष को अपना स्वरूप साक्षात् कराने के योग्य होजावे। पुरुष की शुद्धि यह है कि चित्त में आत्म-अध्यास के कारण उसके भोग को जो उपचार से अपना समझ रहा था उसका चित्तऔर पुरुष के भेद के यथार्थ ज्ञान से सर्वथा अभाव हो जावे। यही कैवल्य है। इस पाद में बताई हुई कुछ विभूतियाँ कैवल्य-प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि इन भिन्न-भिन्न संयमों द्वारा भिन्न भिन्न विभूतियों और भूमियों को प्राप्त करने के पश्चात् कैवल्य हो। ये विभूतियां और भूमियां प्राप्त हों वा न हों,कैवल्य के लिये पुरुष और चित्तमे यथार्थ रूप से भेद कराने वाला प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञान अत्यावश्यक है। विवेक-ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश दग्धबीज सदृश नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहने पर सकाम कार्यों का भी अभाव हो जाता है। सकाम कार्यों के अभाव से उनको वासना से फल की भावना का वृक्ष भी पैदा नहीं होता। वृक्ष के अभाव में उसके फल, जन्म, आयु और भोग भी नहीं लगते। फिर उनका स्वाद दुखःसुख भी नहीं चखा जा सकता। इस प्रकार गुणों का प्रयोजन, पुरुष को भोग-अपवर्ग दिलाने का, समाप्त हो जाता है, और वे चरितार्थ होकर अपने कारण में लीन हो जाते हैं और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है (४।३४) कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपावस्थिति, गुणाधिकार समाप्ति, परमधाम और परमपद एकार्थक शब्द हैं।

उपसंहार

इस प्रकार समाधि के अन्तरङ्ग तीनों अंग (धारणा, ध्यान और समाधि) को कहकर, उन तीनों की संयम संज्ञा करके, संयम के विषय दिखलाने को तीन प्रकार के परिणाम बताकर संयम के बल से उत्पन्न पूर्वान्त, परान्त और मध्य की सिद्धियों को दिखाकर, समाधि मे अभ्यास करने के लिये भुवन-ज्ञानादि रूप बाहर की और कायव्यूह-ज्ञानादि रूप भीतर की सिद्धियों को कहकर, समाधि के उपकारार्थ इन्द्रियजय, प्राणजयादि-पूर्वक सिद्धियों को दिखाकर मुक्ति सिद्धि के लिये क्रम से अवस्था सहित भूतों के जय और इन्द्रियों के जय से

उत्पन्न होने वाली सिद्धियों की व्याख्या करके, विवेक-ज्ञान के लिये उन-उन उपायों को बतलाकर, सब समाधियों के अन्त में होने वाले 'तारक' के स्वरूप को कहकर, उसमें समाधि से कर्त्तव्य को समाप्त करके चित्त को अपने कारण में लीन हो जाने से 'मुक्ति' उत्पन्न होती है यह कहा गया है। सूत्र २६ 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' की टिप्पणी में व्यासभाष्य का भापार्थ उसमें अलङ्कार रूप से वर्णन की हुई और संदेह जनक बातों का स्पष्टीकरण तथा सूत्र।३९ विशेषवक्तव्य में मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर की चार अवस्थाओं, पितृयाण व देवयान इत्यादि का, विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार पातञ्जल योग प्रदीप में विभूति नाम वाले तीसरे पाद की व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातंजल योगप्रदीपे विभूतिपादस्तृतीयः

कैवल्यपाद

पहले पाद में योग का स्वरूप समाधि, दूसरे पाद में उसका साधन, तीसरे में उससे होने वाली सिद्धियाँ वर्णन करके अब चौथे पाद में कैवल्य को बताते हैं। कैवल्य का निर्णय चित्त और चित्ति के अधीन है, इस कारण कैवल्य के उपयोगी चित्त का निर्णय करने के हेतु सबसे पहले पांच प्रकार की सिद्धियां और उनसे उत्पन्न होने वाले पांच सिद्ध चित्तों को बताते हैं :—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जन्म-औषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः = जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली। सिद्धयः = सिद्धियाँ हैं।

अन्वयार्थ—जन्म, औषधि मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और चित्त में विलक्षण परिणाम उत्पन्न होने अर्थात् इनकी प्रकृति में विलक्षण परिवर्त्तन होने को सिद्धि कहते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं। जन्म औषधि, मन्त्र, तप और समाधि।

इसलिये सिद्धियाँ भी इन निमित्तो के कारण पाँच प्रकार की हैं।

१ जन्मजासिद्धि—यह सिद्धियाँ हैं जिनकी उत्पत्ति में केवल जन्म ही निमित्त है। जैसे पक्षियो आदि का आकाश में उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियो का पूर्व जन्म के पुण्यों के प्रभाव से जन्म से ही सांसिद्धिक ज्ञान का उत्पन्न होना। ये चित्त जन्म से ही इस योग्यता को प्राप्त किये हुए होते हैं।

२ औषधिजासिद्धि—पारे आदि रसायन के उपयोग से शरीर में विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना। अथवा सोमरसपान तथा अन्य औषधियों द्वारा काया-कल्प करके शरीर को पुनः युवा बना लेना इत्यादि। यह औषधि आदि सेवन द्वारा चित्तमें सात्विक परिणाम से होता है।

३ मन्त्रजासिद्धि—जैसे (स्वाध्या यदिष्टदेवता संप्रयोगः) स्वाध्याय से इष्ट देवता का मिलना। मन्त्र द्वारा चित्त में एकाग्रता का परिणाम होता हैं। उससे यह सिद्धि प्राप्त होती है।

४ तपजासिद्धि—"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" तप से अशुद्धि के दूर होजाने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है। चित्त में तप के प्रभाव से यह योग्यता होती है।

५ समाधिजा सिद्धि—समाधि से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ, जिनका वर्णन तीसरे

पाद में सविस्तर है। यह समाधि से उत्पन्न हुआ चित्त ही कैवल्य के उपयोगी है। इस प्रकार सिद्धियों के पांच भेद से सिद्ध चित्तों के भी पाँच भेद जान लेना चाहिये।

टिप्पणी—श्री भोज महाराज ने ये जन्म, ओषधि, मन्त्रादि पांचों सिद्धियाँ पूर्व जन्म में अभ्यस्त समाधि के बल से ही प्रवृत्त हुई बतलाई हैं। पाठकों की जानकारी के लिये उनकी इस सूत्र की वृत्ति का भाषार्थ दिये देते हैं:—

भोजवृत्ति का भाषानुवाद सूत्र ॥ २ ॥

पहिले जो सिद्धियां कहीं हैं उनके अनेक प्रकार के जन्मादि (सूत्रोक्त) कारण हैं इसका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि ये जो सिद्धियां हैं वे सब पूर्व जन्म में अभ्यस्त समाधि के बल से ही प्रवृत्त हुई हैं, जन्म औषधि आदि सब निमित्त मात्र हैं इससे अनेक जन्म में जो समाधि की जाती है उसकी कोई हानि नहीं है अर्थात् एक जन्म में कोई फल न हो तो जन्मान्तर में अवश्य होगा ऐसा जान लेना चाहिये। ऐसे विश्वास को पैदा करने के लिये और समाधि सिद्धि की प्रधानता कैवल्य के लिये (बतलाते हुए यह) कहते हैं—किन्हीं सिद्धियों के केवल जन्म कारण हैं जैसे पक्षी आदि का आकाश में उड़ना आदि अथवा (पक्षी आदि के उड़ने को सिद्धि न माना जाय तो) जन्म के अनन्तर ही जो कपिल महर्षि आदिकों के स्वाभाविक गुण थे (वह जन्मजासिद्धि है) पारे आदि रसायनादि के उपयोग से औषधिजन्य सिद्धियाँ होती हैं। किसी मन्त्र के जप से किन्हीं का आकाश में उड़ना आदि "मन्त्रसिद्धि" है। विश्वामित्र आदिकों की "तपसिद्धि" हुई थी। समाधिसिद्धि इससे पूर्व पाद में बतला चुके हैं। ये सब सिद्धियाँ पूर्व जन्म में क्लेशों को नष्ट करने वालों को ही होती हैं। इससे समाधि के तुल्य द्वितीय जन्म में अभ्यस्त समाधि ही अन्य सिद्धियों का कारण है। जन्म आदि केवल निमित्त मात्र हैं।

संगति—पूर्वोक्त मन्त्र, तप और समाधि आदि से जो पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बतलाई हैं वे सिद्धियाँ यही हैं कि शरीर और इन्द्रियों आदि में विलक्षण शक्ति आजावे या पहली जाति से दूसरी जाति बदल जावे। जात्यन्तर परिणाम बिना उपादान के केवल मंत्रादि से कैसे हो सकता है! इस शङ्का के निवारणार्थ अगला सूत्र है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जात्यन्तर-परिणामः = एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना। प्रकृति-आपूरात् = प्रकृतियों के भरने से होता है।

अन्वयार्थ—एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों के भरने से होता है।

व्याख्या—"जात्यन्तरपरिणाम्" = एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदि का औषधि मंत्रादि के अनुष्ठान से विलक्षण-शक्ति वाला हो जाना। "प्रकृत्यापूरात्"—प्रकृति उपादान कारण को कहते हैं। शरीर की प्रकृति पृथ्वी जलादि पाँच भूत हैं और इंद्रियों की प्रकृति अस्मिता है। प्रकृतियों का कारणरूप से कार्यरूप अवयवों के

आकार में भरने या प्रवेश करने को "प्रकृत्यापूर" कहा गया है। इस प्रकृति की "आपूर" पूर्ण होने से जात्यंतर (दूसरे जाति के रूप व आकार) में परिणाम होता है।

सूत्र का भाव यह है कि योगी इन्द्रियों आदि में जो जात्यंतर परिणाम अर्थात् उनका पहले रूप से विलक्षण-शक्ति वाला हो जाना औषधि, मंत्र, तप, समाधि आदि के प्रभाव से होता है, वह प्रकृतियों के अपूर्व अवयवों के समूह से होता है। जैसे शुष्कतृणों व शुष्कवन में सूक्ष्म रूप से व्याप्त अग्नि के अपूर्व अवयवों के समूह अग्नि की एक कणिका से दीर्घ देश व्यापी प्रचण्ड ज्वालारूप हो जाते हैं वैसे ही योगी के शरीर और इन्द्रियों आदि के पहले राजसी व तामसी अवयव अलग हो होकर ज्यों-ज्यों उनके स्थान पर दूसरे सात्विक अवयव भरते चले जाते हैं त्यों-त्यों उसके शरीर इन्द्रियें आदि विलक्षण-शक्ति वाले होते जाते हैं इस प्रकार उस जाति के अनुकूल अवयव भरते रहने से दूसरी जाति बन जाती है। इस जात्यंतर परिणाम में निमित्त योगज धर्म है जिसे योगी मन्त्र तप आदि से सिद्ध करता है।

टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषार्थ ॥ सूत्र २ ॥

सूत्र १ की टिप्पणी से इसका सम्बन्ध देखें–यहां पर शङ्का होती हैं कि नन्दीश्वरादि का जाति आदि परिणाम उसी जन्म में देखा गया है तो फिर किस प्रकारदूसरे जन्मों में समाधि किये हुए अभ्यास को कारणकहा जाता है। इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

"यह जो एक जन्म में ही नन्दीश्वरादि का जात्यादि परिणाम (तप के प्रभाव से देवत्व को प्राप्त करना) है वह प्रकृति के अवयव प्रवेश (अथवा प्रकृति के सर्वत्र व्याप्त होने से) हुआ जानना चाहिए। पिछले जन्म की ही प्रकृति इस जन्म में अपने विकारों को प्रवेश करके जाति विशेषाकार से परिणत होती है।"

नोट:—शिव पुराणीय सनत्कुमार संहिता के ४५ अध्याय में ऐसा वर्णन है कि शिलाद मुनि का नन्दी नामक कुमार शिव जी की अति उग्र उपासना द्वारा मनुष्य शरीर को त्याग कर उसी जन्म में देवदेह को प्राप्त होगया था।

संगति—क्या धर्म जो प्रकृतियों के आपूर से जात्यंतर परिणाम में निमित्त है स्वयं प्रकृति को ऐसे परिणाम के लिये प्रेरता है अथवा केवल प्रतिबंधक को हटा देता है। इसका उत्तर देते हैं—नहीं, वह केवल रुकावट को दूर कर देता है। रुकावट के दूर होने से जाति बदलने वाले प्रकृति के अवयव स्वयं भरने आरम्भ होजाते हैं।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निमित्तं=(धर्मादि) निमित्त। अप्रयोजकं=प्रयोजक=प्रेरक नहीं हैं। प्रकृतीनां=प्रकृतियों का। वरण-भेदः=आवरण=प्रतिबंधक=रुकावट का तोड़ना (होता) है। तु=किन्तु। ततः=उससे अर्थात् धर्मादि निमित्त से। क्षेत्रिकवत्=किसान की तरह।

अन्वयार्थ—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता है किन्तु उससे किसान के सदृश रुकावट दूर होती है।

व्याख्या—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों (उपादान कारणों) के प्रवृत्त करनेवाले नहीं होते। क्योंकि धर्मादि प्रकृति के कार्य हैं और कार्य कारण का प्रवर्तक नहीं होता। जैसे किसान

जब जल से भरी एक क्यारी में से दूसरी क्यारी में जल लेजाना चाहता है तो हाथ से पानी को उस क्यारी में नहीं लेजाता किन्तु उस क्यारी की मेंड (मुहाना जो बन्द है) को तोड़ देता है, उस मेंड के खुल जाने पर जल स्वयं दूसरी क्यारी में भर जाता है इसी प्रकार धर्म प्रकृतियों के वरण (आवरण=प्रतिबन्धक) अधर्म को नष्ट करदेता है। उस अधर्मरूपी प्रतिबन्धक के नष्ट होने पर प्रकृतियें स्वयं अपने-अपने कार्य को नये अवयवों से भर देती हैं। अथवा जैसे वही किसान धान, गेहूं, मूंग आदि के मूल में जल और भूमि के रसों को प्रवेश करने में असमर्थ होता है, किन्तु खेत में जल के सींचने पर जल भूमि आदि के रस स्वयं ही धानों आदि के मूल में प्रवेश हो जाते हैं वैसे ही धर्म भी अपने विरोधी अधर्म की निवृत्तिमात्र करने में कारण है क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोनों में अत्यन्त विरोध है।प्रकृति से प्रवृत्त करने में धर्म उपादान कारण नहीं होता किन्तु निमित्त होता।

जिस प्रकार धर्म प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतियों की प्रवृत्ति में निमित्त (हेतु) है इसी प्रकार अधर्म को भी प्रकृतियों के प्रवृत्त करने में निमित्त जानना चाहिये। जब धर्म अधर्मरूपी रुकावट को दूर करता है तब उसका शुद्ध परिणाम होता है और जब अधर्म धर्मरूप प्रतिबन्ध को हटाता है तब अशुद्ध परिणाम होता है।

टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषानुवाद। सूत्र ॥ ३ ॥

सूत्र २ की टिप्पणी से इसका सम्बन्ध देखें। यहां यह शंका होती है कि धर्म आदि भी तो पूर्व जन्म में किये गए हैं उन्हीं को जात्यन्तर परिणाम का कारण क्यों न मान लिया जावे। प्रकृति को उस परिणाम का कारण क्यों माना जाता है। इसका उत्तर देते हैं :

निमित्तजो धर्मादि हैं वे प्रकृति के अर्थान्तर परिणाम में प्रयोजक नहीं हैं(क्योंकि वे प्रकृति के ही कार्य हैं) कार्य से कारण की प्रेरणा नहीं होती। तो फिर धर्मादि का कहां काम पड़ता है ? इसका सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जब उस धर्म से उसके विरोधी अधर्म का नाश किया जाता है तो प्रतिबन्धक के न रहने पर प्रकृतियाँ स्वयं अपने कार्य में समर्थ होती हैं। इसमें दृष्टान्त यह देते हैं कि जैसे खेती करनेवाला जो कि एक क्यारी से दूसरी क्यारी में जल लेजाने की इच्छा करता है वह जल की रोकमात्र (मेंड, मिट्टी आदि) को हटाता है, जब रुकावट दूर हो जाती है तो जल स्वयमेव फैलकर उस क्यारी में चला जाता है। जल के फैलाने में किसान का कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार धर्मादि निमित्त अधर्मादि को हटाते मात्र हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३ ॥—चित्त भूमि जन्म-जन्मान्तरों के कर्माशयों से चित्रित है। जो कर्माशय नियत विपाक बनकर ऊपर की भूमि में आकर प्रधान रूप से अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं वे अपने विरोधी उपसर्जन कर्माशयों को प्रतिबन्धक रूप से निचली भूमियों में दबाये रखते हैं (सा० पा० सूत्र १३) सूत्र में बतलाये हुये निमित्त धर्मों का केवल इतना काम होता है कि जिन प्रकृतियों को आपूर अर्थात भरना होता है उनके विरोधी प्रकृति वाले प्रधान कर्माशयों को उनके द्वारा हटा दिया जाता है। इस प्रकार निचली भूमियों में दबे पड़े हुये उपसर्जन (गौण)कर्माशय अपने प्रतिबन्धक के हट जाने पर ऊपर की भूमि में आकर प्रधान

रूप से अभिमत (इच्छित) प्रकृतियों के भरदेने का काम आरम्भ करदेते हैं। जिस प्रकार जब किसान खेत में पानी भरना चाहता है तब उसके प्रतिबन्धक मेंड को काट देता है। इस प्रकार प्रतिबन्धक मेंड के हट जाने पर मेंड से रुका हुआ खेत से बाहर का पानी स्वयं खेत में आना आरम्भ होजाता है। इसी प्रकार सूत्र सं० २ में बतलाये हुये एक जाति से दूसरी जाति में बदल देने का परिणाम उनकी उपादान कारण प्रकृति के भरदेने से होता है। यही कारण है कि कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि अकस्मात् एक अधर्मी धर्मात्मा बनजाता है तथा कभी-कभी धर्मात्मा अधर्मी।

संगति—जब योगी बहुत से शरीरों का निर्माण करता है तब क्या एकमन वाला होता है वा अनेक मन वाला ? इसका उत्तर देते हैं :— (व्यासभाष्य)

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—निर्माण-चित्तानि=निर्माण चित्त । अस्मिता-मात्रात्=अस्मिता-मात्र से (होते हैं)।

अन्वयार्थ—अस्मितामात्र से निर्माण-चित्त होते हैं।

व्याख्या—चित्त के कारण अस्मिता-मात्र को लेकर चित्तों को निर्माण करता है उस से सचित्त होते हैं। —(व्यासभाष्य)

अर्थात् योगी अस्मिता-मात्र से निर्माण-चित्तों को अपने संकल्प-मात्र से निर्मित करता है। (बनाता है)। इन निर्माण-चित्तों से योगी के बनाये हुए सब शरीर चित्तसंयुक्त होते हैं।

भोजवृत्ति में इस सूत्र की सङ्गति तथा सूत्रार्थ निम्न प्रकार दिये हैं :

संगति—तत्त्व को साक्षात् करनेवाले योगी को जब एक बार ही कर्मफल भोगने के लिए अपनी निरतिशय (सबसे बड़ी) सिद्धि के अनुभव से एक साथ अनेक शरीरों के रचने की इच्छा होती है तब अनेक चित्त कैसे हो जाते हैं, यह कहते हैं :

योगी के अपने रचे हुए शरीरों में जो चित्त होते हैं वे अपने मूल कारण अस्मिता-मात्र से ही योगी की इच्छा से फैल जाते हैं। जैसे अग्नि से निकले हुए कण एक बार ही परिणत होते हैं। —(भोजवृत्ति)

विशेष विचार सूत्र ॥ ४ ॥ इस सूत्र की संगति तथा व्याख्या में हमने व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति के शब्दार्थ दे दिये हैं। योगी की शक्ति अपरिमित हो सकती है और योग के बल से ऐसी सिद्धि का होना भी सम्भव हो सकता है। पर यहाँ कई कारणों से यह सन्देह होता है कि यह शब्द श्री व्यासजी महाराज तथा भोज जी ही के हैं अथवा अन्य किसी पुरुष ने योग का अद्भुत चमत्कार दिखलाने के लिये एक समय में बहुत से शरीर चित्तों की कल्पना करके यह शब्द बढ़ा दिये हैं। सन्देह के कारण निम्नलिखित हैं :

(१) योग की भिन्न-भिन्न प्रकार की विभूतियाँ विभूतिपाद में वर्णन की गई हैं। यदि सूत्रकार को कोई ऐसी 'निरतिशय' विभूति बतलाना अभिमत होता तो उसमें इसका कुछ न कुछ संकेत अवश्य किया जाता।

(२) अन्य ग्रन्थों में जहाँ कहीं बहुत से भौतिक शरीरों के एक साथ दिखलाने का वर्णन आया है वे मायावी बतलाये गए हैं न कि वास्तविक और कर्म-फल भोग की निवृत्ति के लिये प्रकृति आपूर सूत्र-सूत्र की विधि अनुसार निर्माण किये गए हैं।

(३) गुणों का प्रथम विषम परिणाम चित्त है और पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित चित्त की संज्ञा अस्मिता है। एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्तों का उपादान कारण अर्थात् प्रकृति नहीं बन सकता। चित्त का विषम परिणाम अर्थात् विकृति अहंकार ही हो सकता है। इस लिये यदि यहां निर्माण चित्तो को अहंकार के अर्थों में लें तो अहंकार भिन्न होने से वह योगी उन अहंकारों के कर्मों और फलों का भोक्ता नहीं हो सकता है।

(४) यदि निर्माण चित्त के अर्थ अहंकार न लेकर केवल चित्त के ही लें तो वे भी पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रति बिम्बित हो कर उस योगी से भिन्न नए पुरुष (जीव) रूप हो जावेंगे।

(५) कर्म तीन प्रकार के होते हैं क्रियमाण प्रारब्ध और सञ्चित, प्रारब्ध कर्म प्रधान कर्माशय नियत विपाक वाले होते हैं और सञ्चित कर्म उपसर्जन कर्माशय अनियत विपाक वाले होते हैं। उन दोनों में से प्रथम श्रेणी के कर्म तो जिन्होंने जन्म, आयु और भोग फल देना आरम्भ कर दिया है भोगने ही होते हैं, किन्तु दूसरी श्रेणी के कर्मों को जिन्होंने अभी तक फल देना आरम्भ नहीं किया है उनको इतनी सामर्थ्य वाला योगी स्वयं दग्धबीज तुल्य कर सकता है।

(६) बहुत से शरीरों के एक साथ निर्माण करने का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। यह सङ्गति के विरुद्ध है।

(७) यहाँ प्रथम सूत्र से पाँच प्रकार की सिद्धियों द्वारा पाँच प्रकार के सिद्ध 'निर्माण' चित्तों का प्रसङ्ग चला आ रहा है। एक साथ बहुत से शरीरों के रचने का कहीं संकेतमात्र भी नहीं है।

(८) श्री व्यासजी तथा भोज जी महाराज ने स्वयं छटे सूत्र के भाष्य तथा वृत्ति में निर्माण-चित्त के अर्थ जन्म, औषधि आदि द्वारा उत्पन्न हुए पाँच सिद्ध चित्त बतलाए हैं न कि एक साथ उत्पन्न हुए अनेक शरीरों के चलाने वाले अनेक चित्त।

इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये अर्थसहित मूलभाष्य और वृत्ति नीचे लिख देते हैं।

पंचविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्य-पापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥६॥

—(व्यासभाष्य)

अर्थ—जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध निर्माण चित्त हैं उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनायें नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होने से योगी का पुण्य-पाप

से सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार—जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से उत्पन्न होनेवाले सिद्ध निर्माण-चित्तों) की तो कर्म और वासनायें विद्यमान रहती हैं।

ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत्पंचसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥६॥

—(भोजवृत्ति)

अर्थ—ध्यानजं अर्थात समाधि से उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पाँचों (सिद्ध निर्माणचित्तों) में अनाशय अर्थात् कर्म की वासना और संस्कारों से रहित होता है यह अभिप्राय है।

उपर्युक्त सब बातों को दृष्टिकोण में रखते हुए सूत्र ४ की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए:—

निर्माणचित्त = जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि इन पांच सिद्धियों से उत्पन्न होने वाले पाँच प्रकार के सिद्ध-चित्त जिनका प्रथम सूत्र से प्रसङ्ग चला आ रहा है।

अस्मिता = पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व (जिससे अहङ्कार उत्पन्न होता है अर्थात् जिसमें अहङ्कार बीजरूप से रहता है) जो निर्माणचित्तों की प्रकृति है। उन विलक्षण शक्ति वाले सिद्ध शरीर इन्द्रियों आदि को चलाने वाले सिद्ध निर्माणचित्त अस्मितामात्र से उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी प्रकृति (उपादान कारण) अस्मिता (चित्तसत्त्व) है। जिसके 'आपूर' से उनमें यह विलक्षण परिणाम होता है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्ति-भेदे = प्रवृत्ति के भेद में। प्रयोजकम् = प्रेरने वाला। चित्तम् = चित्त। एकम् = एक। अनेकेषाम् = अनेकों का होता है।

अन्वयार्थ—प्रवृत्ति के भेदों में एक चित्त अनेकों का प्रेरने वाला होता है।

व्याख्या—एक चित्त से किस प्रकार अनेक चित्तों के अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति होती है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि सब चित्तों का प्रवर्त्तक एक चित्त है उससे प्रवृत्ति-भेद होता है।—(व्यासभाष्य)

उन अनेक चित्तों के प्रवृत्तिभेद होने में एक ही चित्त अधिष्ठाता होकर प्रेरणा करने वाला होता है। इससे अनेक चित्तों का मतभेद नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे एकमन अपने शरीर का अधिष्ठाता बनकर चक्षु हस्तादि की इच्छापूर्वक प्रेरणा करता है वैसे ही अन्य कार्यों में भी प्रेरक माना जाता है। —(भोजवृत्ति)

विशेष विचार। सूत्र ५ ॥ पिछले वि० वि० अनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी—ऊपर बताये हुए पाँचों निर्माणचित्तों का नाना प्रकार की प्रवृत्ति में लगाने वाला अस्मिता अर्थात् अधिष्ठाता चित्त है। इन चित्तों की सारी प्रवृत्तियाँ इसी एक अधिष्ठाता चित्त के आधीन हैं।

संगति—इन पाँच प्रकार की सिद्धियों से उत्पन्न हुए निर्माणचित्तों में से समाधि-जन्य चित्त की विलक्षणता अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उनमें से (पाँच प्रकार के निर्माण-सिद्धचित्तों में से)। ध्यानजम् = ध्यान से उत्पन्न होनेवाला (चित्त)। अनाशयम् = वासनाओं से रहित (होता है)।

अन्वयार्थ—उन पाँच प्रकार के जन्म, औषध आदि से उत्पन्न हुए पाँचों निर्माण-सिद्ध-चित्तों में से समाधि से उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओं से रहित होता है।

व्याख्या—जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध-निर्माण-चित्त है उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासना-रहित है उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनायें नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होने से योगी का पुण्य पाप से सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार—जन्म, औषधि, मन्त्र और तप से उत्पन्न होनेवाले) सिद्ध-निर्माण-चित्तों की, तो कर्म और वासनायें विद्यमान रहती हैं। है।—(व्यास भाष्य)

ध्यानजं अर्थात् समाधि से उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पांचों (सिद्ध निर्माण चित्तों में) अनाशय अर्थात् कर्म की वासना और संस्कारों से रहित होता है यह अभिप्राय —(भोजवृत्ति)

संगति—जब योगी भी साधारण मनुष्यों की भांति कर्म करते देखे जाते हैं, तो उनके चित्त वासना रहित किस प्रकार होसकते हैं?

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कर्म = कर्म। अशुक्ल-अकृष्णं = न शुक्ल न कृष्ण। योगिनः = योगी का। त्रिविधं = तीन प्रकार का। इतरेषां = दूसरों का होता है।

अन्वयार्थ—योगी का कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरों का तीन प्रकार का (पाप, पुण्य और पाप पुण्य मिश्रित) होता है।

व्याख्या—कर्म चार प्रकार के होते हैं—

१ कृष्ण—पापरूप कर्म अर्थात् हिंसा आदि दूसरों को हानि पहुंचाने वाले स्तेय व्यभिचार आदि कर्म दुराचारी पुरुषों के होते हैं।

२ शुक्ल—पुण्यकर्म अहिंसा आदि दूसरों को लाभ पहुंचाने वाले, स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि धर्मात्माओं के होते हैं।

३ कृष्ण शुक्ल—पापपुण्य मिश्रित कर्म जिनमें किसीको हानि- किसीको लाभ हो, साधारण मनुष्यों के होते हैं।

४ अशुक्ल अकृष्ण—न पुण्य न पाप अर्थात् फलों की वासनारहित निष्काम शुद्ध कर्म।

इनमें से योगियों के कर्म अशुक्ल अकृष्ण होते हैं अर्थात् न पुण्य वाले न पाप वाले। पापकर्म तो वे कभी करते ही नहीं। क्योंकि वे उनके लिये सर्वदा त्याज्य हैं, इस कारण उनके कर्म अकृष्ण हैं। शुक्लकर्मों को निष्काम भाव से फलों को त्यागकर करते हैं इस कारण वे

अशुक्ल होते हैं। साधारण मनुष्यों की तरह उनको कर्म में प्रवृत्त करने वाले अविद्या आदि क्लेश नहीं होते। बल्कि वे अपने आपको तथा अपने सब कर्मों और उनके फलों को ईश्वर समर्पण करके केवल उसकी आज्ञापालन में अपना कर्तव्य समझते हुए करते हैं। इस कारण वे वासनारहित हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ गीता ५। १०, ११, १२ ॥

अर्थ—जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल से कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिपायमान नहीं होता ॥ १० ॥ निष्काम कर्मयोगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फलों को परमेश्वर के अर्पण करके परमात्म प्राप्तिरूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलों में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है ॥ १२ ॥

साधारण मनुष्यों के तीन प्रकार के कर्म १ शुक्ल=अच्छे, २ कृष्ण=बुरे, ३ शुक्ल-कृष्ण-मिश्रित=अच्छे बुरे मिले हुए होते हैं, इस कारण वे चित्त में फलों की वासना को पैदा करते हैं।

संगति—ऊपर बताये हुए योगियों से अतिरिक्त साधारण मनुष्यों के तीन प्रकार के कर्मों का फल बताते हैं:—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे (तीन प्रकार के कर्मों से) तद्-विपाक-अनुगुणानां, एव=उन्हीं के फल के अनुकूल ही। अभिव्यक्तिः=प्रकटता। वासनानाम्=वासनाओं की होती हैं।

अन्वयार्थ—उन तीन प्रकार के कर्मों से उनके फल के अनुकूल ही वासनाओं की अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है।

व्याख्या—योगियों से अतिरिक्त सकामी पुरुष फलों की वासना से कर्म करते हैं। जैसे कर्म होते हैं उनके फलों के अनुकूल गुणों वाली वासनायें उत्पन्न होती हैं। उन वासनाओं से फिर वैसे ही कर्म और उनसे फिर उसी प्रकार की वासनायें बनती हैं। वासनायें चित्त में दो प्रकार के संस्काररूप से होती हैं। एक स्मृतिमात्र फल वाली दूसरी जाति, आयु, भोग फल वाली। जब कोई कर्म करता है तो उसके फल के अनुकूल ही सारी वासनायें

प्रकट होजाती हैं। उदाहरणार्थ—जब कर्मों का फल मनुष्य जन्म होता है तो स्मृति फल वाली वासनायें मनुष्य जाति आयु और भोग वाली वासनाओं को जो जन्म-जन्मान्तरों से चित्त में संस्काररूप से पड़ी हुई हैं, जगा देती हैं। उससे भिन्न अन्य जाति आयु और भोग वाली वासनायें चित्तभूमि में दबी रहती हैं। इसी प्रकार यदि कर्मों का फल (कर्म विपाक) कोई पशुयोनि हो तो उस जाति आयु और भोग की वासनाओं की स्मृति फल वाली वासनायें जगा देती हैं। और वे अपना फल देने लगती हैं। इसका विवरण विस्तारपूर्वक (२। १२, १३) सूत्र में आवागमन के सम्बंध में किया गया है।

संगति—वासनायें सैकड़ों जन्म पूर्व की होती हैं और इनमें देश तथा समय का भी अत्यंत अंतर होता है फिर एक जन्म को देने के लिये भिन्न-भिन्न जन्मों, देशों और कालों में चित्त में पड़ी हुई वासनायें एक साथ किस प्रकार प्रकट होसकती हैं? उत्तर

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—जाति-देश-काल व्यवहितानाम्-अपि=जाति, देश और काल से व्यवधान वाली (वासनाओं) का भी। आनन्तर्यं=व्यवधान (दूरत्व) नहीं होता है। स्मृति-संस्कारयोः=स्मृति और संस्कार के। एक-रूपत्वात्=एक रूप होने से=समानविषयक होने से।

अन्वयार्थ—जाति, देश और कालकृत व्यवधान वाली वासनाओं का भी व्यवधान नहीं होता क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समान विषयक) होते हैं।

व्याख्या—जाति, देश और काल का निकट होना वासनाओं के संस्कारों के प्रकट होने का कारण नहीं होता है, बल्कि उनको प्रकट करने वाला कारण उनका अपना-अपना अभिव्यञ्जक (प्रकट करने वाला) होता है। वह संस्कार चाहे कितने ही पिछले जन्मों के हों और चाहे उनमें कितना ही देश और काल का व्यवधान (फासला) हो। अभिव्यञ्जक मिलने पर तुरंत प्रकट होजाते हैं। उदाहरणार्थ—जब कर्मफल (कर्मविपाक) यह हो कि मनुष्य किसी पशु योनि में जावे तो वह उन सब वासनाओं के संस्कारों के जगाने में अभिव्यञ्जक होजाते हैं जो उस जाति के बनाने वाले अथवा उनमें भोगे जाने वाले हैं। चाहे वे सैकड़ों जन्म पहले के बने हुए हों चाहे सहस्रों वर्ष व्यतीत होगये हों और कितने ही दूर देशों के क्यों न बने हों। यह व्यवधान उनके प्रकट होने में रुकावट न डाल सकेंगे क्योंकि स्मृति संस्कारों के सदृश उत्पन्न होती है। जैसे संस्कार हों वैसी स्मृति होती है।

संगति—जब वासनाओं के अनुसार ही जन्म होता है और कर्मों के अनुसार वासनायें तो सबसे पहिले जन्म देने वाली वासना कहां से आई? उत्तरः—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—तासाम्=उन (वासनाओं) को अनादित्वं च=अनादिता भी है। आशिषः=आशिष के=अपने कल्याण की इच्छा के। नित्यत्वात्=नित्य होनेसे।

अन्वयार्थ—उन वासनाओं को आशिष (अपने कल्याण की इच्छा) के नित्य होने से अनादित्व भी है।

व्याख्या—आशिष-अपने कल्याण की इच्छा कि मेरे सुख साधन सदैव बने रहें। उनसे मेरा वियोग कभी न हो। यह इच्छा सर्व प्राणियों में सदैव पाई जाती है। यही संकल्प विशेष सब वासनाओं का कारण है। इसके सदा से बने रहने के कारण वासनाओं का सदा से बना रहना है। यह इच्छा (सङ्कल्पविशेष) प्रवाह से अनादि है इसलिये वासनाओं का भी प्रवाह से अनादित्व सिद्ध होता है इसका कोई आदि नहीं है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १०। इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने प्रसङ्ग से चित्त के परिमाण का विशेषता के साथ वर्णन किया है। उसको बतलाने के निमित्त व्यासभाष्य अर्थ सहित लिखे देते हैं।

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्। जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति।

(घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः)

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्। निमित्तं च द्विविधं—बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्। तथा चोक्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं, ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत ॥ १० ॥

अर्थ—आशिष के नित्य होने से उन वासनाओं का अनादित्व पाया जाता है। 'मा न भुवं भूयासं' 'ऐसा न हो कि मैं न होऊँ किन्तु बना रहूँ' यह आशिष अर्थात् अपने सदा बने रहने की प्रार्थना (इच्छा) हर-एक प्राणधारी में पाई जाती है। यह स्वाभाविक नहीं है क्योंकि यह जन्तु जो अभी उत्पन्न हुआ है और जिसने इस जन्म में किसी भी प्रमाण से मरने के दुःख को अनुभव नहीं किया है, वह भी दुःख अनुभव से पीछे होनेवाले स्मृति के निमित्त मरण-त्रास से द्वेष करता है। स्वाभाविक वस्तु निमित्त के आश्रय नहीं होतीं इस

कारण यह चित्त अनादि वासनाओं से बँधा हुआ निमित्त के वश से किसी वासना को लब्ध करके पुरुष के भोग आयु प्राप्त कराता है।

अर्थात् यद्यपि चित्त अनादि अनेक जन्मों की विलक्षण वासनाओं से अनुविद्ध (युक्त) है तथापि सब वासनायें अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं होतीं। किन्तु जो कर्म फल देने को उन्मुख हुआ है वही कर्म जिनका व्यञ्जक होता है वह वासनायें उदय होकर पुरुष के भोग में निमित्त होती हैं, अन्य वासनायें दबी रहती हैं। यहां प्रसङ्ग से भाष्यकार चित्त के परिणाम के सम्बन्ध में अन्य तथा योगदर्शन के सूत्रकार के विचार बतलाते हैं—

'घटप्रासाद'......युक्त इति' = कई-एक दर्शनों का मत है कि जिस प्रकार दीपक का प्रकाश, दीपक को घट में रखने से संकुचित हो जाता है और महल में रखने से विकसित हो जाता है, इसी प्रकार चित्त (मनुष्य, हाथी, चींटी आदि) जिस शरीर में जाता है उस परिमाण आकार-मात्र हो जाता है इसलिये उसकी (सूक्ष्म-शरीर में रहते हुए मृत्यु के समय 'अन्तराभाव' परलोकगमन अर्थात् एक स्थूल शरीर का छोड़ना और (उसी सूक्ष्म शरीर में रहते हुए जन्म लेने के समय) 'संसार' परलोक से आगमन अर्थात् दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करना 'युक्त' सिद्ध होता है।

"वृत्तिरेव"........आचार्य = आचार्य अर्थात् योगदर्शन के सूत्रकार श्री पतञ्जलि महाराज का यह सिद्धान्त है कि इस विभु चित्त की वृत्ति ही सङ्कोच विकास वाली है (चित्त सङ्कोच विकास वाला नहीं है क्योंकि यह विभु है)" "और यह (चित्त का वृत्तिमात्र से शरीरमात्र में) संकोच-विकास धर्मादि (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य) निमित्त की अपेक्षा से होता है। यह निमित्त दो प्रकार के होते हैं—बाह्य व आध्यात्मिक। शरीर (इन्द्रिय, धन आदि) की अपेक्षा रखने वाले स्तुति, दान, अभिवादन आदि बाह्य निमित्त हैं। और चित्तमात्र के आधीन अर्थात् चित्तमात्र से ही होने वाले श्रद्धा आदि *(श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, वैराग्य आदि)* आध्यात्मिक निमित्त हैं। और ऐसा ही पूर्व आचार्य (पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—यह जो योगियों के मैत्री आदि तथा श्रद्धा आदि विहार (प्रयत्नसाध्य व्यापार) हैं वह बाह्य साधन (शरीर आदि) की अपेक्षा से रहित हैं और अति प्रकृष्ट (अति उत्तम = शुक्ल) धर्म को उत्पन्न करता है। इन दोनों (बाह्य और आध्यात्मिक साधनों) में से मानस (आध्यात्मिक) बलवान् है क्योंकि ज्ञान वैराग्य जो मानव धर्म हैं उनसे अधिक प्रबल कोई बाह्य साधन नहीं है चित्त-बल के बिना (केवल) शारीरिक-बल से कौन दण्डक वन को (खरदूषणादि चौदह हजार राक्षसों का क्षय करके राक्षसों से) शून्य करने का उत्साह (*श्री रामचन्द्र जी के सदृश*) कर सकता है (तथा) कौन अगस्त्य मुनि के समान समुद्र को पी सकता है।"

भाष्य का स्पष्टीकरण—

१ तासाम्.........दृश्यते ॥ आशिष के नित्य होने से वासनाओं का तथा जन्मों का प्रवाह से नित्य होना सिद्ध किया है।

२ सा न स्वाभाविकी ''''''मुपादत्ते ॥ नास्तिकों के इस तर्क का कि तत्काल उत्पन्न हुए जन्तु का इष्ट वस्तुओं के देखने में हर्ष और अहितकर वस्तुओं के देखने में शोक प्रकट करना कमल-पुष्प के खिलने और मुरझाने के सदृश स्वाभाविक है इस युक्ति से खण्डन किया है कि कमल का खिलना और मुरझाना भी स्वाभाविक नहीं किन्तु सूर्य की किरणों के निमित्त से है क्योंकि स्वाभाविक वस्तुएँ सदा एकसी रहती हैं जैसे अग्नि की उष्णता। इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे का हर्ष, शोक स्वाभाविक नहीं, किन्तु पूर्व जन्मों में सुख-दुःख के अनुभवों की स्मृति इसका निमित्त है।

३ तस्मादनादिवा इति॥ चित्त का अनादि अनेक जन्मों की वासनाओं से चित्रित होना और पुरुष के भोग का सम्पादन कराना सिद्ध किया है। (यह सिद्धान्त सब दर्शनकारों को अभिमत है)।

४ घटप्रासाद'' ''''युक्त इति॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकों का मत दिखलाते हैं, न्याय और वैशेषिक ने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के उन सूक्ष्म परमाणुओं को जिनका कोई विभाग न हो सके और मन को अणु (सूक्ष्म) परिमाण माना है। दिशा, काल, आकाश तथा आत्मा को विभु (व्यापक) महत् परिमाण माना है। अणु और विभु दोनों नित्य होते हैं। अनेक परमाणुओं से मिलकर जो पदार्थ बनते हैं वे मध्यम परिमाण वाले होते हैं, जैसे पृथ्वी, जल आदि। ये अनित्य हैं क्योंकि संयोग का विभाग होना आवश्यक है। यह मध्यम परिमाण वाले पदार्थ वास्तव में न अणु हैं न विभु। परन्तु एक दूसरे की अपेक्षा से परस्पर अणु और महत् भी कहलाते हैं, जैसे पृथ्वी की अपेक्षा से घट अणु है और घट की अपेक्षा पृथ्वी महत् परिमाण वाली है (६।११ वैशेषिक) इन दोनों दर्शनों में चित्त की संज्ञा मन की है जिसमें सब जन्मों के वासनारूप संस्कार रहते हैं। मन दीपक के तुल्य प्रकाश वाला है। जिस प्रकार एक काँच की चिमनी में प्रकाशमान ज्योति का प्रकाश घट में रखने से उसके परिमाण के अनुसार संकुचित और बड़े मकान में रखने से उसके परिमाण के अनुसार विकसित होता है इसी प्रकार अणु परिमाण मन संकोच विकास वाला है, सूक्ष्म शरीर रूपी चिमनी में प्रकाशमान जब वह किसी छोटे चींटी आदि के स्थूल शरीर में जाता है तो उसका प्रकाश उसके शरीर के परिमाण के अनुसार संकुचित हो जाता है और जब मनुष्य हाथी आदि जैसे बड़े स्थूल शरीर में होता है तो उसके परिमाण के अनुसार विकसित हो जाता है।

तदभावादणु मनः (७।१।२३ वैशेषिक)

अर्थ—उसके अर्थात् विभुत्व के अभाव से मन अणु है।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु। (३।२।६३ न्याय)

अर्थ—उक्त हेतु अर्थात् युगपत् ज्ञान के न होने से मन अणु है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि इस न्याय और वैशेषिक में बतलाये हुए मन व संज्ञा सांख्य और योग में अहंकार है।

५ वृत्तिरेवास्य ''''' त्याचार्यः॥ इससे भाष्यकार ने योगदर्शन के सूत्रकार का सिद्धान्त बतलाया है अर्थात् चित्त धर्मी विभु है उसमें संकोच विकास नहीं होता, उसके ध

वृत्तियों में ही संकोच विकास होता है। वृत्तियों का लाभ जन्म है और उनके छिप जाने का नाम मृत्यु है। ये वृत्तियाँ नैयायिकों के गुण नहीं हैं किन्तु द्रव्य हैं।

शंका—चित्त प्रधान प्रकृति का कार्य होने से विभु अर्थात् महत् परिमाण वाला नहीं हो सकता। और यह सांख्य तथा योग-सिद्धांत के विरुद्ध भी है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिंगम्॥ (१।१२४ सांख्यदर्शन)

अर्थ—कारण वाला अर्थात् कार्य अनित्य, अव्यापी, क्रिया वाला, अनेक आश्रय वाला; ये कार्य के लिङ्ग हैं (जो कारण प्रकृति को बतलाते हैं)।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्। (१० सांख्यकारिका)

अर्थ—कारणवाला, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक आश्रित, चिन्ह, अवयव वाला, पराधीन, व्यक्त होता है और इससे उल्टा अव्यक्त।

समाधान—उपर्युक्त सांख्यसूत्र तथा कारिका में प्रकृति और विकृति के लक्षण बताये हैं। सांख्य और योग ने अणुत्व और विभुत्व को न्याय और वैशेषिक के (परमाणु आदि की अपेक्षा से) पारिभाषिक अर्थ में नहीं प्रयोग किया है किन्तु (गुणों के परिमाण की अपेक्षा से) अव्यक्त और व्यापी अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होंने आठ प्रकृतियाँ, मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्रायें, और १६ केवल विकृतियाँ, पाँच स्थूलभूत और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं। मूलप्रकृति निरपेक्ष प्रकृति है, अन्य सात प्रकृतियाँ सापेक्ष अर्थात् अपनी प्रकृतियों की अपेक्षा विकृति और विकृतियों की अपेक्षा प्रकृति हैं। प्रत्येक प्रकृति अपनी विकृति में व्यापी होने से उसकी अपेक्षा विभु है और उसमें अव्यक्त (सूक्ष्म अप्रकट) रूप से अनुगत रहने के कारण उसकी अपेक्षा अणु (सूक्ष्म) है। और विकृति रूप से अव्यापी और व्यक्त (प्रकट) होती है। इसी प्रकार (मूल प्रकृति के अतिरिक्त सातों प्रकृतियों में से) हरेक प्रकृति के प्रकृति और विकृति होने की अपेक्षा से उपर्युक्त लक्षण जानना चाहिये।

मूल प्रकृति अपने प्रकृति रूपसे अव्यक्त तथा गुणों के साम्य परिणाम वाली होने से परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल उसकी व्यक्त विकृतियों से और गुणों के विषम परिणामों से उसकी सत्ता अनुमान-गम्य है। गुणों के साम्य परिणाम वाली होने से पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन में भी निष्प्रयोजन है। भाव यह है कि प्रकृति केवल विकृति रूपसे ही अपने को व्यक्त कर सकती है प्रकृति रूपसे नहीं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, स्वयं किसी की विकृति नहीं है। इसलिए अव्यक्त रूपसे प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है केवल सत्तामात्र अनुमानगम्य और आगमगम्य है। योगीजन जो विवेकख्याति में तीनों गुणों के अलग-अलग परिणामों को साक्षात् करते हैं, उससे गुणों के साम्य परिणाम की सत्ता का अनुमान करते हैं। अर्थात् महत्तत्व के साक्षात्कार से मूल प्रकृति अनुमेय है। और यदि उस साक्षात्कार को मूल प्रकृति ही मान लिया जावे तो वह व्यक्त होने से किसी और अव्यक्त प्रकृति की अपेक्षा वाली होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आजावेगा। इसलिए चित्त यद्यपि

प्रधान प्रकृति की अपेक्षा अव्यापी लिङ्ग और विषम परिमाण वाला है, तथापि अन्य सब विकृतियों की प्रकृति होने से सारी सृष्टि की अपेक्षा व्यापी अर्थात् विभु है। इसलिए इसकी संज्ञा महत्तत्व अर्थात् विभु परिमाण वाला तत्व की गई है।

चित्तमें अहम् भाव पैदा करके भिन्नता करने वाली महत्तत्व की विकृति अहंकार है। सांख्य तथा योग की परिभाषा में प्रकृति, धर्मी, तथा विकृति कार्य धर्म परिणाम और वृत्ति एकार्थक शब्द है। इसलिए वृत्ति शब्द चित्त के धर्म अहङ्कार के लिए प्रयोग हुआ है, अर्थात् विभु चित्त का संकोच विकास उसके धर्म अहङ्कार रूप से होता है। इसी कारण सांख्य ने अहङ्कार में ही कर्त्तापन बतलाया है। यथा "अहंकारः कर्ता न पुरुषः" इस सम्बन्ध में अगले सूत्रों में विशेष व्याख्या की जायेगी।

शंका—मन न अणु है न विभु है, किन्तु मध्यम परिमाण वाला है। जैसे—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥

सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ॥ (५।६९—५।७० सां० द०)

अर्थ—मन को व्यापकता नहीं है करण होने से, इन्द्रिय होने से, क्रियावाला होने से, और (परलोक में) गति सुनने से, इससे मन के विभु होने का खण्डन है।

न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ॥ (५।७१ सां० द०)

अर्थ—वह निरवयव भी नहीं हैं, क्योंकि उसका घट के समान योग है। इससे अणु होने का खण्डन किया है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ (मुण्डक २।१।३)

अर्थ—इस (परमात्मा) से प्राण मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होते हैं। इस से चित्त का मध्यम परिणाम होना सिद्ध है।

समाधान—सांख्य ने आठ प्रकृतियाँ और १६ विकृतियाँ मानी हैं जैसा ऊपर बतला आये है। यहाँ 'मन' शब्द 'महत्तत्व' प्रकृति के लिए नहीं प्रयोग हुआ है किंतु सोलह विकृतियों में जो ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, उस मन इन्द्रिय के लिए (५, ६९, ७०, ७१ सांख्य दर्शन) प्रयोग हुआ है वह केवल विकृति होने से न विभु है न अणु है, किन्तु मध्यम परिमाण वाला है और (मुण्डक उप० २।१।३) में पुरुष के शुद्ध स्वरूप अर्थात् पर ब्रह्म को अक्षर, अव्यक्त, प्रकृति से परे तथा सब कार्य्य जगत् का निमित्त कारण बतलाया है। प्राण, मन, इन्द्रियादि में परस्पर भिन्नता अथवा उपादान कार्य्य भाव नहीं बतलाया गया है।

श्रुति में मन को चित्त अर्थ में विभु ही बतलाया है। जैसे—

अनन्तं वै मनः (बृहद० उप०)

अर्थ—चित्त अनन्त (विभु) है।

सारांश:—"वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनी" का थोड़े से शब्दों में इस प्रकार स्पष्टीकरण समझलेना चाहिये कि वृत्ति, परिणाम, धर्म और विकृति, तथा प्रकृति, उपादान कारण और धर्मी एकार्थक शब्द हैं। प्रकृति अपनी विकृति की अपेक्षा विभु

अर्थात व्यापक होती है। इस लिये पांचो तन्मात्रायें तथा ११ इन्द्रियाँ विभु अहंकार की वृत्ति रुप हैं। और अहंकार भी विभु चित्त का वृत्ति रूप ही है।

संगति—जब वासनायें अनादि हैं तो उनका अभाव भी नहीं हो सकता और उनके अभाव न होने से मुक्ति असम्भव है। उत्तर—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—हेतु-फल-आश्रय-आलम्बनैः = हेतु, फल आश्रय और आलम्बन से (वासनाओं का) संगृहीतत्वात् = संगृहीत होने से। एषाम् = इनके (हेतु फल आश्रय और आलम्बन के) अभावे = अभाव में। तद्-अभावः = उनका (वासनाओं का) अभाव होता है।

अन्वयार्थ—हेतु फल आश्रय और आलम्बन से वासनाओं के संगृहीत होने से इनके (हेतु फल आश्रय और आलम्बन के) अभाव से उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

व्याख्या—१ वासनाओं का हेतु-अविद्या आदि क्लेश, शुक्ल कृष्ण तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं।

२ वासनाओं का फल—जाति आयु और भोग है।

३ वासनाओं का आश्रय—अधिकार सहित चित्त है।

४ वासनाओं का आलम्बन—इन्द्रियों के विषय हैं।

यद्यपि वासनायें अनादि हैं और अनन्त हैं तथापि वे सब इन्हीं हेतुफल-आश्रय और आलम्बन के सहारे रहती हैं। इनकी स्थिति में वासनाओं की उत्पत्ति होती है और अभाव में नाश। विवेक-ख्याति द्वारा तत्वज्ञान से अविद्या आदि क्लेशों का उनके फल आश्रय और आलम्बन सहित अभाव हो जाता है उनके नाश होने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

व्यासभाष्य का भाषानुवाद, सूत्र ॥ १२ ॥

हेतु आदि के उदाहरण ये हैं। यथा-धर्म से सुख,अधर्म से दुःख, सुख में राग और दुःख में द्वेष होता है। इन राग और द्वेष से प्रयत्न होता है। उस प्रयत्न से मन वाणी और शरीर से चेष्टा करता हुआ किसी पर अनुग्रह करता है और किसी की हानि। ऐसा करने से फिर धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, द्वेष होते हैं। इस प्रकार यह छः अरों वाला संसार-चक्र चलता है। इस प्रतिक्षण घूमते हुए चक्र को चलाने वाली अविद्या है। वही सब क्लेशों का मूल होने से अनन्त अनादि वासनाओं का हेतु (कारण) है। जिसके आश्रय होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है तथा धर्म-अधर्म के सुख-दुःख भोग फल हैं। अधिकार-संयुक्त चित्त वासनाओं का आश्रय है, क्योंकि जिस चित्त की फलभोगरूप सामर्थ्य समाप्त हो गई है उसमें ये वासनायें निराश्रय होकर नहीं ठहर सकतीं। जिसके सन्मुख होने से जो वासना प्रकट होती है वही उसका आलम्बन है (वे रूप रस आदि इन्द्रिय के विषय हैं) इस प्रकार सब वासनायें हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से संगृहीत हैं (इसलिये यद्यपि ये वासनायें अनादि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारों के अभाव होने पर उनके आश्रय रहने वाली वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

भोजवृत्ति भाषानुवाद सूत्र ॥ १२ ॥

उन वासनाओं के अनन्त होने से उनका नाश कैसे होता है इस आशङ्का को करके नाश का उपाय कहते हैं—

वासनाओं का, समीपवर्ती (वर्तमान) ज्ञान कारण है। उस सुख दुःखादि के ज्ञान के रागद्वेषादि कारण हैं। उन राग-द्वेषादिकों का कारण अविद्या है। इस प्रकार वासनाओं का कारण साक्षात् वा परम्परा से अविद्या है। वासनाओं के फल शरीरादि और स्मृत्यादि हैं। वासनाओं का स्थान चित्त है जो ज्ञान का विषय है वही वासनाओं (संस्कारों) का विषय है। इससे उन हेत्वादिकों से अनेक वासनाओं का भी संग्रह व्यापन हो रहा है अर्थात् अनेक वासनायें व्याप्त हैं। जब वासनाओं के हेत्वादिकों का नाश हो जाय अर्थात् ज्ञान और योग से उन हेत्वादिकों को जले हुए बीज के बराबर करदिया जाय तो जड के न रहने से वासनायें नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादि को नहीं आरम्भ करतीं। इस प्रकार अनन्त वासनाओं का नाश हो जाता है।

संगति—अभाव का कभी भाव नहीं होता और भाव का कभी अभाव (नाश) नहीं होता। इस कारण वासनाओं का और उनके हेतु, अविद्या आदि क्लेशों का जो भावरूप हैं अभाव कैसे सम्भव है? उत्तर—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अतीत-अनागतम् = भूत और भविष्यत्। स्वरूपतः-अस्ति = स्वरूप से रहते हैं क्योंकि। अध्व-भेदात् = काल से भेद होता है। धर्माणाम् = धर्मों का।

अन्वयार्थ—अतीत और अनागत स्वरूप से रहते हैं क्योंकि धर्मों का काल से भेद होता है।

व्याख्या—वासनायें और उनके हेतु आदि का अभाव कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वे वर्तमान अवस्था को छोड़कर भूत अवस्था में चले जाते हैं। जितने धर्म हैं वे सदा धर्मी में बने रहते हैं। जब तक भविष्यत् अवस्था में रहते हैं तबतक वे अपना कार्य प्रकट नहीं करते हैं। केवल वर्तमान अवस्था में अपना कार्य दिखाते हैं। फिर जब वे अपना कार्य बन्द कर देते हैं तो वर्तमान अवस्था से भूत अवस्था में चले जाते हैं। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन ३।९ वें सूत्र की सङ्गति में तथा ३।१३ वें सूत्र की व्याख्या में करदिया है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १२॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने अभाव को भी एक अलग पदार्थ निरूपण करके पाँच प्रकार का माना हैं।

१ प्रागभाव-उत्पत्ति से पहले अभाव, जैसे घट की उत्पत्ति से पहले घट का अभाव होता है।

२ प्रध्वंसाभाव-सदसत् अभाव-विद्यमान वस्तु का अभाव, जैसे घट का मुगदर आदि के प्रहार से टूट जाना।

३ अन्योन्याभाव—सदासत्-अभाव—एक दूसरे में भेदरूप अभाव जैसे घट का वस्त्र

४ अत्यन्ताभाव—जो न उत्पन्न हुआ हो और न उत्पन्न होसके, जैसे वन्ध्या का पुत्र।

५ सामयिकाभाव—जो समय-समय पर उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त हो। जैसे घट के एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाने से उसका अभाव।

वेदान्त, योग और सांख्य का सिद्धांत सत्कार्यवाद है। इसके यह अर्थ हैं कि कोई कार्य भी पैदा नहीं होता है किन्तु कार्य की अभिव्यक्ति होती है। कारण में कार्य पहले ही विद्यमान होता है। केवल संस्थानादि विशेष से उसका आविर्भाव होता है जैसे गीता में बतलाया गया है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' असत् वस्तु का 'भाव' उत्पत्ति नहीं होती और सत् वस्तु का 'अभाव' नाश नहीं होता अर्थात् कार्य सत् है, अपनी सत्ता रखता है, उसका न कभी अभाव था न आगे होगा। कार्य कारण और धर्म-धर्मी पर्यायवाचक हैं, कार्य (धर्म) सदा अपने कारण (धर्मी) में सत्-भाव से अपने स्वरूप से बना रहता है। भेद केवल उतना ही है कि वर्तमान काल में व्यक्त, स्थूल प्रकटरूप से और भविष्यत् तथा भूतकाल में अव्यक्त (सूक्ष्म=अप्रकट) रूप से रहता है। जिसकी अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह अनागत (भविष्य) जिसकी अभिव्यक्ति पीछे हो चुकी वह अतीत (भूत) और जो व्यापार में उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह उदित (वर्तमान) रूप से रहता है। इसी कारण योगी को त्रैकालिक पदार्थ-विषयक योगज ज्ञान हो सकता है।

इसलिये उपर्युक्त पाँचों अभावों में से (३) 'अन्योन्याभाव' में वस्त्र में घट का पहले से अभाव था उस अभाव से ही अभाव घट की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार .(४) 'अत्यन्त अभाव' में बन्ध्या के पुत्र का पहले से अभाव था उस अवस्था ही से अभाव की उत्पत्ति होती है। (५) 'सामयिक अभाव' में घट के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने में उसका नाश नहीं होता है क्योंकि वह दूसरे स्थान पर अपने स्वरूप से विद्यमान है इसलिये भाव से अभाव नहीं होता। (१) 'प्रागभाव' उत्पत्ति से पूर्व अनागत काल में घट अपने कारण (धर्मी) मिट्टी में अव्यक्त (सूक्ष्म) रूप से विद्यमान था, इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हुई। (२) 'प्रध्वंसाभाव' में घट के टूटने से वह अपने वर्तमान मार्ग को छोड़कर अपने कारण (धर्मी) मिट्टी में अव्यक्त (सूक्ष्म रूप से छिप गया, इसलिये भाव से अभाव नहीं हुआ। इसी प्रकार वासनाओं का नाश नहीं होता किन्तु वे भूतावस्था में (अव्यक्त) हो जाती हैं अर्थात् छिप जाती हैं। और अपना कार्य जाति, आयु और भोग आगे के लिये बन्द कर देते हैं।

टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषानुवाद सूत्र ॥ १२ ॥

शङ्का यह है कि चित्त में रहने वाली वासनायें और वासनाओं के स्मृत्यादि रूप फल कार्य-कारण भाव से एक काल में नहीं होते, इससे वासनाओं का और उनके फलों का भेद है, तो कैसे माना जाय कि चित्तरूपी धर्मी, अपने धर्मों के साथ एकरूप हैं ? इस शंका का उत्तर देते हुए धर्म-धर्मी की एकरूपता का प्रतिपादन करते हैं:—

इस दर्शन में सर्वथा न रहनेवाली वस्तुओं की उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं समझी जाती, क्योंकि सत् और असत् पदार्थों का मेल हो ही नहीं सकता। शश-शृङ्गादि (खरगोश के सींग

आदि) जो सर्वथा असत् हैं उनका किसी सद्वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं देखा गया है। यदि कार्य को निरुपाख्य (असत्, तुच्छ) माना जाय तो किसको उद्देश्य करके कारण प्रवृत्त होते हैं जो वस्तु नहीं है उसको समझकर कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। सद्वस्तुओं का असद्वस्तुओं के साथ विरोध है। इसलिए सत् और असत् का कोई सम्बन्ध नहीं और जो वस्तु अपने स्वरूप अनागतादि को लाभ किये हुए है, वह क्योंकर निरुपाख्य और अभावरूप हो सकती है। स्वरूप को प्राप्त हुई वस्तु अपने विरुद्ध रूप को नहीं ग्रहण करती, इससे जो चीज है उसका नाश नहीं हो सकता और जो चीज नहीं हैं उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उन-उन धर्म से बदलने वाला (धर्मी) चित्तादि सदा एकरूप ही रहता है। उसमें तीनों कालों में रहने वाले धर्म अधिक रूप से रहते हैं। वे धर्म अपने काल में स्थित हुए स्वरूप को नहीं छोड़ते और जब केवल वर्तमान काल में रहते हैं तो भोग के योग्य बन जाते हैं। इससे धर्मों का ही भूत, भविष्यत् आदि रूप से काल (मार्ग) भेद है उस ही रूप से कार्य-कारण भाव इस दर्शन में माना जाता है, इससे मोक्षपर्यन्त एक ही चित्त धर्मी रूप में बना रहता है जिसको मोक्ष तक अलग नहीं कर सकते।

संगति—धर्मों का स्वरूप बताते हैं:—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ— ते = वे (धर्म)। व्यक्तसूक्ष्माः = प्रकट और सूक्ष्म। गुणात्मानः = गुण-स्वरूप हैं।

अन्वयार्थ—वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

व्याख्या—सब धर्म तीनों मार्गों वाले हैं। वर्तमान मार्ग में व्यक्त (स्थूल) अर्थात् प्रकट होनेवाले होते हैं, और अतीत तथा अनागत मार्ग में अव्यक्त = सूक्ष्म अर्थात् छिपे रहते हैं। ये सारे धर्म महत्तत्त्व से लेकर स्थूलभूतों-पर्यन्त तीनों गुणों के ही परिणामविशेष हैं। वास्तव में देखा जाय तो सब पदार्थ महत्तत्व से लेकर भूत भौतिक तक गुणों का सन्निवेश (तरतीब) मात्र होने से गुणस्वरूप ही हैं। अर्थात् पृथ्वी आदि पाँचों स्थूलभूत पञ्चतन्मात्रा-स्वरूप हैं। पञ्चतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार-स्वरूप हैं। अहंकार महत्तत्त्व-स्वरूप है। महत्तत्व प्रधान (मूलप्रकृति) स्वरूप है और प्रधान गुण-त्रय-स्वरूप है। इस प्रकार परम्परा से यह सारा प्रपञ्च गुणस्वरूप ही है। यद्यपि गुणों का असली स्वरूप हमारी दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसाकि भगवान् वार्षगण्य का वचन है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

अर्थ—गुणों का असली रूप दिखाई नहीं देता, और जो दृष्टिगोचर होता है वह माया-सा है और विनाशी है।

अर्थात् कारण रूप गुण देखने में नहीं आते हैं और जो दीखते हैं, वे माया अथवा

इन्द्रजाल की तरह तुच्छ हैं। भाव यह है कि यह सब कार्य गुणत्रयात्मक रूप अपने कारण प्रधान स्वरूप ही हैं।

संगति—जब तीनों गुण ही सम्पूर्ण पदार्थों के कारण हैं तो पदार्थों को अलग-अलग धर्मी रूप कैसे कह सकते हैं ? उत्तर—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-एकत्वात्=परिणाम के एक होने से। वस्तु-तत्त्वम्=वस्तु की एकता होती है।

अन्वयार्थ—परिणाम के एक होने से वस्तु की एकता होती है।

व्याख्या—यह ठीक है कि तीनों गुण ही सब पदार्थों के कारण हैं, पर वे अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति स्वभाव से अङ्ग-अङ्गीभाव से गति कर रहे हैं। कहीं सत्व गुण अंगी है अर्थात् प्रधान है और रज तम उसके अंग अर्थात् गौण हैं। इसी प्रकार कहीं रज अंगी है और कहीं तम अंगी है और शेष गुण उसके अंग हैं। इस कारण उनकी परिणाम की एकता से वस्तु एक ही कही जाती है। इन गुणों के अंग-अंगीभावमें भी नानाप्रकार के भेद होते हैं। इस कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परिणाम की भिन्नता से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मों वाली होती हैं जैसे यह महत्तत्त्व है, यह अहङ्कार है, यह इन्द्रियाँ हैं, यह पृथ्वी है, इत्यादि।

विशेष वक्तव्य। सूत्र १४ ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

—सांख्यकारिका १३।

अर्थ—सत्व हलका और प्रकाशक माना गया है रजस् उत्तेजक और चल और तम भारी और रोकने वाला है और दीपक सदृश एक उद्देश्य (पुरुष के भोग अपवर्ग) से इनकी वृत्ति (काम) है।

१ सत्व रजस् और तमस् का साम्य परिणाम 'प्रधान' मूल प्रकृति है।

२ सत्व में रजस् तमस् का लिंगमात्र विषम परिणाम महत्तत्त्व है।

३ सत्व महत्तत्त्व में अहम् वृत्ति से भेद उत्पन्न करने वाला रजस् तमस् का किञ्चित् अधिक विषमपरिणाम अहङ्कार है।

४ अहङ्कार के सत्त्वप्रधान अंश में रजस्-तमस् का विषम-परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इसमें भी सत्त्वप्रधान अंश से मन, रजप्रधान अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ और तमःप्रधान अंश से कर्मेन्द्रियाँ। इन इन्द्रियों में भी परस्पर भेद करने वाली गुणों की न्यूनाधिकता है।

५ अहङ्कार के तम प्रधान अंश में रजस् तमस् का परिणाम पाँचों तन्मात्रायें हैं। इन पाँचों में भी गुणों की न्यून-अधिकता परस्पर भेदक है।

६ इन तन्मात्राओं में भी रजस् तमस् के न्यून-अधिक विषम-परिणाम रूप पाँचों स्थूल भूत परस्पर भेद वाले हैं।

इन पाँचों स्थूल भूतों के धर्म सब भौतिक पदार्थ सत्त्व गुण की प्रधानता में प्रकाश वाले, हलके, सुख देनेवाले; रजस् गुण की प्रधानता में उत्तेजक, प्रवृत्त कराने वाले और दुःख देनेवाले और तमस् की प्रधानता में भारी, रोकने वाले और प्रमाद तथा मोह उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसलिए यद्यपि गुण तीन हैं, तथापि जैसे बत्ती तेल और अग्नि मिलकर एक दूसरे को सहायता देते हुए प्रकाश का काम देते हैं इसी प्रकार तीनों गुण मिलकर पुरुष के उपयोग अलग-अलग वस्तुओं को भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न करते हैं।

संगति— शंका—जिस प्रकार स्वप्न में चित्तके अतिरिक्त और कोई वस्तु भाव रूप से नहीं होती है उसी से सब कल्पित होते हैं। इसी प्रकार जागृत अवस्था में भी चित्त से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। सब चित्त ही की रची हुई हैं। चित्त अनादि वासनाओं से चित्रित है इस कारण उसको अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। वास्तव में चित्त से भिन्न कोई बाहर वस्तु नहीं है।

समाधान—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—वस्तु-साम्ये = वस्तु के एक होने पर (भी) चित्त-भेदात् = चित्त के भेद से। तयोः-विभक्तः पन्थाः = उन दोनों का (चित्त और वस्तु का) अलग-अलग मार्ग है।

अन्वयार्थ—वस्तु के एक होने पर भी चित्तके भेद से उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

व्याख्या—प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में ही स्थिर है। और बहुत से चित्तों का विषय बन सकती है। पर वह न एक चित्त की कल्पना की हुई होती है न अनेक चित्तों की। क्योंकि एकही वस्तु को देखकर चित्त के अवस्था भेद से किसी को सुख होता है, किसी को दुःख; किसी को मोह और किसी को उदासीनता। यदि चित्त से भिन्न वह वस्तु न होती तो इतने चित्तों का विषय न बन सकती। फिर वही वस्तु अनेक चित्तों को नाना प्रकार के भावों से प्रतीत हो रही है। इस कारण वस्तुएँ चित्त की कल्पना से नहीं होती हैं बल्कि चित्त से भिन्न और उससे बाहर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ १५ ॥

यदि कोई शंका करे कि ज्ञान से भिन्न घटादि पदार्थ हों, तो एक व अनेक वस्तु, कहना चाहिए। जबकि एक विज्ञान (चित्त) ही संस्कार वश से कार्य-कारण-भाव को प्राप्त हुआ, घटपटादि रूप से भासता है तो यह कैसे कह सकते हैं कि एक वा अनेक वस्तु हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

ज्ञान और ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ घटादि) का भिन्न मार्ग है अर्थात् ये दोनों भिन्न ही हैं। क्योंकि एक वस्तु में चित्तों (विज्ञानों) का भेद रहता है। अर्थात् स्त्री आदि एक पदार्थ के मिलने पर स्त्री की सुन्दरता में अनेक देखने वालों के चित्त की भिन्नता सुख दुःख मोह रूप से प्रतीत होती है। जैसे एक सुन्दर रूप वाली स्त्री मिल जाय तो कामी का चित्त सुखी

होता है। उस स्त्री की सपत्नी (सौत) का चित्त उस से दुखी होता है। और संन्यासी का चित्त उससे उदासीनता अर्थात उपेक्षा करता है। जब एक ही वस्तु में अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ होती हैं तो स्त्री आदि, चित्त के कार्य नहीं हैं। यदि एक चित्तही के कार्य हों तो, एक ही रूप से ज्ञान हो। और दूसरी बात यह है कि यदि वस्तु को चित्त का कार्य माना जाय तो जिस पुरुष के चित्तका कार्य, वह वस्तु है उसके चित्त के दूसरी वस्तु में लग जाने पर, यह वस्तु, कोई वस्तु ही न रहे? । यदि कहो कि वह वस्तु नहीं रहती, तो अन्य पुरुषों को वह कैसे मालूम होती है? प्रतीत होने से, वस्तु, चित्त का कार्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि बहुत से चित्त मिलकर एक वस्तु को उत्पन्न करते हैं तो बहुतसों की बनाई हुई चीजों से, एक चित्तकी बनाई हुई चीज विलक्षण होनी चाहिए। यदि विलक्षण नहीं मानते तो कारणों से भिन्न-भिन्न होनेपर भी कार्यका भेद न रहने से, जगत् को बिना कारण के व एक रूप मानना होगा। बात यहहै कि यदि कारणों के भिन्न होने पर भी, कार्य भिन्न-भिन्न न माने जायें, तो सब जगत् जोकि अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ है वह एकाकार होना चाहिए। अथवा कारण विशेष का सम्बन्ध न रहने से, स्वतन्त्रता से कारण शून्य होना चाहिए।

शंका—यदि एक चित्त (विज्ञानात्मक) से अनेक वस्तु नहीं होती, (तो) तुम्हारे मतमें एक त्रिगुणात्मक चित्तसे, एक ही पुरुष को सुख दुःख मोह रूप अनेक ज्ञान कैसे हो जाते हैं? अर्थात् जैसे तुम्हारे मतमें एक चित्त अनेक रूप से परिणत होता है, वैसे हमारे मतमें, विज्ञान भी, अनेक कार्य कारण भाव से अवस्थित है। (उत्तर) हमारे मत में त्रिगुण यथार्थ हैं। जब चित्तसे अर्थ (घटादि) ज्ञान होता है तो धर्माधर्मसहकारी (साथ रहने वाले) कारण होते हैं। उन धर्मादिकों के प्रकाश और तिरोभाव से, चित्तका तत्तद्रूप से प्रकाश होता है। जैसे कामेच्छु पति के पास स्त्री हो तो धर्म-सहकारी चित्त सत्त्वप्रधान होकर सुखमय परिणत होता है। और अधर्म के साथ रहने से सौत का रजःप्रधान चित्त दुःखरूप से परिणत होता है। अधिक अधर्म का सम्बन्ध होने से क्रुद्ध सौत का तमःप्रधान चित्त मोहमय (अज्ञानमय) होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान (चित्त) से भिन्न बाह्य ग्राह्य अर्थ होता है। तो विज्ञान (चित्त) और अर्थ के स्वरूप का भेद होने से कार्य-कारणभाव (विज्ञान और अर्थ का) नहीं है। कारण के भेद न होने से भी यदि कार्यभेद माना जाय तो दण्ड से भीति आदि भी होने चाहिए। इससे अर्थ का, ज्ञान से भेद ही है।

विशेष वक्तव्य। सूत्र १५ ॥ बुद्धि, चित्त, विज्ञान ये एकार्थक हैं।

यहाँ उन क्षणिक विज्ञानवादियों की शंकाओं का समाधान किया गया है जो क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता को अनुमान द्वारा नहीं मानते। उनका अनुमान है कि जो ज्ञेय है वह विज्ञान से भिन्न नहीं है क्योंकि विज्ञान से भिन्न दशा में उसकी उपलब्धि (विषय का ज्ञान) नहीं होती। जैसे विज्ञान से विज्ञान अभिन्न है वैसे ही घटादि ज्ञेय भी विज्ञान से अभिन्न हैं। उनकी शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है कि वस्तु एक होने पर भी चित्त (विज्ञान) का भेद दिखलाई देता है, जैसे स्त्री रूप वस्तु एक दशा में बनी रहती है किन्तु उसको देखकर पति को सुख, सपत्नी को दुःख, कामी को मोह और निष्काम

संन्यासी को उसमें उपेक्षा विज्ञान होता है। इस प्रकार विज्ञान (चित्तवृत्ति) चार हैं किन्तु वस्तु एक ही बनी रहती है। जो एक है वह अनेकों से भिन्न है। जैसे एक नील का ज्ञान अनेक पीतादि ज्ञानों से भिन्न है वैसे ही एक ही रूप वस्तु अपने अनेकों विज्ञानों से भिन्न है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय एक नहीं हो सकते। ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय है।

एक प्रकृतिरूप वस्तु से चित्त अनेक प्रकार का क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि चित्त और घटादि पदार्थ दोनों त्रिगुणात्मक हैं। जबतक चित्त में धर्म, अधर्म, अविद्यादि का सम्बन्ध रहता है तबतक सत्त्व, रजस और तमस की क्रमशः अधिकता होने से सुख, दुःख और मोह हुआ करते हैं। तत्वज्ञान होने से उन त्रिगुणात्मक वस्तुओं में उपेक्षा होजाती है। इसलिये अर्थ विज्ञान से भिन्न है। इसी से ही जगत् मिथ्यावाद, जगत् स्वप्नवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद (ज्ञान के साथ ही वस्तु का होना) के भ्रमों का समाधान समझना चाहिये।

संगति—शंका—वस्तु की सत्ता सत्त्वचित्तों ही के आधीन ठहरती है क्योंकि भिन्न-भिन्न चित्त को एक ही वस्तु उनके भाव के अनुसार ही भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होती है।

समाधान—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—न-च = नहीं और। एक-चित्त-तन्त्रम् = एक चित्त के आधीन है। वस्तु = वस्तु। तत् = वह (वस्तु)। अप्रमाणकम् = बिना प्रमाण के अर्थात् बिना चित्त के। तदा = उस समय। किं-स्यात् = क्या होगी।

अन्वयार्थ—ग्राह्य-वस्तु एक चित्त के आधीन नहीं है क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी।

व्याख्या—यदि एक चित्त के ही आधीन वस्तु को माना जाय तो जब वह चित्त किसी दूसरे विषय में लगा हो तो अथवा निरुद्ध हो गया हो तो उस समय उसका अभाव होना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि वह विद्यमान रहती है। इसको स्पष्ट रूप से यों समझो कि शरीर का जो भाग पीठ या हाथ आदि जिस समय दिखलाई न दे तो उसको उस समय चित्त का विषय न होने से अविद्यमान नहीं कह सकते। इस कारण वस्तु की सत्ता स्वतन्त्र है चित्त के आधीन नहीं।

व्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १६ ॥

यदि वस्तु एक चित्त (विज्ञान) के ही आधीन हो अर्थात् ज्ञान के साथ ही वह वस्तु उत्पन्न हो तो चित्त के अन्य विषय में लगने पर वा निरुद्ध होने (रुकने) पर वह वस्तु अप्रमाणक हो जाय अर्थात् उसके स्वरूप का ग्रहण करनेवाला कोई न रहे, ऐसी होगी तो फिर वह होगी ही क्या? क्योंकि वह दूसरे का विषय नहीं बनी और एक चित्त से उसके स्वरूप का सम्बन्ध नहीं। अथवा चित्त के साथ सम्बद्ध हुई भी वह वस्तु कहाँ से उत्पन्न होगी? और जो इसके अनुपस्थित भाग हैं वे भी न होंगे और पीठ के न ग्रहण होने से पेट भी ग्रहण न किया जावेगा। इससे अर्थ (वस्तु) स्वतन्त्र है और सब पुरुषों के लिये साधारण है, और

चित्त (विज्ञान) भी प्रत्येक पुरुष में स्वतंत्र है उन वस्तु और चित्त (विज्ञान) के सम्बन्ध से जो उपलब्धि है वह पुरुष का भोग है।

संगति—शङ्का—यदि वस्तु की सत्ता स्वतन्त्र होती तो वह सदा चित्त को ज्ञात रहती, लेकिन कभी ज्ञात होती है, कभी नहीं। यह बात सिद्ध करती है कि वह चित्त के आधीन है।

समाधान—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—तद्-उपराग-अपेक्षित्वात् = उस पदार्थ के उपराग (विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा वाला होने से। चित्तस्य = चित्त को। वस्तु = वस्तु। ज्ञात-अज्ञातम् = ज्ञात और अज्ञात होती है।

अन्वयार्थ—चित्त को वस्तु के जानने में उसके उपराग (विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है इसलिये उसको (चित्त को) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

व्याख्या—उपराग = इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा जो विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको उपराग कहते हैं। विषय अयस्कान्त-मणि (चुम्बक पत्थर) के समान है और चित्त लोहे के समान है। विषय इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा अपनी ओर आकर्षित कर अपने आकार से चित्त को चित्रित कर देता है। इस प्रकार जिस विषय से चित्त उपरक्त होता है अर्थात् जिस विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है वह विषय उसे ज्ञात होता है। वस्तु के ज्ञात-अज्ञात-स्वरूप होने से चित्त परिणामी है न कि वस्तु को स्वयं उत्पन्न करनेवाला।

यहाँ यह भी बतला देना उचित प्रतीत होता है कि जब इन्द्रिय द्वारा चित्त के साथ जिस वस्तु का सम्बन्ध होता है अर्थात् जब जैसा विषयाकार चित्त होता है तब उसमें चेतन प्रतिबिम्बरूप स्फुरण होता है (यह स्फुरण वा उपलब्धि वृत्ति से भिन्न है) तो उसी वस्तु को अथवा चित्तवृत्ति को अपने प्रतिबिम्ब द्वारा पुरुष जानता है, अन्य वस्तु को नहीं। घटादि के सम्बन्ध से चित्त की घटादि ज्ञानरूप वृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इससे चित्त के विषय ज्ञात और अज्ञात हैं इसी से यह परिणामी है। पौरुषेय-बोध भिन्न है और मानसिक-बोध भिन्न।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

यदि ज्ञान प्रकाशक होने से ग्रहणरूप है और घटादि वस्तु ग्राह्यरूप अर्थात् ग्रहण करने योग्य रूप है, तो एक बार ही, सब वस्तुओं का ग्रहण क्यों नहीं होता? वा सबका स्मरण क्यों नहीं होता? इस आशंका को हटाते हैं—

घटादि वस्तुओं के उपराग की अर्थात् अपने आकार को चित्त के लिये समर्पणरूप प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध की अपेक्षा होने से (इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा विषय का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ने से) चित्त में बाहर की वस्तु, ज्ञात और अज्ञात कहलाती है। तात्पर्य यह है कि सब पदार्थों को अपना स्वरूपलाभ कराने में चित्त की और सामग्री की अपेक्षा है (वा चित्तरूप

सामग्री की अपेक्षा है)। नीलादि ज्ञान, अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा चित्त में समाये हुए अर्थसम्बन्ध की, सहकारिकारणरूप से अपेक्षा करता है। क्योंकि चित्त से भिन्न अर्थ का बिना किसी सम्बन्ध के ग्रहण नहीं हो सकता। इस कारण जो वस्तु अपने प्रतिबिम्बस्वरूप को चित्त के लिये देती है उसी वस्तु को उस वस्तु का ज्ञान व्यवहार के योग्य बनाता है। इससे वह वस्तु ज्ञात कहाती है, और जिसने अपना स्वरूप नहीं दिया वह 'अज्ञात' रूप से बोली जाती है। जिस जानी हुई वस्तु में उस वस्तु के सादृश्यादि किसी पदार्थ का ज्ञान, संस्कारों को जगाता हुआ यदि सहकारी कारण मिल जाय तो उसी वस्तु का स्मरण होता है। इससे न सब जगह ज्ञान हो सकता है और न सर्वत्र स्मृति। इसलिये ज्ञान को ग्राहणरूप होने पर और घटादिकों को ग्राह्य मानने से कोई विरोध नहीं आता।

संगति—बाह्य जगत् को चित्त से भिन्न सिद्ध करके अब आत्मा को चित्त से भिन्न दिखाते हैं।

शंका—यदि यह मान लिया जावे कि चित्त से अलग वस्तुएँ हैं और चित्त को उनके उपराग से ज्ञात और अज्ञात होती हैं तो फिर आत्मा (पुरुष) को चित्त से अलग मानने की आवश्यकता नहीं और यदि माना भी जावे तो पुरुष भी चित्त के सदृश परिणामी होता है।

समाधान—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—सदा ज्ञाताः = सदा ज्ञात रहती हैं। चित्त वृत्तयः = चित्त की वृत्तियाँ। तत्-प्रभोः = उस चित्त के स्वामी। पुरुषस्य = पुरुष के। अ-परिणामित्वात् = परिणामी न होने से।

अन्वयार्थ—चित्त का स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।

व्याख्या—चित्त का जब बाहर के विषय के साथ सम्बन्ध होता है तो वह उसको ज्ञात होता है और जब सम्बन्ध नहीं होता तो अज्ञात होता है, इसलिए वह कभी बाहर के विषय को जानता है कभी नहीं जानता है। वह जानने न जानने इन दोनों अवस्थाओं में बदलता रहता है, यह उसमें परिणाम होता रहता है, इसलिये वह परिणामी है। पर पुरुष में यह परिणाम नहीं होता। वह सदा चित्त की वृत्तियों का साक्षी है। चाहे उसमें कोई विषय हो या न हो, चित्त का कार्य केवल इतना ही है कि वह जिस विषय से सम्बन्ध रखता हो उसके आकार में परिणत होकर उसके स्वरूप को अपने स्वामी चिति (पुरुष) के सामने रखदे। पुरुष को चित्त के ऐसे परिणाम का सदा ही ज्ञान बना रहता है। इस ज्ञान से पुरुष में चित्त की भाँति कोई परिणाम नहीं होता। अर्थात् चित्त के विषय घटादि हैं और पुरुष का विषय वृत्ति सहित चित्त है। विषयों के होते हुए चित्त कभी उन विषयों को जानता है, कभी नहीं, पर पुरुष अपने चित्त को वृत्ति सहित सर्वदा जानता है। कभी न जानता तो परिणामी होता। अपने काम में सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोक्ता पुरुष को

परिणाम-शून्य जतलाती हैं। मानसिक ज्ञान में अर्थाकारतारूप सम्बन्ध की आवश्यकता है, पर पौरुषेय ज्ञान में पुरुष अर्थाकार (वस्तुके आकार में परिणत) नहीं होता, किन्तु प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध से ज्ञाता मात्र होता है। यद्यपि चित्त जड़ है इससे उसमें ज्ञान (बोध) नहीं हो सकता तथापि जैसे लोहपिण्ड में अग्नि के प्रवेश होने से लोह भी प्रकाशरूप होता है, वैसे ही ज्ञानरूप पुरुष के साथ भोग्यता सम्बन्ध होने से चित्त में ज्ञान कहा जाता है। चित्त को जो जहाँतहाँ प्रकाशरूप कहा है वह इसलिये कि शुद्धता से प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की इसमें शक्ति है। एक बात और भी है कि चित्त का सर्वदा ज्ञाता पुरुष न हो तो 'मैं सुखी हूँ वा नहीं' इत्यादि संशय भी होना चाहिए, सो होता नहीं। इससे भी पुरुष परिणामी नहीं है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

प्रमाता (जाननेवाला) पुरुष भी जिस समय नील पदार्थ को जानता है, उस समय पीतादि से सम्बन्ध रखने वाले चित्त के आकार का ग्रहण न करने से कदाचित् परिणामी हो जायगा, इस आशङ्का को हटाते हैं:—

जो प्रमाण-विपर्ययादिरूप चित्त की वृत्तियाँ होती हैं उनको ग्रहण करनेवाला चित्त का अधिष्ठाता पुरुष सब काल में ही जानता है। क्योंकि पुरुष का परिणाम नहीं होता। यदि वह पुरुष परिणामी हो तो परिणाम के कभी-कभी होने से चित्त की वृत्तियों को सदा जानने-वाला नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि चैतन्यरूप पुरुष, चित्त का सर्वदा स्वामी है, और निर्मल अन्तःकरण भी उसके साथ सदैव रहता है। यह चित्त जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध करता है, उसी पदार्थ का ज्ञाता पुरुष कहलाता है, क्योंकि घटाद्याकार वृत्तियों में चेतन का प्रतिबिम्ब-सा पड़ता है। इससे पुरुष में परिणामिता की शङ्का कभी नहीं हो सकती।

संगति—शङ्का—अग्नि की भांति चित्त ही वस्तु का भी प्रकाशक है और अपना भी, इसलिये चित्त से अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

समाधान—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—न = नहीं। तत् = वह चित्त। स्व-आभासम् = स्वप्रकाश (अपने को आप ही प्रकाश करने वाला अर्थात् जानने वाला) है। दृश्यत्वात् = दृश्य होने से।

अन्वयार्थ—चित्त स्वप्रकाश नहीं है क्योंकि वह दृश्य है।

व्याख्या—जिस प्रकार दूसरी इन्द्रियाँ और शब्द आदि विषय दृश्य होने से स्वप्रकाश (अपने को आप ही प्रकाश करने वाले अर्थात् जानने वाले) नहीं हैं उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है, किन्तु पुरुष से प्रकाश्य और जानने योग्य है। अग्नि का दिया हुआ दृष्टान्त भी यहाँ लागू नहीं हो सकता। अग्नि जड़ है, उसको स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता, उसको जानने के लिये किसी अन्य ज्ञान वाले की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चित्त भी जड़ है, उसे जानने के हेतु उससे अलग चिति (पुरुष) को मानना पड़ेगा। चित्त के दृश्य होने में एक प्रमाण यह भी है कि उसमें सुख, दुःख, भय, क्रोध आदि के जो

परिणाम होते हैं वे दूसरे से देखे जाते हैं, जैसे मैं सुखी हूँ, मैं क्रोध में था, इत्यादि। इससे सिद्ध है कि चित्त की इस अवस्था को देखने वाला उससे अतिरिक्त चेतन पुरुष है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र १९ ॥

यदि सत्त्वगुण की प्रधानता से चित्त को ही प्रकाशक मान लिया जाय तो उसका ही अर्थ का और अपने स्वरूप का प्रकाशक मानने से 'यह घट है' इत्यादि व्यवहार हो जायेंगे, पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका को हटाने के लिये यह सूत्र है।

वह चित्त, स्वाभास अर्थात् अपने स्वरूप का स्वयं प्रकाशक नहीं है, किन्तु पुरुष से प्रकाश्य है। क्योंकि वह दृश्य (देखने के योग्य या प्रकाश के योग्य) है। जो-जो दृश्य है, वह-वह द्रष्टा से प्रकाश्य है, यह व्याप्ति है। जैसे घटादि दृश्य हैं और द्रष्टा से प्रकाश्य हैं, चित्त भी दृश्य है इससे स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता।

संगति—शङ्का—यदि यह मान लिया जावे कि चित्त ही विषय का ज्ञान करता है और चित्त ही अपना ज्ञान भी करता है तो उपर्युक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं :—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—एक-समये-च=एक समय में और। उभय-अनवधारणम्=दोनों का विषय और चित्त का ज्ञान नहीं हो सकता।

अन्वयार्थ—और एक समय में दोनों विषय और चित्त का ज्ञान नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि चित्त ही विषय का ज्ञान प्राप्त करता है और चित्त ही को अपना ज्ञान होता है तो इसमें यह दोष आता है कि एक समय में दो ज्ञान नहीं हो सकते अर्थात् एक विषयज्ञान, दूसरा विषय वाले चित्त का ज्ञान। इस कारण चित्त से अतिरिक्त इसका साक्षी अन्य चेतन पुरुष का मानना अनिवार्य है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ २० ॥

पूर्वार्थ में एक शंका तो यह है कि चित्त का दृश्यत्व सिद्ध नहीं हुआ, इससे दृश्यत्व साध्य के तुल्य है, इसलिये 'दृश्यत्व' हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास है। और दूसरी शंका यह है कि पुरुष की बुद्धि के व्यापार को जानकर ही हितप्राप्ति और अहित-निवृत्ति के लिये वृत्तियाँ होती हैं तथापि 'क्रुद्धोऽहम्' 'भीतोऽहम्' 'अत्र मे रागः' 'मैं क्रोधी हूँ, मेरी इसमें प्रीति है' इत्यादि प्रवृत्तियाँ *बिना बुद्धि की वृत्ति के नहीं हो सकतीं*, तो फिर बुद्धि को ही स्वप्रकाशक क्यों न माना जाय ? इन दोनों शंकाओं का उत्तर इस सूत्र में दिया है—

'यह वस्तु सुख का हेतु या दुःख का हेतु है' इस प्रकार व्यवहार की योग्यता करने वाला एक, वस्तु सम्बन्धी बुद्धि का वृत्तिरूप व्यापार है। और 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार व्यवहार का सम्पादक बुद्धि का वृत्तिरूप व्यापार, दूसरा है। अर्थज्ञान-काल में ऐसे दो विरोधी व्यापारों का होना असम्भव है अर्थात् एक काल में चित्त अपने स्वरूप को और वस्तुओं को *निश्चित नहीं कर सकता, इससे चित्त स्वःप्रकाशक नहीं है*। किन्तु उक्त प्रकार के दो व्यापार।

को करने के बाद ही दो प्रकार के स्फूर्तिरूप (प्रकाशरूप उपलब्धि वृत्तियों से भिन्न है) फलों का भान होता है अर्थात् फलरूप भान होता है, इसलिये बहिर्मुख रूप से ही अपने में रहनेवाले चित्त को पुरुष स्वयं जानता है, इससे पुरुष में-ही वह फल है, चित्त में नहीं।

वृत्ति का तात्पर्य—घट और चित्त दोनों का चित्त को एक ही क्षण में ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इन दोनों का साक्षी पुरुष है। अर्थात् 'घटमहमद्राक्षम्' घट को मैंने देखा' इस प्रकार का जो स्मृतिज्ञान होता है वह चित्त और घट के अनुभव से उत्पन्न होता है। एक-चित्त के क्षण में ही नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनों का अनुभवकर्त्ता इनसे पृथक् पुरुष है।

संगति—शङ्का—यदि ऐसा मान लिया जावे कि एकचित्त से विषय ग्रहण किया जाता है और उस विषयसहित चित्त को दूसरा चित्त ग्रहण करता है तो विषय और चित्त दोनों का ज्ञान हो सकता है। इसका उत्तर—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—चित्त-अन्तर-दृश्ये = एकचित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानने में। बुद्धि-बुद्धेः = चित्त का चित्त होना। अतिप्रसङ्गः = अनवस्था दोष होगा। स्मृति-सङ्करः-च = और स्मृतियों का गड़बड़ हो जाना भी।

अन्वयार्थ—यदि पहले चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य माना जावे तो चित्त (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियों का संकर भी हो जावेगा।

व्याख्या—यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षण में चित्त बदलता रहता है, अर्थात् एक चित्त ने एक विषय ग्रहण किया और उस विषय सहित चित्त को दूसरे चित्त ने इसी प्रकार उसको तीसरे ने, तीसरे को चौथे ने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा कभी समाप्त न हो सकेगा, इसमें अनवस्था दोष आजायगा, अर्थात् पहले एक वस्तु का ज्ञान, फिर उस वस्तु के ज्ञान के ज्ञान का ज्ञान, इस प्रकार कभी एक ज्ञान भी समाप्त न होने पायेगा। दूसरा दोष स्मृतिसंकर का है। जितनी बुद्धियों का अनुभव है, उतनी ही स्मृति होंगी। अनुभव अनन्त हैं, जब इन सबकी स्मृति होने लगे तो उनके संकर होने से यह स्मृति किसकी है ? यह धारणा न हो सकेगी अर्थात् इनमें गड़बड़ हो जावेगी। कुछ पता न चल सकेगा कि किसकी कौनसी स्मृति है। इस कारण चित्त से अतिरिक्त द्रष्टा पुरुष को मानना ही पड़ता है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

बुद्धि का स्वयं ग्रहण न हो, पर एक बुद्धि का द्वितीय बुद्धि से ग्रहण हो जायगा (फिर पुरुषान्तर क्यों मानना ?) इस आशंका का उत्तर देते हैं—

यदि बुद्धि को जानने वाली द्वितीय बुद्धि मानेंगे तो वह दूसरी बुद्धि भी अपने स्वरूप को न जानकर अन्य बुद्धि को प्रकाशित करने में असमर्थ है। इससे उस द्वितीय बुद्धि को ग्रहण करनेवाली तृतीय बुद्धि कल्पित करनी चाहिए और उसकी भी ग्राहिका अन्य, इस प्रकार की अनवस्था हो जायगी तो बिना पुरुष के अर्थज्ञान नहीं होगा, क्योंकि बिना बुद्धि के ज्ञान हुए अर्थज्ञान होता नहीं (इससे बुद्धि से भिन्न, पुरुष मानना चाहिए)। दूसरा दोष

यह होगा कि स्मृतियों का मेल हो जायगा। रूप और रस में जो बुद्धि उत्पन्न हुई है उस बुद्धि को ग्रहण करनेवाली अनन्त बुद्धियों के उत्पन्न होने से, उन बुद्धियों से उत्पन्न संस्कार भी अनेक होंगे। उन अनेक संस्कारों से जब एकबार ही बहुत से स्मृतिज्ञान किये जायेंगे तो बुद्धि के समाप्त न होने से बहुत सी बुद्धिस्मृतियों की एक बार ही उत्पत्ति होगी। एक बार ही उत्पत्ति मानने से किस विषय में यह स्मृति हुई है, यह ज्ञान न हो सकेगा तो स्मृतियों का मेल हो जायगा। इस गड़बड़ी से यह रूपविषय में स्मृति है, यह रसविषय में, इस प्रकार का विभक्त ज्ञान न हो सकेगा।

संगति—पुरुष क्रियारहित और अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषय को ग्रहण करने में क्रिया और परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्त के विषय का ज्ञान किस प्रकार कर सकता है?

समाधान—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—चितेः = चिति अर्थात् चेतन पुरुष को। अ-प्रति-संक्रमायाः = जो क्रिया अथवा परिणामरहित है। तद्-आकार-आपत्तौ = स्वप्रतिविम्बित चित्त के आकार की तरह आकार की प्राप्ति होने पर। स्व-बुद्धि-संवेदनम् = अपने विषयभूत बुद्धि (चित्त) का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—पुरुष को जो क्रिया अथवा परिणामरहित है स्वप्रतिविम्बित चित्त के आकार की प्राप्ति होने पर अपने विषयभूत चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—यद्यपि अपरिणामी भोक्तृ शक्ति पुरुष अप्रतिसंक्रम अर्थात् किसी विषय से सम्बद्ध न होने से निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि (चित्त) में प्रतिविम्बित हुआ तदाकार होने से वह उस बुद्धि (चित्त) की वृत्ति का अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य प्रतिविम्बित ग्राहिणी बुद्धि-वृत्ति (चित्तवृत्ति) के अनुकारमात्र होने से ही बुद्धिवृत्ति में अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञानवृत्ति कहा जाता है। परमार्थ में वह चेतन ज्ञाता नहीं है। क्योंकि चेतन के प्रतिविम्ब का आधार होने से जो चित्त का चेतनाकार हो जाना है वह तदाकारापत्ति है। इस तदाकारापत्ति के होने से जो चित्त में दर्शनकर्तृत्व है उसको लेकर ही चेतन को द्रष्टा कहा जाता है, वास्तव में तो यह दृशिमात्र ही है। (२।२०)

अर्थात् निर्विकार पुरुष में दर्शनकर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु जैसे निर्मल जल में प्रतिविम्बित हुए चन्द्रमा में अपनी चञ्चलता के बिना ही जलरूप उपाधि की चञ्चलता से चञ्चलता भासती है वैसे ही चित्त-प्रतिविम्बित जो चेतन है वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के बिना ही केवल प्रतिविम्बाधार चित्त के विषयाकार होने से तदाकार भासता है।

अथवा चेतन पुरुष का प्रतिविम्ब पड़ने से चित्त का जो चेतनवत् आकार होना है वह तदाकारापत्ति है। ऐसी तदाकारापत्ति हुए चित्त में जो ज्ञातृत्व है उसी का निर्विकार पुरुष में आरोप होता है।

इस प्रकार चेतन-प्रतिबिम्बित चित्त ही चिदाकार हुआ अपने को दृश्य और चेतन को द्रष्टा कर देता है। वास्तव में पुरुष द्रष्टा नहीं है केवल ज्ञानस्वरूप है, चित्त और चेतन का अभिन्न रूप से भान होने से ही ऐसा कहा गया है।

न पातालं न च विवरं गिरीणां,
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं,
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥

अर्थ—जिस गुफा में शाश्वत (नित्य) ब्रह्म निहित है वह गुफा न तो पाताल है, न पर्वतों की गुफा है, न अन्धकार है न समुद्रों की खाड़ी है, किन्तु प्रतिबिम्बित चेतन से अभिन्न-सी जो बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) है उसी को कवि (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मगुहा कहते हैं।

टिप्पणी—उपर्युक्त व्याख्या व्यासभाष्यानुसार है। यह सूत्र अधिक महत्त्व का है इसलिए भोजवृत्ति का भाषार्थ भी यहाँ देते हैं:—

भोजवृत्ति का भाषानुवाद। सूत्र २२॥

यदि बुद्धि स्वयं प्रकाश नहीं और भिन्न बुद्धि से उसका ग्रहण नहीं होता तो बुद्धि-ज्ञानरूप व्यवहार कैसे होता है ? इस आशंका को करके अपना सिद्धांत कहते हैं—

पुरुष जो कि चैतन्यरूप है, वह किसी से मिला हुआ नहीं अर्थात् जैसे सत्त्व, रजस् आदि गुणों का जब अङ्गाङ्गिभाव लक्षण परिणाम होता है तो वे गुण अपने प्रधान गुण के से रूप को धारण कर लेते हैं। अथवा जैसे लोक में फैलते हुए परमाणु एकविषय (घटादि) को बना देते हैं, वैसे चैतन्य शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा एकरूप सुप्रतिष्ठित रहती है, उस चैतन्यशक्ति के सङ्ग होने से जब बुद्धि चैतन्य-सी हो जाती है, और जब चेतन शक्ति बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित हुई बुद्धिवृत्ति से मिली हुई जानी जाती है, तब (चिति को) बुद्धि में अपने स्वरूप का ज्ञान होता है।

वृत्ति का तात्पर्य यह है कि यद्यपि जैसे बुद्धि का क्रिया द्वारा घटादि सम्बन्ध होता है, वैसे चिति का बुद्धि के साथ संयोग नहीं है क्योंकि चिति परिणामशून्य है। तथापि जैसे सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे चिति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है, इससे बुद्धि को चिदाकारता होने से चिति को बुद्धिवृत्ति सहित बुद्धि का भान होता है।

संगति—*पिछले आठ सूत्रों में यह सिद्ध करके कि बाह्य जगत् और पुरुष चित्त से* भिन्न है, अब यह बताते हैं कि चित्त को ही बाह्य वस्तु और आत्मा मानने और उससे अति-रिक्त इन दोनों का अस्तित्व न मानने में क्यों भ्रान्ति होती है ?

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

शब्दार्थ—द्रष्टृ-दृश्य-उपरक्तम् = द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ। चित्तम् = चित्त। सर्वार्थम् = सारे अर्थों वाला (आकार वाला) होता है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ चित्त सारे अर्थों वाला होता है।

व्याख्या—१ चित्त, गुणों का प्रथम सात्त्विक विषम परिणाम, प्रसवधर्मी (क्रिया-वाला) परिणामी और अचेतन (जड़) है। यह उसका अपना ग्रहण स्वरूप है।

२ पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर चित्त चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टा से उपरक्त हुआ गृहीता स्वरूप है। इसी से ही चित्त को चेतन और उससे अन्य किसी पुरुष के न होने की भ्रान्ति होती है।

३ बाह्य विषयों से प्रतिबिम्बित होकर चित्त उन-जैसा भासने लगता है। यह उसका दृश्य उपरक्त ग्राह्य स्वरूप है। इसी से यह भ्रान्ति होती है कि चित्त से अतिरिक्त कोई बाह्य विषय और बाह्य जगत् नहीं है।

वास्तव में चित्त, बाह्य जगत् और वस्तुयें, और पुरुष तीनों अलग-अलग हैं और अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हैं।

चित्त केवल दृश्य (अर्थ) से ही उपरक्त (सम्बद्ध) नहीं होता है किन्तु अपनी वृत्ति (प्रतिबिम्ब) द्वारा विषयी पुरुष (प्रतिबिम्बित चेतन) भी उसके साथ सम्बन्ध वाला है। इसी से 'घटमहं जानामि' (मैं घट को जानता हूं) यह जो प्रत्यक्षरूप ज्ञान है वह विषय और विषयी इन दोनों का उपस्थापक होता है, केवल दृश्य अर्थ का ही उपस्थापक नहीं होता है।

इस प्रकार चित्त अचेतन विषयरूप होते हुए भी चेतन और विषयी के सदृश होने से चेतनाचेतन स्वरूप तथा विषय-विषयी अर्थात् दृश्य-द्रष्टा रूप से भासता हुआ स्फटिक मणि (बिल्लौर) के सदृश अनेक रूप वाला है।

जिस प्रकार एक स्फटिक मणि (बिलौर) के पास एक नीला पुष्प और एक लाल पुष्प रखदें तो वह एक बिलौर ही नीले फूल और लाल फूल के प्रतिबिम्ब से और तीसरे अपने निज रूप से तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुष के प्रतिबिम्ब से और तीसरे अपने रूप से ग्राह्य, गृहीता और ग्रहणस्वरूप होकर तीन रूप-वाला हो जाता है अर्थात् अपने रूप से ग्रहणाकार, विषय के प्रतिबिम्ब से ग्राह्याकार, और पुरुष के प्रतिबिम्ब से ग्राहकाकार होने से चित्त सर्वार्थ है।

चित्त की इस सर्वार्थता के ही कारण किन्हीं-किन्हीं अभ्यासियों को चित्त को पुरुष के प्रतिबिम्ब से भासते हुए उसके गृहीताकार स्वरूप को देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि चित्त के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष (आत्मा) नहीं है तथा उसके दृश्य के प्रतिबिम्ब से भासते हुए ग्राह्याकार स्वरूप को देखकर किसी-किसी को यह भ्रम होता है कि चित्त से भिन्न कोई बाह्य वस्तु नहीं हैं।*

* फुटनोट—जैसा कि कहा गया है—चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते। चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते॥ लंकावतार सूत्र। चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। चित्त ही एकमात्र सत्त्व है॥ दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्तं हि दृश्यते। देहभोगप्रतिष्ठानं चित्त-

उनका यह भ्रम समाधि द्वारा आत्मा के साक्षात्कार से दूर हो सकता है। अर्थात् समाधिकाल में जो सविकल्प प्रज्ञा होती है उस प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित अर्थ भिन्न है और जिसमें विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रज्ञा भिन्न है तथा प्रतिबिम्बित पदार्थ युक्त प्रज्ञा को अवधारण करनेवाला जो पुरुष है वह भिन्न है। चित्त ही सब कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य सब भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद सूत्र ॥ २३ ॥

इस प्रकार, पुरुष से जाना हुआ चित्त, सब वस्तुओं के ग्रहण करने की शक्ति के कारण, सब व्यवहारों के निर्वाह योग्य होगा, यह कहते हैं:—

द्रष्टा पुरुष है, उसके साथ चित्त भी चेतन-सा होजाता है और जब दृश्य विषयों के साथ सम्बन्ध करता है अर्थात् विषयाकार रूपी परिणाम को प्राप्त होता है, तब वही चित्त सब वस्तुओं को ग्रहण करने की शक्ति से सम्पन्न होता है। जैसे निर्मल स्फटिक (बिल्लौर) दर्पण (शीशा) आदि ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होता है वैसे रजोगुण और तमोगुण से अनाक्रान्त, शुद्ध चित्त सत्व ही, चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होता है। रज और तम, दोनों अशुद्ध होने के कारण प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ हैं। वह चित्त रज और तम को दबाता हुआ सत्त्व प्रधान बनकर स्थिर दीपक की शिखा (चोटी) के आकार सा चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति के कारण सदा एक रूप से परिणत होता हुआ मोक्ष तक रहता है। जैसे चुम्बक के निकट होने पर लोह का चलना प्रकट होता है। ऐसे ही चैतन्य रूप पुरुष के निकट सत्त्व का अभिव्यंग्य चैतन्य प्रकट होजाता है। इसीसे इस शास्त्र में दो प्रकार की चित् शक्ति (ज्ञान शक्ति) मानी जाती है। एक नित्योदिता (नित्य उदित द्वितीय अभिव्यंग्य (प्रकाश होने योग्य)। नित्योदिता चेतन शक्ति, पुरुष है, उसीकी निकटता से प्रकाशनीय है चैतन्य जिसका, ऐसा सत्त्व प्रकटित होता है, वही अभिव्यंग्य चिच्छक्ति है। वह अत्यन्त समीप होने से पुरुष का भोग्य है। अर्थात् नित्योदित कूटस्थ चित् शक्ति का सुखादि की समानरूपता को प्राप्त हुई, चित्प्रतिबिम्ब रूप चित् शक्ति भोग है। वही सत्त्व, शान्त ब्रह्मवादी सांख्यों (योगाचार्यों) से, परमात्मा द्वारा अधिष्ठेय अर्थात् कर्मानुकूल सुख दुःख का भोक्ता कहा जाता है। तीनों गुणों वाले, सुख दुःखादि रूप,

---

मात्रं वदाम्यहम् ॥ अर्थात् बाहरी दृश्य जगत् बिल्कुल विद्यमान नहीं है। चित्त एकाकार है। परन्तु वही इस जगत् में विचित्र रूपों से दीख पड़ता है। कभी वह देह के रूप में और कभी भोग (वस्तुओं के उपभोग) के रूप में प्रतिष्ठित रहता है अतः चित्त ही की वास्तव में सत्ता है। जगत् उसी का परिणाम है ॥ चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति, द्विधा चित्तं हि दृश्यते। ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥ लंकावतार ३। ६५। अविभागो हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ —स० सि० सं० पृ० १२। अर्थात् चित्त ही द्विविध रूप से प्रतीयमान होता है—(१) ग्राह्य विषय, (२) ग्राहक विषयी ॥ भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धि में ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहण इस त्रिपुटी की कल्पना कर उसे भेदवती बनाता है ॥

(घटादि) जो कि बिना किसी विशेषता के, किसी गुण के प्रधान होने से प्रतिक्षण परिणत होते रहते हैं, वे कर्मानुसारी (चित् प्रतिबिम्ब युक्त) शुद्ध सत्त्व में, अपने आकार को समर्पण करने से ज्ञेय बन जाते हैं। जिसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिसका विशिष्ट आकार, विषयों के आकार को ग्रहण करने से बनता है और जो वस्तुतः चेतन न होने पर भी चित् प्रतिबिम्ब के बल से चेतन सा प्रतीत होता है वह पहला चित्त सत्त्व ही, सुख दुःख रूप भोग का अनुभव करता है। वही भोग, पुरुष के भी अत्यन्त निकट होने से भेद ज्ञान न होने से अभोक्ता पुरुष का भी भोग कहा जाता है। इसी अभिप्राय से, विन्ध्यवासी (किसी आचार्य) ने कहा है कि—चित्त सत्त्व का दु:खादि ही पुरुष का दु:खादि है और अन्यत्र भी लिखा है कि "बिम्ब के रहते हुए, प्रतिबिम्बित छाया के सदृश छाया का प्रकट होना प्रतिबिम्ब शब्द से कहा जाता है। वैसे ही चित्त सत्त्व में भी पुरुष के प्रतिबिम्ब के तुल्य चैतन्य का प्रकट होना "प्रतिसङ्क्रान्ति" शब्द का अर्थ है, तात्पर्य यह है कि—दो प्रकार का भोग है, एक चिद्वसानतारूप और दूसरा परिणाम लक्षण, प्रतिबिम्बित चिच्छक्ति रूप पुरुष का चिद्वसानतारूप भोग है और प्रतिबिम्बित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी सुखादि आकार से परिणत होने वाली बुद्धि (चित्त) का परिणामलक्षण भोग है।

शङ्का यह है कि—जिसका परिणाम नियत अर्थात् परिच्छिन्न हो ऐसी निर्मल वस्तु का, निर्मल (शुद्ध) वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है; जैसे मुख का शीशे में। परन्तु अत्यंत निर्मल पुरुष की अपेक्षा, जो अशुद्ध सत्त्व है उसमें, अत्यंत निर्मल, व्यापक, अपरिणामी (परिणाम शून्य) पुरुष का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ता है? उत्तर यह है कि— प्रतिबिम्ब के स्वरूप को न जानकर शङ्काकार ने यह कहा है—क्योंकि सत्त्व में प्रकाशनीय चैतन्य शक्ति का, पुरुष की निकटता से प्रकटित होजाना ही प्रतिबिम्ब है, और पुरुष में जैसी चेतन शक्ति है उसीकी छाया भी इसमें प्रकट होता है। यह कहना कि अत्यन्त निर्मल पुरुष, अशुद्ध सत्त्व में कैसे प्रतिबिम्बित होता है, यह भी व्यभिचरित है अर्थात् अत्यन्त शुद्ध वस्तु का भी अपने से अशुद्ध वस्तु में प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे निर्मलता से निकृष्ट जलादि में, अत्यन्त निर्मल सूर्यादि प्रतिबिम्बित हुए मालूम होते हैं। यह कहना कि—व्यापक का प्रतिबिम्ब नहीं होता, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि व्यापक आकाश का शीशे में प्रतिबिम्ब मालूम होता है। ऐसे प्रतिबिम्ब मानने में कोई दोष नहीं। द्वितीय शङ्का यह है कि सत्त्वगुण के परिणाम रूप बुद्धि सत्त्व (अन्तःकरण) में पुरुष की निकटता से प्रकाशित चित् शक्ति का जो बाह्य वस्तुओं के सम्बंध होने पर भोग है, वही पुरुष का भोग है, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि प्रकृति परिणाम रहित है तो चित्त सत्त्व कैसे होसकता है? और यदि प्रकृति से परिणाम होता है तो वह परिणाम उसका क्यों होता है? यह कहना कि पुरुषार्थ कर्तव्यता को अर्थात् पुरुष को सुख दुःखादि देने के लिये प्रकृति का परिणाम होता है, ठीक नहीं, क्योंकि "पुरुषार्थ मुझे करना चाहिए" इस प्रकार की इच्छा को "पुरुषार्थ कर्तव्यता" कहते हैं। प्रकृति जड़ है। उसमें ऐसी इच्छा पहले कहाँ से आई? यदि वैसी इच्छा है तो प्रकृति को जड़ क्यों कहा जाता है (उत्तर) प्रकृति में अनुलोम और प्रतिलोम, दो प्रकार के स्वाभाविक परिणाम होते

हैं, वे ही परिणाम "पुरुषार्थ कर्तव्यता" कहलाते हैं। वह परिणाम रूप शक्ति, जड़ प्रकृति में भी स्वाभाविक है। इस प्रकृति का बहिर्मुख रूप से महत् आदि से लेके, पञ्चमहाभूतपर्यन्त *अनुलोम परिणाम* होता है, फिर अपने-अपने कारण में प्रवेश द्वारा (अर्थात् पृथ्वी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में वायु का आकाश में इत्यादि रूप से) अस्मिता तक प्रतिलोम परिणाम होता है। इस तरह जब पुरुष के भोगों की समाप्ति होजाने से प्रकृति की स्वाभाविक उक्त दोनों शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब मुक्त पुरुष के प्रति प्रकृति कृतार्थ हुई (अपने काम को समाप्त करने वाली) (इस मुक्त पुरुष के लिये) फिर परिणाम को नहीं आरम्भ करती। जड़ प्रकृति को ऐसी पुरुषार्थ कर्तव्यता मानने से कोई दोष नहीं। (शङ्का) यदि ऐसी स्वाभाविक शक्ति प्रकृति में है तो मुमुक्षु पुरुष मोक्ष के लिये क्यों प्रयत्न करता है ? यदि मोक्ष इष्ट न हो तो मोक्ष का उपदेशक शास्त्र व्यर्थ ही होजाय। अर्थात् जब इच्छादि प्रकृति में ही हैं तो मुक्ति और बन्धन प्रकृति के ही आधीन हुए, फिर पुरुष क्यों यत्न करता है ? (उत्तर) प्रकृति और पुरुष का भोग्य भोक्ता होना संबध अनादि से है, इसके रहते हुए प्रकटित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी प्रकृति को 'कर्तृत्वाभिमान' "मैं करता हूँ" इस प्रकार का अभिमान होता है, उस अभिमान से दुःख का अनुभव होता है, दुःख के अनुभव होने से (पुरुष) यह चाहता है कि मुझे यह अत्यन्त दुःखनिवृत्ति कैसे हो ? तो दुःखनिवृत्ति के उपाय के उपदेशक शास्त्र की अपेक्षा, प्रकृति को होती है। दुःख निवृत्ति का इच्छुक कर्माधिकारी अन्तःकरण, शास्त्रोपदेश का विषय है। अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार का ही अविवेकी शास्त्र में अधिकारी है। वही अधिकारी मोक्ष के लिये यत्न करता हुआ, ऐसे शास्त्रोपदेश रूपी कारण की अपेक्षा से, मोक्षरूप फल को प्राप्त होता है। सब कार्य अपनी सामग्री को प्राप्त होने पर ही स्वरूप को लाभ करते हैं। प्रकृति के प्रतिलोम परिणाम द्वारा उत्पन्न मोक्षरूप कार्य की ऐसी ही सामग्री शास्त्रादि प्रमाणों से निश्चित है। द्वितीय प्रकार से उपपादन नहीं होसकता, तो शास्त्रोपदिष्ट यम, नियम विवेक-ज्ञानादि रूप सामग्री के बिना मोक्ष कैसे होसकता है ? इससे सिद्ध हुआ कि विषयों के आकार को ग्रहण करनेवाला और प्रकट हुआ है चैतन्य प्रतिबिम्ब जिसमें ऐसा अन्तःकरण, विषयों का निश्चय करके सब व्यवहारों को चलाता है। इस प्रकार के कथन से ऐसे ही चित्त को मानते हुए और जगत् स्वसंवेदन चित्त मात्र है (स्वेन स्वरूपेण संवेदनं प्रकाशो यस्य तच्च तच्चित्तं सदेव) अर्थात् अपने स्वरूप से ही प्रकाश है जिसका ऐसा केवल चित्त ही जगत् है, इस प्रकार कहने वाले लोग *समझाये जाते हैं (क्योंकि चित्त से भिन्न ज्ञाता, ज्ञेयादि भी हैं)* ।"

विशेष वक्तव्य—सूत्र २३॥ वार्तिककारादि ने इस सूत्र पर और इससे पूर्व सूत्र पर जो भाष्य लिखा है उसका तात्पर्य निम्न प्रकार है—

भोक्ता पुरुष परिणामशून्य है इससे उसमें कहीं आना जाना नहीं होता, किन्तु बुद्धिवृत्ति में वह प्रतिबिम्बित-सा होता है इसलिये बुद्धिवृत्ति को चेतनतुल्य बना देता है। अन्यथा, 'घटमहं जानामि' 'मैं घट को जानता हूँ' यह बुद्धिवृत्ति चेतन भावार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि अहं पद का अर्थ केवल जड़ बुद्धि नहीं है। जैसे बुद्धि (अन्तःकरण) इन्द्रियादि

द्वारा अर्थों के सन्निकर्ष से अर्थों (घटादिकों) के आकार में परिणत होकर अर्थाकार होती है, वैसे ही पुरुष के *अत्यन्त सन्निकर्ष भोग्य-भोक्तृत्व रूप सम्बन्ध से* उसके *प्रतिबिम्ब को* ग्रहण करके आत्माकार बन जाती है। परिणाम बुद्धि में ही होता है, वह बहिर्मुख होकर विषयाकार होती है (विषयाकार होने ही से, मन की स्वप्नावस्था में तत्तदाकार से वृत्तियाँ होती रहती हैं) और अन्तर्मुख होकर आत्माकार प्रतिबिम्ब को ग्रहण करना ही उसकी आत्माकारता है। वस्तुतः प्रतिबिम्ब के न होने पर भी, बुद्धि का आत्माकार हो जाना ही प्रतिबिम्ब है। अपने (इस प्रकार) प्रतिबिम्ब द्वारा ही चेतन भोक्ता कहलाता है। अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, ये सब बुद्धिवृत्ति में वास्तविक हैं और पुरुष में आरोपित हैं। तात्पर्य यह कि बुद्धिवृत्ति तत्तदाकार से परिणत हुई अपने स्वरूप को पुरुष के लिए समर्पण करती है, इससे पुरुष में कर्तृत्व, भोक्तृत्व समझा जाता है। और आत्मा भी प्रतिबिम्ब द्वारा अपने रूप को बुद्धि के अर्पण करता है, इससे बुद्धि चेतन समझी जाती है। आत्माकार सा बुद्धिवृत्ति का हो जाना प्रतिबिम्ब के तुल्य होने से प्रतिबिम्ब कहलाता है। केवल वृत्तियों का बोध भी क्रोधादि वृत्तियों के तुल्य है, वह 'जानामि' में जानता [redacted] इस वृत्ति का विषय होता है। इस सूत्र में चित्त को 'सर्वार्थ' कहा है। इस शब्द का अर्थ यह है कि चित्त ग्राह्य, ग्रहण, गृहीता इन सब को ग्रहण करता है। 'अयं घटः' 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञान के अनन्तर 'घटमहं जानामि' 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार का जो अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है वह भी पूर्व ज्ञान के तुल्य सान्निभास्य है, इसलिए सर्वार्थ कहना ठीक है। इस उत्तर-ज्ञान में 'ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान' तीनों समान होते हैं। 'द्रष्टृदृश्योपरक्तम्' अर्थात् पुरुष और विषय, दोनों के आकारवाला चित्त होता है। पुरुष और बुद्धि की अत्यन्त समीपता है, इससे शब्दाद्याकारादिवत् पुरुषाकार बुद्धिवृत्ति होकर पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, उस बुद्धिवृत्ति का प्रकाश होना ही पुरुष में शब्दादि का ज्ञान और पुरुष का ज्ञान कहलाता है। इससे पुरुष-ज्ञान के लिए पुरुषान्तर वा ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं और न कर्मकर्तृ विरोध है अर्थात् 'अहं जानामि' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रतीतियों का आश्रय होने से कर्त्ता, और उक्त प्रतीतियों का विषय होने से आत्मा कर्म होता है। पर आत्मा के विरुद्ध कर्मकर्तृत्व कैसे रह सकते हैं इस प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण को द्वार माना जाता है। जैसे स्फटिक मणि दोनों तरफ़ भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के और अपने स्वरूप के साथ तीनों रूपवाला सा प्रतीत होता है वैसे ही चित्त की दशा है (*यहाँ स्फटिक का दृष्टान्त, सर्वांश में नहीं है क्योंकि* उसमें प्रतिबिम्ब मात्र पड़ता है और चित्त तदाकार से परिणत भी होता है। इससे उस-उस वस्तु के साथ मेल होने से वैसा-वैसा प्रतीत होने मात्र में दृष्टान्त है।)

सब वस्तुओं को भ्रममात्र से कल्पित मानना भी ठीक नहीं। सीप में जो चाँदी का अथवा रज्जु में जो सर्प का ज्ञान होता है वह सादृश्य दोष से है, इससे अविद्या की सर्वत्र कल्पना करना अयुक्त है। भ्रम-स्थलों में विषय का आकार चित्त में रहता है, विषय सत्य ही है।

जिन सांख्य योगी वेदान्तियों ने विवेक द्वारा गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य; इन तीनों को परस्पर विजातीय रूप से *पृथक्-पृथक् जान लिया है वही सम्यग्दर्शी हैं, उन्होंने ही* पुरुष के

स्वरूप को जान लिया है। अन्य जो अविवेकी हैं वे सब भ्रान्ति में हैं। उनकी उपेक्षा न करनी चाहिए, किन्तु कृपा करके उनको बोधन कराना चाहिये।

संगति—शङ्का—जब चित्त से सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनायें रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है।

समाधान—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—तत् = वह = चित्त। असंख्येय-वासनाभिः-चित्रम्-अपि = अनगिनत वासनाओं से चित्रित हुआ भी। पर-अर्थम् = दूसरे के लिये है। संहत्य-कारित्वात् = संहत्यकारी होने से।

अन्वयार्थ—चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित हुआ भी परार्थ है क्योंकि वह संहत्यकारी है।

व्याख्या—जो वस्तु कई चीजों से मिलकर काम की बनती है वह संहत्यकारी कहलाती है; जैसे मकान, शय्या आदि। संहत्यकारी वस्तु अपने लिये नहीं होती, बल्कि किसी दूसरे के लिये होती है, जैसे मकान शय्या आदि अपने लिये नहीं है बल्कि किसी दूसरे के रहने और आराम के लिये हैं। इसी प्रकार चित्त भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के अङ्ग अङ्गी भाव के मेल से सत्त्व प्रधान बना है इसलिये वह भी संहत्यकारी है और किसी दूसरे के लिये होना चाहिये सो पुरुष के ही भोग अपवर्ग के लिये इसकी प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि यह ठीक है कि अनन्त वासनाओं से चित्रित होने के कारण चित्त ही को भोक्ता मानना चाहिए, क्योंकि जो वासना का आश्रय होता है वही भोग का आश्रय होने से भोक्ता बन सकता है, अन्य नहीं। तथापि जड़ संहत्यकारी होने से वह चित्त स्वार्थ नहीं किन्तु परार्थ ही है अर्थात् पुरुष के ही भोग अपवर्ग सम्पादन अर्थ जानना चाहिए। इसलिए सुखाकार जो चित्त है, वह चित्त के भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्त के अपवर्गार्थ नहीं, किन्तु वह दोनों प्रकार का चित्त परार्थ है और वह जो इस भोग और अपवर्ग अर्थ से अर्थवाला है, वही असंहत केवल पुरुष है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ २४ ॥

यदि उक्त प्रकार के चित्त से ही सब व्यवहार चलते हैं, तो प्रमाणरहित द्रष्टा क्यों माना जाता है? *इस शङ्का को करके द्रष्टा में प्रमाण देते हैं—*

वह चित्त ही असंख्यात वासनाओं से नाना प्रकार का हुआ अपने स्वामी के लिए है अर्थात् भोक्ता जीव के भोग और मोक्षरूपी प्रयोजन को सिद्ध करता है क्योंकि मिलकर काम करनेवाला है। जो-जो मिलकर काम करते हैं वे अन्य के लिये होते हैं। जैसे शय्या, आसनादि (मिले हुए किसी पुरुष के लिये होते हैं)। सत्त्व, रज, तम ये तीनों चित्तरूप से परिणत होने वाले मिलकर कार्य करते हैं, इससे पर के लिये हैं। जो इनसे पर

(भिन्न) है वह पुरुष है। (शङ्का)—शय्या, आसनादि के दृष्टान्त से तो शरीरवाला ही 'पर' सिद्ध होता है और तुमको तो केवल चिन्मात्र पुरुष इष्ट है, दृष्टान्त उससे विपरीत की सिद्धि करता है, तो 'संहत्यकारित्वात्' यह हेतु तुम्हारा इष्टसाधक नहीं। (उत्तर)—यह ठीक है कि सामान्य रूप से केवल परविषयिणी व्याप्ति (जो-जो मिलकर कार्य करता है वह-वह परार्थ है, इस प्रकार की) गृहीत होती है। परन्तु सत्त्वादि गुण तो मिलकर कार्य करनेवाले ही हैं, इनसे विलक्षण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करने पर सत्त्वादि गुणों से विलक्षण, असंहत, चिन्मात्र रूप भोक्ता सिद्ध होता है। जैसे काष्ठों से घिरे हुए पर्वत में, विलक्षण धूम से, पर्वत की लकड़ियों से उत्पन्न अन्य वन्हियों से विलक्षण प्रकार का ही वन्हि (अग्नि) अनुमित होता है। वैसे यहाँ भी भोग्य सत्त्व गुण से, परार्थता का अनुमान करने पर उससे विलक्षण ही भोक्ता, स्वामी, चेतनरूप, असंहत (किसी से नहीं मिला हुआ) सिद्ध होता है। यदि उस पर (पुरुष) में परत्वधर्म, सर्वोत्कृष्टत्व (सब से उत्तमतारूप) ही माना जाय तो भी तमोगुण प्रधान विषयों से शरीर उत्तम है, क्योंकि यह प्रकाशरूप इन्द्रियों का आश्रय है। उस शरीर से भी उत्तम इन्द्रियाँ हैं। उन इन्द्रियों से भी उत्तम, चित्तसत्त्व है। उस चित्त का भी जो प्रकाशक है, जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं, वह चेतनरूप ही है, उसमें मेल कहाँ से हो सकता है।

संगति—यहाँ तक चित्त और पुरुष का भेद युक्ति द्वारा बतलाया गया, पर आत्मा कैसा है, क्या है? यह युक्ति से नहीं जाना जासकता। क्योंकि यह अनुभव का विषय है; इसका वास्तविक स्वरूप समाधि द्वारा जाना जासकता है। इसको अगले सूत्र में बतलाते हैं।

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

शब्दार्थ—विशेष-दर्शिनः = (विवेकख्याति द्वारा पुरुष और चित्त में) भेद के देखने वाले की। आत्म-भाव-भावना = आत्म भाव की भावना। विनिवृत्तिः = निवृत्त हो जाती है।

अन्वयार्थ—विवेकख्याति द्वारा पुरुष और चित्त में भेद के देखने वाले की आत्म-भाव की भावना निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या—आत्मभावभावना = आत्मभाव की चिन्ता कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, क्या था, आगे क्या होऊँगा, इत्यादि।

विशेष-दर्शिनः = पुरुष और चित्त के भेद को विवेकख्याति द्वारा साक्षात् करने वाला विवेक ज्ञानी।

विवेकख्याति द्वारा जब योगी को पुरुष और चित्त का भेद साक्षात् हो जाता है तब उसकी आत्मभावना कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, इत्यादि निवृत्त हो जाती है, वह चित्त ही में सारे परिणामों को देखता है और उसके धर्मों से *भिन्न अपने को अपरिणामी ज्ञानस्वरूप* अनुभव करने लगता है।

जिस पुरुष के चित्त में यह भावना होती है वही आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी है और वही योगाभ्यास द्वारा विवेक-ज्ञान का सम्पादन करता है। उसी विवेक ज्ञान से

यह आत्मभाव-भावना निवृत्त होती है। जिसको यह आत्मभाव-भावना ही नहीं उसको न तो इस आत्मज्ञान के उपदेश का अधिकार ही है न उसको विवेक ज्ञान ही उत्पन्न होता है और न आत्मभाव-भावना की निवृत्ति होती है।

किसके चित्त में यह भावना उदय हुई है और किसके चित्त में नहीं उदय हुई है इसका भाष्यकार इस अनुमान से जान लेना बतलाते हैं कि जैसे वर्षा ऋतु में तृणों के अङ्कुरों का प्रादुर्भाव देखकर उन तृणों के बीजों की सत्ता का अनुमान किया जाता है वैसे ही जिस पुरुष को मोक्षमार्ग श्रवण से रोमाञ्च, हर्ष और अश्रुपात होवे उस पुरुष में विवेक-ज्ञान के बीजभूत तथा अपवर्ग के साधन जो यम, नियम आदि कर्म हैं उनका पूर्व जन्म में अनुष्ठान करलिया है और इसके चित्त में आत्मभाव-भावना का उदय भी है। जिन पुरुषों की पूर्व जन्म में शुभ कर्मों के अनुष्ठान के अभाव से केवल पूर्व पक्ष में ही रुचि हो और सिद्धान्त में अरुचि हो उनके चित्त में अनुमान से आत्मभाव-भावना का अनुदय जान लेना।

संगति— विशेष-दर्शन के उदय होने पर विशेष-दर्शी का चित्त कैसा होता है? इसको बतलाते हैं:—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—तदा = तब (विशेषदर्शन के उदय होने पर) विवेक-निम्नम् = विवेक की ओर निम्न अर्थात् झुका हुआ = विवेकमार्ग सञ्चारी। कैवल्य-प्राग्भारम् = कैवल्य की प्राग्भार वाला अर्थात् कैवल्य के अभिमुख। चित्तम् = विशेषदर्शी का चित्त होता है।

अन्वयार्थ— विशेषदर्शन के उदय होने पर विशेषदर्शी का चित्त विवेक-मार्ग-सञ्चारी होकर कैवल्य के अभिमुख होता है।

व्याख्या—निम्न—जल के प्रवाह के सञ्चार योग्य जो ढलवान अर्थात् झुका हुआ प्रदेश है वह निम्न कहलाता है।

प्राग्भार—ऐसी उठी हुई भूमि अर्थात् ऊँचे प्रदेश को जहाँ जलका प्रवाह रुकजाता है प्राग्भार कहते हैं।

यहाँ चित्त की उपमा बहते हुए जल से दी गई है, जिस प्रकार पानी नीचे की ओर बहता है इसी प्रकार योगी का चित्त जो पहले अविवेक के मार्ग में बहता हुआ विषयों की ओर जा रहा था, विशेपदर्शन से वह मार्ग बन्द हो जाता है और चित्त का प्रवाह आत्मानात्म रूप विवेक-ज्ञान के मार्ग की ओर निम्न होकर कैवल्य प्राग्भार के अभिमुख हो जाता है। अर्थात् चित्त अज्ञान के कारण जो संसारी विषयों में लगा हुआ था, विशेपदर्शन द्वारा विवेकज्ञान होने पर उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर हो जाती है इसी प्रकार की उपमा (१।१२) में दी गई है।

संगति—विवेक-प्रवाही चित्त में भी बीच-बीच में कभी-कभी व्युत्थान की वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न होती हैं? इसको बताते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तत् = उस (विवेक-ज्ञान के) छिद्रेषु = छिद्रों में = बीच-बीच में = अन्तराल में। प्रत्यय-अन्तराणि = दूसरी (व्युत्थान की) वृत्तियाँ। संस्कारेभ्यः = (पूर्वके व्युत्थान के) संस्कारों से होती हैं।

अन्वयार्थ—उस विवेक-ज्ञान के बीच-बीच में अन्य व्युत्थान की वृत्तियाँ (भी) (पूर्वके व्युत्थान के) संस्कारों से उदय होती रहती हैं।

व्याख्या—छिद्र = विवेकज्ञान के बीच में कभी-कभी होनेवाला विवेक-अभावरूप अवकाश, अन्तराल-अथवा अवसर।

जबतक चित्त में पुरुष और चित्त की भिन्नता का ज्ञान प्रबलता से रहता है तबतक उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर रहती है, पर जब-जब इस विवेकज्ञान में शिथिलता आने लगती है, तब-तब व्युत्थान के संस्कार अर्थात् व्युत्थान की ममता और अहमता की वृत्तियाँ 'यह मेरा है' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि उत्पन्न हो जाती हैं। यह प्रत्ययान्तराणि अर्थात् समाधि की वृत्तियों से भिन्न व्युत्थान की वृत्तियाँ इसलिये बीचमें उत्पन्न होती हैं कि विवेकख्याति (विशेषदर्शन) अभी अत्यन्त परिपक्व नहीं हुई है और अनादि काल से प्रवृत्त व्युत्थान के संस्कार अभी किञ्चित् बलवान् हैं।

संगति—उनके त्याग का उपाय बताते हैं:—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—हानम् = निवृत्ति। एषाम् = इनकी (व्युत्थान के संस्कारों की) क्लेशवत् = क्लेशों की तरह। उक्तम् = कही गई है।

अन्वयार्थ—उन (व्युत्थान के संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशों की निवृत्ति के तुल्य कही गई जानना चाहिये।

व्याख्या—जैसे दूसरे पाद के दस व ग्यारहवें सूत्रों में क्लेशों का नाश बतलाया है वैसे ही व्युत्थान के संस्कारों का भी नाश जान लेना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार प्रसंख्यान रूप अग्नि से क्लेश दग्ध-बीज भाव को प्राप्त होकर अपने अंकुर उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं वैसे ही विवेक अभ्यास रूप प्रसंख्यान अग्नि से पूर्वले जन्मों के व्युत्थान के संस्कार भी दग्धबीज होकर व्युत्थान की वृत्तियों को नहीं उत्पन्न करते। अपरिपक्व विवेकनिष्ठ चित्त में ही व्युत्थान के संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है, परिपक्व ज्ञाननिष्ठ चित्त में नहीं होता। इसलिए पहले विवेकज्ञान के अभ्यास से विवेकज्ञान के संस्कारों का सम्पादन करके व्युत्थान के संस्कारों का निरोध करना चाहिये। फिर निरोध संस्कारों से विवेक के संस्कारों का लय करना चाहिये। उसके पश्चात् निरोध के संस्कारों का भी असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा लय कर-देना चाहिये। विवेक-ज्ञान में ही अपने को कृतकृत्य न समझ लेना चाहिए।

संगति—व्युत्थान के निरोध का उपाय विवेक-अभ्यास रूप प्रसंख्यान बतला कर

अब प्रसंख्यान के निरोध का उपाय कहते हुए जीवन्मुक्ति की परमकाष्ठा रूप धर्ममेघ समाधि का स्वरूप कहते हैं :—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—प्रसंख्याने-अपि-अकुसीदस्य = प्रसंख्यान ज्ञान में भी विरक्त है जो योगी, उसको। सर्वथा-विवेक-ख्यातेः = निरन्तर विवेक-ख्याति के उदय होने से। धर्म-मेघः-समाधिः = धर्ममेघ समाधि होती है।

अन्वयार्थ—जो योगी प्रसंख्यान ज्ञान से भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्याति के उदय होने से धर्ममेघ समाधि होती है।

व्याख्या—प्रसंख्यान = जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूप वाले हैं, उनका यथा-क्रम विचार करना प्रसंख्यान कहलाता है। (भोजवृत्ति) इसी को विवेक ज्ञान भी कहते हैं।

धर्ममेघः = अति उत्तम पुण्य पाप से रहित परम पुरुषार्थ के साधक धर्म की जो वर्षा करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। (भोजवृत्ति)

अकुसीद—ऋण देकर मास-मास में धन की वृद्धि करना अर्थात् सूद (ब्याज) लेने को कुसीद कहते हैं। यहाँ जो योगी प्रसंख्यान की लिप्सा वाला है उसके लिए कुसीद और जो फल की इच्छा से विरक्त है उसके लिए अकुसीद शब्द का प्रयोग हुआ है।

जब ब्रह्मनिष्ठ योगी पर-वैराग्य द्वारा प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञान से भी किसी फल (सर्वज्ञत्वादि जिनको ३।४९ में बतला आये हैं) की इच्छा नहीं रखता तो उसके विरक्त हो जाने पर इस पर वैराग्यशील योगी की सर्वथा विवेक-ख्याति उदय होती है, अर्थात् निरन्तर विवेक ज्ञान का प्रवाह बहने लगता है। इससे व्युत्थान के संस्कारों के बीज नितान्त भस्म हो जाते हैं। इस कारण व्युत्थान की वृत्तियाँ बीच-बीच में उत्पन्न नहीं होतीं। ज्ञान की इस परिपक्व अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊंची अवस्था विवेक-ख्याति (प्रसंख्यान) है। विवेक-ख्याति की परिपक्व अवस्था धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद-नामी पर-वैराग्य है। जिसका फल असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है।

संगति—धर्ममेघ समाधि का फल क्लेशकर्म की निवृत्ति बतांते हैं :—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—ततः = उस (धर्ममेघ समाधि) से। क्लेश-कर्म-निवृत्तिः = क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ—उस धर्ममेघ समाधि से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है।

व्याख्या—उस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति पर अविद्या आदि पाँचों क्लेश और शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित तीनों प्रकार के कर्म (सकाम कर्म) और उनकी वासनायें मूलसहित नाश हो जाती हैं। इस प्रकार क्लेश और कर्मों के अभाव में योगी जीवन्मुक्त होकर विच-रता है और शरीर त्यागने के पश्चात् विदेह मुक्त पद को प्राप्त होता है अर्थात् पुनः जन्म धारण

नहीं करता जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं "कस्मात् यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम, नहि क्षीण क्लेशविपर्ययः कश्चित् केन चित्क्वचिज्जातो दृश्यत इति।" क्योंकि विपर्यय ज्ञान अर्थात् अविद्या ही संसार का कारण है। इसलिये जिसके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुष कोई भी किसी कारण से भी, कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता। महर्षि गौतम ने भी न्याय दर्शन में ऐसा ही कहा है। "वीतरागजन्मादर्शनात्" (३।१।२५) जिसके राग वीत गये हैं ऐसे पुरुष का संसार में जन्म न देखे जाने से।

संगति—क्लेशकर्म की निवृत्ति पर क्या होता है ?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—तदा = तब क्लेशकर्म की निवृत्ति पर। सर्व-आवरण-मल-अपेतस्य = सारे आवरण मल से अलग हुए। ज्ञानस्य = ज्ञान के = चित्त के प्रकाश के। आनन्त्यात् = अनन्त होने से। ज्ञेयम् = जानने योग्य वस्तु। अल्पम् = थोड़ी रह जाती है।

अन्वयार्थ—तब सब क्लेशकर्मों के क्षय-काल में सर्व आवरणरूप मलों से रहित होकर चित्तरूप प्रकाश के अनन्त होने से ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

व्याख्या—चित्त सत्त्वप्रधान सूर्य के सदृश प्रकाशशील है। जिस प्रकार शरद् ऋतु में मेघ सूर्य के प्रकाश को ढक देते हैं, उसी प्रकार रजस्-तमस्-मूलक अविद्या आदि क्लेश और सकाम कर्म की वासनायें चित्त के प्रकाश पर आवरण डाले हुए रहते हैं। बादलों के हटने पर जब सूर्य का प्रकाश चारों दिशाओं में फैलता है तो सारी वस्तुयें स्पष्ट दीखने लगती हैं, ये सारी वस्तुयें उसके सर्वत्र फैले हुए प्रकाश की अपेक्षा अति न्यून परिच्छिन्न हैं, इसी प्रकार धर्ममेघ समाधि द्वारा जब रज-तम-मूलक क्लेश और कर्म वासनाओं के मल का पर्दा चित्त से हट जाता है तो उसके अपरिमित ज्ञान के सर्वत्र फैले हुए प्रकाश में कोई वस्तु छिपी नहीं रहती। उसका प्रकाश इतना बढ़ जाता है कि जानने योग्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं रह सकती। विषय बहुत न्यून, परिच्छिन्न और ज्ञान का प्रकाश अनन्त अपरिच्छिन्न हो जाता है। ज्ञेय सांसारिक वस्तुयें उसकी दृष्टि में अल्प अर्थात् तुच्छ हो जाते हैं, जैसे प्रकाश में जुगनू। श्री व्यासजी महाराज उसके विषय में निम्न दृष्टान्त देते हैं :—

अन्धो मणिमविध्यत्तमनंगुलिरावयत्।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुंचत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति।

अर्थ—अन्धे ने मणियों को बींधा, बिना अँगुली वाले ने उसमें धागा पिरोया, ग्रीवा-रहित के गले में वह डाली गई और जिह्वारहित ने उसकी प्रशंसा की।

अर्थात् जैसे यह वाक्य आश्चर्यरूप जान पड़ता है, ऐसे ही आश्चर्यरूप दशा योगी की इस काल में होती है।

संगति—धर्ममेघ समाधि से क्लेशकर्मों की निवृत्ति हो जाने पर भी गुण जो स्वतः ही परिणाम स्वभाव वाले हैं, विद्यमान रहते हुए उस पुरुष के लिये शरीर और इन्द्रियों को क्यों नहीं उत्पन्न करते ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं :—

तत: कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—ततः = तब। कृतार्थानाम् = कृतार्थ हुए। गुणानाम् = गुणों के। परिणाम-क्रम = परिणाम के क्रम की। समाप्तिः = समाप्ति हो जाती है।

अन्वयार्थ—तब कृतार्थ हुए गुणों के परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिये है। जबतक पुरुष के यह दोनों प्रयोजन सिद्ध नहीं हो लेते तबतक वे इसके लिये अपने परिणाम के क्रम (शरीर, इन्द्रिय आदि के आरम्भ) को जारी रखते हैं।

धर्ममेघ समाधि से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है उसके फलस्वरूप रजस्-तमस् गुणों का आवरण हटने से ज्ञान अनन्त (अपरिमित) और ज्ञेय अल्प हो जाता है। यह अपरिमित ज्ञान ही प्रकृति के दोषों का दिखलाने वाला होने से पर-वैराग्यरूप है। उस उत्कृष्ट वैराग्य के बाद गुणों का जो अनुलोमतया (सीधे) सृष्टि उन्मुख और प्रतिलोमतया (उल्टे) प्रलय उन्मुख प्रधान-अप्रधान भाव से स्थितिरूप परिणाम है उसके क्रम की उस पुरुष के प्रति समाप्ति हो जाती है। उस पुरुष के लिये फिर गुण प्रवृत्त नहीं होते।

भाव यह है कि धर्ममेघ समाधि के पश्चात् जब पुरुष के भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तो इन गुणों का उस पुरुष के लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता। इस कारण उसकी ओर से कृतार्थ अर्थात् कर्त्तव्य पूरा करके अपना परिणाम-क्रम समाप्त कर देते हैं और दूसरे पुरुषों के इसी प्रयोजन को सिद्ध करने में लगे रहते हैं (४।३२)।

संगति—क्रम का स्वरूप बताते हैं :—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—क्षण-प्रतियोगी = क्षणों की सम्बन्धी = प्रतिक्षण होनेवाली। परिणाम-अपरान्त-निर्ग्राह्यः = परिणाम की समाप्ति पर ग्रहण करने योग्य (जो गुणों की अवस्था विशेष है वह)। क्रमः = क्रम कही जाती है।

अन्वयार्थ—प्रतिक्षण होनेवाली परिणाम की समाप्ति पर जानी जाने वाली (गुणों की अवस्थाविशेष का नाम) क्रम है।

व्याख्या—क्षणों की निरन्तर (परम्परा के) धारा के आश्रित जो परिणामों की निरन्तर परम्परा है, उसको परिणाम क्रम कहते हैं अर्थात् क्षण-क्षण में जो प्रत्येक वस्तु में परिणाम होता रहता है उसको क्रम कहते हैं। परिणाम इतना सूक्ष्म होता है कि ग्रहण नहीं हो सकता। वह होते-होते अन्त में स्थूलरूप होने पर दिखलाई देने लगता है। जैसे वस्त्र कितना ही सुरक्षित क्यों न रखा जाय, एक समय पर इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ रखने से फटने लगता है। यह परिणाम का क्रम उसी समय नहीं हुआ बल्कि प्रत्येक क्षण में होता रहा है। परन्तु इतने सूक्ष्म रूप में हो रहा था कि देखा नहीं जा सकता था, अन्त में बहुतसे परिणामों का स्थूल रूप में होने पर वह दिखलाई देने लगा। यही गुणों के धर्म परिणाम और लक्षण-परिणाम का क्रम है। अर्थात् परिणामों की जो आगे-पीछे की एक

धारा या सिलसिला है वह क्रम है। किसी क्रम का आरम्भ एक विशेष क्षण में होता है और समाप्ति एक दूसरे क्षण में। पहले क्षण को जहाँ से क्रम आरम्भ होता है, पूर्वान्त और अन्तिम क्षण को जहाँ वह क्रम समाप्त होता है, अपरान्त कहते हैं।

यह क्रम धर्म, लक्षण और अवस्था; तीनों परिणामों में पाया जाता है। ऊपर वस्त्र, के उदाहरण से बताया है कि अवस्था-परिणाम का क्रम सूक्ष्मरूप से होता हुआ दिखाई नहीं देता है। उसका अन्तिम फल ही प्रत्यक्ष होता है। धर्म और लक्षण-परिणाम का क्रम भी जो दिखलाई देता है वह भी कई परिणामों का स्थूल रूप ही है; जो क्रम प्रत्येक क्षण में सूक्ष्म रूप से होता रहता है वह इनमें भी साक्षात् नहीं दिखाई देता।

यह परिणाम-क्रम गुणों में बराबर होता रहता है। यदि यह शंका हो कि गुण तो नित्य हैं उनमें परिणाम कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हैं। अतीतावस्था से शून्य होना मात्र ही नित्य का सामान्य लक्षण है न कि अपरिणामी होना। इसलिए नित्यता दो प्रकार की होती है, एक कूटस्थ नित्यता दूसरी परिणामी नित्यता।

१ कूटस्थ नित्यता—स्वरूप से सदा एक बना रहना और किसी प्रकार का परिणाम न होना। यह पुरुष की नित्यता है जिसमें वह सदैव एक रूप में बना रहता है। और उसमें कोई परिणाम नहीं होता।

२ परिणामी नित्यता—अवस्था से परिणाम होता रहना, स्वरूप से सदा एक बने रहना। यह परिणामी नित्यता गुणों की है। गुण परिवर्तन को प्राप्त होते हुए भी स्वरूप से नष्ट नहीं होते हैं, उन नित्य धर्मी गुणों की परिणामों की कोई अन्तिम सीमा नहीं प्रतीत होती। जहाँ सीमा प्रतीत होती है वह अन्य धर्मियों की है जो अनित्य हैं, जैसे बुद्धि, इन्द्रिय, तन्मात्रा, पाँचों भूत, शरीर आदि।

अब यह शंका होती है कि स्थिति व गति अर्थात् सृष्टि प्रलय प्रवाह रूप से जो गुणों में वर्तमान संसारक्रम है इस क्रम की समाप्ति होती है वा नहीं, यदि समाप्ति मानी जावे तो ऊपर जो कहा गया है कि 'गुणों के परिणाम की कोई अन्तिम सीमा नहीं' इसका खंडन होता है और यदि समाप्ति न मानी जावे तो पूर्व सूत्र में गुणों के क्रम की समाप्ति क्यों कही। इस शङ्का के निवारणार्थ भाष्यकारों ने यह कहा है कि यह प्रश्न एकान्त वचनीय नहीं है अर्थात् एक बार ही 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर देने योग्य नहीं हैं, किन्तु अवचनीय है। प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं—

१ एकान्त वचनीय—जो नियत से एक ही समाधान द्वारा उत्तर देने योग्य है।

२ विभज्य वचनीय—जो विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है।

३ अवचनीय—जिसका उत्तर एकान्तरूप से एक प्रकार से कहने योग्य नहीं होता।

जैसे 'क्या सब जगत् जो उत्पन्न हुआ है मरेगा'? उत्तर—'हाँ अवश्य मरेगा'। यह एकान्तवचनीय अर्थात् एक ही उत्तर देने की योग्यता वाला है 'क्या जो-जो मरेगा वह सब उत्पन्न होगा'? उत्तर—'केवल जिसको विवेकज्ञान उदय हो गया है और जो तृष्णारहित हो गया है वह उत्पन्न न होगा अन्य उत्पन्न होगा'। 'मनुष्य जाति उत्तम

है वा नहीं' ? उत्तर—'मनुष्य जाति पशुओं में उत्तम है देवताओं से उत्तम नहीं है'। यह विभज्य-वचनीय है। ' यह संसार अन्तवान् है वा अनन्त है ? ' यह अवचनीय है। क्योंकि दोनों में से एक विशेष कहने योग्य नहीं है। परन्तु आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) से इसका उत्तर यह है कि ज्ञानियों को संसारक्रम की समाप्ति है, अर्थात् ज्ञानियों को संसार अन्त को प्राप्त होता है, अज्ञानियों को नहीं होता। ज्ञानी संसारक्रम के समाप्त होने पर अर्थात् संसार के अन्त होने पर मुक्त हो कैवल्यपद को प्राप्त होते हैं'।

टिप्पणी—भोजवृत्ति में यह सूत्र कुछ पाठान्तर के साथ लिखा गया है, इसलिए उस सूत्र का भोजवृत्ति के अर्थ सहित पाठकों की जानकारी के लिए लिखे देते हैं।

क्षणप्रतियोगी परिणामोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

उक्त क्रम का लक्षण कहते हैं—

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र ३३ ॥

सब से छोटे काल का नाम क्षण है, (क्षण भी क्रियात्मक व शाब्दबोधात्मक परिणाम ही है)। उस क्षण का जो प्रतियोगी, (निरूपक) क्षण से भिन्न परिणाम है, वह गुणों का क्रम है। जाते हुए क्षणों में, पीछे जोड़ लगाने से ही वह ग्रहण किया जाता है, विना जाते हुए क्षणों के, उनमें क्रम, नहीं जाना जा सकता, इससे उसे 'अपरान्तनिर्ग्राह्य' कहा है।

विशेष वक्तव्य— ॥ सूत्र ३३ ॥ श्रीविज्ञान भिक्षु आदि, सूत्र में, 'परिणामापरान्त' पाठ मानते हैं। श्रीरामानन्द यति, कुछ विभिन्न व्याख्यान करते हैं। वे क्षण प्रतियोगी शब्द का षष्ठी समास नहीं, किन्तु बहुव्रीहि करते हैं (वही ठीक मालूम होता है) अर्थात् 'क्षणाः प्रतियोगिनो निरूपका यस्य, असौ क्षणप्रतियोगी '। क्षण हैं निरूपक बतलाने वाले जिसके, वह क्षणप्रतियोगी। क्षण, कलांश (परिमाण विशेष) को कहते हैं। क्षणों में बुद्धि को समाधिस्थ करके ही क्रम (पूर्वापरभाव) जानने योग्य है। इस से यह बता दिया कि क्षणिक परिणाम होता है। उस क्रम में प्रमाण देते हैं :—

' अपरान्तनिर्ग्राह्यः '। कहीं क्रम प्रत्यक्ष और कहीं अनुमेय है। मृत्तिका में पिंड, घट, कपाल, चूर्ण कणरूपी, प्रत्यक्ष परिणाम होते हैं, उनका पूर्वान्त पिंड है, और अपरान्त कण है। इनमें पूर्वोत्तर अवधि के ज्ञान से, क्रम, निश्चित रूप से गृहीत होता है, अर्थात् मृत् पिंड के अनन्तर घट होता है ऐसा क्रम प्रत्यक्ष है। अच्छे प्रकार रक्खा हुआ वस्त्र भी पुराना पड़ जाता है। वस्त्र में पुरानापन, एकबार तो आता नहीं, किंतु क्षण-क्षण में पूर्वान्त नवीनता से लेकर पुराणता होती रहती है। अर्थात् नवीन होने के बाद, अत्यन्त सूक्ष्म पुराणता, फिर सूक्ष्म पुराणता इत्यादि रूप से पुराणता होती रहती है। यहाँ पर, क्रम, अनुमान करने योग्य है। यह क्रम, नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में होता है। नित्य दो प्रकार के हैं। एक—कूटस्थ नित्य होते हैं जैसे—पुरुष। द्वितीय—परिणामी नित्य होते हैं, जैसे—सत्त्वादि गुण। धर्म, लक्षण, अवस्था, इन तीनों प्रकारों (तृतीय पाद के

१३ वें सूत्रोक्त) से परिणाम होने पर भी, धर्मी में, स्वरूप का नाश न होना 'परिणामी नित्यता' है। एक धर्म को छोड़ धर्मान्तर को ग्रहण करना 'परिणाम' है। अनित्य बुद्धि आदि धर्मियों में जो क्रम है, वह अवधि सहित है। बुद्धि में रागादि परिणाम 'पूर्वान्त' और पुरुष का प्रत्यक्ष करना 'अपरान्त' क्रम है। परिणामी नित्य गुणों में परिणाम का क्रम, अवधि (हद) से रहित है। क्योंकि मुक्त पुरुषों के प्रति, गुणों का परिणाम न होने पर भी, बद्ध जीवों के प्रति, होता ही रहता है।

प्रश्न—सब जीव मुक्त हो सकते हैं, या नहीं? यदि हो सकते हैं, तो प्रकृति (गुणों) का परिणाम, अवधि से रहित मानना ठीक नहीं और नहीं हो सकते तो तत्त्व-ज्ञान में किसे विश्वास होगा अर्थात् तत्त्वज्ञान होने पर भी, यदि नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञान में विश्वास उठ जायगा, विश्वास उठने से कोई मुमुक्षु न रहेगा; इत्यादि दोष होंगे।

उत्तर—तीन प्रकार का प्रश्न हो सकता है—एकान्तवचनीय, विभज्यवचनीय, अवचनीय। यदि पहला प्रश्न किया जाय कि क्या सब उत्पन्न हुए मरेंगे? तो यह एकान्त-वचनीय है, अर्थात् कहना चाहिए कि हाँ अवश्य मरेंगे। आपका किया हुआ जो दूसरा प्रश्न है। वह 'विभज्य वचनीय' है अर्थात् विभाग करके उत्तरणीय है—कि जिसे तत्त्वज्ञान होगा, वह मुक्त हो जायगा और जिसे न होगा, वह नहीं। जीव अनन्त हैं सृष्टि प्रलय भी अनन्त है इससे सबकी मुक्ति नहीं होसकती। तीसरा प्रश्न यह होसकता है कि प्रकृति का परिणाम-क्रम समाप्त होता है या नहीं? इसके उत्तर दो होसकते हैं—प्रथम यह है कि निश्चित नहीं कर सकते कि समाप्त होता है या नहीं। द्वितीय यह है कि जो ज्ञानी हैं, उनके लिये समाप्त होता है; अन्यों के लिये नहीं। वास्तविक परिणामक्रम, परिणामी नित्य गुणों में है और पुरुष में कल्पित है, वस्तुतः नहीं अर्थात् बुद्धि के परिणामों का आरोप है, इत्यादि भाष्य का तात्पर्य है।

संगति—गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति पर कैवल्य कहा गया है उसका स्वरूप अगले सूत्र में बताते हैं:—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-शक्तिरिति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—पुरुषार्थ-शून्यानां-गुणानां = पुरुष अर्थ से शून्य हुए गुणों का। प्रति-प्रसवः = अपने कारण में लीन होजाना। कैवल्य = कैवल्य है। वा = अथवा। स्वरूप-प्रतिष्ठा = अपने स्वरूप में अवस्थित होजाना। चितिशक्तिः = चितिशक्ति का (कैवल्य है) इति = और यह पाद तथा योगशास्त्र समाप्त होता है।

अन्वयार्थ – पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन होजाना कैवल्य है अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होजाना कैवल्य है।

व्याख्या—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग अपवर्ग के लिये है इसलिये भोग और अपवर्ग ही पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ के लिये गुण, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि में परिणत

होरहे हैं। जिस पुरुष का यह प्रयोजन सिद्ध होगया उसके प्रति इनका कोई कार्य शेष नहीं रहता। तब उस पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के सम्पादन से कृतार्थ हुए पुरुषार्थ शून्य कार्य-कारण स्वरूप गुण प्रतिप्रसव को प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रतिलोम परिणाम से अपने कारण में लीन होजाते हैं। अर्थात् व्युत्थान समाधि और निरोध के संस्कार मन में लीन होजाते हैं, मन अहंकार में, अहंकार बुद्धि (चित्त) में और बुद्धि प्रधान प्रकृति में लय होजाती है। इस प्रकार पुरुष का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के पश्चात् गुणों के अपने कारण में लीन होजाने का नाम कैवल्य, अर्थात् गुणों का उस पुरुष से अलग होना है। अथवा यों कहना चाहिये कि धर्म चित्त के परिणाम क्रम बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लीन होजाने पर चितिशक्ति पुरुष का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर अपने स्वरूप में अवस्थित होजाने का नाम कैवल्य है। इसकी सविस्तर व्याख्या तृतीय पाद के ५५ वें सूत्र में करदी गई है। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जैसे वेदान्त में अज्ञान की निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म प्राप्ति को समकाल होने पर भी कहीं अज्ञान की निवृत्ति को जैसे 'भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः' 'और फिर अन्त में सारी माया निवृत्त होजाती है' और कहीं ब्रह्म की प्राप्ति को जैसे 'स यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'जो निश्चय उस ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही होजाता है' मुक्ति कहा है। वैसे ही यहाँ पर भी गुणों का प्रतिप्रसव और चितिशक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा इन दोनोंके समकाल होने पर भी तात्पर्य की एकता होने से कैवल्य के दो लक्षण कहे हैं। लक्षणभेद से कैवल्य का भेद नहीं किया है।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ प्राप्ते शरीरं भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ (सा० का० ६७, ६८)

अर्थ—यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से जब कि धर्म आदि अकारण बन जाते हैं, तब पुरुष (पिछले) संस्कार के वश से चक्र के सदृश शरीर को धारण किये हुये ठहरा रहता है। शरीर के छूट जाने पर और चरितार्थ होने से प्रधान की निवृत्ति होने पर ऐकान्तिक (अवश्य होने वाले) और आत्यन्तिक (बने रहने वाले) दोनों प्रकार के कैवल्य को प्राप्त होता है।

इति का शब्द इस पाद तथा योगशास्त्र की समाप्ति के लिये लाया गया है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद। सूत्र ॥ ३४ ॥

"अब फलरूप मोक्ष के सामान्य स्वरूप को कहते हैं—जो सत्त्वादि गुण भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थ को समाप्त कर चुके उनका जो उल्टे-उल्टे परिणाम की समाप्ति होने पर उनों में विकार का पैदा न होना या वृत्तियों के तुल्य रूप की निवृत्ति होने पर चेतन शक्ति का अपने स्वरूपमात्र में स्थिति करना मोक्ष कहा जाता है केवल हमारे ही दर्शन (मत) में मोक्षावस्था में पुरुष इस प्रकार का चेतन रूप नहीं होता, किन्तु अन्य दर्शनों में भी विचार करने पर स्वरूपावस्थित होता है। जैसे—

आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं है—संसारावस्था में कर्ता, भोक्ता और विचार करने वाला आत्मा प्रतीत होता है अन्यथा यदि एक कोई चेतन इस प्रकार का न हो और ज्ञान क्षणों को ही, जोकि पूर्वापरविचार से शून्य हैं आत्मा माना जाय तो कर्म और फल का सम्बन्ध नियमपूर्वक नहीं होसकता और किये हुए की हानि, नहीं किये हुए की प्राप्तिरूप दोष भी हो। और जिसने शास्त्रों में ही कहे हुए कर्म को किया है वही यदि भोक्ता रहे तो सबकी प्रवृत्ति कल्याणप्राप्ति के लिये दुःख की निवृत्ति के लिये होसकती है। ग्रहण करना या छोड़ना विचार से ही होता है इससे और ज्ञानक्षणों को परस्पर भिन्न होने से (पूर्वा र) विचार शून्यता है। यदि कोई उनका अनुसंधान करने वाला न रहे तो किसी का भी व्यवहार नहीं चल सकता। इससे, जो कर्ता, भोक्ता, अनुसंधाता (विचार करने वाला वा जानने वाला) है वह आत्मा है यह व्यवस्था की जाती है। मोक्षावस्था में केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है क्योंकि मोक्ष दशा में तो ग्राह्य ग्राहक रूप अर्थात् ग्रहण करना आदि सब व्यवहारों के न रहने से केवल चैतन्य ही शेष रहता है। वह चैतन्य, अपने स्वरूप को जानने से नहीं है किन्तु स्वरूप में है क्योंकि विषयों को ग्रहण करने की सामर्थ्य ही चेतन का स्वरूप है अपने स्वरूप को ग्रहण करना नहीं (ऐसा ही श्रुति बतलाती है यथाः—"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" सबके जानने वाले विज्ञाता को किस से जाना जासकता है। तथा "येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्" जिसे ये सब कुछ जाना जाता है उसको किस से जानें) जैसे चेतन से गृहीत हुई वस्तु 'यह है' इस प्रकार ग्रहण की जाती है और चेतन का स्वरूप 'अहं' अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। आपस में विरुद्ध, बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता रूप दो व्यापार एक काल में नहीं होसकते तो चेतन स्वरूप से ही शेष रहता है। इससे मोक्षावस्था में गुणों के कार्यों की समाप्ति होने पर केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है यही ठीक है, और संसारदशा में तो ऐसे ही आत्मा को कर्ता, भोक्ता और अनुसंधाता होना सब ठीक है।

आत्मा का संसारदशा और मुक्ति अवस्था में एक ही रूप है। देखिये जो ये प्रकृति के साथ अज्ञानमूलक भोग्य का भोग करना रूप अनादि स्वाभाविक सम्बन्ध है उसके होने पर और जो पुरुषार्थकर्तव्यतारूप शक्तियों के होने से (४ पाद के २३ वें सूत्रोक्त) प्रकृति का महान् आदि रूप से परिणाम है उसमें संयोग होने पर जो आत्मा का अधिष्ठाता (स्वामी) बनना अर्थात् अपने प्रतिबिम्ब को समर्पण करने की शक्ति और अन्तःकरण की पड़े हुए चेतन प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति रखना, तथा चेतन के सम्बन्ध से, बुद्धि में कर्तृत्व भोक्तृत्व का निश्चय है, उसी से स्मृतिपूर्वक व्यवहारों की सिद्धि हो जायगी, फिर अन्य तुच्छ कल्पनाओं से क्या प्रयोजन ? (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं) यदि इस प्रकार के मार्ग को छोड़कर आत्मा में पारमार्थिक कर्तृत्वादि धर्मों को स्वीकार किया जाय, तो आत्मा को परिणामी मानना पड़ेगा। परिणामी और अनित्य मानने पर आत्मा का आत्मभाव अर्थात् एकरस से रहना न बनेगा। क्योंकि एक ही समय में, एक रूप से, परस्पर विरुद्ध अवस्थाओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे जिस अवस्था में आत्मा में

समवाय सम्बन्ध से सुख उत्पन्न हुआ, उसी अवस्था में आत्मा में दुःख का अनुभव करना नहीं हो सकता तो अवस्थाओं के भेद होने से, अवस्थाओं से अभिन्न अवस्थावाले का भेद मानना चाहिये। भेद मानने से परिणामी मानना पड़ेगा और परिणामी मानने पर न आत्मा में आत्मभाव रह सकता है, न नित्यभाव। इसलिये योगाचार्य, तथा सांख्याचार्य आत्मा का संसार-दशा में और मुक्ति अवस्था में एक ही रूप स्वीकार करते हैं।

आत्मा वृत्ति-ज्ञान से विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञान-स्वरूप है। जो वेदान्ती लोग (उपनिषदों तथा व्यास भगवान् के तात्पर्य को भली प्रकार न समझकर) चिदानन्दमय होना, आत्मा की मुक्ति मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्द सुखरूप ही है और सुख सर्वदा ज्ञेय (जानने योग्य) रूप से ही भान होता है और ज्ञेयता बिना ज्ञान के नहीं हो सकती, तो ज्ञान, ज्ञेय दो पदार्थों को मानने से (उसके माने हुए) अद्वैतवाद की हानि होगी। मुक्ति-प्राप्त आत्मा को सुखरूप मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एक नहीं हो सकते। अद्वैतवादी लोग कर्मात्मा और परमात्मा के भेद से दो प्रकार का आत्मा मानते हैं, तो जिस प्रकार से कर्मात्मा को सुख-दुःख का भोग होता है उसी रूप से यदि कर्मात्मा के तुल्य परमात्मा को भी सुख-दुःख का भोक्ता माना जाय तो परमात्मा परिणामी और अज्ञानी हो जाय। ("ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" आदि श्रुतियों से परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही सिद्ध होता है और जहां कहीं आनन्द का शब्द ब्रह्म के साथ आया है वहां उस को ज्ञान अर्थ में लेना चाहिये और यदि सुख के अर्थ में लिया जाय तो वह अपर-ब्रह्म = शबल ब्रह्म = सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का बोधक होगा न कि पर-ब्रह्म = शुद्ध ब्रह्म = निर्गुण ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का, क्योंकि सुख प्रकृति के सत्त्व गुण में है और शुद्ध ब्रह्म परमात्मा प्रकृति से परे है) और यदि आत्मा को साक्षात् भोग नहीं होता किन्तु बुद्धि द्वारा आरोपित भोग होता है अर्थात् परमात्मा से प्राप्त भोक्तृत्व को उदासीन रूप से अधिष्ठाता हुआ स्वीकार करता है। यह माना जाय तो हमारे मत में (योगोक्त मत में) प्रवेश होगा। आत्मा आनन्द (सुख) रूप है, यह पहले ही खण्डन कर दिया। और यदि आत्मा को अविद्या स्वभाव माना जाय तो स्वयं स्वभावशून्य होने से अर्थात् अपने में किसी धर्म के न रहने से शास्त्र का अधिकारी कौन रहेगा ? क्योंकि सर्वदा मुक्त होने से परमात्मा (शास्त्र का अधिकारी) नहीं हो सकता, और न अविद्या स्वभाव होने से कर्मात्मा (शास्त्र का) अधिकारी हो सकता है। तो अधिकारी न होने से सब शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। यदि जगत् को अविद्यामय माना जाय तो वह अविद्या किसको है ? यह विचार किया जाता है— परमात्मा को अविद्या है, यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह नित्यमुक्त है और विद्यारूप है अर्थात् चैतन्यरूप है। और न कर्मात्मा को अविद्या है क्योंकि वह (अविद्या के) स्वयं स्वभावशून्य होने से शशविषाण (खरगोश के सींग) के तुल्य होने से अर्थात् कल्पनामात्र होने से, अविद्या के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ! यदि यह कहा जाय कि विचार में न आना ही अविद्या का अविद्यापन है अर्थात् जो सूर्यकिरणों के स्पर्श से ही नीहार (बर्फ का कुहर) के तुल्य नष्ट हो जाय वह 'अविद्या' है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वस्तु

कुछ काम करती है वह अवश्य किसी से भिन्न वा अभिन्न कहनी चाहिये। और अविद्या का संसाररूपी कार्य का करना, अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। उस कार्य के करने पर भी अनिर्वचनीय अविद्या को मानने से कोई भी पदार्थ निर्वचनीय न रहेगा तो ब्रह्म भी निर्वचनीय न ठहरेगा अर्थात् सत्य, ज्ञानादि रूप से उसका निरूपण न हो सकेगा। इससे चैतन्यरूप अधिष्ठातृता के सिवाय पुरुष का अन्य रूप सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् वृत्तिज्ञान से विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

आत्मत्वादि जातियों से भिन्न मुक्तात्मा अधिष्ठान चैतन्यरूप है—जो नैयायिक आदि (गौतम मुनि और कणाद मुनि के अभिप्राय को न जानकर) बुद्धि के योग से आत्मा को चेतन मानते हैं, और बुद्धि को भी मन के संयोग से उत्पन्न मानते हैं; जैसेकि इच्छा, ज्ञान-प्रयत्नादि जीवात्मा के गुण, व्यवहारदशा में अर्थात् संसारावस्था में आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं। उन्हीं गुणों से आत्मा स्वयं ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता कहा जाता है और मोक्षदशा में तो मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होनेसे, मिथ्याज्ञानमूलक राग-द्वेषादि सब गुणों की भी निवृत्ति हो जाती है तो आत्मा के विशेष गुण अर्थात् ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दु:ख, द्वेष; इन सब का अत्यन्त नाश हो जाता है, फिर आत्मा अपने स्वरूपमात्रमें स्थित होता है। यह उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षदशा में नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुण तो आकाशादिकों के भी रहते हैं, इससे उनसे विलक्षण, आत्मा का चैतन्य रूप अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। आत्मत्व जाति का सम्बन्ध ही आकाशादिकों से विलक्षणता है, यह नहीं कह सकते। क्योंकि आत्मत्व-जाति का योग तो संसारी जीवों में भी है (मुक्तात्मा को संसारियों से विलक्षण होना चाहिये) इससे आत्मत्वादि जातियों से भिन्नता मुक्तात्मा की अवश्य माननी चाहिये; और वह भिन्नता अधिष्ठानचैतन्य रूप मानने से ही घट सकती है अन्यथा नहीं।

आत्मा अहम् प्रतीति का विषय नहीं किन्तु केवल चिद्रूप अधिष्ठाता है—जो मीमांसक लोग (जैमिनि मुनि के सिद्धान्त को ठीक-ठीक न समझते हुए) आत्मा को कर्म-कर्तारूप मानते हैं, उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। उनकी प्रतिज्ञा है कि अहम् (मैं) प्रतीति (ज्ञान) से ग्रहण के योग्य आत्मा है, अहम् प्रतीति में आत्मा को (आश्रयता सम्बन्ध से) कर्तृत्व और (विषयता संबन्ध से) कर्मत्व है। पर यह उनका मन्तव्य अयुक्त है। क्योंकि प्रमातृस्वरूप कर्तृत्व और प्रमेयत्वरूप कर्मत्व का विरोध है (प्रमाता जाननेवाला, प्रमेय जानने योग्य) अर्थात् जाननेवाला और जानने योग्य होना ऐसे विरुद्ध धर्मों का एक काल में, एक पदार्थ में समावेश नहीं हो सकता। जो विरुद्ध धर्मों के अधिष्ठान हैं वे एक नहीं जैसे भाव और अभाव। कर्तृत्व, कर्मत्व भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। यह कहना कि कर्तृत्व और कर्मत्व का विरोध नहीं, किन्तु कर्तृत्व और करणत्व का है ठीक नहीं, क्योंकि विरोधी धर्मों का अध्यारोप, दोनों स्थानों में तुल्य होने से केवल कर्तृत्व और करणत्व का ही विरोध है कर्तृत्व कर्मत्व का नहीं, यह कौन कह सकता है? (अर्थात् कोई नहीं कह सकता)। इससे आत्मा को अहं प्रतीति का विषय न मानकर, केवल चिद्रूप अधिष्ठाता ही मानना चाहिए।

आत्मा अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाण वाला और परिणामी नहीं है—जो द्रव्य बोध पर्याय भेद से अर्थात् नामान्तर रखकर आत्मा को अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाण वाला और परिणामी मानते हैं, उनका पक्ष तो उठकर ही मरा हुआ है अर्थात् बिल्कुल ही निकम्मा है क्योंकि परिणामी मानने से चेतन कहाँ रहा वह तो जड़ रूप होगया। (जो परिणामी है, वह अचेतन है यह व्याप्ति है) जड़ मानने पर आत्मा में क्या आत्मभाव रहा इसमें अपरिणामिता रूप चैतन्य ही आत्मा है।

आत्मा में साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं है—कोई कर्ता रूप ही आत्मा को मानते हैं जैसे—घटादि विषयों के समीप होने पर, जो ज्ञानरूप क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया का विषय संवेदन अर्थात् विषयों का प्रकाशरूपी फल है, उस फल में फल का स्वरूप प्रकाशरूप से भान होता है और विषय, ग्राह्य रूप से; तथा आत्मा ग्राहक रूप से, क्योंकि 'घटमहं जानामि' (घट को मैं जानता हूँ) इस आकार से वह फल उत्पन्न होता है। क्रिया का कारण कर्ता ही है, इससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा का ही रूप है। यह पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं। (क्योंकि इन विकल्पों का उत्तर नहीं बन सकता) यह बताओ कि संविति रूप फलों का कर्ता आत्मा एक काल में ही होता है वा क्रम में ? एक किसी काल में सबों का कर्ता मानो तो अन्य क्षणों में कर्ता नहीं रहेगा (तो आत्मा को कर्ता मानना ठीक नहीं) और क्रम से कर्ता होना भी एक रूप आत्मा का नहीं घट सकता; क्योंकि यदि उसे एक रूपसे ही कर्ता माना जाय तो वह सर्वदा (व्यापक होनेसे) पास तो है ही, सब फल भी एक रूप होने चाहिये। और यदि अनेक रूपसे कर्ता माना जाय तो परिणामी होने से चिद्रूप नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा को चैतन्य रूप मानने वालों को आत्मा में साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं मानना चाहिए। किन्तु कूटस्थ, नित्य, चिद्रूप आत्मा का कर्ता होना जैसा हमने प्रतिपादन किया है, वह ही ठीक है।

जो ऐसा मानते हैं कि विषयों के ज्ञान या प्रकाश द्वारा आत्मा में ग्राहकता शक्ति प्रकट हो जाती है उनका पक्ष भी उक्त विकल्पों से दूषित जानना चाहिए।

आत्मा विमर्श रूप से चेतन नहीं है। कोई विमर्श रूप से आत्मा को चेतन मानते हैं, वे कहते हैं कि बिना विमर्श (विचार) के आत्मा को चेतन रूप नहीं बतला सकते। चैतन्य रूप जगत् से भिन्न है; पर, विचार के सिवाय अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती (अर्थात् विचार रूप ही है)। यह पक्ष भी अयुक्त है। क्योंकि विचार का नाम 'विमर्श' है। वह बिना अस्मिता (द्वितीय पाद के ६ सूत्रोक्त) के नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा (अन्तःकरण) में पैदा होने वाला विमर्श 'अहमेवं भूतः' मैं ऐसा हूँ इस आकार से जाना जाता है। और इस प्रतीति में अहं शब्द से भिन्न आत्म रूपी अर्थ का प्रकाश होनेसे विकल्पस्वरूपता अर्थात् यथार्थ ज्ञान से भिन्नता है। *स्वभ वसिद्ध निश्चयात्मक ज्ञान बुद्धि का धर्म है, चेतन का नहीं,* क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे चैतन्य, सदा एक रूप रहता है। चित के नित्य होने से ही अहङ्कार में अन्तर्भाव नहीं कर सकते। इनसे आत्मा को विचार रूप सिद्ध करने वाले ने, बुद्धि को ही, आत्मा, भ्रान्ति से समझ लिया है। प्रकाशरूप आत्मा के स्व-रूप को नहीं समझा।

सब दर्शनों में आत्मा का अधिष्ठातृता रूप ही और वृत्तियों के सदृश रूपों को छोड़कर स्वरूप में स्थित होना ही चिति शक्ति का कैवल्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार सब दर्शनों में ही अधिष्ठातृता को छोड़कर, आत्मा का अन्य रूप नहीं बन सकता। जड़ से भिन्न चैतन्यरूपता ही 'अधिष्ठातृता' है। जो चितरूप से अधिष्ठान करता है, वह ही (बुद्धि को) भोग्य बनाता है। और जो चेतन से अधिष्ठित है वह सब कामों के योग्य होता है। इस प्रकार आत्मा को नित्य मानने से, प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति होने पर, जो आत्मा का मोक्ष, हमने वर्णन किया है उसे छोड़कर अन्य मतों की कोई गति नहीं। इससे यह युक्तियुक्त कहा है कि वृत्तियों के सदृश रूपों को (जो कि प्रतिबिम्बित होते रहते हैं) छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना चितिशक्ति का कैवल्य (मुक्ति) है।

नोट—यहां यह न समझना चाहिए कि वृत्तिकार ने अन्य दर्शनों का खण्डन किया है, किन्तु 'अन्य शास्त्रों में ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्ध कर कैवल्य (मुक्ति) के स्वरूप का निरूपण किया है। विशेष जानकारी के लिए भूमिकारूप 'षड्दर्शन समन्वय' में देखें।

उपसंहार

उक्त प्रकार से (इस पाद में) अन्य सिद्धियों से भिन्न सब सिद्धियों की मूल, समाधि सिद्धि को कहकर, अन्य जाति में परिणामरूप सिद्धि की प्रकृति की पूर्णता, कारण है, यह सिद्ध कर; धर्माधर्म को, प्रतिबन्धक को हटाने मात्र में शक्ति है; यह दिखाकर, सिद्धिजन्य पांचों चित्तों का अस्मितामात्र से होना बतला कर, (सूत्र ४ के विशेष वक्तव्य में) एक समय में भोगनिवृत्ति के लिए बहुत से चित्तों और शरीरों की अस्मिता मात्र से उत्पत्ति बतलानेवाले शब्दों के प्रमाणिक होने में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं उनको दिखलाकर सूत्र ४ की प्रसंगानुसार व्याख्या कर, पांच प्रकार की सिद्धियों से उत्पन्न हुए निर्माण चित्तों में से समाधिजन्य चित्त को अपवर्ग का भागी बतलाकर, योगी के कर्मों की, लौकिक कर्मों से विचित्रता को सिद्ध कर, कर्म-फलानुकूल वासनाओं (संस्कारों) के प्रकट होने को समर्थन कर, कार्य-कारण की एकता सिद्ध करने से व्यवधान (बीच) युक्त वासनाओं की समीपता को सिद्ध कर, वासनाओं के अनन्त होने पर भी, हेतु-फलादि द्वारा उनका नाश बताकर, भूतादि कालों में घटादि धर्मों की स्थिति को उपपादन कर, विज्ञानवादियों की शङ्काओं को निवृत्त कर, चित्तद्वारा पुरुष को ज्ञाता मानने से सब व्यवहारों की सिद्धि को निरूपण कर, पुरुष के होने में प्रमाण दिखाकर, मुक्ति के निर्णय के लिये दस सूत्रों से, क्रम से उपयोगी अर्थों को कहकर, अन्य शास्त्रों में भी "ऐसी ही मुक्ति बन सकती है" यह सिद्ध कर, मुक्ति के स्वरूप का निर्णय किया। इस प्रकार पातञ्जल-योग-प्रदीप में कैवल्य नामवाले चौथे पाद की व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातंजलयोग-प्रदीपे कैवल्यपादः चतुर्थः

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे समाधिनिर्देशो नाम प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथ साधनपादः

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अथ विभूतिपादः

सूत्र	पृष्ठ
विनिवृत्तिः ।	४९१
२६ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।	४९२
२७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः	४९३
२८ हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।	४९३
२९ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।	४९४
३० ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।	४९४
३१ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।	४९०
३२ ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्	४९
३३ क्षणप्रतियोगी परिणामपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः	४९
३४ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।	४९९

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे कैवल्यनिरूपणं नाम चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तं योगदर्शनम् ॥

वर्णानुक्रमसूत्रसूची

तत्त्व समास सांख्य सूत्र

पातञ्जलयोग सूत्र

शब्दानुक्रमणी

विषयसूची

षड्दर्शनसमन्वय

पातञ्जलयोगप्रदीप

पृष्ठ विषय

होना; उसका गुणों के विषम परिणामों के प्रत्यक्ष होने से अनुमानगम्य और आगमगम्य होना। जड़ तत्त्व सक्रिय परिणामी नित्य और चेतन तत्त्व निष्क्रिय कूटस्थ नित्य, चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप जड़तत्त्व से सर्वथा विलक्षण, उस की सन्निधि मात्र से जड़तत्त्व में ज्ञान नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया। समष्टि जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व के शबल स्वरूप की संज्ञा पुरुष विशेष अर्थात् ईश्वर।

१४ ···· गुणों का प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त)—सत्त्व गुण में रजोगुण का क्रियामात्र तथा तमोगुण का स्थिति मात्र विषम परिणाम सारी सृष्टि का कारण महत्तत्त्व का विषम परिणाम अहंकार—एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि आदि सब प्रकार की भिन्नता उत्पन्न करने वाला। अहंकार का ग्रहण विषम परिणाम ग्यारह इन्द्रियां और ग्राह्य विषम परिणाम पांच तन्मात्रायें पांच तन्मात्राओं का विषम परिणाम पांच स्थूल भूत।

१६ ···· पुरुष, उस का प्रयोजन भोग और अपवर्ग,गुणों का साम्य परिणाम मूल प्रकृति, तथा उन के विषम परिणाम सात प्रकृतियें अनादि, सोलह विकृतियें प्रवाह से अनादि स्वरूप से आदि।

सत्त्व में ज्ञान स्वरूप पुरुष से प्रतिबिम्बित होने से पुरुष को ज्ञान दिलाने की योग्यता और निष्क्रिय पुरुष को चित्त में अपने प्रतिबिम्ब जैसे चेतना से चित्त का तथा उस के सारे विषयों का ज्ञान। अतः चित्त दृश्य और पुरुष द्रष्टा। समाधि, चित्त के सार्वभूम धर्म का अविद्या आदि क्लेशों के आवरण से दबा रहना और वृत्तिरूप बाह्य परिणामों का होते रहना। मूढावस्था में तामसी वृत्तियों, क्षिप्तावस्था में राजसी वृत्तियों, विक्षिप्तावस्था में अस्थिर सात्त्विक वृत्तियों, का उदय। एकाग्रता की पराकाष्ठा गुण परिणाम साक्षात्कार पर्यन्त चित्त और पुरुष में विवेक ज्ञान। वृत्ति निरुद्ध अवस्था वाली स्वरूपावस्थिति में संस्कार शेष की निवृत्ति। परिणाम का लक्षण—साम्य और विषम परिणाम में भेद।

१७ ···· सृष्टि उत्पत्ति क्रम (सार)

सूत्र ३—वृत्तियों के निरोध होने पर द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति।

व्याख्या—वृत्तिनिरोध अवस्था में पुरुष का अपने स्वरूप से निरोध नहीं होता किन्तु अपने उपाधिरहित स्वरूप में अवस्थिति होती है।

१८ ···· सूत्र ४—निरोध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में पुरुष की वृत्तिसारूप्यता।

व्याख्या—सन्निधि मात्र से उपकार करणशील चित्त रूप दृश्य का दृश्यस्वरूप से पुरुष के साथ भोग अपवर्ग सम्पादनार्थ अनादि स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध; शान्त, घोर आदि चित्त के धर्मों का चिति (पुरुष) में आरोप।

शुद्धयशुद्ध-पत्र

परिशिष्ट ४

आशा की गई थी कि इस दूसरी आवृत्ति में अशुद्धियां न होने पायेंगी किन्तु प्रेस वालों के प्रयत्न करने पर भी ऐसा न हो सका और यह शुद्धि-अशुद्धि पत्र लगाकर पाठकों से उस के अनुसार पुस्तक को ठीक करने के लिए निवेदन करना पड़ा।

कहीं-कहीं जो निम्नलिखित साधारण प्रेस की भूलें रह गई हैं वे पढ़ते समय आसानी से ठीक की जा सकती है अतः उनको इसमें नहीं दिया गया है:—

(१) 'त्त' के स्थान में 'त' यथा—तत्त्व, सत्त्व, महत्तत्त्व, वार्त्तिक, वर्त्तमान कर्त्ता, वृत्ति, प्रवृत्ति, प्रवर्त्तित, निमित्त, चित्त, वेत्ता, कर्त्तव्य, अर्थतत्त्व इत्यादि।

(२) 'त' के स्थान में 'त्त' यथाः— उत्थान, व्युत्थान, इत्यादि, बहुत्व एकत्व, अत्यावश्यक, अत्यन्त।

(३) आकार की मात्रा का छूट जाना यथाः—व्यावहारिक, स्वाभाविक, प्रत्याहार, आहार

(४) 'ब' के स्थान में 'व' यथाः— बन्ध, बृहस्पति, बृहदारण्यक, शब्द, शबल, बीज, निर्बीज, बौवन, बाधा इत्यादि

(५) 'व' के स्थान में 'ब' यथाः— वृत्ति, विचार, वाद, अवकाश, कर्मविपाक व्याख्या, भावना, वह्नी, वचन, सर्व, तीव्र इत्यादि।

(६) 'ट' के स्थान में 'ठ' यथाः— व्यष्टि, षष्टी, समष्टि, अष्टाध्यायी, दृष्टि, द्रष्टा, इष्ट।

(७) 'ठ' के स्थान मे 'ट' यथाः— विष्ठा

(८) (्) हलन्त के चिन्ह का छूट जाना यथाः—जगत्, अर्थात्, स्पर्शवान्, पृथक्, पृथक्त्व, किञ्चित्, रजस्, तमस्, अनुगमात्, प्रयुत्, विद्युत्

(९) (र्‍) ऊपर रकार का छूट जाना यथाः—अर्थात्, वर्णन, कर्त्ता, अकर्त्ता, स्पर्श, कर्म, सर्वज्ञ, अंतर्गत, प्रदर्शक, यथार्थ, निर्माण, सम्पूर्ण, पदार्थ, पर्याय।

(१०) (ं) अनुस्वार का छूट जाना यथाः— नहीं, संस्कार, में, हैं, फांसों, हिंसा, सर्वांगासन।

(११) (्) के स्थान में (ु) यथाः—दूध, रूप स्वरूप, निरूपण, रूपेण, रूपं, सांख्य।

(१२) परिणत के स्थान में परिणित; दुःख के स्थान में दुख; परिच्छिन्न के स्थान में परिछिन्न; ब्रह्म के स्थान में ब्रह्; 'ये' 'वे' बहुवचन के स्थान में 'यह' 'वह' एक वचन; तथा 'यह' 'वह' एक वचन के स्थान में 'ये' 'वे' बहुवचन; विराम के चिन्ह के स्थान में (,) तथा (;) के स्थान में विराम का चिन्ह (।) इत्यादि छोटी-छोटी भूलें।

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	यहां	यहां उपनिषद् का अर्थ
१७	इस में	इन में
१५	आमा, पुरुष	आत्मा पुरुष
६	मी	भी
१४	कल	कल्प
१५	श्रौत सूत्र के आगे	गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र
१५	योग	याग
२४	प्रा	प्राप्त
२	दृश्न	दर्शन
११	कन्यमर्मे	काम्यकर्म
१७	उपासनाकारा	उपासनाकाण्ड
२०	इटि	इष्टि
१०	लाको	लोको
२४	रते	करते
२१	देवा:	देवा:”
१०	प्रातगयन्	प्रातरुचन्
६	एवगप्युयन्यासात्	एवमप्यु-पन्यासात्
३	वलिका	वलिका
२६	बाहरवें	बारहवें
३	स्पट	स्पष्ट
१८	ब्रह्मप्राति	ब्रह्मप्राप्ति
२५	किया है	किया है।
३३		४.
१७	अभि	अभिन्न
१८	त्रोपादान	निमित्तोपादान
२६	मिथ्मा	मिथ्या
२७	सद्रूप	सद्रूप
५	भिनता	भिन्नता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	८	विपय	विषय
१५	१०	तेजसे द्ध:	तेजसेद्ध:
१५	२०	कहलाती	कहलाते
१६	२२	"तत्, ब्रह्म, परब्रह्म"	"तत्" "ब्रह्म" परब्रह्म
१७	२२	अन्दर नहीं के आगे	'उसके बाहर कुछ नहीं',
१७	२५	सुसुक्ष्मं	सुसूक्ष्मं
१८	२	सुशुम	शुभम
१८	१२	द्रव्या	द्रव्यों
१८	·१४	निर्देश	निर्देश
१८	२०	अपारणामी	अपरिणामी
२०	२९	स्थापित करके	स्थापित करके)
२१	७	वहिन	वह्नि
२२	८	जैगीशव्य	जैगीषव्य ·
२२	११	आचार्यो	आचार्यों
२३	१,२	इन सूत्रों के भाष्यकार	×
२३	३२	स्वरूर	स्वरूप
२९	२६, २८, ३१	चित	चित्
”	२७, २८ ३१	अचित	अचित्
३०	२९	आर्थात्	अर्थात्
३१	७	मानन	मानने
३१	२५	विधर्मियों	विधर्मियों
३३	२	तद	तद्
३४	४	नामि:	नाभि:
३४	१८	विज्ञानीयात्	विजानीयात्
३४	२१	सम्प्राज्ञात	सम्प्रज्ञात
३४	३०	बुद्धिश्च	बुद्धिश्च

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५	१	ऋतम्परा	ऋतम्भरा
३५	२१	बह्वीः	बह्वीः
३६	९	व्यक	व्यक्त
३६	१८	सुयते	सूयते
३६	२६	निवघ्नन्ति	निबध्नन्ति
३६	२६	महावाहो	महाबाहो
३७	६	योगधि	योगाधि
३७	९	मयानध	मयानघ
३७	१५	परमर्षि	परमर्षिः
३७	२३	ऋषि	ऋषिः
,,	,,	विभर्ति	बिभर्ति
३७	२६	गोड़पाद	गौड़पाद
३७	२९	जठी	जटी
३८	१	निराकारण	निराकरण
३८	२९	सूक्ष्मे	सूक्ष्मं
३९	१	भूतोन्द्रय	भूतेन्द्रिय
३९	९	अर्थाः—	अर्थः—
३९	९	(ज्ञेयत्वा)	(ज्ञेयत्वा
,,	,,	मी	भी
,,	१०	ध्यये	ध्येय
,,	१७	निचाय	निचाय्य
,,	२३	पदार्थों का	पदार्थों
,,	२४	वर्णन उत्तर	वर्णन = उत्तर
४०	१	प्रश्न०	प्रश्न०
४०	१३	मूल	मूल
४०	२०	नुशेते	ऽनुशेते
,,	,,	जन्हा	जहा
,,	,,	मुत्त	मुक्त
४१	९	वच	वच
४१	१६	मीं	भी
४१	१७	आकाशश्च	आकाशश्च
४२	१८	नुपपेत्तश्च	नुपपत्तेश्च
४३	८	म० ०२।	म० सू० २।
४३	९	अन्यत्रभावात्	अन्यत्राभावात्
४३	१०	(तृणादिवत)	(तृणादिवत्)
४४	१८	पद	पाद
४५	११	प्रबर्तेत	प्रवर्तते
४५	२८	वन	वन
४८	५	समवायनां	समवायानां
४८	६	वैधर्म्याभ्यां	वैधर्म्याभ्यां
४८	८	होती	होता
४९	२२	(२।२।९)	(वै० २।२।९)
४९	२८	(२।२।१०)	(वै० २।२।१०)
५०	१३	(७।१।२२)	(वै० ७।१।२२)
५०	२२	चलला	चलता
५०	३३	की	का
५०	३४	रहती	रहता
५२	१६	पार्थिक	पार्थिव
५३	१५	इष्ट	सुखं इष्ट
५४	७	भावना	भावना
५४	१७	क्षेण	क्षेपण
५४	१८	(१।१।१०)	(वै० १।१।१०)
५४	३४	आमत्व	आम्रत्व
५५	६	मव्यत्वादि	द्रव्यत्वादि
५५	३१	प्रागभाव	प्रागभाव
५५	३४	अन्योऽन्यभाव	अन्योऽन्याभाव
६०	१	अनित्यखा	अनित्य देखा
६१	११	बहे भी	बह भी
६१	११	विद्या-नियम-	विद्या-विनय-
६१	९	किगा	किया
६४	१३	ऊर्मिका	ऊर्मि का
६४	१४	चित्तके	चित्त के,
६४	१६	बुद्धिः,	बुद्धि,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६४	३०	विरोधीव	विरोधाव
६५	१४	है,	है।
६५	२८	पद्वमी	पञ्चमो
६६	१५	मानी	सप्तमी
६६	२१	(पा. ४।१।१९)	(न्याय-४।१।१९)
६५	२६	सत्त्वऽपि	सत्त्वेऽपि
६७	१	बहुचन	बहुवचन
६७	१०	प्रानायान	प्राणायाम
६८	१०	मन्यैव	मन्येव
६८	११	शृएवन्	शृण्वन्
६८	११	स्पृशन	स्पृशन्
६८	११	श्वसत्	श्वसन्
६८	१२	गृह्णन	गृह्णन्
६८	१३	न्द्रियोर्थेषु	न्द्रियार्थेषु
६८	२१	विमू	विभु
६९	६	परमात्मा	परमात्मा के शबल स्वरूप
६९	६	समष्टि	समष्टिजगत्
७०	७	श्वेतना	श्वेतना
७०	१०	सर्वे पाशैः	सर्वपाशैः
७०	१४	वेतान्त	वेदान्त
७०	२२	द्वो	द्वौ
७२	१	कोई	कोई
७२	१	प्रारम्भ	प्रारम्भ
७२	१३	धारणा	धारणा
७२	१४	असम्प्रज्ञान	असम्प्रज्ञात
७२	१६	स्वरूपावस्थिति	स्वरूपावस्थिति
७३	८	स्वरूपावस्थिति	स्वरूपावस्थिति
७४	१५	इद्रिन्यादि	इन्द्रियादि
७४	१८	असक्त	आसक्त
७४	३०	मुण्डीथा	मुण्डीया
७५	२२,२४.	बभूव	बभूव
७६	१०	याघास्या	या घा स्या
७६	११	इहा शिषा	इहाशिषः
७६	२२	तम्दत	तद्गत
७७	२	श्रपि	श्रपि
७७	१५	आचर्य	आचार्य
७७	३१	भावागनेश	भावागणेश
७८	२८	शूत्र	सूत्र
७९	१८	गनेश	गणेश
७९	१९	विद्यान	विज्ञान
८०	२६	निरत्ति	निवृत्ति
८१	५	रंरे	रमरे
८२	५	प्रक्रिति	प्रकृति
८२	९	अवव्यक्त	अथ व्यक्त
८२	१०	अनुमन	अनुमान
८२	१९	हे	है
८१	२८	बाधक	बोधक
८२	३२	विपर्य	विपर्यै
८३	९	अस्त्यविष्ठ	अत्यतिष्ठ
८३	१५	शररों	शरीरों
८३	१६	करणों	करण
८३	२२	वद्धन्	वद्धत्
८३	२२	मृणादिषु	मृगादिषु
८३	२८	क्षेत्रस्येव	क्षेत्रेष्वेव
८३	२९	बभूव	बभूव
८४	१०	है।	×
८४	११	गुणे	गुणे
८४	१२	निगुण	निर्गुणः
८४	१४	धार्त्तिक	धार्मिक
८४	२९	अद्वेत	अद्वैत
८५	१६	आत्मापिण्ड	आत्मा पिण्ड
८५	२२	अतिदेवतासु	प्रतिदेवतासु
८५	२५	विमुक्तः	विमुक्तः
८७	७	ईश्वर	ईश्वर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८८	२	प्रतिविर्मिबत	प्रतिविम्बित
८८	११	रुण	गुण
८८	११	तनमात्रा	तन्मात्रा
८८	२३	संगतिशंका	संगतिः शंका-
८८	२९	कोई	कोइ
८९	३	प्रकति	प्रकृति
८९	२१	षष्ठीतन्त्र	षष्टितन्त्र
९०	२	निर्मल सत्त्व	चेतन सत्त्व
९१	१४	रतने	रत्ने
९१	१७	आभ्यान्तर	आभ्यन्तर
९१	२४	तैतिरेय	तैत्तिरीय
९१	३१	विकृत्त	विकृत
९२	१०	विभाजन्क	विभाजक
९३	१०	होती	होता
९४	२	छान्दोय	छान्दोग्य
९४	१३	यद्ह्मणों	यद्ब्रह्मणों
९४	१४	होरार्त्रविदो	होरात्रविदो
९४	१५	द्वयत्तयः	द्व्यत्तयः
९४	१५	सवो	सर्वाः
९४	१६	राव्यागमे	रात्र्यागमे
९४	१७	भूतग्नामा	भूतग्रामा
९५	३	आवान्तर	अवान्तर
९५	३	हें	हैं
९५	१८	दुःक	दुःख
९५	२५	निन्द्रा	निद्रा
९६	१८	ह्रदय	हृदय
९६	२०	इन्द्रियों	इन्द्रियों के
९७	१	ह्रदय	हृदय
९७	५	पाँ०	वि०
९७	१०	उपस्थत	उपस्थ
९७	२०	अन्धनामिस्र	अन्धतामिस्र
,,	२०	समा०	सा०
,,	२६	सं०	सां०
९७	२९	सत्तर	सत्तरह
९८	९	सत्रह	सत्तरह
९८	१५	नवघा	नवधा
,,	२४	अध्यात्मक	आध्यात्मिक
९९	४	परावार	पारापार
,,	४	अनुत्तमाभ्यः	अनुत्तमाभ्य
,,	५	उत्तमाभ्यः	उत्तमाभ्य
१००	१५	फिर	×
१०१	११	चक्रभूमि	चक्रभ्रमि
,,	२४	रचाना	रचना
,,	३१	पदार्थ	परार्थ
१०२	२	नहीं है।	नहीं है)।
,,	१६	योनश्च	योन्यश्च
१०३	९	सन्प्रज्ञात	सम्प्रज्ञात
१०३	१८	अनुवाक्य	अनुवाक
,,	२३	आनानज	आजानज
,,	३२	अजानज	आजानज
१०४	९,१०	सम्प्रज्ञान	सम्प्रज्ञात
,,	१७	योगो	योगी
,,	२२	समय	समय-समय
,,	२५	अभ्युत्थान	अभ्युत्थान
,,	३१	असम्प्रज्ञान	असम्प्रज्ञात
१०५	१४	भूत	भूत,
१०६	५	वैज्ञानिक	वैकारिक
,,	१४	चिह्न	चिह्न
,,	२४	चरितार्थत्त्वात	चरितार्थत्वात्
,,	२४	विनिवृत्तौ	विनिवृत्तौ
१०७	२९	समक्षी	समक्षी।
,,	,,	अन्य	×
१०८	२	सां०	(सां०
,,	६	प्रकृ	प्रकृति
,,	७	विकृति है	प्रकृति है
१०९	,,	सृष्टि को ::	सृष्टिकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०९	२२	दवाकर	दवा कर
११०	१४	उत्रेजना	उत्तेजना
१११	१८	ृूल	मूल
"	२३	विएम	विपम
"	२५	द्वेप	द्वेप
११४	१३	सम्पूर्ण	सम्पूर्ण
"	२३	रहवा है।	रस रहता है।
११५	२३	अविरुद्र	अविरुद्ध
११६	१६	पुरुप	पुरुप
"	२४	आत्मौपम्येन	आत्मौपम्येन
"	२७	आर ।	आत्मा
११७	१०	पृथक्त्वेन	पृथक्त्वेन
"	१८	जनिना	जानता
११८	१४	ईश्वद	ईश्वर
"	२६	बध्नास्यात्मा	बध्नात्यात्मा
११९	५	विज्ञावारं रे	विज्ञाधारमें
"	९	इसी	इसी
"	१९	(चित्र	(चित्त
"	२९	व्ययहित	व्यवहित
१२०	५	मनुव्यों	मनुष्यों
"	२३	कर्मकल	कर्मफल
"	२४	पार्व	पार्श्व
"	२८	मूत	×
"	२९	सान्नित्य	सान्निध्य
१२१	६	है	है ॥ १६ ॥
"	१७	दोवा है	होता है
"	२४	हुए	हुए
१२२	२६	उदासीन को	उदासीन के
१२४	१५	(सां० द०	(सां० द०
"	१९	(क्षेपादि)	(क्लेशादि)
१२५	१७	कारन	कारण
"	१८	वैराग्य हेतु	वैराग्य की प्राप्ति के लिये
१२५	२१	कारण	करण
१२६	१९	है	है
	२४	घोडे	घोड़े
१२८	२०	क्रियात्मिक	क्रियात्मक
	२७	चतुःसूर्घी	चतुःसूत्री
१२९	१	चेतन पुरुष	इसके कारण जड़ चित्त और चेतन पुरुष
१३३	१२	अनगिनती	अनगिनत
१३४	३	वरोप	विरोष
"	१३	बाह्य	ग्राह्य
	१४	होवा	होती
	२१	का मा	का भी
१३४	२७	रहस	रहते
१३५	५	सम्प्रज्ञात समाधि	सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि की बीच की अवस्था
१३५	१८	कैवल्यः मुक्ति (स्वरूपाव- स्थिति)	प्रति प्रसव अर्थात् चित्त को बनाने वाले तीन गुणों की अपने कारण में लीन होने की अवस्था।
१३५	३३	यो	यो
१३६	४	योगानुशासन"	योगानुशासनम्"
"	५	शब्दानुशासनं"	शब्दानुशासनम्"
"	९	पुर्मोश्चितन	पुर्मोश्चेतनं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	१३	ठेह्रा	ठहरा	१३९	१८	करें	करे ।
"	२८	पणिनि	पाणिनि		२०	मुमुत्त	मुमुत्ता
	२९	सपोऽह्म	"सपोऽहम्"	१४०	१३-१६	निधिध्या	निदिध्या

पातञ्जलयोगप्रदीप

१	१४	हैं	हैं।	८	३०	कुम्भव	कुम्भक
"	२६	बनन	बन्धन	९	४	सप्तं	सूयेग्र
२	२	असम्प्राज्ञात	असम्प्रज्ञात	९	५	सायोगा	सोयोंगा
२	२२	सन्वन्ध	सम्वन्ध	१०	१३	आन्तरिर्क	आन्तरिक
३	३	याज्ञवल्क	याज्ञवल्क्य	१०	१९	से	में
३	१९	यजु० म०	यजु० अ०	१०	३१	सरंन्याम्	संस्यान
३	२०	हिरणगर्भे	हिरण्यगर्भ	११	१	अशुद्ध	अशुद्ध तथा
३	२२	हिरणयरम्	हिरण्यम	११	५	कहत	कहते
२	२३	छान्द	छान्दो०	११	५	प्रक्कार	प्रकार
३	२४	सुनहर	सुनहरा	"	१०	दवा	दवा
४	१९	विवर्जित	विवर्जिते	१२	५	चञ्चलता	चञ्चलता
४	२९	योम	योग	१२	९	सत्त्व	सत्त्व
४	३०	योगाम्निमय	योगाग्निमय	१२	१५	प्रतिष्ठति	प्रविष्टिवि
५	१	न रोग है,	न रोग है,	"	१५	योजियों	योगियों
			न जरा है	१३	१२	तलबाया	बतलाया
५	८	मृद्या	मृदयो	१३	२१	कारण । है	कारण है ।
५	९	तद्वाऽ	तद्वाऽऽ	१४	३	परिणाम	परिणाम
५	१३	[illegible]	हो	१४	६	समन्ध	सम्बन्ध
५	२६	विरोध	निरोध	१४	[illegible]	'तैजस्'	'तैजस'
५	२९	अव्य	अव्यय	१४	२०	द्रष्ट्रा	द्रष्टा
६	१२	स्यानं	स्मानं	"	२४	परिणा	परिणाम
६	१३	ग्रह	ग्रहः	"	२४	मपरस्पर	परस्पर
६	१७	च्छिन्नुतं	च्छिन्नूतं	"	२६	वायू	पायू
६	२७	ग्रते	ग्रते	१५	७	अहंकार	अहंकार,
६	२८	चित्तो	चित्तो		२४	कल्पयतः	कल्पयत
७	११	भ्रुवोमध्ये	भ्रुवोर्मध्ये		३०	योगता	योग्यता
७	१६	निरुद्ध	निरुध्य	१७	१३	विक्रुति	विकृति,
७	२५	प्रयोजा	प्रयोजन				महत्तत्त्व

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
१७	२४	मे	मैं
१८	११	हाती	होती
	२०	कहे जावेंगे	कही जायेगी
	२३	अथोन्	अर्थात्
१९		पृष्ठ के शीर्षक में सूत्र पांचवां होना चाहिये चौथा नहीं होना चाहिये।	
		पृष्ठ २० के शीर्षक में पाँचवे सूत्र के स्थान में छठा सूत्र होना चाहिये	
२०,	६.	(२।१)	(२।१२)
,,	७.	क्लिष्ट	क्लिष्ट
,,	१०	(४।२६)	(४।२७)
,,	३२,	(साधन)	(साधना)
		पृष्ठ २१ के शीर्षक में छटे सूत्र के स्थान में सातवां सूत्र आना चाहिये।	
२१	१	जस	जिस
,,	४	पुरुष निष्ठ	पुरुषनिष्ठ
,,	११	जो	२–जो
२२	१७	कारण	करण
,,	१९	द्रष्ट	द्रष्टृ
,,	३२	हुयं	हुये
२३	५	वास्तव	वास्तविक
,,	१४	परोक्ष	अपरोक्ष
,,	१५	पुरुषनिष्ट	पुरुषनिष्ठ
,,	३२	कहलाता	कहलाती
२४	१०	सके	देसके
२४	२५	भ्रक	भ्रम
२५	८	तट	तद्
,,	१२	लक्ष	लक्ष्य
,,	१३	मिथ्या	मिथ्या
२६	५	प्रणाम	प्रमाण
,,	२८	तामिस्त्र	तामिस्र
२७	४	प्रकार	प्रकार
,,	८	माहमोह	महामोह
,,	२७	साधन,	साधन
,,	२९	पारथार्मिक	पारमार्थिक
,,	,,	त्रिगुणात्मक	त्रिगुणात्मक
	३०	त्रिपर्य	विपर्यय
२७	३१	मिन्न	भिन्न
,,	३३	तत्व	तत्त्व से आत्म
२८	५	इसलिये	इसलिये इससे
२९	३	विकल्प	विकल्प
,,	९	अर्थात्	अर्थात्
,,	,,	मिथ्या	मिथ्या
,,	२९	विल्पः	विकल्पः
३०	६	मामत	जाग्रत
,,	१२	इसलि ये	इसलिये
३१	५	पुरुप	पुरुष
,,	६	मत्व	महत्तत्त्व
,,	१४	व	वा
,,	२६	अंकुरित हो	पड़
,,	२७	चित्त वृत्ति	× ×
,,	,,	जाती	जाता
,,	,,	वह अनुभूत पदार्थ के आकार से	× ×
,,	२७	को रंग कर तदाकार ही चित्र का	"इस संस्कार विषयक"
,,	२८	कर देता है	को प्राप्त हो जाता है
,,	२९	प्रणम	प्रमाण
३२	२७	पूर्व	पूर्वं
३३	२८	भूमि	भूमि
३५	५	बाल	बाला
,,	१६	भ्यास	अभ्यास

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	२८	दढ़ भूमि	दृढ़ भूमि
,,	३२	श्रृ	शृ
३७	१	प्रवृतिम-लिका	प्रवृत्ति-मूलिका
४०	२६	अनुगमात	अनुगमात्
,,	३१	वितर्कानुगतः	वितर्कानुगत;
४१	२	जिसने	जिससे
४१	५	आस्मिता	अस्मिता
,,	६	छोडकर	छोड़कर
४१	२४	इन्द्रिय	इन्द्रिय आदि
,,	२९	तैयालीस	तैंतालीस
४२	२१	अभ्यास	अभ्यास
४३	५	ये	यह
,,	६	चाहिये ।	चाहिये) ।
४५	२६	अम्प्रज्ञात	सम्प्रज्ञात
४६	,,	पिय	प्रिय
४८	३०	अभ्मास	अभ्यास
,,	३२	अलम्बन	आलम्बन
४९	२२	असक्ति	आसक्ति
४९	२९	अन्नति	उन्नति
५१	१	सङ्कस्या	सङ्कसया
,,	५	चित्र ?	चित्त
,,	२६	५०	५
५२	१६	न्दियम्	न्द्रियम्
,,	२२	येगी	योगी
,,	३२	निधर्मस्त्वात्	निर्धर्मत्वात्
५३	३	चित्र	चित्त
,,	४	के लिये	× ×
,,	२२	विदेहां	विदेहों
,,	२२	अस्मिताओं	अस्मिता
,,	२७	द्वेश	द्वेष
५३	२८	वासनाऐं	वासनायें;

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	९	मष्ट	नष्ट
,,	१७	'प्राणा	प्राणा
,,	२४	मवि	गति
५५	१८	वथा	तथा—
,,	२४	ऋषिः	ऋषि
६३	७	अनुष्टान	अनुष्ठान
,,	२०	सूचिक म्रह	सूचिकटाह
६४	,,	निरोधावस्थ	निरोधावस्थित
,,	९	यन्त्रत	यन्त्रित
,,	२३	निगुन	निर्गुण
६५	२५	रूचीं	रुची
,,	३१	जागृन्	जागृत
६६	१०,११,१७	निचिली	निचली
,,	२०	'नरने	भरने
६८	२	भाज	भोज
,,	११	आप	अपि
,,	१४	मध्म	मध्य
,,	,,	वाला	वालो
,,	२५	पूवाक्त	पूर्वोक्त
६९	१८	छुरन	छिरन-
,,	२६	(२।३)	(२।१३)
७०	४	निलर्प	निर्लेप
७०	३०	दार्ष्टाणिक	दार्ष्टान्तिक
७१	१६	नहीं है	नहीं है ।
७१	२३	विशद्ध	विशुद्ध
७२	५	ईश्वर,	ईश्वर
,,	९	उसमें	में
७४	२९	तीसरे	दूसरे
७६	३०	विष्ठा	प्रतिष्ठा
,,	३१	बढ़ने	बढ़ाने
,,	३३	सारे पश्चों	सारे प्रपञ्चों
७९	११	द्वोर्म्यं	द्वो मर्यं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७९	१३	(रवे वे० सप०)	१४(श्वे० सप० अ० १)
,,	१७	ध्यान	ध्यान
७९	२१	श्रराम	श्रचम
७९	२१	प्रोत्यो	प्रोत्योमित्ये
,,	२२	रमेन्तद	रमेवद
,,	,,	(७।१०।४।४)	(छान्दो० १।४।४)
	,,	भय	भयं
८०	१	पाप्र	पाप्मु
	१८	शिवा	शिवो
८१	२४	शास्र	शास्त्र
८२	६	आत्मा के इस	×
८२	१५	कारण प्रकृति	कारण जगत्
	१९	रही हैं	रही है। प्रकृति से परे परमात्मा का शुद्ध निर्गुण अर्थात् पर-स्वरूप है
८५	१०	सा	सारे
	१५	संकल्य	संकल्प
८६	२६	विभू	विभु
८७	२८	'हिरण्यगर्भ'	'हिरण्यगर्भ' उपास्य
८९	१९	अनवस्थितत्व	अनवस्थितत्व
,,	२८	का करने की	को करने का
,,	२९	अनुष्ठान की	अनुष्ठान का
	३१	विपय	विषय
९०	२८	आधि दैविक	आधिदैविक
९१	७	चित्र	चित्त
,,	१७	मित्र	मिश्र
,,	२४	इस सूत्र में	इस सूत्र में व्यास भाष्य के आधार पर वाचस्पति मिश्र आदि बौद्धधर्म के पश्चात् के कई
९२	१७	गमा	गमन
९४	१२	प्रत्यये-नियत	प्रत्यय नियत
९७	१६	उपकारण	उपकारक
,,	२८	प्राणस्य	प्राणस्य
,,	२४	योय	योग
९८	२६	प्रक्रिया	प्रक्रियायें
	२९	प्रकार	इसप्रकार
९९	२०	आत्मतत्त्व	आत्मतत्त्व है
१००	९	व्याजानात्	व्यजानात्
,,	२७	मह्मराट	मह्माण्ड
१०२	१	प्रवेश	प्रवेश होना
,,	२१	जुहुवति	जुहुवति
१०४	५	सूयोस्त	सूयोस्त से
१०५		नवीं पंक्ति के पश्चात् निम्न लिखित पाठ छपने से रह गया है:— दूसरी विधि—प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमशः एक एक नथुने से स्वाभाविक स्वर चलावे।	
१०५	१३	लीर्य	वीर्य
,,	२०	ग्रंगलियों	अंगुलियों
१११	१८	स्वाद देने	स्वाद लेने
११३	१२	(दलों)	धूम्र अथवा
	३१	(१५)	(१५) चक्र पर ध्यान का फल:
११५	१२	अत्तर	अत्तरः
,,	१९	च	चन्द्र
११६	५	प्रयोग से	प्रयोग के
११८	१५	समान्य	सामान्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११९	१३	हॉरप	होरेच
१२०	२१	तीत्त्ण	तथा तीक्ष्ण
,,	३२	वो आंतों में	आंतों में
१२१	३०	सं० १५	सं० १६
१२२	२२	एक एक	एक
,,	३०	शरीर नहीं	शरीर न हो
१२४	२	सबको	सबमें
१२४	२८	पृथक	प्रथम
१२६	९	त्येव	त्येवं
१२९	७	न्ता	न्तो
,,	२४	मरोप्रहीत्	मरोर्महीत्
,,	३३	सद्रूप	सद्रूप
१३०	१	विल्लेर	विल्लौर
,,	१९	ज्ञान	ज्ञान के
१३१	१५	संत	संकेत
१३२	३१	निभासा	निर्भासा
१३३	२५	याख्याता	व्याख्याता
१३४	९	तन्मात्र	तन्मात्रायें
,,	३१	विकल्पों	विकल्पों
१३५	२८	समता	सूक्ष्मता
१३६	५	ग्राह्य	ग्राह्य
,,	२३	तथा	तथा
१३७	११	चाहिये	चाहिए
,,	३१	होता, है	होता है
१३७	३५	अङ्कार	अहङ्कार
१३८	१२	जब आत्मा जो	आत्मा अर्थात्
,,	,,	रहदा है	रहता है
१३८	१७	काशस्वरूप	प्रकाशस्वरूप
१३९	३२	अनुभाव	अनुमान
१४२	१८	जाती हैं	जाता है
,,	२१	कर्त्ताव्यों	कर्त्तव्यों
,,	३१	नहीं रहता	नहीं रहता किन्तु
१४३	५	व्युत्यात	व्युत्थान
१४३	१०	पूर्द-जम्म	पूर्व-जन्म
,,	२०	से पर जो	पर जो
,,	२७	जब जब	जब
१४४	१४	स्वरूपस्थिथि	स्वरूपस्थिति
,,	२०	को शमयी	कोशमयी
,,	२३	हो जाता है।	हो जाता है"
१४५		तीसरी पंक्ति चौथे श्लोक से ऊपर आनी चाहिये	
१४६	१२	वीं पंक्ति ५४ श्लोक से ऊपर आनी चाहिये।	
१४६	१४	बोत्तला	बोलता
१४७	१५	उन सब	इससे उन सब
,,	१५	जानते	जानतीं
१४८	१६	मर्यादा	मर्यादा
१५०	८	पन	प्रश्न
१५१	४	वैराग्य तथा अभ्यास	अभ्यास वैराग्य तथा
,,	१७	इन्द्रियां	इन्द्रियों
,,	२२	वासना से	वासना से चित्रित
,,	२६	(पीडीकार) न हो।	(पीड़ाकारक) न हो।
,,	३०	संख्या	सांख्य

पृष्ठ १५२ से १८४ तक पृष्ठों के ऊपर के शीर्षक में समाधिपाद के स्थान में साधन पाद होना चाहिये।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५२	२८	या	मा
१५३	८	नाम	नाम से
,,	२६	नेव	नेत्र
,,	२७	कि उपवासी	उपवासी को
१५४	१२	मात्र	मात्रा
,,	२५	रहे।	रहे और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध

पृष्ठ १५५ में छटी और सातवीं पंक्ति मिली हुई होनी चाहिये।

१५५	१२	श्नै: श्नै !	शनैः शनैः

पृष्ठ १५६ व १५७ के ऊपर के शीर्षक में मनु के श्लोक के स्थान में योगदर्शन साधनपाद का पहिला सूत्र आना चाहिये।

१५६	९	स्तृ	सवितो
,,	१६	ऋमएड	ऋ० म०
,,	२८	मकार	मकारः—
१५७	१०	सवितु—	सवितुः
,,	२३	प्रवृक्त	प्रवृत्त

पृष्ठ १५८ में ऊपर के शीर्षक में तीसरे सूत्र के स्थान में दूसरा सूत्र होना चाहिये

१५९	२८	विच्छिन्न	विच्छिन्न
१६०	४	न्याग्युप	न्यग्न्युप
१६२	६	जो	जब
,,	२०	असमर्थ है।	असमर्थ हैं
१६२	२९	अंकुरित्त	अंकुरित
,,	३०	सम्वन्ध निश्चित्	सम्बन्ध भी निश्चित
१६३	५	अवयार्थ	अन्वयार्थ
,,	२०	विपय	विषम
,,	२४	पुरुप	पुरुष और
,,	३२	ग्रन्थि	ग्रन्थि
१६५	२०	जम्म	जन्म

पृष्ठ १६८ में पंक्ति ४ का "(अथवा सम्प्रज्ञात समाधि)" पंक्ति ५ में "क्रिया योग" के पश्चात् होना चाहिये

१६८	२४	प्रतिपाटक	प्रतिपादक
,,	२९	जो तनु	जो तनु क्लेश हैं वे तनु
१६९	२७	ऐसे	ऐसी
१७०	२३	आदुः	आयुः
१७०	२४	क्लेसों	क्लेशों

पृष्ठ १७१ पंक्ति ३ में "चित्त में" के पश्चात् निम्नलिखित भाग छपने से रह गया है:— जन्म-जन्मान्तरों से सञ्चित चले आरहे हैं। जब जिन कर्माशयों के संस्कार चित्त में

१७१	५	होकर	होकर उनको
,,	७	उनकी	उतनी
,,	२९	नित	जिन
१७३	२	वया:—	यथाः
१७३	८	जंयाते	जायते
,,	९	मण्डुक	मुण्डक
,,	१७	प्रभाव	प्रमाण
,,	३२	नियम	नियम से
१७५	८	है। वो	है तो
१७५	१४	ठिठुरवे	ठिठुरते
,,	२१	मनुप्म	मनुष्य
,,	२९	कमर्च	कर्म यः
,,	३३	के अयात्	को अर्थात् अज्ञानी पुरुष द्वारा किये हुये सम्पूर्ण क्रियाओं के त्याग में भी
१७६	५	कर्मपला	कर्मफला
१७७	२७	जाला	जाला भी
१८०	१९	पुरुप	पुरुष
१८३	१३	पञ्चसिखा	पञ्चशिखा
१८३	१९	भेत्त	भेत्तृ
१८४	१९	[illegible]	है
१८५	२१	सत्व	सब
१८६	११	प्रवृति	प्रकृति
१८९	२१	दुव्यों	द्रव्यों
१९०	१	क्षुति	श्रुति
१९१	४	वृथिवी	पृथिवी
१९१	११	गुणों का	गुणों की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९२	७	गुणात्मान	गुणात्मानः
१९२	८	गुणानाम्	गुणानाम्
,,	१८	श्रोतादिना	श्रोत्रादिना
१९३	१३	चोकमिति	चोक्तमिति
,,	१७	पुरुप	पुरुष
१९४	१२	(ऐसा विशेपण दिया है)	ऐसा विशेषण दिया है)
,,	२०	कर्तृत	कर्तृत्व
१९५	३२	नह	नहीं
१९६	११	प्रकृत्ति	प्रकृति
,,	१७,३२	अप्रकृति विकृति	विकृति, अप्रकृति
,,	२६	चिह्नमात्र	चिह्नमात्र
१९९	१०	लपण	लक्षण
२००	६	सानम्	सानम्
२००	१५	व्यर्त्रं	व्यर्थं
,,	३०	आपय	आशय
२०४	३	सत्यात्व	सत्यत्व
२०५	२७	क्षोभ	क्षोभ
२०६	१७	मपने	अपने
२०८	२५	पर आत्मा	पर-आत्मा
२०९	३	ज्याती	ज्योती
२०९	२६	अहंकारं	अहंकारं
२१७	२०	सक्रान्तु	संक्रान्त
,,	३४	स्याश्चेति	तस्याश्चेति
२१९	२०	अनुमा	अनुमान
,,	२५	अव्वय	अन्वय
,,	३१	पदार्थ	परार्थ
,,	३३	२०	२१
२२१	८	संयाग-	संयोगः ॥
,,	१३,२१	द्रष्ट	द्रष्टृ
२२१	३१	[illegible]	त्
,,	२८	द्रष्ट दृश्य	द्रष्टा दृश्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२६	६	क्त	[illegible]
,,	७	यह	है य
,,	८	नि	हों
२२९	९	२४	२४–
२२९	११	यही	(य.
,,	२०	में	
,,	३३	नहीं है)	नहीं
२३०	५,७	२४	२४–
,,	२४	थे)	.
२३३	२०	यद	[illegible]
२३४	९	जमत	जमः
,,	२८	भिक्खवे	भिक्ख
,,	,,	येव य	येः
,,	२१	परि	प
,,	३२	पवेचे	पः
२३७	पृष्ठ तीन पंक्ति में "या अविद्या संयं की उत्पत्ति का कारण है।" इस चौथी पंक्ति के अन्त में ले जायें।		
२३८	११	सूत्र २६	सूत्र
२३९	२	के	
२४०	१९	श्रियणीय	आश्रयणी
,,	२०	[illegible]	
,,	२०,२१	सो हो	सो
,,	२२	खो	ख
,,	२३	पतंति	पतं
२४०	२३	परिप	पी
२४१	५	यणने	यग
,,	२७	रेना	
,,	३१	मन्तद्दि	मन्त
,,	३२	सम्मो	धम्म
,,	३३	(धम्मपद २। ५)	(धम्म १।
२४२	१६	मुसवाद	मुसाय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४२	,,	गन्धर्वि	गन्धर्वि	२६४	३०	रस, रूप	रूप, रस
२४२	१८	सुरा में	सुरामें	पृष्ठ २६५ पंक्ति २९ का 'विशेष वक्तव्य, पंक्ति ३० के आरम्भ में आना चाहिये			
,,	१९	इहे	इघे				
,,	२०	१०। १२। १३	१८। १२। १३				
२४३.	२१	वे	के	२६६	१०	ाठकों	पाठकों
,,	२६	(२)	(३)	२६७	३	इच्च	इच्छ
२४३	२६	धर्मनुपश्यना (४)	धर्मनुपश्यना	,,	८	वह्नि	वह्नि
२४४	२	आर्य चतुःसत्य	आर्यचतुः सत्य	२६८	५	ोना	होना
,,	१८	मान्य है	मान्य है।	,,	२८	मक्खन	या मक्खन
,,	२७	सुत्त ३२	सुत्त ३१	२६९	१३	आदि	आदि में
,,	३२	लवान	शीलवान	२७०	२९	लिखते	लिखे
२४७	२९	प्रकुत्यैव	प्रकृत्यैव	२७१	२९	स्त्र	सूत्र
२४८	१४	स्वरुप	स्वरूप-	२७२	२३	वेवल	केवल
२५१	१४	करना	होना	२७३	२१	उन्हने	उन्होंने
,,	१५	स्वधर्मपि	स्वधर्ममपि	,,	२२	भी। स्थापना	भी स्थापना
	१८	अपेक्षा	अपेक्षा	,,	२६	वरके	करके
२५३	२६	अंधों	"अंधों	२७५	३१	अपामाइ	अपमार्ग
२५५	६	धम	धर्म	२७६	८	उड्डीयान	उड्डीयान
२५६	२२	यथः "विभागवित् × × ×		,,	२९	लगावें	लगावे
,,	३०	सर्वे	सर्व	,,	३०	बांधो	बांधे
२५८	१६	पूर्वक	पूर्वक	,,	३४	जाप	के जाप
२५९	२०	सम्मनित	सम्मानित	२७७	६	होता है	होता है।
२६०	१	भुवना	भुवीना	२७७	२०	Hypotism	Hypnotism
	६	वद ब्रहि	वद् ब्रूहि	२७८	२	धैय,	धैर्य,
,,	१०	प्रयाः	प्रयाः	२७८	१५	रक्तप्रवाहिनी	रक्तप्रवाहिनी
,,	१५	त्व	त्वं	,,	२६	रही ह	रही है
२६१	१	प्रयान्न	प्रयान्न	२८०	६	इत्यादि	इत्यादि)
,,	११	वेदत	वेदेत्	२८०	२८	इष्ट प्रकति	इष्टप्रकृति
,,	१७	नियामित	नियमित	२८१	१०	सायंकल	सायंकाल
२६२	१०	सुवर्ण	सवर्ण	२८५	३	देकर	देकर रोग
,,	१५	राजनीतिक	राजनैतिक	,,	१९	बिना	बिना पलक
२६४	१६	बाह्य	बाह्य	२८६	३	Cliar	Clair

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८६	२८	Nagnet	Magnet
"	२९,३०,३१	Nedium	Medium.
"	२८	धाराऐं	धारा में
"	२९	करती है	करता है
"	३०	Shrit	Spirit
२८७	१	है। क्योंकि	है क्योंकि
२८८	१४	होने लेगे	होने लगे
२९१	२७	जलप्राण	जल, प्राण
२९३	३	श्रणुयाम	स्नुयाम
२९७	१४	ये नौ प्रकार की	यह नौ प्रकार की
३०८	३, ४, ११	ओश्वनी	अश्विनी
"	२५	कुडलिनी	कुण्डलिनी
३०९	३	भ्रमध्य	भ्रूमध्य
३१४	३४	समसूत्र	समसूत्र
३१५	४	उठाय	उठाये
"	१२	इनमा	एनिमा
३१६	३	धनुरासन २३	धनुरासन
३२५	१	उसका	उसकी
"	१६	६	३
३२८	७	गोरख	गौरव
"	१३	बंधो	१ बन्धों
"	२१	इममे	इसमें
३३०	२	६ मात्रा से कुम्भक	८ मात्रा से कुम्भक
"	"	८ मात्रा से रेचक	६ मात्रा से रेचक

पृष्ठ ३४३ से ३६४ तक पृष्ठों के शीर्षक पर सूत्र ५५ के स्थान में सूत्र ३२ होना चाहिये।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४५	१	(विजल)	(हिंजल)

पृष्ठ ३४५ पंक्ति ४ में निम्नलिखित औषधियें छपने से रह गई हैं:—

पोस्त तुरुंज दो तोला, बर्गगाव ज़बां दो तोला।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४६	२	और	और आर्धा
३४७	४	Coilana	Cocillana
"	"	Lubclia	Labelia
"	१५	Arth	Asth
३४८	१८	रती	रत्ती
३५०	२२	छः तोले	दस तोले
३५२	२२	दो सेर	दो सेर रस
३५५	३१	पीसकर	पीसकर
३५६	२२	तेल तीन	तेल नौ
३५९	१३	एक एकदिन	एक एक सप्ताह के पश्चात् एक एक दिन
३५९	१७	एक, अनु	(एक-अनु
३६१	४	(२)	(३)
"	"	ह्रद	यहृद
"	५	तुरल्मा	तुल्म
"	१४	मासे	माशे
"	१८	पेड	पेड़ू
३६२	५	(७)	(१)
३६२	६	बराबर	मटर के बराबर
	१७	innection	injection
३६४	१	qr	gr
३६५	२	उतमाधिकारी	उत्तमाधिकारी
"	११	अन्वयाथ	अन्वयार्थ
३६७	२८	शून्येवार्थ निर्भासा	शून्ये-वार्थमात्र-निर्भासा
"	"	१।४२	१।४३
३६९	७	विचार अनुगत आनन्द	फिर विचार अनुगत, फिर आनन्द

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६९	८	अनुगत फिर	अनुगत और फिर
,,	२४	आध्यात्मिके	आध्यात्मिक
	२७	कि	×
३७०	२८	सम्बधी	सम्बंधी
३७२	११	मता	कामना
३ ,,	१२	र्ख	मूर्ख
३७४	१९	जिसमें	उसमें
३७६	२४, ३०	संस्कारो का	संस्कारों की
३७७	१२	प्रवृत्त	प्रवृत्ति
३७७	२१	क्षयोदयों	क्षयोदयौ
३७९	१८	निरोध-परिणाम	निरोध परिणाम में धर्मपरिणाम
३७९	६	धर्म लक्षण	धर्म- लक्षण
३७९	११	चाहिये	चाहिये।
३८०	३०	रूप धर्म की	रूप धर्म का
	३१	औ	और
३८१	१६	लक्षण परिणाम निरोधत्रिलक्षण	लक्षण परिणाम- निरोध त्रिलक्षण
३८२	१३	लक्षण	लक्षण से
,,	३३	विमेद	विमर्द (विनाश)
३८४	३२	परिमा	परिमाण
,,	३३	विनाशरु	विनाशरूप
३८५	१९	परिणामित्व	परिणामत्व
३८६	१	सत्वादिपुरुष मे पूर्व	सत्त्वादि में पुरुष पूर्व
,,	,,		
३८६	१	कहीं	कहा
,,	१३	को	×
३८७	१	अपर	अपर)
३८८	६	और रूपता	रूपता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ ३८९ से ३९१ तक शीर्षक में सूत्र १४ के स्थान पर १३ होना चाहिये			
३८९	१२	आप के मन	आप का
,,	२२	धर्मों की	धर्मों के
,,	२३	कि चेति	कि चेति
,,	२३	यथेति	यथैति
३९०	२३	बोल	बोले
३९१	२९	दृशाते	दर्शाते
,,	३१	निर्देश	निर्देश
३९२	१९	गले	गोले
,,	२५	वर्तन टूट कर	वर्तन
३९३	३१, ३२	अव्यपदेश	अव्यपदेश्य है,
३९४	५	अव्यपदेश	अव्यपपदेश्य
३९४	१८-१९	व्यपदेश	व्यपदेश्य
३९५	१	वैधर्म्य,	वैधर्म्य
,,	१४	यथा'	यथा
,,	२१	रह हैं	रहे हैं
३९८	७	कलाम्नक	कलात्मक
,,	१४,१५,१६	उप्पत्ति	उत्पत्ति
,,	१८,१९	(हमारे शरीरों ……… नहीं होती)	× × ×
,,	१९	अभिव्यक्ति।…… अभिव्यक्ति नहीं होती	(हमारे शरीरों से सर्व प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती)
,,	२३	स्वतन्त्र	स्वतन्त्रता
	२४	परिणामों	परिणामों में
३९९	६	सिद्ध हो	सिद्ध
,,	१३	उसके	उनके
४०२	८	इस कारण	इस कारण जब
४०३	१४	होना	होता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०३	२८	वाचक। वाच्य का हैं ···	वाचक है। वाच्य का
४०४	१३	अजायय	अजापय (घोड़े बकरी, दूध) दूध
,,	२७	ग्रह	ग्रहण
४०६	१३	प्रमाण ह	प्रमाण है
४०७	८	अव वच्छिन्न	अवच्छिन्न

पृष्ठ ४११ में शीर्षक में 'विज्ञानभिक्षु के योग-वार्तिक का भाषानुवाद' के स्थान में 'विशप वर्णन' होना चाहिये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१२	१८	अनुसार)	अनुसार

पृष्ठ ४१३ के शीर्षक में सूत्र १८ के स्थान पर सूत्र १९ होना चाहिये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१३	३२	योंकि	क्योंकि
४१५	१०	इन दोनों कर्मों में	इन दोनों कर्मों ,में संयम करने से उनका साक्षात् हो जाने पर योगी को।
४१८	१२	करहते	कहते
,,	२१	स्थि	स्थित
,,	१६	दिहा	दिशा
४२२	१३	Pacibbe···	Pacific
,,	१४	Atlantie	Atlantic
,,	१५	Arctie	Arctic
,,	१६	Antaritic	Antarctic
,,	१८	Meaitranian	Meditranian
४२४	३	योग	योगी
४२४	२४	प्रदिपाथ	प्रतिपादन

पृष्ठ ४२५ के शीर्षक में "साधनपाद" के स्थान में 'विभूतिपाद' होना चाहिये

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२५	१५	सर्व	सर्वं
४२५	३२	वि० ध० देखो	वि० ध० में देखो
४२९	६	वृत्तिः	वृत्तिः'
४३२	१	पुरां लोक	पुण्यं लोकं
	४	आदित्य	(आदित्य
,,	१८	पित	पितृ
४३३	३१	अङ्ग'	अङ्ग
४३४	५	की	के
,,	,,	को	की
,,	२१	कम्मशियों	कर्माशियों
४३५	५	वाले हैं	वाले हैं, वे
,,	१२	शु	शुद्धः
,,	२४	दिनको दिन,से	दिनको, दिन से
,,	३०	मार्ग है	मार्ग है)
४३६	२०	यथा—	× ×
,,	२५	होते हैं ।)	होते हैं) । यथा—
,,	२६	७।३।१०	४।३।१०
४३८	२६	धारणा	धारणा''
४३९	९	अन्वप	अन्वय।
४३९	९	से भूत-जय	से। भूत-जयः
४३९	१७	को	का
४४०	२५	का भेद है	का जो भेद है
,,	३२	वह'	वह
४४६	२५	मात्र रूप	मात्र रूप में
४४७	१	पुरुष को	पुरुष की
४४७	२६	परिणमन	परिणामन
४४९	२२	ऐश्वर्येर	ऐश्वर्य
४५०	२०	विवेकज्ञ	विवेकज
४५१	३३	व	वह
४५२	१०	न्तास्ति	न्नास्ति
४५५	४	चित्ति	चिति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५५	२३	स्वाध्याया यदिष्ट देवता—	स्वाध्याया-दिष्टदेवता
४५७	२	योगी	योगी के
,,	२३	अत्यंतर	आत्यन्तर
४५८	२०	कार्य	काम
,,	२७	हटाते	हटाने
,,	२८	में	से
४५९	२९	पुरुष	और पुरुष
४६०	२	सूत्र-सूत्र	सूत्र २
४६१	१	निमारा चित्त	निर्माण-चित्तानि
,,	११	अस्मिता	अस्मितामात्रात्
४६२	१४		—(मोक्षवृत्ति) है। (मोक्षवृत्ति)
४६६	६	परिणाम	परिमाण
४६८	१४	परिमाण	परिणाम
,,	२२	प्रकृति	प्रकृति
४६९	१२	श्रुते	श्रुतेः
४६९	१५	घटवत्ः	घटवत्
४७०	२१	१२	११
४७०	२५	द्वेष	राग-द्वेष
४७१	२३	वस्त्र	वस्त्र में अभाव और वस्त्र का घट में अभाव है।
४७२	१०	चतना	इतना
४७२	२४	(सूक्ष्म	(सूक्ष्म)
,,	२६	देते हैं।	देता है।
,,	३१	धर्म-धर्मी का	धर्म-धर्मी को
४७५	२६	व	वा
४७६	१०	व	वा
४७९	२२	बारह	बाहर
४८०	१६	तात्पर्य	तात्पर्य
४८१	३२	व्यापा	व्यापारों
४८३	१२	चिते;	चितेः
,,	२०	प्रतिबिम्ब	प्रतिबिम्बित
,,	२१	ह	हो
४८४	३	कहा गया है।	कहा गया है। निम्न वाक्य से चेतन को बुद्धिदृश्यविशिष्ट कहा गया है:—
४८४	३१	रत्नम	रत्नम्
४८६	२०	(नित्य तृप्त	(नित्य तृप्त)
४८६	३०	विपया	विपर्यया
४९७	२७	प्रभावी न	प्रभावीन
,,	२८	नियत	नियम
४९८	१२	व	वा
५०१	५	मात्रा	मोक्त्वा
५०२	१५	सत्र	सर्व

आसनचित्र

पृष्ठ ३१५ पर — २१. (ग) भुजंगासन को — २१. (ख) भुजंगासन और २१. (ख) भुजंगासन को — २१. (ग) भुजंगासन पढ़िये।

पृष्ठ ३१८ पर — ३४. ऊर्ध्व पद्मासन के स्थान पर कुक्कुटासन का ही चित्र भूल से छप गया है।